श्रीआत्मानन्द-जैनग्रन्थरत्नमालाया पञ्चाशीतितमं रत्नम् (८५)

बृहत्तपागच्छनायकश्रीमद्-देवेन्द्रसूरिविरचिताः

चत्वारः कर्मग्रन्थाः ।

प्रथम-द्वितीय-चतुर्थाः स्वोपज्ञविवरणोपेताः
तृतीयः पुनरन्याचार्यविरचितयाऽवचूरिरूपटीकया समलङ्कृतः ।

एतेषां सम्पादकः—

अनेकान्तदर्शननिष्णातबुद्धि-बृहत्तपागच्छान्तर्गतसंविग्नशाखीय-
आद्याचार्य-न्यायाम्भोनिधि-श्रीमद्विजयानन्दसूरीश
(प्रसिद्धनाम श्रीआत्मारामजी महाराज)
शिष्यरत्न-प्रवर्तक-श्रीमत्कान्तिविजय-
मुनिप्रवरपदपङ्कजसेवाहेवाकः
चतुरविजयो मुनिः ।

प्रकाशकस्तु—

भावनगरस्थ-श्रीजैन-आत्मानन्दसभाया कार्याधिकारी गान्धी इत्यु-
पाधिधारक श्रेष्ठि-त्रिभुवनदासात्मजो वल्लभदासः ।

विक्रम संवत् १९९० | प्रतय ५०० | वीरसंवत् २४६०
ईस्विसन् १९३४ | मूल्य रूप्यकद्वयम् । | आत्मसंवत् ३८

इदं पुस्तकं मुम्बय्यां कोल्भाटवीथ्यां २६-२८ तमे
गृहे निर्णयसागरमुद्रालये रामचन्द्र येसु शेडगेद्वारा
मुद्रापितम्

Printed by Ramchandra Yesu Shedge, at the Nirnaya Sagar Press,
26-28 Kolbhat Lane Bombay 2

Published by Vallabhdas Tribhuvandas Gandhi, Secretary, Shri
Atmanand Jain Sabha, Bhavnagar

प्रकाशितं च तत् "वल्लभदास त्रिभुवनदास गांधी सेक्रेटरी
श्रीआत्मानन्द जैन सभा, भावनगर" इत्यनेन

नव्यकर्मग्रन्थचतुष्टयरूप आ विभागनु संशोधन करती वखते सङ्ग्रह करेली प्रतोना सङ्केतो।

कपुस्तक—पाटणना संघवीना पाडाना ताडपत्रीय पुस्तक भण्डारनु छे.
खपुस्तक—पण उपरोक्त भण्डारनु ज छे
गपुस्तक—पाटणनिवासी शा मलुकचंद दोलाचंद हस्तकनु छे
घपुस्तक—पाटणना बृहत्तपागच्छीय पुस्तक भण्डारनु छे
ङपुस्तक—पूज्यपाद प्रवर्तक श्रीमत्कान्तिविजयजी महाराजे वडोदरामा संग्रह करेला पुस्तक भण्डारनु छे

टीकाकारे टीकामां उद्धरेल शास्त्रीय प्रमाणोना स्थानदर्शक संकेतो।

अनु० / अनुयो०	अनुयोगद्वारसूत्र
अनु० चू०	अनुयोगद्वारसूत्र चूर्णा
अनु० हा० टी०	अनुयोगद्वारसूत्र हारिभद्री टीका
आ० प्र० श्रु० द्वि० अ०	आचाराङ्गसूत्र प्रथम श्रुतस्कन्ध द्वितीय अध्ययन
आ० नि०	आवश्यकनिर्युक्ति
आ० नि० गा० / आव० नि० गा०	आवश्यक निर्युक्ति गाथा
आव० सं० गा०	आवश्यक सग्रहणी गाथा
उप० मा० गा०	उपदेशमाला गाथा
उपयो० पद	प्रज्ञापनासूत्रोपाङ्ग उपयोगपद
कर्मस्त० गा०	कर्मस्तव गाथा
जम्बू०	जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिसूत्र
जीवस० गा०	जीवसमास गाथा
तत्त्वा० अ० सू०	तत्त्वार्थाधिगम अध्याय सूत्र
तत्त्वार्थ० अ० सू० सिद्ध० टीका	तत्त्वार्थाधिगम अध्याय सूत्र सिद्धसेनीया टीका
धर्मसं० गा०	धर्मसङ्ग्रहणी गाथा
नन्दी०	नन्दीसूत्रटीका

पञ्चव० गा०	पञ्चवस्तुक गाथा
पञ्चस० गा०	पञ्चसङ्ग्रह गाथा
पञ्चस० ल० वृ० प०	पञ्चसङ्ग्रह लघुवृत्ति पत्र
पञ्चाश० गा०	पञ्चाशक गाथा
प्रज्ञा० प्रज्ञाप०	प्रज्ञापनासूत्रोपाङ्ग
प्रज्ञापना पद प्रज्ञा० पद	प्रज्ञापनासूत्रोपाङ्ग पद
प्रज्ञा० समु० पद	प्रज्ञापनासूत्रोपाङ्ग समुद्घात पद
प्रव० गा० प्रवच० गा०	प्रवचनसारोद्धार गाथा
प्रश० का० प्रशम० का० प्रशम० पद्य	प्रशमरति कारिका
बृ० कर्मवि० गा० बृ० क० वि० गा० बृहत्कर्मवि० गा०	बृहत्कर्मविपाक गाथा
बृ० क० स्त० गा०	बृहत्कर्मस्तव गाथा
बृ० क० स्त० भा० गा०	बृहत्कर्मस्तव भाष्य गाथा
बृ० द्रव्यस० गा०	बृहद् द्रव्यसग्रह गाथा
बृह० क्षे० गा०	बृहत्क्षेत्रसमास गाथा
बृ० स० बृ० स० गा० बृ० सग्र० गा० बृहत्स० गा०	बृहत्सङ्ग्रहणी गाथा
भग० श० उ० भ० श० उ०	भगवतीसूत्र शतक उद्देश
भ० श० उ० प०	भगवतीसूत्र शतक उद्देश पत्र
योगशा० टी०	योगशास्त्रस्वोपज्ञटीका
विशे० आ० गा० विशे० गा० विशेषा० गा०	विशेषावश्यक भाष्य गाथा

श० उ०	भगवतीसूत्र शतक उद्देश
शास्त्र० स्त० श्लो०	शास्त्रवार्तासमुच्चय स्तबक श्लोक
श्रावकप्र० गा० श्राव० प्र० गा०	श्रावकप्रज्ञप्ति गाथा
सि० सिद्धहेम०	सिद्धहेमशब्दानुशासन
समु० प०	प्रज्ञापनासूत्रोपाङ्ग समुद्घात पद

मुद्रित थया पछी जडी आवेल प्रमाणोना स्थानदर्शक संकेतो।

शास्त्र० स्त० श्लो० ९०	पत्र २ पङ्क्ति ९
शास्त्र० स्त० श्लो० ९१	पत्र २ पङ्क्ति २७
बृ० सं० गा० ३४९	पत्र ११३ पङ्क्ति २१
पञ्चस० ल० बृ० प० ३२	पत्र ११९ पङ्क्ति २
भ० श० उ० प० ३४५	पत्र ११९ पङ्क्ति २१
विशेषा० गा० ३०००	पत्र १२३ पङ्क्ति २२

पत्र १० पङ्क्ति २४ मा गाथा अङ्क ८५ ने बदले ८५५ समजवो

प्रमाण तरीके उद्धरेल प्रमाणग्रन्थोनी स्थानदर्शक सूची।

अनुयोगद्वारचूर्णी	रतलाम श्रीऋषभदेवजी केसरीमलजी जैनश्वेताम्बर संस्था
अनुयोगद्वारमलयगिरीया टीका	शेठ देवचंद लालभाई जैनपुस्तकोद्धारफण्ड प्रकाशित
अनुयोगद्वारहारिभद्री टीका	रतलाम श्रीऋषभदेवजी केसरीमलजी जैनश्वेताम्बर संस्था
आचाराङ्गसूत्रटीका	आगमोदय समिति प्रकाशित
आवश्यकचूर्णी	रतलाम श्रीऋषभदेवजी केसरीमलजी जैनश्वेताम्बर संस्था
आवश्यक हारिभद्री टीका	आगमोदय समिति प्रकाशित
आवश्यकनिर्युक्ति	आगमोदय समिति प्रकाशित हारिभद्री टीकागत.
आवश्यकसङ्ग्रहणी	आगमोदय समिति प्रकाशित हारिभद्री टीकागत
उपदेशमाला	श्रीजैनधर्मप्रसारकसभा प्रकाशित
कर्मप्रकृति	रतलाम श्रीऋषभदेवजी केसरीमलजी जैनश्वेताम्बर संस्था प्रकाशित पञ्चाशकादि दशशास्त्रीयगत.
कर्मस्तव	श्रीजैन-आत्मानंद सभा प्रकाशित नव्यकर्मग्रन्थचतुष्कगत.

कल्पभाष्य	श्रीजैन-आत्मानन्दसभा प्रकाशित बृहत्कल्पवृत्तिगत
जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिटीका	शेठ देवचद लालभाई जैनपुस्तकोद्धारफण्ड प्रकाशित
जीतकल्पभाष्य	हस्तलिखित
जीवसमास	रतलाम श्रीऋषभदेवजी केसरीमलजी जैनश्वेताम्बर संस्था प्रकाशित पञ्चाशकादि दशशास्त्रीयगत
तत्त्वार्थाधिगम	पुना शेठ मोतीचद लाधा प्रकाशित
तत्त्वार्थाधिगमटीका	शेठ देवचद लालभाई जैनपुस्तकोद्धारफण्ड प्रकाशित
धर्मसङ्ग्रहणीटीका	शेठ देवचद लालभाई जैनपुस्तकोद्धारफण्ड प्रकाशित
नन्द्यध्ययनचूर्णी	रतलाम श्रीऋषभदेवजी केसरीमलजी जेनश्वेताम्बर संस्था
नन्द्यध्ययनमलयगिरीया टीका	शेठ देवचद लालभाई जैनपुस्तकोद्धारफण्ड प्रकाशित
नन्द्यध्ययनहारिभद्री टीका	रतलाम श्रीऋषभदेवजी केसरीमलजी जैनश्वेताम्बर संस्था
पञ्चवस्तुकटीका	शेठ देवचद लालभाई जैनपुस्तकोद्धारफण्ड प्रकाशित
पञ्चसङ्ग्रह	रतलाम श्रीऋषभदेवजी केसरीमलजी जैनश्वेताम्बर संस्था प्रकाशित पञ्चाशकादि दश शास्त्रीयगत
पञ्चसङ्ग्रहमूलटीका (पञ्चसङ्ग्रहलघुटीका)	शेठ देवचद लालभाई जैनपुस्तकोद्धारफण्ड प्रकाशित
पञ्चाशकटीका	श्रीजैनधर्मप्रसारकसभा प्रकाशित
प्रज्ञापनासूत्र प्रज्ञापनासूत्रटीका	आगमोदय समिति प्रकाशित
प्रवचनसारोद्धारटीका	शेठ देवचद लालभाई जैनपुस्तकोद्धारफण्ड प्रकाशित
प्रशमरतिटीका	श्रीजैनधर्मप्रसारकसभा प्रकाशित
बृहत्कर्मविपाक	श्रीजैन-आत्मानन्दसभा प्रकाशित प्राचीन कर्मग्रन्थचतुष्टयटीकागत
बृहत्कर्मस्तवभाष्य	श्रीजैन-आत्मानन्दसभा प्रकाशित प्राचीन कर्मग्रन्थचतुष्टय टीकागत
बृहत्कर्मस्तवसूत्र	श्रीजैन आत्मानन्दसभा प्रकाशित प्राचीन कर्मग्रन्थचतुष्क टीकागत
बृहत्क्षेत्रसमासटीका	श्रीजैनधर्मप्रसारकसभा प्रकाशित
बृहद्द्रव्यसङ्ग्रह	
बृहद्बन्धस्वामित्व	श्रीजैन-आत्मानन्दसभा प्रकाशित प्राचीन कर्मग्रन्थचतुष्क टीकागत

बृहत् शतकटीका शतक	अमदावादस्थ श्रीवीरसमाज प्रकाशित
बृहत्सङ्ग्रहणीटीका	श्रीजैन-आत्मानन्दसभा प्रकाशित
भगवतीसूत्रटीका पञ्चमाङ्ग	आगमोदय समिति प्रकाशित
योगशास्त्रस्वोपज्ञटीका	श्रीजैनधर्मप्रसारकसभा प्रकाशित
विशेषावश्यकभाष्य	बनारस श्रीयशोविजय जैन पाठशाळा प्रकाशित
शास्त्रवार्तासमुच्चयलघुटीका	गोडीजीनु कारखानु मुंबई
श्रावकप्रज्ञप्तिटीका	केशवलाल प्रेमचंद मोदी प्रकाशित
षडशीतिक	श्रीजैन-आत्मानन्दसभा प्रकाशित प्राचीन कर्मग्रन्थचतुष्क टीकागत
सिद्धहेमशब्दानुशासनलघुवृत्ति	श्रीयशोविजय जैन पाठशाळा बनारस प्रकाशित
सप्ततिकाटीका	श्रीजैनधर्मप्रसारकसभा प्रकाशित कर्मग्रन्थद्वितीयविभागगत

आभार प्रदर्शन

आजे अमे विद्वानोना करकमलमा, ठेल्लामा छेल्ली ढबे तैयार करेल बृहत्तपागच्छनायक श्रीदेवेन्द्रसूरिकृत सोपनटीकायुक्त नव्यकर्मग्रन्थचतुष्टयनी आवृत्ति अर्पण करवा भाग्यशाळी थईए छीए ए माटे पूज्यपाद श्रीमान् १०८ श्रीचतुरविजयजी महाराजनो अत्यन्त आभार मानीए छीए तेम ज पूज्य श्रीचतुरविजयजी महाराजना विद्वान् शिष्य श्रीमान् पुण्यविजयजी महाराजे प्रस्तुत ग्रन्थने सुधारवामाटे तेम ज सम्पादनने लगता कार्यमा जे किम्मती हिस्सो आप्यो छे तेमाटे तेओश्रीनो पण आ ठेकाणे अमे अन्त करणथी आभार मानीए छीए

प्रस्तुत आवृत्तिनु सम्पादन तेओश्रीए जे प्रकारनी योग्यताथी कर्युं छे तेने विद्वानो स्वय समजी शके तेम छे, तथापि अमे तेनो टुकमा परिचय आपवो उचित समजीए छीए—आ आवृत्तिना सम्पादन अने सशोधनमा पूज्य श्रीचतुरविजयजी महाराजे प्राचीन ताडपत्रीय तेम ज कागळनी हस्तलिखित अनेक प्रतोनो उपयोग कर्यो छे तेम ज टीकाकारे प्रमाण तरीके उद्धृत करेल पाठोना स्थळोनो उल्लेख पण तेओश्रीए ते ते स्थळे कर्यो छे अने ग्रन्थना अन्तमा अनेक विषयना परिशिष्टो आपीने तो तेओश्रीए प्रस्तुत आवृत्तिनी महत्तामा अनेक गणो उमेरो ज कर्यो छे

कर्मग्रन्थनी प्रस्तुत आवृत्तिना प्रकाशन माटे उपयोगी द्रव्यनी मदद पूज्य श्रीचतुरविजयजी महाराजना सदुपदेशथी अमने जे धर्मशील बहेनो तरफथी मळी छे ते सौनो हार्दिक आभार मानवा साथे तेमना पवित्र नामोनो उल्लेख अमे आनीचे करी दईए छीए—

रू० १२५ पाटणनिवासी झवेरी मोहनलाल मोतीचन्दनी सुपुत्री बहेन केसरबहेन तरफथी
रू० १२५ पाटणनिवासी झवेरी हेमचन्द मोहनलालनी सुपत्नी बहेन हीराबहेन तरफथी
रू० १०० पाटणनिवासी झवेरी भोगीलाल मोहनलालनी सुपत्नी बहेन मणीबहेन तरफथी
रू० १०० पालनपुरनिवासी परीख मणीलाल सूरजमलनी सुपत्नी बहेन ताराबहेन तरफथी
रू० १०० पाटणनिवासी शा मीखाभाई त्रिभुवनदासनी विधवा बाई मणीना ट्रस्टीओ
तरफथी हस्ते शा० मीखाचद साकरचद सोनी
रू० ५० पालनपुरनिवासी परीख डाह्याभाई सूरजमलनी सुपत्नी बहेन जासुदबहेन तरफथी
रू० ५० अमदावादनिवासी झवेरी मणीलाल मोहनलालनी सुपत्नी बहेन गुलाबबहेन
रू० ५० पाटणनिवासी झवेरी भोगीलाल लहेरचन्दनी सुपत्नी बहेन चम्पाबहेन तरफथी

उपर अमे जेमना पवित्र नामोनो उल्लेख कर्यो छे ते सौनो धन्यवादपूर्वक पुन एक वार आभार मानीए छीए

निवेदक—
वल्लभदास त्रिभुवनदास गाधी
सेक्रेटरी श्रीजैन आत्मानद सभा, भावनगर

प्रस्तावना ।

कर्मग्रन्थोनु प्रकाशन

अमारुं नवीन संस्करण—प्रस्तुत सटीक चार कर्मग्रन्थोनी बे आवृत्तिओ थई चूकी छे प्रथम आवृत्ति भावनगर जैनधर्मप्रसारकसभाए मुबई निर्णयसागर प्रेसमा प्रत आकारे छपावीने प्रसिद्ध करी हती तेनु सपादन प० श्रीमान् आनन्दसागरगणिए कर्युं हतु अने तेम करी कर्मग्रन्थना जिज्ञासुओनी जिज्ञासाने सौ पहेला तेओश्रीए ज पूर्ण करी हती त्यार बाद केटलाएक वर्ष वीत्या पछी प्रथम आवृत्तिनी नकलो न मळवाने लीधे बीजी आवृत्तिनु सपादन प्रत आकारे ज प० श्रीयुत प्रतापविजयजीए मुक्तिकमल-मोहनजैनग्रन्थमाला तरफथी कर्युं हतु आ रीते आ कर्मग्रन्थोनी बे आवृत्तिओ थई जवा छता आजे तेनी एक पण नकल नहि मळी शकवाने कारणे, तेम ज केटलाएक कर्मग्रन्थना अभ्यासीओनी नवीन सस्करणमाटेनी सूचनाने ध्यानमा लई अमे आ त्रीजु सस्करण हाथ धर्युं छे

अमारा सस्करणनी विशेषता—पहेली आवृत्तिना सपादनमा शुद्धिपत्रक आपवा छता तेमा घणीए विशिष्ट अशुद्धिओ रही गयेली, जेनु शुद्धिपत्रक केटलाक समय पहेला भावनगर जैनधर्मप्रसारकसभाए ज बहार पाडेलु, तेम छता य केटलीए विशिष्ट अशुद्धिओ रही जवा पामी हती बीजा सस्करणमा पण उपरोक्त अशुद्धिओनुं सशोधन थई शक्यु नथी ए बधीए अशुद्धिओनु सशोधन अमे अमारी प्रस्तुत आवृत्तिमा सावधानपणे करवा बनतो प्रयत्न कर्यो छे

२ प्रस्तुत ग्रन्थना सपादनमा अमे बे प्राचीन ताडपत्रीय प्रतो अने त्रण प्राचीन कागळनी प्रतोनो उपयोग करी एनु सशोधन घणी ज प्रामाणिक रीते कर्यु छे, अने साथे साथे केटलाक विशिष्ट पाठभेदो पण आप्या छे

३ प्रथमनी बे आवृत्तिओमा टीकाने सळग रीते छापवामा आवी छे, ज्यारे आ आवृत्तिमा ठेकठेकाणे पेरेग्राफ पाडी ते ते विषयोने छूटा पाडवामा आव्या छे

४ टीकाकारे ठेकठेकाणे प्रमाण तरीके जे अनेक शास्त्रीय पाठो उद्धर्या छे ए बधा कया ग्रन्थना छे ए शोधीने ज्या सुधी मेळवी शक्या त्या सुधी ते ते ग्रन्थना मूळ स्थळोने नोंधवा यत्न कर्यो छे अने ते ते मूळ ग्रन्थ साथे सरखावता जे पाठभेदो जणाया छे तेने अमे टिप्पणमा आप्या छे आथी अमे कर्मग्रन्थना अभ्यासीओने ते ते ग्रन्थमा रहेला कर्मग्रन्थविषयक विविध विचारोने अवगाहवानी सुगमता करी आपी छे

५ टीकामा जे ग्रन्थ अने ग्रन्थकार विगेरेना नामो आवे छे ए वाचकोना लक्ष्यमा एकदम आवे ते माटे ते नामो अमे स्थूलाक्षर(ब्लॅक टाइप)मा आप्या छे

६ प्रस्तुत संपादनमा ग्रन्थने अन्ते छ परिशिष्टो आपवामा आव्या छे जेमाना पहेला परिशिष्टमा टीकाकारे प्रमाण तरीके उद्धरेल शास्त्रीय पाठो, गाथाओ अने श्लोक विगेरे अकारादि क्रमथी स्थलनिर्देशपूर्वक आपवामा आव्या छे बीजा अने त्रीजा परिशिष्टमा अनुक्रमे कर्मग्रन्थनी टीकामा आवता ग्रन्थ अने ग्रन्थकारोना नामोनो क्रम आपवामा आव्यो छे चोथा परिशिष्टमा प्रस्तुत कर्मग्रन्थ अने तेनी टीकामा आवता कर्मग्रन्थविषयक पारिभाषिकशब्दो के जेनी व्याख्या मूळमा तेम ज टीकामा आपवामा आवी छे तेनो स्थलनिर्देशपूर्वक कोश आपवामा आव्यो छे पाचमा परिशिष्टमा कर्मग्रन्थनी टीकामा आवता पिण्डप्रकृतिसूचक शब्दोनो कोष आपवामा आव्यो छे अने छट्ठा परिशिष्टमा वर्तमानमा उपलब्ध थता श्वेताम्बर-दिगम्बर संप्रदायना कर्मविषयक समग्र साहित्यनी नोंध आपवामा आवी छे

कर्मग्रन्थोनु महत्त्व ।

जैन साहित्यमा कर्मग्रन्थोनु केटलु उच्च स्थान छे ए माटे आ ठेकाणे एटलु ज कहेवु बस थशे के–जैन दर्शन ए काल स्वभाव आदि पाचे कारणोने मानता छता एणे अमुक वस्तुस्थिति अने दर्शनान्तरोनी मान्यताओने ध्यानमा लई कर्मवाद उपर वाइक वधारे भार मूक्यो छे एटले जैनदर्शन अने जैन आगमोनु यथार्थ अने संपूर्ण ज्ञान कर्मतत्त्वने जाण्या सिवाय कोई पण रीते थई शक्तु नथी अने ए विशिष्ट ज्ञान मेळववा माटेनु प्रारम्भिक मुख्य साधन कर्मग्रन्थो सिवाय बीजु एक पण नथी कर्मप्रकृति, पञ्चसंग्रह आदि कर्मसाहित्यविषयक विशाल अने दरिया जेवा ग्रन्थोमा प्रवेश करवामाटे कर्मग्रन्थोनो अभ्यास अतिआवश्यक होई कर्मग्रन्थोनु स्थान जैन साहित्यमा अतिगौरवभर्यु छे

कर्मग्रन्थोनो परिचय ।

आचार्य श्रीदेवेन्द्रसूरिए पाच कर्मग्रन्थोनी रचना करी छे, ते पैकीना चार कर्मग्रन्थोने आ विभागमा प्रकाशित करवामा आवे छे, तेम छता आ ठेकाणे आचार्य श्रीदेवेन्द्रसूरिना पाचे कर्मग्रन्थोनो परिचय आपवामा आवे छे

नाम—आचार्य श्रीमान् देवेन्द्रसूरिए जे पाच कर्मग्रन्थोनी रचना करी छे तेना नाम अनुक्रमे आ प्रमाणे छे–कर्मविपाक, कर्मस्तव, बन्धस्वामित्व, षडशीति अने शतक आ नामो ग्रन्थनो विषय अने तेनी गाथासंख्याने लक्ष्यमा राखीने ग्रन्थकारे पाडेला छे पहेला त्रण नामो ग्रन्थना विषयने ध्यानमा राखीने पाडवामा आव्या छे, ज्यारे षडशीति अने शतक ए बे नाम ते ते कर्मग्रन्थनी गाथासंख्याने अनुलक्षीने पाडवामा आव्या छे चोथा कर्मग्रन्थनी गाथा ८६ छे माटे तेनु नाम षडशीति राखवामा आव्यु छे अने पाचमा कर्मग्रन्थनी गाथा १०० छे माटे तेनु नाम शतक राखवामा आव्यु छे आ रीते पाचे कर्मग्रन्थना जुदा जुदा नाम होवा छता अत्यारे सामान्य जनता आ कर्मग्रन्थोने पहेलो कर्मग्रन्थ, बीजो कर्मग्रन्थ, त्रीजो कर्मग्रन्थ ए नामथी ज ओळखे छे

भाषा अने छन्द्—सामान्य रीते जैन संस्कृतिए प्राकृतभाषा अने आर्याछन्दने मुख्य स्थान आप्यु छे एटले ते संस्कृतिना अनुयायिओए पोतानी मौलिक अने महत्त्वभरी दरेक कृतिओने प्राकृतभाषामा अने आर्याछन्दमा ज बद्ध करी छे ते ज रीते आचार्य श्रीदेवेन्द्रसूरिए पोताना कर्मग्रन्थोनी रचना पण प्राकृतभाषामा अने आर्याछन्दमा ज करी छे

विषय—१ पहेला कर्मग्रन्थ तरीके ओळखाता कर्मविपाक नामना कर्मग्रन्थमा ज्ञानावरणीय दर्शनावरणीय आदि आठ कर्मो, तेना भेद-प्रभेदो अने तेनु स्वरूप अर्थात् विपाक अथवा फळनु वर्णन दृष्टान्त पूर्वक करवामा आव्यु छे

२ बीजा कर्मस्तव नामना कर्मग्रन्थमा श्रमण भगवान् महावीरनी स्तुति करवा द्वारा चौद गुणस्थानोनु स्वरूप अने ए गुणस्थानोमा प्रथम कर्मग्रन्थमा वर्णवेल कर्मोनी प्रकृतिओ पैकी कई कई कर्मप्रकृतिओनो बन्ध, उदय, उदीरणा अने सत्ता होय छे एनु निरूपण करवामा आव्यु छे

३ त्रीजा बन्धस्वामित्व नामना कर्मग्रन्थमा गत्यादिमार्गणास्थानोने आश्री जीवोना कर्मप्रकृतिविषयक बन्धस्वामित्वनु वर्णन करवामा आव्यु छे बीजा कर्मग्रन्थमा गुणस्थानोने आश्रीने बन्धनु वर्णन करवामा आव्यु छे ज्यारे आ कर्मग्रन्थमा गत्यादिमार्गणास्थानोने ध्यानमा राखी बन्धस्वामित्वनो विचार करवामा आव्यो छे

४ चोथा षडशीति नामना कर्मग्रन्थमा जीवस्थान, मार्गणास्थान, गुणस्थान, भाव अने संख्या ए पाच विभाग पाडीने तेनु विस्तारथी विवेचन करवामा आव्यु छे आ पाच विभाग पैकी प्रण विभाग साथे बीजा विषयो पण वर्णववामा आव्या छे (क) जीवस्थानमा गुणस्थान, योग, उपयोग, लेश्या, बन्ध, उदय, उदीरणा अने सत्ता आ आठ विषयो चर्चवामा आव्या छे (ख) मार्गणास्थानमा जीवस्थान, गुणस्थान, योग, उपयोग, लेश्या अने अल्पबहुत्व ए छ विषयो वर्णव्या छे अने (ग) गुणस्थानमा जीवस्थान, योग, उपयोग, लेश्या, बन्धहेतु, बन्ध, उदय, उदीरणा अने सत्ता आ नव विषयो वर्णव्या छे पाछला बे विभागो अर्थात् भाव अने संख्यानु वर्णन कोई विषयथी मिश्रित नथी

५ पाचमो शतक नामनो कर्मग्रन्थ जो के आ विभागमा प्रकाशित करवामा नथी आव्यो तेम छता प्रसङ्गोपात तेना विषयनो निर्देश करी देवो अनुचित नहि ज गणाय आ कर्मग्रन्थमा, पहेला कर्मग्रन्थमा वर्णवेल कर्मप्रकृतिओ पैकीनी कई कई प्रकृतिओ ध्रुवबन्धिनी, अध्रुवबन्धिनी, ध्रुवोदया, अध्रुवोदया, ध्रुवसत्ताका, अध्रुवसत्ताका, सर्व-देशघाती, अघाती, पुण्यप्रकृति, पापप्रकृति, परावर्त्तमानप्रकृति अने अपरावर्तमान प्रकृतिओ छे एनु निरूपण करवामा आव्यु छे ते पछी उपरोक्त प्रकृतिओ पैकीनी कई कई कर्मप्रकृतिओ क्षेत्रविपाकी, जीवविपाकी, भवविपाकी अने पुद्गलविपाकी छे एनु विभागवार वर्णन करवामा आव्यु छे आ पछी उपरोक्त कर्मप्रकृतिओना प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, रसबन्ध अने प्रदेशबन्ध ए चार प्रकारना बन्धनु स्वरूप अने ते समजमा आवे ते माटे

मोदकनु दृष्टान्त कहेवामा आव्यु छे आटलु कह्या बाद कयो जीव कई कई जातना बन्धनो स्वामी होय छे ए कहेवामा आव्यु छे अने छेवटे उपशमश्रेणि अने क्षपकश्रेणिनु विस्तृत स्वरूप वर्णववामा आव्यु छे आ मुख्य विषयो सिवाय आ कर्मग्रन्थमा ध्रुवबन्धिनी आदि प्रकृतिओने आश्रीने साधनादि भागाओनु निरूपण विगेरे अवान्तर अनेक विषयो ग्रन्थकारे वर्णवेला छे

आधार—आचार्य श्रीमान् देवेन्द्रसूरिए पाच कर्मग्रन्थनी रचना करी ते पहेला आचार्य श्रीशिवशर्म–श्रीचन्द्रर्षिमहत्तर विगेरे जुदा जुदा पूर्वाचार्यो द्वारा जुद जुद समये मळी कर्मविषयक छ प्रकरणोनी अथवा बीजा शब्दोमा कहीए तो छ कर्मग्रन्थोनी रचना थई चूकी हती ए ज छ कर्मग्रन्थो पैकीना पाच कर्मग्रन्थोने आधाररूपे पोतानी नजर सामे राखी आचार्य श्रीदेवेन्द्रसूरिए पोताना कर्मग्रन्थोनी रचना करी छे अने तेथी आचार्य श्रीदेवेन्द्रसूरिना कर्मग्रन्थोने "नव्यकर्मग्रन्थ" तरीके ओळखवामा आवे छे

नव्यकर्मग्रन्थोनी प्राचीनकर्मग्रन्थो साथे तुलना—आचार्य श्रीमान् देवेन्द्रसूरिए जे नव्यकर्मग्रन्थोनी रचना करी छे ए उपर जणाववामा आव्यु तेम स्वतन्त्र नथी पण प्राचीनकर्मग्रन्थोने आधारे करवामा आवी छे ए रचनामा आचार्य श्रीदेवेन्द्रसूरिए मात्र प्राचीन कर्मग्रन्थोना आशयने ज लीधो छे एम नथी पण नाम, विषय, वस्तुने वर्णववानो क्रम विगेरे दरेके दरेक बाबतमाटे तेमणे तेना आदर्शने पोतानी नजर सामे राख्यो छे ए आपणे एमना कर्मग्रन्थो अने प्राचीनकर्मग्रन्थोना तुलनात्मक निरीक्षण द्वारा समजी शकीए छीए

नाम अने विषय—प्राचीन कर्मग्रन्थोना नामो अने आचार्य श्रीदेवेन्द्रसूरिकृत कर्मग्रन्थोना नामोमा लगभग समानता ज छे जेम आचार्य श्रीदेवेन्द्रसूरिना प्रथम कर्मग्रन्थने **कर्मविपाक** नामथी ओळखवामा आवे छे तेम ते ज विषयने चर्चता प्राचीन कर्मग्रन्थविषयक प्रकरणने **कर्मविपाक** नामथी ज ओळखवामा आवे छे आ रीते आचार्य श्रीदेवेन्द्रसूरिए पोताना नव्य कर्मग्रन्थोना जे नामो आप्या छे ते प्राचीन कर्मविषयक प्रकरणो, जेने आधारे तेमणे पोताना नव्य कर्मग्रन्थोनी रचना करी छे, तेने आधारे ज आप्या छे

प्राचीन कर्मग्रन्थो पैकी बीजा अने चोथा कर्मग्रन्थना नाममा दृश्य रीते सहज फरक नजरे आवे छे, तेम छता आचार्य श्रीदेवेन्द्रसूरिए पोताना कर्मग्रन्थोने जे नामथी ओळखावेल छे ते नामथी एटले के **कर्मस्तव** अने **षडशीति** ए नामथी प्राचीन बीजा अने चोथा कर्मग्रन्थने ओळखवामा आवता तो हता ज

प्राचीन बीजा कर्मग्रन्थने तेना कर्ताए मङ्गलाचरणमा **बंन्धोदयसद्युक्तस्तव** एवु नाम

१ नमिऊण जिणवरिंदे तिहुयणवरनाणदंसणपईवे । बंधुदयसंतजुत्तं वोच्छामि थयं निसामेह ॥

आप्यु छे तेम छता टीकाकार श्रीगोविन्दाचार्ये पोतानी टीकाना प्रारभमा अने अन्तमा एनु नाम कर्मस्तव ज लीधु छे आ उपरथी एम लागे छे के मूळग्रन्थकारे पोताना प्रकरणमा बन्धोदयसद्युक्तस्तव एवु नाम आपवा छता ए नाम बोलवु के याद राखवु जनसामान्यने अगवडकर्ता थई पडे ते माटे उपरोक्त नामने टुकावी कर्मस्तव एवु बीजु नाम आप्यु होय अथवा टीकाकारे ए नाम टुकाव्यु होय गमे तेम हो, पण बीजा कर्मग्रन्थनु कर्मस्तव ए नाम पहेलेथी रूढ तो हतु ज आचार्य श्रीदेवेन्द्रसूरि तो पोताना त्रीजा कर्मग्रन्थना अन्तमा बीजा कर्मग्रन्थने कर्मस्तव ए नामथी ज ओळखावे छे

प्राचीन चोथा कर्मग्रन्थने षडशीति अने आगमिकवस्तुविचारसारप्रकरण ए बे नामथी ओळखवामा आवे छे मूळ प्रकरणकारे मूळमा प्रकरणना नामनो उल्लेख कर्यो नथी एटले वर्तमानमा प्रचलित उपरोक्त बे नाम ग्रन्थकारनी कल्पनामा हशे के केम ? ए वही शकाय नहि, तेम छता आ कर्मग्रन्थना टीकाकार आचार्य श्रीमान् मलयगिरि अने बृहद्गच्छीय आचार्य श्रीहरिभद्रसूरिए चोथा कर्मग्रन्थनी गाथासख्या अने विषयने ध्यानमा लई उपरोक्त बन्ने य नामोनो निर्देश कर्यो छे एटले ए नामो आचार्य श्रीदेवेन्द्रसूरि पहेला हता ज एम मानवाने प्रबळ कारण छे आचार्य श्रीदेवेन्द्रसूरि तो पोताना नव्य चतुर्थ कर्मग्रन्थने षडशीति ए नामथी ज ओळखावे छे

जेम प्राचीन कर्मग्रन्थोना नाम गाथानी सख्या तेम ज विषयने लक्ष्यमा राखीने पाडवामा आव्या छे तेम आचार्य श्रीदेवेन्द्रसूरिए पोताना कर्मग्रन्थोने माटे ए ज पद्धति स्वीकारी छे चोथो अने पाचमो कर्मग्रन्थ तेमनी सक्षेप रचनापद्धति अनुसार टुकाई जवा छता नवीन विषयो उमेरीने पण गाथासख्यानुसार पाडेला प्राचीन नामोने कायम राखवा तेमणे यत्न कर्यो छे जे आपणे आगळ उपर जोईशु

विषय अने वस्तुवर्णननो क्रम—प्राचीन कर्मग्रन्थकारे पोताना कर्मग्रन्थोमा जे जे विषयो वर्णव्या छे अने तेना वर्णननो जे क्रम राख्यो छे, लगभग ते ज विषयो अने तेना वर्णननो क्रम आचार्य श्रीदेवेन्द्रसूरिए पोताना कर्मग्रन्थोमा राख्यो छे

कर्मग्रन्थोनो क्रम—उपर जणाववामा आव्यु तेम आचार्य श्रीदेवेन्द्रसूरिए नव्य कर्मग्रन्थोनी रचना करी ते अगाउ आचार्य श्रीशिवशर्म विगेरे जुदा जुदा आचार्यो द्वारा छ कर्मग्रन्थोनी रचना थई चूकी हती तेम छता अत्यारे छ कर्मग्रन्थोने कर्मविपाक कर्मस्तव विगेरे जे क्रममा गोठववामा आवे छे ए क्रम प्राचीन नथी पण अर्वाचीन छे अर्वाचीन एटले आचार्य श्रीदेवेन्द्रसूरिए नव्य कर्मग्रन्थोनी रचना करी त्यारनो प्राचीन

१ कर्मबन्धोदयोदीर्णासत्तावैचित्र्यवेदिनम् । कर्मस्तवस्य टीकेय नत्वा वीर विरच्यते ॥
२ इति श्वेतपटाचार्यगोविन्दगणिना कृता । कर्मस्तवस्य टीकेय देवनागगुरोगिरा ॥
३ देविंदसूरिलिहिय नेय कम्मत्थय सोउ ॥
४ प्रणम्य सिद्धिसाकार कर्मवैचित्र्यवेदिनम् । जिनेश विदधे वृत्ति षडशीतेयथागमम् ॥
५ नत्वा जिन विधास्ये विवृत्ति जिनवल्लभप्रणीतस्य । आगमिकवस्तुविचारसारप्रकरणस्य ॥

कर्मग्रन्थोनी रचना कोई एक आचार्यनी कृति के समकाले थयेल आचार्योनी कृति नथी, पण सैकाओने गाळे थयेल जुदा जुदा आचार्योनी ए कृतियो छे एटले अत्यारे कर्मग्रन्थोने जे क्रमथी अर्थात् कर्मविपाक पहेलो कर्मग्रन्थ, कर्मस्तव बीजो कर्मग्रन्थ एम छए कर्मग्रन्थोने नम्बर वार गोठवायेला आपणे जोइए छीए ए क्रम कर्मविषयने लगता ज्ञाननी मगवडताने लक्षीने आचार्य श्रीदेवेन्द्रसूरिए गोठवेलो लागे छे, मौलिक नथी प्राचीन कर्मग्रन्थो पैकीनो शतक कर्मग्रन्थ आचार्य श्रीशिवशर्मसूरिनी कृति छे ज्यारे सप्ततिका कर्मग्रन्थ श्रीचन्द्रर्षिमहत्तरनी रचना छे, कर्मविपाक ए श्रीगर्गर्षिमहर्षिनी कृति छे त्यारे आगमिकवस्तुविचारसार उर्फे षडशीति कर्मग्रन्थ ए श्रीमान् जिनवल्लभगणिनी रचना छे बीजा त्रीजा कर्मग्रन्थना प्रणेता कोण ? ए सबधे कशो उल्लेख मळी शक्तो नथी, तेम छता अमने एम लागे छे के—कर्मविपाकनी रचना थया पछी आ बे कर्मग्रन्थोनी रचना थई होवी जोईए आ रीते एकदर जोता विक्रमना त्रीजा के चोथा सैकाथी लई विक्रमनी बारमी सदी सुधीमा थयेल जुदा जुदा आचार्यो द्वारा आ कर्मग्रन्थोनी रचना उत्क्रमथी ज करायेल होई अत्यारे चालतो कर्मग्रन्थोनो क्रम आचार्य श्रीदेवेन्द्रसूरिना नव्यकर्मग्रन्थो रचाया पछी ज रूढ थवानो सभव वधारे छे अने अमारी मान्यता मुजब कर्मग्रन्थोनो अत्यारे प्रचलित क्रम आचार्य श्रीदेवेन्द्रसूरिथी ज चालु थयो होवो जोईए

नव्य कर्मग्रन्थोनी विशेषता—प्राचीन कर्मग्रन्थकार आचार्योए पोताना कर्मग्रन्थोमा जे विषयो वर्णवेला छे ते ज विषयो नव्यकर्मग्रन्थकार आचार्य श्रीदेवेन्द्रसूरिए पोताना कर्मग्रन्थोमा वर्णवेला छे तेम छता आचार्य श्रीदेवेन्द्रसूरिना कर्मग्रन्थोमा विशेषता ए छे के—प्राचीन कर्मग्रन्थकारोए जे विषयोने अतिस्पष्ट रीते, परन्तु एटला लाबा करी वर्णव्या छे, जे सामान्य रीते कण्ठस्थ करनार अभ्यासीओने अतिकटाळो आपे, त्यारे ते ज विषयोने आचार्य श्रीदेवेन्द्रसूरिए पोताना कर्मग्रन्थोमा एक पण विषयने पडतो मूक्या सिवाय, एटलु ज नहि पण बीजा अनेक विषयोने उमेरीने, दरेक अभ्यासी सहजमा समजी शके एवी स्पष्ट भाषापद्धतिए अतिसक्षेपथी प्रतिपादन कर्या छे, जेनो अभ्यास करवामा अने याद करवामा तेना अभ्यासीओने अतिश्रम के कटाळो न लागे प्राचीन कर्मग्रन्थोनी गाथासख्या अनुक्रमे १६८, ५७, ५४, ८६ अने १०२ नी छे ज्यारे नव्य कर्मग्रन्थोनी गाथासख्या अनुक्रमे ६०, ३४, २४, ८६ अने १०० नी छे चोथा अने पाचमा कर्मग्रन्थोनी गाथासख्या प्राचीन कर्मग्रन्थोना जेटली जोई कोईए एम न मानी लेवु के—'प्राचीन चोथा अने पाचमा कर्मग्रन्थ करता नव्य चतुर्थ पञ्चम कर्मग्रन्थोमा शाब्दिक फरक सिवाय बीजु काइ ज नहि होय' किन्तु आचार्य श्रीदेवेन्द्रसूरिए पोताना नव्य कर्मग्रन्थोमा प्राचीन कर्मग्रन्थोना विषयोने जेटला टुकावी शकाय तेटला टुकाव्या पछी, तेना षडशीति अने शतक ए बे प्राचीन नामोने अमर राखवाना इरादाथी कर्मग्रन्थना अभ्यासीओने अति मददगार थई शके एवा विषयो उमेरीने छयासी अने

सो गाथा पूर्ण करी छे चोथा कर्मग्रन्थमा आचार्य श्रीदेवेन्द्रसूरिए भेद-प्रभेदो साथे छ भावोनु स्वरूप अने भेद-प्रभेदना वर्णन साथे सङ्ख्यात, असङ्ख्यात अने अनन्त ए त्रण प्रकारनी सङ्ख्याओनु स्वरूप वर्णव्यु छे अने पाचमा कर्मग्रन्थमा उद्धार, अद्धा अने क्षेत्र ए त्रण प्रकारना पल्योपमोनु स्वरूप, द्रव्य, क्षेत्र, काल अने भाव ए चार प्रकारना सूक्ष्म अने बादर पुद्गलपरावर्तोनु स्वरूप तेम ज उपशमश्रेणि अने क्षपकश्रेणिनु स्वरूप विगेरे अनेक नवीन विषयो उमेर्या छे आ रीते प्राचीन कर्मग्रन्थो करता आचार्य श्रीदेवेन्द्रसूरिकृत नव्य कर्मग्रन्थोमा खास विशेषता ए रहेली छे के—प्रस्तुत प्रकाशित कराता कर्मग्रन्थोमा प्राचीन कर्मग्रन्थोना प्रत्येक विषयनो समावेश होवा छता तेनु प्रमाण अति नानु छे अने ते साथे एमा नवा अनेक विषयो सघरवामा आव्या छे

कर्मग्रन्थो—उपर अमे जणावी आव्या ते मुजब प्राचीन अने नवीन एम बे प्रकारना कर्मग्रन्थो सिवाय विक्रमनी पन्दरमी शताब्दीमा थयेल आगमिक आचार्य श्रीजयतिलकसूरिए सस्कृत कर्मग्रन्थोनी पण रचना करी छे तेम छता आचार्य श्रीदेवेन्द्रसूरिना नव्य कर्मग्रन्थोनु ज जनसाधारणमा गौरव अने ग्राह्यता वधी पड्या छे, अने आज सुधी जनतामा ए ज अव्यवछिन्न रीते प्रचार पामी रह्या छे आचार्य श्रीदेवेन्द्रसूरिना कर्मग्रन्थोए एटले सुधी काम कर्यु छे के अत्यारे थोडा एक गण्या गाठ्या विद्वानो सिवाय भाग्ये ज कोई जाणतु हशे के—आचार्य श्रीदेवेन्द्रसूरिना कर्मग्रन्थो सिवाय बीजा प्राचीन कर्मग्रन्थो पण छे जेने आधारे आचार्य श्रीदेवेन्द्रसूरिए पोताना कर्मग्रन्थोनी रचना करी छे

नव्य कर्मग्रन्थोनी टीका—आचार्य श्रीदेवेन्द्रसूरिए पोताना नव्य पाचे कर्मग्रन्थो उपर स्वोपज्ञ टीका रची हती तेम छता त्रीजा कर्मग्रन्थनी टीका आचार्य श्रीदेवेन्द्रसूरिना समय पछी तरत ज गमे ते कारणे नाश पामी गई होवाथी ते पछीना आचार्योने मळी शकी नथी, एटले तेनी पूरवणी करवा माटे कोई विद्वान् आचार्यश्रीए नवीन अवचूरिरूप टीका रची छे जेमनु नाम टीकामा निर्दिष्ट नथी अमारा प्रस्तुत विभागमा नव्य पाच कर्मग्रथ पैकीना पहेला चार कर्मग्रथो सटीक, अर्थात् पहेलो बीजो अने चोथो स्वोपज्ञ टीका साथे अने त्रीजो उपरोक्त अन्यआचार्यकृत अवचूरी साथे, प्रसिद्ध करवामा आवे छे

टीकानी रचनाशैली—आचार्य श्रीदेवेन्द्रसूरिनी टीका रचवानी शैली एवी मनोरजक छे के—मूळ गाथाना कोई पण पद के वाक्यनु विवेचन रही जवा पाम्यु नथी, एटलु ज नहि पण जे पदार्थने विस्तारपूर्वक समजाववानी जरूरत होय तेनु ते प्रमाणे निरूपण करवामा आव्यु छे आ सिवाय प्रस्तुत टीकामा एक ए पण विशेषता जोवामा आवे छे के—

१ जुओ शतक गाथा २५ नीनु अवतरण—"मार्गणास्थानकान्याश्रित्य पुन स्वोपज्ञबन्धस्वामित्वटीकायां विस्तरेण निरूपितस्तत अवधारणीय इति।"

२ जुओ ए टीकानु अतिम पद्य—

"एतद्ग्रन्थस्य टीकाऽभूत्, परं सापि न साऽऽप्यते। स्थानस्याशून्यताहेतोरतोऽलेख्यवचूरिका ॥

टीकाकार जे पदार्थनु विवेचन करे छे ते पदार्थने वधारे स्पष्ट अने मजबूत करवामाटे आगम, निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णी, टीका अने पूर्वमहर्षिविरचित प्रकरणग्रन्थोमाथी ते ते विषयने लगता प्रमाणो टाकी दे छे कोई कोई ठेकाणे तो दिगबर, पुराण बौद्ध अने आयुर्वेदविषयक शास्त्रोना प्रमाणो मूकी ते ते पदार्थोने सप्रमाण सिद्ध कर्या छे आ प्रमाणे नव्य कर्मग्रन्थोनी आ टीका एटली तो विशद, सप्रमाण अने कर्मतत्त्वना विषयथी भरपूर छे के एने जोया पछी प्राचीन कर्मग्रन्थो अने तेनी टीका टिप्पणी विगेरे जोवानी जिज्ञासा लगभग शात थई जाय छे टीकानी भाषा सरल, सुबोध अने हृदयगम होवाथी पठन पाठन करनार सरलताथी कर्मतत्त्वना विषयने प्राप्त करी शके छे जो के आ टीकामा घणे ठेकाणे अनुयोगद्वार, नदी अने प्राचीन कर्मग्रन्थ विगेरेनी टीकाना अक्षरश सदर्भोना सदर्भो नजरे पडे छे पण तेटला मात्रथी अद्भुत अने अपूर्व सग्रह तरीके आ टीकानु गौरव कोई पण रीते खडित थतु नथी आ विभागमा आवेल सटीक चार कर्मग्रथोनु प्रमाण ५९३८ श्लोक अने २८ अक्षर छे

कर्मविषयक साहित्य—जैनधर्म मुख्यपणे कर्मसिद्धान्तने माननार होई तेनी **श्वेताबर** अने **दिगबर** ए बन्ने य शाखामा थयेल स्थविरोए अने विद्वान् आचार्यवर्योए जे विविध प्रकारना विपुल ग्रन्थोनी रचना करी छे ए समग्र साहित्यनो अभ्यास दृष्टिए तेम ज तुलनात्मक पद्धतिए अभ्यास करवा इच्छनारने उपयोगी थाय ते माटे प्रस्तुत प्रकाशनने अते उपलभ्यमान समग्र कर्मविषयक साहित्यनो परिचय आपनार एक परिशिष्ट आप्यु छे आ परिशिष्ट जोवाथी दरेकने ए पण ख्यालमा आवशे के—अगाध प्रतिभाशाली जैनाचार्योए कर्मविषयक साहित्यने विविध रीते केटला विशाळ प्रमाणमा खेड्यु छे ?

ग्रन्थकारनो परिचय

१ ग्रन्थकर्ता—स्वोपज्ञटीकायुक्त नव्य पाच कर्मग्रन्थना प्रणेता बृहत्तपागच्छीय श्रीमान् जगच्चद्रसूरिजीना शिष्य श्रीदेवेन्द्रसूरि छे, ए वात प्रत्येक कर्मग्रन्थनी प्रशस्ति गुर्वावली गुरुगुणरत्नाकरकाव्य आदि अनेक ग्रन्थोना आधारे निर्विवाद रीते सिद्ध छे

२ समय—श्रीदेवेन्द्रसूरिनो स्वर्गवास विक्रमसवत् १३२७ मा थयानो उल्लेख गुर्वावलीमा स्पष्ट रीते मळे छे ए उपरथी एमनो समय लगभग विक्रमनी तेरमी शताब्दीनु उत्तरार्द्ध अने चौदमी शताब्दीनो प्रारभ कही शकाय एमना जन्म, दीक्षा, सूरिपदप्रतिष्ठा आदिना समयनो उल्लेख कोई पण स्थळेथी मळी शकतो नथी, तेम छता श्रीमान् जगच्चन्द्रसूरिए क्रियाउद्धार कर्यो ते समये तेओश्री दीक्षित अवस्थामा होवानो सभव छे श्रीमान् जगच्चन्द्रसूरिए तपागच्छनी स्थापना करी त्यार बाद श्रीदेवेन्द्रसूरि अने श्रीविजयचन्द्रसूरिने सूरिपद समर्पण कर्यानु वर्णन गुर्वावलीमा आवे छे

१ पद्य-१२ श्लोक-११७ जुओ २ पद्य-८ श्लोक-४० जुओ ३ पद्य १६ श्लोक १४७ जुओ ४ पद्य ११ श्लोक १०७ जुओ.

ए उपरथी ए सभावना थई शके के—सवत् १२८५ पछीना कोई पण सवतमा तेमने सूरिपद अपायु हशे सूरिपद ग्रहण समये श्रीदेवेन्द्रसूरि वय, श्रुत, सयम आदि दरेक बाबतमा अतिप्रौढ अने परिणत होवा जोईए नहि तो अत्यन्त जोखमदार सूरिपदवी अने खास करीने ताजेतरमा ज क्रियाउद्धार करनार तथा उग्र तपश्चर्या करी तपाबिरुद मेळवनार श्रीमान् जगच्चन्द्रसूरिगुरुना गच्छनायक पदना भारने तेओ शी रीते सभाळी शके ?

श्रीदेवेन्द्रसूरिने गच्छना कार्यमा सहायभूत थाय तथा गच्छनु सरक्षण थई शके एवा हेतुथी अने श्रीमान् देवभद्रगणिना उपरोधथी श्रीमान् जगच्चन्द्रसूरिए श्रीविजयचन्द्रने सूरिपद अर्पण कर्यु हतु ए वर्णन गुर्वावलीमा छे आ उपरथी ए वात तरी आवे छे के—श्रीदेवेन्द्रसूरिनी आचार्यपदवी थया बाद श्रीविजयचन्द्रने सूरिपदवी आपवामा आवी हती

श्रीमान् देवेन्द्रसूरिए उज्जयिनीनगरीना रहेवासी श्रेष्ठी जिनचन्द्रना पुत्र वीरधवलने जे वखते तेना लग्न निमित्ते महोत्सव थई रह्यो हतो अने लग्न करवानी तैयारी चालती हती ते वखते प्रतिबोध करी तेना पिता जिनचन्द्रनी सम्मति लई सवत् १३०२ मा दीक्षा आपी हती त्यार बाद तेमने गुजरात देशना प्रह्लादनपुर (पालनपुर) नामना नगरमा महोत्सवपूर्वक सवत् १३२२ मा सूरिपदवी अर्पण करी हती, जेओ श्रीविद्यानन्दसूरि ए नामथी प्रसिद्ध थया श्रीदेवेन्द्रसूरिना जन्म, दीक्षा अने सूरिपदवी विगेरेना समयनो निश्चय नथी तो पण तेओश्री तेरमी शताब्दीना पश्चार्द्धमा अने चौदमी शताब्दीना प्रारभमा विद्यमान हता ए निर्विवाद छे

३ जन्मभूमि जाति आदि—श्रीदेवेन्द्रसूरिनो जन्म क्या देशमा अने कयी जातिमा थयो हतो ए विगेरेमाटेना उल्लेखो के प्रमाण आज सुधीमा उपलब्ध थया नथी गुर्वावलीमा तेओश्रीनु जे जीवनवृत्तान्त छे ते घणु सक्षिप्त अने अपूर्ण छे एमा मात्र सूरिपद ग्रहण कर्या पछीनी केटलीएक बीनाओनु ज वर्णन करेलु छे नहि के सपूर्ण तेम ज तेओश्रीनु जीवनवृत्तात ज्या ज्या आवे छे ए बधुये अधुरु ज देखाय छे एटले तेओश्रीना जन्मस्थान, जाति, माता पिता आदि माटे आपणे कशु ज कही शकता नथी मात्र गुर्वावली विगेरेना आधारे एटलु जोई शकाय छे के—तेओश्रीनो विहार मोटे भागे माळवा अने गुजरातमा ज थयो छे आ उपरथी कल्पना सभावना करी शकाय के—तेओश्रीनो जन्म गुजरात के माळवा आ बे देशोमाथी कोई पण एक देशमा थयो होय आथी आगळ वधी जन्म, जाति, माता पिता विगेरे माटे कशु ज कही शकाय तेम नथी

४ विद्वत्ता—श्रीमान् देवेन्द्रसूरिना प्राकृत अने सस्कृत भाषाना ग्रथो जोता तेओश्री एक असाधारण प्रतिभाशाळी अने जैनसिद्धान्तना तेम ज दर्शनशास्त्रना पारगत विद्वान्

१ पत्र ११ श्लोक १०० जुओ २ पत्र-१२ श्लोक-१२४-१२५ जुओ ३ गुर्वावली पत्र-१५ श्लोक १५३ थी १५६ जुओ ३ गुर्वावली पत्र-१६ श्लोक-१६४ जुओ

हता एमा सहज पण संदेह नथी ए बाबतनी साक्षी तेओश्रीना निर्माण करेला ग्रंथो ज पूरी पाडे छे तेओश्री अद्भुत व्याख्यानशक्ति धरावता होवाथी तेमना धर्मोपदेशने प्रतिभासपन्न वस्तुपाल जेवा मंत्रिओ अने अनेक ब्राह्मण पण्डितो घणा ज रसपूर्वक श्रवण करता हता ए बाबतनो उल्लेख गुर्वावलीमा स्पष्ट पणे मळे छे

५ चारित्र—श्रीमान् देवेन्द्रसूरि केवळ विद्वान ज हता एम नहि परन्तु तेओश्री उत्कृष्ट चारित्रधर्मनु पालन करवामा पण अत्यंत प्रतिज्ञानिष्ठ हता श्रीमान् जगचन्द्रसूरिए अपूर्व पुरुषार्थ खेडी तथा असाधारण त्याग धारण करी जे क्रिया उद्धार कर्यो हतो एनो निर्वाह श्रीमान् देवेन्द्रसूरि अने श्रीविजयचन्द्रसूरि ए बन्ने आचार्योए साथे मळी करवानो हतो, तेम छता श्रीमान् देवेन्द्रसूरिए एकलाए ज तत्कालीन शिथिलाचारी आचार्योना प्रभावनी असर पोता उपर कोई पण रीते न पडवा देता श्रीजगचन्द्राचार्यना करेला क्रियाउद्धारने बराबर रीते सभाळी राख्यो अने श्रीविजयचन्द्रसूरि विद्वान् होवा छता शिथिलाचारी आचार्योना प्रभावमा तणाई जई शिथिल थइ गया श्रीमान् देवेन्द्रसूरिए तेमने समजाववा माटे पूरतो प्रयत्न कर्यो परन्तु ज्यारे तेओ कोई रीते समज्या नहीं त्यारे पोते शुद्धक्रियारुचि होवाथी एमनाथी जुदा थई गया श्रीमान् देवेन्द्रसूरिनु चित्त चारित्रधर्मथी एटलु तो सत्कारी हतु के तेमने शुद्धक्रियामा परायण जोई अनेक संविग्नपाक्षिक अने आत्मार्थी मुमुक्षुओए ए महापुरुषनो आश्रय लीधो हतो

६ गुरु—श्रीमान् देवेन्द्रसूरिना गुरु बृद्धगच्छीय (क्रियाउद्धार कर्या पछी बृहत् तपागच्छीय) श्रीमान् जगचन्द्रसूरि हता जेमणे पोताना गच्छमा शिथिलता जोई चैत्रवालगच्छीय श्रीमान् देवभद्रउपाध्यायनी मददथी क्रियाउद्धारना कार्यनो आरभ कर्यो हतो आ कार्य माटे तेओश्रीए असाधारण त्यागवृत्ति अने आगमानुसारी शुद्धक्रियाने स्वीकार्या शरुआतमा तेमणे छ विकृतिओनो त्याग करी जींदगी सुधी आवेल तप करवानो नियम स्वीकार्यो अने पोताना शरीर प्रत्येना ममत्वनो सदंतर त्याग कर्यो आ प्रमाणे अतिकठिन आचाम्ल (आवेल) तपनी तपस्या करता बार वर्ष व्यतीत थया बाद तेमने "तपा" ए बिरुद मळ्यु हतु अने त्यारथी बृद्धगच्छ ए नामने बदले "तपागच्छ" ए नाम प्रवर्त्यु अने तेओश्री तपगच्छना आद्य पुरुष तरीके प्रसिद्धि पाम्या गच्छनी परावृत्ति प्रसगे मंत्रीश्वर वस्तुपाल विगेरेए हार्दिक भक्तिपूर्वक आ महापुरुषनी सत्कार–सन्मानरूप पूजा करी हती श्रीमान् जगचन्द्रसूरि मात्र तपस्वी ज हता एम नहीं परन्तु अप्रतिम प्रतिभाशाळी असाधारण विद्वान् पण हता जेओए मेदपाट (मेवाड) नी राज्यधानी आघाटमा बत्रीस दिगंबर वादिओनी साथे वाद कर्यो हतो ए वादमा हीरानी जेम अभेद्य रहेवाथी चितोडनरेश तरफथी तेमने "हीरला जगचन्द्रसूरि" एवु बिरुद मळ्यु हतु ए महापुरुषने उग्र तपश्चर्या, निर्मलबुद्धि, असाधारण विद्वत्ता अने विशुद्ध चारित्र ए ज अद्भुत विभूति

१ पत्र–१२ श्लोक–११५–११६ जुओ २ गुवा० पत्र–१२ श्लोक–१२२ थी आगळ एमनु जीवन जुओ

हता अने ए ज विभूतिना प्रभावथी ए महापुरुपस्थापित गच्छमा आज सुधी अनेकानेक प्रभावशाळी आचार्यो अने श्रावको थई गया छे

७ परिवार—श्रीमान् देवेन्द्रसूरिना परिवारनु प्रमाण केटलु हतु एनो सत्तावार खुलासो कोई पण ठेकाणेथी मळी आवतो नथी परन्तु परपरानी रीति प्रमाणे ते कालमा तेओश्रीनी आज्ञामा विचरतो समग्र यतिसमुदाय एमनो ज परिवार गणाय गुर्वावलीनो उल्लेख जोता उपाध्याय श्रीहेमकलशगणि प्रमुख सविग्नपाक्षिक मुनिओ पण तेओश्रीना परिवारमा हता वीरधवल अने भीमसिंह आ बन्ने भाइओने प्रतिबोधी पोताना शिष्यो कर्यानो उल्लेख पण गुर्वावलीमा मळे छे तेमा प्रथम शिष्यनु नाम श्रीविद्यानदसूरि छे, जेओ जैन आगमना विद्वान् हता एटलु ज नहीं पण तेओश्रीए विद्यानद नामनु नवीन व्याकरण बनावेलु हतु ते जोता तेओ साहित्यादि विविध विषयोमा पण निष्णात हता तेओश्रीनु व्याकरण कोई पण ठेकाणे मळी आवतु नथी एटले अत्यारे तो ते नामशेप थई गया जेवु छे श्रीमान् देवेन्द्रसूरिना बीजा शिष्य आचार्य श्रीधर्मघोषसूरि हता तेओश्री प्रतिभाशील, विद्वान्, विशुद्धचारित्री अने विशिष्ट प्रभावक पुरुष हता तेमना रचेला सघाचारभाष्य यमकस्तुतिओ विगेरे अनेकानेक ग्रथो विद्यमान छे पोताना गुरु आचार्य श्रीमान् देवेन्द्रसूरिना रचेला स्वोपज्ञटीकायुक्त नव्य पच कर्मग्रथ आदि ग्रन्थोने तेओश्रीए शुद्ध कर्या छे ए उपरथी तेओश्रीनी विद्वत्तानो अने जैनागम विषयक तेमना विशाळ ज्ञाननो पूर्ण परिचय मळी रहे छे तेओश्रीने एक वखत साप करड्यो हतो तेथी श्रावक वर्गमा असाधारण गभराट फेलायो तेने उतारवा माटे श्रावकोनो आग्रह थवाथी तेओश्रीए श्रावको आगळ वनस्पतिनुं नाम जणावी सापनु झेर उतराव्यु ए अनिवार्य दशामा करावेल वनस्पतिकायना अतिअल्प आरभने निमित्ते तेओश्रीए जीवन पर्यंत छ [illegible] विकृतिओनो त्याग कर्यो ए उपरथी एमनी जीवनचर्या अने चारित्र केटला उग्र हता ए स्पष्ट रीते जणाई आवे छे आ महापुरुपनु सविस्तर वर्णन जोवा इच्छनारे श्रीमुनिसुदरसूरि तथा उपाध्याय श्रीधर्मसागरगणिकृत गुर्वावलीओ अने जैनतत्त्वादर्श जोवा

८ ग्रथरचना—श्रीमान् देवेन्द्रसूरिए प्राकृत–सस्कृत भाषामा बनावेला जे ग्रथो अत्यारे जोवामा आवे छे तेनी नामावली आ नीचे आपवामा आवे छे —

१ श्राद्धदिनकृत्यवृत्ति	२ सटीक पाच नव्य कर्मग्रथ
३ सिद्धपञ्चाशिकासूत्रवृत्ति	४ धर्मरत्नप्रकरण बृहद्वृत्ति
५ सुदर्शनाचरित्र	६ चैत्यवन्दनादि भाष्यत्रय
७ वन्दारुवृत्ति(वदित्तासूत्रटीका)	८ सिरिउसहवद्धमाणप्रमुखस्तव
९ सिद्धदण्डिका	१० चत्तारि अट्ठ दस गाथाविवरण

उपरोक्त ग्रथोमा २–३–४–५–६–७–९ अकोवाळा ग्रथो जुदी जुदी सस्थाओ तरफथी छपाईने प्रसिद्धिमा आवी गया छे आ सिवाय जैन ग्रथावलीमा श्रीदेवेन्द्रसूरिना नामे

बीजा घणा ग्रंथो चढेला छे परंतु ते जुदा जुदा गच्छोमां थयेल बीजा बीजा श्रीदेवेन्द्र-सूरि नामना आचार्योए बनावेला छे

प्रतिओनो परिचय

प्रस्तुत विभागनुं संशोधन करवामां अमे पांच प्रतिओनो संग्रह कर्यो छे ए प्रतिओनी अनुक्रमे क-ख-ग-घ-ङ एवी संज्ञा राखवामां आवी छे तेमां कई प्रतिनी कई संज्ञा छे ? ते कोनी छे ? केवा प्रकारनी छे ? विगेरेनो परिचय वाचकोनी जाण खातर आ ठेकाणे कराववो ए सर्वथा उचित लेखाशे

क अने ख संज्ञकपुस्तको—आ पुस्तको पाटण-संघवीना पाडाना ताडपत्रीय पुस्तकभंडारना छे ए भंडार अत्यारे शा पन्नालाल छोटालाल पटवानी देखरेख नीचे छे तेमां क-पुस्तक ताडपत्र उपर लखेलुं छे अने ते सटीक छ कर्मग्रंथोनुं छे तेनां पत्र ३५१ छे पुस्तकनी लंबाई ३५॥ इंच अने पहोळाई २॥ इंचनी छे पुस्तकनी दरेक पुठीमां वधारेमां वधारे ६ पंक्तिओ अने ओछामां ओछी ४ पंक्तिओ छे प्रतिनी स्थिति घणी सारी छे ते प्रतिना अंतमां नीचे प्रमाणेनो उल्लेख छे—

"इति श्रीमलयगिरिविरचिता सप्ततिटीका समाप्ता ॥छ॥ ग्रंथाग्रम्-३८८०॥छ॥ संवत् १४६७ वर्षे माघशुदि ६ भौमे अद्येह श्रीपत्तने लिखितम् ॥छ॥ शुभं भवतु ॥

ऊकेशवंशसम्भूत, प्रभूतसुकृतादरः ।
वीसीसाण्डउसीमामे, सुश्रेष्ठी महुणाभिध ॥ १ ॥
मोघीकृताघसङ्घाता, मोघीरप्रतिघोदया ।
नानापुण्यक्रियानिष्ठा, जाता तस्य सधर्मिणी ॥ २ ॥
तयो पुत्री पवित्राशा, प्रशस्ता गुणसम्पदा ।
ह्राद्दूरीकृता दोषैर्धर्मकर्मैककर्मठा ॥ ३ ॥
शुद्धसम्यक्त्वमाणिक्यालङ्कृत सुकृतोद्यत ।
एतस्या भागिनेयोऽभूद्दाकाकः श्रावकोत्तम ॥ ४ ॥
श्रीजैनशासननभोङ्गणभास्कराणां श्रीमत्तपागणपयोधिसुधाकराणाम् ।
विश्वाद्भुतातिशयराशियुगोत्तमानां श्रीदेवसुन्दरगुरुप्रथिताभिधानाम् ॥ ५ ॥
पुण्योपदेशमथ पेशलसन्निवेशं तत्त्वप्रकाशविशदं विनिशम्य सम्यक् ।
एतत्सुपुस्तकमलेखयदुत्तमाशा सा श्राविका विपुलबोधसमृद्धिहेतो ॥ ६ ॥
बाणाङ्कवेदेन्दुमिते १४६५ प्रवृत्ते, संवत्सरे विक्रमभूपतीये ।
श्रीपत्तनाह्वानपुरे वरेण्ये, श्रीज्ञानकोशे निहितं तयेदम् ॥ ७ ॥
यावद् व्योमारविन्दे कनकगिरिमहाकर्णिकाकीर्णमध्ये
विलीर्णादीर्णकाष्ठातुल्दलकलिते सर्वदोज्जृम्भमाणे ।
पक्षद्वन्द्वावदातौ बरतरगतितः खेलतो राजहंसौ
तावज्जीयादजस्रं कृतिभिरिदं पुस्तकं वाच्यमानम् ॥ ८ ॥ शुभं भवतु"

खसज्ञक पुस्तक ताडपत्र उपर लखायेलु छे अने ते सटीक पाच कर्मग्रन्थनु छे तेना पत्र २ थी ३०६ छे प्रति अतमा काइक त्रुटक छे तेनी लबाई २२। इंच अने पहोलाई २। इचनी छे पुस्तकनी दरेक पुठीमा वधारेमा वधारे ७ अने ओछामा ओछी ६ पक्तिओ छे प्रतिनो अतभाग नहि होवाथी लेखनकाल आदिने लगती पुष्पिका विगेरे काइ पण आ ठेकाणे आपी शकवु अशक्य छे तो पण लिपि जोता चौदमी शताब्दीना अतमा आ प्रति लखायानो सभव छे पुस्तकनी स्थिति साधारण छे

क-खसज्ञक पुस्तकमा पक्तिओ एक सरखी नहि होवाना कारणे पक्तिना अक्षरोनी नोध अहीं आपी नथी

गसज्ञक पुस्तक—आ पुस्तक पाटणना रहेवासी शा **मलुकचंद दोलाचंद** हस्तकनु छे अने ते कागल उपर लखायेलु छे आ प्रतिमा सटीक छए कर्मग्रथ छे एना पाना २८२ छे प्रतिनी लबाई १०॥ इच अने पहोलाई ४॥ इचनी छे आ प्रतिनी दरेक पुठीमा १५ पक्तिओ छे पक्तिदीठ ओछामा ओछा ५० अने वधारेमा वधारे ६२ अक्षरो छे आ प्रतिना अतमा लेखन काल आदीनो कशोय उल्लेख नथी तेम छता लिपि जोता प्रति १७ मी शताब्दीना प्रारभमा लखायानो सभव छे पुस्तकनी स्थिति सारी छे

घसज्ञक पुस्तक—आ पुस्तक **पाटण फोफलीया** वाडानी आगली शेरीना **तपागच्छीय** पुस्तकभडारनु छे आ पुस्तकभडार तेना ट्रस्टीओ पैकी हाल शा० **मलुकचद दोलाचदनी** देखरेख नीचे छे प्रति कागल उपर त्रिपाठमा लखाएली छे अने तेमा सटीक छ कर्मग्रथो छे तेना पत्र ११९ छे प्रतनी लबाई १०॥ इच अने पहो• लाई ४॥ इचथी काइक ओछी छे आ प्रतिनी कोई पुठीमा २४ तो कोईमा २५–२६ अने २७ एम ओछी वत्ती पक्तिओ छे पक्तिदीठ कममा कम ६३ अने अधिकमा अधिक ८१ अक्षरो छे प्रतिनी स्थिति घणी ज सारी छे प्रतिना अतमा नीचे प्रमाणे पुष्पिका छे —

"सवत् १६०६ वर्षे कार्तिकशुद ४ गुरौ दिने लिखितम् ।७। शुभ भवतु ॥"

ङसंज्ञक पुस्तक—आ पुस्तक **वडोदराना आत्मानन्द जैनज्ञानमन्दिरमा** पूज्य प्रवर्तक श्रीमत्कान्तिविजयजी महाराजनो पुस्तकसग्रह छे तेमानु छे ए भडार **आत्मा-नन्द जैनज्ञानमन्दिरना** सेक्रेटरी शा० **जीवणलाल किशोरदास** कापडीयानी देखरेख नीचे छे आ प्रति कागल उपर लखायेली छे अने तेमा सटीक पाच कर्मग्रथ छे तेना पत्र १५४ छे प्रतिनी लबाई १३ इचथी काइक कम अने पहोलाई ५। इचनी छे आ प्रतिनी प्रत्येक पुठीमा १७ पक्तिओ छे अने पक्तिदीठ कोई पक्तिमा कममा कम ६४ अने अधिकमा अधिक ६७ अक्षरो छे आ प्रतिना अतमा लेखनकाल विगेरेनो उल्लेख नथी लिपि जोता ए प्रति १७ मी शताब्दीमा लखायानो सभव छे प्रतिनी स्थिति घणी सारी छे

प्रतिओनी शुद्धाशुद्धिनो विचार—क-ख-ग-घ अने ङसञ्ज्ञक प्रतिओमा थोडे घणे अंशे अशुद्धिओ तो दरेकमा छे ज, तो पण परस्पर तारतम्यतानो विचार करतां बधीये प्रतिओमा क अने घ आ बे प्रतिओ सौ करता सारामा सारी छे बाकीनी ख-ग अने ङ आ त्रण प्रतिओमा ख प्रति सारी छे अने ग ङ आ बे प्रतिओमाथी ग प्रति सारी छे अर्थात् एक बीजाथी उत्तरोत्तर अधिक अशुद्ध छे

आभार—आ विभागनु सपादन करती वखते उपरनी पाच प्रतिओनो उपयोग करवामां आव्यो छे ए पाचे प्रतिओना जुदा जुदा मालिकोए प्रतिओ आपी अमारा सशोधनना कार्यमा जे सुगमता करी आपी छे ते बदल ए महाशयोना उपकारने कोई रीते पण भूली शकाय तेम नथी वळी आ भागनु सपादन करती वखते प सुखलालजीए हिंदी भाषामा करेला नवीन चार कर्मग्रथना अनुवादनो अने तेनी प्रस्तावनानो कोई कोई ठेकाणे आश्रय लीधेलो होवाथी तेमनो पण उपकार मानु छु अने छेवटमा मारा विद्वान् शिष्य मुनि श्रीपुण्यविजयजीए आ विभागना प्रत्येक फॉर्मनु अतिम प्रुफ तपासी आपी अने सपादनने लगता बीजा कार्यने अगे जोइती मदद आपी मारा कार्यने जे सरळ करी आप्यु छे ते माटे तेओनो पण आ ठेकाणे उपकार मानु छु ए सर्वथा उचित लेखाशे

उपरोक्त पाचे प्रतिओना आधारे बहु ज सावधानता पूर्वक आ विभागनु सशोधन कर्यु छे तो पण कोइक ठेकाणे दृष्टिदोष आदिना कारणे त्रुटि रहेवा पामी होय तो वाचक महाशयो सुधारी वाचे ए अतिम प्रार्थना साथे विरमु छु

मुनि चतुरविजय



कर्मविपाकनामना प्रथमकर्मग्रन्थनी विषयसूची।

कर्मस्तवनामक बीजा कर्मग्रन्थनी विषयसूची।

उदयाधिकार ।

उदीरणाधिकार ।

बन्धस्वामित्वनामका त्रीजा कर्मग्रन्थनी विषयसूची ।



षडशीतिनामक चोथा कर्मग्रन्थनी विषयसूची।



तृतीय गुणस्थानाधिकार



बृहत्तपागच्छनायक-श्रीमद् देवेन्द्रसूरिविनिर्मिताः

चत्वारः कर्मग्रन्थाः ।



प्रथम-द्वितीय-चतुर्थाः स्वोपज्ञविवरणोपेताः

तृतीयः पुनरन्याचार्यविरचितयाऽवचूरिरूपटीकया समलङ्कृतः

॥ अर्हम् ॥

॥ श्रीमद्विजयवल्लभसूरिभ्यो नमः ॥

पूज्यश्रीदेवेन्द्रसूरिविरचितस्वोपज्ञटीकोपेतः

कर्मविपाकनामा प्रथमः कर्मग्रन्थः ।

॥ नमः श्रीप्रवचनाय ॥

दिनेशवद्ज्ञानवरप्रतापैरनन्तकालप्रचितं समन्तात् ।
योऽशोषयत् कर्मविपाकपङ्कं, देवो मुदे वोऽस्तु स वर्धमानः ॥ १ ॥

ज्ञानादिगुणगुरूणां, धर्मगुरूणां प्रणम्य पदकमलम् ।
कर्मविपाके विवृतिं, स्मृतिबीजविवृद्धये विदधे ॥ २ ॥

तत्राऽऽदावेवाभीष्टदेवतानुत्यादिप्रतिपादिकामिमां गाथामाह—

सिरिवीरजिणं वंदिय, कम्मविवागं समासओ वुच्छं ।
कीरइ जिएण हेऊहिँ जेणं तो भण्णए कम्मं ॥ १ ॥

श्रिया—सकलत्रिभुवनजनमनश्चमत्कारिमनोहारिपरमार्हन्त्यमहामहिमाविस्तारि—

"अशोकवृक्षः सुरपुष्पवृष्टिर्दिव्यो ध्वनिश्चामरमासनं च ।
भामण्डलं दुन्दुभिरातपत्रं, सत्प्रातिहार्याणि जिनेश्वराणाम् ॥"

इतिस्पष्टाष्टप्रातिहार्यशोभया चतुस्त्रिंशदतिशयविभूत्या वा समन्वितो वीरः श्रीवीरः, स चासौ रागद्वेषमोहप्रभृतिवैरिनारपराजयाद् जिनश्च श्रीवीरजिनस्तं श्रीवीरजिनं—श्रीमद्वर्धमानस्वामिनं 'वन्दित्वा' विशुद्धमानसप्रणिधानसमन्वितेन वाग्योगेन स्तुत्वा, काययोगेन च प्रणम्य, "वदुङ् स्तुत्यभिवादनयोः" इति वचनात् । एतेन मङ्गलार्थमभीष्टदेवतायाः स्तुतिरुक्ता । क्त्वाप्रत्ययस्य चोत्तरक्रियासापेक्षत्वादुत्तरक्रियामाह—'कर्मविपाकं वक्ष्ये' तत्र कर्मणां—ज्ञानावरणादीनां विपाकः—अनुभवः कर्मविपाकस्तं कर्मविपाकं 'वक्ष्ये' अभिधास्ये । अनेनाभिधेयमाह । कथम् ? इत्याह—'समासतः' सङ्क्षेपेण, न विस्तरेण, दुष्षमानुभावापचीयमानमेधाऽऽयुर्बलादिगुणानामैदंयुगीनजनानां विस्तराभिधाने सत्युपकारासम्भवात्, तदुपकारार्थं चैव शास्त्रारम्भप्रयासः । एतेन सङ्क्षिप्तरुचिसत्त्वानाश्रित्य प्रयोजनमाचष्टे । सम्बन्धस्त्वर्थापत्तिगम्यः, स चोपायोपेयलक्षणः साध्यसाधनलक्षणो गुरुपर्वक्रमलक्षणो वा स्वयमभ्यूह्य इति । अथ 'कर्मविपाकं वक्ष्ये' इत्युक्तं तत्र कर्मशब्दव्युत्पादयन्नाह—'क्रियते' निर्वर्त्यतेऽञ्जनचूर्णपूर्णसमुद्गकवद् निरन्तरपुद्गलनिचिते लोके क्षीरनीरन्यायेन वह्न्ययःपिण्डवद्वा कर्मवर्गणाद्रव्यमात्मस-

न्बद्ध 'येन' कारणेन 'तत' तस्मात् कारणात् कर्म भण्यत इति सम्बन्ध । केन क्रियते ? इत्याह—'जीवेन' जन्तुना, तत्र जीवति–इन्द्रियपञ्चकमनोवाक्कायबलत्रयोच्छ्वासनि श्वासाऽऽयुर्लक्षणान् दश प्राणान् यथायोग धारयतीति जीव । क इत्थम्भूत ? इति चेद् उच्यते—यो मिथ्यात्वादिकलुषितरूपतया सातादिवेदनीयादिकर्मणामभिनिर्वर्तक, तत्फलस्य च विशिष्टसातादेरुपभोक्ता, नरकादिभवेषु च यथाकर्मविपाकोदय ससर्ता, सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रासपत्नरत्नत्रयाभ्यासप्रकर्षवशाच्च नि शेषकर्मांशापगमत परिनिर्वाता स जीव सत्त्व प्राणी आत्मेत्यादिपर्याय । उक्त च—

य कर्ता कर्मभेदाना, भोक्ता कर्मफलस्य च ।
ससर्ता परिनिर्वाता, स ह्यात्मा नान्यलक्षण ॥ इति ।

कै कृत्वा जीवेन क्रियते ? इत्याह—'हेतुभि' मिथ्यात्वाविरतिकषाययोगलक्षणैश्चतुर्भि सामान्यरूपै,

"पडिणीयत्तण निन्हव, पओस उवघाय अतराएण ।
अच्चासायणयाए, आवरणदुग जिओ जयइ ॥"

इत्यादिभिर्विशेषप्रकारैरिहैव (गा० ५३) वक्ष्यमाणै । तदयमत्र तात्पर्यार्थ —क्रियते जीवेन हेतुभिर्येन कारणेन तत कर्म भण्यत इति । कथमेतत्सिद्धि ? इति चेद् उच्यते—इहात्मत्वेनाविशिष्टानामात्मना यदिद देवासुरमनुजतिर्यगादिरूप क्ष्मापतिद्रमकमनीषिमन्दमहर्द्धिकदरिद्रादिरूप वा वैचित्र्य तन्न निर्हेतुकमेष्टव्यम्, मा प्रापत् सदा भावाभावदोषप्रसङ्ग, "नित्य सत्त्वमसत्त्व वाऽहेतोरन्यानपेक्षणात्" । सहेतुकत्वाभ्युपगमे च यदेवास्य हेतुस्तदेव चास्माक कर्मेति मतमिति तत्सिद्धि ।

यदवोचाम श्रीदिनकृत्यटीकाया जीवस्थापनाधिकार एनमेवार्थम्—

क्ष्माभृद्रङ्कयोर्मनीषिजडयो सद्रूपनीरूपयो,
श्रीमद्दुर्गतयोर्बलाबलवतोर्नीरोगरोगार्तयो ।
सौभाग्यासुभगत्वसङ्गमजुषोस्तुल्येऽपि नृत्वेऽन्तर,
यत् तत् कर्मनिबन्धन तदपि नो जीव विना युक्तिमत् ॥

अन्यत्राप्युक्तम्—

आत्मत्वेनाविशिष्टस्य, वैचित्र्य तस्य यद्वशात् ।
नरादिरूप तच्चित्रमदृष्ट कर्मसज्ञितम् ॥

पौराणिका अपि कर्मसिद्धि प्रतिपद्यन्ते । तथा च ते प्राहु —

यथा यथा पूर्वकृतस्य कर्मण, फल निधानस्थमिवावतिष्ठते ।
तथा तथा तत्प्रतिपादनोद्यता, प्रदीपहस्तेव मति प्रवर्तते ॥
यच्चत्पुराकृत कर्म, न स्मरन्तीह मानवा ।
तदिद पाण्डवज्येष्ठ !, दैवमित्यभिधीयते ॥

---

१ पर्याया क० ख० घ० । २ °कारैरिहै° ग० । ३ °मद्-द्दा° ख० ग० ।

मुदितान्यपि मित्राणि, सुक्रुद्धाश्चैव शत्रव ।
न हीमे तत् करिष्यन्ति, यन्न पूर्वं कृत त्वया ॥

बौद्धा अप्याहु —

इत एकनवतौ कल्पे, शक्त्या मे पुरुषो हत ।
तेन कर्मविपाकेन, पादे विद्धोऽस्मि भिक्षव ! ॥

तदपि च कर्म पुद्गलस्वरूप प्रतिपत्तव्यम्, नामूर्तम्, अमूर्तत्वे हि कर्मण सकाशादात्मनामनुग्रहोपघातासम्भवात्, आकाशादिवत् । यदाह—

अन्ने उ अमुत्त चिय, कम्म मन्नति वासणारूव ।
त तु न जुज्जइ तत्तो, उवघायाणुग्गहाभावा ॥
नागास उवघाय, अणुग्गह वा वि कुणइ सत्ताण ॥ इत्यादि ।

तच्च कर्म प्रवाहतोऽनादि, "अणाइय त पवाहेण" इति वचनात् । यदि प्रवाहापेक्षयाऽपि सादि स्यात् तदा जीवाना पूर्वं कर्मवियुक्तत्वमासीत् पश्चादकर्मकस्य जीवस्य कर्मणा सह सयोग सञ्जात, एव सति मुक्तानामपि कर्मयोग स्यात्, अकर्मकत्वाविशेषात्, ततश्च मुक्ता अमुक्ता स्यु, न चेदमिष्टम्, तस्मादनादिर्जीवस्य कर्मणा सह सयोग । नन्वनादिसयोगे कथ वियोगो जीवस्य कर्मणा सह ? उच्यते—अनादिसयोगेऽपि वियोगो दृष्ट काञ्चनोपलवत् । तथाहि—काञ्चनोपलाना यद्यप्यनादिसयोगस्तथापि तथाविधसामग्रीसद्भावे धमनादिना किञ्चिद्वियोगो दृष्ट, एव जीवस्यापि ज्ञानदर्शनचारित्रध्यानानलादिनाऽनादिकर्मणा सह वियोग सिद्धो भवति । यदाह भगवान् भाष्यसुधाम्भोनिधिः—

जेहं इट्ट य कचणोवलसयोगोऽणाइसतइगओ वि ।
वुच्छिज्जइ सोवाय, तह जोगो जीवकम्माण ॥ (विशे० गा० १८१९)

इत्यल विस्तरेण ॥ १ ॥ अथ कतिभेद कर्म ? इत्याशङ्क्याह—

पयइठिइरसपएसा, त चउहा मोयगस्स दिट्ठता ।
मूलपगइट्ठ उत्तरपगईअडवन्नसयभेय ॥ २ ॥

तत् कर्म पूर्वव्यावर्णितशब्दार्थं 'चतुर्धा' चतुष्प्रकार चतुर्भेद भवतीति शेष । कथम् ? इत्याह—"पयइठिइरसपएस" त्ति, इह "गम्ययप कर्माधारे" (सिद्धहेम० २-२-७४) इति पञ्चमी, यथा प्रासादात् प्रेक्षत इति । ततश्च प्रकृतिस्थितिरसप्रदेशानाश्रित्य, प्रकृतिबन्धस्थितिबन्धरसबन्धप्रदेशबन्धतयेत्यर्थ । तत्र स्थित्यनुभागप्रदेशबन्धाना य समुदाय स प्रकृतिबन्ध, अध्यवसायविशेषगृहीतस्य कर्मदलिकस्य यत् स्थितिकालनियमन स स्थितिबन्ध, कर्मपुद्गलानामेव शुभोऽशुभो वा घात्यघाती वा यो रस सोऽनुभागबन्धो रसबन्ध इत्यर्थ, कर्मपुद्गलानामेव यद् ग्रहण स्थितिरसनिरपेक्षदलिकसङ्ख्याप्राधान्येनैव करोति स प्रदेशबन्ध । उक्त च—

१ अन्ये तु अमूर्त्तमेव कर्म मन्यन्ते वासनारूपम् । तत् तु न युज्यते तत उपघातानुग्रहाभावात् ॥ नाकाशमुपघातमनुग्रह वाऽपि कुरुते सत्त्वानाम् ॥ २ अनादिक तत् प्रवाहेण ॥ ३ यथेह च काञ्चनोपलसयोगोऽनादिसन्ततिगतोऽपि । व्युच्छिद्यते सोपाय तथा योगो जीवकर्मणो ॥ ४ °इ य इह ख० ॥

ठिइबंधु दलस्स ठिई, पएसबंधो पएसगहणं जं ।
ताण रसो अणुभागो, तस्समुदाओ पगइबंधो ॥ (पञ्चस० गा० ४३२)

अन्यत्राप्युक्तम्—

प्रकृतिः समुदायः स्यात्, स्थितिः कालावधारणम् ।
अनुभागो रसः प्रोक्तः, प्रदेशो दलसञ्चयः ॥

इदं च प्रकृतिस्थितिरसप्रदेशानां स्वरूपं 'मोदकस्य' कणिकादिमयलड्डुकस्य 'दृष्टान्तात्' दृष्टान्तेन भावनीयम् । दृष्टान्तादित्यत्र तृतीयार्थे पञ्चमी । यदाह पाणिनिः स्वप्राकृतलक्षणे— "व्यत्ययोऽप्यासाम्" इति । यथा वातविनाशिद्रव्यनिष्पन्नो मोदकः प्रकृत्या वातमुपशमयति, पित्तोपशमकद्रव्यनिर्वृत्तः पित्तम्, कफापहारिद्रव्यसमुद्भूतः कफमित्येवंस्वभावा प्रकृतिः । स्थितिस्तु तस्यैव कस्यचिद्दिनमेकम्, अपरस्य तु दिनद्वयम्, एवं यावत् कस्यचिन्मासादिकमपि कालं भवति ततः परं विनाशादिति । रसः पुनः स्निग्धमधुरादिरूपस्तस्यैव कस्यचिदेकगुणः, अपरस्य द्विगुणः, अन्यस्य त्रिगुण इत्यादिकः । प्रदेशाश्च कणिकादिरूपास्तस्यैव कस्यचिदेकप्रसृतिप्रमाणाः, अन्यस्य तु प्रसृतिद्वयप्रमाणाः, यावदपरस्य सेतिकादिप्रमाणाः । एवं कर्मणोऽपि कस्यचिद् ज्ञानाच्छादनस्वभावा प्रकृतिः, अपरस्य दर्शनावरणरूपा, अन्यस्याऽऽह्लादादिप्रदानलक्षणा, कस्यचित् सम्यग्दर्शनादिविघातजननस्वभावेत्यादि । स्थितिश्च तस्यैव कस्यचित् त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोटीरूपा, अपरस्य तु सप्ततिसागरोपमकोटाकोटिलक्षणेत्यादि । रसस्त्वनुभागशब्दवाच्यस्तस्यैवैकस्थानद्विस्थानत्रिस्थानादिरूपः । प्रदेशा अल्पबहुबहुतरबहुतमादिरूपा इति । पुनः किंविशिष्टं तत् कर्म भवति ? इत्याह—"मूलपगइऽट्ठ उत्तरपगईअडवन्नसयभेयं" ति मूलप्रकृतयः सामान्यरूपा 'अष्टौ' अष्टसङ्ख्या यत्र तन्मूलप्रकृत्यष्टं, उत्तरप्रकृतीनाम्—मूलप्रकृतिविशेषरूपाणामष्टपञ्चाशच्छतभेदा यस्य तदुत्तरप्रकृत्यष्टपञ्चाशच्छतभेदमिति ॥ २ ॥

अधुना मूलप्रकृतिभेदतस्तस्यैवाष्टविधत्वमुत्तरप्रकृतिभेदतोऽष्टपञ्चाशच्छतभेदत्वं च प्रदर्शयन् स्वनामग्राहमष्टौ मूलभेदान् एकैकस्य च भेदस्य यस्य यावन्त उत्तरभेदास्तांश्च वक्तुमाह—

इह नाणदंसणावरणवेयमोहाऽऽउनामगोयाणि ।
विग्घं च पणनवदुअट्ठवीसचउतिसयदुपणविहं ॥ ३ ॥

'इह' प्रवचने कर्मोच्यते इति शेषः । "नाणदंसणावरणं"त्ति ज्ञायते—परिच्छिद्यते वस्त्वनेनेति ज्ञानम्, ज्ञातिर्वा ज्ञानम्, सामान्यविशेषात्मके वस्तुनि विशेषग्रहणात्मको बोध इत्यर्थः । तथा दृश्यतेऽनेनेति[3] दर्शनम्, दृष्टिर्वा दर्शनम्, सामान्यविशेषात्मके वस्तुनि सामान्यग्रहणात्मको बोधः । आव्रियते—आच्छाद्यतेऽनेनेत्यावरणम्, यद्वा आवृणोति—आच्छादयति "रम्यादिभ्यः कर्तरि" (सि० ५-३-१२६) अनटि प्रत्यये आवरणम्—मिथ्यात्वादिसचिवजीवव्यापाराहृतकर्मवर्गणान्तःपाती विशिष्टपुद्गलसमूहः । ततो ज्ञानं च दर्शनं च ज्ञानदर्शने तयोरावरणं ज्ञानदर्शनावरणं ज्ञानावरणं दर्शनावरणं चेत्यर्थः । तथा वेद्यते—सुखदुःखरूपत-

१ स्थितिबन्धो दलस्य स्थितिः, प्रदेशबन्धः प्रदेशग्रहणं यत् । तेषां (कर्मपुद्गलानां) रसोऽनुभागस्तत्समुदायः प्रकृतिबन्धः ॥ २ °बंध ग० ॥ ३ °ऽनेनेति दृष्टि° क० ख० ग० घ० ॥

याऽनुभूयते यत् तद् वेद्यम्, "य एचात" (सि० ५-१-२८) इति यप्रत्यये वेदनीयम्। यद्यपि सर्वं कर्म वेद्यते तथापि पङ्कजादिशब्दवद् वेद्यशब्दस्य रूढिविषयत्वात् सातासातरूपमेव कर्म वेद्यमित्युच्यते न शेषम्। तथा मोहयति—ज्ञानानमपि प्राणिन सदसद्विवेकविकल करोतीति मोह, लिहादित्यादच्प्रत्यय, मोहनीयमित्यर्थ । तथा एति—गच्छत्यनेन गत्यन्तरमित्यायु, यद्वा एति—आगच्छति प्रतिबन्धकता स्वकृतकर्मावाप्तनरकादिदुर्गतेर्निर्गन्तुमनसोऽपि जन्तोरित्यायु, उभयत्रापि औणादिको णुस्प्रत्यय, यद्वा आयाति—भवाद् भवान्तर सङ्क्रामता जन्तुना निश्चयेनोदयमागच्छति "पृषोदरादय" (सि० ३-२-१५५) इत्यायु शब्दसिद्धि। यद्यपि च सर्वं कर्म उदयमायाति तथाप्यस्त्यायुषो विशेष, यत शेष कर्म बद्ध सत् किञ्चित्तस्मिन्नेव भवे उदयमायाति, किञ्चित्तु प्रदेशोदयमुक्त जन्मान्तरेऽपि स्वविपाकत उदय नायात्येव इत्युभयथाऽपि व्यभिचार आयुषि त्वय नास्ति, बद्धस्य तस्मिन्नेव भवेऽवेदनात्, जन्मान्तरसङ्क्रान्तौ तु स्वविपाकतोऽवश्य वेदनादिति विशिष्टस्यैवोदयागमनस्य विवक्षितत्वात् तस्य चायुष्येव सद्भावात् तस्यैवैतन्नाम। अथवा आयान्त्युपभोगाय तस्मिन्नुदिते सति तद्भवप्रायोग्याणि सर्वाण्यपि शेषकर्माणीत्यायु । तथा नामयति—गतिजातिप्रभृतिपर्यायानुभवन प्रति प्रवणयति जीवमिति नाम । तथा 'गुङ् शब्दे' गूयते—शब्द्यत उच्चावचै शब्दैरात्मा यस्मात् तद् गोत्रम्। ततो ज्ञानदर्शनावरण च वेद्य च मोहश्चायुश्च नाम च गोत्र च ज्ञानदर्शनावरणवेद्यमोहायुर्नामगोत्राणि। तथा विशेषेण हन्यन्ते—दानादिलब्धयो विनाश्यन्तेऽनेनेति "स्थाऽऽस्नायुभिव्याधिहनिभ्य क" इति कप्रत्यये 'विघ्नम्' अन्तरायम्। 'च' समुच्चये। "पणनवदुअट्ठवीस"इत्यादि। अत्र द्वन्द्वगर्भो बहुव्रीहिसमास । भावार्थ पुनरयम्—पञ्चविध ज्ञानावरणम्, नवविध दर्शनावरणम्, द्विविध वेद्यम्, अष्टाविंशतिविधो मोह, चतुर्विधमायु, त्रिशतविध नाम, त्रिभिरधिक शत त्रिशत—त्र्युत्तरशतविधमित्यर्थ, द्विविध गोत्रम्, पञ्चविध विघ्नमिति ।

अत्राह—नन्वित्थ ज्ञानावरणाद्युपन्यासे किञ्चिदस्ति प्रयोजनम्? उत यथाकथञ्चिदेव प्रवृत्त? इति, अस्तीति ब्रूम । किं तद्? इति चेद् उच्यते—इह ज्ञान दर्शन च जीवस्य सतत्त्वभूतम्, तदभावे जीवत्वस्यैवायोगात्, चेतनालक्षणो हि जीव, तत स कथ ज्ञानदर्शनाभावे भवेत्?, ज्ञानदर्शनयोरपि च मध्ये प्रधान ज्ञानम्, तद्वशादेव सकलशास्त्रादिविचारसन्ततिप्रवृत्ते । अपि च—सर्वा अपि लब्धयो जीवस्य साकारोपयोगोपयुक्तस्योपजायन्ते, न दर्शनोपयोगोपयुक्तस्य, "सव्वाओ लद्धीओ सागारोवओगोवउत्तस्स, नो अणागारोवओगोवउत्तस्स" इति वचनप्रामाण्यात्। अन्यच्च यस्मिन् समये सकलकर्मविनिर्मुक्तो जीव सञ्जायते तस्मिन् समये ज्ञानोपयोगोपयुक्त एव, न दर्शनोपयोगोपयुक्त, दर्शनोपयोगस्य द्वितीयसमये भावात्, ततो ज्ञान प्रधानम्, तदावारक च ज्ञानावरण कर्म, ततस्तत् प्रथममुक्तम्। तदनन्तर च दर्शनावरणम्, ज्ञानोपयोगाच्च्युतस्य दर्शनोपयोगेऽवस्थानात्। एते च ज्ञानदर्शनावरणे स्ववि-

१ ज्ञानिनमपि ग० ॥ २ °दुर्गतेर्निष्क्रमितुम° ख०॥ ३ सर्वा लब्धय साकारोपयोगोपयुक्तस्य नोऽना- ॥

पाकमुपदर्शयन्ती यथायोगमवश्य सुखदु सरूपवेदनीयकर्मविपाकोदयनिमित्ते भवत । तथाहि–ज्ञानावरणमुपचयोत्कर्षमाप्त विपाकतोऽनुभवन् सूक्ष्मसूक्ष्मतरवस्तुविचारासमर्थमात्मान जानान खिद्यते भूरिलोक, ज्ञानावरणकर्मक्षयोपशमपाटवोपेतश्च सूक्ष्मसूक्ष्मतराणि वस्तूनि निजमनयाऽभिजानानो वहुजनातिशायिनमात्मान पश्यन् सुख वेदयते, तथाऽतिनिविडदर्शनावरणविपाकोदये जात्यन्धादिरनुभवति दु खसन्दोह वचनगोचरातिक्रान्तम्, दर्शनावरणक्षयोपशमपटिष्ठतापरिकरितश्च स्पष्टचक्षुराद्युपेतो यथावद् वस्तुनिकुरम्ब सम्यगवलोकमानो वेदयतेऽमन्दमानन्दसन्दोहम्, तत एतदर्थप्रतिपत्त्यर्थं दर्शनावरणानन्तर वेदनीयग्रहणम् । वेदनीय च सुखदु खे जनयति, अभीष्टानभीष्टविषयसम्बन्धे चावश्य ससारिणा रागद्वेषौ, तौ च मोहनीयहेतुकौ, तत एतदर्थप्रतिपत्तये वेदनीयानन्तर मोहनीयग्रहणम् । मोहनीयमूढाश्च जन्तवो वह्वारम्भपरिग्रहप्रभृतिकर्मादानासक्ता नरकाद्यायुष्कमारचयन्ति, ततो मोहनीयानन्तरमायुर्ग्रहणम् । नरकाद्यायुष्कोदये चावश्य नरकगत्यादीनि नामान्युदयमायान्ति, तत आयुरनन्तर नामग्रहणम् । नामकर्मोदये च नियमादुच्चनीचान्यतरगोत्रकर्मविपाकोदयेन भवितव्यम्, अतो नामग्रहणानन्तर गोत्रग्रहणम् । गोत्रोदये चोच्चै कुलोत्पन्नस्य प्रायो दानलाभान्तरायादिक्षयो भवति, राजप्रभृतीना प्राचुर्येण दानलाभादिदर्शनात्, नीचै कुलोत्पन्नस्य तु दानलाभान्तरायाद्युदय, नीचजातीना तथादर्शनात्, तत एतदर्थप्रतिपत्त्यर्थं गोत्रानन्तरमन्तरायग्रहणमिति ॥ ३ ॥ अथ 'यथोद्देश निर्देश' इति न्यायात् प्रथम तावत् पञ्चधा ज्ञानावरण व्याचिख्यासुराह—

मइसुयओहीमणकेवलाणि नाणाणि तत्थ मइनाण ।
वजणवग्गहु चउहा, मणनयणविणिदियचउक्का ॥ ४ ॥

इह ज्ञानशब्दस्य प्रत्येक सम्बन्धाद् मतिज्ञानम्, श्रुतज्ञानम्, अवधिज्ञानम्, "मण त्ति" पदैकदेशे पदसमुदायोपचारात् मन पर्यवज्ञान मन पर्यायज्ञान वा, केवलज्ञानम् । तत्र "बुधि मनिंच् ज्ञाने" मनन मति, यद्वा मन्यते–इन्द्रियमनोद्वारेण नियत वस्तु परिच्छिद्यतेऽनयेति मति –योग्यदेशावस्थितवस्तुविषय इन्द्रियमनोनिमित्तोऽवगमविशेष, मतिश्च सा ज्ञान च मतिज्ञानम् । इद चाऽऽगमे आभिनिबोधिकज्ञानमुच्यते ।

यदाह भगवान् देवर्द्धिक्षमाश्रमण[1]—

नाण पचविह पन्नत्त, त जहा–आभिणिबोहियनाण सुयनाण ओहिनाण मणपज्जवनाण केवलनाण । (नन्दी पत्र ६५–१) ।

तत्र चायमाभिनिबोधिकज्ञानशब्दार्थ —अभि–इत्याभिमुख्ये, नि–इति नैयत्ये, ततश्चाभिमुख —वस्तुयोग्यदेशावस्थानापेक्षी नियत –इन्द्रियमन समाश्रित्य स्वस्वविषयापेक्षी बोधन बोधोऽभिनिबोध, स एवाऽऽभिनिबोधिकम्, विनयादेराकृतिगणत्वादिकण्प्रत्यय, अभिनिबुध्यत इत्यभिनिबोध इति कर्तरि लिहादित्वादच् वा, यद्वाऽभिनिबुध्यते आत्मना स इत्यभिनिबोध इति, कर्मणि घञ्, स एवाऽऽभिनिबोधिकमिति तथैव, आभिनिबोधिक च तद्

[1] ज्ञान पञ्चविध प्रज्ञप्तम्, तद्यथा—आभिनिबोधकज्ञान श्रुतज्ञानमवधिज्ञान मन पर्यवज्ञान केवलज्ञानम् ॥

ज्ञान चाऽऽभिनिबोधिकज्ञानम् । तथा श्रवण श्रुतम्—अभिलापप्लावितार्थग्राहि [illegible]
शेप, एवमाकार वस्तु घटशब्दाभिलाप्य जलधारणाद्यर्थक्रियासमर्थ [illegible]
कृतत्रिकालसाधारणसमानपरिणाम शब्दार्थपर्यालोचनानुसारी इन्द्रिय [illegible]
शेप इत्यर्थ, श्रुत च तद् ज्ञान च श्रुतज्ञानम् । तथाऽवधानमवधि [illegible]
साक्षादर्थग्रहणम्, अत एवेद प्रत्यक्षज्ञानम् । यदुक्त नन्द्यध्ययने—

[1]नोइंदियपच्चक्ख तिविह पन्नत्त, त जहा—ओहिनाणपच्चक्ख मणपज्जव [illegible]
लनाणपच्चक्ख (नन्दी पत्र ७६—२) ।

अथवा अवशब्दोऽध शब्दार्थ, अव—अधोऽधो विस्तृत वस्तु धीयते—परिच्छिद्यते [illegible]
त्यवधि, यद्वा अवधि—मर्यादा रूपिष्वेव द्रव्येषु परिच्छेदकतया प्रवृत्तिरूपा, [illegible]
ज्ञानमप्यवधि, अवधिश्च तद् ज्ञान चावधिज्ञानम् । तथा परि—सर्वतोभावे, अयनम् अय, "तुदादिभ्योऽनकौ" इत्यधिकारेऽकितौ चेत्यनेन औणादिकोऽकारप्रत्यय, अयन गमन वेदनमिति पर्याया, परि अव पर्यव, मनसि मनसो वा पर्यवो मन पर्यव—सर्वतस्तत्परिच्छेद इत्यर्थ, मन पर्यवश्च स ज्ञान च मन पर्यवज्ञानम् । यद्वा मन पर्यायज्ञानम्, तत्र संज्ञिभिर्जीवै काययोगेन गृहीतानि मन प्रायोग्यवर्गणाद्रव्याणि चिन्तनीयवस्तुचिन्तनव्यापृतेन मनोयोगेन मनस्त्वेन परिणमय्याऽऽलम्ब्यमानानि मनांस्युच्यन्ते, तेषा मनसा पर्यायाश्चिन्तनानुगता परिणामा मन पर्याया, तेषु तेषा वा सम्बन्धि ज्ञान मन पर्यायज्ञानम्, यद्वा आत्मभिर्वस्तुचिन्तने व्यापारितानि मनासि पर्येति—अवगच्छतीति मन पर्याय, "कर्मणोऽण्" (सि० ५-१-७२) इति अण्प्रत्यय, मन पर्याय च तद् ज्ञान च मन पर्यायज्ञानम् । तथा केवलम्—एक मत्यादिज्ञानरहितत्वात् "नट्ठम्मि उ छाउमत्थिए नाणे[2]" (आव० नि० गा० ५३९) इति वचनप्रामाण्यात् ।

आह—यदि मत्यादीनि ज्ञानानि सत्यावरणक्षयोपशममात्रेऽपि प्रादुःषन्ति ततो नि शेषत सत्यावरणक्षये सुतरा भवेयुश्चारित्रपरिणामवत्, तत् कथ तेषा तदानीमभाव ?, आह च—

आवरणदेसविगमे, जाइ विज्जंति मइसुयादीणि ।
आवरणसव्वविगमे, कह ताइँ न हुंति जीवस्स[3] ॥ इति ।

उच्यते—इह यथा सहस्रभानोरतिसमुन्नतघनाघनघनपटलान्तरितस्यापान्तरालावस्थितकटकुट्याद्यावरणविवरप्रविष्ट[ ] प्रकाशो घटपटादीन् प्रकाशयति, तथा केवलज्ञानावरणावृतस्य केवलज्ञानस्यापान्तरालमतिज्ञानावरणादिक्षयोपशमरूपविवरविनिर्गत प्रकाशो जीवादीन् प्रकाशयति, स च तथा प्रकाशयन् मतिज्ञानमित्यादिलक्षण तत्क्षयोपशमानुरूपमभिधानमुद्वहति, ततो यथा सकलघनपटलकटकुट्याद्यावरणापगमे स तथाविध प्रकाश सहस्रभानोरस्पष्टरूपो न भवति किन्तु सर्वात्मना स्फुटरूपोऽन्य एव, तथेहापि सकलकेवलज्ञानावरणमतिज्ञानाद्या-

१ नोइन्द्रियप्रत्यक्ष त्रिविध प्रज्ञप्तम्, तद्यथा—अवधिज्ञानप्रत्यक्ष मन पर्यवज्ञानप्रत्यक्ष केवलज्ञानप्रत्यक्षम् ॥
२ नष्टे तु छाद्मस्थिके ज्ञाने ॥ ३ आवरणदेशविगमे यानि विद्यन्ते मतिश्रुतादीनि । आवरणसर्व(सर्वावरण) विगमे, कथ तानि न भवन्ति जीवस्य ? ॥

वरणविलये न तथाविधो मतिज्ञानादिसञ्ज्ञित केवलज्ञानस्य प्रकाशो भवति, किन्तु सर्वात्मना यथावस्थित वस्तु परिच्छिन्दन् परिस्फुटरूपोऽन्य एवेत्यदोष ।

उक्त च श्रीपूज्यै —

[१]कडविवरागयकिरणा, मेहतरियस्स जह दिणेसस्स ।
ते कडमेहावगमे, न हुति जह तह इमाइ पि ॥

अन्यैरपि न्यगादि—

मलविद्धमणेर्व्यक्तिर्यथाऽनेकप्रकारत ।
कर्मविद्धात्मविज्ञप्तिस्तथाऽनेकप्रकारत ॥
यथा जात्यस्य रत्नस्य, नि शेषमलहानित ।
स्फुटैकरूपाऽभिव्यक्तिर्विज्ञप्तिस्तद्वदात्मन ॥

अन्ये पुनराहु —सन्त्येव मतिज्ञानादीन्यपि सयोगिकेवल्यादो, केवलमफलत्वात् सन्त्यपि तदानीं न विवक्ष्यन्ते, यथा सूर्योदये नक्षत्रादीनि । उक्त च—

[२]अन्ने आभिणिबोहियणाणाईणि वि जिणस्स विज्जति ।
अफलाणि य सूरुदए, जहेव नक्खत्तमाईणि ॥

शुद्ध वा केवलम्, तदावरणमलकलङ्कपङ्कापगमात् । सकल वा केवलम्, तत्प्रथमतयेव नि शेषतदावरणविगमत सपूर्णोत्पत्ते । असाधारण वा केवलम्, अनन्यसदृशत्वात् । अनन्त वा केवलम्, ज्ञेयानन्तत्वात् अपर्यवसितानन्तकालावस्थायित्वाद्वा । निर्व्याघात वा केवलम्, लोकेऽलोके वा क्वापि व्याघाताभावात् । केवल च तद् ज्ञान च केवलज्ञान यथावस्थितसमस्तभूतभवद्भाविभावस्वभावावभासि ज्ञानमिति भावना ।

आह—नन्वेतेषा पञ्चाना ज्ञानानामित्थ क्रमोपन्यासे कि कारणम् ? उच्यते—इह मतिश्रुते तावदेकत्र वक्तव्ये, परस्परमनयो स्वामिकालकारणविषयपरोक्षत्वसाधर्म्यात् । तथाहि—य एव मतिज्ञानस्य स्वामी स एव श्रुतज्ञानस्य य एव श्रुतज्ञानस्य स्वामी स एव मतिज्ञानस्यापि "[३]जत्थ मइनाण तत्थ सुयनाण, जत्थ सुयनाण तत्थ मइनाण" (नन्दी पत्र १४०-१) इत्यादिवचनप्रामाण्यात्, तत स्वामिसाधर्म्यम् । तथा यावानेव मतिज्ञानस्य स्थितिकालस्तावानेव श्रुतज्ञानस्यापि, तत्र प्रवाहापेक्षयाऽतीतानागतवर्तमानरूप सर्वकाल, अप्रतिपतितैकजीवापेक्षया षट्षष्टिसागरोपमाणि समधिकानि, उक्त च—

[४]दो वारे विजयाइसु, गयस्स तिनऽच्चुए अहव ताइ ।
अइरेग नरभविय, नाणाजीवाण सवद्धा ॥ (विशे० गा० २७६२)

इति कालसाधर्म्यम् । यथा चेन्द्रियनिमित्त मतिज्ञान तथा श्रुतज्ञानमपीति कारणसाध-

१ कटविवरागतकिरणा, मेघान्तरितस्य यथा दिनेशस्य । ते कटमेघापगमे, न भवन्ति यथा तथेमान्यपि ॥ २ अन्ये आभिनिबोधिकज्ञानादीन्यपि जिनस्य विद्यन्ते । अफलानि च सूर्योदये यथैव नक्षत्रादीनि ॥ ३ यत्र मतिज्ञानं तत्र श्रुतज्ञान यत्र श्रुतज्ञान तत्र मतिज्ञानम् ॥ ४ द्वौ वारौ विजयादिषु, गतस्य त्रीन् (वारान्) अच्युतेऽथवा तानि (सागराणि ६६) । अतिरेक नरभविक नानाजीवाना सर्वाद्धा ॥

र्म्यम् । तथा यथा मतिज्ञानमादेशतः सर्वद्रव्यादिविषयमेव श्रुतज्ञानमपि इति विषयसाधर्म्यम् । यथा च मतिज्ञानं परोक्षं तथा श्रुतज्ञानमपि इति परोक्षत्वसाधर्म्यम् । ततः इत्थं स्वाम्यादि-साधर्म्यादेते मतिश्रुते नियमादेकत्र वक्तव्ये, ते चावध्यादिज्ञानेभ्यः प्रागेव, तद्भाव एवाऽव-ध्यादिसद्भावात् । उक्तं च—

जं सामिकालकारणविसयपरोक्खत्तणेहि तुल्लाइं ।
तब्भावे सेसाणि य, तेणाऽऽईए मइसुयाइं ॥ (विशे० गा० ८५)

ननु भवतामेकत्र मतिश्रुते, प्रागेव चावध्यादिभ्यः, परमेतयोरेव मतिश्रुतयोर्मध्ये पूर्वं मतिः पश्चात् श्रुतमित्येव तत् कथम्? उच्यते—मतिपूर्वत्वात् श्रुतज्ञानस्य, तथाहि—सर्व-त्रापि पूर्वमवग्रहादिरूपं मतिज्ञानमुदयते पश्चात् श्रुतम् । यदाह निबिडजडिमसम्भारतिर-स्कारतरणिः श्रीजिनभद्रगणिक्षमाश्रमणः—

मइपुव्वं सुयमुत्तं, न मई सुयपुव्विया विसेसोऽयं ।
पुव्वं पालणपूरणभावाओ जं मई तस्स ॥ (विशे० गा० १०५)

नन्दध्ययनचूर्णावप्युक्तम्—

तेसुं वि य मइपुव्वयं सुयं ति किच्चा पुव्वं मइनाणं कयं, तप्पिट्ठओ सुयं ति ॥ (पत्र ११)

आह—यदि स्वामित्वादिभिरनयोरभेदस्तर्हि द्वयोरप्येकत्वमस्तु, भेदहेत्वभावाद् अभेदहेतूना चाभिहितत्वात्, तदयुक्तम्, भेदहेत्वभावस्यासिद्धत्वात् । तथाहि—स्वाम्यादिभिरभेदे सत्यपि लक्षणभेदादनयोर्भेदः, तथाहि—मन्यते योग्योऽर्थोऽनयेति मतिः, श्रवणं श्रुतमित्यादि । तथा हेतुफलभावाद् भेदः, तथाहि—मतिज्ञानं श्रुतस्य कारणम्, श्रुतं तु कार्यम् । यच्च यदुत्कर्षापक-र्षवशादुत्कर्षापकर्षभाक् तत् तस्य कारणम्, यथा घटस्य मृत्पिण्डः, तथाहि—श्रुतेष्वपि बहुषु ग्रन्थेषु यद्विषयं स्मरणमीहाऽपोहादि वाऽधिकतरं प्रवर्तते स ग्रन्थः स्फुटतरं प्रतिभाति न शेषः । तथा भेदभेदाद् भेदः, तथाहि—मतिज्ञानमष्टाविंशत्यादिभेदम्, श्रुतज्ञानं तु चतुर्द-शादिभेदम् । तथा इन्द्रियविभागाद् भेदः, तत्प्रतिपादिका चेयं पूर्वान्तर्गता गाथा—

सोइंदिओवलद्धी, होइ सुयं सेसयं तु मइनाणं ।
मुत्तूण दव्वसुयं, अक्खरलंभो य सेसेसु ॥ (विशे० गा० ११७)

तथा वल्कसमं मतिज्ञानं कारणत्वात्, शुम्बसमं श्रुतज्ञानं तत्कार्यत्वादित्यप्यनयोर्भेदनिबन्ध-नम् । तथा इतश्च भेदः—मतिज्ञानमनक्षरं साक्षरं च, तथाहि—अवग्रहज्ञानमनक्षरम्, तस्यानि-र्देश्यसामान्यमात्रप्रतिभासात्मकतया निर्विकल्पत्वात्, ईहादिज्ञानं तु साक्षरम्, तस्य परामर्शा-दिरूपतयाऽवश्यं वर्णाऽऽरूषितत्वात्, श्रुतज्ञानं पुनः साक्षरमेव, अक्षरमन्तरेण शब्दार्थपर्यालो-चनस्यानुपपत्तेः । तथा इतश्च भेदः—मूककल्पं मतिज्ञानम्, स्वमात्रप्रत्यायकत्वात्, अमूककल्पं

१ यत् स्वामिकालकारणविषयपरोक्षत्वैस्तुल्ये । तद्भावे शेषाणि च तेनाऽऽदौ मतिश्रुते ॥ २ मतिपूर्वं श्रुतमुक्तं न मतिः श्रुतपूर्विका विशेषोऽयम् । पूर्वं पालनपूरणभावात् यन्मतिस्तस्य (श्रुतस्य) ॥ ३ तयोरपि च मतिपूर्वकं श्रुतमिति कृत्वा पूर्वं मतिज्ञानं कृतं तत्पृष्ठतः श्रुतमिति ॥ ४ श्रोत्रेन्द्रियोपलब्धिः भवति श्रुतं शेषकं तु मतिज्ञानम् । मुक्त्वा द्रव्यश्रुतमक्षरलाभश्च शेषेषु ॥ ५ वल्कसदृशम् ॥ ६ रज्जुसदृशम् ॥ ७ मिश्रितत्वात् ॥

श्रुतज्ञानम्, स्वपरप्रत्यायकत्वात्। तथा चामूनेव हेतून् सगृहीतवान् भाष्यसुधाम्भोनिधिः—

[1]लक्खणभेया हेउफलभावओ भेयइंदियविभागा।
वागक्खरमूयेयरभेया भेओ मइसुयाणं ॥ (विशे० गा० ९७)

तथा कालविपर्ययस्वामित्वलाभसाधर्म्यान्मतिश्रुतज्ञानानन्तरमवधिज्ञानम्, तथाहि—अप्रतिपतितैकसत्त्वाधारापेक्षयाऽवस्थितिकालोऽवधिज्ञानस्य षट्षष्टिसागरोपमाणि। तथा यथैव मतिश्रुतज्ञाने मिथ्यात्वोदयतो विपर्ययतामासादयतस्तथाऽवधिज्ञानमपि, तथाहि—मिथ्यादृष्टेः सतस्तान्येव मतिश्रुतावधिज्ञानानि मत्यज्ञानश्रुताज्ञानविभङ्गज्ञानानि भवन्ति। उक्तं च—

आद्यत्रयमज्ञानमपि भवति मिथ्यात्वसंयुक्तम् ॥ (प्रशम० पद्य २२७) इति।

तथा य एव मतिश्रुतयोः स्वामी स एवावधिज्ञानस्यापि। तथा विभङ्गज्ञानिनस्त्रिदशादेः सम्यग्दर्शनावाप्तौ युगपदेव मतिश्रुतावधिज्ञानानां लाभसम्भवस्ततो लाभसाधर्म्यम्। अवधिज्ञानानन्तरं च छद्मस्थविषयभावप्रत्यक्षत्वसाधर्म्यान्मनःपर्यायज्ञानमुक्तम्, तथाहि—यथाऽवधिज्ञानं छद्मस्थस्य भवति तथा मनःपर्यायज्ञानमपि इति छद्मस्थसाधर्म्यम्। तथा यथाऽवधिज्ञानं रूपिद्रव्यविषयं तथा मनःपर्यायज्ञानमपि, तस्य मनःपुद्गलाऽऽलम्बनत्वाद् इति विषयसाधर्म्यम्। तथा यथाऽवधिज्ञानं क्षायोपशमिके भावे वर्तते तथा मनःपर्यायज्ञानमपि इति भावसाधर्म्यम्। तथा यथाऽवधिज्ञानं प्रत्यक्षं तथा मनःपर्यायज्ञानमपि इति प्रत्यक्षत्वसाधर्म्यम्। उक्तं च—

[2]कालविवज्जयसामित्तलाभसाहम्मओऽवही तत्तो।
[3]माणसमित्तो छउमत्थविसयभावाइसाहम्मा ॥ (विशे० गा० ८७)

तथा मनःपर्यायज्ञानानन्तरं केवलज्ञानस्योपन्यासः, सर्वोत्तमत्वाद् अप्रमत्तयतिस्वामिसाधर्म्यात् सर्वावसाने लाभाच्च। तथाहि—सर्वाण्यपि मतिज्ञानादीनि ज्ञानानि देशतः परिच्छेदकानि, केवलज्ञानं तु सकलवस्तुस्तोमपरिच्छेदकं सर्वोत्तमम्, सर्वोत्तमत्वाच्चान्ते सर्वेशिरःशेखरकल्पमुपन्यस्तम्। तथा यथा मनःपर्यवज्ञानमप्रमत्तयतेरेवोत्पद्यते तथा केवलज्ञानमपि इत्यप्रमत्तयतिस्वामिसाधर्म्यम्। तथा यः सर्वाण्यपि ज्ञानानि समासादयितुं योग्यः स नियमात् सर्वज्ञानावसाने केवलज्ञानमवाप्नोति, ततः सर्वान्ते केवलमुक्तम्। उक्तं च—

[5]अंते केवलमुत्तमजइसामित्तावसाणलाभाओ ॥ (धर्मस० गा० ८५) इति ॥

व्याख्यातानि नामसंस्कारमात्रेण पञ्चापि ज्ञानानि। अथामून्येव सविस्तरं व्याचिख्यासुः प्रथमं मतिज्ञानं प्रकटयन्नाह—"तत्थ मइनाणं" इत्यादि। 'तत्र' तेषु पञ्चसु ज्ञानेषु मतिज्ञानमष्टाविंशतिभेदं भवतीत्युत्तरगाथाया सम्बन्धः। इह किल द्वेधा मतिज्ञानम्—श्रुतनिश्रितमश्रुतनिश्रितं च। तत्र च यत् प्रायः श्रुताभ्यासमन्तरेणापि सहजविशिष्टक्षयोपशमवशादुत्पद्यते तद् अश्रुतनिश्रितमौत्पत्तिक्यादिबुद्धिचतुष्टयम्, यदाह श्रीदेवर्द्धिवाचकः—

१ लक्षणभेदाद् हेतुफलभावतो भेदेन्द्रियविभागात्। वल्काक्षरमूकेतरभेदाद्भेदो मतिश्रुतयोः ॥ २ °त्तो मतिश्रुतयोरिवावधि° ग० ङ० ॥ ३ कालविपर्ययस्वामित्वलाभसाधर्म्यतोऽवधिस्ततः। मानसं (मनःपर्याय) इतः छद्मस्थविषयभावादिसाधर्म्यात् ॥ ४ °कल्पे उप° क० ग० ङ० ॥ ५ अन्ते केवलमुत्तमयतिस्वामित्वावसानलाभात् ॥

[1]से किं तं मइनाणं ? मइनाणं दुविहं पन्नत्तं, तं जहा—सुयनिस्सियं च असुयनिस्सियं च । से किं तं असुयनिस्सियं ? असुयनिस्सियं चउव्विहं पन्नत्तं, तं जहा—

उप्पत्तिया वेणइया, कम्मिया परिणामिया ।
बुद्धी चउव्विहा वुत्ता, पंचमा नोवलब्भई ॥ (नन्दी पत्र १४४–१)

तत्रौत्पत्तिकी बुद्धिर्यथा रोहकस्य । वैनयिकी बुद्धिः पददर्शनात्करिण्यादिज्ञायकच्छात्रस्येव । कर्मजा कर्षकस्येव । पारिणामिकी श्रीवज्रस्वामिन इव । यत्तु पूर्वं श्रुतपरिकर्मितमतेर्व्यवहारकाले पुनरश्रुतानुसारितया समुत्पद्यते तत् श्रुतनिश्रितम् । यदुक्तं श्रीविशेषावश्यके—

पुव्वं सुयपरिकम्मियमइस्स जं संपयं सुयाईयं ।
तं निस्सियमियरं पुण अणिस्सियं मइचउक्कं तं ॥ (विशे० गा० १६९)

तच्चतुर्धा भवति, तद्यथा—अवग्रह ईहा अपाय धारणा । यदाह—

[4]से किं तं सुयनिस्सियं मइनाणं ? सुयनिस्सियं मइनाणं चउव्विहं पन्नत्तं, तं जहा—उग्गहो ईहा अवाए धारणा ॥ (नन्दी पत्र १६८–१)

पुनरवग्रहो द्वेधा—व्यञ्जनावग्रहः अर्थावग्रहश्च । आह च—

[5]से किं तं उग्गहे ? उग्गहे दुविहे पन्नत्ते, तं जहा—वंजणुग्गहे अत्थुग्गहे य ॥ (नन्दी पत्र १६८–२)

तत्र व्यज्यते—प्रकटीक्रियतेऽनेनार्थः प्रदीपेनेव घट इति व्यञ्जनम् । आह च—

[7]वंजिज्जइ जेणत्थो घडु व्व दीवेण वंजणं तं च । (विशे० गा० १९४)

तच्चोपकरणेन्द्रियं कदम्बपुष्पातिमुक्तकपुष्पक्षुरप्रनानाकृतिसंस्थितश्रोत्रघ्राणरसनस्पर्शनलक्षणं शब्दगन्धरसस्पर्शपरिणतद्रव्यसङ्घातो वा । ततश्च व्यञ्जनेनोपकरणेन्द्रियेण व्यञ्जनानां शब्दादिपरिणतद्रव्याणामवग्रहणं परिच्छेदनमेकस्य व्यञ्जनशब्दस्य लोपाद्व्यञ्जनावग्रहः, किमपीदमित्यव्यक्तज्ञानरूपार्थावग्रहादधोऽव्यक्ततरं ज्ञानमित्यर्थः । अयं चतुर्धा । यदाह सूत्रकृत्—"वंजणवग्गहु चउहा" त्ति स्पष्टम् । चातुर्विध्यमेव भावयति—"मणनयणविणिंदियचउक्का"त्ति मनश्च मानसं नयनं च लोचनं मनोनयने, मनोनयने विना मनोनयनविना, "नाम नाम्नैकार्थ्ये समासो बहुलम्" (सि० ३-१-१८) इति समासः । इन्द्रियाणां चतुष्कमिन्द्रियचतुष्कं तस्माद् इन्द्रियचतुष्कात्, अत्र "गम्ययपः कर्माधारे" (सि० २-२-७४) इति पञ्चमी । मनोनयनवर्जमिन्द्रियचतुष्कमाश्रित्य व्यञ्जनावग्रहश्चतुर्धा भवतीति भावार्थः ।

---

१ अथ किं तद् मतिज्ञानम् ?, मतिज्ञानं द्विविधं प्रज्ञप्तम्, तद्यथा—श्रुतनिश्रितं चाश्रुतनिश्रितं च । अथ किं तदश्रुतनिश्रितम् ? अश्रुतनिश्रितं चतुर्विधं प्रज्ञप्तम्, तद्यथा—औत्पत्तिकी वैनयिकी, कर्मजा पारिणामिकी । बुद्धिश्चतुर्विधा प्रोक्ता, पञ्चमी नोपलभ्यते ॥ २ °पारि° ख० ग० ॥ ३ पूर्वं श्रुतपरिकर्मितमतेर्यत् साम्प्रतं श्रुतातीतं । तद् निश्रितमितरत् पुनरनिश्रितं मतिचतुष्कं तत् ॥ ४ अथ किं तत् श्रुतनिश्रितं मतिज्ञानम् ? श्रुतनिश्रितं मतिज्ञानं चतुर्विधं प्रज्ञप्तम्, तद्यथा—अवग्रह ईहा अपाय धारणा ॥ ५ अथ कोऽसावग्रहः ? अवग्रहो द्विविधः प्रज्ञप्तः, तद्यथा—व्यञ्जनावग्रहोऽर्थावग्रहश्च ॥ ६ °त्ते वंज° क० ग० ॥ ७ व्यज्यते येनार्थो घट इव दीपेन व्यञ्जनं तच्च ॥ ८ °कचन्द्रक° क० । °कपुष्पचन्द्रक° घ० ङ० ॥

उक्त च नन्द्यध्ययने—

से[1] किं त वजणुग्गहे ? वजणुग्गहे चउव्विहे पन्नत्ते, त जहा—सोइंदियवजणुग्गहे घाणिंदियवजणुग्गहे रसणिंदियवजणुग्गहे फासिंदियवजणुग्गहे ॥ (नन्दी पत्र १६९-२)

मनोनयनयोर्वर्जन किमर्थम् ? इति चेद् उच्यते—मनोनयनयोरप्राप्तकारित्वात्, अप्राप्तकारित्व च विषयकृतानुग्रहोपघातशून्यत्वात्, प्राप्तकारित्वे पुनरनलजलशूल्यादीना चिन्तनेऽवलोकने च दहनक्लेदनपाटनादय स्यु । अत्र च विषयदेश गत्वा न पश्यति, प्राप्त चार्थं नालम्बत इत्येतावन्नियम्यते, मूर्तिमता पुन प्राप्तेन भवत एवानुग्रहोपघातौ दिनकरकिरणादिनेति ।

अन्यस्त्वाह—व्यवहितार्थानुपलब्धेरनुमानात् प्राप्तकारित्व लोचनस्येति, एतदयुक्तम्, अनैकान्तिकत्वात्, काचाभ्रपटलस्फटिकान्तरितस्याप्युपलब्धे । स्यादेतत्, नायना रश्मयो निर्गत्य तमर्थं गृह्णन्तीति दर्शनरश्मीना तैजसत्वात् तेजोद्रव्यैरप्रतिस्खलनाददोष इति, एतदप्ययुक्तम्, महाज्वालादौ प्रतिस्खलनोपलब्धेरित्यत्र बहु वक्तव्यम् तत्तु नोच्यते, ग्रन्थगहनताप्रसङ्गात् ।

व्यञ्जनावग्रहस्य च कालो जघन्य आवलिकासङ्ख्येयभागतुल्य , उत्कृष्ट आनप्राणपृथक्त्वम् । उक्त च—

वजणवग्गहकालो, आवलियअसखभागतुल्लो उ ।
थोवो उक्कोसो पुण, आणापाणप्पहुत्त ति ॥ इति ॥ ४ ॥

उक्तश्चतुर्धा व्यञ्जनावग्रह । अथार्थावग्रहादीन् व्याचिख्यासुराह—

अत्थुग्गहईहावायधारणा करणमाणसेहिं छहा ।
इय अट्ठवीसभेय, चउदसहा वीसहा व सुय ॥ ५ ॥

अर्यत इत्यर्थस्तस्य शब्दरूपादिभेदानामन्यतरेणापि भेदेनानिर्धारितस्य सामान्यरूपस्यावग्रहणमर्थावग्रह , किमपीदमित्यव्यक्तज्ञानमित्यर्थ । स च करणमानसे षोढा भवति, तत्र करणानि चेन्द्रियाणि पञ्च मानस च मन करणमानसानि तै करणमानसे कृत्वा । इदमुक्त भवति—श्रोत्रेन्द्रियार्थावग्रह १ चक्षुरिन्द्रियार्थावग्रह २ घ्राणेन्द्रियार्थावग्रह ३ रसनेन्द्रियार्थावग्रह ४ स्पर्शनेन्द्रियार्थावग्रह ५ मानसार्थावग्रह ६ इति षोढाऽर्थावग्रह । तथाऽवगृहीतस्यैव वस्तुन 'किमय भवेत् स्थाणुरेव[3] न तु पुरुष ' इत्यादिवस्तुधर्मान्वेषणात्मक ज्ञानचेष्टनमीहा, ईहनमीहेति कृत्वा ।

अरण्यमेतत् सविताऽस्तमागतो, न चाधुना सम्भवतीह मानव ।
प्रायस्तदेतेन खगादिभाजा, भाव्य स्मरारातिसमाननाम्ना ॥

इत्याद्यन्वयधर्मघटनव्यतिरेकधर्मनिराकरणाभिमुखतालिङ्गितो ज्ञानविशेष ईहेति हृदयम् । साऽपि करणमानसे षोढैव । तथा ईहितस्यैव वस्तुन स्थाणुरेवायमिति निश्चयात्मको बोधविशेषोऽपाय , अयमपि करणमानसे षोढा । तथा निश्चितस्यैवाविच्युतिस्मृतिवासनारूप धरण

१ अथ कोऽसौ व्यञ्जनावग्रह ? व्यञ्जनावग्रहश्चतुर्विध प्रज्ञप्त , तद्यथा—श्रोत्रेन्द्रियव्यञ्जनावग्रहो घ्राणेन्द्रियव्यञ्जनावग्रहो रसनेन्द्रियव्यञ्जनावग्रह स्पर्शेन्द्रियव्यञ्जनावग्रह ॥ २ व्यञ्जनावग्रहकाल आवलिकासङ्ख्यभागतुल्यस्तु । स्तोक उत्कृष्ट पुनरानप्राणपृथक्त्वमिति ॥ ३ स्थाणुनाप्रेत्यर्थः ॥

धारणा। साऽपि करणमानसै. षोढैव। अर्थावग्रहादीना च कालप्रमाणमिदम्—

उंग्गह एक्क समय, ईहाऽवाया मुहुत्तमद्ध तु।
कालमसंख सख, च धारणा होइ नायव्वा॥ (आ० नि० गा० ४) इति।

पूर्वोक्तप्रकारेणार्थावग्रहादीना चतुर्णां प्रत्येक षड्विधत्वात् व्यञ्जनावग्रहभेदचतुष्टयेन सह श्रुतनिश्रित मतिज्ञानमष्टाविंशतिभेद भवति। अश्रुतनिश्रितेन त्वौत्पत्तिक्यादिबुद्धिचतुष्टयेन सह द्वात्रिंशद्भेद भवति। जातिस्मरणमपि समतिक्रान्तसङ्ख्यातभवावगमस्वरूप मतिज्ञानभेद एव। तथा चाचाराङ्गटीका—

जातिस्मरण त्वाभिनिबोधिकविशेष ॥ (पत्र २०-१)

अथवा "बहु१बहुविध२क्षिप्रा३ऽनिश्रिता४ऽसन्दिग्ध५ध्रुवाणा ६ सेतराणाम्" (तत्त्वा० अ० १ सू० १६) इति वचनादष्टाविंशतिरपि द्वादशधा भिद्यते। तथाहि—बहूनामपि श्रोतॄणामविशेषेण प्राप्तविषयस्थेऽपि शङ्खभेर्यादितूर्यसमुदाये क्षयोपशमवैचित्र्यात् कश्चिदवग्रहादिभिर्बहु गृह्णाति, एकहेलास्फालितानामपि शङ्खभेर्यादितूर्याणा पृथक् पृथक् शब्द गृह्णातीत्यर्थ १। अपरस्त्वबहु गृह्णाति, अव्यक्ततूर्यध्वनिमेवोपलभत इत्यर्थ २। अन्यस्तु योषिदादिवाद्यमानतामधुरमन्द्रत्वादिबहुपर्यायोपेतान् शङ्खादिध्वनीन् पृथक् पृथग् जानातीति बहुविधग्राहीत्युच्यते ३। एकद्विपर्यायोपेतास्तु तानेव जानानोऽबहुविधग्राही ४। अन्यस्तु क्षिप्रमचिरेणार्थं जानाति ५। अन्यस्तु विमृश्य चिरेणेति ६। अन्यस्त्वनिश्रितमलिङ्ग गृह्णाति न पुन पताकयेव देवकुलम् ७। अपरस्तु पताकया देवकुलमिव लिङ्गनिश्रया गृह्णाति ८। यद् असशय गृह्णाति तद् असन्दिग्धम् ९। संशयोपेत तु यद् गृह्णाति तत् सन्दिग्धम् १०। यद् एकदा गृहीत तत् सर्वदैवावश्य गृह्णाति न पुन कालान्तरे तद्ग्रहणे परोपदेशादिकमपेक्षते तद् ध्रुवम् ११। यत् पुन कदाचिदेव गृह्णाति न सर्वदा तद् अध्रुवम् १२। एवमेतैर्द्वादशभिर्भेदैरवग्रहादय पूर्वोक्तभेदयुक्ता वस्तु गृह्णन्तीत्यष्टाविंशत्या द्वादशभिर्गुणितया त्रीणि शतानि षट्त्रिंशदधिकानि भवन्ति। यदाह भाष्यपीयूषपयोधिः—

[४]ज बहुबहुविहखिप्पानिस्सियनिच्छियधुवेयरविभत्ता।
पुणरुग्गहादओ तो, त छत्तीस तिसयभेय॥
[५]नाणासद्दसमूह, बहु पिह मुणइ भिन्नजाईय।
बहुविहमणेगमेय, इक्किक्क निद्धमहुराइ॥
[७]खिप्पमचिरेण त चिय, सरूवओ त अणिस्सियमलिंग।
निच्छियमसंसय ज, धुवमच्चत न य कयाई॥ (विशे० गा० ३०७-९)

---

१ अवग्रह एक समयमीहाऽपायौ मुहूर्तमर्ध्यं (भिन्नमुहूर्त) तु। कालमसङ्ख्यात सङ्ख्यात च धारणा भवति ज्ञातव्या॥ २ °न् पृथग् जा° क० ख० ग०॥ ३ °श्य विमृश्य चि° ख० घ० ङ०॥ ४ यद् बहुबहुविध क्षिप्रानिश्रितनिश्चितध्रुवेतरविभक्ता। पुनरवग्रहादयोऽतस्तत् षट्त्रिंशत्त्रिशतभेदम्॥ ५ नानाशब्दसमूह बहु पृथग् जानाति भिन्नजातिकम्। बहुविधमनेकभेदमेकैक स्निग्धमधुरादि॥ ६ नाण सद्द° क० ख० ग० घ० ङ०॥ ७ क्षिप्रमचिरेण तच्चैव स्वरूपत तदनिश्रितमलिङ्गम्। निश्चितमसंशय यद् ध्रुवमत्यन्त न च कदाचित्॥

ततश्च सज्ञा विद्यते येषा ते संज्ञिन , पर सर्वत्राप्यागमे ये दीर्घकालिक्या संज्ञया सज्ञिनस्ते संज्ञिन उच्यन्ते, तत सज्ञिना श्रुत सज्ञिश्रुतम् समनस्काना मन सहितैरिन्द्रियैर्जनित श्रुत सज्ञिश्रुतमिति भाव ३ । मनोरहितेन्द्रियज श्रुतमसज्ञिश्रुतम् ४ । तथा सम्यग्दृष्टेरर्हत्प्रणीत मिथ्यादृष्टिप्रणीत वा यथास्वरूपमवगमात् सम्यक्श्रुतम् ५ । मिथ्यादृष्टे पुनरर्हत्प्रणीतमितरद्वा मिथ्याश्रुत, यथास्वरूपमनवगमात् ६ ।

आह—मिथ्यादृष्टेरपि मतिश्रुते सम्यग्दृष्टेरिव तदावरणकर्मक्षयोपशमसमुद्भवे सम्यग्दृष्टेरिव पृथुबुध्नोदराद्याकार घटादिक च सविदाते, तत् कथ मिथ्यादृष्टेरज्ञाने [1] उच्यते—सदसद्विवेकपरिज्ञानाभावात् । तथाहि—मिथ्यादृष्टि सर्वमप्येकान्तपुर सर प्रतिपद्यते, न भगवदुक्तस्याद्वादनीत्या, ततो घट एवायमिति यदा ब्रूते तदा तस्मिन् घटे घटपर्यायव्यतिरेकेण शेषान् सत्त्वज्ञेयत्वप्रमेयत्वादीन् सतोऽपि धर्मानपलपति, अन्यथा घट एवायमित्येकान्तेनावधारणानुपपत्ते , घट सन्नेवेति ब्रुवाण पररूपेण नास्तित्वस्यानभ्युपगमात् पररूपतामसतीमपि तत्र प्रतिपद्यते, तत सन्तमसन्त प्रतिपद्यतेऽसन्त च सन्तमिति सदसद्विशेषपरिज्ञानाभावादज्ञाने मिथ्यादृष्टेर्मतिश्रुते । इतश्च ते मिथ्यादृष्टेरज्ञाने, भवहेतुत्वात् । तथाहि—मिथ्यादृष्टीना मतिश्रुते पशुवधमैथुनादीना धर्मसाधकत्वेन परिच्छेदके, ततो दीर्घतरससारपथप्रवर्तिनी । तथा यदृच्छोपलम्भादुन्मत्तकविकल्पवत् । तथाहि—उन्मत्तकविकल्पा वस्त्वनपेक्ष्यैव यथाकथञ्चित् प्रवर्तन्ते, यद्यपि च ते कचिद्यथावस्थितवस्तुसवादिनस्तथापि सम्यग्यथावस्थितवस्तुतत्त्वपर्यालोचनाविरहेण प्रवर्तमानत्वात् परमार्थतोऽपारमार्थिका , तथा मिथ्यादृष्टीना मतिश्रुते यथावद्वस्त्वविचार्यैव प्रवर्तेते, ततो यद्यपि ते कचिद्रसोऽय स्पर्शोऽयमित्याद्यवधारणाध्यवसायभावे सवादिनी तथापि न ते स्याद्वादमुद्रापरिभावनातस्तथाप्रवृत्ते, किन्तु यथाकथञ्चित्, अतस्ते अज्ञाने । तथा ज्ञानफलाभावात्, ज्ञानस्य हि फल हेयस्य हानिरुपादेयस्य चोपादानम्, न च ससारात् पर किञ्चन हेयमस्ति, न च मोक्षात् पर किञ्चिदुपादेयम्, ततो भवमोक्षावेकान्तेन हेयोपादेयौ, भवमोक्षयोश्च हान्युपादाने सर्वसङ्गविरतेर्भवत , तत साऽवश्य तत्त्ववेदिना कर्तव्या, सैव च तत्त्वतो ज्ञानस्य फलम् । तथा चाह भगवानुमास्वातिवाचकः—

ज्ञानस्य फल विरति , (प्रशम० पद्य० ७२) इति ।

सा च मिथ्यादृष्टेर्नास्तीति ज्ञानफलाभावादज्ञाने मिथ्यादृष्टेर्मतिश्रुते । यदाह भाष्यसुधाम्भोनिधिः—

सदसदविसेसणाओ, भवहेउ जहिच्छिओवलभाओ ।
नाणफलाभावाओ, मिच्छद्दिट्ठिस्स अन्नाण ॥ (विशे० गा० ११५) इति ।

तथा—

"साईय ७ सपज्जवसिय ८ अणाईय ९ अपज्जवसिय १० इच्चेय दुवालसग वुच्छित्तिनयट्ठयाए साईय सपज्जवसिय, अवुच्छित्तिनयट्ठयाए अणाईय अपज्जवसिय, त समासओ चउ-

१ सदसदविशेषणाद्भवहेतुतो यदृच्छोपलम्भात् । ज्ञानफलाभावान्मिथ्यादृष्टेरज्ञानम् ॥ २ सादिक ७ सपर्यवसितम् ८ अनादिकम् ९ अपर्यवसितम् १० इत्येतद् द्वादशाङ्ग व्युच्छित्तिनयार्थतया सादिक सपर्यवसितम्, अव्युच्छित्तिनयार्थतयाऽनादिकमपर्यवसितम्, तत् समासतश्चतुर्विध प्रज्ञप्तम्, तद्यथा—द्रव्यत क्षेत्रत कालतो

विह् पन्नच, त जहा—दव्वओ खित्तओ कालओ भावओ। दव्वओ णं सम्मसुय एग पुरिसं पडुच्च साईय सपज्जवसिय, बहवे पुरिसे पडुच्च अणाईय अपज्जवसिय। खित्तओ ण पच भरहाइ पच एरवयाइ पडुच्च साईय सपज्जवसिय, पच महाविदेहाइ पडुच अणाईय अपज्जवसिय। कालओ ण उस्सप्पिणि अवसप्पिणिं च पडुच्च साईय सपज्जवसिय, नोउस्सप्पिणिं नोअवसप्पिणि च पडुच्च अणाईय अपज्जवसिय" । नोउत्सर्पिणी नोअवसर्पिणी चेति कालो महाविदेहेषु ज्ञेय, तत्रोत्सर्पिण्यवसर्पिणीलक्षणकालाभावात् । "भावओ ण जे जया जिणपन्नत्ता भावा आघविज्जति पण्णविज्जति परूविज्जति दसिज्जति निदसिज्जति ते तया पडुच्च साईय सपज्जवसिय, खाओ-वसमिय पुण भाव पडुच्च अणाईय अपज्जवसिय, अहवा भवसिद्धियस्स सुय साईय सपज्जवसिय"। केवलज्ञानोत्पत्तौ तदभावात्, "नट्ठम्मि उ छाउमच्छिए नाणे" (आ० नि० गा० ५३९) इति वचनात्। "अभवसिद्धियस्स सुय अणाईय अपज्जवसिय"। (नन्दी पत्र १९५–१)।

इद च सामान्यत श्रुतशब्देन श्रुतज्ञान श्रुताज्ञान चोच्यते। यदाह—

[1]अविसेसिय सुय सुयनाण सुयअन्नाण च।

तथा गमा —सदृशपाठास्ते विद्यन्ते यत्र तद् गमिकम्, "अतोऽनेकस्वरात्" (सि० ७-२-६) इति इकप्रत्यय, तत् प्रायो दृष्टिवादगतम् ११। अगमिकम्—असदृशाक्षरालापकम्, तत् प्राय कालिकश्रुतगतम् १२। अङ्गप्रविष्ट द्वादशाङ्गीरूपम् १३। तथाहि—

[2]अट्ठारस पयसहस्सा, आयारे १ दुगुण दुगुण सेसेसु।
सूयगड २ ठाण ३ समवाय ४ भगवई ५ नायधम्मकहा ६॥
अग उवासगदसा ७, अतगड ८ अणुत्तरोववाइदसा ९।
पन्हावागरण तह १०, विवायसुयमिगदसं अग ११॥
परिकम्म १ सुत्त २ पुव्वाणुओग ३ पुव्वगय ४ चूलिया ५ एव।
पण दिट्ठिवायभेया, चउदस पुव्वाइ पुव्वगय॥
उप्पाए १ पयकोडी, [3]अग्गाणीयम्मि छन्नवइलक्खा।
विरियपवाए ३ अत्थिप्पवाइ ४ लक्खा सयरि सट्ठी॥

भावत । द्रव्यतः सम्यक्श्रुत एक पुरुष प्रतीत्य सादिक सपर्यवसितम्, बहून् पुरुषान् प्रतीत्यानादिकमपर्यवसितम्। क्षेत्रत पञ्च भरतानि पञ्चैरवतानि प्रतीत्य सादिक सपर्यवसितम्, पञ्च महाविदेहानि प्रतीत्यानादिकमपर्यवसितम्। कालत उत्सर्पिणीमवसर्पिणीं च प्रतीत्य सादिक सपर्यवसितम्, नोउत्सर्पिणीं नोअवसर्पिणीं च प्रतीत्यानादिकमपर्यवसितम्। भावतो ये यदा जिनप्रज्ञप्ता भावा आख्यायन्ते प्रज्ञाप्यन्ते प्ररूप्यन्ते दर्श्यन्ते निदर्श्यन्ते, तान् तदा प्रतीत्य सादिक सपर्यवसितम्, क्षायोपशमिक पुनर्भाव प्रतीत्यानादिकमपर्यवसितम्। अथवा भवसिद्धिकस्य श्रुत सादिक सपर्यवसितम्। नष्टे तु छाद्मस्थिके ज्ञाने। अभवसिद्धिकस्य श्रुतमनादिकमपर्यवसितम्॥ १ अविशेषित श्रुत श्रुतज्ञान श्रुताज्ञान च॥

२ अष्टादश पदसहस्राणि आचारे १ द्विगुणद्विगुणानि शेषेषु। सूत्रकृत२स्थान३समवाय४भगवती५ज्ञाताधर्मकथा ६॥ अङ्गमुपासकदशा७ऽन्तकृद्८अनुत्तरोपपातिकदशा ९। प्रश्नव्याकरण १० तथा विपाकश्रुतमेकादशमङ्गम् ११॥ परिकर्म१सूत्र२पूर्वानुयोग३पूर्वगत४चूलिका ५ एवम्। पञ्च दृष्टिवादभेदाश्चतुर्दश पूर्वाणि पूर्वगतम्॥ उत्पादे १ पदकोटी अग्राणीये २ षण्णवतिलक्षा। वीर्यप्रवादे ३ अस्तिप्रवादे ४ लक्षा सप्तति षष्टि॥ ३ अग्गेणीय° क० ख० ग०॥

एगपऊणा कोडी, पयाण नाणप्पवायपुव्वम्मि ५ ।
सच्चप्पवायपुव्वे ६, एगा पयकोडि छच्च पया ॥
छव्वीसं पयकोडी, पुव्वे आयप्पवायनामम्मि ७ ।
कम्मप्पवायपुव्वे ८, पयकोडी असिइलक्खजुया ॥
पच्चक्खाणभिहाणे ९, पुव्वे चुलसीइ पयसयसहस्सा ।
दसपयसहसजुया पयकोडी विज्जापवायम्मि १० ॥
कल्लाणनामधिज्जे ११, पुव्वम्मि पयाण कोडि छव्वीसा ।
छप्पन्नलक्खकोडी, पयाण पाणाउपुव्वम्मि १२ ॥
किरियाविसालपुव्वे १३, नव पयकोडीउ विंति समयविऊ ।
सिरिलोकविन्दुसारे १४, सड्ढदुवालस य पयलक्खा ॥

अङ्गबाह्यश्रुतम् आवश्यकदशवैकालिकादि १४ इति ॥ ६ ॥

व्याख्यातं चतुर्दशधा श्रुतम् । सम्प्रति विंशतिधा श्रुतं व्याख्यानयन्नाह—

पज्जय१अक्खर२पय३संघाया४ पडिवत्ति५ तह य अणुओगो६ ।
पाहुडपाहुड७पाहुड८वत्थू९पुव्वा१० य ससमासा ॥ ७ ॥

पर्यायश्च अक्षरं च पदं च सङ्घातश्च पर्यायाक्षरपदसङ्घाताः । "पडिवत्ति" त्ति प्रतिपत्तिः, प्राकृतत्वात् लुप्तविभक्तिको निर्देशः । तथा च 'अनुयोगः' अनुयोगद्वारलक्षणः । प्राभृतप्राभृतं च प्राभृतं च वस्तु च पूर्वं च प्राभृतप्राभृतप्राभृतवस्तुपूर्वाणि । प्राकृतत्वाल्लिङ्गव्यत्ययः । यदाह पाणिनिः स्वप्राकृतलक्षणे—"लिङ्गं व्यभिचार्यपि" । 'च' समुच्चये । एते पर्यायादयः श्रुतस्य दश भेदाः कथम्भूताः ? इत्याह—"ससमास"त्ति समासः—संक्षेपो मीलक इत्यर्थः, सह समासेन वर्तन्ते ससमासास्ततश्च प्रत्येकं सम्बन्धः । तथाहि—'पर्यायः' पर्यायसमासः, अक्षरम् अक्षरसमासः, पदं पदसमासः, सङ्घातः सङ्घातसमासः, प्रतिपत्तिः प्रतिपत्तिसमासः, अनुयोगः अनुयोगसमासः, प्राभृतप्राभृतं प्राभृतप्राभृतसमासः, प्राभृतं प्राभृतसमासः, वस्तु वस्तुसमासः, पूर्वं पूर्वसमास इति विंशतिधा श्रुतं भवतीति गाथाक्षरार्थः । भावार्थस्त्वयम्—पर्यायो ज्ञानस्यांशो विभागः परिच्छेद इति पर्यायाः । तत्रैको ज्ञानांशः पर्यायः, अनेके तु ज्ञानांशाः पर्यायसमासः । एतदुक्तं भवति—लब्ध्यपर्याप्तस्य सूक्ष्मनिगोदजीवस्य यत् सर्वजघन्यं श्रुतमात्रं तस्मादन्यत्र जीवान्तरे य एकः श्रुतज्ञानांशोऽविभागपरिच्छेदरूपो वर्धते स पर्यायः १ । ये तु द्व्यादयः श्रुतज्ञानाविभागपरिच्छेदा नानाजीवेषु वृद्धा लभ्यन्ते ते समुदिताः पर्यायसमासः २ । अकारादिलब्ध्यक्षराणामन्यतरदक्षरम् ३ । तेषामेव द्व्यादिसमुदायोऽक्षरसमासः ४ । पद

१ एकपदोना कोटी पदानां ज्ञानप्रवादपूर्वे ५ । सत्यप्रवादपूर्वे ६ एका पदकोटी षट् च पदानि ॥ षड्विंशतिं पदकोटीः पूर्वे आत्मप्रवादनामनि ७ । कर्मप्रवादपूर्वे ८ पदकोटी अशीतिलक्षयुता ॥ प्रत्याख्यानाभिधाने ९ पूर्वे चतुरशीतिः पदशतसहस्राणि । दशपदसहस्रयुता पदकोटी विद्याप्रवादे १० ॥ कल्याणनामधेये ११ पूर्वे पदानां कोटिः षड्विंशतिः । षट्पञ्चाशल्लक्षकोटी पदानां प्राणायुः पूर्वे १२ ॥ क्रियाविशालपूर्वे १३ नव पदकोटीर्ब्रुवते समयविदः । श्रीलोकबिन्दुसारे १४ सार्धद्वादश च पदलक्षम् ॥

तु 'अर्थपरिसमाप्तिः पदम्' इत्याद्युक्तिसद्भावेऽपि येन केनचित्पदेनाऽष्टादशपदसहस्रादिप्रमाणाः आचारादिग्रन्था गीयन्ते तदिह गृह्यते, तस्यैव द्वादशाङ्गश्रुतपरिमाणेऽधिकृतत्वात्, श्रुतभेदानामेव चेह प्रस्तुतत्वात् । तस्य च पदस्य तथाविधाम्नायाभावात् प्रमाणं न ज्ञायते । तत्रैकं पदं पदमुच्यते ५ । द्व्यादिपदसमुदायस्तु पदसमासः ६ । "[1]गइ इंदिए य काए" (आ० नि० गा० १४) इत्यादिगाथाप्रतिपादितद्वारकलापस्यैकदेशो यो गत्यादिकस्तस्याप्येकदेशो यो नरकगत्यादिस्तत्र जीवादिमार्गणा यका क्रियते स सङ्घातः ७ । द्व्यादिगत्याद्यवयवमार्गणा सङ्घातसमासः ८ । गत्यादिद्वाराणामन्यतरैकपरिपूर्णगत्यादिद्वारेण जीवादिमार्गणा प्रतिपत्तिः ९ । द्वारद्व्यादिमार्गणा तु प्रतिपत्तिसमासः १० । "[2]संतपयपरूवणया दव्वपमाणं च" (आ० नि० गा० १३) इत्यादि अनुयोगद्वाराणामन्यतरदेकमनुयोगद्वारमुच्यते ११ । तद्व्यादिसमुदायः पुनरनुयोगद्वारसमासः १२ । प्राभृतान्तर्वर्ती अधिकारविशेषः प्राभृतप्राभृतम् १३ । तद्व्यादिसमुदायस्तु प्राभृतप्राभृतसमासः १४ । वस्त्वन्तर्वर्ती अधिकारविशेषः प्राभृतम् १५ । तद्व्यादिसंयोगस्तु प्राभृतसमासः १६ । पूर्वान्तर्वर्ती अधिकारविशेषो वस्तु १७ । तद्व्यादिसंयोगस्तु वस्तुसमासः १८ । पूर्वमुत्पादपूर्वादि पूर्वोक्तस्वरूपम् १९ । तद्व्यादिसंयोगस्तु पूर्वसमासः २० । एवमेते संक्षेपतः श्रुतज्ञानस्य विंशतिर्भेदा दर्शिताः, विस्तरार्थिना तु बृहत्कर्मप्रकृतिरन्वेषणीया । एते च पर्यायादयः श्रुतभेदा यथोत्तरं तीव्रतीव्रतरादिक्षयोपशमलभ्यत्वादित्थं निर्दिष्टा इति परिभावनीयमिति । अथवा चतुर्विधं श्रुतज्ञानम्, तथाहि—द्रव्यतः क्षेत्रतः कालतो भावतश्च । तत्र द्रव्यतः श्रुतज्ञानी सर्वद्रव्याण्यादेशेन जानाति, क्षेत्रतः सर्वक्षेत्रमादेशेन श्रुतज्ञानी जानाति, कालतः सर्वं कालमादेशेन श्रुतज्ञानी जानाति, भावतः सर्वान् भावान् आदेशेन श्रुतज्ञानी जानातीति ॥ ७ ॥ व्याख्यातं सविस्तरं श्रुतज्ञानम् । सम्प्रत्यवधिज्ञानं व्याख्यायते, तच्च द्वेधा—भवप्रत्ययं देवनारकाणाम्, गुणप्रत्ययं मनुष्यतिरश्चाम्, तच्च षोढा, तथा चाह सूत्रम्—

> अणुगामिवड्ढमाणयपडिवाईयरविहा छहा ओही ।
> रिउमइविउलमई मणनाणं केवलमिगविहाणं ॥ ८ ॥

[3]आनुगामि च वर्धमानकं च प्रतिपाति च इतराणि च—अनानुगामिहीयमानकाप्रतिपातीनि आनुगामिवर्धमानकप्रतिपातीतराणि, विधानानि विधाः—भेदाः, ततः आनुगामिवर्धमानकप्रतिपातीतराणि विधा यस्य तत्तथा तस्माद् आनुगामिवर्धमानकप्रतिपातीतरविधात् षड्धा 'अवधिः' अवधिज्ञानं भवति । उक्तं च नन्द्यध्ययने—

[4]तं समासओ छव्विहं पन्नत्तं, तं जहा—आणुगामियं अणाणुगामियं वड्ढमाणयं हीयमाणयं पडिवाई अपडिवाई । (नन्दी पत्र ८१–१)

तत्र गच्छन्तं पुरुषम् आ—समन्तादनुगच्छतीत्येवंशीलमानुगामि, यद् देशान्तरगतमपि ज्ञानिनमनुगच्छति लोचनवत् तद् अवधिज्ञानमानुगामीति भावः १ । तथा न आनुगामि अनानु-

---

१ गति इन्द्रिय काय ॥ २ सत्पदप्ररूपणता द्रव्यप्रमाणं च ॥ ३ अनुगामि क० ख० ग० एवमग्रेऽपि ॥
४ तत् समासतः षड्विधं प्रज्ञप्तम्, तद्यथा—आनुगामिकमनानुगामिकं वर्धमानकं हीयमानकं प्रतिपात्यप्रतिपाति ॥

एगपऊणा कोडी, पयाण नाणप्पवायपुव्वम्मि ५ ।
सच्चप्पवायपुव्वे ६, एगा पयकोडि छच्च पया ॥
छव्वीसं पयकोडी, पुव्वे आयप्पवायनामम्मि ७ ।
कम्मप्पवायपुव्वे ८, पयकोडी असिइलक्खजुया ॥
पच्चक्खाणभिहाणे ९, पुव्वे चुरसीइ पयसयसहस्सा ।
दसपयसहसजुया पयकोडी विज्जापवायम्मि १० ॥
कल्लाणनामधिज्जे ११, पुव्वम्मि पयाण कोडि छव्वीसा ।
छप्पन्नलक्खकोडी, पयाण पाणाउपुव्वम्मि १२ ॥
किरियाविसालपुव्वे १३, नव पयकोडीउ बिंति समयविऊ ।
सिरिलोकबिन्दुसारे १४, सड्ढदुवालस य पयलक्खा ॥

अङ्गबाह्यश्रुतम् आवश्यकदशवैकालिकादि १४ इति ॥ ६ ॥
व्याख्यातं चतुर्दशधा श्रुतम् । सम्प्रति विंशतिधा श्रुतं व्याख्यानयन्नाह—

पज्जय१अक्खर२पय३संघाया४ पडिवत्ति५ तह य अणुओगो६ ।
पाहुडपाहुड७पाहुड८वत्थू९पुव्वा१० य ससमासा ॥ ७ ॥

पर्यायश्च अक्षरं च पदं च सङ्घातश्च पर्यायाक्षरपदसङ्घाताः । "पडिवत्ति" त्ति प्रतिपत्ति, प्राकृतत्वात् लुप्तविभक्तिको निर्देशः । तथा च 'अनुयोग' अनुयोगद्वारलक्षणः । प्राभृतप्राभृतं च प्राभृतं च वस्तु च पूर्वं च प्राभृतप्राभृतप्राभृतवस्तुपूर्वाणि । प्राकृतत्वाल्लिङ्गव्यत्ययः । यदाह पाणिनिः स्वप्राकृतलक्षणे—"लिङ्गं व्यभिचार्यपि" । 'च' समुच्चये । एते पर्यायादयः श्रुतस्य दश भेदाः कथम्भूताः ? इत्याह—"ससमास"त्ति समासः—संक्षेपो मीलक इत्यर्थः, सह समासेन वर्तन्ते ससमासास्ततश्च प्रत्येकं सम्बन्धः । तथाहि—पर्यायः पर्यायसमासः, अक्षरम् अक्षरसमासः, पदं पदसमासः, सङ्घातः सङ्घातसमासः, प्रतिपत्तिः प्रतिपत्तिसमासः, अनुयोगः अनुयोगसमासः, प्राभृतप्राभृतं प्राभृतप्राभृतसमासः, प्राभृतं प्राभृतसमासः, वस्तु वस्तुसमासः, पूर्वं पूर्वसमास इति विंशतिधा श्रुतं भवतीति गाथाक्षरार्थः । भावार्थस्त्वयम्—पर्यायो ज्ञानस्यांशो विभागः परिच्छेद इति पर्यायाः । तत्रैको ज्ञानांशः पर्यायः, अनेके तु ज्ञानांशाः पर्यायसमासः । एतदुक्तं भवति—लब्ध्यपर्याप्तस्य सूक्ष्मनिगोदजीवस्य यत् सर्वजघन्यं श्रुतमात्रं तस्मादन्यत्र जीवान्तरे य एकः श्रुतज्ञानांशोऽविभागपरिच्छेदरूपो वर्धते स पर्यायः १ । ये तु द्व्यादयः श्रुतज्ञानाविभागपरिच्छेदा नानाजीवेषु वृद्धा लभ्यन्ते ते समुदिताः पर्यायसमासः २ । अकारादिलब्ध्यक्षराणामन्यतरदक्षरम् ३ । तेषामेव द्व्यादिसमुदायोऽक्षरसमासः ४ । पद

---

१ एकपदोना कोटी पदानां ज्ञानप्रवादपूर्वे ५ । सत्यप्रवादपूर्वे ६ एका पदकोटी षट् च पदानि ॥ षड्विंशतिः पदकोटी पूर्वे आत्मप्रवादनामनि ७ । कर्मप्रवादपूर्वे ८ पदकोटी अशीतिलक्षयुता ॥ प्रत्याख्यानाभिधाने ९ पूर्वे चतुरशीतिं पदशतसहस्राणि । दशपदसहस्रयुक्ता पदकोटी विद्याप्रवादे १० ॥ कल्याणनामधेये ११ पूर्वे पदानां कोटिः षड्विंशतिः । षट्पञ्चाशल्लक्षकोटी पदानां प्राणायुःपूर्वे १२ ॥ क्रियाविशालपूर्वे १३ नव पदकोट्यो ब्रुवते समयविदः । श्रीलोकबिन्दुसारे १४ सार्धद्वादश च पदलक्षम् ॥

तु 'अर्थपरिसमाप्तिः पदम्' इत्याद्युक्तिसद्भावेऽपि येन केनचित्पदेनाऽष्टादशपदसहस्रादिप्रमाणा आचारादिग्रन्था गीयन्ते तदिह गृह्यते, तस्यैव द्वादशाङ्गश्रुतपरिमाणेऽधिकृतत्वात्, श्रुतभेदानामेव चेह प्रस्तुतत्वात् । तस्य च पदस्य तथाविधाम्नायाभावात् प्रमाणं न ज्ञायते । तत्रैकं पदं पदमुच्यते ५ । द्व्यादिपदसमुदायस्तु पदसमासः ६ । "गइ इंदिए य काए"[1] (आ० नि० गा० १४) इत्यादिगाथाप्रतिपादितद्वारकलापस्यैकदेशो यो गत्यादिकस्तस्याप्येकदेशो यो नरकगत्यादिस्तत्र जीवादिमार्गणा यका क्रियते स सङ्घातः ७ । द्व्यादिगत्याद्यवयवमार्गणा सङ्घातसमासः ८ । गत्यादिद्वाराणामन्यतरैकपरिपूर्णगत्यादिद्वारेण जीवादिमार्गणा प्रतिपत्तिः ९ । द्वारद्वयादिमार्गणा तु प्रतिपत्तिसमासः १० । "संतपयपरूवणया दव्वपमाणं च"[2] (आ० नि० गा० १३) इत्यादि अनुयोगद्वाराणामन्यतरदेकमनुयोगद्वारमुच्यते ११ । तद्द्व्यादिसमुदायः पुनरनुयोगद्वारसमासः १२ । प्राभृतान्तर्वर्ती अधिकारविशेषः प्राभृतप्राभृतम्-१३ । तद्द्व्यादिसमुदायस्तु प्राभृतप्राभृतसमासः १४ । वस्त्वन्तर्वर्ती अधिकारविशेषः प्राभृतम् १५ । तद्द्व्यादिसंयोगस्तु प्राभृतसमासः १६ । पूर्वान्तर्वर्ती अधिकारविशेषो वस्तु १७ । तद्द्व्यादिसंयोगस्तु वस्तुसमासः १८ । पूर्वमुत्पादपूर्वादि पूर्वोक्तस्वरूपम् १९ । तद्द्व्यादिसंयोगस्तु पूर्वसमासः २० । एवमेते सङ्क्षेपतः श्रुतज्ञानस्य विंशतिर्भेदा दर्शिताः, विस्तरार्थिना तु बृहत्कर्मप्रकृतिरन्वेषणीया । एते च पर्यायादयः श्रुतभेदा यथोत्तरं तीव्रतीव्रतरादिक्षयोपशमलभ्यत्वादित्थं निर्दिष्टा इति परिभावनीयमिति । अथवा चतुर्विधं श्रुतज्ञानम्, तथाहि—द्रव्यतः क्षेत्रतः कालतो भावतश्च । तत्र द्रव्यतः श्रुतज्ञानी सर्वद्रव्याण्यादेशेन जानाति, क्षेत्रतः सर्वक्षेत्रमादेशेन श्रुतज्ञानी जानाति, कालतः सर्वं कालमादेशेन श्रुतज्ञानी जानाति, भावतः सर्वान् भावान् आदेशेन श्रुतज्ञानी जानातीति ॥ ७ ॥ व्याख्यातं सविस्तरं श्रुतज्ञानम् । सम्प्रत्यवधिज्ञानं व्याख्यायते, तच्च द्वेधा—भवप्रत्ययं देवनारकाणाम्, गुणप्रत्ययं मनुष्यतिरश्चाम्, तच्च षोढा, तथा चाह सूत्रम्—

अणुगामिवड्ढमाणयपडिवाईयरविहा छहा ओही ।
रिउमइविउलमई मणनाणं केवलमिगविहाणं ॥ ८ ॥

आनुगामि च वर्धमानकं च प्रतिपाति च इतराणि च—अनानुगामिहीयमानकाप्रतिपातीनि आनुगामिवर्धमानकप्रतिपातीतराणि, विधानानि विधाः—भेदाः, ततः आनुगामिवर्धमानकप्रतिपातीतराणि विधा यस्य तत्तथा तस्माद् आनुगामिवर्धमानकप्रतिपातीतरविधात् षड्धा 'अवधिः' अवधिज्ञानं भवति । उक्तं च नन्द्यध्ययने—

"तं समासओ छव्विहं पन्नत्तं, तं जहा—आणुगामियं अणाणुगामियं वड्ढमाणयं हीयमाणयं पडिवाई अपडिवाई । (नन्दी पत्र ८१-१)[4]

तत्र गच्छन्तं पुरुषम् आ—समन्तादनुगच्छतीत्येवंशीलमानुगामि, यद् देशान्तरगतमपि ज्ञानिनमनुगच्छति लोचनवत् तद् अवधिज्ञानमानुगामीति भावः १ । तथा न आनुगामि अनानु-

१ गति इंद्रिय काय ॥ २ सत्पदप्ररूपणता द्रव्यप्रमाणं च ॥ ३ अनुगामि क० ख० ग० एवमग्रेऽपि ॥
४ तत् समासतः षड्विधं प्रज्ञप्तम्, तद्यथा—आनुगामिकमनानुगामिकं वर्धमानकं हीयमानकं प्रतिपात्यप्रतिपाति ॥

गामि, शृङ्खलाबद्धप्रदीप इव यद् न गच्छन्त ज्ञानिनमनुगच्छति, यत् किल तद्देशस्यैव भवति, तद्देशनिबन्धनक्षयोपशमजत्वात्, देशान्तरगतस्य त्वपैति, तद् अवधिज्ञानमनानुगामीति भाव २। यदाह भगवान् श्रीदेवर्द्धिक्षमाश्रमणः—

से[1] किं त अणाणुगामिय ओहिनाण[?] अणाणुगामिय ओहिनाण से जहानामए केइ पुरिसे एग मह जोइट्ठाण काउ तस्सेव जोइट्ठाणस्स परिपेरंतेसु परिपेरंतेसु परिहिंडमाणे परिहिंडमाणे परिघोलमाणे परिघोलमाणे तमेव जोइट्ठाण पासइ अन्नत्थ गए न पासइ, एवमेव अणाणुगामिय ओहिनाण जत्थेव समुप्पज्जइ तत्थेव संखिज्जाणि वा असंखिज्जाणि वा जोयणाइ पासइ न अन्नत्थ। (नन्दी पत्र ८९–१) भाष्यकारोऽप्याह—

अणुगामि[3] उ अणुगच्छइ, गच्छत लोयण जहा पुरिस।
इयरो उ नाणुगच्छइ, ठियप्पईवु व गच्छत ॥ (विशे० गा० ७१५)

[4] तथा वर्धत इति वर्धमानम्, तत सज्ञाया कन्प्रत्यय, बहुबहुतरेन्धनप्रक्षेपादभिवर्धमानज्वलनज्वालाकलाप इव पूर्वावस्थातो यथायोग प्रशस्तप्रशस्ततराध्यवसायतो वर्धमानमवधिज्ञान वर्धमानकम्। एतत् किलाङ्गुलासङ्ख्येयभागादिविषयमुत्पद्य पुनर्वृद्धिं विषयविस्तरणात्मिकां याति यावदलोके लोकप्रमाणान्यसङ्ख्येयानि खण्डानीति ३। तथा हीयते—तथाविधसामग्र्यभावतो हानिमुपगच्छतीति हीयमानम्, कर्मकर्तृविवक्षायाम् अनट्प्रत्यय, हीयमानमेव हीयमानकम्, "कुत्सिताल्पाज्ञाते" (सि० ७–३–३३) कप्रत्यय, पूर्वावस्थातो यदधोऽधो ह्रासमुपगच्छति तद् हीयमानकमवधिज्ञानमिति ४। उक्त च नन्दिचूर्णौ—

हीयमाण[5] पुव्वावत्थाओ अहोऽहो हस्समाण (पत्र १४) इति।

तथा प्रतिपततीत्येवशील प्रतिपाति ५। यदाह—

से[6] कि त पडिवाई[?] पडिवाई जन्न जहन्नेण अगुलस्स असंखिज्जभाग वा संखिज्जभागं वा वालग्ग वा वालग्गपुहत्त वा एव लिक्ख वा जूय वा जव वा जवपुहत्त वा अगुल वा अगुलपुहत्त वा, एव एएण अहिलावेण विहत्थि वा हत्थ वा कुच्छि वा कुक्षिर्हस्तद्वयमुच्यते धणु वा गाउय वा जोयण वा जोयणसय वा जोयणसहस्स वा संखिज्जाणि वा असंखिज्जाणि वा जोयणसहस्साइ, उक्कोसेण लोग पासित्ताण परिवडिज्जा, से त पडिवाई। (नन्दी पत्र ९६–२)

---

१ अथ किं तदनानुगामिकमवधिज्ञानम्? अनानुगामिकमवधिज्ञान स यथानामक कश्चित्पुरुष एक महज्ज्योति स्थान कृत्वा तस्यैव ज्योति स्थानस्य परिपर्यन्तेषु परिपर्यन्तेषु परिहिण्डमानः परिहिण्डमान परिघोलयमान परिघोलयमान तदेव ज्योति स्थान पश्यति अन्यत्र गतो न पश्यति, एवमेव अनानुगामिकमवधिज्ञान यत्रैव समुत्पद्यते तत्रैव सङ्ख्येयानि वाऽसङ्ख्येयानि वा योजनानि पश्यति नान्यत्र ॥ २ °वामेव स्त्र० ॥ ३ अनुगामि त्वनुगच्छति गच्छन्त लोचन यथा पुरुषम्। इतरत्तु नानुगच्छति स्थितप्रदीप इव गच्छन्तम् ॥ ४ गामि ओऽणु° ग० ॥ ५ हीयमान पूर्वावस्थातोऽधोऽधो ह्रस्यमान ॥ ६ अथ किं तत् प्रतिपाति? प्रतिपाति यद् जघन्येनाङ्गुलस्यासङ्ख्येयभाग वा सङ्ख्येयभाग वा वालाग्र वा वालाग्रपृथक्त्व वा एव लिक्षां वा यूकां वा यव वा यवपृथक्त्व वा अङ्गुल वा अङ्गुलपृथक्त्व वा, एवमेतेनाभिलापेन वितस्तिं वा हस्त वा कुक्षिं वा धनुर्वा क्रोश वा योजन वा योजनशत वा योजनसहस्र वा सङ्ख्येयानि वा असङ्ख्येयानि वा योजनसहस्राणि, उत्कर्षेण लोक दृष्ट्वा प्रतिपतेत्, एतत्तत् प्रतिपाति ॥

तथा न प्रतिपाति अप्रतिपाति, यत् किलाऽलोकस्य प्रदेशमेकमपि पश्यति तद् अप्रतिपातीति भाव ६ । हीयमानकप्रतिपातिनो क प्रतिविशेष [?] इति चेद् उच्यते—हीयमानक पूर्वावस्थातोऽधोऽधो ह्रासमुपगच्छदभिधीयते, यत् पुनः प्रदीप इव निर्मूलमेककालमपगच्छति तत् प्रतिपातीति । यद्वाऽनन्तद्रव्यभावविषयत्वात् तत्तारतम्यविवक्षयाऽनन्तभेदम्, असङ्ख्येयक्षेत्रकालविषयत्वात्तु तत्तारतम्यविवक्षयाऽसङ्ख्येयभेदमवधिज्ञानम् । यद्वा चतुर्विधमवधिज्ञान द्रव्यक्षेत्रकालभावात् । तथा चाह—

[1]त समासओ चउव्विह पन्नत्त, त जहा—दव्वओ खेत्तओ कालओ भावओ । दव्वओ ण ओहिनाणी जहन्नेण अणताइ रूविदव्वाइ जाणइ पासइ, उक्कोसेण सव्वरूविदव्वाइ जाणइ पासइ । खित्तओ ण ओहिनाणी जहन्नेण अगुलस्स असंखेज्जइभाग, उक्कोसेण असंखेज्जाइ अलोए लोयप्पमाणमित्ताइ खडाइ जाणइ पासइ । कालओ ण ओहिनाणी जहन्नेण आवलियाए असंखिज्जइभाग, उक्कोसेण असंखिज्जाओ उस्सप्पिणीओसप्पिणीओ तीय च अणागय च कालं जाणइ पासइ । भावओ ण ओहिनाणी जहन्नेण वि अणते भावे जाणइ पासइ, उक्कोसेण वि अणते भावे जाणइ पासइ सव्वभावाण अणतभाग । (नन्दी पत्र ९७–१) इति ।

उक्तमवधिज्ञानम् । इदानीं मन पर्यवज्ञान व्याख्यानयन्नाह—"रिउमइविउलमई मणनाण"ति । 'मनोज्ञान' मन पर्यायज्ञानमित्यर्थ , ऋजुमतिविपुलमतिभेदाद्द्विविधम् । तत्र ऋज्वी—सामान्यग्राहिणी मति ऋजुमति , घटोऽनेन चिन्तित इत्यध्यवसायनिबन्धना मनोद्रव्यपरिच्छित्तिरित्यर्थ । यदाह—[2]

रिउं सामन्न तम्मत्तगाहिणी रिउमई मणोनाण ।
पाय विसेसविमुहं, घडमित्त चिंतिय मुणइ ॥ (विशे० गा० ७८४)

तथा विपुला—विशेषग्राहिणी मतिर्विपुलमति , घटोऽनेन चिन्तित स च सौवर्ण पाटलिपुत्रकोऽद्यतनो महानित्याद्यध्यवसायहेतुभूता मनोद्रव्यविज्ञप्तिरिति भावार्थ , अस्या व्युत्पत्तौ स्वतन्त्र ज्ञानमेव गृह्यत इति । अथवा ऋज्वी—सामान्यग्राहिणी मतिरस्यासौ ऋजुमति । विपुला—विशेषग्राहिणी मतिरस्य स विपुलमति , अस्या व्युत्पत्तौ तद्वान् गृह्यते । यद्वा मन पर्यायज्ञान चतुर्विधम्—द्रव्यक्षेत्रकालभावभेदात् । उक्त च—

[3]त समासओ चउव्विह पन्नत्त, त जहा—दव्वओ खित्तओ कालओ भावओ । दव्वओ ण

---

१ तत् समासतश्चतुर्विध प्रज्ञप्तम्, तद्यथा—द्रव्यत क्षेत्रत कालतो भावत । द्रव्यतोऽवधिज्ञानी जघन्येनानन्तानि रूपिद्रव्याणि जानाति पश्यति, उत्कर्षेण सर्वरूपिद्रव्याणि जानाति पश्यति । क्षेत्रतोऽवधिज्ञानी जघन्येनाङ्गुलस्यासङ्ख्येयभागम्, उत्कर्षेणाऽसङ्ख्येयानि अलोके लोकप्रमाणमात्राणि खण्डानि जानाति पश्यति । कालतोऽवधिज्ञानी जघन्येनाऽऽवलिकाया असङ्ख्येयभागम्, उत्कर्षेणाऽसङ्ख्येया उत्सर्पिण्यवसर्पिणी अतीत चानागत च काल जानाति पश्यति । भावतोऽवधिज्ञानी जघन्येनाप्यनन्तान् भावान् जानाति पश्यति, उत्कर्षेणापि अनन्तान् भावान् जानाति पश्यति सर्वभावानामनन्तभागम् ॥ २ ऋजु सामान्य तन्मात्रग्राहिणी ऋजुमतिर्मनोज्ञानम् । प्रायो विशेषविमुख, घटमात्र चिन्तित जानाति ॥ ३ तत् समासतश्चतुर्विध प्रज्ञप्तम्, तद्यथा—द्रव्यत क्षेत्रतः कालतो भावत । द्रव्यत ऋजुमतिरनन्तानन्तप्रदेशिकान् स्कन्धान् जानाति पश्यति । तानेव विपुलमतिरभ्यधिकतरान् विमलतरान् जानाति पश्यति ॥

उजुमई अणते अणतपएसिए सधे जाणइ पासइ । ते चेव विउलमई अब्भहियतराए विमलतराए जाणइ पासइ (नन्दी पत्र १०७–२) त्ति ।

क्षेत्रत पुनर्ऋजुमतिरधो यावदधोलौकिकग्रामान् जानाति । यदाहुश्चतुर्दशप्रकरणशतप्रासादसूत्रधारकल्पप्रभुश्रीहरिभद्रसूरिपादा नन्दिवृत्तौ—

ईहाधोलौकिकान् ग्रामान्, तिर्यग्लोकविवर्तिन ।
मनोगतास्त्वसौ भावान्, वेत्ति तद्वर्तिनामपि ॥ (पत्र ४७)

ऊर्ध्वं यावद् ज्योतिश्चक्रस्योपरितलम् ।

तिरिय जाव अतो मणुस्सखित्ते अड्ढाइज्जेसु दीवेसु दोसु य समुद्देसु पन्नरससु कम्मभूमीसु तीसाए अकम्मभूमीसु छप्पन्नाए अतरदीवेसु सन्नीण पर्चिदियाण पज्जत्तगाण मणोगए भावे जाणइ पासइ । त चेव विउलमई अड्ढाइज्जेहिं अगुलेहिं अब्भहियतरय विसुद्धतरय खेत्त जाणइ पासइ । (नन्दी पत्र १०८–१) ।

इह व्याख्या—'अन्त ' मध्ये मनुष्यक्षेत्रस्य 'अर्धतृतीयद्वीपेषु' जम्बूद्वीपधातकीखण्डपुष्करवरद्वीपार्धेषु 'द्वयो समुद्रयो ' लवणसमुद्रकालोदसमुद्रयो 'पञ्चदशसु कर्मभूमिषु' भरतपञ्चकैरवतपञ्चकमहाविदेहपञ्चकलक्षणासु 'त्रिंशत्यकर्मभूमिषु' हैमवतपञ्चकहरिवर्षपञ्चकदेवकुरुपञ्चकोत्तरकुरुपञ्चकरम्यकपञ्चकहैरण्यवतपञ्चकरूपासु । तथा लवणसमुद्रस्यान्तर्मध्ये भवा द्वीपा आन्तरद्वीपास्ते च षट्पञ्चाशत्सङ्ख्या । तथाहि—इह जम्बूद्वीपे भरतस्य हैमवतस्य च क्षेत्रस्य सीमाकारी भूमिनिमग्नपञ्चविंशतियोजनो योजनशतोच्छ्रयपरिमाणो भरतक्षेत्रापेक्षया द्विगुणविष्कम्भो हेममयश्चीनपट्टवर्णो नानावर्णविशिष्टद्युतिमणिनिकरपरिमण्डितोभयपार्श्व सर्वत्र तुल्यविस्तारो गगनमण्डलोल्लेखिरत्नमयैकादशकूटोपशोभितो वज्रमयतलविविधमणिकनकमण्डितभूमिभागदशयोजनावगाढपूर्वपश्चिमयोजनसहस्रायामदक्षिणोत्तरपञ्चयोजनशतविस्तारपद्मह्रदशोभितशिरोमध्यविभाग सर्वत कल्पपादपश्रेणिरमणीय पूर्वापरपर्यन्ताभ्या लवणोदार्णवजलसस्पर्शी हिमवन्नाम पर्वत, तस्य लवणोदार्णवजलसंस्पर्शादारभ्य पूर्वस्या पश्चिमाया च दिशि प्रत्येक द्वे द्वे गजदन्ताकारे दंष्ट्रे विनिर्गते, तत्रैशान्या दिशि या विनिर्गता दंष्ट्रा तस्या हिमवत पर्यन्तादारभ्य त्रीणि योजनशतानि लवणसमुद्रमवगाह्यात्रान्तरे योजनशतत्रयायामविष्कम्भ किञ्चिन्न्यूनैकोनपञ्चाशदधिकनवयोजनशतपरिरय एकोरुकनामा द्वीपो वर्तते, अय च पञ्चधनु शतप्रमाणविष्कम्भया द्विगव्यूतोच्छ्रितया पद्मवरवेदिकया सर्वत परिमण्डित, साऽपि च पद्मवरवेदिका सर्वतो वनखण्डपरिक्षिप्ता, तस्य च वनखण्डस्य चक्रवालतया विष्कम्भो देशोने द्वे योजने परिक्षेप पद्मवरवेदिकाप्रमाण । तथा तस्यैव हिमवत पर्वतस्य पर्यन्तादारभ्य दक्षिणपूर्वस्या दिशि त्रीणि योजनशतानि लवणसमुद्रमवगाह्य द्वितीयदंष्ट्राया उपरि एकोरुकद्वीपप्रमाण आभासिकनामा द्वीपो वर्तते । तथा तस्यैव हिमवत पश्चिमाया दिशि पर्यन्तादारभ्य दक्षिणपश्चिमाया त्रीणि योजनशतानि लवणसमुद्रमवगाह्य दंष्ट्राया उपरि यथोक्तप्रमाणो वैषाणिकनामा द्वीप । तथा तस्यैव हिमवत पश्चिमायां दिशि पर्यन्तादारभ्य पश्चिमोत्तरस्यां दिशि

१ एतद् वृत्त नन्दिचूर्णावप्यस्ति ॥

त्रीणि योजनशतानि लवणसमुद्रमवगाह्य दंष्ट्राया उपरि पूर्वोक्तप्रमाणो नाङ्गोलिकनामा द्वीप'। एवमेते चत्वारो द्वीपा हिमवतश्चतसृष्वपि विदिक्षु तुल्यप्रमाणा अवतिष्ठन्ते। तत एषामेकोरुकादीनां चतुर्णां द्वीपाना परतो यथाक्रम पूर्वोत्तरादिविदिक्षु प्रत्येक चत्वारि चत्वारि योजनशतान्यतिक्रम्य चतुर्योजनशतायामविष्कम्भा. किञ्चिन्न्यूनपञ्चषष्टिसहितद्वादशयोजनशतपरिक्षेपा यथोक्तपद्मवरवेदिकावनखण्डमण्डितपरिसरा जम्बूद्वीपवेदिकातश्चतुर्योजनशतप्रमाणान्तरा हयकर्णगजकर्णगोकर्णशष्कुलीकर्णनामानश्चत्वारो द्वीपा । तद्यथा—एकोरुकस्य परतो हयकर्ण, आभासिकस्य परतो गजकर्ण, वैषाणिकस्य परतो गोकर्ण', नाङ्गोलिकस्य परतः शष्कुलीकर्ण, एवमग्रेऽपि भावना कार्या। तत एतेषामपि हयकर्णादीना चतुर्णामपि द्वीपानां परत' पुनरपि यथाक्रम पूर्वोत्तरादिविदिक्षु प्रत्येक पञ्च पञ्च योजनशतान्यतिक्रम्य पञ्चयोजनशतायामविष्कम्भा एकाशीत्यधिकपञ्चदशयोजनशतपरिक्षेपा पूर्वोक्तप्रमाणपद्मवरवेदिकावनखण्डमण्डितबाह्यप्रदेशा जम्बूद्वीपवेदिकात पञ्चयोजनशतप्रमाणान्तरा आदर्शमुखमेण्ढ्रमुखाऽयोमुखगोमुखनामानश्चत्वारो द्वीपा । एतेषामप्यादर्शमुखादीना चतुर्णां द्वीपाना परतो भूयोऽपि यथाक्रम पूर्वोत्तरादिविदिक्षु प्रत्येक षट् षट् योजनशतान्यतिक्रम्य षड्योजनशतायामविष्कम्भा सप्तनवत्यधिकाष्टादशयोजनशतपरिक्षेपा यथोक्तप्रमाणपद्मवरवेदिकावनखण्डमण्डितपरिसरा जम्बूद्वीपवेदिकात षड्योजनशतप्रमाणान्तरा अश्वमुखहस्तिमुखसिंहमुखव्याघ्रमुखनामानश्चत्वारो द्वीपा । एतेषामप्यश्वमुखादीनां चतुर्णां द्वीपानां परतो यथाक्रम पूर्वोत्तरादिविदिक्षु प्रत्येक सप्त सप्त योजनशतान्यतिक्रम्य सप्तयोजनशतायामविष्कम्भास्त्रयोदशाधिकद्वाविंशतियोजनशतपरिरया पूर्वोक्तप्रमाणपद्मवरवेदिकावनखण्डसमवगूढा जम्बूद्वीपवेदिकात सप्तयोजनशतप्रमाणान्तरा अश्वकर्णहयकर्णाकर्णकर्णप्रावरणनामानश्चत्वारो द्वीपा । तत एतेषामश्वकर्णादीनां चतुर्णां द्वीपाना परतो यथाक्रम पूर्वोत्तरादिविदिक्षु प्रत्येकमष्टावष्टौ योजनशतान्यतिक्रम्याष्टयोजनशतायामविष्कम्भा एकोनत्रिंशदधिकपञ्चविंशतियोजनशतपरिक्षेपा यथोक्तप्रमाणपद्मवरवेदिकावनखण्डमण्डितपरिसरा जम्बूद्वीपवेदिकातोऽष्टयोजनशतप्रमाणान्तरा उल्कामुखमेघमुखविद्युन्मुखविद्युद्दन्ताभिधानाश्चत्वारो द्वीपा । ततोऽमीषामप्युल्कामुखादीना चतुर्णां द्वीपाना परतो यथाक्रम पूर्वोत्तरादिविदिक्षु प्रत्येक नव नव योजनशतान्यतिक्रम्य नवयोजनशतायामविष्कम्भा पञ्चचत्वारिंशदधिकाष्टाविंशतियोजनशतपरिक्षेपा यथोक्तप्रमाणपद्मवरवेदिकावनखण्डमण्डितपरिसरा जम्बूद्वीपवेदिकातो नवयोजनशतप्रमाणान्तरा घनदन्तलष्टदन्तगूढदन्तशुद्धदन्तनामानश्चत्वारो द्वीपा । एवमेते सप्त चतुष्का हिमवति पर्वते चतसृष्वपि विदिक्षु व्यवस्थिता, सर्वसङ्ख्ययाऽष्टाविंशति'। एव हिमवत्तुल्यवर्णप्रमाणे पद्महृदप्रमाणायामविष्कम्भावगाहपुण्डरीकहृदोपशोभिते शिखरिण्यपि लवणोदार्णव जलसंस्पर्शादारभ्य यथोक्तप्रमाणान्तराश्चतसृषु विदिक्षु व्यवस्थिता एकोरुकादिनामानोऽन्यूनाप्रान्तरालायामविष्कम्भा अष्टाविंशतिसङ्ख्या द्वीपा वक्तव्या, सर्वसङ्ख्यया षट्पञ्चाशदन्तरद्वीपा । एतद्गता मनुष्या अप्येतन्नामान उपचारात्, भवति च तात्स्थ्यात् तद्व्यपदेश, यथा पञ्चालदेशनिवासिन पुरुषा पञ्चाला इति। ते च मनुष्या वज्रऋषभनाराचसंहनिन समचतुरस्रसंस्थाना सर्वाङ्गोपाङ्गसुन्दरा. कमण्डलुकलशयूपस्तूपवापीध्वजपताकासौवस्तिकयवमत्स्यमक-

रकूर्मरथवरस्थालाङ्कुशाष्टापदाङ्कुशसुप्रतिष्ठकमयूरश्रीदामाभिषेकतोरणमेदिनीजलधिवरभवनादर्शप-र्वतगजवृषभसिंहचामररूपप्रशस्तोत्तमद्वात्रिंशल्लक्षणधरा स्वभावत एव सुरभिवदना प्रतनुक्रो-धमानमायालोभा सन्तोषिणो निरौत्सुक्या मार्दवार्जवसम्पन्ना सत्यपि मनोहारिणि मणिकन-कमौक्तिकादौ ममत्वकारणे ममत्वाभिनिवेशरहिता सर्वथाऽपगतवैरानुबन्धा हस्त्यश्वकरभगोमहि-षादिसद्भावेऽपि तत्परिभोगपराङ्मुखा पादविहारिणो ज्वरादिरोगयक्षभूतपिशाचादिमहमारित्य-व्रनोपनिपातविकला परस्परप्रेष्यप्रेषकभावरहितत्वादहमिन्द्रा । तेषा पृष्ठकरण्डकानि चतु षष्टि-सङ्ख्याकानि, चतुर्थातिक्रमे चाहारग्रहणम्, आहारोऽपि च न शाल्यादिधान्यनिष्पन्न किन्तु पृथिवीमृत्तिका कल्पद्रुमाणा पुष्पफलानि च । तथाहि—जायन्ते खलु तत्रापि विस्रसात एव शालिगोधूममुद्गमाषादीनि धान्यानि पर न तानि मनुष्याणामुपभोग गच्छन्ति, या तु पृथिवी सा शर्करातोऽप्यनन्तगुणमाधुर्या, यश्च कल्पद्रुमफलानामास्वाद स चक्रवर्तिभोजनादप्यधि-कगुण । यदुक्तम्—

"तेसिं ण भते[1] पुप्फफलाण केरिसए आसाए पन्नत्ते? गोयमा! से जहानामए रण्णो चाउरतचक्कवट्टिस्स कल्लाणे भोयणजाए सयसहस्सनिप्फन्ने वन्नोववेए गधोववेए रसोववेए फासोववेए आसायणिज्जे विस्सायणिज्जे दप्पणिज्जे मयणिज्जे बिंहणिज्जे सव्विंदियगायपल्हाय-णिज्जे आसाएण पन्नत्ते, इत्तो इट्ठतराए चेव पन्नत्ते । (जम्बू० पत्र ११८–१)

तत पृथिवी कल्पपादपपुष्पफलानि च तेषामाहार । तथाभूत चाहारमाहार्य प्रासादादि-संस्थाना ये गृहाकारा कल्पद्रुमास्तेषु यथासुखमवतिष्ठन्ते । न च तत्र क्षेत्रे दशमशकयूकाम-त्कुणमक्षिकादय शरीरोपद्रवकारिणो जन्तव उपजायन्ते । येऽपि जायन्ते भुजगव्याघ्रसिंहाद-यस्तेऽपि मनुष्याणा न बाधायै प्रभवन्ति, नापि ते परस्परं हिंस्यहिंसकभावे वर्तन्ते, क्षेत्रानु-भावतो रौद्रभावरहितत्वात् । मनुष्ययुगलानि च पर्यवसानसमये युगल प्रसुवते, तद् पुनर्यु-गलमेकोनाशीतिदिनानि पालयन्ति । तेषा शरीरोच्छ्रयोऽष्टौ धनु शतानि, पल्योपमासङ्ख्येयभा-गप्रमाणमायु , स्तोककषायतया स्तोकप्रेमानुबन्धतया च ते मृत्वा दिवमुपसर्पन्ति । मरण च तेषां जृम्भिकाकासक्षुतादिमात्रव्यापारपुरस्सर भवति, न शरीरपीडारम्भपुरस्सरमिति ।

अत्र गाथा —

हिमगिरिनिग्गयपुव्वावरदाढा विदिसि संठिया लवणे ।
जोयणतिसए गतु, तिन्नि सए वित्थराऽऽयामा ॥
वेइयवणसडजुया, चउ अतरदीव तेसि नामाइ ।
एगोरुग १ आभासिय २, वेसाणियनाम ३ नगूली ४ ॥

---

१ तेषां भगवन्! पुष्पफलानां कीदृश आस्वाद प्रज्ञप्त ? गौतम! स यथानामक राज्ञश्चातुरन्तचक्रवर्तिन कल्याण भोजनजात शतसहस्रनिष्पन्न वर्णोपपेत गन्धोपपेत रसोपपेत स्पर्शोपपेत आस्वादनीय विस्वादनीय दर्पणीय मदनीय बृंहणीय सर्वेन्द्रियगात्रप्रह्लादनीयमास्वादेन प्रज्ञप्तम्, इत इष्टतरश्चैव प्रज्ञप्त ॥ २ हिमगि रिनिर्गतपूर्वापरदाढा विदिक्षु संस्थिता लवणे । योजनत्रिशत गत्वा त्रीणि शतानि विस्तराऽऽयामा ॥ वेदिका वनखण्डयुताश्चत्वार अन्तरद्वीपास्तेषां नामानि । एकोरुक १ आभासिक २ वैषाणिकनामा ३ नाङ्गोलि ४ ॥

एसिं परओ चउपणछसत्तअडनवयजोयणसएसु ।
हयकन्ना ५ गयकन्ना ६, गोकन्ना ७ सक्कुलीकन्ना ८ ॥
आयसग ९ मिंढमुहा १०, अओमुहा ११ गोमुहा १२ चउर दीवा ।
अस्समुहा १३ हत्थिमुहा १४, सिंहमुहा १५ तह य वग्घमुहा १६ ॥
तत्तो य अस्सकन्ना १७, हत्थि १८ अकन्ना य १९ कन्नपावरणा २० ।
उक्कामुह २१ मेहमुहा २२, विज्जुमुहा २३ विज्जुदंता य २४ ॥
घणदंत २५ लट्ठदंता २६, निगूढदंता य २७ सुद्धदंता य २८ ।
इय सिहरिम्मि वि सेले, अट्ठावीसंतरदीवा ॥

उभयेऽपि मिलिता षट्पञ्चाशत्सङ्ख्या ।

एएसु जुगलधम्मी, धणुसय अट्ठूसिया परमरूवा ।
पल्लअसंखिज्जाऊ, गुणसीदिणऽवच्चपालणया ॥
चउसट्ठीपिट्ठिकरंडमंडियगा चउत्थभोई य ।
कप्पतरुपूरियासा, सुरगइगामी तणुकसाया ॥ शेषं सूत्रं स्पष्टम् ॥

कालओ णं उज्जुमई जहन्नेणं पलिओवमस्स असंखिज्जइभागं, उक्कोसेण वि पलिओवमस्स असंखिज्जइभागं तीयं अणागयं च कालं जाणइ पासइ । तं चेव विउलमई अब्भहियतरागं जाणइ पासइ । (नन्दी पत्र १०८–२)

जीतकल्पभाष्येऽप्युक्तम्—

कालओ उज्जुमई उ, जहन्नउक्कोसए वि पलियस्स ।
भागमसंखिज्जइमं, अतीय एस्से व कालदुगे ॥
जाणइ पासइ ते ऊ, मणिज्जमाणे उ सन्निजीवाण ।
ते चेव य विउलमई, वितिमिरसुद्धे उ जाणेइ ॥ (गा० ८२–८३)

भावतस्तु तत्पर्यायाश्चिन्तनानुगुणपरिणतिरूपा ऋजुमतेर्विषय इति । चिन्तनीयं तु मूर्तम-

---

१ एषां परतश्चतुःपञ्चषट्सप्ताष्टनवकयोजनशतेषु । हयकर्ण ५ गजकर्ण ६ गोकर्ण ७ शष्कुलीकर्ण ८ ॥ आदर्शमुख ९ मेण्ढमुखौ १० अयोमुख ११ गोमुख १२ चत्वारो द्वीपाः । अश्वमुख १३ हस्तिमुख १४ सिंहमुख १५ तथा च व्याघ्रमुख १६ ॥ ततश्चाश्वकर्ण १७ हस्तिकर्णौ १८ ऽकर्णौ च १९ कर्णप्रावरण २० । उल्कामुख २१ मेघमुख २२ विद्युन्मुख २३ विद्युद्दन्तश्च २४ ॥ घनदन्त २५ लष्टदन्त २६ निगूढदन्तश्च २७ शुद्धदन्तश्च २८ । इति शिखरिण्यपि शैलेऽष्टाविंशतिरन्तरद्वीपाः ॥

२ एतेषु युगलधर्माणो धनुःशतान्यष्टोच्छ्रिताः परमरूपाः । पल्यासङ्ख्येयायुष एकोनाशीतिदिनापत्यपालनकाः ॥ चतुःषष्टिपृष्ठकरण्डकमण्डिताश्चतुर्थभोजिनश्च । कल्पतरुपूरिताशाः सुरगतिगामिनस्तनुकषायाः ॥ ३ कालत ऋजुमतिर्जघन्येन पल्योपमस्यासङ्ख्येयभागम्, उत्कर्षेणापि पल्योपमस्यासङ्ख्येयभागमतीतमनागतं च कालं जानाति पश्यति । तदेव विपुलमतिरभ्यधिकतरकं जानाति पश्यति ॥ ४ कालत ऋजुमतिस्तु जघन्यत उत्कर्षतोऽपि पल्यस्य । भागमसङ्ख्येयमतीते एष्यति वा कालद्विके ॥ जानाति पश्यति तांस्तु मन्यमानांस्तु संज्ञिजीवानाम् । तानेव च विपुलमतिर्वितिमिरशुद्धांस्तु जानाति ॥ ५ एसे य क० ख० ग० घ० ङ० ॥

मूर्तं वा त्रिकालगोचरमपि बाह्यमर्थमनुमानादेवेति, "जाणइ बज्झेऽणुमाणाओ" (विशे० गा० ८१४) इति वचनात् । यत एतत्परिणतान्येतानि मनोद्रव्याणि इत्येतदन्यथानुपपत्तेरमुकोऽर्थोऽनेन चिन्तित इति लेखाक्षरदर्शनात् तदुक्तार्थमिव प्रत्यक्ष मनोद्रव्यदर्शनाच्चिन्त्यमर्थमनुमिमीते । स चैष बाह्याभ्यन्तररूपो द्विविधोऽपि विषय स्फुटतरबहुतरविशेषाध्यासितत्वेन विपुलमतेर्विमलतरोऽवसेय इति । निरूपित मन पर्यायज्ञानम् ॥

अथ केवलज्ञान व्याचिख्यासुराह—"केवलमिगविहाण" ति 'केवलं' केवलज्ञानम् 'एकविधानम्' एकविधम्, प्रथमत एव सर्वद्रव्यक्षेत्रकालभावग्राहकत्वादिति भाव इति ॥ ८ ॥

अभिहित केवलज्ञान तदभिधाने च व्याख्यातानि पञ्चापि ज्ञानानि। इदानीमेतेषामावरणमाह—

एसि ज आवरण, पडु व्व चक्खुस्स त तयावरणं ।
दसणचउ पणनिद्दा, वित्तिसम दसणावरण ॥ ९ ॥

'एषा' मतिज्ञानादीना पञ्चानां ज्ञानाना यद् 'आवरणम्' आच्छादकम्, 'पट इव' सूत्रादिनिष्पन्नशाटक इव 'चक्षुष' लोचनस्य, तत् तेषा—मतिज्ञानादीनामावरण तदावरणमुच्यते । इदमत्र हृदयम्—यथा घनघनतरघनतमेन पटेनावृत सत् निर्मलमपि चक्षुर्मन्दमन्दतरमन्दतमदर्शनं भवति, तथा ज्ञानावरणेन कर्मणा घनघनतरघनतमेनावृतोऽय जीव शारदशशधरकरनिकरनिर्मलतरोऽपि मन्दमन्दतरमन्दतमज्ञानो भवति, तेन पटोपम ज्ञानावरण कर्मोच्यते । तत्रावरणस्य सामान्यत एकरूपत्वेऽपि यत् पूर्वोक्तानेकभेदभिन्नस्य मतिज्ञानस्यानेकभेदस्यैवाऽऽवरणस्वभाव कर्म तद् मतिज्ञानावरणमेकग्रहणेन गृह्यते चक्षुष पटलमिव १ । तथा पूर्वाभिहितभेदसन्दोहस्य श्रुतज्ञानस्य यद् आवरणस्वभाव कर्म तत् श्रुतज्ञानावरणम् २ । तथा प्राक्प्रपञ्चितभेदकदम्बकस्यावधिज्ञानस्य यद् आवरणस्वभाव कर्म तद् अवधिज्ञानावरणम् ३ । तथा प्राग्निर्णीतभेदद्वयस्य मन पर्यायज्ञानस्य यद् आवरणस्वभाव कर्म तद् मन पर्यायज्ञानावरणम् ४ । तथा पूर्वप्ररूपितस्वरूपस्य केवलज्ञानस्य यद् आवरणस्वभाव कर्म तत् केवलज्ञानावरणम् ५ ।

उक्त च बृहत्कर्मविपाके—

सरउग्गयससिनिम्मलतरस्स जीवस्स छायण जमिह ।
नाणावरण कम्म, पडोवम होइ एव तु ॥
जह निम्मला वि चक्खू, पडेण केणावि छाइया संती ।
मद मदतराग, पिच्छइ सा निम्मला जइ वि ॥
तह मइसुयनाणावरण अवहिमणकेवलाण आवरण ।
जीव निम्मलरूव, आवरइ इमेहिँ भेएहिँ ॥ (गा० १०–१२)

तदेवमेतानि पञ्चावरणान्युत्तरप्रकृतय', तन्निष्पन्न तु सामान्येन ज्ञानावरण मूलप्रकृति ।

---

१ जानाति बाह्यानुमानात् ॥ २ शरदुद्गतशशिनिर्मलतरस्य जीवस्य च्छादन यदिह । ज्ञानावरण कर्म पटोपम भवति एव तु ॥ यथा निर्मलमपि चक्षु पटेन केनापि च्छादित सत् । मन्द मन्दतरक प्रेक्षते तद् निर्मल यद्यपि ॥ तथा मतिश्रुतज्ञानावरणमवधिमन केवलानामावरणम् । जीव निर्मलरूपमावृणोत्येभि भेदै ॥ ३ "तह मइसुयनाणाण ओहीमणकेवलाण आवरण ।" इति बृहत्कर्मविपाके ॥

यथाऽङ्गुलीपञ्चकनिष्पन्नो मुष्टिः, मूलत्वक्पत्रशाखादिसमुदयनिष्पन्नो वा वृक्षः, घृतगुडकणिकादिनिष्पन्नो वा मोदक इति । एवमुत्तरत्रापि भावनीयम् । व्याख्यातं पञ्चविधं ज्ञानावरणं कर्म ॥

इदानीं नवविधं दर्शनावरणं कर्म व्याख्यानयन्नाह—"दसणचउ पणनिद्दा वित्तिसमं दसणावरण" ति । इह भीमो भीमसेन इति न्यायात् पदैकदेशे पदसमुदायोपचाराद्वा "दसणचउ" इति शब्देन दर्शनावरणचतुष्कं गृह्यते । तत्र दृष्टिर्दर्शनम्, दृश्यते–परिच्छिद्यते सामान्यरूपं वस्त्वनेनेति वा दर्शनम्, तस्यावरणानि–आच्छादनानि दर्शनावरणानि तेषां चतुष्कं दर्शनावरणचतुष्कम् । तथा "पणनिद्द" त्ति द्राक् कुत्सितगतौ, नितरां द्राति–कुत्सितत्वमविस्पष्टत्वं गच्छति चैतन्यं यासु ता निद्रा, "भिदादयः" (सि० ५-३-१०८) इति अङ्प्रत्ययः, 'पञ्च' इति पञ्चसङ्ख्या –निद्रा१निद्रानिद्रा२प्रचला३प्रचलाप्रचला४स्त्यानर्द्धि५रूपा निद्रा पञ्चनिद्रा निद्रापञ्चकम् । ततो दर्शनावरणचतुष्कं निद्रापञ्चकमिति नवधा दर्शनावरणं भवति । किंविशिष्टम्? इत्याह—"वित्तिसम" त्ति वेत्रिणा–प्रतीहारेण समं–तुल्यं वेत्रिसमम् । यथा राजानं द्रष्टुकामस्याप्यनभिप्रेतस्य लोकस्य वेत्रिणा स्खलितस्य राज्ञो दर्शनं नोपजायते, तथा दर्शनस्वभावस्याप्यात्मनो येनाऽऽवृतस्य स्तम्भकुम्भाम्भोरुहादिपदार्थसार्थस्य न दर्शनमुपजायते तद् वेत्रिसमं दर्शनावरणम् । उक्तं च—

> दंसणसीले जीवे, दंसणघायं करेइ जं कम्मं ।
> तं पडिहारसमाणं, दंसणवरणं भवे कम्मं ॥
> जह रन्नो पडिहारो, अणभिप्पेयस्स सो उ लोगस्स ।
> रन्नो तहि दरिसावं, न देइ दट्ठुं पि कामस्स ॥
> जह राया तह जीवो, पडिहारसमं तु दंसणावरणं ।
> तेणिह विबंधएणं, न पेच्छए सो घडाईयं ॥
> (बृहत्कर्मवि० गा० १९–२१)　　　　॥ ९ ॥

अथ दर्शनावरणचतुष्कं व्याचिख्यासुराह—

चक्खूदिट्ठिअचक्खूसेसिंदियओहिकेवलेहिं च ।
दंसणमिह सामन्नं, तस्सावरणं तयं चउहा ॥ १० ॥

इह चक्षुःशब्देन दृष्टिर्गृह्यते, अचक्षुःशब्देन "सेसिंदिय" त्ति चक्षुर्वर्जशेषेन्द्रियाणि गृह्यन्ते, ततश्चक्षुश्च अचक्षुश्च अवधिश्च केवलं च चक्षुरचक्षुरवधिकेवलानि तैः चक्षुरचक्षुरवधिकेवलैः । चशब्दः "अचक्खूसेसेंदिय" इत्यत्र मनसः संसूचकः । दर्शनम् 'इह' प्रवचने 'सामान्यं' सामान्योपयोग उच्यते, यदुक्तम्—

> जं सामन्नग्गहणं, भावाणं नेव कट्टु आगारं ।
> अविसेसिऊण अत्थे, दंसणमिय वुच्चए समए ॥ (बृ० द्रव्यसं० गा० ४३)

---

१ दर्शनशीले जीवे दर्शनघातं करोति यत् कर्म । तत् प्रतिहारसमानं दर्शनावरणं भवेत्कर्म ॥ यथा राज्ञः प्रतिहारोऽनभिप्रेतस्य स तु लोकस्य । राज्ञस्तत्र दर्शनं न ददाति द्रष्टुमपि कामस्य ॥ यथा राजा तथा जीवः प्रतिहारसमं तु दर्शनावरणम् । तेनेह विबन्धकेन न प्रेक्षते स घटादिकम् ॥　२ यत् सामान्यग्रहणं भावानां नैव कृत्वाऽऽकारम् । अविशेषयित्वाऽर्थान् दर्शनमित्युच्यते समये ॥

'तस्यावरण' दर्शनावरणम्, तत् चतुर्धा भवति—चक्षुर्दर्शनावरणम् १ अचक्षुर्दर्शनावरणम् २ अवधिदर्शनावरणम् ३ केवलदर्शनावरणम् ४ इति गाथाक्षरार्थः । भावार्थस्त्वयम्—इह चक्षुर्दर्शनं नाम यत् चक्षुषा रूपसामान्यग्रहणं तस्यावरणं चक्षुर्दर्शनावरणं चक्षुःसामान्योपयोगावरणमिति यावत् १ । अचक्षुषा चक्षुर्वर्जशेषेन्द्रियचतुष्टयेन मनसा च यद् दर्शनं स्वस्वविषयसामान्यपरिच्छेदोऽचक्षुर्दर्शनं तस्यावरणमचक्षुर्दर्शनावरणम् २ । अवधिना रूपिद्रव्यमर्यादया दर्शनं सामान्यार्थग्रहणमवधिदर्शनं तस्यावरणमवधिदर्शनावरणम् ३ । केवलेन सम्पूर्णवस्तुतत्त्वग्राहकबोधविशेषरूपेण यद् दर्शनं वस्तुसामान्यांशग्रहणं तत् केवलदर्शनं तस्यावरणं केवलदर्शनावरणम् ४ ।

अत्राह—ननु यथाऽवधिदर्शनावरणं कर्मोच्यते तथा मनःपर्यायज्ञानस्यापि दर्शनावरणं कर्म किमिति नोच्यते [1], उच्यते—मनःपर्यायज्ञानं तथाविधक्षयोपशमपाटवात् सर्वदा विशेषानेव गृह्णदुत्पद्यते, न सामान्यम्, अतस्तद्दर्शनाभावात्तदावरणं कर्मापि न भवति । अत्र च चक्षुर्दर्शनावरणोदये एकद्वित्रीन्द्रियाणां मूलत एव चक्षुर्न भवति, चतुःपञ्चेन्द्रियाणां तु भूतमपि चक्षुस्तथाविधे तदुदये विनश्यति तिमिरादिना वाऽस्पष्टं भवति । चक्षुर्वर्जशेषेन्द्रियमनसां पुनर्यथासम्भवममवनमस्पष्टभवनं वाऽचक्षुर्दर्शनावरणोदयादिति ॥ १० ॥

अभिहितं दर्शनावरणचतुष्कम्, सम्प्रति निद्रापञ्चकमभिधित्सुराह—

सुहपडिबोहा निद्दा १, निद्दानिद्दा २ य दुक्खपडिबोहा ।
पयला ३ ठिओवविट्ठस्स पयलपयला ४ उ चंकमओ ॥ ११ ॥

सुखेन—अकृच्छ्रेण नखच्छोटिकामात्रेणापि प्रतिबोधः—जागरणं स्वप्तुर्यस्यां स्वापावस्थायां सा सुखप्रतिबोधा निद्रा, तद्विपाकवेद्या कर्मप्रकृतिरपि कारणे कार्योपचारात् निद्रेत्युच्यते १ । निद्रातोऽतिशायिनी निद्रा निद्रानिद्रा, मयूरव्यंसकादित्वान्मध्यपदलोपी समासः, 'च' समुच्चये, दुःखेन—कष्टेन बहुभिर्घोलनाप्रकारैरत्यर्थमस्फुटतरीभूतचैतन्यत्वेन स्वप्तुः प्रतिबोधो यस्यां सा दुःखप्रतिबोधा, अत एव सुखप्रतिबोधनिद्रापेक्षयाऽस्या अतिशायिनीत्वम्, तद्विपाकवेद्या कर्मप्रकृतिरपि निद्रानिद्रा २ । प्रचलति—विघूर्णते यस्यां स्वापावस्थायां प्राणी सा प्रचला, सा च स्थितस्योर्ध्वस्थानेन उपविष्टस्य—आसीनस्य भवति, तद्विपाकवेद्या कर्मप्रकृतिरपि प्रचला ३ । प्रचलातोऽतिशायिनी प्रचला प्रचलाप्रचला, इयं 'तु' पुनरर्थे 'चङ्क्रमतः' चङ्क्रमणमपि कुर्वतो जन्तोरुपतिष्ठते, अतः स्थानस्थितस्वप्तृभवप्रचलामपेक्ष्याऽतिशायिनीत्वमस्याः, तद्विपाकवेद्या कर्मप्रकृतिरपि प्रचलाप्रचला ४ । सूत्रे च "पयलपयला" इति ह्रस्वत्वं "दीर्घह्रस्वौ मिथो वृत्तौ" (सि० ८–१–४) इति सूत्रेण । इति ॥ ११ ॥

दिणचिंतियत्थकरणी, थीणद्धी ५ अद्धचक्किअद्धबला ।
महुलित्तखग्गधारालिहणं व दुहा उ वेयणियं ॥ १२ ॥

स्त्याना—बहुत्वेन सङ्घातमापन्ना गृद्धिः—अभिकाङ्क्षा जाग्रदवस्थाध्यवसितार्थसाधनविषया स्वापावस्थायां सा स्त्यानगृद्धिः । "गौणादयः" (सि० ८–२–१७४) इति प्राकृतसूत्रेण

1 °नमचक्षुर्द° क० ख० ग० घ० ङ० ॥ 2 °स्यापि म° ग० ॥

"थीणद्धी" इति निपात्यते । अस्यां हि जाग्रदवस्थाध्यवसितमर्थमुत्थाय साधयति । श्रूयते ह्येतदागमे कथानकम्—

क्वचित् प्रदेशे कोऽपि क्षुल्लको द्विरदेन दिवा खलीकृतः स्त्यानर्द्ध्युदये वर्तमानस्तस्मिन्नेव द्विरदे बद्धाभिनिवेशो रजन्यामुत्थाय तद्दन्तयुगलमुत्पाट्य स्वोपाश्रयद्वारे क्षिप्त्वा पुनः सुप्तवान् इत्यादि ।

इमां च व्युत्पत्तिमाश्रित्याह—"दिणचिंतियत्थकरणी थीणद्धी" इति दिने—दिवसे चिन्तितमुपलक्षणत्वान्निशायामपि चिन्तितम्—अध्यवसितमर्थं करोति—साधयति निद्रानिद्रावतोऽभेदोपचाराद्दिनचिन्तितार्थकरणी, "रम्यादिभ्यः" (सि०५-३-१२६) कर्तर्यनट्प्रत्ययः । यद्वा स्त्याना—पिण्डीभूता ऋद्धिः—आत्मशक्तिरस्यामिति स्त्यानर्द्धिः, एतत्सद्भावे हि प्रथमसंहननस्य केशवार्धबलसदृशी शक्तिः । एनां च व्युत्पत्तिमाश्रित्याह—"अद्धचक्किअद्धबल" त्ति अर्धचक्रिणः—वासुदेवस्य बलापेक्षया अर्धं बलं—स्थाम यस्याः उदये जन्तोर्भवति साऽर्धचक्र्यर्धबला, तद्विपाकवेद्या कर्मप्रकृतिरपि थीणद्धीति ५ । अत्र चक्षुर्दर्शनावरणादिचतुष्कं मूलत एव दर्शनलब्धिमुपहन्ति, निद्रापञ्चकं तु प्राप्ताया दर्शनलब्धेरुपघातकृत् । आह च गन्धहस्ती—

निद्रादयः समधिगताया एव दर्शनलब्धेरुपघाते वर्तन्ते, दर्शनावरणचतुष्टयं तूद्गमोच्छेदित्वात् समूलघातं हन्ति दर्शनलब्धिमिति (तत्त्वार्थ अ० ८ सू० ८ सिद्ध० टीका) ।

अभिहितं द्वितीयं नवविधं दर्शनावरणम् । साम्प्रतं तृतीयं कर्म वेद्यं वेदनीयापरपर्यायं व्याचिख्यासुराह—"महुलित्त" इत्यादि । मधुना—मधुररसेन लिप्ता—खरण्टिता खड्गस्य—करवालस्य धारा—तीक्ष्णाग्ररूपा तस्या जिह्वया लेहनमिव—आस्वादनसदृशं 'द्विधैव' द्विप्रकारमेव सातासातभेदात्, तुशब्द एवकारार्थः, 'वेदनीयं' वेद्यं कर्म भवति । इह च मधुलेहनसन्निभं सातवेदनीयम्, खड्गधाराच्छेदनसममसातवेदनीयम् । उक्तं च—

महुआसायणसरिसो, सायावेयस्स होइ हु विवागो ।
जं असिणा तहिं छिज्जइ, सो उ विवागो असायस्स ॥
(बृ० कर्मवि० गा० २९) ॥ १२ ॥

अथ गतिचतुष्टये सातासातस्वरूपमाह—

ओसन्नं सुरमणुए, सायमसायं तु तिरियनरएसु ।
मज्जं व मोहणीयं, दुविहं दंसणचरणमोहा ॥ १३ ॥

ओसन्नशब्दो देशीवचनो बाहुल्यवाचकः, यथा—"ओसन्नं देवा सायं वेयणं वेयंति ।" तत्र 'ओसन्नं' बाहुल्येन प्रायेणेत्यर्थः, सुराश्च—देवा मनुजाश्च—मनुष्याः सुरमनुजं समाहारद्वन्द्वः, तस्मिन् सुरमनुजे सुरेषु मनुजेष्वित्यर्थः 'सातं' सातवेदनीयं भवति । ओसन्नग्रहणात् च्यवनकालेऽन्यदाऽपि सुराणामसातोदयोऽप्यस्ति, चारकनिरोधवधबन्धनशीतातपादिभिर्मनुजानामप्यसातमिति । नरकभवाः प्राणिनोऽप्युपचारात् नरकाः, ततस्तिर्यञ्चश्च नरकाश्च तिर्यग्नरकास्तेषु

१ "समानम्" ख० ग० ङ० ॥ २ मध्वास्वादनसदृशः सातवेद्यस्य भवति खलु विपाकः । यदसिना तत्र छिद्यते स तु विपाकोऽसातस्य ॥ ३ हु ख० ग० ॥ ४ बाहुल्येन देवाः सातं वेदनं वेदयन्ति ॥

तिर्यक्षु नरकेष्वित्यर्थः, ओसन्नशब्दस्येहापि सम्बन्धादसातम्, 'तु' पुनरर्थे व्यवहितसम्बन्धश्च, स चैव योज्यते—तिर्यग्नरकेषु पुनरसातं प्रायो भवति । ओसन्नग्रहणात् केषाञ्चित् पट्टहस्तितुरङ्गादीनां तिरश्चां नारकाणामपि जिनजन्मकल्याणकादिषु सातमप्यस्तीति । उक्तं द्विविधं वेदनीयं तृतीयं कर्म ॥

इदानीमष्टाविंशतिविधं मोहनीयं चतुर्थं कर्माभिधित्सुराह—"मज्जं व मोहणीयं" इत्यादि । 'मद्यमिव' मदिरासदृशं मोहयतीति मोहनीयं कर्म । "प्रवचनीयादयः" (सि० ५-१-८) इति कर्तर्यनीयप्रत्ययः । यथा हि मद्यपानमूढः प्राणी सदसद्विवेकविकलो भवति, तथा मोहनीयेनापि कर्मणा मूढो जन्तुः सदसद्विवेकविकलो भवतीति । तच्च 'द्विविधं' द्विभेदम्, कथम्? इत्याह—"दंसणचरणमोह"त्ति दर्शनमोहाच्चरणमोहादित्यर्थः । तत्र दृष्टिर्दर्शनं—यथावस्थितवस्तुपरिच्छेदस्तद् मोहयतीति "कर्मणोऽण्" (सि० ५-१-७२) इत्यण्प्रत्यये दर्शनमोहम् । चरन्ति—परमपदं गच्छन्ति जीवा अनेनेति चरणं चारित्रं तद् मोहयतीति चरणमोहमिति ॥ १३ ॥ अथ दर्शनमोहं व्याख्यानयन्नाह—

दंसणमोहं तिविहं, सम्मं मीसं तहेव मिच्छत्तं ।
सुद्धं अद्धविसुद्धं, अविसुद्धं तं हवइ कमसो ॥ १४ ॥

दर्शनमोहं पूर्वोक्तशब्दार्थं 'त्रिविधं' त्रिप्रकारं भवति । "सम्मं"ति सम्यक्त्वं 'मिश्रं' सम्यग्मिथ्यात्वं तथैव मिथ्यात्वम् । एतदेव स्वरूपत आह—शुद्धमर्धविशुद्धमविशुद्धं तद् भवति 'क्रमशः' क्रमेणेति । अयमत्रार्थः—मिथ्यात्वपुद्गलकदम्बकं मदनकोद्रवन्यायेन शोधितं सद् विकाराजनकत्वेन शुद्धं सम्यक्त्वं भवति, तदेव किञ्चिद्विकारजनकत्वेनार्धविशुद्धं मिश्रम्, तदेव सर्वथाप्यविशुद्धं मिथ्यात्वमिति । उक्तं च—

तद्यथेह प्रदीपस्य, स्वच्छाभ्रपटलैर्गृहम् । न करोत्यावृतिं काञ्चिदेवमेतद्रुचेरपि ॥
एकपुञ्जी द्विपुञ्जी च, त्रिपुञ्जी वा ननु क्रमात् । दर्शन्युभयवांश्चैव, मिथ्यादृष्टिः प्रकीर्तितः ॥

अत्राह—सम्यक्त्वं कथं दर्शनमोहनीयं स्यात्?[1], न हि तद् दर्शनं मोहयति, तस्यैव दर्शनत्वात्, उच्यते—मिथ्यात्वप्रकृतित्वेनातिचारसम्भवाद् औपशमिकादिमोहत्वाच्च दर्शनमोहनीयमिति ॥ १४ ॥ इत्युक्तं सङ्क्षेपतस्त्रिविधं दर्शनमोहम् । सम्प्रत्येतदेव व्याचिख्यासुः प्रथमं सम्यक्त्वस्वरूपमाह—

जियअजियपुण्णपावाऽऽसवसंवरबंधमुक्खनिज्जरणा ।
जेणं सद्दहइ तयं, सम्मं खइगाइबहुभेयं ॥ १५ ॥

जीवश्च अजीवश्च पुण्यं च पापं च आश्रवश्च संवरश्च बन्धश्च मोक्षश्च निर्जरणं च निर्जरा, एतानि नव तत्त्वानि 'येन' कर्मणा 'श्रद्दधाति' प्रत्येति तत् सम्यक्त्वमुच्यते । तत्र नव तत्त्वान्यमूनि—

जीवा१ऽजीवा २ पुन्न३, पावा४ऽऽसव ५ संवरो ६ य निज्जरणा ७ ।

---

१ °नां नार° क० ख० ग० घ० ङ० ॥ २ जीवाजीवौ पुण्यं पापमाश्रवः संवरश्च निर्जरणा । बन्धो मोक्षश्च तथा नव तत्त्वानि भवन्ति इति ज्ञेयानि ॥ १ ॥ एकविधद्विविधत्रिविधाश्चतुर्धा पञ्चविधषड्विधा जीवाः ।

बंधो ८ मुक्खो ९ य तहा, नव तत्ता हुंति इय नेया ॥ १ ॥
एगविहदुविहतिविहा, चउहा पंचविहछव्विहा जीवा ।
चेयण१तसइयरेहिं २, वेय३गई४करण५काएहिं६ ॥ २ ॥
एगिंदिय सुहुमियरा, बितिचउसन्नीअसन्निपंचिंदी ।
अपज्जत्ता पज्जत्ता, चउदसभेया अहव जीवा ॥ ३ ॥
पण थावर सुहुमियरा, परित्तवणसन्नऽसन्निविगलतिग ।
इय सोलस अपजत्ता, पज्जत्ता जीव बत्तीसा ॥ ४ ॥
धम्माऽधम्माऽऽगासा, य दव्वदेसप्पएसओ तिविहा ।
गइट्ठाणऽवगाहगुणा, कालो य अरूविणो दसहा ॥ ५ ॥
खंधा देस पएसा, परमाणू पुग्गला चउह रूवी ।
जीव विणा अचेयण, अकिरिया सव्वगय वोम ॥ ६ ॥
कालो माणुसलोए, जियधम्माऽधम्म लोयपरिमाणा ।
सव्वे दव्व इट्ठा, काल विणा अत्थिकाया ॥ ७ ॥
धम्माऽधम्माऽऽगासा, कालो परिणामिए इह भावे ।
उदयपरिणामिए पुग्गला उ सव्वेसु पुण जीवा ॥ ८ ॥ जीवाजीवतत्त्वे ॥
तिरिनरसुराउ उच्च, साय परघायआयवुज्जोय ।
जिणऊसासनिमाण, पणिंदिवइरुसमचउरंसं ॥ ९ ॥
तसदस चउवन्नाई, सुरमणुदुग पचतणु उवगतिग ।
अगुरुलहु पढमखगई, बायाला पुन्नपगईओ ॥ १० ॥ पुण्यतत्त्वम् ॥
नाणंतराय पण पण, नव बीए नियअसायमिच्छत्त ।
थावरदस नरयतिग, कसायपणवीस तिरियदुग ॥ ११ ॥
चउजाई उवघाय, अपढमसंघयणखगइसंठाणा ।
वन्नाइअसुभचउरो, बासीई पावपगडीओ ॥ १२ ॥ पापतत्त्वम् ॥

चेतनत्रसेतरैर्वेदगतिकरणकायैः ॥ २ ॥ एकेन्द्रियाः सूक्ष्मेतराः द्वित्रिचतुरसंज्ञिसंज्ञिपञ्चेन्द्रियाः । अपर्याप्ताः पर्याप्ताश्चतुर्दशभेदा अथवा जीवाः ॥ ३ ॥ पञ्च स्थावराः सूक्ष्मेतराः प्रत्येकवनसंज्ञ्यसंज्ञिविकलत्रिकम् । इति षोडशापर्याप्ताः पर्याप्ता जीवा द्वात्रिंशत् ॥ ४ ॥ धर्माधर्माकाशाश्च द्रव्यदेशप्रदेशतस्त्रिविधाः । गतिस्थानावकाशगुणाः कालश्चारूपिणो दशधा ॥ ५ ॥ स्कन्धा देशाः प्रदेशाः परमाणवः पुद्गलाश्चतुर्धा रूपिणः । जीवं विनाऽचेतना अक्रियाः सर्वगतं व्योम ॥ ६ ॥ कालो मनुष्यलोके जीवधर्माऽधर्मा लोकपरिमाणाः । सर्वाणि द्रव्याणीष्टानि कालं विनाऽस्तिकायाश्च ॥ ७ ॥ धर्माऽधर्माऽऽकाशाः कालः पारिणामिके इह भावे । उदयपारिणामिके पुद्गलास्तु सर्वेषु पुनर्जीवाः ॥ ८ ॥ तिर्यग्नरसुरायुरुच्चैः (गोत्र) सातं पराघाताऽऽतपोद्योतम् । जिनोच्छ्वासनिर्माणं, पञ्चेन्द्रियवज्रर्षभसमचतुरस्रम् ॥ ९ ॥ त्रसदशकं चत्वारो वर्णादयः सुरमनुष्यद्विकं पञ्च तनवः उपाङ्गत्रिकम् । अगुरुलघु प्रथमखगतिर्द्विचत्वारिंशत्पुण्यप्रकृतयः ॥ १० ॥ ज्ञानान्तराययोः पञ्च पञ्च नव द्वितीये नीचासातमिथ्यात्वम् । स्थावरदशकं नरकत्रिकं कषायपञ्चविंशतिस्तिर्यग्द्विकम् ॥ ११ ॥ चतस्रो जातय उपघातमप्रथमसंहननखगतिसंस्थानानि । वर्णाद्यशुभचतुष्कं द्व्यशीतिः पापप्रकृतयः ॥ १२ ॥

[1]इंदिय कसाय अव्वय, किरिया पण चउर पंच पणवीसा ।
जोगतिग बायाला, आसवभेया इमा किरिया ॥ १३ ॥
काइय १ अहिगरणीया२, पाउसिया ३ पारितावणी किरिया४ ।
पाणइवाया५ऽऽरंभिय६, परिगहिया ७ मायवत्ती य ८ ॥ १४ ॥
मिच्छादंसणवत्ती ९, अप्पच्चक्खाण १० दिट्ठि ११ पुट्ठी य१२ ।
पाडुच्चिय १३ सामंतोवणीय १४ नेसत्थि १५ साहत्थी १६ ॥ १५ ॥
आणवणि १७ वियारणिया १८, अणभोगा १९ अणवकंखपच्चइया २० ।
अन्नापओग २१ समुदाण२२, पिज्ज२३दोसे२४रियावहिया२५ ॥ १६ ॥

आश्रवतत्त्वम् ॥

भावण चरण परीसह, समिई जइधम्म गुत्ति बारस उ ।
पंच दुवीसा पण दस, तिय संवरभेय सगवन्ना ॥ १७ ॥

संवरतत्त्वम् ॥

बारसविह तवो निज्जरा उ अहवा अकामसकामा ।
पयइठिईअणुभागप्पएसभेया चउह बंधो ॥ १८ ॥

निर्जराबन्धतत्त्वे ॥

संतपयपरूवणया१, दव्वपमाणं च २ खित्त ३ फुसणा य ४ ।
कालो ५ अंतर ६ भागा ७, भाव ८ऽप्पबहु ९ नवह मुक्खो ॥ १९ ॥
जिण१अजिण२तित्थ३तित्था४, गिह५अन्न६सलिंग७थी८नर९नपुंसा१० ।
पत्तेय११सयबुद्धा१२, वि बुद्धबोहि१३क१४ऽणिका य१५ ॥ २० ॥

इति मोक्षतत्त्वम् ॥

इत्युक्तं सङ्क्षेपतो नवतत्त्वस्वरूपम्, विस्तरतस्तु श्रीधर्मरत्नटीकातोऽवसेयम् । तदेवं येन कर्मणाऽमूनि नव तत्त्वानि श्रद्धाति तत् सम्यक्त्वम्, किंविशिष्टं? "खइयाइबहुभेयं" ति क्षायिकमादौ येषां ते क्षायिकादय, क्षायिकादयो बहवो भेदाः प्रकारा यस्य तत् क्षायिकादिबहुभेदम् । इहादिशब्दाद्वेदकौपशमिकसास्वादनक्षायोपशमिकग्रहणम् । एतद्व्याख्यानगाथा—

---

१ इन्द्रियाणि कषाया अव्रतानि क्रिया पञ्च चत्वारः पञ्च पञ्चविंशतिः । योगत्रिकं द्वाचत्वारिंशदाश्रवभेदा इमा क्रिया ॥ १३ ॥ कायिक्यधिकरणिकी प्राद्वेषिकी पारितापनिकी क्रिया । प्राणातिपातिक्यारम्भिकी पारिग्रहिकी मायाप्रत्ययिकी च ॥ १४ ॥ मिथ्यादर्शनप्रत्ययिकी अप्रत्याख्यानिकी दृष्टिकी स्पृष्टिकी च । प्रातित्यकी सामन्तोपनिपातिकी नैशस्त्रिकी स्वाहस्तिकी ॥ १५ ॥ आनयनिकी विदारणिकाऽनाभोगिकी अनवकाङ्क्षाप्रत्ययिकी । अन्यप्रायोगिकी समुदानिकी प्रेमिकी द्वैषिकी ऐर्यापथिकी ॥ १६ ॥ भावना चरणानि परीषहाः समितयः यतिधर्मा गुप्तयः द्वादश तु । पञ्च द्वाविंशतिः पञ्च दश त्रिकं संवरभेदाः सप्तपञ्चाशत् ॥ १७ ॥ द्वादशविधं तपो निर्जरा तु अथवा अकामसकामा । प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशभेदाच्चतुर्धा बन्धः ॥ १८ ॥ सत्पदप्ररूपणता द्रव्यप्रमाणं च क्षेत्रं स्पर्शना च । कालोऽन्तरभागौ भावाल्पबहुत्वे नवधा मोक्षः ॥ १९ ॥ जिनाजिनतीर्थातीर्थाः गृहान्यस्वलिङ्गस्त्रीनरनपुंसकाः । प्रत्येकस्वयंबुद्धा अपि बुद्धबोधितैकानेके (सिद्धाः) च ॥ २० ॥

खीणे दसणमोहे, तिविहम्मि वि खाइय भवे सम्म ।
वेयगमिह सव्वोइयचरमिल्लयपुग्गलग्गास ॥ (धर्मस० ८०१)
उवसमसेढिगयस्स उ, होइ हु उवसामिय तु सम्मत्त ।
जो वा अकयतिपुजो, अखवियमिच्छो लहइ सम्म ॥
उवसमसम्मत्ताओ, चयओ मिच्छ अपावमाणस्स ।
सासायणसम्मत्त, तयतरालम्मि छावलिय ॥
मिच्छत्त जमुइन्न, त खीण अणुइय च उवसत ।
मीसीभावपरिणय, वेइज्जत खओवसम ॥
(विशे० आ० गा० ५२९–३१–३२) इति ॥ १५ ॥

उक्त सम्यक्त्वम् । अथ मिश्रमाह—

मीसा न रागदोसो, जिणधम्मे अंतमुहु जहा अन्ने ।
नालियरदीवमणुणो, मिच्छ जिणधम्मविवरीयं ॥ १६ ॥

'मिश्रात्' मिश्रोदयाद् जीवस्य 'जिनधर्मे' जिनधर्मस्योपरि न राग —मतिदौर्बल्यादिना एकान्तनिश्चयात्मकश्रद्धानरूपः प्रीतिविशेष , न च द्वेष —एकान्तविप्रतिपत्तिपरिणामोपजातनिन्दात्मकोऽप्रीतिरूप । मिश्रोदयश्च "अतमुहु" त्ति 'अन्तर्मुहूर्त' भिन्नमुहूर्तकाल यावद् भवतीत्यर्थ । अथ कथ मिश्रोदयाज्जिनधर्मे न रागो न द्वेष ? इत्याशङ्क्य दृष्टान्तमाह—"जहा अन्ने" इत्यादि । 'यथा' इत्युदाहरणोपन्यासे 'अन्ने' कूराद्योदने 'नालिकेरद्वीपमनुजस्य' नालिकेरद्वीपवासिपुरुषस्य न रागो न च द्वेषोऽदृष्टाऽश्रुतत्वेन । उक्त च बृहच्छतकबृहच्चूर्णौ—

जहा नालिकेरदीववासिस्स अइछुहाइयस्स वि पुरुसस्स इत्थ ओयणाइए अणेगविहे वि ढोइए तस्स आहारस्स उवरिं न रुई न य निंदा, जेण कारणेण सो ओयणाइओ आहारो कयाइ दिट्ठो नावि सुओ । एव सम्मामिच्छद्दिट्ठिस्स वि जीवाइपयत्थाण उवरिं न रुई न य निंदा ॥ इत्यादि ।

उक्त मिश्रम् । सम्प्रति मिथ्यात्वमाह—"मिच्छ जिणधम्मविवरीय" ति । "मिच्छ" ति मिथ्यात्व जिनधर्माद् विपरीत–विपर्यस्त ज्ञेयमिति शेष । अत्रायमाशय —रागद्वेषमोहादिकलङ्काङ्कितेऽदेवेऽपि देवबुद्धि,

"धर्मज्ञो धर्मकर्ता च, सदा धर्मपरायण ।
सत्त्वाना धर्मशास्त्रार्थदेशको गुरुरुच्यते ॥"

१ क्षीणे दर्शनमोहे त्रिविधेऽपि क्षायिक भवेत्सम्यक्त्वम् । वेदकमिह सर्वोदितचरमपुद्गलग्रासम् ॥ उपशमश्रेणिगतस्य तु भवति खलु औपशमिक तु सम्यक्त्वम् । यो वाऽकृतत्रिपुञ्जोऽक्षपितमिथ्यात्वो लभते सम्यक्त्वम् ॥ उपशमसम्यक्त्वाच्च्यवमानस्य मिथ्यात्वमप्राप्नुवत । सास्वादनसम्यक्त्व तदन्तराले षडावलिकम् ॥ मिथ्यात्व यदुदीर्णं तत्क्षीणमनुदित चोपशान्तम् । मिश्रीभावपरिणत वेद्यमान क्षायोपशमिकम् ॥ २ उवसमसेढिगयस्स होइ उव° इति भाष्ये ॥ ३ यथा नालिकेरद्वीपवासिनोऽतिक्षुधादितस्यापि पुरुषस्येहौदनादिकेऽनेकविधेऽपि ढौकिते तस्याहारस्योपरि न रुचिर्न च निन्दा, येन कारणेन स ओदनादिक आहारो न कदाचिद् दृष्टो नापि श्रुत । एव सम्यग्मिथ्यादृष्टेरपि जीवादिपदार्थानामुपरि न रुचिर्न च निन्दा ॥

इत्यादिप्रतिपादितगुरुलक्षणविलक्षणेऽगुरावपि गुरुबुद्धिः, संयममूनृतशौचब्रह्मसत्यादि(ब्रह्माकिञ्चन्यादि)स्वरूपधर्मप्रतिपक्षेऽधर्मेऽपि धर्मबुद्धिरिति मिथ्यात्वम् ॥ १६ ॥ उक्तं मिथ्यात्वम्, तद्भणने चाभिहितं त्रिविधमपि दर्शनमोहनीयम् । इदानीं चारित्रमोहनीयमभिधित्सुराह—

सोलस कसाय नव नोकसाय दुविह चरित्तमोहणिय ।
अण अप्पचक्खाणा, पचक्खाणा य संजलणा ॥ १७ ॥

'द्विविधं' द्विभेदं चारित्रमोहनीयं भवति, तद्यथा—"सोलस कसाय" त्ति कष्यन्ते—हिंसन्ते परस्परमस्मिन् प्राणिन इति कषः—संसारः, कषमयन्ते—गच्छन्त्येभिर्जन्तव इति कषायाः । यद्वा कषस्याऽऽयः—लाभो येभ्यस्ते कषायाः क्रोधमानमायालोभाः । तत्र क्रोधोऽक्षान्तिपरिणतिरूपः, मानो जात्यादिसमुत्थोऽहङ्कारः, माया परवञ्चनात्मिका, लोभोऽसन्तोषात्मको गृद्धिपरिणामः । तत्र षोडशसङ्ख्याः कषायाः कषायमोहनीयमुच्यते । विभक्तिलोपश्च प्राकृतत्वात्, एवमुत्तरत्रापि । "नव नोकसाय" त्ति कषायैः सहचरा नोकषायाः, ते च नव—हास्यादयः षट् त्रयो वेदाः । अत्र नोशब्दः साहचर्यवाची । एषां हि केवलानां न प्राधान्यमस्ति, किन्तु कषायैरनन्तानुबन्ध्यादिभिः सहोदयं यान्ति, तद्विपाकसदृशमेव विपाकं दर्शयन्ति, बुधग्रहवदन्यसंसर्गमनुवर्तन्ते इति भावः । कषायोद्दीपनाद्वा नोकषायाः । उक्तं च—

कषायसहवर्तित्वात्, कषायप्रेरणादपि ।
हास्यादिनवकस्योक्ता, नोकषायकषायता ॥

ततो नवसङ्ख्या नोकषायाः नोकषायमोहनीयमुच्यते । अथ "यथोद्देशं निर्देशः" इति न्यायात् प्रथमं कषायमोहनीयं व्याख्यानयन्नाह—"अण अप्पचक्खाणा" इत्यादि । "अण" त्ति अनन्तानुबन्धिनः । तत्रानन्तं संसारमनुबध्नन्तीत्येवंशीला अनन्तानुबन्धिनः । यदवाचि—

यस्मादनन्तं संसारमनुबध्नन्ति देहिनाम् ।
ततोऽनन्तानुबन्धीति, सञ्ज्ञाऽऽद्येषु निवेशिता ॥

ते चत्वारः क्रोधमानमायालोभाः । यद्यपि चैतेषां शेषकषायोदयरहितानामुदयो नास्ति, तथाप्यवश्यमनन्तसंसारमौलकारणमिथ्यात्वोदयाक्षेपकत्वादेषामेवानन्तानुबन्धित्वव्यपदेशः । शेषकषाया हि नावश्यं मिथ्यात्वोदयमाक्षिपन्ति, अतस्तेषामुदययोगपद्ये सत्यपि नायं व्यपदेश इत्यसाधारणमेतेषामेवैतन्नामेति । तथा न विद्यते स्वल्पमपि प्रत्याख्यानं येषामुदयादतोऽप्रत्याख्यानाः । यदभाणि—

नाल्पमप्युत्सहेद्येषां, प्रत्याख्यानमिहोदयात् ।
अप्रत्याख्यानसंज्ञाऽतो, द्वितीयेषु निवेशिता ॥

ते चत्वारः क्रोधमानमायालोभाः । तथा प्रत्याख्यानं—सर्वविरतिरूपमावृण्वन्तीति प्रत्याख्यानावरणाः । यत्त्वगादि—

सर्वसावद्यविरतिः[1], प्रत्याख्यानमिहोच्यते ।
तदावरणसंज्ञाऽतस्तृतीयेषु निवेशिता ॥

---

१ आद्या कषायाः ।

ते चत्वारः क्रोधमानमायालोभाः । तथा परीषहोपसर्गोपनिपाते सति चारित्रिणमपि 'सशब्द ईषदर्थे' सम्-ईषद् ज्वलयन्ति-दीपयन्तीति सञ्ज्वलना । यदभ्यधायि—

परीषहोपसर्गोपनिपाते यतिमप्यमी ।
समीषद् ज्वलयन्त्येव, तेन संज्वलना स्मृता ॥

ते चत्वारः क्रोधमानमायालोभाः । तदेव चत्वारश्चतुष्कका षोडश भवन्तीति ॥ १७ ॥

उक्ताः षोडश कषायाः, सम्प्रत्येतेषामेव विशेषतः किञ्चित् स्वरूपं प्रतिपिपादयिषुराह—

जाजीववरिसचउमासपक्खगा नरयतिरियनरअमरा ।
सम्माणुसव्वविरईअहखायचरित्तघायकरा ॥ १८ ॥

"जाजीव" त्ति "यावत्तावज्जीवितावर्तमानावटप्रावारकदेवकुलैवमेवे वः" (सि० ८-१-२७१) इति प्राकृतसूत्रेण वकारलोपे यावज्जीवं च वर्षं च चतुर्मासं च पक्षश्च यावज्जीववर्षचतुर्मासपक्षास्तान् गच्छन्तीति यावज्जीववर्षचतुर्मासपक्षगाः । "नाम्नो गमः खड्डौ च विहायसस्तु विहः" (सि० ५-१-१३१) इति डप्रत्ययः । इदमुक्तं भवति—यावज्जीवानुगा अनन्तानुबन्धिनः, वर्षगा अप्रत्याख्यानावरणाः, चतुर्मासगाः प्रत्याख्यानावरणाः, पक्षगाः सञ्ज्वलनाः । इदं च—

फरुसवयणेण दिणतवं, अहिक्खिवंतो य हणइ मासतवं ।
वरिसतवं सवमाणो, हणइ हणंतो य सामन्नं ॥ (उप० मा० गा० १३४)

इत्यादिवद् व्यवहारनयमाश्रित्योच्यते, अन्यथा हि बाहुबलिप्रभृतीनां पक्षादिपरतोऽपि संज्वलनाद्यवस्थितिः श्रूयते, अन्येषां च संयतादीनामाकर्षादिकाले प्रत्याख्यानावरणानामप्रत्याख्यानावरणानामनन्तानुबन्धिनां चान्तर्मुहूर्तादिकं कालमुदयः श्रूयत इति । तथा नरकगतिकारणत्वादनन्तानुबन्धिनः कषाया अपि नरकाः, भवति च कारणे कार्योपचारः, यथा—"आयुर्घृतम्, नड्वलोदकं पादरोगः" इति । एवं तिर्यग्गतिकारणत्वात् तिर्यञ्चोऽप्रत्याख्यानावरणाः, नरगतिकारणत्वान्नराः प्रत्याख्यानावरणाः, अमरगतिकारणत्वादमराः संज्वलनाः । एतदुक्तं भवति—अनन्तानुबन्ध्युदये मृतो नरकगतावेव गच्छति, अप्रत्याख्यानावरणोदये मृतस्तिर्यक्षु, प्रत्याख्यानावरणोदये मृतो मनुष्येषु, सञ्ज्वलनोदये पुनर्मृतोऽमरेष्वेव गच्छति । उक्तश्चायमर्थः पश्चानुपूर्व्याऽन्यत्रापि—

पक्खचउमासवच्छरजावज्जीवाणुगामिणो भणिया ।
देवनरतिरियनारयगइसाहणहेयवो नेया ॥ (विशे० गा० २९९२)

इदमपि व्यवहारनयमधिकृत्योच्यते, अन्यथा हि अनन्तानुबन्ध्युदयवतामपि मिथ्यादृशां केषाञ्चिदुपरितनग्रैवेयकेषूत्पत्तिः श्रूयते, प्रत्याख्यानावरणोदयवतां देशविरतानां देवगतिः, अप्रत्याख्यानावरणोदयवतां च सम्यग्दृष्टिदेवानां मनुष्यगतिः । तथा "सम्म" त्ति सम्यक्त्वं च "अणुसव्वविरइ" त्ति विरतिशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धाद् अणुविरतिश्च-देशविरतिः, सर्वविर-

१ परुषवचनेन दिनतपोऽधिक्षिपंश्च हन्ति मासतपः । वर्षतपः शपमानः हन्ति घ्नंश्च श्रामण्यम् ॥ २ पक्षचतुर्मासवत्सरयावज्जीवानुगामिनो भणिताः । देवनरतिर्यग्नारकगतिसाधनहेतवो ज्ञेयाः ॥

तिश्च यथाख्यातचारित्रं च सम्यक्त्वाणुसर्वविरतियथाख्यातचारित्राणि तेषां घातः—विनाशः सम्यक्त्वाणुसर्वविरतियथाख्यातचारित्रघातस्तं कुर्वन्तीत्येवंशीलाः सम्यक्त्वाणुसर्वविरतियथाख्यातचारित्रघातकराः । एतदुक्तं भवति—अनन्तानुबन्धिनः कषायाः सम्यक्त्वघातकाः । यदाहुः श्रीभद्रबाहुस्वामिपादाः —

पढमिल्लुयाण उदए, नियमा संजोयणाकसायाणं ।
सम्मद्दसणलंभं, भवसिद्धीया वि न लहंति ॥ (आ० नि० गा० १०८)

अप्रत्याख्यानावरणा देशविरतेर्घातकाः, न सम्यक्त्वस्येत्यर्थाल्लब्धम् । यदाहुः पूज्यपादाः —

बीयकसायाणुदये, अप्पच्चक्खाणनामधिज्जाणं ।
सम्मद्दसणलंभं, विरयाविरयं न उ लहंति ॥ (आ० नि० गा० १०९)

प्रत्याख्यानावरणास्तु सर्वविरतेर्घातकाः, सामर्थ्यान्न देशविरतेः । उक्तं च—

तइयकसायाणुदए, पच्चक्खाणावरणनामधिज्जाणं ।
देसिक्कदेसविरइं, चरित्तलंभं न उ लहंति ॥ (आ० नि० गा० ११०)

सञ्ज्वलनाः पुनर्यथाख्यातचारित्रस्य घातकाः, न सामान्यतः सर्वविरतेः । उक्तं च श्रीमदाराध्यपादैः —

मूलगुणाणं लंभं, न लहइ मूलगुणघाइणं उदए ।
संजलणाणं उदए, न लहइ चरणं अहक्खायं ॥
(आ० नि० गा० १११) इति ॥ १८ ॥

अथ जलरेखादिदृष्टान्तेन किञ्चित्सविशेषं क्रोधादिकषायाणां स्वरूपं व्याचिख्यासुराह—

जलरेणुपुढविपव्वयराईसरिसो चउव्विहो कोहो ।
तिणिसलयाकट्ठट्ठियसेलत्थंभोवमो माणो ॥ १९ ॥

इह राजिशब्दः सदृशशब्दश्च प्रत्येकं सम्बध्यते । ततो जलराजिसदृशस्तावत् संज्वलनः क्रोधः, यथा यष्ट्यादिभिर्जलमध्ये राजी—रेखा क्रियमाणा शीघ्रमेव निवर्तते, तथा यः कथमप्युदयप्राप्तोऽपि सत्वरमेव व्यावर्तते स सञ्ज्वलनः क्रोधोऽभिधीयते १ । रेणुराजिसदृशः प्रत्याख्यानावरणः क्रोधः, अयं हि सञ्ज्वलनक्रोधापेक्षया तीव्रत्वाद् रेणुमध्यविहितरेखावत् चिरेण निवर्तत इति भावः २ । पृथिवीराजिसदृशस्त्वप्रत्याख्यानावरणः, यथा स्फुटितपृथिवीसम्बन्धिनी राजी कचवरादिभिः पूरिता कष्टेनापनीयते, एवमेषोऽपि प्रत्याख्यानावरणापेक्षया कष्टेन निवर्तत इति भावः ३ । विदलितपर्वतराजिसदृशः पुनरनन्तानुबन्धी क्रोधः, कथमपि निवर्तयितुमशक्य इत्यर्थः ४ । उक्तश्चतुर्विधः क्रोधः ॥

इदानीं मानोऽभिधीयते—तत्र तिनिसलतोपमः सञ्ज्वलनो मानः, यथा तिनिशः—वनस्पति-

१ प्राथमिकानामुदये नियमात्संयोजनाकषायाणाम् । सम्यग्दर्शनलाभं भवसिद्धिका अपि न लभन्ते ॥ २ द्वितीयकषायाणामुदयेऽप्रत्याख्याननामधेयानाम् । सम्यग्दर्शनलाभं विरताविरतं न तु लभन्ते ॥ ३ तृतीयकषायाणामुदये प्रत्याख्यानावरणनामधेयानाम् । देशैकदेशविरतिं चरित्रलाभं न तु लभन्ते ॥ ४ मूलगुणानां लाभं न लभते मूलगुणघातिनामुदये । संज्वलनानामुदये न लभते चरणं यथाख्यातम् ॥

विशेषस्तत्सम्बन्धिनी लता सुखेनैव नमति, एवं यस्य मानस्योदये जीवः स्वाग्रहं मुक्त्वा सुखेनैव नमति स संज्वलनमानः १ । यथा स्तम्भः किमपि काष्ठमग्निस्वेदादिबहूपायैः कष्टेन नमति, एवं यस्य मानस्योदये जीवोऽपि कष्टेन नमति स काष्ठोपमः प्रत्याख्यानावरणो मानः २ । यथाऽस्थि-हड्डं बहुतरैरुपायैरतितरां महता कष्टेन नमति, एवं यस्य मानस्योदये जीवोऽप्यतितरां महता कष्टेन नमति सोऽस्थ्युपमोऽप्रत्याख्यानावरणो मानः ३ । शिलायां घटितः शैलः शैलश्चासौ स्तम्भश्च शैलस्तम्भस्तदुपमस्त्वनन्तानुबन्धी मानः, कथमप्यनमनीय इत्यर्थः ४ ॥१९॥

उक्तश्चतुर्विधो मानः । अथ मायालोभौ व्याख्यानयन्नाह—

मायाऽवलेहिगोमुत्तिमिंढसिंगघणवंसिमूलसमा ।
लोहो हलिद्दखंजणकद्दमकिमिरागसामाणो ॥ २० ॥

मायाऽवलेखिकासमा संज्वलनी, धनुरादीनामुल्लिख्यमानानां याऽवलेखिका वक्रत्वरूपा पतति, यथाऽसौ कोमलत्वात् सुखेनैव प्राञ्जलीक्रियते, एवं यस्याः उदये समुत्पन्नाऽपि हृदये कुटिलता सुखेनैव निवर्तते सा संज्वलनी माया १ । गौः—बलीवर्दस्तस्य मार्गे गच्छतो वक्रतया पतिता मूत्रधारा गोमूत्रिकाऽभिधीयते, यथाऽसौ शुष्का पवनादिभिः किमपि कष्टेन नीयते, एवं यज्जनिता कुटिलता कष्टेनापगच्छति सा गोमूत्रिकासमा प्रत्याख्यानावरणी माया २ । एवं मेषशृङ्गसमायामप्यप्रत्याख्यानावरणमायाया भावना कार्या, नवरमेषा कष्टतरनिवर्तनीया ३ । घनवंशीमूलसमा त्वनन्तानुबन्धिनी माया, यथा निबिडवंशीमूलस्य कुटिलता किल वह्निनाऽपि न दह्यते, एवं यज्जनिता मनःकुटिलता कथमपि न निवर्तते साऽनन्तानुबन्धिनी मायेत्यर्थः ४ । तथा लोभो हरिद्रारागसमानः संज्वलनः, यथा वाससि हरिद्रारागः सूर्यातपस्पर्शादिमात्रादेव निवर्तते तथाऽयमपीत्यर्थः १ । कष्टनिवर्तनीयो वस्त्रविलग्नदीपादिखञ्जनसमानः प्रत्याख्यानावरणलोभः २ । कष्टतरापनेयो वस्त्रलग्ननिबिडकर्दमसमानोऽप्रत्याख्यानावरणलोभः ३ । कृमिरागरक्तपट्टसूत्ररागसमानः कथमप्यपनेतुमशक्योऽनन्तानुबन्धी लोभः ४ इति ॥ २० ॥

उक्तं कषायमोहनीयम् । अथ नोकषायमोहनीयं व्याख्यायते, तच्च द्विविधम्—हास्यादिषट्कं वेदत्रिकं च । तत्र हास्यादिषट्कं व्याख्यानयन्नाह—

जस्सुदया होइ जिए, हास रई अरइ सोग भय कुच्छा ।
सनिमित्तमन्नहा वा, तं इह हासाइमोहणियं ॥ २१ ॥

यस्य 'उदयाद्' विपाकात् 'भवति' जायते 'जीवे' जीवस्य हासो रतिः अरतिः शोको भयं "कुच्छ"त्ति जुगुप्सा, हासादिशब्देषु सिलोपः प्राकृतत्वात्, 'सनिमित्तं' सकारणम् 'अन्यथा' अनिमित्तं निष्कारणम्, वाशब्दः पक्षान्तरद्योतकः, तद् 'इह' प्रवचने हासादिमोहनीयम् । आदिशब्दाद् रतिमोहनीयम् अरतिमोहनीयं शोकमोहनीयं भयमोहनीयं जुगुप्सामोहनीयं भण्यत इति शेषः, इति गाथाक्षरार्थः । भावार्थः पुनरयम्—यदुदयात् सनिमित्तमनिमित्तं वा जीवस्य हासः—हास्यं भवति तद् हासमोहनीयम् १ । यदुदयात् सनिमित्तमनिमित्तं वा बाह्याभ्यन्तरेषु वस्तुषु जीवस्य रतिः—प्रमोदो भवति तद् रतिमोहनीयम् २ । यदुदयात् सनिमित्त-

१ कष्टेनापनीयः° ग० घ० ॥

मनिमित्त वा जीवस्य बाह्याभ्यन्तरेषु वस्तुष्वरति –अप्रीतिर्भवति तद् अरतिमोहनीयम् ३ । यदुदयात् सनिमित्तमन्यथा वा जीवस्योरस्ताडनक्रन्दनपरिदेवनदीर्घनि श्वसनभूलुठनरूप शोको भवति तत् शोकमोहनीयम् ४ । यदुदयात् सनिमित्तमनिमित्त वा तथारूपस्वसङ्कल्पतो जीवस्य "इह१परलोया२ऽऽदाण३मकम्हा४आजीव५मरण६मसिलोए ७ ।" (आव०सं०गा० पत्र ६४५–२) इति गाथार्धोक्त सप्तविध भय भवति तद् भयमोहनीयम् ५ । यदुदयात् सनिमित्तमनिमित्त वा जीवस्याशुभवस्तुविषया जुगुप्सा–व्यलीक भवति तद् जुगुप्सामोहनीयम् ६ ॥ २१ ॥ उक्त हास्यादिषट्क, सम्प्रति वेदत्रिकमाह—

पुरिसित्थि तदुभय पइ, अहिलासो जव्वसा हवइ सो उ ।
थीनरनपुवेउदओ, फुफुमतणनगरदाहसमो ॥ २२ ॥

प्रतिशब्द प्रत्येक योज्यते, पुरुष प्रति स्त्रिय प्रति तदुभय प्रति–स्त्रीपुरुष प्रतीत्यर्थ 'यद्वशात्' यत्पारतन्त्र्याद् 'अभिलाष ' वाञ्छा 'भवति' जायते, तुशब्द परस्परापेक्षया पुनरर्थे, स्त्री–योषित् नर –पुरुष "नपु"त्ति नपुसक तैर्वेद्यते–अनुभूयते स्त्रीनरनपुवेदस्तस्योदय स्त्रीनरनपुवेदोदयो ज्ञेय इति शेष । फुम्फुमा–करीषम् तृणानि–प्रतीतानि नगर–पुरम् फुम्फुमातृणनगराणि तेषा दाहस्तेन सम –तुल्य इति गाथाक्षरार्थ । भावार्थस्त्वयम्—यद्वशात् स्त्रिया पुरुष प्रत्यभिलाषो भवति, यथा पित्तवशाद् मधुरद्रव्य प्रति, स फुम्फुमादाहसम , [* यथा यथा चाल्यते तथा तथा ज्वलति बृहति च, एवमेवबलाऽपि यथा यथा संस्पृश्यते पुरुषेण तथा तथाऽस्या अधिकतरोऽभिलाषो जायते, अभुज्यमानाया तु च्छन्नकरीषदाहतुल्योऽभिलाषो मन्द इत्यर्थ , इति *] स्त्रीवेदोदय १ । यद्वशात् पुरुषस्य स्त्रिय प्रत्यभिलाषो भवति, यथा श्लेष्मवशादम्ल प्रति, स पुनस्तृणदाहसम , [* यथा तृणाना दाहे ज्वलन झटिति विध्यापन च भवति, एव पुवेदोदये स्त्रिया सेवन प्रत्युत्सुकोऽभिलाषो भवति, निवर्तते च तत्सेवने शीघ्रमिति *] नरवेदोदय २ । यद्वशाद् नपुसकस्य तदुभय प्रत्यभिलाषो भवति, यथा पित्तश्लेष्मवशात् मज्जिकां प्रति, स पुनर्नगरदाहसम , [* यथा नगर दह्यमान महता कालेन दह्यते विध्याति च महतैव, एव नपुसकवेदोदयेऽपि स्त्रीपुरुषयो सेवन प्रत्यभिलापातिरेको महताऽपि कालेन न निवर्तते, नापि सेवने तृप्तिरिति *] नपुवेदोदय ३ । अभिहित वेदत्रिकम्, तदभिधाने चाभिहितं नवधा नोकषायमोहनीयम्, तदभिधाने च समर्थित चारित्रमोहनीयमिति ॥ २२ ॥

उक्तमष्टाविंशतिविध चतुर्थं मोहनीय कर्म, इदानीं पञ्चममायुष्कर्म व्याचिख्यासुराह—

सुरनरतिरिनरयाऊ, हडिसरिसं नामकम्म चित्तिसमं ।
बायालतिनवइविह, तिउत्तरसय च सत्तट्ठी ॥ २३ ॥

आयु शब्द प्रत्येक योज्यते, ततश्च सुष्ठु राजन्त इति सुरा , यद्वा "सुरत् ऐश्वर्यदीप्त्यो "

१ इहपरलोकादानमकस्माद्आजीविकामरणमश्लोक ॥ २ [* *]–एतादृक् सफुल्लिकाकोष्ठकान्त पाठी सन्दर्भ क पुस्तके नास्ति, एवमग्रेऽपि ॥ ३ °था फुम्फुमा चा° ख० ॥ ४ दहति च ख० ग० घ० ङ० ॥ ५ °वमङ्गनाऽपि ख० ॥ ६ दाघे ख० ग० ङ० ॥

सुरन्ति—विशिष्टमैश्वर्यमनुभवन्ति दिव्याभरणकान्त्या सहजशरीरकान्त्या च दीप्यन्त इति सुरा, यदि वा सुष्ठु रान्ति—ददति प्रणतानामीप्सितमर्थं लवणाधिपसुस्थित इव लवणजलधौ मार्गं जनार्दनस्येति सुराः—देवाः तेषामायुः सुरायुर्येन तेष्ववस्थितिर्भवति १ । नृणन्ति—निश्चिन्वन्ति वस्तुतत्त्वमिति नराः—मनुष्याः तेषामायुर्नरायुस्तद्भवावस्थितिहेतुः २ । "तिरि" त्ति प्राकृतत्वात् तिरोऽञ्चन्ति—गच्छन्तीति तिर्यञ्चः, व्युत्पत्तिनिमित्तं चैतत्, प्रवृत्तिनिमित्तं तु तिर्यग्गतिनाम, एते चैकेन्द्रियादयः, ततस्तिरश्चामायुस्तिर्यगायुर्येनैतेषु स्थीयते ३ । नरान् उपलक्षणत्वात् तिरश्चोऽपि प्रभूतपापकारिणः कायन्तीव—आह्वयन्तीवेति नरकाः—नरकावासास्तत्रोत्पन्ना जन्तवोऽपि नरकाः, नरको वा विद्यते येषां ते "अभ्रादिभ्यः" (सि० ७-२-४६) इति अमत्यये नरकास्तेषामायुर्नरकायुर्येन ते तेषु ध्रियन्ते । एतच्चायुर्हडिसदृशं भवति । तत्र हडि:—खोडकस्तेन सदृशं तत्तुल्यम्, यथा हि राजादिना हडौ क्षिप्तः कश्चिच्चौरादिस्ततो निर्गमनमनोरथं कुर्वाणोऽपि विवक्षितं कालं यावत् तथा ध्रियते, तथा नारकादिस्ततो निष्क्रमितुमना अपि तदायुषा ध्रियत इति हडिसदृशमायुः । व्याख्यातं चतुर्विधं पञ्चममायुष्कर्म ॥

सम्प्रति षष्ठं नामकर्माभिधित्सुराह—"नामकम्मं चित्तिसमं" इत्यादि । नामकर्म भवति 'चित्तिसमं' चित्रं कर्म तत् कर्तव्यतया विद्यते यस्य स चित्री—चित्रकरस्तेन समम्—सदृशं चित्रिसमम् । यथा हि चित्री चित्रं चित्रप्रकारं विविधवर्णकैः करोति, तथा नामकर्मापि जीवं नारकोऽयं तिर्यग्ज्योतिकोऽयमेकेन्द्रियोऽयं द्वीन्द्रियोऽयमित्यादिव्यपदेशैरनेकधा करोतीति चित्रिसममिदमिति । एतच्चानेकभेदम्, कथम् ? इत्याह—"बायालतिनवइविह तिउत्तरसयं च सत्तट्ठी" त्ति । अत्र विधाशब्दस्य प्रत्येकं योगाद् द्विचत्वारिंशद्विधम्, यद्वा त्रिनवतिविधम्, यदि वा त्र्युत्तरशतविधम्, अथवा सप्तषष्टिविधम् । चशब्दः समुच्चये व्यवहितसम्बन्धश्च, स च तथैव योजितः ॥ २३ ॥ अथ नामकर्मणो द्विचत्वारिंशतं भेदान् प्रचिकटयिषुराह—

गइजाइतणुउवंगा, बंधणसंघायणाणि संघयणा ।
संठाणवण्णगंधरसफासअणुपुव्विविहगगई ॥ २४ ॥

इह नाम्नः प्रस्तावात् सर्वत्र गत्यादिषु नामेत्युपस्कारः कार्यः । तथाहि—गतिनाम जातिनाम तनुनाम उपाङ्गनाम (ग्रन्थाग्रम् १०००) बन्धननाम सङ्घातननाम सहननननाम संस्थाननाम वर्णनाम गन्धनाम रसनाम स्पर्शनाम आनुपूर्वीनाम विहायोगतिनामेति । तत्र गम्यते—तथाविधकर्मसचिवैर्जीवैः प्राप्यत इति गतिः—नारकादिपर्यायपरिणतिः, तद्विपाकवेद्या कर्मप्रकृतिरपि गतिः, सैव नाम गतिनाम १ । जननं जातिः—एकेन्द्रियादिशब्दव्यपदेश्येन पर्यायेण जीवानामुत्पत्तिः, तद्भावनिबन्धनभूतं नाम जातिनाम २ । तनोति—जन्तुरात्मप्रदेशान् विस्तारयति यस्यां सा तनुः, तज्जनकं कर्मापि तनुः, सैव नाम तनुनाम, शरीरनामेत्यर्थः ३ । "उवंग" त्ति उपलक्षणत्वाद् अङ्गोपाङ्गनाम, तत्र "अञ्जौप् व्यक्तिम्रक्षणगतिषु" इति धातोः अज्यन्ते—गर्भोत्पत्तेरारभ्य व्यक्तीभवन्ति जन्मप्रभृतेर्म्रक्ष्यन्ते चेत्यङ्गानि शिरउरउदरादीनि वक्ष्यमाणस्वरूपाणि, तदवयवभूतान्यङ्गुल्यादीन्युपाङ्गानि, शेषाणि तु तत्प्रत्यवयवभूतान्यङ्गुलिपु-

1 °ति नरकावासास्त° इ० ग० इ० ॥

पर्वरेखादीन्यङ्गोपाङ्गानि, ततश्चाङ्गानि चोपाङ्गानि च अङ्गोपाङ्गानि चेति द्वन्द्वे "स्यादावस-ङ्ख्येय" (सि० ३-१-११९) इत्येकशेषे च कृते अङ्गोपाङ्गानीति, तत्र यदुदयात् शरीरतयो-पात्ता अपि पुद्गला अङ्गोपाङ्गविभागेन परिणमन्ति तत् कर्मापि अङ्गोपाङ्गनाम ४ । बध्यन्ते— गृह्यमाणपुद्गला पूर्वगृहीतपुद्गलै सह श्लिष्टा क्रियन्ते येन तद् बन्धन तदेव नाम बन्धननाम ५ । स्वत एव सघ्नन्ति—सङ्घातमापद्यन्ते, ततस्ते सघ्नन्त सन्त सङ्घात्यन्ते—प्रत्येक शरीरपञ्च-कप्रायोग्या पुद्गला पिण्ड्यन्ते येन तत् सङ्घातन तदेव नाम सङ्घातननाम ६ । संहन्यन्ते— धातूनामनेकार्थत्वाद् दृढीक्रियन्ते शरीरपुद्गला कपाटादयो लोहपट्टिकादिनेव येन तत् सहनन तदेव नाम सहनननाम ७ । सन्तिष्ठन्ते—विशिष्टावयवरचनात्मिकया शरीराकृत्या जन्तवो भवन्ति येन तत् सस्थान तदेव नाम संस्थाननाम ८ । वर्ण्यते—अलङ्क्रियतेऽनेनेति वर्ण कृष्णादि, जन्तुशरीरे कृष्णादिवर्णहेतुक नामकर्मापि वर्णनाम ९ । गन्ध्यते—आघ्रायत इति गन्ध, तद्धेतुत्वान्नामकर्मापि गन्धनाम १० । रस्यते—आस्वाद्यत इति रसस्तिक्तादि, जन्तु-शरीरे तिक्तादिरसहेतुक कर्मापि रसनाम ११ । स्पृश्यत इति स्पर्श कर्कशादि, तद्धेतुत्वात् कर्मापि स्पर्शनाम १२ । द्विसमयादिना विग्रहेण भवान्तर गच्छतो जन्तोरनुश्रेणिनियता गमनपरिपाटी आनुपूर्वी, तद्विपाकवेद्या कर्मप्रकृतिरप्यानुपूर्वी १३ । गमन गति, सा पुनरत्र पादादिविहरणात्मिका देशान्तरप्राप्तिहेतुर्द्वीन्द्रियादीना प्रवृत्तिरभिधीयते, नैकेन्द्रियाणा पादादे-रभावात्, ततो विहायसा—नभसा गतिर्विहायोगति, तद्धेतुत्वात् कर्मापि विहायोगतिनाम १४ । ननु विहायस सर्वगतत्वेन ततोऽन्यत्र गमनाभावाद् व्यवच्छेद्याभावेन विहायसेति विशेषणस्य वैयर्थ्यम्, सत्यम्, किन्तु यदि गतिरित्येवोच्येत तदा नाम्न प्रथमप्रकृतिरपि गतिरस्तीति पौनरुक्त्याशङ्का स्यात्, तद्व्यवच्छेदार्थं विहायोग्रहणमकारि, विहायसा गति प्रवृत्तिर्न तु भवगतिर्नारकादिकेति ॥ २४ ॥

अथ प्रदर्शिताना गत्यादिप्रकृतीनामभिधानसङ्ख्याकथनपूर्वकमष्टौ प्रत्येकप्रकृतीराह—

पिंडपयडि त्ति चउदस, परघाउस्सासआयवुज्जोय ।
अगुरुलहुतित्थनिमिणोवघायमिय अट्ठ पत्तेया ॥ २५ ॥

एतैर्गतिनामादिभि पदैर्वक्ष्यमाणचतुरादिभेदाना पिण्डिताना प्रतिपादनात् पिण्डप्रकृतय उच्यन्ते । का ? 'इति' इति एता गत्यादयोऽनन्तरगाथोद्दिष्ट प्रकृतय । कियन्त्य पुनस्ता ? इत्याह—चतुर्दशसङ्ख्या । तथा प्रक्रमान्नामशब्द पराघातादिष्वप्यध्याहार्य, तद्यथा— पराघातनाम उच्छ्वासनाम आतपनाम उद्योतनाम अगुरुलघुनाम "तित्थ" त्ति तीर्थङ्करनाम "निमिण" त्ति निर्माणनाम उपघातनाम 'इति' एता पराघातादय 'अष्टौ' अष्टसङ्ख्या प्रत्येक-प्रकृतयो ज्ञेया, आसा पिण्डप्रकृतिवदन्यभेदाभावादिति ॥ २५ ॥

तस बायर पज्जत्त, पत्तेय थिर सुभ च सुभग च ।
सुसराऽऽइज्ज जस तसदसग थावरदस तु इम ॥ २६ ॥

नामशब्दस्येहापि सम्बन्धात् त्रसनाम बादरनाम पर्याप्तनाम प्रत्येकनाम स्थिरनाम शुभनाम सुभगनाम 'चशब्दौ' समुच्चये सुस्वरनाम आदेयनाम "जस" त्ति यश कीर्तिनाम इत्येव

त्रसशब्देनोपलक्षित प्रकृतिदशक त्रसदशकमिदमुच्यते इति शेष.। तथा स्थावरेण—स्थावरशब्देनोपलक्षित त्रसदशकस्य विपक्षभूत "दस" त्ति प्राकृतत्वाद् दशक स्थावरदशकम्, तद् पुनरिद वक्ष्यमाणमिति ॥ २६ ॥ तदेवाह—

थावर सुहुम अपज्जं, साहारणअथिरअसुभदुभगाणि ।
दुस्सरऽणाइज्जाऽजस, इय नामे सेयरा वीसं ॥ २७ ॥

इहापि नामशब्दस्य सम्बन्धात् स्थावरनाम सूक्ष्मनाम अपर्याप्तनाम साधारणनाम अस्थिरनाम अशुभनाम दुर्भगनाम दु स्वरनाम अनादेयनाम "अजस" त्ति अयश कीर्तिनाम । प्ररूपित दशकद्वयमपि, अधुना दशकद्वयमीलने यथाभूता सतीय विंशतिर्यद्विषयोच्यते तदाह—"इय" त्ति 'इति' अमुना त्रसादिप्रदर्शितप्रकारेण "नामे" त्ति नामकर्मणि 'सेतरा' सप्रतिपक्षा प्रत्येकसहिता विंशतिर्विज्ञेया । तथाहि—त्रसनाम्न स्थावरनाम प्रतिपक्षभूतम्, एव बादरसूक्ष्मप्रकृतीनामपि सेतरत्व सुप्रतीतमेवेति ॥ २७ ॥ अथानन्तरोद्दिष्टत्रसादिविंशतिमध्ये यासा प्रकृतीनामाद्यपदनिर्देशेन या संज्ञा भवन्ति ता कथयन्नाह—

तसचउथिरछक्कं अथिरछक्कसुहुमतिगथावरचउक्कं ।
सुभगतिगाइविभासा, तदाइसंखाहिँ पयडीहिँ ॥ २८ ॥

त्रसप्रकृत्योपलक्षित चतुष्क त्रसचतुष्कम्, एतदनुसारत समासोऽन्यत्रापि कार्य', ततो यथासम्भव पुनरपि समाहारद्वन्द्वश्च । तत्र त्रसचतुष्कं यथा—त्रसं बादरं पर्याप्त प्रत्येकमिति । स्थिरषट्कम्—स्थिर शुभ सुभग सुस्वरम् आदेय यश कीर्तिश्चेति । अस्थिरषट्कम्—अस्थिराऽशुभदुर्भगदु स्वराऽनादेयाऽयश कीर्तिस्वरूपम् । सूक्ष्मत्रिकम्—सूक्ष्माऽपर्याप्तसाधारणलक्षणम् । स्थावरचतुष्कम्—स्थावरसूक्ष्माऽपर्याप्तसाधारणाख्यम् । सुभगत्रिकम्—सुभगसुस्वराऽऽदेयाभिधम् । आदिशब्दाद् दुर्भगत्रिकम्—दुर्भगदु स्वराऽनादेयस्वरूप गृह्यते । तत्र सूत्रपदे समासो यथा—सुभगत्रिकमादिर्यस्य दुर्भगत्रिकस्य तत् सुभगत्रिकादि तस्य विभाषा—प्ररूपणा कर्तव्येति शेष । कामि कृत्वा पुनस्त्रसचतुष्कादिका विभाषा कर्तव्या ? इत्याह—'तदादिसङ्ख्याभि प्रकृतिभि.' सा—निर्दिष्टा प्रकृतिरादिर्यस्या सङ्ख्याया सा तदादि, तदादि सङ्ख्या यासा प्रकृतीना तास्तदादिसङ्ख्यास्ताभिस्तदादिसङ्ख्याभि प्रकृतिभि, कोऽर्थ ? याऽसौ प्रकृतिस्त्रसादिका निर्दिष्टा तामादौ कृत्वा निर्दिष्टसङ्ख्या पूरणीयेति । एताश्च सज्ञा प्रकृतिपिण्डकसङ्ग्राहिण्यो यथास्थानमुपयोगमायास्यन्तीति कृत्वा प्ररूपिता इति ॥ २८ ॥

उक्ता नामकर्मणो द्वाचत्वारिंशद् भेदा । अथ तस्यैव त्रिनवतिभेदान् प्ररूपयितुकामो गत्यादिपदाना पिण्डप्रकृतिसज्ञिकाना मध्ये येन पदेन यावन्तो भेदाः पिण्डिता वर्तन्ते तान् भेदान् तेषामाह—

गइयाईण उ कमसो, चउपणपणतिपणपंचछच्छक्कं ।
पणदुगपणऽट्ठचउदुग, इय उत्तरभेयपणसट्ठी ॥ २९ ॥

'गत्यादीना' पिण्डप्रकृतीना पूर्वप्रदर्शितस्वरूपाणा पुन 'क्रमश' क्रमेण यथासङ्ख्यमिति

१ °क्र त्रसं क० ग० ॥

यावत् चतुरादयो भेदा भवन्तीति वाक्यार्थः । तथाहि—गतिनाम चतुर्धा, जातिनाम पञ्चधा, तनुनाम पञ्चधा, उपाङ्गनाम त्रिधा, बन्धननाम पञ्चधा, सङ्घातननाम पञ्चधा, संहनननाम षोढा, संस्थाननाम षोढा, वर्णनाम पञ्चधा, गन्धनाम द्विधा, रसनाम पञ्चधा, स्पर्शनामाऽष्टधा, आनुपूर्वीनाम चतुर्धा, विहायोगतिनाम द्वेधा । एतेषां सर्वमीलने भेदाग्रमाह—"इय" त्ति 'इति' अमुना चतुरादिभेदमीलनप्रकारेणोत्तरभेदानां पञ्चषष्टिरिति ॥ २९ ॥

अडवीसजुया तिनवइ, सते वा पनरबंधणे तिसयं ।
बंधणसंघायगहो, तणूसु सामन्नवन्नचऊ ॥ ३० ॥

एषा पूर्वोक्ता पञ्चषष्टिः 'अष्टाविंशतियुता' प्रत्येकप्रकृत्यष्टाविंशत्या सह मीलने त्रिभिरधिका नवतिस्त्रिनवतिर्भवति । सा च क्वोपयुज्यते? इत्याह—"सते" त्ति प्राकृतत्वात् सत्तायां सत्कर्म प्रतीत्य बोद्धव्येत्यर्थः । वाशब्दो विकल्पार्थो व्यवहितसम्बन्धश्च, स चैवं योज्यते—'पञ्चदशबन्धनैस्त्रिशतं वा' पञ्चदशसङ्ख्यैर्वक्ष्यमाणस्वरूपैर्बन्धनैः प्रदर्शितत्रिनवतिमध्ये प्रक्षिप्तैस्त्रिभिरधिकं शतं त्रिशतं वा सत्तायामधिक्रियते इति शेषः । अथ त्रिनवतिमध्ये पञ्चदशानां प्रकृतीनां प्रक्षेपेऽष्टोत्तरं शतं भवतीति चेद् उच्यते—या वक्ष्यमाणाः पञ्चदश बन्धननामप्रकृतयस्तासु मध्यात् सामान्यतः औदारिकादिबन्धनपञ्चकस्य त्रिनवतिमध्ये पूर्वं प्रक्षिप्तत्वात् शेषाणां दशानां प्रक्षेपे त्रिशतमेव भवतीति न कश्चिद्विरोधः । सूत्रे च "पनरबंधणे" इत्यत्र विभक्तिवचनव्यत्ययः प्राकृतत्वादिति । उक्ता नामकर्मणस्त्रिनवतिरुयुत्तरशतं च भेदानाम् । अथ सप्तषष्टिभेदानाह—"बंधणसंघायगहो तणूसु" त्ति । बन्धनानि च पञ्चदश, सङ्घाताश्च—सङ्घातनानि पञ्च, बन्धनसङ्घातास्तेषां ग्रहणं ग्रहो बन्धनसङ्घातग्रहः । 'तनुषु' शरीरेषु, तनुग्रहणेनैव बन्धनसङ्घाता गृह्यन्ते न पृथग् विवक्ष्यन्त इत्यर्थः । तथा "सामन्नवन्नचऊ" त्ति सामान्य—कृष्णनीलाद्यविशेषितं वर्णेनोपलक्षितं चतुष्कं सामान्यवर्णचतुष्कं गृह्यत इति शेषः । अयमत्राशयः—इह सप्तषष्टिमध्ये औदारिकादितनुपञ्चकमेव गृह्यते, न तद्बन्धनानि तत्सङ्घातनानि च, यतः औदारिकतन्वा सजातीयत्वाद् औदारिकतनुसदृशानि बन्धनानि तत्सङ्घाताश्च गृहीताः, एवं वैक्रियादितन्वाऽपि निजनिजबन्धनसङ्घाता गृहीता इति न पृथगेते पञ्चदश बन्धनानि पञ्च सङ्घाता गण्यन्ते । तथा वर्णगन्धरसस्पर्शानां यथासङ्ख्यं पञ्चद्विपञ्चाऽष्टभेदैर्निष्पन्नां विंशतिमपनीय तेषामेव सामान्यं वर्णगन्धरसस्पर्शलक्षणं चतुष्कं गृह्यते, ततश्चानन्तरोदितात् त्र्युत्तरशताद् वर्णादिषोडशकबन्धनपञ्चदशकसङ्घातपञ्चकलक्षणानां षट्त्रिंशत्प्रकृतीनामपसारणे सति सप्तषष्टिर्भवतीति ॥ ३० ॥ एतदेवाह—

इय सत्तट्ठी बंधोदए य न य सम्ममीसया बंधे ।
बंधुदए सत्ताए, वीसदुवीसऽट्ठवन्नसयं ॥ ३१ ॥

'इति' पूर्वोक्तप्रकारेण सप्तषष्टिर्नामकर्मप्रकृतीनां भवति । सा च क्वोपयुज्यते? इत्याह—"बंधोदए य" त्ति बन्धश्च उदयश्च बन्धोदयं तस्मिन् 'बन्धोदये' बन्धे च उदये च सप्तषष्टिर्भवति, चशब्दाद् उदीरणायां च सप्तषष्टिः । अथ बन्धनसङ्घातनवर्णादिविशेषाणां विवक्षा-

१ °जा निजा ब° ख० ग० ङ० ॥

वशादेव बन्धे नाधिकार इत्युक्तम्, सम्प्रति ययो प्रकृत्यो सर्वथैव बन्धो न भवति ते आह—"न य सम्ममीसया बंधे" त्ति 'न च' नैव सम्यक्त्वमिश्रके बन्धेऽधिक्रियेते । अयमभिप्राय —सम्यक्त्वमिश्रयोर्बन्ध एव न भवति, किन्तु मिथ्यात्वपुद्गलानामेव जीव सम्यक्त्वगुणेन मिथ्यात्वरूपतामपनीय केषाञ्चिदत्यन्तविशुद्धिमापादयति, अपरेषा त्वीषद्विशुद्धिम्, केचित् पुनर्मिथ्यात्वरूपा एवावतिष्ठन्ते, तत्र येऽत्यन्तविशुद्धास्ते सम्यक्त्वव्यपदेशभाज , ईषद्विशुद्धा मिश्रव्यपदेशभाज , शेषा मिथ्यात्वमिति । उक्त च—

सम्यक्त्वगुणेन ततो, विशोधयति कर्म तत् स मिथ्यात्वम् ।
यद्वच्छगणप्रमुखै', शोध्यन्ते कोद्रवा मदना' ॥
यत् सर्वथाऽपि तत्र विशुद्ध तद् भवति कर्म सम्यक्त्वम् ।
मिश्र तु दरविशुद्धं, भवत्यशुद्ध तु मिथ्यात्वम् ॥

उदयोदीरणासत्तासु पुन सम्यक्त्वमिश्रके अप्यधिक्रियेते । एव च सति ज्ञानावरणे पञ्च, दर्शनावरणे नव, वेदनीये द्वे, मोहे सम्यक्त्वमिश्रवर्जा षड्विंशति , आयुषि चतस्र', नाम्नि भेदान्तरसम्भवेऽपि प्रदर्शितयुक्त्या सप्तषष्टि , गोत्रे द्वे, अन्तराये पञ्च इत्येतद्विंशत्युत्तर प्रकृतिशत बन्धेऽधिक्रियते । एतदेव सम्यक्त्वमिश्रसहित द्वाविंशत्युत्तरप्रकृतिशतमुदये उदीरणाया च । सत्तायां पुन शेषकर्मणां पञ्चपञ्चाशत् नाम्नस्त्रिनवतिरित्यष्टाचत्वारिंश शतम्, यद्वा शेषकर्मणां पञ्चपञ्चाशत् नाम्नस्त्र्युत्तरशतमित्यष्टापञ्चाश शतमधिक्रियत इति । एतदेव मनसिकृत्याह—"पणुदए सत्ताए" इत्यादि । इह शतशब्दस्य प्रत्येक योगाद् यथासङ्ख्य बन्धे विंश शतम्, उदये उपलक्षणत्वाद् उदीरणाया च द्वाविंश शतम्, सत्तायामष्टपञ्चाश शतम् उपलक्षणत्वादष्टाचत्वारिंश शतमिति, भावना सुकरेव ॥ ३१ ॥

अथ पूर्वनिर्दिष्टान् गतिजातिप्रभृतीना पिण्डप्रकृतीना चतुरादिभेदान् व्याचिख्यासुराह—

निरयतिरिनरसुरगई, इगबियतियचउपणिंदिजाईओ ।
ओरालियवेउवियआहारगतेयकम्मइगा ॥ ३२ ॥

निरयाश्च तिर्यञ्चश्च नराश्च सुराश्च तेषु गतिरिति विग्रह । भावार्थोऽयम्—गतिशब्द: प्रत्येक योज्यते, ततश्च "अयमिष्टफल दैवम्" इति वचनाद् निर्गतम् अयम्—इष्टफल सातवेदनीयादिरूप येभ्यस्ते निरया —सीमन्तकादयो नरकावासा , ततो निरयेषु विषये गतिरिति गतिनाम निरयगतिनाम, तद्विपाकवेद्या कर्मप्रकृतिरपि निरयगतिनाम, नारकशब्दव्यपदेश्यपर्यायनिबन्धन निरयगतिनामेति हृदयम् । एव तिर्यग्नरसुरगतिनामापि वाच्यम् ।

अत्राह—ननु सर्वेऽपि पर्याया जीवेन गम्यन्ते प्राप्यन्त इति सर्वेषामपि तेषा गतित्वप्रसङ्ग , तथा च प्राग्गतिशब्दस्येयमेव व्युत्पत्तिर्दर्शितेति, नैवम्, यतोऽविशेषेण व्युत्पादिता अपि शब्दा रूढितो गोशब्दवत् प्रतिनियतमेवार्थं विषयीकुर्वन्तीत्यदोष । उक्त गतिनाम चतुर्विधम् १ ।

तथा सूचकत्वात् सूत्रस्य एकेन्द्रियाश्च द्वीन्द्रियाश्च त्रीन्द्रियाश्च चतुरिन्द्रियाश्च पञ्चेन्द्रियाश्च

१ ओरालविउव्वाहारगतेयकम्म' पण सरीरा प्र० ॥

तेषा जातय इति विग्रह । भावार्थोऽयम्—एकेन्द्रियद्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियपञ्चेन्द्रियजातिनामभेदात् पञ्चधा जातिनाम । तत्र एकस्य स्पर्शनेन्द्रियज्ञानस्यावरणक्षयोपशमाद् एकविज्ञानभाज एकेन्द्रिया , द्वयो स्पर्शनरसनज्ञानयोरावरणक्षयोपशमाद् द्विविज्ञानभाजो द्वीन्द्रिया , त्रयाणा स्पर्शनरसनघ्राणज्ञानानामावरणक्षयोपशमात् त्रिविज्ञानभाजस्त्रीन्द्रिया., चतुर्णां स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुर्ज्ञानानामावरणक्षयोपशमात् चतुर्विज्ञानभाजश्चतुरिन्द्रिया , पञ्चानां स्पर्शनरसनघ्राणचक्षु श्रोत्रज्ञानानामावरणक्षयोपशमात् पञ्चविज्ञानभाज पञ्चेन्द्रिया । तत एकेन्द्रियाणा जातिनाम एकेन्द्रियजातिनाम, एव यावत् पञ्चेन्द्रियजातिनाम ।

अत्राह—ननु एतेन जातिनाम्ना कि भावेन्द्रियमेकादिक जन्यते ? उत द्रव्येन्द्रियम् ? आहोस्विदेकेन्द्रियोऽयमित्यादिव्यपदेश ? इति त्रयी गति । तत्र यद्याद्य पक्ष स न युक्त , भावेन्द्रियस्य श्रोत्रादीन्द्रियज्ञानावरणक्षयोपशमजन्यत्वात् "क्षायोपशमिकानीन्द्रियाणि" इति वचनात् । अथ द्रव्येन्द्रिय जन्यते तदप्ययुक्तम्, द्रव्येन्द्रियस्येन्द्रियपर्याप्तिनामोदयजन्यत्वात् । एकेन्द्रियादिव्यपदेशस्त्वेकादीन्द्रियज्ञानावरणक्षयोपशमपर्याप्तिनामभ्यामेव सेत्स्यति किमन्तर्गडुना जातिनाम्ना ?, अत्रोच्यते—आद्यविकल्पयुगल तावद् अनभ्युपगमादेव निरस्तम् । यत् पुनरुक्तम् 'एकेन्द्रियादिव्यपदेशस्तु' इत्यादि तदयुक्तम्, यत इन्द्रियज्ञानावरणक्षयोपशम इन्द्रियपर्याप्तिश्च यथाक्रम भावेन्द्रियजनने द्रव्येन्द्रियजनने च कृतार्थौ कथमेकेन्द्रियादिव्यपदेशनिबन्धनपरिणतिलक्षण कार्यान्तर जनयितुमलम् ?, न ह्यन्यसाध्य कार्यमन्य साधयति, अतिप्रसङ्गात्, तस्माद् एकेन्द्रियादीना समानजातीयजीवान्तरेण सह समाना बाह्या काचित् परिणतिरेकेन्द्रियादिशब्दवाच्या अवश्य जातिनामकर्मोदयत एवाभ्युपगन्तव्या । उक्त च—

अव्यभिचारिणा सादृश्येन एकीकृतोऽर्थात्मा जाति इति ।

तथाहि—बकुलादीनामनुमानादिसिद्धे इन्द्रियपञ्चकक्षयोपशमे सत्यपि पञ्चेन्द्रियशब्दव्यपदेश्यपञ्चेन्द्रियजातिनामकर्मोदयजन्यविशिष्टबाह्यपरिणत्यभावात् न पञ्चेन्द्रियव्यपदेशो भवति । यद्येव गोतुरगभुजगमातङ्गादिकमे सत्यपि पञ्चेन्द्रियव्यपदेश्यस्यापि पर्यायस्य कारण किञ्चित् कर्माभ्युपगन्तव्यम् ? इति चेद् नैवम्, जातिनामकर्मवैचित्र्यादेव तत्सिद्धे । न चात्रैकान्तेन युक्त्युपन्यास एवाग्रह कार्य , आगमोपपत्तिगम्यत्वात् तत्त्वस्य । यदवादि—

आगमश्चोपपत्तिश्च, सम्पूर्णं दृष्टिलक्षणम् ।
अतीन्द्रियाणामर्थाना, सद्भावप्रतिपत्तये ॥ इति ।

उक्त जातिनाम पञ्चधा २ । तथा औदारिक च वैक्रिय च आहारक च तैजस च कार्मिक चेति द्वन्द्व । भावार्थोऽयम्—औदारिकवैक्रियाऽऽहारकतैजसकार्मणनामभेदात् पञ्चधा शरीरनाम । तत्र उदार—प्रधानम्, प्राधान्य चास्य तीर्थकरगणधरशरीरापेक्षया, ततोऽन्यस्यानुत्तरसुरशरीरस्यापि अनन्तगुणहीनत्वात्, यद्वा उदार—सातिरेकयोजनसहस्रमानत्वात् शेषशरीरापेक्षया बृहत्प्रमाणम्, बृहत्ता चास्य वैक्रिय प्रति भवधारणीयसहजशरीरापेक्षया द्रष्टव्या, अन्यथोत्तरवैक्रिय योजनलक्षमानमपि लभ्यते, उदारमेवौदारिकम्, "विनयादिभ्य" (सि० ७-२-

१ विदि ऽ° प्र० ॥

१६९) इतीकण्प्रत्ययः, तन्निबन्धनं नाम औदारिकनाम, यदुदयवशाद् औदारिकशरीरप्रायोग्यान् पुद्गलानादाय औदारिकशरीररूपतया परिणमयति, परिणमय्य च जीवप्रदेशैः सहान्योऽन्यानुगमरूपतया सम्बन्धयति, तद् औदारिकशरीरनामेत्यर्थः १ । तथा विविधा क्रिया विक्रिया तस्यां भवं वैक्रियम् । तथाहि—तदेकं भूत्वा अनेकं भवति, अनेकं भूत्वा एकम्, अणु भूत्वा महद् भवति, महच्च भूत्वा अणु, खेचरं भूत्वा भूमिचरं भवति, भूमिचरं भूत्वा खेचरं भवति, दृश्यं भूत्वा अदृश्यं भवति, अदृश्यं भूत्वा दृश्यमित्यादि । तच्च द्विधा—औपपातिकं लब्धिप्रत्ययं च । तत्रौपपातिकम्—उपपातजन्मनिमित्तम्, तच्च देवनारकाणाम् । लब्धिप्रत्ययं तिर्यङ्मनुष्याणाम् । वैक्रियनिबन्धनं नाम वैक्रियनाम, यदुदयाद् वैक्रियशरीरप्रायोग्यान् पुद्गलानादाय वैक्रियशरीररूपतया परिणमयति, परिणमय्य च जीवप्रदेशैः सहान्योऽन्यानुगमरूपतया सम्बन्धयतीति २ । तथा चतुर्दशपूर्वविदा तीर्थकरस्फातिदर्शनादिकतथाविधप्रयोजनोत्पत्तौ सत्यां विशिष्टलब्धिवशाद् आह्रियते—निर्वर्त्यत इत्याहारकम्, "बहुलम्" (सि० ५–१–२) इति वचनात् कर्मणि णकप्रत्ययः, यथा पादहारक इत्यादौ, तच्च वैक्रियापेक्षयाऽत्यन्तशुभं स्वच्छस्फटिकशिलेव शुभ्रपुद्गलसमूहघटनात्मकम्, आहारकनिबन्धनं नाम आहारकनाम, यदुदयवशाद् आहारकशरीरप्रायोग्यान् पुद्गलानादाय आहारकशरीररूपतया परिणमयति, परिणमय्य च जीवप्रदेशैः सहान्योऽन्यानुगमरूपतया सम्बन्धयतीति ३ । तथा तेजसा तेजःपुद्गलैर्निर्वृत्तं तैजसम्, यद् भुक्ताहारपरिणमनहेतुर्यद्वशाच्च विशिष्टतपःसमुत्थलब्धिविशेषस्य पुंसस्तेजोलेश्याविनिर्गमः, तेजोनिबन्धनं नाम तैजसनाम, यदुदयवशात् तैजसशरीरप्रायोग्यान् पुद्गलानादाय तैजसशरीररूपतया परिणमयति, परिणमय्य च जीवप्रदेशैः सहान्योऽन्यानुगमरूपतया सम्बन्धयतीति ४ । तथा कर्मपरमाणुषु भवं कार्मिकं कार्मणशरीरमित्यर्थः । कर्मपरमाणव एवात्मप्रदेशैः सह क्षीरनीरवदन्योऽन्यानुगताः सन्तः कार्मणशरीरम्, कर्मणो विकारः कार्मणमिति व्युत्पत्तेः । तदुक्तम्—

> कम्मविगारो कम्मणमट्ठविहविचित्तकम्मनिप्फन्नं ।
> सव्वेसिं सरीराणं कारणभूयं मुणेयव्वं ॥

अत्र "सव्वेसिं" ति सर्वेषामौदारिकादिशरीराणां 'कारणभूतं' बीजभूतं कार्मणशरीरम् । न खल्वामूलमुच्छिन्ने भवप्रपञ्चप्ररोहबीजभूते कार्मणे वपुषि शेषशरीरप्रादुर्भावसम्भवः । इदं च कार्मणशरीरं जन्तोर्गत्यन्तरसङ्क्रान्तौ साधकतमं कारणम् । तथाहि—कार्मणेनैव वपुषा परिकरितो जन्तुर्मरणदेशमपहायोत्पत्तिदेशमभिसर्पति । ननु यदि कार्मणवपुःपरिकरितो गत्यन्तरं सङ्क्रामति तर्हि स गच्छन्नागच्छन् वा कस्मात् नोपलक्ष्यते? उच्यते—कर्मपुद्गलानामतिसूक्ष्मतया चक्षुरादीन्द्रियाऽगोचरत्वात् । आह च प्रज्ञाकरगुप्तोऽपि—

> अन्तरा भवदेहोऽपि, सूक्ष्मत्वान्नोपलक्ष्यते ।
> निष्क्रामन् प्रविशन् वाऽपि, नाभावोऽनीक्षणादपि ॥

---

१ कार्मणं दा० क० ख० ग० घ० ॥ २ कर्मविकारः कार्मणमष्टविधविचित्रकर्मनिष्पन्नम् । सर्वेषां शरीराणां कारणभूतं ज्ञातव्यम् ॥

कार्मणनिबन्धनं नाम कार्मणनाम, यदुदयात् कार्मणप्रायोग्यान् पुद्गलानादाय कार्मणशरीररूपतया परिणमयति, परिणमय्य च जीवप्रदेशैः सहान्योऽन्यानुगमरूपतया सम्बन्धयतीति ५ ॥ ३२ ॥ उक्तं तनुनाम पञ्चधा ३, इदानीमङ्गोपाङ्गनाम त्रिधा माह—

बाहूरु पिट्ठि सिर उर, उयरंग उवंग अंगुलीपमुहा ।
सेसा अंगोवंगा, पढमतणुतिगस्सुवंगाणि ॥ ३३ ॥

'बाहू' भुजद्वयम् 'ऊरू' ऊरुद्वयम् 'पृष्ठि' प्रतीता 'शिर' मस्तकम् 'उर' वक्ष 'उदरं' पोट्टमित्यष्टावङ्गान्युच्यन्ते । इह विभक्तिलोपः प्राकृतत्वात्, एवमन्यत्रापि । उपाङ्गानि अङ्गुलीप्रमुखाणि, इह पुंस्त्वं प्राकृतत्वात् । 'शेषाणि' तत्प्रत्यवयवभूतान्यङ्गुलपर्वरेखादीनि अङ्गोपाङ्गानि, इहापि पुंस्त्वं प्राकृतत्वात् । प्राकृते हि लिङ्गमतन्त्रम् । यदाहुः प्रभुश्रीहेमचन्द्रसूरिपादाः स्वप्राकृतलक्षणे—"लिङ्गमतन्त्रम्" (सि० ८-४-४४५) इति । इमानि च उपाङ्गानि "पढमतणुतिगस्स" त्ति प्रथमा—आद्या यास्तनवः—शरीराणि तासां त्रिकं—त्रितयमौदारिकवैक्रियाऽऽहारकस्वरूपम्, तस्य प्रथमतनुत्रिकस्य भवन्ति । ततः प्रथमतनुत्रिकद्वारेणाङ्गोपाङ्गनामापि त्रिविधं मन्तव्यम् । तथाहि—औदारिकाङ्गोपाङ्गनाम वैक्रियाङ्गोपाङ्गनाम आहारकाङ्गोपाङ्गनाम । तत्र यदुदयाद् औदारिकशरीरत्वेन परिणतानां पुद्गलानामङ्गोपाङ्गविभागपरिणतिरुपजायते तद् औदारिकाङ्गोपाङ्गनाम १ । यदुदयाद् वैक्रियशरीरत्वेन परिणतानां पुद्गलानामङ्गोपाङ्गविभागपरिणतिरुपजायते तद् वैक्रियाङ्गोपाङ्गनाम २ । यदुदयाद् आहारकशरीरत्वेन परिणतानां पुद्गलानामङ्गोपाङ्गविभागपरिणतिरुपजायते तद् आहारकाङ्गोपाङ्गनाम ३ । तैजसकार्मणयोस्तु जीवप्रदेशसंस्थानानुरोधित्वात् नास्त्यङ्गोपाङ्गसम्भव इति ॥ ३३ ॥

उक्तं त्रिविधमङ्गोपाङ्गनाम । साम्प्रतं बन्धननामस्वरूपमाह—

उरलाइपुग्गलाणं, निबद्धबज्झंतयाण संबंधं ।
जं कुणइ जउसमं तं, उरलाईबंधणं नेयं ॥ ३४ ॥

औदारिकादिपुद्गलानाम् आदिशब्दाद् वैक्रियपुद्गलानाम् आहारकपुद्गलानां तैजसपुद्गलानां कार्मणपुद्गलानाम्, किंविशिष्टानाम्? इत्याह—"निबद्धबज्झंतयाण" त्ति निबद्धाश्च बध्यमानाश्च निबद्धबध्यमानास्तेषां 'निबद्धबध्यमानानां' पूर्वबद्धानां बध्यमानानां च यद् कर्म 'सम्बन्धं' परस्परं मीलनं करोति दारूणामिव जतु, अत एव जतुसमं तद् औदारिकादिबन्धनम्, आदिशब्दाद् वैक्रियबन्धनम् आहारकबन्धनं तैजसबन्धनं कार्मणबन्धनं 'ज्ञेयं' ज्ञातव्यमिति गाथाक्षरार्थः । भावार्थस्त्वयम्—इह पूर्वगृहीतैरौदारिकपुद्गलैः सह परस्परं गृह्यमाणान् औदारिकपुद्गलान् उदितेन येन कर्मणा बध्नाति—आत्मा अन्योऽन्यसंयुक्तान् करोति तद् औदारिकशरीरबन्धननाम दारुपाषाणादीनां जतुरालाप्रभृतिश्लेषद्रव्यतुल्यम् १ । पूर्वगृहीतैर्वैक्रियपुद्गलैः सह परस्परं गृह्यमाणान् वैक्रियपुद्गलान् उदितेन येन कर्मणा बध्नाति—आत्माऽन्योऽन्यसंयुक्तान् करोति तद् जतुसमं वैक्रियशरीरबन्धननाम २ । पूर्वगृहीतैराहारकशरीरपुद्गलैः सह परस्परं गृह्यमाणान् आहारकपुद्गलान् उदितेन येन कर्मणा बध्नाति—आत्माऽन्योऽन्यसंयुक्तान् करोति तद् जतुसममाहा-

१ पुट्ठि क० ख० ग० ङ० ॥ २ पेटमि° घ० ॥

रकशरीरबन्धननाम ३ । पूर्वगृहीतैस्तैजसपुद्गलैः सह परस्परं गृह्यमाणांस्तैजसपुद्गलान् उदितेन येन कर्मणा बध्नाति–आत्माऽन्योऽन्यसंयुक्तान् करोति तद् जतुसमं तैजसशरीरबन्धननाम ४ । पूर्वगृहीतैः कार्मणपुद्गलैः सह परस्परं गृह्यमाणान् कार्मणपुद्गलान् उदितेन येन कर्मणा बध्नाति–आत्माऽन्योऽन्यसंयुक्तान् करोति तद् जतुसमं कार्मणशरीरबन्धननाम ५ । यदि पुनरिदं शरीरपञ्चकपुद्गलानामौदारिकादिशरीरनाम सामर्थ्याद्गृहीतानामन्योऽन्यसम्बन्धकारि बन्धनपञ्चकं न स्यात् ततस्तेषां शरीरपरिणतौ सत्यामप्यसम्बन्धत्वात् पवनाहतकुण्डस्थितासीमितसक्तूनामिवैकत्र स्थैर्यं न स्यादिति ॥ ३४ ॥ उक्तं बन्धनस्वरूपम् । इदं च बन्धननाम असङ्घातानां पुद्गलानां न सम्भवति, अतोऽन्योऽन्यसन्निधानलक्षणपुद्गलसंहतेः कारणं सङ्घातनमाह—

जं संघायइ उरलाइपुग्गले तणगणं व दंताली ।
तं संघायं बन्धणमिव तणुनामेण पंचविहं ॥ ३५ ॥

यत् कर्म 'सङ्घातयति' पिण्डीकरोति औदारिकादिपुद्गलान् आदिशब्दाद् वैक्रियपुद्गलान् आहारकपुद्गलान् तैजसपुद्गलान् कार्मणपुद्गलान्, तत्र दृष्टान्तमाह—'तृणगणमिव' तृणोत्करमिवेतश्चेतश्च विक्षिप्तं 'दन्ताली' काष्ठमयी मल्लमण्डलप्रसिद्धा, तत् 'सङ्घातं' सङ्घातननाम, तच्च पूर्वोक्तं बन्धननामापि 'तनुनाम्ना' शरीराभिधानेन पञ्चविधं भवतीति । तत्र बन्धननाम पूर्वमेव भावितम् । अथ सङ्घातनाम भाव्यते—औदारिकसङ्घातनाम वैक्रियसङ्घातनाम आहारकसङ्घातनाम तैजससङ्घातनाम कार्मणसङ्घातनाम । तत्र यदुदयाद् औदारिकशरीरत्वपरिणतान् पुद्गलानात्मा सङ्घातयति–अन्योऽन्यसन्निधानेन व्यवस्थापयति तद् औदारिकसङ्घातननाम १ । यदुदयाद् वैक्रियशरीरत्वपरिणतान् पुद्गलानात्मा सङ्घातयति–अन्योऽन्यसन्निधानेन व्यवस्थापयति तद् वैक्रियसङ्घातननाम २ । यदुदयाद् आहारकशरीरत्वपरिणतान् पुद्गलानात्मा सङ्घातयति–अन्योऽन्यसन्निधानेन व्यवस्थापयति तद् आहारकसङ्घातननाम ३ । यदुदयात् तैजसशरीरत्वपरिणतान् पुद्गलानात्मा सङ्घातयति–अन्योऽन्यसन्निधानेन व्यवस्थापयति तत् तैजससङ्घातननाम ४ । यदुदयात् कार्मणशरीरत्वपरिणतान् पुद्गलानात्मा सङ्घातयति–अन्योऽन्यसन्निधानेन व्यवस्थापयति तत् कार्मणसङ्घातननाम ५ इति ॥ ३५ ॥

उक्तं पञ्चधा बन्धननाम पञ्चधा सङ्घातननाम । सम्प्रति "सते वा पनरबंधणे तिसयं" इति (३०) गाथासूचितं बन्धनपञ्चदशकं व्याचिख्यासुराह—

ओरालविउव्वाहारयाण सगतेयकम्मजुत्ताणं ।
नव बंधणाणि इयरदुसहियाणं तिन्नि तेसिं च ॥ ३६ ॥

औदारिकवैक्रियाऽऽहारकशरीराणां नव बन्धनानीति योगः । कीदृशानां सताम्[२] इत्याह—'स्वकतैजसकार्मणयुक्तानाम्' प्रत्येकं स्वकतैजसकार्मणानां मध्यादन्यतरेण युक्तानामित्यर्थः । "नव" त्ति नवसङ्ख्यानि बन्धनानि बन्धनप्रकृतयो भवन्तीति । औदारिकवैक्रियाहारकाणां त्रयाणामपि प्रत्येकं स्वनाम्ना तैजसेन कार्मणेन च योगाद् द्विकसंयोगनिष्पन्नान्येकैकस्य औदारिकादेस्त्रीणि त्रीणि बन्धनानि भवन्ति, तेषां च त्रयाणां त्रिकाणां मीलने नव बन्धनानीति ।

१ यमवि त° क० ॥ २ सत्वते क० घ० ॥

तथाहि—औदारिकौदारिकबन्धननाम १ औदारिकतैजसबन्धननाम २ औदारिककार्मणबन्धननाम ३, वैक्रियवैक्रियबन्धननाम १ वैक्रियतैजसबन्धननाम २ वैक्रियकार्मणबन्धननाम ३, आहारकाऽऽहारकबन्धननाम १ आहारकतैजसबन्धननाम २ आहारककार्मणबन्धननाम ३। तत्र पूर्वगृहीतैरौदारिकशरीरपुद्गलैः सह गृह्यमाणौदारिकपुद्गलानां बन्धो येन क्रियते तद् औदारिकौदारिकबन्धननाम १। येनौदारिकपुद्गलानां तैजसशरीरपुद्गलैः सहं सम्बन्धो विधीयते तद् औदारिकतैजसबन्धननाम २। येनौदारिकपुद्गलानां कार्मणशरीरपुद्गलैः सहं सम्बन्धो विधीयते तद् औदारिककार्मणबन्धननाम ३। एवमनेन न्यायेनान्यान्यपि बन्धनानि वाच्यानि। शेषबन्धननिरूपणायाह—"इयरदुसहियाण तिन्नि" त्ति इतरे—स्वकीयनामापेक्षयाऽन्ये तैजसकार्मणशरीरे, तत प्राकृतत्वादन्यथोपन्यासेऽपि द्वे च ते इतरे च द्वीतरे ताभ्यां सहितानि—युक्तानि द्वीतरसहितानि, यद्वा "दु" त्ति द्विकं तत इतरच्च तद्द्विकं चेतरद्विकं तेन सहितानि इतरद्विकसहितानि तेषां द्वीतरसहितानाम् इतरद्विकसहितानां वा, औदारिकवैक्रियाहारकाणामत्रापि योज्यम्, त्रीणि बन्धनानि भवन्ति। अयमाशय—प्रत्येकमौदारिकवैक्रियाहारकाणां तैजसकार्मणाभ्यां युगपत् सयोगे त्रिकसंयोगरूपाणि त्रीणि बन्धनानि भवन्ति। तथाहि—औदारिकतैजसकार्मणबन्धननाम १ वैक्रियतैजसकार्मणबन्धननाम २ आहारकतैजसकार्मणबन्धननाम ३। अर्थ पूर्वोक्त एव। न केवलमेषामौदारिकादीनामितरद्विकसहितानामेव त्रीणि बन्धनानि भवन्ति, किन्तु "तेसिं च" त्ति त्रीणीति शब्दो डमरुकमणिन्यायादत्रापि योज्य। ततोऽयमर्थ—तयोश्चेतरशब्दवाच्ययोस्तैजसकार्मणयो स्वनाम्ना इतरेण च योगे त्रीणि बन्धनानि भवन्ति। यथा—तैजसतैजसबन्धननाम १ तैजसकार्मणबन्धननाम २ कार्मणकार्मणबन्धननाम ३। तदेवं नव त्रीणि त्रीणि च मिलितानि पञ्चदश बन्धनानीति।

अत्राह—पञ्चानां शरीराणां द्विकादियोगप्रकारेण षड्विंशतिः संयोगा भवन्ति, तत्तुल्यबन्धनानि च कस्मात् न भवन्ति? उच्यते—औदारिकवैक्रियाहारकाणां परस्परविरुद्धत्वादन्योऽन्यसम्बन्धाभावात् पञ्चदशैव भवन्ति, नाधिकानि।

आह—यथा पञ्चदश बन्धनानि भवन्ति, एवमनेनैव क्रमेण पञ्चदश सङ्घाता अपि कस्मात् नाभिधीयन्ते? सङ्घातितानामेव बन्धनभावात्, तथाहि—पाषाणयुग्मस्य कृतसङ्घातस्यैवोत्तरकालं वज्रलेपलाक्षादिना बन्धनं क्रियते, तदसत्, यतो लोके ये स्वजातौ संयोगा भवन्ति त एव शुभाः, एवमिहापि स्वशरीरपुद्गलानां स्वशरीरपुद्गलैः सह ये संयोगरूपाः सङ्घातास्ते शुभा इति प्राधान्यख्यापनाय पञ्चैव सङ्घाता अभिहिता इति ॥ ३६ ॥

व्याख्यातानि पञ्चदशापि बन्धनानि। सम्प्रति संहनननाम षड्विधमभिधित्सुर्गाथायुगलमाह—

संघयणमट्ठिनिचओ, तं छद्धा वज्जरिसहनारायं।
तह रिसहनारायं, नारायं अद्धनारायं ॥ ३७ ॥
कीलिय छेवट्ठं इह, रिसहो पट्टो य कीलिया वज्जं।
उभओ मक्कडबंधो, नारायं इममुरालंगे ॥ ३८ ॥

१-२ °इ बन्धो ख० ग० ङ० ॥

सहन्यन्ते—दृढीक्रियन्ते शरीरपुद्गला येन तत् सहननम्, तच्च 'अस्थिनिचय'[1] कीलिकादि-रूपाणामस्था निचय—रचनाविशेषोऽस्थिनिचय । तत् सहनन 'षड्धा' षट्प्रकारैर्भवति । तद्यथा—वज्रऋषभनाराच १ तथा ऋषभनाराचम् २ इहानुस्वारोऽलाक्षणिक, नाराचम् ३ अर्धनाराच ४ कीलिका ५ सेवार्तम् ६ । 'इह' प्रवचने 'ऋषभ' ऋषभशब्देन परिवेष्टनपट्ट उच्यते, 'वज्र' वज्रशब्देन कीलिकाऽभिधीयते, 'नाराच' नाराचशब्देनोभयतो मर्कटबन्धो भण्यते । 'इदम्' अस्थिनिचयात्मक सहननम् 'औदारिकाङ्गे' औदारिकशरीर एव, नान्येषु शरीरेषु, तेषामस्थिरहितत्वात् । इति गाथायुगलाक्षरार्थ । भावार्थ' पुनरयम्—इह द्वयोरस्थ्नो-रुभयतो मर्कटबन्धेन बद्धयो' पट्टाकृतिना तृतीयेन अस्थ्ना परिवेष्टितयोरुपरि तदस्थित्रयभेदि कीलिकाख्य वज्रनामकमस्थि यत्र भवति तद् वज्रऋषभनाराचम्, तन्निबन्धन नाम, वज्रऋ-षभनाराचनाम १ । यत् पुन कीलिकारहित सहनन तद् ऋषभनाराचम्, तन्निबन्धन नाम ऋषभनाराचनाम २ । यत्र पुनर्मर्कटबन्ध केवलो भवति न पुन कीलिका ऋषभसज्ञ पट्टश्च तद् नाराचम्, तन्निबन्धन नाम नाराचनाम ३ । यत्र त्वेकपार्श्वेन मर्कटबन्धो द्विती-यपार्श्वेन च कीलिका भवति तद् अर्धनाराचम्, तन्निबन्धन नामाऽर्धनाराचनाम ४ । यत्र पुनरस्थीनि कीलिकामात्रबद्धान्येव भवन्ति तत् कीलिकासंहननम्, तन्निबन्धन नाम कीलि-कानाम ५ । यत्र तु परस्पर पर्यन्तस्पर्शलक्षणा सेवामागतान्यस्थीनि भवन्ति स्नेहाभ्यवहार-तैलाभ्यङ्गविश्रामणादिरूपा च परिशीलना नित्यमपेक्षन्ते तत् सेवार्तम्, तन्निबन्धन नाम सेवा-र्तनाम ६ । यद्वा "छेवट्ठ" ति दकारस्य लुप्तस्येह दर्शनात् छेदानाम्—अस्थिपर्यन्ताना वृत्त—परस्पर-सम्बन्धघटनालक्षण वर्तन वृत्तिर्यत्र तत् छेदवृत्तम्, कीलिकापट्टमर्कटबन्धरहितमस्थिपर्यन्तमा-त्रसंस्पर्शि षष्ठमित्यर्थ । ततो यदुदयात् शरीरे वज्रऋषभनाराचसहनन भवति तद् वज्रऋष-भनाराचसहनननामकर्मेति । एवमृषभनाराचादिष्वपि वाच्यमिति ॥ ३७ ॥ ३८ ॥

व्याख्यात षड्विध सहनननाम । सम्प्रति षोढा सस्थाननाम विवक्षुराह—

समचउरस निग्गोहसाइखुज्जाइँ वामणं हुंड ।
सठाणा वन्ना किण्हनीललोहियहलिद्दसिया ॥ ३९ ॥

समचतुरस्रम् १ "निग्गोह" त्ति पदैकदेशेऽपि पदप्रयोगदर्शनात् न्यग्रोधपरिमण्डलम् २ सादि ३ कुब्जम् ४ वामनम् ५ हुण्डम् ६ इति षट् 'संस्थानानि' अवयवरचनात्मकशरीरा-कृतिस्वरूपाणि शरीरे भवन्तीति शेष । तत्र समा —शास्त्रोक्तलक्षणाऽविसंवादिन्यश्चतस्रोऽस्रय — पर्यङ्कासनोपविष्टस्य जानुनोरन्तरम्, आसनस्य ललाटोपरिभागस्य चान्तरम्, दक्षिणस्कन्धस्य वामजानुनश्चान्तरम्, वामस्कन्धस्य दक्षिणजानुनश्चान्तरमिति चतुर्दिग्विभागोपलक्षिता शरी-रावयवा यत्र तत् समचतुरस्रम्, "सुप्रातसुश्वसुदिवशारिकुक्षचतुरस्रैणीपदाऽजपद्प्रोष्ठपदभद्रप-दम्" (सि० ७-३-१२९) इति सूत्रेण समासान्तोऽप्रत्यय, समचतुरस्र च तद् सस्थानं च समचतुरस्रसस्थानम् । तुल्यारोहपरिणाह सम्पूर्णलक्षणोपेताङ्गोपाङ्गावयव स्वाङ्गुलाष्टाधिकश-

१ °कारं भ० स्व० ग० ङ० ॥ २ °पार्श्वे म° क० ग०' । एवमग्रेऽपि ॥ ३ सादि ३ वामनम् ४ कुब्जम् ५ हु° स्व० ग० ङ० ॥

सोच्छ्रय' सर्वसंस्थानप्रधान' पञ्चेन्द्रियजीवशरीराकारविशेष समचतुरस्रसंस्थानं निबन्धनं नाम समचतुरस्रनाम १ । न्यग्रोधवत् परिमण्डल यस्य तद् न्यग्रोधपरिमण्डलम्, यथा न्यग्रोध — वटवृक्ष उपरि सम्पूर्णावयवोऽधस्तु हीनस्तथा यत् संस्थान नामेरुपरि सम्पूर्णावयवम् अधस्तु न तथा तद् न्यग्रोधपरिमण्डलम्, तन्निबन्धन नाम न्यग्रोधपरिमण्डलनाम २ । सह आदिना— नामेरधस्तनभागरूपेण यथोक्तप्रमाणयुक्तेन वर्तत इति सादि । सर्वमपि हि शरीरं सादि, ततः सादित्वविशेषणान्यथानुपपत्तेरादिरिह विशिष्टो ज्ञातव्य । ततो यत्र नामेरधो यथोक्तप्रमाण- युक्तमुपरि च हीन तत् सादि संस्थानम्, तन्निबन्धन नाम सादिनाम ३ । यत्र पाणिपाद- शिरोग्रीव यथोक्तप्रमाणोपपन्नम् उरउदरादि च मडभ तत् कुब्जसंस्थानम्, तन्निबन्धनं नाम कुब्जनाम ४ । यत्र पुनरुरउदरादि यथोक्तप्रमाणोपेत हस्तपादादिक च हीन तद् वामनसं- स्थानम्, तन्निबन्धन नाम वामननाम ५ । अन्ये तु कुब्जवामनयोर्विपरीत लक्षणमाहु' । यत्र सर्वेऽप्यवयवा शास्त्रोक्तप्रमाणहीनास्तत् सर्वत्रासंस्थित हुण्डसंस्थानम्, तन्निबन्धन नाम हुण्ड- नाम ६ । ततो यदुदयाद् जन्तुशरीरं समचतुरस्रसंस्थान भवति तत्कर्मापि समचतुरस्रसंस्थान- नामेति । एव न्यग्रोधपरिमण्डलादिष्वपि योज्यम् । उक्त षोढा संस्थाननाम ॥

इदानीं पञ्चधा वर्णनामाऽऽह—वर्णा' पञ्च भवन्ति कृष्ण१नील२लोहित३हारिद्र४सिता ५ । तत्र यदुदयाद् जन्तुशरीरं कृष्ण भवति राजपट्टादिवत् तत्कर्मापि कृष्णनाम १ । यदुदयाद् जन्तुशरीरं मरकतादिवद् नील भवति तद् नीलनाम २ । यदुदयाद् जन्तुशरीरं लोहित—रक्त हिङ्गुलादिवद् भवति तद् लोहितनाम ३ । यदुदयाद् जन्तुशरीर—हारिद्र—पीत हरिद्रावद् भवति तद् हारिद्रनाम ४ । यदुदयाद् जन्तुशरीर सित—श्वेत शङ्खादिवद् भवति तद् सितनाम ५ । कपिशादयस्त्वेतत्संयोगेनैवोत्पद्यन्ते, न पुन सर्वथैतद्विलक्षणा इति न दर्शिता ॥ ३९ ॥

उक्त वर्णनाम पञ्चधा । अथ गन्धनाम द्विधाऽऽह—

सुरहिदुरही रसा पण, तित्तकडुकसायअंबिला महुरा ।
फासा गुरुलहुमिउखरसीउण्हसिणिद्धरुक्खट्ठ ॥ ४० ॥

इह गन्धशब्द प्रक्रमाद् गम्यते, तत सुरभिगन्धो दुरभिगन्धश्च द्वेधा गन्ध । तत्र सौमु ख्यकृत् सुरभिगन्ध, यदुदयाद् जन्तुशरीर कर्पूरादिवत् सुरभिगन्ध भवति तत् सुरभिगन्ध- नाम १ । वैमुख्यकृत् दुरभिगन्ध, यदुदयाद् जन्तुशरीर लशुनादिवद् दुरभिगन्ध भवति तद् दुरभिगन्धनाम २ । अत्राप्युभयसंयोगजा पृथग् नोक्ता, एतत्संसर्गजत्वादेव भेदाविवक्ष णात् । उक्त द्विधा गन्धनाम ॥

अथ पञ्चधा रसनामाऽऽह—रसा पूर्वोक्तशब्दार्था' पञ्च भवन्ति । तथाहि—तिक्तकटुक- षायाऽम्लाश्चत्वारो मधुरश्च पञ्चम । तत्र श्लेष्मादिदोषहन्ता निम्बाद्याश्रितस्तिक्तो रस ।

तथा च भिषक्शास्त्रम्—

श्लेष्माणमरुचिं पित्त, तृष कुष्ठं विष ज्वरम् ।
हन्यात् तिक्तो रसो बुद्धे, कर्ता मात्रोपसेवित ॥ इति ।

---

१ हुण्ड सं° छा० ग० ॥ २ °हुलकादि° ख० ग० ङ० ॥

यदुदयाद् जीवशरीरं निम्बादिवत् तिक्तं भवति तत् तिक्तनाम १ । गलामयादिप्रशमनो मरिचनागराद्याश्रितः कटुः । यदवादि—

कटुर्गलामयं शोफं, हन्ति युक्त्योपसेवितः ।
दीपनः पाचको रुच्यो, बृंहणोऽतिकफापहः ॥

यदुदयाद् जन्तुशरीरं मरिचादिवत् कटु भवति तत् कटुनाम २ । रक्तदोषाद्यपहर्ता बिभीतकाऽऽमलककपित्थाद्याश्रितः कषायः । यदभाणि—

रक्तदोषं कफं पित्तं, कषायो हन्ति सेवितः ।
रूक्षः शीतो गुरुर्ग्राही, रोपणश्च स्वरूपतः ॥

यदुदयाद् जन्तुशरीरं बिभीतकादिवत् कषायं भवति तत् कषायनाम ३ । अग्निदीपनादिकृद् अम्लीकाद्याश्रितोऽम्लः । यदभ्यधायि—

अम्लोऽग्निदीप्तिकृत् स्निग्धः, शोफपित्तकफापहः ।
क्लेदनः पाचनो रुच्यो, मूढवातानुलोमकः ॥

यदुदयाद् जीवशरीरमम्लीकादिवद् अम्लं भवति तद् अम्लनाम ४ । पित्तादिप्रशमकः खण्डशर्कराद्याश्रितो मधुरः । यदवाचि—

पित्तं वातं कफं हन्ति, धातुवृद्धिकरो गुरुः ।
जीवनः केशकृद् बालवृद्धक्षीणौजसां हितः ॥

यदुदयाद् जन्तुशरीरमिक्ष्वादिवद् मधुरं भवति तद् मधुरनाम ५ । स्थानान्तरे स्तम्भिताहारविध्वंसादिकर्ता सिन्धुलवणाद्याश्रितो लवणोऽपि रसः पठ्यते, स चेह नोपात्तः, मधुरादिसंसर्गजत्वात् तदभेदेन विवक्षणात् । सम्भाव्यते च तत्र माधुर्यादिसंसर्गः, सर्वरसानां लवणप्रक्षेप एव स्वादुत्वोपपत्तेरिति । अभिहितं पञ्चधा रसनाम ॥

अधुना स्पर्शनाम अष्टधा प्राह—स्पृश्यन्त इति स्पर्शाः 'अष्टौ' अष्टसङ्ख्याका भवन्ति । तथाहि—गुरु १ लघु २ मृदु ३ खर ४ शीत ५ उष्ण ६ स्निग्ध ७ रूक्षाः ८ इति । तत्राधोगमनहेतुरयोगोलकादिगतो गुरुः १ । प्रायस्तिर्यगूर्ध्वगमनहेतुरर्कतूलादिनिश्रितो लघुः २ । सन्नतिकारणं तिनिसलतादिगतो मृदुः ३ । स्तब्धतादिकारणं दृषदादिगतः खरः ४ । देहस्तम्भादिहेतुः प्रालेयाद्याश्रितः शीतः ५ । आहारपाकादिकारणं ज्वलनाद्यनुगत उष्णः ६ । पुद्गलद्रव्याणां मिथः संयुज्यमानानां बन्धनिबन्धनं तैलादिस्थितः स्निग्धः ७ । पुद्गलद्रव्याणां मिथोऽसंयुज्यमानानामबन्धनिबन्धनं भस्माद्याधारो रूक्षः ८ । एतत्संसर्गजास्तु नोक्ताः, एष्वेवान्तर्भावादिति । ततो यदुदयाद् जन्तुशरीरं गुरु भवति वज्रादिवद् तद् गुरुस्पर्शनाम १ । यदुदयाद् जन्तुशरीरमर्कतूलादिवद् लघु भवति तद् लघुस्पर्शनाम २ । यदुदयाद् जन्तुशरीरं हंसरुतादिवद् मृदु भवति तद् मृदुस्पर्शनाम ३ । यदुदयाद् जन्तुशरीरं खरं—कर्कशं पाषाणादिवद् भवति तत् खरस्पर्शनाम ४ । यदुदयाद् जन्तुशरीरं शीतं—शीतलं मृणालादिवद् भवति तत् शीतस्पर्शनाम ५ । यदुदयाद् जन्तुशरीरं हुतभुजादिवद् उष्णं भवति तद् उष्णस्पर्शनाम ६ । यदुदयाद् जन्तुशरीरं घृतादिवत् स्निग्धं भवति तत् स्निग्धस्पर्शनाम ७ । यदुदयाद् जन्तुशरीरं

मूलादिवद् रूक्ष भवति तद् रूक्षस्पर्शनाम ८ ॥ ४० ॥ उक्तमष्टधा स्पर्शनाम । इदानीं वर्णादिचतुष्कोत्तरविंशतिभेदाना शुभाशुभत्वयोरभिधित्सया आह[1]—

नीलकसिण दुगंधं, तित्तं कडुय गुरुं खरं रुक्खं।
सीयं च असुहनवगं, इक्कारसगं सुभं सेसं ॥ ४१ ॥

'नीलकृष्ण' नीलकृष्णाख्ये कर्मणी अशुभे, दुर्गन्धनाम, "तित्त कडुय" इति तिक्तकटुके रसनाम्नी, गुरु खर रूक्ष शीत चेति चत्वारि स्पर्शनामानि। एतानि च सर्वाण्यपि समुदितानि किमुच्यते? इत्याह—'अशुभनवक' नव प्रकृतयः परिमाणमस्य प्रकृतिवृन्दस्य तद् नवकम्, अशुभ च तद् नवक च अशुभनवकम्। 'एकादशकम्' एकादशप्रकृतिसमूहरूप, यथा रक्तपीतश्वेतवर्णा, सुरभिगन्ध, मधुराऽम्लकषायरसा, लघुमृदुस्निग्धोष्णस्पर्शा इति 'शुभ' शुभविपाकवेद्यत्वात् शुभस्वरूपम्। कीदृक्ष तत्? इत्याह—'शेष' कुवर्णनवकाद् अवशिष्टम्, कोऽर्थ? कुवर्णनवकात् शेषा एकादश वर्णादिभेदा शुभवर्णैकादशकमुच्यत इति ॥ ४१ ॥

अधुना गतिनामातिदेशेनाऽऽनुपूर्वीचतुष्टयम्, आनुपूर्वीसम्बन्धेनोत्तरत्रोपयोगिप्रकृतिसमुदायसङ्ग्राहिनरकद्विकादिरूप संज्ञान्तर, विहायोगतिद्विकं चाभिधातुमाह—

चउह गइ व्वऽणुपुव्वी, गइपुव्विदुग तिगं नियाउजुयं।
पुव्वीउदओ वक्के, सुह असुह वसुट्ट विहगगई ॥ ४२ ॥

चतुर्धा गतिरिवाऽऽनुपूर्वी मागुक्तरूपा भवति। कोऽर्थ?—गत्यभिधानव्यपदेश्यमानुपूर्वीनाम, ततो निरयानुपूर्वीतिर्यगानुपूर्वीमनुष्यानुपूर्वीदेवानुपूर्वीभेदत आनुपूर्वीनाम चतुर्धेति तात्पर्यम्। तत्र नरकगत्या नामकर्मप्रकृत्या सहचरिताऽऽनुपूर्वी नरकगत्यानुपूर्वी, तत्समकाल चास्या वेद्यमानत्वात् तत्सहचरितत्वम्। एव तिर्यग्मनुष्यदेवाऽऽनुपूर्व्योऽपि वाच्या। "गइपुव्विदुग" ति इह पूर्वीशब्देनाऽऽनुपूर्वी भण्यते, आनुशब्दलोप "ते लुग्वा" (सि० ३-२-१०८) इति सूत्रेण, यथा देवदत्त देव दत्त इति। ततो नरकादिगतिनरकाद्यानुपूर्वीस्वरूप नरकादिद्विकमुच्यते। तदेव त्रिकमभिधीयते—गतिपूर्वीद्विकमिह काकाक्षिगोलकन्यायेन सम्बध्यते। कीदृक्ष तद्? इत्याह—'निजायुर्युत' नरकाद्यायुष्कसमन्वित नरकादित्रिकमुच्यत इति हृदयम्। उपलक्षणत्वाद् वैक्रियषट्क विकलत्रिकम् औदारिकद्विक वैक्रियद्विकम् आहारकद्विकम् अगुरुलघुचतुष्क वैक्रियाष्टकमित्याद्यनुक्त संज्ञान्तर ग्राह्यम्। तत्र देवगतिर्देवानुपूर्वी नरकगतिर्नरकानुपूर्वी वैक्रियशरीर वैक्रियाङ्गोपाङ्गमिति वैक्रियषट्कम्। द्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियाणा जातयो विकलत्रिकम्। औदारिकशरीर औदारिकाङ्गोपाङ्गमित्यौदारिकद्विकम्। वैक्रियशरीर वैक्रियाङ्गोपाङ्गमिति वैक्रियद्विकम्। आहारकशरीरम् आहारकाङ्गोपाङ्गमित्याहारकद्विकम्। देवगतिर्देवानुपूर्वी देवायुर्नरकगतिर्नरकानुपूर्वी नरकायुर्वैक्रियशरीरं वैक्रियाङ्गोपाङ्गमिति वैक्रियाष्टकम्। अगुरुलघु१उपघात२पराघात३उच्छ्वास४लक्षणमगुरुलघुचतुष्कमिति। ननु आनुपूर्व्या उदयो नरकादिषु किमृजुगत्या गच्छत आहोस्विद् वक्रगत्या? इत्याशङ्क्याह—"पुव्वीउदओ वक्के" त्ति पूर्व्या—आनुपूर्व्या वृषभस्य नासिकारज्जु-

[1] °दायसङ्ग्राहक° ख० ग० ङ० ॥

त्व्याया उदय –विपाको वक्र एव भवति । अयमर्थ.—नरके द्विसमयादिवक्रेण गच्छतो जीवस्य नरकानुपूर्व्या उदय , तिर्यक्षु द्विसमयादिवक्रेण जीवस्य गच्छतस्तिर्यगानुपूर्व्या उदय , मनुष्येषु द्विसमयादिवक्रेण गच्छतो जीवस्य मनुष्यानुपूर्व्या उदय , देवेषु द्विसमयादिवक्रेण गच्छतो जीवस्य देवानुपूर्व्या उदय । उक्त च बृहत्कर्मविपाके—

नेरयाउयस्स उदए, नरए वक्केण गच्छमाणस्स ।
नरयाणुपुव्वियाए, तहिँ उदओ अन्नहिँ नत्थि ॥ (गा० १२२)
एव तिरिमणुदेवे, तेसु वि वक्केण गच्छमाणस्स ।
तेसिमणुपुव्वियाण, तहिँ उदओ अन्नहिँ नत्थि ॥ (गा० १२३)

तथा विहायसा—आकाशेन गतिर्विहायोगति , सा द्विधा—'शुभा' प्रशस्ता 'अशुभा' अप्रशस्ता । क्रमेणोदाहरणमाह—"वसुट्ट" त्ति वृष —वृषभ सौरभेयो बलीवर्द इति यावत्, ततो वृषभस्य उपलक्षणत्वाद् गजकलभराजहसादीना प्रशस्ता विहायोगति । उष्ट्र —करभ क्रमेलक इति यावत्, तत उष्ट्रस्य उपलक्षणत्वात् खरतिड्डादीनामप्रशस्ता विहायोगतिरिति ॥ ४२ ॥

व्याख्याता पिण्डप्रकृतीनामुत्तरभेदा , साम्प्रतमष्टौ प्रत्येकप्रकृतीरभिधित्सुराह—

परघाउदया पाणी, परेसि बलिणं पि होइ दुद्धरिसो ।
ऊससणलद्धिजुत्तो, हवेइ ऊसासनामवसा ॥ ४३ ॥

परान् आहन्ति—परिभवति परैर्वा न हन्यते—नाभिभूयत इति पराघातम्, तन्निबन्धन नाम पराघातनाम । तत 'पराघातोदयात्' पराघातनामकर्मविपाकात् 'प्राणी' जन्तु 'परेषाम्' अन्येषा 'बलिनामपि' बलवतामपि आस्ता दुर्बलानामित्यपिशब्दार्थ , 'भवति' जायते 'दुर्धर्ष ' अनभिभवनीयमूर्ति । अयमर्थ —यदुदयात् परेषा दुष्प्रधर्ष —महौजस्वी दर्शनमात्रेण वाक्सौष्ठवेन वा महानृपसभामपि गत सभ्यानामपि क्षोभमुत्पादयति प्रतिपक्षप्रतिभाप्रतिघात च करोति तत् पराघातनामेत्यर्थ १। 'उच्छ्वासनामवशाद्' उच्छ्वासनामकर्मोदयेन 'उच्छ्वसनलब्धियुक्तो भवति' उच्छ्वासलब्धिसमन्वितो जायते, यदुदयाद् उच्छ्वसनलब्धिरात्मनो भवति तद् उच्छ्वासनाम २ । सर्वलब्धीना क्षायोपशमिकत्वाद् औदयिकी लब्धिर्न सम्भवतीति चेत्, नैतदस्ति, वैक्रियाहारकलब्धीनामौदयिकीनामपि सम्भवाद्, वीर्यान्तरायक्षयोपशमोऽपि चात्र निमित्तीभवतीति सत्यप्यौदयिकत्वे क्षायोपशमिकव्यपदेशोऽपि न विरुध्यते ॥ ४३ ॥

रविबिंबे उ जियंग, तावजुय आयवाउ न उ जलणे ।
जमुसिणफासस्स तहिं, लोहियवन्नस्स उदउ त्ति ॥ ४४ ॥

'आतपाद्' आतपनामोदयाद् जीवानामङ्ग—शरीर 'तापयुत' स्वयमनुष्णमप्युष्णप्रकाशयुक्त भवति । आतपस्य पुनरुदयो रविबिम्ब एव, तुशब्द एवकारार्थ । कोऽर्थ [१]—भानुमण्डलादिपार्थिवशरीरेष्वेव 'न तु' न पुन 'ज्वलने' हुतभुजि । अत्र युक्तिमाह—'यद्' यस्मात् कारणात् 'तत्र' ज्वलने—ज्वलनजन्तुशरीरे तेजस्कायशरीर इत्यर्थ उष्णस्पर्शस्योदयस्तथा

१ नरकायुष उदये नरके वक्रेण गच्छत । नरकानुपूर्व्यास्तत्रोदयोऽन्यत्र नास्ति ॥ एव तिर्यग्मनुष्यदेवेषु तेष्वपि वक्रेण गच्छत । तेषामानुपूर्वीणां तत्रोदयोऽन्यत्र नास्ति ॥ २ "सनि-घासल" सु० ग० उ० ॥

लोहितवर्णस्योदय इति, तेजस्कायशरीराण्येवोष्णस्पर्शोदयेनोष्णानि लोहितवर्णनामोदयात्तु प्रकाशयुक्तानि भवन्ति, न त्वातपोदयादिति भाव । यदुदयाद् जन्तुशरीराण्यात्मनाऽनुष्णा-न्यप्युष्णप्रकाशरूपमातप कुर्वन्ति तद् आतपनामेत्यर्थ, ३ ॥ ४४ ॥

अणुसिणपयासरूवं, जियगमुज्जोयए इहुज्जोया ।
जइदेवुत्तरविक्कियजोइसखज्जोयमाइ व्व ॥ ४५ ॥

इह 'उद्योताद्' उद्योतनामोदयेन 'जीवाङ्ग' जन्तुशरीरम् 'उद्योतते' उद्योत करोति, कथम् ? इत्याह—अनुष्णप्रकाशरूपम्, उष्णप्रकाशरूप हि वह्निरप्युद्योतत इति तद्व्यवच्छेदार्थमनु-ष्णप्रकाशरूपमित्युक्तम् । आह क इवोद्योतोदयाद् जन्तुशरीराण्यनुष्णप्रकाशरूपमुद्योत कुर्वन्ति ? इत्याह—'यतिदेवोत्तरवैक्रियज्योतिष्कखद्योतादय इव' तत्र यतयश्च—साधव देवाश्च—सुरा यतिदेवा, यतिदेवैर्मूलशरीरापेक्षयोत्तरकाल क्रियमाण वैक्रिय यतिदेवोत्तरवैक्रियम्, ज्योति-ष्का—चन्द्रग्रहनक्षत्रतारा, खद्योता—प्रतीता, ततो यतिदेवोत्तरवैक्रिय च ज्योतिष्काश्च खद्योताश्च ते आदिर्येषा रत्नौषधीप्रभृतीना ते यतिदेवोत्तरवैक्रियज्योतिष्कखद्योतादयस्त इव । अत्र मकारोऽलाक्षणिक । अयमर्थ—यथा यतिदेवोत्तरवैक्रिय चन्द्रग्रहादिज्योतिष्का खद्योता रत्नौषधीप्रभृतयश्चानुष्णप्रकाशात्मकमुद्योत विदधति तथा यदुदयाद् जन्तुशरीराण्यनु-ष्णप्रकाशरूपमुद्योतमातन्वन्ति तद् उद्योतनामेत्यर्थ ४ ॥ ४५ ॥

अंगं न गुरु न लहुयं, जायइ जीवस्स अगुरुलहुउदया ।
तित्थेण तिहुयणस्स वि, पुज्जो से उदओ केवलिणो ॥ ४६ ॥

'अगुरुलघूदयाद्' अगुरुलघुनामोदयेन जीवस्य 'अङ्ग' शरीर न गुरु न लघु 'जायते' भवति किन्तु अगुरुलघु । यत एकान्तगुरुत्वे हि वोढुमशक्य स्यात्, एकान्तलघुत्वे तु वायु नाऽपह्रियमाण धारयितु न पार्येत । यदुदयाद् जन्तुशरीर न गुरु न लघु नापि गुरुलघु किन्त्वगुरुलघुपरिणामपरिणत भवति तद् अगुरुलघुनामेत्यर्थ ५ । 'तीर्थेन' तीर्थकरनाम-कर्मवशात् 'त्रिभुवनस्यापि' देवमानवदानवलक्षणत्रिलोकलोकस्यापि 'पूज्य' अभ्यर्चनीयो भवति । 'से' तस्य तीर्थकरनामकर्मण 'उदय' विपाक 'केवलिन' उत्पन्नकेवलज्ञानस्यैव । यदुदयाद् जीव सदेवमनुजासुरलोकपूज्यमुत्तमोत्तम "तित्थं भंते ! तित्थं ? तित्थयरे तित्थं ? गोयमा ! अरिहा ताव नियमा तित्थकरे, तित्थ पुण चाउवन्ने समणसंघे पढमगणहरे वा ॥"[1] (भग० श० २० उ० ८ पत्र ७९२-२) इति परममुनिप्रणीतधर्मतीर्थस्य प्रवर्तयितृपदमवाप्नोति तत् तीर्थकरनामेत्यर्थ ६ ॥ ४६ ॥

अंगोवंगनियमणं, निम्माणं कुणइ सुत्तहारसमं ।
उवधाया उवहम्मइ, सतणुवयवलंबिगाईहिं ॥ ४७ ॥

'निर्माण' निर्माणनाम 'अङ्गोपाङ्गनियमनम्' अङ्गप्रत्यङ्गाना नियतप्रदेशव्यवस्थापन 'करोति' विदधाति, अत एवेद 'सूत्रधारसम' सूत्रधारकल्पम् । यदुदयाद् जन्तुशरीरेष्वङ्गोपाङ्गाना

---

[1] तीर्थं भदन्त ! तीर्थम् ? तीर्थकरस्तीर्थम् ? गौतम ! अर्हंस्तावन्नियमात् तीर्थङ्कर, तीर्थं पुनश्चातुर्वर्णो श्रमणसङ्घ, प्रथमगणधरो वा ॥ ३ तत सू० रा० ॥

प्रतिनियतस्थानवृत्तिता भवति तत् सूत्रधारकल्पं निर्माणनामेत्यर्थ । तदभावे हि तद्भृतक-कल्पैरङ्गोपाङ्गनामादिभिर्निर्वर्तितानामपि शिरउदरादीना स्थानवृत्तेरनियमः स्यात् ७ । 'उपघाताद्' उपघातनामोदयाद् 'उपहन्यते' विनाश्यते जन्तु , के ? इत्याह—स्वा—स्वकीया तनु—शरीर स्वतनुस्तस्या अवयवा—अंशा ये लम्बिकादय , आदिशब्दात् प्रतिजिह्वाचौरदन्तादिपरिग्रहस्तै , "सतणुवयव" इत्यत्र अकारलोप प्राकृतत्वात् । यदुदयात् स्वशरीरान्त प्रवर्धमानैर्लम्बिकाप्रति-जिह्वाचौरदन्तादिभिर्जन्तुरुपहन्यते तद् उपघातनामेत्यर्थ ८ ॥ ४७ ॥

व्याख्याता अष्टौ प्रत्येकप्रकृतय । साम्प्रत त्रसदशक व्याख्यानयन्नाह—

बितिचउपणिंदिय तसा, बायरओ बायरा जिया थूला ।
नियनियपज्जत्तिजुया, पज्जत्ता लद्धिकरणेहिं ॥ ४८ ॥

त्रस्यन्ति—उष्णाद्यभितप्ता सन्तो विवक्षितस्थानाद् उद्विजन्ते गच्छन्ति च छायाद्यासेवनार्थं स्थानान्तरमिति त्रसा , तत्पर्यायविपाकवेद्य कर्मापि त्रसनाम । तत. 'त्रसात्' त्रसनामोदयाद् जीवा "बितिचउपणिंदिय" त्ति इन्द्रियशब्दस्य प्रत्येक योगाद् द्वे इन्द्रिये स्पर्शनरसनलक्षणे येषा ते द्वीन्द्रिया , शङ्खचान्दनककपर्दजलूकाकृमिगण्डोलकपूतरकादयो भवन्ति । त्रीणि स्पर्शनरसनघ्राणलक्षणानीन्द्रियाणि येषा ते त्रीन्द्रियाः, यूकामत्कुणगर्दभेन्द्रगोपककुन्थुमत्कोटकादय । चत्वारि स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुर्लक्षणानीन्द्रियाणि येषा ते चतुरिन्द्रिया , मक्षिका-भ्रमरमशकवृश्चिकादय । पञ्च स्पर्शनरसनघ्राणचक्षु श्रोत्ररूपाणीन्द्रियाणि येषा ते पञ्चेन्द्रिया , मत्स्यमकरहरिहरिणसारसराजहसनरसुरनारकादयो भवन्तीति । यदुदयाद् जीवास्त्रसा द्वित्रि-चतु पञ्चेन्द्रिया भवन्ति तत् त्रसनामेत्यर्थ १ । 'बादराद्' बादरनामोदयाद् 'जीवा ' जन्तवो बादरा —स्थूला भवन्ति ।

बादरत्व चेह न चक्षुर्ग्राह्यत्वमिष्टम्, बादरस्याप्येकैकस्य पृथिव्यादिशरीरस्य चक्षुर्ग्राह्यत्वा-भावात् । तस्माद् जीवविपाकित्वेन जीवस्यैव कश्चिद् बादरपरिणाम जनयति एतद्, न पुद्गलेषु, किन्तु जीवविपाक्यप्येतत् शरीरपुद्गलेष्वपि काञ्चिदप्यभिव्यक्ति दर्शयति । तेन बादराणा बहुतरसमुदितपृथिव्यादीना चक्षुषा ग्रहण भवति, न सूक्ष्माणाम् । जीवविपाकिकर्मण' शरीरे स्वशक्तिप्रकटनमयुक्तमिति चेत्, नैवम्, जीवविपाक्यपि क्रोधो भ्रूभङ्गत्रिवलीतरङ्गितालिक-फलकक्षरत्स्वेदजलकणनेत्राधाताम्रत्वपरुषवचनवेपथुप्रभृतिविकार कुपितनरशरीरेऽपि दर्शयति, विचित्रत्वात् कर्मशक्तेरिति ।

यदुदयाद् जीवा बादरा भवन्ति तद् बादरनामेत्यर्थ २ । 'पर्याप्तात्' पर्याप्तनामोदयाद् जीवा निजनिजपर्याप्तियुता भवन्ति । तत्र पर्याप्तिर्नाम पुद्गलोपचयज. पुद्गलग्रहणपरिणमनहेतु' शक्तिविशेष , सा च विषयभेदात् षोढा—आहारपर्याप्ति १ शरीरपर्याप्ति २ इन्द्रियपर्याप्ति ३ उच्छ्वासपर्याप्ति ४ भाषापर्याप्तिः ५ मन पर्याप्ति ६ चेति । तत्र यया बाह्यमाहारमादाय खलरसरूपतया परिणमयति सा आहारपर्याप्ति १ । यया रसीभूतमाहार रसासृग्मांसमेदोऽस्थि-मज्जाशुक्रलक्षणसप्तधातुरूपतया परिणमयति सा शरीरपर्याप्ति २ । यया धातुरूपतया परिण-

१ °मर्कोटका° ख० ग० ङ० ॥

मितमाहारमिन्द्रियरूपतया परिणमयति सा इन्द्रियपर्याप्तिः ३। यया पुनरुच्छ्वासप्रायोग्यवर्गणादलिकमादाय उच्छ्वासरूपतया परिणमय्याऽऽलम्ब्य च मुञ्चति सा उच्छ्वासपर्याप्ति ४। यया तु भाषाप्रायोग्यवर्गणाद्रव्य गृहीत्वा भाषात्वेन परिणमय्याऽऽलम्ब्य च मुञ्चति सा भाषापर्याप्ति ५। यया पुनर्मनोयोग्यवर्गणादलिक गृहीत्वा मनस्त्वेन परिणमय्याऽऽलम्ब्य च मुञ्चति सा मन पर्याप्ति ६। एताश्च यथाक्रममेकेन्द्रियाणा द्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियाऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रियाणा संज्ञिपञ्चेन्द्रियाणा च चतु पञ्चषट्सङ्ख्या भवन्ति। तथा वैक्रियशरीरिणा शरीरपर्याप्तिरेवैका आन्तर्मौहूर्तिकी, शेषा पञ्चाप्येकसामयिक्य। औदारिकशरीरिणा पुनराहारपर्याप्तिरेवैका एकसामयिकी, शेषा पुनरान्तर्मौहूर्तिक्य। आह च—

वेउव्वियपज्जत्ती, सरीर अतमुहु सेस इगसमया।
आहारे इगसमया, सेसा अतमुहु ओराले॥

तत पर्याप्तयो विद्यन्ते येषा "अभ्रादिभ्य" (सि० ७-२-४६) इति अप्रत्यये ते पर्याप्ता', तद्विपाकवेद्य कर्मापि पर्याप्तनाम। यदुदयात् स्वपर्याप्तियुक्ता भवन्ति जीवास्तत् पर्याप्तनामेत्यर्थ ३। ते च पर्याप्ता द्विधा—लब्ध्या करणैश्च। तत्र ये स्वयोग्यपर्याप्ती सर्वा अपि समर्थ्य म्रियन्ते नार्वाक् ते लब्धिपर्याप्ता, ये च पुन करणानि–शरीरेन्द्रियादीनि निर्वर्तितवन्तस्ते करणपर्याप्ता इति।

ननु च शरीरपर्याप्त्यैव शरीर भविष्यति, किं प्रागभिहितेन शरीरनाम्ना?, नैतदस्ति, साध्यभेदात्। तथाहि—शरीरनाम्नो जीवेन गृहीताना पुद्गलानामौदारिकादिशरीरत्वेन परिणति साध्या, शरीरपर्याप्ते पुनरारब्धशरीरस्य परिसमाप्तिरिति। अथ प्रागुक्तेनोच्छ्वासनाम्नैवोच्छ्वसनस्य सिद्धत्वाद् इहोच्छ्वासपर्याप्तिर्निर्विषयेति, नैवम्, सतीमप्युच्छ्वासनामोदयेन जनितामुच्छ्वसनलब्धिमात्मा शक्तिविशेषरूपामुच्छ्वासपर्याप्तिमन्तरेण व्यापारयितु न शक्नुयात्। यथा हि शरीरनामोदयेन गृहीता अप्यौदारिकादिशरीरपुद्गला शक्तिविशेषरूपा शरीरपर्याप्तिं विना शरीररूपतया परिणमयितु न शक्यन्त इति शरीरनाम्न पृथग् इष्यते शरीरपर्याप्ति, एवमत्राप्युच्छ्वासनाम्न पृथगुच्छ्वासपर्याप्तिरेष्टव्या, तुल्ययुक्तित्वादिति॥ ४८॥

पत्तेय तणू पत्तेउदयेण दतअट्ठिमाइ थिरं।
नाभुवरि सिराइ सुह, सुभगाओ सव्वजणइट्ठो॥ ४९॥

'प्रत्येकोदयेन' प्रत्येकनामकर्मोदयवशाद् जन्तूना 'प्रत्येक तनु' पृथक्-पृथक्-शरीर भवति, यदुदयाद् एकैकस्य जन्तोरेकैक शरीरमौदारिक वैक्रिय वा भवति तत् प्रत्येकनामेत्यर्थ ४। 'स्थिर' स्थिरनामोदयेन दन्ताऽस्थ्यादि निश्चल भवति, यदुदयात् शिरोऽस्थिग्रीवादीनामवयवाना स्थिरता भवति तत् स्थिरनामेत्यर्थ ५। 'शुभ' शुभनामोदयात् नाभ्युपरि शिरआदिर्भवति, यदुदयाद् नाभेरुपर्यवयवा शुभा भवन्ति तत् शुभनाम, शिर प्रभृतिभि स्पृष्ट परो हृष्यतीति, तेषा शुभत्वम् ६। 'सुभगात्' सुभगनामोदयेन सर्वजनेष्टो भवति,

१ वैक्रियपर्याप्ति शरीरे आन्तर्मौहूर्तिकी शेषा एकसामयिक्य। आहारे (पर्याप्ति) एकसामयिकी शेषा आन्तर्मौहूर्तिक्य औदारिके॥

यदुदयाद् अनुपकार्यपि सर्वस्य मन प्रियो भवति तत् सुभगनामेत्यर्थ ७। तदभ्यधायि—

अणुवकए जि बहूण, होइ पिओ तस्स सुभगनामुदओ वि।
सुभगुदए वि हु कोई, कची आसज्ज दूभगो जइ वि।
जायएँ तद्दोसाओ, जहा अभव्वाण तित्थयरो॥ ॥ ४९ ॥

सुसरा महुरसुहझुणी, आइज्जा सव्वलोयगज्झवओ।
जसओ जसकित्ति इओ, थावरदसग विवज्जत्थं॥ ५०॥

'सुसरात्' सुस्वरनामोदयेन मधुर —माधुर्यगुणालङ्कृत सुखयतीति सुख —सुखदो ध्वनि.—स्वरो भवति, यदुदयाद् जीवस्य स्वर श्रोत्रप्रीतिहेतुर्भवति तत् सुस्वरनामेत्यर्थ ८। 'आदेयाद्' आदेयनामोदयेन सर्वलोकेन समस्तजनेन ग्राह्यम्—आदेय वच —वचन यस्य स तथा, यदुदयाद् यत्किञ्चिदपि ब्रुवाणो जीव सर्वस्योपादेयवचनो भवति, दर्शनसमनन्तरमेव तस्याभ्युत्थानादि समाचरति तद् आदेयनामेत्यर्थ ९। "जसउ" त्ति यश कीर्तिनामोदयाद् यश -कीर्तिर्भवति। तत्र सामान्यतस्तप शौर्यत्यागादिसमुपार्जितयशसा कीर्तन—सशब्दन श्लाघन यश कीर्तिरुच्यते। यद्वा—

दानपुण्यकृता कीर्ति , पराक्रमकृतं यश ।

अथवा—

एकदिग्गामिनी कीर्ति , सर्वदिग्गामुक यश । १० इति।

व्याख्यात त्रसदशकम्। सम्प्रति स्थावरदशक व्याचिख्यासुरतिदिशति—'इत' त्रसदशकात् स्थावरदशक 'विपर्यस्त' विपरीतार्थं भवति। तथाहि—तिष्ठन्तीत्येवशीला उष्णाद्यभितापेऽपि तत्परिहाराऽसमर्था स्थावरा, "स्थेशभासपिसकसो वर" (सि० ५-२-८२) इति वरप्रत्यय, पृथिवीकायिका अप्कायिकास्तेजस्कायिका वायुकायिका वनस्पतिकायिका एकेन्द्रिया, तद्विपाकवेद्य कर्मापि स्थावरनाम। तेजोवायूना तु स्थावरनामोदयेऽपि चलन स्वाभाविकमेव, न पुनरुष्णाद्यभितापेन द्वीन्द्रियादीनामिव विशिष्टम् १ इति। यदुदयात् सूक्ष्मा पृथिवीकायिकाद्य पञ्च भवन्ति तदपि जीवविपाकि सूक्ष्मनामकर्म २ इति। यदुदयात् पूर्वोक्तस्वयोग्यपर्याप्तिपरिसमाप्तिविकला जन्तवो भवन्ति तद् अपर्याप्तनाम, अपर्याप्तयो विद्यन्ते येषा तेऽपर्याप्ता इति कृत्वा, तन्निबन्धन नाम अपर्याप्तनाम। तत्र द्वेधा अपर्याप्ता —लब्ध्या करणैश्च। तत्र येऽपर्याप्तका एव सन्तो म्रियन्ते, न पुन स्वयोग्यपर्याप्ती सर्वा अपि समर्थयन्ति ते लब्ध्यपर्याप्ता.। ये पुन करणानि—शरीरेन्द्रियादीनि न तावत् निर्वर्तयन्ति, अथ चावश्य पुरस्ताद् निर्वर्तयिष्यन्ति ते करणापर्याप्ता। इह चैवमागम —लब्ध्यपर्याप्ता अपि नियमादाहारशरीरेन्द्रियपर्याप्तिपरिसमाप्तावेव म्रियन्ते नार्वाक्, यस्मादागामिभवायुर्बद्ध्वा म्रियन्ते सर्व एव देहिन, तच्चाहारशरीरेन्द्रियपर्याप्तिपर्याप्तानामेव बध्यत इति ३। यदुदयाद् अनन्ताना जीवाना साधारणम्—एक शरीर भवति तत् साधारणनाम ४। यदुदयात् कर्णभ्रूजिह्वाद्यवयवा

१ अनुपकृतेऽपि बहूनां भवति प्रियस्तस्य सुभगनामोदय ॥ सुभगोदयेऽपि खलु कश्चित् कश्चिदासाद्य दुर्भगो यद्यपि। जायते तद्दोषात् यथाऽभव्याना तीर्थंकर ॥ २ °त्ति यशस यशोनामकर्मोदयेन यश की° ग० ॥

[illegible] भवन्ति तद् अस्थिरनाम ५। यदुदयाद् नामेरध पादादीनामवयवानामशुभता भवति तद् अशुभनाम, पादादिना हि स्पृष्ट परो रुष्यतीति तेषामशुभत्वम्। कामिनीव्यवहा- [illegible] इति चेत्, नैवम्, तस्य मोहनिबन्धनत्वात्, वस्तुस्थितिश्चेह चिन्त्यत इति ६। [illegible] उपकारकृदपि जनस्याऽप्रियो भवति तद् दुर्भगनाम। उक्तं च—

उवगारकारगो वि हु, न रुच्चई दूभगो उ जस्सुदए। ७ इति।

[illegible] हीनस्वरो भवति तद् दु स्वरनाम ८। यदुदयवशाद् युक्तियुक्तमपि ब्रुवाणो [illegible] भवति न च लोकोऽभ्युत्थानादि तस्य करोति तद् अनादेयनाम ९। यदुद- [illegible] यश कीर्तौ न भवतस्तद् अयश कीर्तिनाम १० इति ॥ ५० ॥

[illegible] द्विचत्वारिंशद्भेद त्रिनवतिभेद त्र्युत्तरशतभेद सप्तषष्टिभेद षष्ठ नाम। सम्प्रति [illegible] निवेदयन्नाह—

गोयं दुहुच्चनीय, कुलाल इव सुघडभुंभलाईय।
विग्घं दाणे लाभे, भोगुवभोगेसु विरिए य ॥ ५१ ॥

मिति योज्यम् । विषयसप्तमी चेय सर्वत्र । ततो दानादिविषयभेदतो दानादिविषय पञ्चधा विघ्न कर्म भवतीति वाक्याक्षरार्थ । भावार्थस्त्वयम्—सत्यपि दातव्ये वस्तुनि, आगते च गुणवति पात्रे, जानन्नपि दानफल, यदुदयाद् दातु नोत्सहते तद् दानान्तरायम् १ । यदुदयाद् विशिष्टेऽपि दातरि, विद्यमानेऽपि देये वस्तुनि, याच्ञाकुशलोऽपि याचको न लभते तद् लाभान्तरायम् २ । यदुदयात् सति विभवादौ सम्पद्यमाने चाहारमाल्यादौ विरतिहीनोऽपि न भुङ्क्ते तद् भोगान्तरायम् ३ । यदुदयाद् विद्यमानमपि वस्त्रालङ्कारादि नोपभुङ्क्ते तद् उपभोगान्तरायम् ४ । यदुदयवशाद् बलवान् नीरुजो वय स्थोऽपि च तृणकुब्जीकरणेऽप्यसमर्थस्तद् वीर्यान्तरायम् ५ इति ॥ ५१ ॥ एतच्च भाण्डागारिकसममिति दर्शयन्नाह—

सिरिहरियसम एय, जह पडिकूलेण तेण रायाई ।
न कुणइ दाणाईयं, एव विग्घेण जीवो वि ॥ ५२ ॥

श्रियो गृह श्रीगृह—भाण्डागार तद् विद्यते यस्य स श्रीगृहिक —भाण्डागारिकस्तेन सम—तुल्यमेतदन्तरायकर्म । यथा 'तेन' श्रीगृहिकेण 'प्रतिकूलेन' अननुकूलेन 'राजादि' राजा—नृपति, आदिशब्दात् श्रेष्ठीश्वरतलवरादिपरिग्रह 'न करोति' कर्तुं न पारयति दानादि, आदि-शब्दाद् लाभभोगोपभोगादिग्रहणम् । 'एवम्' अमुना श्रीगृहिकदृष्टान्तेन 'विघ्नेन' अन्तरायकर्मणा 'जीवोऽपि' जन्तुरपि दानादि कर्तुं न पारयतीति ॥ ५२ ॥

व्याख्यात पञ्चविधमन्तराय कर्म, तद्व्याख्याने च समर्थिता "इह नाणदसणावरणवेय" (गा० ३) इत्यादिमूलगाथा । अथ "कीरइ जिएण हेऊहिँ जेण तो भन्नए कम्म" (गा० १) इत्यादौ यदुक्त तद्व्याख्यानार्थं यस्य कर्मणो ये बन्धहेतवस्तान् कचन हेतुद्वारेण क्वाऽपि च हेतु-मद्द्वारेण दिदर्शयिषुराह—

पडिणीयत्तण निन्हव, उवघाय पओस अंतराएणं ।
अच्चासायणयाए, आवरणदुग जिओ जयइ ॥ ५३ ॥

'आवरणद्विक' ज्ञानावरणदर्शनावरणरूप जीव 'जयति' धातूनामनेकार्थत्वाद् बध्नातीति सम्बन्ध । तत्र ज्ञानस्य—मत्यादेर्ज्ञानिना—साध्वादीना ज्ञानसाधनस्य—पुस्तकादे 'प्रत्यनीकत्वेन' तदनिष्टाचरणलक्षणेन 'निह्नवेन' न मया तत्समीपेऽधीतमित्यादिस्वरूपेण 'उपघातेन' मूलतो विनाशस्वरूपेण 'प्रद्वेषेण' आन्तराप्रीतिरूपेण 'अन्तरायेण' भक्तपानवसनोपाश्रयलाभनिवार-णलक्षणेन 'अत्याशातनया' च जात्याद्युद्घट्टनादिहीलारूपया ज्ञानावरण कर्म जयतीति, सर्वत्र द्रष्टव्यम् । एतच्चोपलक्षणम्, अतो ज्ञान्यवर्णवादेन आचार्योपाध्यायाद्यविनयेनाऽकालस्वाध्याय-करणेन काले च स्वाध्यायाऽविधानेन प्राणिवधाऽनृतभाषणस्तैन्याऽब्रह्मपरिग्रहरात्रिभोजनाऽवि-रमणादिभिश्च ज्ञानावरण जयतीत्याद्यपि वक्तव्यमिति । एव दर्शनावरणेऽपि वाच्यम्, नवर दर्शनाभिलापो वक्तव्य । तथाहि—दर्शनस्य—चक्षुर्दर्शनादेर्दर्शनिना—साध्वादीना दर्शनसा-साधनस्य—श्रोत्रनयननासिकादे सम्मत्यनेकान्तजयपताकादिप्रमाणशास्त्रपुस्तकादेर्वा प्रत्यनी-कत्वेन—तदनिष्टाचरणलक्षणेन, निह्नवेन—न मया तत्समीपेऽधीतमित्यादिस्वरूपेण, उपघातेन—

१ °ऽय च ख० ग० ङ० ॥ २ °कत्वनिह्नवोपघातान्तरायात्याशातनादिभिर्दर्श° क० घ० पुस्तकयोरेव पाठ ॥

अशिरा.—चपला भवन्ति तद् अस्थिरनाम ५। यदुदयाद् नाभेरध पादादीनामवयवानामशुभता भवति तद् अशुभनाम, पादादिना हि स्पृष्ट परो रुष्यतीति तेषामशुभत्वम्। कामिनीव्यवहारेण व्यभिचार इति चेत्, नैवम्, तस्य मोहनिबन्धनत्वात्, वस्तुस्थितिश्चेह चिन्त्यत इति ६। यदुदयवशाद् उपकारकृदपि जनस्याऽप्रियो भवति तद् दुर्भगनाम। उक्त च—

उवगारकारगो वि हु, न रुचई दूभगो उ जस्सुदए। ७ इति।

यदुदयात् स्वरभिन्नहीनस्वरो भवति तद् दु स्वरनाम ८। यदुदयवशाद् युक्तियुक्तमपि ब्रुवाणो नाऽऽदेयवचनो भवति न च लोकोऽभ्युत्थानादि तस्य करोति तद् अनादेयनाम ९। यदुदयात् पूर्वप्रदर्शिते यश कीर्ती न भवतस्तद् अयश कीर्तिनाम १० इति ॥ ५० ॥

व्याख्यात द्विचत्वारिंशद्भेद त्रिनवतिभेद त्र्युत्तरशतभेद सप्तषष्टिभेद षष्ठ नाम। सम्प्रति द्विभेद गोत्रकर्माभिधित्सुराह—

गोय दुहुच्चनीय, कुलाल इव सुघटभुम्भलाईय।
विग्घ दाणे लाभे, भोगुवभोगेसु वीरिए य ॥ ५१ ॥

गोत्र प्राग्वर्णितशब्दार्थं 'द्विधा' द्विभेदम्, कथम्? इत्याह—'उच्चनीच' उच्च च नीच च उच्चनीचम्, उच्चैर्गोत्र नीचैर्गोत्रमित्यर्थ। एतच्च 'कुलाल इव' कुम्भकारतुल्यम्। शोभनो घट सुघट—पूर्णकलश, भुम्भल—मद्यस्थानम्, सुघटभुम्भले आदी यस्य तदुपकरणस्य तत् सुघटभुम्भलादि करोतीति शेष। अयमत्र भाव—यथा हि कुलाल पृथिव्यात्मकत्वाद्‌ पूर्णकलशादिरूप करोति यादृश लोकात् कुसुमचन्दनाक्षतादिभि पूजा लभते, स एव भुम्भलादि तादृश विदधाति यादृशमप्रक्षिप्तमद्यमपि लोकाद् निन्दा लभते, तथा यदुदयाद् निर्धन कुरूपो बुद्ध्यादिपरिहीणोऽपि पुरुष सुकुलजन्ममात्रादेव लोकात् पूजा लभते तद् उच्चैर्गोत्रम् १, यदुदयात् पुनर्महाधनोऽप्रतिरूपरूपो बुद्ध्यादिसमन्वितोऽपि पुमान् विशिष्टकुलाऽभावाद् लोकाद् निन्दा प्राप्नोति तद् नीचैर्गोत्रम् २ इति। उक्त द्विविध गोत्रकर्म ॥

अथ विघ्नकर्म पञ्चधा व्याख्यानयन्नाह—"विग्घ दाणे लाभे" इत्यादि। विशेषेण हन्यन्ते—दानादिलब्धयो विनाश्यन्तेऽनेनेति विघ्नम्—अन्तरायकर्म। तच्च विषयभेदात् पञ्चधेति दर्शयति—दीयत इति दान तस्मिन्, लभ्यत इति लाभस्तस्मिन्, भुज्यते—सकृदुपभुज्यत इति भोग, पुष्पाहारादि, उपेति—पुन पुनर्भुज्यत इति उपभोगो भवनाऽऽसनाऽङ्गनादि। उक्त च—

सइ भुज्जइ त्ति भोगो, सो पुण आहारपुप्फमाईसु।
उवभोगो उ पुणो पुण, उवभुज्जइ भवणवणियाई ॥ (बृ०क०वि० गा० १६५)

ततो भोगश्च उपभोगश्च भोगोपभोगौ तयो, प्राकृतवशाच्च द्विवचनस्थाने बहुवचन भवति, यदाहु श्रीहेमचन्द्रसूरिपादा स्वप्राकृतलक्षणे—"द्विवचनस्य बहुवचनम्" (सि० ८-३-१३०) इति। विशेषेण ईर्यते—चेष्ट्यतेऽनेनेति वीर्यम्, यद्वा विविधम्—अनेकप्रकारमीरयति यत् प्राणिन क्रियासु तद् वीर्यं सामर्थ्यं शक्तिरिति पर्यायास्तस्मिन् 'च' समुच्चये, सर्वत्र विघ्न-

१ उपकारकारकोऽपि हि न रोचते दुर्भगस्तु यस्योदये ॥ २ °नवसप्तति° ग० ङ० ॥ ३ सकृद्भुज्यते इति भोग स पुनराहारपुष्पादिषु। उपभोगस्तु पुनः पुनरुपभुज्यते भवनवनितादि ॥

मिति योज्यम् । विषयसप्तमी चेय सर्वत्र । ततो दानादिविषयभेदतो दानादिविषयं पञ्चधा विघ्न कर्म भवतीति वाक्याक्षरार्थ । भावार्थस्त्वयम्—सत्यपि दातव्ये वस्तुनि, आगते च गुणवति पात्रे, जानन्नपि दानफल, यदुदयाद् दातु नोत्सहते तद् दानान्तरायम् १ । यदुदयाद् विशिष्टेऽपि दातरि, विद्यमानेऽपि देये वस्तुनि, याच्ञाकुशलोऽपि याचको न लभते तद् लाभान्तरायम् २ । यदुदयात् सति विभवादौ सम्पद्यमाने चाहारमाल्यादौ विरतिहीनोऽपि न भुङ्क्ते तद् भोगान्तरायम् ३ । यदुदयाद् विद्यमानमपि वस्त्रालङ्कारादि नोपभुङ्क्ते तद् उपभोगान्तरायम् ४ । यदुदयवशाद् बलवान् नीरुजो वय स्थोऽपि च तृणकुब्जीकरणेऽप्यसमर्थस्तद् वीर्यान्तरायम् ५ इति ॥ ५१ ॥ एतच्च भाण्डागारिकसममिति दर्शयन्नाह—

सिरिहरियसम एय, जह पडिकूलेण तेण रायाई ।
न कुणइ दाणाईय, एव विग्घेण जीवो वि ॥ ५२ ॥

श्रियो गृह श्रीगृह—भाण्डागार तद् विद्यते यस्य स श्रीगृहिक —भाण्डागारिकस्तेन सम—तुल्यमेतदन्तरायकर्म । यथा 'तेन' श्रीगृहिकेण 'प्रतिकूलेन' अननुकूलेन 'राजादि ' राजा—नृपति , आदिशब्दात् श्रेष्ठी-ईश्वरतलवरादिपरिग्रह 'न करोति' कर्तुं न पारयति दानादि, आदि-शब्दाद् लाभभोगोपभोगादिग्रहणम् । 'एवम्' अमुना श्रीगृहिकदृष्टान्तेन 'विघ्नेन' अन्तरायकर्मणा 'जीवोऽपि' जन्तुरपि दानादि कर्तुं न पारयतीति ॥ ५२ ॥

व्याख्यात पञ्चविधमन्तराय कर्म, तद्व्याख्याने च समर्थिता "इह नाणदसणावरणवेय" (गा०३) इत्यादिमूलगाथा । अथ "कीरइ जिएण हेऊहिँ जेण तो भन्नए कम्म" (गा०१) इत्यादौ यदुक्त तद्व्याख्यानार्थं यस्य कर्मणो ये बन्धहेतवस्तान् कचन हेतुद्वारेण क्वाऽपि च हेतु-मद्द्वारेण दिदर्शयिषुराह—

पडिणीयत्तण निन्हव, उवघाय पओस अतराएण ।
अचासायणयाए, आवरणदुग जिओ जयइ ॥ ५३ ॥

'आवरणद्विक' ज्ञानावरणदर्शनावरणरूप जीव 'जयति' धातूनामनेकार्थत्वाद् बध्नातीति सम्बन्ध । तत्र ज्ञानस्य—मत्यादेर्ज्ञानिना—साध्वादीना ज्ञानसाधनस्य—पुस्तकादे 'प्रत्यनीकत्वेन' तदनिष्टाचरणलक्षणेन 'निह्नवेन' न मया तत्समीपेऽधीतमित्यादिस्वरूपेण 'उपघातेन' मूलतो विनाशस्वरूपेण 'प्रद्वेषेण' आन्तराप्रीतिरूपेण 'अन्तरायेण' भक्तपानवसनोपाश्रयलाभनिवार-णलक्षणेन 'अत्याशातनया' च जात्याद्युद्घट्टनादिहीलारूपया ज्ञानावरण कर्म जयतीति सर्वत्र द्रष्टव्यम् । एतच्चोपलक्षणम्, अतो ज्ञान्यवर्णवादेन आचार्योपाध्यायाद्यविनयेनाऽकालस्वाध्याय-करणेन काले च स्वाध्यायाऽविधानेन प्राणिवधाऽनृतभाषणस्तैन्याऽब्रह्मपरिग्रहरात्रिभोजनाऽवि-रमणादिभिश्च ज्ञानावरण जयतीत्याद्यपि वक्तव्यमिति । एव दर्शनावरणेऽपि वाच्यम्, नवर दर्शनाभिलापो वक्तव्य । तथाहि—दर्शनस्य—चक्षुर्दर्शनादेर्दर्शनिना—साध्वादीना दर्शनसा-साधनस्य—श्रोत्रनयननासिकादे सम्मत्यनेकान्तजयपताकादिप्रमाणशास्त्रपुस्तकादेर्वा प्रत्यनी-कत्वेन—तदनिष्टाचरणलक्षणेन, निह्नवेन—न मया तत्समीपेऽधीतमित्यादिस्वरूपेण, उपघातेन—

१ °ऽय च रा० म० ट० ॥ २ °कत्वनिह्नवोपघाता तरायात्याशातनादिभिर्दर्श° क० घ० पुस्तकयोरेव पाठ ॥

मूलतो विनाशेन, प्रद्वेषेण—आन्तराप्रीत्यात्मकेन, अन्तरायेण—भक्तपानवसनोपाश्रयलाभनिवारणेन, अत्याशातनया च—जात्यादिहीलया दर्शनावरण कर्म जयतीति सर्वत्र द्रष्टव्यम् । उपलक्षणमिदम्, अतो दर्शनिना दूषणग्रहणेन श्रवणकर्तननेत्रोत्पाटननासाछेदजिह्वाविकर्तनादिना प्राणिवधाऽनृतभाषणस्तैन्याऽब्रह्मपरिग्रहरात्रिभोजनाऽविरमणादिभिश्च दर्शनावरण जयतीत्याद्यपि वक्तव्यम् । यदवादि श्रीहेमचन्द्रसूरिप्रभुपादै —

ज्ञानदर्शनयोस्तद्वत्, तद्धेतूना च ये किल । विघ्ननिह्नवपैशून्याऽऽशातनाघातमत्सरा ॥
ते ज्ञानदर्शनावारकर्महेतव आश्रवा । (योगशा० टी० पत्र ३०६–२) ॥ ५३ ॥

उक्ता ज्ञानावरणदर्शनावरणबन्धहेतव । इदानीं वेदनीयस्य द्विविधस्यापि तानाह—

गुरुभत्तिखंतिकरुणावयजोगकसायविजयदाणजुओ ।
दढधम्माई अज्जइ, सायमसायं विवज्जयओ ॥ ५४ ॥

इह युतशब्दस्य प्रत्येक योग , ततो गुरव —मातापितृधर्माचार्यादयस्तेषा भक्ति —आसनादिप्रतिपत्तिर्गुरुभक्तिस्तया युतो गुरुभक्तियुत —गुरुभक्तिसमन्वितो जन्तु 'सात' सातवेदनीयम् 'अर्जयति' समुपार्जयतीति सम्बन्ध । 'क्षान्तियुत' क्षमान्वित 'करुणायुत' दयापरीतचेता 'व्रतयुत' महाव्रताऽणुव्रतादिसमन्वित 'योगयुत' दशविधचक्रवालसामाचार्याद्याचरणप्रगुण 'कषायविजययुत' क्रोधादिकषायपरिभवनशील 'दानयुत' दानरुचि 'दृढधर्म' आपत्स्वपि निश्चलधर्म , आदिशब्दाद् बालवृद्धग्लानादिवैयावृत्त्यकरणशीलो जिनचैत्यपूजापरायणश्च सातम् 'अर्जयति' बध्नाति । यदवाचि—

देवपूजागुरूपास्तिपात्रदानदयाक्षमा । (योगशा० टी० पत्र ३०६–२)
सरागसयमो देशसंयमोऽकामनिर्जरा । शौच बालतपश्चेति, सद्वेद्यस्य स्युराश्रवा ॥
(योगशा० टी० पत्र ३०६–२)

तथा 'विपर्ययत' सातबन्धविपर्ययेण असातमर्जयति, तथाहि—गुरूणामवज्ञायक क्रोधनो निर्दयो व्रतयोगविकल उत्कटकषाय कार्पण्यवान् सद्धर्मकृत्यप्रमत्त हस्त्यश्वबलीवर्दादिनिर्दयदमनवाहनलाञ्छनादिकरणप्रवण स्वपरदु खशोकवधतापक्रन्दनपरिदेवनादिकारकश्चेति । यदभ्यधायि—

दु खशोकवधास्तापक्रन्दने परिदेवनम् । स्वान्योभयस्था स्युरसद्वेद्यस्यामी इहाश्रवा ॥
(योगशा० टी० पत्र ३०६–२) ॥ ५४ ॥

उक्ता वेदनीयस्य बन्धहेतव । साम्प्रत मोहनीयस्य द्विविधस्यापि तानाह—

उम्मग्गदेसणामग्गनासणादेवदव्वहरणेहिं ।
दसणमोहं जिणमुणिचेइयसंघाइपडिणीओ ॥ ५५ ॥

उन्मार्गस्य—भवहेतोर्मोक्षहेतुत्वेन देशना—कथनमुन्मार्गदेशना, मार्गस्य—ज्ञानदर्शनचारित्रलक्षणस्य मुक्तिपथस्य नाशना—अपलपन मार्गनाशना, देवद्रव्यस्य—चैत्यद्रव्यस्य हरण—भक्षणोपेक्षणप्रज्ञाहीनत्वलक्षणम्, तत उन्मार्गदेशना च मार्गनाशना च देवद्रव्यहरण च तैर्हेतुभिर्जीव

१ देवपूजा गुरूपास्ति पात्रदान दया क्षमा । इति योगशास्त्रे ॥ २ च इति हेतु° क० ग० घ० ॥

'दर्शनमोह' मिथ्यात्वमोहनीयमर्जयति । तथा 'जिनमुनिचैत्यसङ्घादिप्रत्यनीक' तत्र जिना'— तीर्थकरा, मुनय —साधव, चैत्यानि—प्रतिमारूपाणि, सङ्घ —साधुसाध्वीश्रावकश्राविकालक्षण, आदिशब्दात् सिद्धगुरुश्रुतादिपरिग्रह, तेषा प्रत्यनीक —अवर्णवादाशातनाद्यनिष्टनिर्वर्तको दर्शनमोहमर्जयति । यदभाणि—

वीतरागे श्रुते सङ्घे, धर्मे सर्वसुरेषु च । अवर्णवादिता तीव्रमिथ्यात्वपरिणामिता ॥
सर्वज्ञसिद्धदेवापह्नवो धार्मिकदूषणम् । उन्मार्गदेशनानर्थाग्रहोऽसयतपूजनम् ॥
असमीक्षितकारित्व, गुर्वादिष्ववमानना । इत्यादयो दृष्टिमोहस्याश्रवा परिकीर्तिता' ॥
(योगशा० टी० पत्र ३०७–१) ॥ ५५ ॥

दुविहं पि चरणमोहं, कसायहासाइविसयविवसमणो ।
बंधइ नरयाउ महारंभपरिग्गहरओ रुद्दो ॥ ५६ ॥

'द्विविधमपि' द्विभेदमपि 'चरणमोह' चारित्रमोहनीय—कषायमोहनीयनोकषायमोहनीयरूप जीवो बध्नातीति सम्बन्ध । किंविशिष्ट ? इत्याह—'कषायहासादिविषयविवशमना' तत्र कषाया —क्रोधादय उक्तस्वरूपा षोडश, हास्यादय —हास्यरत्यरतिशोकभयजुगुप्सा इति गृह्यन्ते, विषया —शब्दरूपरसगन्धस्पर्शाख्या पञ्च, तत कषायाश्च हास्यादयश्च विषयाश्च कषायहास्यादिविषयास्तैर्विवश—विसस्थुल पराधीन मन —मानस यस्य स कषायहास्यादिविषयविवशमना । इदमत्र हृदयम्—कषायविवशमना कषायमोहनीय बध्नाति, हास्यादिविवशमनास्तु हास्यादिमोहनीय—हास्यमोहनीयरतिमोहनीयाऽरतिमोहनीयशोकमोहनीयभयमोहनीयजुगुप्सामोहनीयाख्य नोकषायमोहनीय बध्नाति, विषयविवशमना पुनर्वेदत्रयाख्य नोकषायमोहनीय बध्नाति । सामान्यत सर्वेऽपि कषायहास्यादिविषया द्विविधस्यापि चारित्रमोहनीयस्य बन्धहेतवो भवन्ति । यत्प्रत्यपादि—

कषायोदयतस्तीव्र, परिणामो य आत्मन । चारित्रमोहनीयस्य, स आश्रव उदीरित ॥
उत्प्रासन सकन्दर्पोपहासो हासशीलता । बहुप्रलापो दैन्योक्तिर्हास्यस्यामी स्युराश्रवा ॥
देशादिदर्शनौत्सुक्य, चित्रे रमणखेलने । परचित्तावर्जना चेत्याश्रवा कीर्तिता रते ॥
असूया पापशीलत्व, परेषा रतिनाशनम् । अकुशलप्रोत्साहन, चारतेराश्रवा अमी ॥
स्वय भयपरीणाम, परेषामथ भापनम् । त्रासन निर्दयत्व च, भय प्रत्याश्रवा अमी ॥
परशोकाविष्करण, स्वशोकोत्पादशोचने । रोदनादिप्रसक्तिश्च, शोकस्यैते स्युराश्रवा ॥
चतुर्वर्णस्य सङ्घस्य, परिवादजुगुप्सने । सदाचारजुगुप्सा च, जुगुप्साया स्युराश्रवा ॥
ईर्ष्या विषादगार्ध्ये च, मृषावादोऽतिवक्रता । परदाररतासक्ति, स्त्रीवेदस्याश्रवा इमे ॥
स्वदारमात्रसन्तोषोऽनीर्ष्या मन्दकषायता । अवक्राचारशीलत्व, पुवेदस्याश्रवा इति ॥
स्त्रीपुसानङ्गसेवोग्रा, कषायास्तीव्रकामता । पाखण्डिस्त्रीव्रतभङ्ग, षण्ढवेदाश्रवा अमी ॥
साधूना गर्हणा धर्मोन्मुखाना विघ्नकारिता । मधुमासविरतानामविरत्यभिवर्णनम् ॥
विरताविरताना चान्तरायकरण मुहु । अचारित्रगुणाख्यान, तथा चारित्रदूषणम् ॥

१ °वर्जन योगशास्त्रे ॥ २ °तभ्रश योगशास्त्रे ॥

कषायनोकषायाणामन्यस्थानाद्युदीरणम् । चारित्रमोहनीयस्य, सामान्येनाश्रवा अमी ॥
(योगशा० टी० पत्र ३०७-१)

अभिहिता मोहनीयस्य बन्धहेतव । सम्प्रति चतुर्विधस्याप्यायुपस्तानाह—"बधइ नरयाउ" इत्यादि । 'बध्नाति' अर्जयति 'नरकायु' नारकायुष्क जीव । किविशिष्ट ? इत्याह—'महारम्भ-परिग्रहरत' महारम्भरतो महापरिग्रहरतश्चेत्यर्थ । 'रौद्र' रौद्रपरिणामो गिरिभेदसमानकषा-यरौद्रध्यानाऽऽरूपितचेतोवृत्तिरित्यर्थ । उपलक्षणत्वात् पञ्चेन्द्रियवधादिपरिग्रह । यदन्यगादि—

पञ्चेन्द्रियप्राणिवधो, बह्वारम्भपरिग्रहौ । निरनुग्रहता मासभोजन स्थिरवैरता ॥
रौद्रध्यान मिथ्यात्वानन्तानुबन्धिकषायता । कृष्णनीलकापोताश्च, लेश्या अनृतभाषणम् ॥
परद्रव्यापहरण, मुहुर्मैथुनसेवनम् । अवशेन्द्रियता चेति, नरकायुष आश्रवा ॥
(योगशा० टी० पत्र ३०७-१) ॥ ५६ ॥

उक्ता नरकायुषो बन्धहेतव । इदानीं तिर्यगायुषस्तानाह—

तिरियाउ गूढहियओ, सढो ससल्लो तहा मणुस्साउ ।
पयईइ तणुकसाओ, दाणरुई मज्झिमगुणो य ॥ ५७ ॥

तिर्यगायुर्बध्नाति जीव , किविशिष्ट ? इत्याह—'गूढहृदय' उदायिनृपमारकादिवत् तथा आत्माभिप्राय सर्वथैव निगूहति यथा नापर कश्चिद् वेत्ति, 'शठ' वचसा मधुर परिणामे तु दारुण , 'सशल्य' रागादिवशाऽऽचीर्णाऽनेकव्रतनियमाऽतिचारस्फुरदन्त शल्योऽनालोचिताऽप्रतिक्रान्त , तथाशब्दाद् उन्मार्गदेशनादिपरिग्रह । उक्त च—

उन्मार्गदेशना मार्गप्रणाशो गूढचित्तता । आर्तध्यान सशल्यत्व, मायारम्भपरिग्रहौ ॥
शीलव्रते सातिचारो, नीलकापोतलेश्यता । अप्रत्याख्यानकषायास्तिर्यगायुष आश्रवा ॥
(योगशा० टी० पत्र ३०७-२)

उक्तास्तिर्यगायुर्बन्धहेतव । अथ मनुष्यायुषस्तानाह—"मणुस्साउ" इत्यादि । मनुष्यायुर्जीवो बध्नाति, किविशिष्ट ? इत्याह—'प्रकृत्या' स्वभावेनैव 'तनुकषाय' रेणुराजिसमानकषाय , 'दानरुचि' यत्र तत्र वा दानशील , मध्यमास्तदुचिता केचिद् गुणा —क्षमामार्दवाऽऽर्जवादयो यस्य स मध्यमगुण , अधमगुणस्य हि नरकायु सम्भवाद्, उत्तमगुणस्य तु सिद्धे सुरलोकायुषो वा सम्भवादिति भाव । चशब्दाद् अल्पपरिग्रहाऽल्पारम्भादिपरिग्रह । आह च—

अल्पौ परिग्रहारम्भौ, सहजे मार्दवाऽऽर्जवे । कापोतपीतलेश्यात्व, धर्मध्यानानुरागिता ॥
प्रत्याख्यानकषायत्व, परिणामश्च मध्यम । संविभागविधायित्व, देवतागुरुपूजनम् ॥
पूर्वालापप्रियालापौ, सुखप्रज्ञापनीयता । लोकयात्रासु माध्यस्थ्य, मानुषायुष आश्रवा ॥
(योगशा० टी० पत्र० ३०७-२)

उक्ता मनुष्यायुषो बन्धहेतव । सम्प्रति देवायुषस्तानाह—

अविरयमाइ सुराउ, बालतवोऽकामनिज्जरो जयइ ।

१ °महा ख० ग० ङ० ॥ २ °ना क योगशास्त्रे ॥ ३ °णुस्साउ इ° ख० ग० ङ० ॥ ४ °त बाऽऽरा° क० ख० ग० ङ० ॥

सरलो अगारविल्लो, सुहनामं अन्नहा असुहं ॥ ५८ ॥

'अविरत.' अविरतसम्यग्दृष्टि 'सुरायु' देवायुष्क 'जयति' बध्नाति, आदिशब्दाद् देशविरतसरागसंयतपरिग्रह । वीतरागसंयतस्त्वतिविशुद्धत्वादायुर्न बध्नाति, घोलनापरिणाम एव तस्य बध्यमानत्वात् । बाल तपो यस्य स 'बालतपा ' अनधिगतपरमार्थस्वभावो दु खगर्भमोहगर्भवैराग्योऽज्ञानपूर्वकनिर्वर्तिततप प्रभृतिकष्टविशेषो मिथ्यादृष्टि , सोऽध्यात्मगुणानुरूप किञ्चिद्सुरादिकायुर्बध्नाति । यदाह भगवान् भाष्यकारः—

बालतवे पडिबद्धा, उक्कडरोसा तवेण गारविया ।
वेरेण य पडिबद्धा, मरिउ असुरेसु उववाओ ॥ (बृ० सग्र० गा० १६०)

अकामस्य–अनिच्छतो निर्जरा–कर्मविघटनलक्षणा यस्यासावकामनिर्जर' । इदमुक्त भवति—"अकामतण्हाए अकामछुहाए अकामबभचेरवासेण अकामसीयायवदसमसगअण्हाणगसेयजल्लमलपकपरिग्गहेण दीहरोगचारगनिरोहबधणयाए गिरितरुसिहरनिवडणयाए जलजलणपवेसअणसणाईहिं" उदकराजिसमानकषायस्तदुचितशुभपरिणाम किञ्चिद् व्यन्तरादिकायुर्बध्नाति । उपलक्षणत्वात् कल्याणमित्रसम्पर्कमानसो धर्मश्रवणशील इत्यादिपरिग्रह । यदाहु —

सरागसयमो देशसयमोऽकामनिर्जरा । कल्याणमित्रसम्पर्को, धर्मश्रवणशीलता ॥
पात्रे दान तप श्रद्धा, रत्नत्रयाऽविराधना । मृत्युकाले परीणामो, लेश्ययो पद्मपीतयो. ॥
बालतपोऽग्नितोयादिसाधनोछम्बनानि च । अव्यक्तसामायिकता, देवस्यायुष आश्रवा ॥
(योगशा० टी० पत्र ३०७–२)

उक्ता देवायुषो बन्धहेतव । सम्प्रति नामकर्म यद्यपि द्विचत्वारिंशदादिभेदादनेकधा तथापि शुभाशुभविवक्षया द्विविधमित्यस्य द्विविधस्यापि बन्धहेतूनाह—"सरलो" इत्यादि । 'सरल ' सर्वत्र मायारहित', गौरवाणि–ऋद्धिरससातलक्षणानि विद्यन्ते यस्य स गौरववान् , न गौरववान् अगौरववान् "आल्विल्लोल्लालवन्तमन्तेत्तेरमणा मतो " (सि० ८–२–१५९) इति प्राकृतसूत्रेण मतो स्थान इल्लादेश । उपलक्षणत्वात् संसारभीरु –क्षमामार्दवार्जवादिगुणयुक्त शुभ–देवगतियश कीर्तिपञ्चेन्द्रियजात्यादिरूप नामकर्म बध्नाति । 'अन्यथा' उक्तविपरीतस्वभाव', तथाहि—मायावी गौरववान् उत्कटक्रोधादिपरिणाम 'अशुभ' नरकगत्ययश.कीर्त्येकेन्द्रियादिजातिलक्षण नामकर्मार्जयतीति । उक्त च—

मनोवाकायवक्रत्वं, परेषा विप्रतारणम् । मायाप्रयोगो मिथ्यात्व, पैशून्य चलचित्तता ॥
सुवर्णादिप्रतिच्छन्द करण कूटसाक्षिता । वर्णगन्धरसस्पर्शान्यथोपपादनानि च ॥
अङ्गोपाङ्गच्यावनानि, यन्त्रपञ्जरकर्म च । कूटमानतुलाकर्माऽन्यनिन्दात्मप्रशसनम् ॥
हिंसानृतस्तेयाऽब्रह्ममहारम्भपरिग्रहा । परुषाऽसभ्यवचन, शुचिवेषादिना मद ॥

१ बालतपसि प्रतिबद्धा उत्कटरोषास्तपसा गर्विता । वैरेण च प्रतिबद्धा (तेषा) मृत्वा असुरेषु उपपात ॥
२ अकामतृष्णया अकामक्षुधया अकामब्रह्मचर्यवासेन अकामशीतातपदशमशकास्नानकस्वेदजल्लमलपङ्कपरिग्रहेण दीर्घरोगचारकनिरोधबन्धनतया गिरितरुशिखरनिपतनतया जलज्वलनप्रवेशानशनादिभि ॥ ३ °शौचान्यथा॰ पादनानि च । मु० इ० योगशास्त्रे च ॥

मौखर्याक्रोशौ सौभाग्योपघाता कार्मणक्रिया । परकौतूहलोत्पाद , परहास्यविडम्बने ॥
वेश्यादीनामलङ्कारदान दावाग्निदीपनम् । देवादिव्याजाद्गन्धादिचौर्यं तीव्रकषायता ॥
चैत्यप्रतिश्रयाऽऽरामप्रतिमाना विनाशनम् । अङ्गारादिक्रिया चैत्यशुभस्य नाम्न आश्रवा ॥
एत एवान्यथारूपास्तथा ससारभीरुता । प्रमादहान सद्भावार्पण क्षान्त्यादयोऽपि च ॥
दर्शने धार्मिकाणा च, सम्भ्रम स्वागतक्रिया । परोपकारसारत्वमाश्रवा शुभनामनि ॥
(योगशा० टी० पत्र ३०७–२)॥ ५८ ॥

उक्ता नाम्नो बन्धहेतव । सम्प्रति गोत्रस्य द्विविधस्यापि तानाह—

गुणपेही मयरहिओ, अज्झयणऽज्झावणारुई निच्च ।
पकुणइ जिणाइभत्तो, उच्च नीय इयरहा उ ॥ ५९ ॥

'गुणप्रेक्षी' यस्य यावन्त गुण पश्यति तस्य तमेव प्रेक्षते पुरस्करोति, दोषेषु सत्स्वप्युदास इत्यर्थ । 'मदरहित' विशिष्टजातिलाभकुलैश्वर्यबलरूपतप श्रुतादिसम्पत्समन्वितोऽपि निरहङ्कार , 'नित्य' सर्वदा 'अध्ययनाध्यापनारुचि ' स्वय पठति इतरांश्च पाठयति, अर्थतश्च स्वयम भीक्ष्ण विमृशति परेषा च व्याख्यानयति, असत्या वा पठनादिशक्तौ तीव्रबहुमान पराध्ययनाध्यापनापरायणान् अनुमोदते, तथा 'जिनादिभक्त ' जिनाना—तीर्थनाथानाम् आदिशब्दात् सिद्धाऽऽचार्योपाध्यायसाधुचैत्यानामन्येषा च गुणगरिष्ठाना भक्त —बहुमानपर 'प्रकरोति' प्रकर्षेण समुपार्जयति 'उच्चम्' उच्चैर्गोत्रम् । 'नीच' नीचैर्गोत्रम् 'इतरथा तु' भणितविपरीतस्वभाव ।
उक्त च—

परस्य निन्दावज्ञोपहासा सद्गुणलोपनम् । सदसद्दोषकथनमात्मनस्तु प्रशसनम् ॥
सदसद्गुणशसा च, स्वदोषाच्छादन तथा । जात्यादिभिर्मदश्चेति, नीचैर्गोत्राश्रवा अमी ॥
नीचैर्गोत्राश्रवविपर्यासो विगतगर्वता । वाक्कायचित्तैर्विनय , उच्चैर्गोत्राश्रवा अमी ॥
(योगशा० टी० पत्र ३०८–१) ॥ ५९ ॥

उक्ता गोत्रस्य बन्धहेतव । साम्प्रतमन्तरायस्य ये बन्धहेतवस्तानभिधित्सु शास्त्रमिद समर्थयन्नाह—

जिणपूयाविग्घकरो, हिंसाइपरायणो जयइ विग्घ ।
इय कम्मविवागोऽय, लिहिओ देविंदसूरीहिं ॥ ६० ॥

'जिनपूजाविघ्नकर' सावद्यदोषोपेतत्वाद् गृहिणामप्येषा अविधेया इत्यादिकुदेशनादिभि समयान्तरस्त्वदूरीकृतो जिनपूजानिषेधक इत्यर्थ । हिंसा—जीववध आदिशब्दाद् अनृतभाषणस्तैन्याऽब्रह्मपरिग्रहरात्रिभोजनाऽविरमणादिपरिग्रहस्तेषु परायण —तत्पर , उपलक्षणत्वात् मोक्षमार्गस्य ज्ञानदर्शनचारित्रादेस्तद्दोषग्रहणादिना विघ्न करोति, साधुभ्यो वा भक्तपानोपाश्रयोपकरणभैषजादिक दीयमान निवारयति, तेन चैतद् विदधता मोक्षमार्गे सर्वोऽपि विघ्नितो भवति, अपरेषामपि सत्त्वाना दानलाभभोगपरिभोगविघ्न करोति, मन्त्रादिप्रयोगेण च परस्य वीर्यमपहरति, हठाच्च वधबन्धनिरोधादिभि पर निश्चेष्ट करोति, छेदनभेदनादिभिश्च परसेन्द्रियश-

१ आश्रवा शुभनाम्नोऽय तीर्थकृन्नाम्न आश्रवा ॥ इति योगशास्त्रे ॥ २ 'ज्ञानचा' प्र० ग० घ० ॥

किमुपदन्ति । स किम्² इत्याह—'जयति' धातूनामनेकार्थत्वाद् अर्जयति 'विघ्न' पञ्चप्रकार-मप्यन्तरायकर्म । 'इति' पूर्वोक्तप्रकारेण 'कर्मविपाक ' कर्मविपाकनामक शास्त्रम् 'अय' सम्प्रत्येव निगदितस्वरूप 'लिखित ' अक्षरविन्यासीकृत देवेन्द्रसूरिभिः करालकलिकालपातालतला-वमज्जद्विशुद्धधर्मधुरोद्धरणधुरीणश्रीमज्जगच्चन्द्रसूरिचरणसरसीरुहचञ्चरीकैरिति ॥ ६० ॥

॥ इति श्रीदेवेन्द्रसूरिविरचिता स्वोपज्ञकर्मविपाकटीका समाप्ता ॥

[ग्रन्थकारप्रशस्ति•]

विष्णोरिव यस्य विभो , पदत्रयी व्यानशे जगत्त्रिरिलम् ।
कर्ममलपटलजलद , स श्रीवीरो जिनो जयतु ॥ १ ॥
कुन्दोज्ज्वलकीर्तिभरै , सुरभीकृतसकलविष्टपाभोग ।
शतमखशतविनतपद , श्रीगौतमगणधर पातु ॥ २ ॥
तदनु सुधर्मस्वामी, जम्बूप्रभवादयो मुनिवरिष्ठा ।
श्रुतजलनिधिपारीणा, भूयास श्रेयसे सन्तु ॥ ३ ॥
तत प्राप्ततपाचार्येत्यभिख्या भिक्षुनायका । समभूवन् कुले चान्द्रे, श्रीजगच्चन्द्रसूरयः ॥४॥
जगज्जनितबोधाना, तेषा शुद्धचरित्रिणाम् । विनेया समजायन्त, श्रीमद्देवेन्द्रसूरयः ॥ ५ ॥
स्वान्ययोरुपकाराय, श्रीमद्देवेन्द्रसूरिणा । टीका कर्मविपाकस्य, सुबोधेय विनिर्ममे ॥ ६ ॥
विबुधवरधर्मकीर्तिश्रीविद्यानन्दसूरिमुख्यबुधै ।
स्वपरसमयैककुशलैस्तदैव सशोधिता चेयम् ॥ ७ ॥
यद्गदितमल्पमतिना, सिद्धान्तविरुद्धमिह किमपि शास्त्रे ।
विद्वद्भिस्तत्त्वैः , प्रसादमाधाय तच्छोध्यम् ॥ ८ ॥
कर्मविपाके विवृतिं, वितन्वता यन्मयाऽर्जित सुकृतम् ।
कर्मविपाकविमुक्त., समस्तु सर्वोऽपि तेन जन ॥ ९ ॥ ग्रन्थाग्रम्—१८८२ ॥



१ °भर ख० इ० ॥ २ °मम्—१७८२ क० ख० ॥

॥ अर्हम् ॥

पूज्यश्रीदेवेन्द्रसूरिविरचितस्वोपज्ञटीकोपेत

कर्मस्तवाख्यो द्वितीयः कर्मग्रन्थः ।

॥ नमः श्रीप्रवचनाय ॥



यस्योदयोदीरणसत्पदस्य, निःशेषकर्मारिबलं निहत्य ।
य सिद्धिसाम्राज्यमलञ्चकार, श्रिये स व श्रीजिनवीरनाथ ॥
नत्वा गुरुपदकमलं, गुरूपदेशाद्यथाश्रुतं किञ्चित् ।
कर्मस्तवस्य निवृतिं, विदधे स्वपरोपकाराय ॥

तत्राऽऽदावेव मङ्गलार्थमभीष्टदेवतास्तुतिमाह—

तह थुणिमो वीरजिणं, जह गुणठाणेसु सयलकम्माइ ।
बंधुदओदीरणयासत्तापत्ताणि खवियाणि ॥ १ ॥

'तथा' तेन प्रकारेण 'स्तुमः' असाधारणसद्भूतसकलकर्मनिर्मूलक्षपणलक्षणगुणोत्कीर्तनेन स्तवनगोचरीकुर्मः, कम्? 'वीरजिनं' तत्र विशेषेण–अपुनर्भावेन ईर्ते–'ईरिक् गतिकम्पनयो' इति वचनाद् याति शिवं, कम्पयति–आस्फोटयति अपनयति कर्म वेति वीरः, यदि वा 'शूर वीरणि विक्रान्तौ' वीरयति स–कषायोपसर्गपरीषहादिशत्रुगणमभिभवति स वीरः, उभयत्र लिहादित्वाद् अच्, यद्वा ईरणमीरः, "भावाकर्त्रोः" (सि० ५–३–१८) इति घञ्, ततश्च विशिष्ट ईरः–गमनं 'सर्वे गत्यर्था ज्ञानार्थाः' इति वचनाद् ज्ञानं यस्य स वीर इति, अनेन व्युत्पत्तित्रयेण भगवतश्चरमजिनेश्वरस्य स्वार्थसम्पदमाह। अथवा विशिष्टा–सकलभुवनाद्भुता यका स्वर्गापवर्गादिका ई–लक्ष्मीस्तां राति–भव्येभ्यः प्रयच्छति 'राक् दाने' इति वचनाद् वीरः, "आतो डोऽह्वावामः" (सि० ५–१–७६) इति डप्रत्ययः, राति च भगवान् सुरासुरनरोरगतिर्यक्साधारण्या वाण्या निःश्रेयसाभ्युदयसाधनोपायोपदेशेन भव्यानां भुवनाद्भुतां श्रियम्, तथा चोक्तम्—

अरहंता भगवंतो, अहियं च हियं च न वि इहं किंचि ।
वारंति कारवंति य, घेत्तूण जणं बला हत्थे ॥ (उप० मा० गा० ४४८)
उवएसं पुण तं देंति जेण चरिएण कित्तिनिलयाणं ।
देवाण वि हुंति पहू, किमंग पुण मणुयमित्ताणं[१] ॥ (उप० मा० ४४९) इति ।

इत्यनया व्युत्पत्त्या च प्रसिद्धसिद्धार्थपार्थिवविपुलकुलविमलनभस्तलनिशीथिनीनाथस्य जिन-

१ अर्हन्तो भगवन्तोऽहितं च हितं च नापि इह किञ्चित् । वारयन्ति कारयन्ति च गृहीत्वा जनं बलाद् हस्ते ॥ उपदेशं पुनस्तं ददति येन चरितेन कीर्तिनिलयानाम् । देवानामपि भवन्ति प्रभवः किमङ्ग पुनर्मनुजमात्राणाम् १ ॥

नाथस्य परार्थसम्पदमाह । वीरश्चासौ जिनश्च कषायादिमत्यर्थिसार्थजयाद् वीरजिनस्तं वीर-जिनम् । 'यथा' येन प्रकारेण

अभिनवकम्मग्गहण, बंधो ओहेण तत्थ वीससय ।
तित्थयराहारगदुगवज्जं मिच्छम्मि सत्तरसय ॥ (गा० ३)

इत्यादिवक्ष्यमाणेषु 'गुणस्थानेषु' परमपदप्रासादशिखरारोहणसोपानकल्पेषु व्याख्यास्यमानस्व-रूपेषु मिथ्यादृष्ट्यादिषु सकलानि–समस्तानि मतिज्ञानावरणप्रभृत्युत्तरप्रकृतिकदम्बकसहितानि कर्माणि–ज्ञानावरणीयादिमूलप्रकृतिरूपाण्यष्टौ कर्माणि च स्वोपज्ञकर्मविपाके विस्तरेण व्याख्यातानि । कथम्भूतानि ? "बंधुदओदीरणयासत्तापत्ताणि" त्ति । तत्र मिथ्यात्वादिभिर्बन्ध हेतुभिरञ्जनचूर्णपूर्णसमुद्गकवद् निरन्तरं पुद्गलनिचिते लोके कर्मयोग्यवर्गणापुद्गलैरात्मन क्षीर-नीरवद् वह्न्ययःपिण्डवद्वाऽन्योऽन्यानुगमाभेदात्मक सम्बन्धो बन्ध १, तेषां च यथास्व स्थितिबद्धानां कर्मपुद्गलानामपवर्तनादिकरणविशेषकृते स्वाभाविके वा स्थित्यपचये सति उद-यसमयप्राप्तानां विपाकवेदनमुदय २, तेषामेव कर्मपुद्गलानामकालप्राप्तानां जीवसामर्थ्यविशे-षाद् उदयावलिकायां प्रवेशनमुदीरणा ३, तेषामेव कर्मपुद्गलानां बन्धसङ्क्रमाभ्यां लब्धात्मलाभानां निर्जरणसङ्क्रमणकृतस्वरूपप्रच्युत्यभावे सद्भाव सत्ता ४, बन्धश्च उदयश्च उदीरणा च सत्ता च बन्धोदयोदीरणासत्तास्ता प्राप्तानि–गतानि । सूत्रे च "उदीरणया" इत्यत्र कप्रत्यय स्वार्थिक, 'क्षपितानि' निर्मूलोच्छेदेनाभावत्वमापादितानीति ॥ १ ॥

गुणस्थानेषु कर्माणि क्षपितानीत्युक्तम् । ततो गुणस्थानान्येव तावत् स्वरूपतो निर्दिशति—

मिच्छे १ सासण २ मीसे ३,
अविरय ४ देसे ५ पमत्त ६ अपमत्ते ७ ।
नियट्टि ८ अनियट्टि ९ सुहुमु १०-
वसम ११ खीण १२ सजोगि १३ अजोगि १४ गुणा ॥ २॥

"गुण" त्ति गुणस्थानानि तत "सूचनात् सूत्रम्" इति न्यायात् पदैकदेशेऽपि पदसमुदा-योपचाराद् वा इहैव गुणस्थानकनिर्देशो द्रष्टव्य । तद्यथा—मिथ्यादृष्टिगुणस्थान १ सास्वादन-सम्यग्दृष्टिगुणस्थान २ सम्यग्मिथ्यादृष्टिगुणस्थानम् ३ अविरतसम्यग्दृष्टिगुणस्थान ४ देशविर-तिगुणस्थान ५ प्रमत्तसंयतगुणस्थानम् ६ अप्रमत्तसंयतगुणस्थानम् ७ अपूर्वकरणगुणस्थानम् ८ अनिवृत्तिबादरसम्परायगुणस्थान ९ सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानम् १० उपशान्तकषायवीतराग-च्छद्मस्थगुणस्थान ११ क्षीणकषायवीतरागच्छद्मस्थगुणस्थान १२ सयोगिकेवलिगुणस्थानम् १३ अयोगिकेवलिगुणस्थानम् १४ इति ।

तत्र गुणा —ज्ञानदर्शनचारित्ररूपा जीवस्वभावविशेषा , स्थानम्–पुनरत्र तेषा शुद्ध्यशुद्धिप्रकर्षापकर्षकृत स्वरूपभेद , तिष्ठन्त्यस्मिन् गुणा इति कृत्वा, गुणाना स्थान गुणस्थानम्, मिथ्या–विपर्यस्ता दृष्टि —अर्हत्प्रणीतजीवाजीवादिवस्तुप्रतिपत्तिर्यस्य भक्षितहृत्पूरपुरुषस्य सिते पीतप्रतिपत्तिवत् स मिथ्यादृष्टि , तस्य गुणस्थान–ज्ञानादिगुणानामविशुद्धिप्रकर्षविशुद्ध्यपकर्ष-कृत स्वरूपविशेषो मिथ्यादृष्टिगुणस्थानम् ।

लक्षाण्यनुभूय कथमपि तथाभव्यत्वपरिपाकवशतो गिरिसरिदुपलघोलनाकल्पेनाऽनाभोगनिर्वर्ति-तयथाप्रवृत्तकरणेन "करण परिणामोऽत्र" इति वचनाद् अध्यवसायविशेषरूपेणाऽऽयुर्वर्जानि ज्ञानावरणीयादिकर्माणि सर्वाण्यपि पल्योपमासङ्ख्येयभागन्यूनैकसागरोपमकोटाकोटीस्थितिकानि करोति । अत्र चान्तरे जीवस्य कर्मजनितो घनरागद्वेषपरिणाम कर्कशनिनिडचिररूढगुपिल-वक्रग्रन्थिवद् दुर्भेदोऽभिन्नपूर्वो ग्रन्थिर्भवति । तदुक्तम्—

तीएँ वि थोवमित्ते, खविए इत्थतरम्मि जीवस्स ।
हवइ हु अभिन्नपुव्वो, गठी एव जिणा बिंति ॥
(धर्मसं० गा० ७५२, श्राव० प्र० गा० ३२)

गठि त्ति सुदुब्भेओ, कक्खडघणरूढगूढगठि व्व ।
जीवस्स कम्मजणिओ, घणरागद्दोसपरिणामो ॥ (विशेषा० गा० ११९५) इति ।

इम च ग्रन्थि यावदभव्या अपि यथाप्रवृत्तिकरणेन कर्म क्षपयित्वाऽनन्तश समागच्छन्ति । उक्त चाऽऽवश्यकटीकायाम्—

अभव्यस्यापि कस्यचिद् यथाप्रवृत्तिकरणतो ग्रन्थिमासाद्याऽर्हदादिविभूतिदर्शनत प्रयोजना-न्तरतो वा प्रवर्तमानस्य श्रुतसामायिकलाभो भवति न शेषलाभ इति ।

एतदनन्तर कश्चिदेव महात्माऽऽसन्नपरमनिर्वृतिसुख समुल्लसितप्रचुरदुर्निवारवीर्यप्रसरो निशितकुठारधारयेव परमविशुद्ध्या यथोक्तस्वरूपस्य ग्रन्थेर्भेद विधाय मिथ्यात्वस्थितेरन्तर्मुहूर्त-मुदयक्षणाद् उपर्यतिक्रम्याऽपूर्वकरणाऽनिवृत्तिकरणलक्षणविशुद्धिजनितसामर्थ्याद् अन्तर्मुहूर्तका-लप्रमाण तत्प्रदेशवेद्यदलिकाभावरूपमन्तरकरण करोति । अत्र यथाप्रवृत्तिकरणाऽपूर्वकरणा-ऽनिवृत्तिकरणानामय क्रम —

जा गठी ता पढम, गठिं समइच्छओ भवे बीय ।
अनियट्टीकरण पुण, सम्मत्तपुरक्खडे जीवे ॥ (विशे० आ० गा० १२०३)

"गठिं समइच्छओ" त्ति ग्रन्थि समतिक्रामत —भिन्दानस्येति, "सम्मत्तपुरक्खड" त्ति सम्यक्त्व पुरस्कृत येन तस्मिन् आसन्नसम्यक्त्वे जीवेऽनिवृत्तिकरण भवतीत्यर्थ ।

एतस्मिंश्चान्तरकरणे कृते सति तस्य मिथ्यात्वकर्मण स्थितिद्वय भवति । अन्तरकरणा-दधस्तनी प्रथमा स्थितिरन्तर्मुहूर्तप्रमाणा, तस्मादेवान्तरकरणाद् उपरितनी शेषा द्वितीया । स्थापना ⊖ । तत्र प्रथमस्थितौ मिथ्यात्वदलिकवेदनादसौ मिथ्यादृष्टिरेव, अन्तर्मुहूर्तेन पुनस्तस्या-मपगतायामन्तरकरणप्रथमसमय एवौपशमिकसम्यक्त्वमाप्नोति, मिथ्यात्वदलिकवेदनाऽभावात् । यथा हि वनदावानल पूर्वदग्धेन्धनमूषर वा देशमवाप्य विध्यायति, तथा मिथ्यात्ववेदनवनद-वोऽप्यन्तरकरणमवाप्य विध्यायति । तथा च सति तस्यौपशमिकसम्यक्त्वलाभ । उक्त च—

१ तस्या अपि स्तोकमात्रे क्षपित अत्रान्तरे जीवस्य । भवति हि अभिन्नपूर्वो ग्रन्थिरेव जिना ब्रुवन्ति ॥ ग्रन्थिरिति सुदुर्भेद कर्कशघनरूढगूढग्रन्थिरिव । जीवस्य कर्मजनितो घनरागद्वेषपरिणाम ॥ २ °र्थाऽन्त° क० ग० ॥ ३ यावद् ग्रन्थि तावत् प्रथम ग्रन्थि समतिक्रामतो भवेद्द्वितीयम् । अनिवृत्तिकरण पुन सम्य क्त्वपुरस्कृते जीवे ॥ ४ अपुव्व तु विशेषावश्यकभाष्ये ।

ऊसरदेसं दड्ढिल्लय च विज्झाइ वणदवो पप्प ।
इय मिच्छस्स अणुदए, उवसमसम्म लहइ जीवो ॥ (विशेषा० गा० २७३४)

तस्या चान्तर्मौहूर्तिक्यामुपशान्ताद्धाया परमनिधिभकल्पाया जघन्यत समयशेषायामुत्कृष्टत षडावलिकाशेषाया सत्या कस्यचिन्महाविभीषिकोत्थानकल्पोऽनन्तानुबन्ध्युदयो भवति, तदुदये चासौ सास्वादनसम्यग्दृष्टिगुणस्थाने वर्तते, उपशमश्रेणिप्रतिपतितो वा कश्चित् सासादनत्व याति, तदुत्तरकाल चावश्य मिथ्यात्वोदयादसो मिथ्यादृष्टिर्भवतीति २ ।

तथा सम्यक् च मिथ्या च दृष्टिर्यस्यासौ सम्यग्मिथ्यादृष्टि, तस्य गुणस्थान सम्यग्मिथ्यादृष्टिगुणस्थानम् । इहानन्तराभिहितविधिना लब्धेनौपशमिकसम्यक्त्वेन औषधविशेषकल्पेन मदनकोद्रवस्थानीय मिथ्यात्वमोहनीय कर्म शोधयित्वा त्रिधा करोति । तद्यथा—शुद्धमर्धविशुद्धमविशुद्ध चेति । स्थापना △▲▲ । तत्र त्रयाणा पुञ्जाना मध्ये यदाऽर्धविशुद्ध पुञ्ज उदेति तदा तदुदयाद् जीवस्यार्धविशुद्ध जिनप्रणीततत्त्वश्रद्धान भवति, तेन तदाऽसौ सम्यग्मिथ्यादृष्टिगुणस्थानमन्तर्मुहूर्तं काल स्पृशति, तत ऊर्ध्वमवश्य सम्यक्त्व मिथ्यात्व वा गच्छतीति ३ ।

तथा विरतिर्विरत क्लीवे क्तप्रत्यय, तत्पुन सावद्ययोगप्रत्याख्यान तद् न जानाति नाभ्युपगच्छति न तत्पालनाय यतत इति त्रयाणा पदानामष्टौ भङ्गा । स्थापना—तत्र प्रथमेषु चतुर्षु भङ्गेषु मिथ्यादृष्टिरज्ञानित्वात्, शेषेषु सम्यग्दृष्टिर्ज्ञानित्वात्, सप्तसु भङ्गेषु नास्य विरतमस्तीत्यविरत, "अभ्रादिभ्य" (सि०७–२–४६) इति अप्रत्यय, चरमभङ्गे तु विरतिरस्तीति । यद्वा विरमति स्म–सावद्ययोगेभ्यो निवर्तते स्मेति विरत, "गत्यर्थाऽकर्मकपिबभुजे" (सि० ५–१–११) इति कर्तरि क्तप्रत्यये विरत, न विरतोऽविरत, स चासौ सम्यग्दृष्टिश्चाविरतसम्यग्दृष्टि । इदमुक्त भवति—य पूर्ववर्णितौपशमिकसम्यग्दृष्टि शुद्धदर्शनमोहपुञ्जोदयवर्ती क्षायोपशमिकसम्यग्दृष्टिर्वा क्षीणदर्शनसप्तक क्षायिकसम्यग्दृष्टिर्वा परममुनिप्रणीता सावद्ययोगविरतिं सिद्धिसौधाध्यारोहणनि श्रेणिकल्पा जानन् अप्रत्याख्यानकषायोदयविघ्नितत्वात् नाभ्युपगच्छति, न च तत्पालनाय यतत इत्यसावविरतसम्यग्दृष्टिरुच्यते, तस्य गुणस्थानमविरतसम्यग्दृष्टिगुणस्थानम् । उक्त च—

न	ना	न
न	ना	पा
न	ऽ	न
न	ऽ	पा
जा	ना	न
जा	ना	पा
जा	ऽ	न
जा	ऽ	पा

[2]बध अविरइहेउ, जाणतो रागदोसदुक्ख च ।
विरइसुह इच्छतो, विरइ काउ च असमत्थो ॥
एस असंजयसम्मो, निंदतो पावकम्मकरण च ।
अहिगयजीवाजीवो, अचलियदिट्ठी [3]चलियमोहो ॥ ४ ।

तथा सर्वसावद्ययोगस्य देशे–एकव्रतविषये स्थूलसावद्ययोगादौ सर्वव्रतविषयानुमतिवर्ज

१ ऊषरदेश दग्ध च विध्यायति वनदव प्राप्य । इति मिथ्यात्वस्यानुदये उपशमसम्यक्त्व लभते जीव ॥
२ बन्धमविरतिहेतु जानानो रागद्वेषदु ख च । विरतिसुखमिच्छन् विरतिं कर्तुं चासमर्थ ॥ एषोऽसयतसम्यग्दृष्टि निन्दन् पापकर्मकरण च । अधिगतजीवाजीवोऽचलितदृष्टिश्चलितमोह ॥ ३ चलियमोहो क० ख० घ० ॥ ४ °वयस्थू° क० घ० ॥

सावद्ययोगान्ते विरत विरतिर्यस्यासौ देशविरत. । सर्वसावद्यविरति पुनरस्य नास्ति, प्रत्याख्यानावरणकषायोदयात्, सर्वविरतिरूप प्रत्याख्यानमावृण्वन्तीति प्रत्याख्यानावरणा । उक्त च—

सम्मद्दसणसहिओ, गिण्हतो विरइमप्पसत्तीए ।
एगव्वयाइचरिमो, अणुमइमित्त त्ति देसजई ॥

देशविरतस्य गुणस्थान देशविरतगुणस्थानम् ५ ।

तथा संयच्छति स्म—सम्यग् उपरमति स्म संयत, "गत्यर्थाऽकर्म०" (५–१–११) इति क्त', प्रमाद्यति स्म—सयमयोगेषु सीदति स्म, भाववत् कर्तरि क्त प्रमत्त, यद्वा प्रमदन प्रमत्त—प्रमाद, स च मदिराविषयकषायनिद्राविकथानामन्यतम सर्वे वा । प्रमत्तमस्यास्तीति प्रमत्त—प्रमादवान् "अभ्रादिभ्य" (सि० ७–२–४६) इति अप्रत्यय, प्रमत्तश्चासौ संयतश्च प्रमत्तसंयत, तस्य गुणस्थान प्रमत्तसंयतगुणस्थानम्, विशुद्ध्यविशुद्धिप्रकर्षाऽपकर्षकृत स्वरूपभेद । तथाहि—देशविरतिगुणापेक्षया एतद्गुणाना विशुद्धिप्रकर्षोऽविशुद्ध्यपकर्षश्च, अप्रमत्तसंयतापेक्षया तु विपर्यय । एवमन्येष्वपि गुणस्थानेषु पूर्वोत्तरापेक्षया विशुद्ध्यविशुद्धिप्रकर्षाऽपकर्षयोजना द्रष्टव्या ६ ।

न प्रमत्तोऽप्रमत्त । यद्वा नास्ति प्रमत्तमस्यासावप्रमत्त, स चासौ संयतश्च, तस्य गुणस्थानम् अप्रमत्तसंयतगुणस्थानम् ७ ।

अपूर्वम्—अभिनव प्रथममित्यर्थ करण—स्थितिघातरसघातगुणश्रेणिगुणसङ्क्रमस्थितिबन्धाना पञ्चानामर्थाना निर्वर्तन यस्यासावपूर्वकरण । तथाहि—बृहत्प्रमाणाया ज्ञानावरणीयादिकर्मस्थितेरपवर्तनाकरणेन खण्डनम्—अल्पीकरण स्थितिघात उच्यते । रसस्यापि प्रचुरीभूतस्य सतोऽपवर्तनाकरणेन खण्डनम्—अल्पीकरण रसघात उच्यते । एतौ द्वावपि पूर्वगुणस्थानेषु विशुद्धेरल्पत्वादल्पावेव कृतवान्, अत्र पुनर्विशुद्धे प्रकृष्टत्वाद् बृहत्प्रमाणतया अपूर्वाविमौ करोति । तथा उपरितनस्थितेर्विशुद्धिवशादपवर्तनाकरणेनाऽवतारितस्य दलिकस्यान्तर्मुहूर्तप्रमाणमुदयक्षणादुपरि क्षिप्रतरक्षपणाय प्रतिक्षणमसङ्ख्येयगुणवृद्ध्या विरचन गुणश्रेणि । स्थापना ✡ । एतां च पूर्वगुणस्थानेष्वविशुद्धत्वात् कालतो द्राघीयसीं दलिकरचनामाश्रित्याऽप्रथीयसीमल्पदलिकस्यापवर्तनाद् विरचितवान् इह तु तामेव विशुद्धत्वादपूर्वां कालतो ह्रस्वतरा दलिकरचनामाश्रित्य पुन पृथुतरा बहुतरदलिकस्यापवर्तनाद् विरचयतीति । तथा बध्यमानशुभप्रकृतिष्वबध्यमानाशुभप्रकृतिदलिकस्य प्रतिक्षणमसङ्ख्येयगुणवृद्ध्या विशुद्धिवशाद् नयनं गुणसङ्क्रम, तमप्यसाविहापूर्वं करोति । तथा स्थितिं कर्मणामशुद्धत्वात् प्राग् द्राघीयसीं बद्धवान्, इह तु तामपूर्वां विशुद्धत्वादेव ह्रसीयसीं बध्नातीति [स्थितिबन्ध] ।

अय चापूर्वकरणो द्विधा—क्षपक उपशमकश्च, क्षपणोपशमनार्हत्वात् चैवमुच्यते, राज्यार्हकुमारराजवत्, न पुनरसौ क्षपयत्युपशमयति वा, तस्य गुणस्थानम् अपूर्वकरणगुणस्थानम् ।

एतच्च गुणस्थान प्रपन्नाना कालत्रयवर्तिनो नानाजीवानपेक्ष्य सामान्यतोऽसङ्ख्येयलोकाकाश-

१ सम्यग्दर्शनसहित गृह्णन् विरतिमात्मशक्त्या । एकव्रतादिचरिम अनुमतिमात्र इति देशयति ॥ २ °पसी दरित्रिक्रमणिकयप्राणभूतसय॰ इत्यादि ॥

प्रदेशप्रमाणान्यध्यवसायस्थानानि भवन्ति । कथ पुनस्तानि भवन्ति[१] इति विनेयजनानुग्रहार्थं विशेषतोऽपि प्ररूप्यन्ते—इह तावदिद गुणस्थानकमन्तर्मुहूर्तकालप्रमाण भवति । तत्र च प्रथमसमयेऽपि ये प्रपन्ना प्रपद्यन्ते प्रपत्स्यन्ते च तदपेक्षया जघन्यादीन्युत्कृष्टान्तान्यसङ्ख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणान्यध्यवसायस्थानानि लभ्यन्ते, प्रतिपत्तॄणा बहुत्वादध्यवसायाना च विचित्रत्वादिति भावनीयम् ।

ननु यदि कालत्रयापेक्षा क्रियते तदेतद्गुणस्थानक प्रतिपन्नानामनन्तान्यध्यवसायस्थानानि कस्माद् न भवन्ति[२] अनन्तजीवैरस्य प्रतिपन्नत्वाद् अनन्तैरेव च प्रतिपत्स्यमानत्वादिति, सत्यम्, स्यादेव यदि तत्प्रतिपत्तॄणा सर्वेषा पृथक् पृथग्भिन्नान्येवाध्यवसायस्थानानि स्यु, तच्च नास्ति, बहूनामेकाध्यवसायस्थानवर्तित्वादपीति । ततो द्वितीयसमये तदन्यान्यधिकतराण्यध्यवसायस्थानानि लभ्यन्ते, तृतीयसमये तदन्यान्यधिकतराणि, चतुर्थसमये तदन्यान्यधिकतराणीत्येव तावन्नेय यावत् चरमसमय । एतानि च स्थाप्यमानानि विषमचतुरस्र क्षेत्रमभिव्याप्नुवन्ति । तद्यथा—

४०००००००
३००००००
२०००००
१००००

अत्र प्रथमसमयजघन्याध्यवसायस्थानात् प्रथमसमयोत्कृष्टमध्यवसायस्थानमनन्तगुणविशुद्धम्, तस्माच्च द्वितीयसमयजघन्यमनन्तगुणविशुद्धम्, ततोऽपि द्वितीयसमयजघन्यात् तदुत्कृष्टमनन्तगुणविशुद्धम्, तस्माच्च तृतीयसमयजघन्यमनन्तगुणविशुद्धम्, ततोऽपि तदुत्कृष्टमनन्तगुणविशुद्धमित्येव तावन्नेय यावद् द्विचरमसमयोत्कृष्टात् चरमसमयजघन्यमनन्तगुणविशुद्धम्, ततोऽपि तदुत्कृष्टमनन्तगुणविशुद्धमिति । एकसमयगतानि चामून्यध्यवसायस्थानानि परस्परमनन्तभागवृद्ध्यसङ्ख्यातभागवृद्धिसङ्ख्यातभागवृद्धिसङ्ख्येयगुणवृद्ध्यसङ्ख्येयगुणवृद्ध्यनन्तगुणवृद्धिरूपषट्स्थानकपतितानि । युगपदेतद्गुणस्थानप्रविष्टाना च परस्परमध्यवसायस्थानस्य व्यावृत्तिलक्षणा निवृत्तिरप्यस्तीति निवृत्तिगुणस्थानकमप्येतदुच्यते, अत एवोक्त सूत्रे "नियट्टि अनियट्टी" इत्यादि ८ ।

तथा युगपदेतद्गुणस्थानक प्रतिपन्नाना बहूनामपि जीवानामन्योऽन्यमध्यवसायस्थानस्य व्यावृत्ति —निवृत्तिर्नास्त्यस्येति अनिवृत्ति समकालमेतद्गुणस्थानकमारूढस्यापरस्य यदध्यवसायस्थान विवक्षितोऽन्योऽपि कश्चित्तद्वर्तत एवेत्यर्थ । सम्परैति—पर्यटति संसारमनेनेति सम्पराय —कषायोदय, बादर —सूक्ष्मकिट्टीकृतसम्परायापेक्षया स्थूर सम्परायो यस्य स बादरसम्पराय, अनिवृत्तिश्चासौ बादरसम्परायश्च अनिवृत्तिबादरसम्पराय, तस्य गुणस्थानमनिवृत्तिबादरसम्परायगुणस्थानम् । इदमप्यन्तर्मुहूर्तप्रमाणमेव । तत्र चान्तर्मुहूर्ते यावन्त समयास्तत्प्रविष्टाना तावन्त्येवाध्यवसायस्थानानि भवन्ति, एकसमयप्रविष्टानामेकस्यैवाध्यवसायस्थानस्यानुवर्तनादिति । स्थापना

०
०
०
०

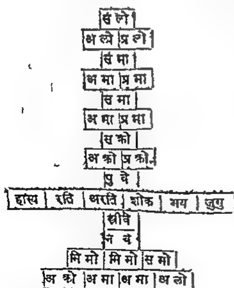
प्रथमसमयादारभ्य प्रतिसमयमनन्तगुणविशुद्ध यथोत्तरमध्यवसायस्थान भवतीति वेदितव्यम् । स चानिवृत्तिबादरो द्विधा—क्षपक उपशमकश्च ९ ।

तथा सूक्ष्म सम्पराय किट्टीकृतलोभकषायोदयरूपो यस्य सोऽय सूक्ष्मसम्पराय । सोऽपि द्विधा—क्षपक उपशमको वा, क्षपयति उपशमयति वा लोभमेकमिति कृत्वा, तस्य गुणस्थान सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानम् १० ।

---

१ °स्थानिलानविरसिता° क० घ० ॥ २ ततोऽपि तदुत्क° क० ख० ग० घ० ॥

तथा छाद्यते केवलज्ञान केवलदर्शन चात्मनोऽनेनेति च्छद्म—ज्ञानावरणदर्शनावरणमोहनी-यान्तरायकर्मोदय । सति तस्मिन् केवलस्यानुत्पादात्, तदपगमानन्तर चोत्पादात् । छद्मनि तिष्ठतीति च्छद्मस्थ । स च सरागोऽपि भवति इत्यतस्तद्व्यवच्छेदार्थं वीतरागग्रहणम् । वीत— विगतो राग —मायालोभकषायोदयरूपो यस्य स वीतराग , स चासौ छद्मस्थश्च वीतरागच्छद्मस्थ । स च क्षीणकषायोऽपि भवति, तस्यापि यथोक्तरागापगमाद् अतस्तद्व्यवच्छेदार्थम् उपशान्तकषायग्रहणम् । "कष शिष" इत्यादिदण्डकधातुर्हिंसार्थ , कषन्ति कष्यन्ते च परस्परमस्मिन् प्राणिन इति कष —संसार , कषमयन्ते—गच्छन्त्येभिर्जन्तव इति कषाया —क्रोधादय, उपशान्ता —उपशमिता विद्यमाना एव सङ्क्रमणोद्वर्तनादिकरणोदयायोग्यत्वेन व्यवस्थापिता कषाया येन स उपशान्तकषाय , स चासौ वीतरागच्छद्मस्थश्चेति उपशान्तकषायवीतरागच्छद्मस्थ , तस्य गुणस्थानमिति प्राग्वत् । तत्राविरतसम्यग्दृष्टे प्रभृत्यनन्तानुबन्धिन कषाया उपशान्ता सम्भवन्ति । उपशमश्रेण्यारम्भे ह्यनन्तानुबन्धिकषायान् अविरतो देशविरत प्रमत्तोऽप्रमत्तो वा सन् उपशमय्य दर्शनमोहत्रितयमुपशमयति । तदुपशमानन्तर प्रमत्ताऽप्रमत्तगुणस्थानपरिवृत्तिशतानि कृत्वा ततोऽपूर्वकरणगुणस्थानोत्तरकालमनिवृत्तिबादरसम्परायगुणस्थाने चारित्रमोहनीयस्य प्रथम नपुसकवेदमुपशमयति, तत स्त्रीवेदम्, ततो हास्यरत्यरतिशोकभयजुगुप्सारूप युगपत् षट्कम्, तत पुरुषवेदम्, ततो युगपद् अप्रत्याख्यानावरणप्रत्याख्यानावरणौ क्रोधौ, तत संज्वलनक्रोधम्, ततो युगपद् द्वितीयतृतीयौ मानौ, तत सज्वलनमानम्, ततो युगपद् द्वितीयतृतीये माये, तत सज्वलनमायाम्, ततो युगपद् द्वितीयतृतीयौ लोभौ, तत सूक्ष्मसम्परायगुणस्थाने सज्वलनलोभमुपशमयति इत्युपशमश्रेणि । स्थापना चेयम् । विस्तरतस्तूपशमश्रेणि स्वोपज्ञशतकटीकायां व्याख्याता तत परिभावनीया । तदेवमन्येष्वपि गुणस्थानकेषु क्वापि कियतामपि कषायाणामुपशान्तत्वसम्भवाद् उपशान्तकषायव्यपदेश सम्भवति, अतस्तद्व्यवच्छेदार्थं वीतरागग्रहणम् । उपशान्तकषायवीतराग इत्येतावताऽपीष्टसिद्धौ छद्मस्थग्रहण स्वरूपकथनार्थं, व्यवच्छेद्याभावात्, न ह्यच्छद्मस्थ उपशान्तकषायवीतराग सम्भवति यस्य च्छद्मस्थग्रहणेन व्यवच्छेद स्यादिति । अस्मिंश्च गुणस्थानेऽष्टाविंशतिरपि मोहनीयप्रकृतय उपशान्ता ज्ञातव्या । उपशान्तकषायश्च जघन्येनैक समय भवति, उत्कर्षेण त्वन्तर्मुहूर्त काल यावत्, तत



ऊर्ध्वं नियमादसौ प्रतिपतति । प्रतिपातश्च द्वेधा—भवक्षयेणाऽद्धाक्षयेण च । तत्र भवक्षयो म्रियमाणस्य, अद्धाक्षय उपशान्ताद्धाया समाप्तायाम् । अद्धाक्षयेण च प्रतिपतन् यथैवारूढस्तथैव प्रतिपतति, यत्र यत्र बन्धोदयोदीरणा व्यवच्छिन्नास्तत्र तत्र प्रतिपतता सता ते आरभ्यन्त इति

यावत् । प्रतिपतश्च तावत् प्रतिपतति यावत् प्रमत्तगुणस्थानम् । कश्चित्तु ततोऽप्यधस्तन गुणस्थानकद्विक याति, कोऽपि सासादनभावमपि । य पुनर्भवक्षयेण प्रतिपतति स प्रथमसमय एव सर्वाण्यपि बन्धनादीनि करणानि प्रवर्तयतीति विशेष । उत्कपतश्चैकस्मिन् भवे द्वौ वारावुपशमश्रेणिं प्रतिपद्यते । यश्च द्वौ वारावुपशमश्रेणिं प्रतिपद्यते तस्य नियमात् तस्मिन् भवे क्षपकश्रेण्यभाव । य पुनरेक वारं प्रतिपद्यते तस्य क्षपकश्रेणिर्भवेदपीति । उक्त च सप्ततिकाचूर्णौ—

जो दुवे वारे उवसमसेढिं पडिवज्जइ तस्स नियमा तम्मि भवे खवगसेढी नत्थि, जो इक्कसिं उवसमसेढी पडिवज्जइ तस्स खवगसेढी वि हुज्ज त्ति ॥[1]

एष कार्मग्रन्थिकाभिप्राय । आगमाभिप्रायेण त्वेकस्मिन् भव एकामेव श्रेणिं प्रतिपद्यते, यदुक्त कल्पभाष्ये—

एवं अप्परिवडिए, सम्मत्ते देवमणुयजम्मेसु ।
अन्नयरसेढिवज्जं, एगभवेण च सव्वाइं ॥ (गा० १०७)[2]

सर्वाणि देशविरत्यादीनि । अन्यत्राप्युक्तम्—

मोहोपशम एकस्मिन्, भवे द्वि स्यादसन्ततम् ।
यस्मिन् भवे तूपशम , क्षयो मोहस्य तत्र न ॥ इति । ११ ।

तथा क्षीणा —अभावमापन्न[3] कषाया यस्य स क्षीणकषाय । तत्रानन्तानुबन्धिकषायान् प्रथममविरतसम्यग्दृष्ट्याद्यप्रमत्तान्तेषु[4] गुणस्थानेषु क्षपयितुमारभते, ततो मिथ्यात्व मिश्र सम्यक्त्वम्, ततोऽप्रत्याख्यानावरणान् प्रत्याख्यानावरणान् कषायानष्टौ क्षपयितुमारभते, तेषु चार्धक्षपितेष्वेवातिविशुद्धिवशादन्तराल एव स्त्यानर्द्धित्रिक नरकद्विक तिर्यग्द्विकम् एकेन्द्रियद्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियजातय आतपम् उद्योत स्थावर सूक्ष्म साधारणमिति प्रकृतिषोडशक क्षपयति । तस्मिंश्च क्षीणे कषायाष्टकस्य क्षपितशेष क्षपयति । ततो नपुसकवेद स्त्रीवेद हास्यादिषट्क पुवेद सज्वलन क्रोध मान माया क्षपयति, एताश्च प्रकृतीरनिवृत्तिबादरसम्परायगुणस्थाने[5] क्षपयति, सज्वलनलोभ सूक्ष्मसम्परायगुणस्थान इति क्षपकश्रेणि । स्थापना चेयम् ।[6]

विस्तरतस्तु क्षपकश्रेणिस्वरूप स्वोपज्ञशतकटीकायां निरूपित तत एव परिभावनीयम् । तदेवमन्येष्वपि गुणस्थानेषु क्षीणकषायव्यपदेश सम्भवति, क्वापि कियतामपि कषायाणा क्षीणत्वात्, अतस्तद्व्यवच्छेदार्थं वीतरागग्रहणम् । क्षीणकषायवीतरागस्य च केवलिनोऽप्यस्ति इति तद्व्यवच्छेदार्थं छद्मस्थग्रहणम् । छद्मस्थग्रहणे च कृते सरागव्यवच्छेदार्थं वीतरागग्रहणम् । वीतरागश्चासौ छद्मस्थश्च वीतरागच्छद्मस्थ । स चोपशान्तकषायोऽप्यस्ति इति तद्व्यवच्छेदार्थं क्षीणकषायग्रहणम् । क्षीणकषायश्चासौ वीतरागच्छद्मस्थश्च क्षीणकषायवीतरागच्छद्मस्थ , तस्य गुणस्थान क्षीणकषायवीतरागच्छद्मस्थगुणस्थानम् १२ इति ।

---

१ यो द्वौ वारौ उपशमश्रेणिं प्रतिपद्यते तस्य नियमात्तस्मिन् भवे क्षपकश्रेणिर्नास्ति, य एकवारं उपशम श्रेणिं प्रतिपद्यते तस्य क्षपकश्रेणिरपि भवेदिति ॥ २ एवमप्रतिपतिते सम्यक्त्वे देवमनुजजन्मसु । अन्यतर श्रेणिवर्जम् एगभवेन च सर्वाणि ॥ ३ °तत क० ख० ग० घ० ङ० ॥ ४ °णा क्षपमा° ख० ॥ ५ °तान्तगु° ख० ग० ङ० ॥ ६ स्थापनाऽग्रेतनपृष्ठे न्यस्ताऽस्ति ॥

स लो

स मा

स मा

स क्रो

पु वे

हास्य	रति	अरति	शोक	भय	जुगुप्सा

स्त्री वे

न वे

अ क्रो	प्र क्रो	अ मा	प्र मा	अ मा	प्र मा	अ लो	प्र लो

स मो

मि मो

मि मो

अ क्रो	अ मा	अ मा	अ लो

तथा योगो वीर्यं शक्तिः उत्साहः पराक्रम इति पर्यायाः, स च मनोवाक्कायलक्षणकरणभेदात् तिस्रः संज्ञा लभते, मनोयोगो वाग्योगः काययोगश्चेति । तथा चोक्तं कर्मप्रकृतौ—

परिणामालम्बणगहणकारण तेण लद्धनामतिग ।
कज्जब्भासान्नुन्नप्पवेसविसमीकयपएसं ॥ (गा० ४)

तत्र भगवतो मनोयोगो मनःपर्यायज्ञानिभिरनुत्तरसुरादिभिर्वा मनसा पृष्टस्य सतो मनसैव देशनात्, ते हि भगवत्प्रयुक्तानि मनोद्रव्याणि मनःपर्यायज्ञानेनाऽवधिज्ञानेन वा पश्यन्ति, दृष्ट्वा च ते विवक्षितवस्त्वाकारान्यथानुपपत्त्या लोकस्वरूपादिनाह्यमर्थमवगच्छन्तीति । वाग्योगो धर्मदेशनादौ । काययोगो निमेषोन्मेषचङ्क्रमणादौ । ततोऽनेन योगत्रयेण सह वर्तत इति सयोगी "सर्वादेरिन्" (सि० ७–२–५९) इतीन् प्रत्ययः । केवल—केवलज्ञान केवलदर्शन च विद्यते यस्य स केवली, सयोगी चासौ केवली च सयोगिकेवली, तस्य गुणस्थान सयोगिकेवलिगुणस्थानम् १३ ।

तथा न विद्यन्ते योगाः पूर्वोक्ता यस्यासावयोगी । कथमयोगित्वमसावुपगच्छति? इति चेद् उच्यते—स भगवान् सयोगिकेवली जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तम् उत्कृष्टतो देशोनां पूर्वकोटीं विहृत्य कश्चित् कर्मणा समीकरणार्थं समुद्घात करोति, यस्य वेदनीयादिकमायुषः सकाशादधिकतरं भवति, अन्यस्तु न करोति । यदाहुः श्रीआर्यश्यामपादाः—

सव्वे वि ण भंते! केवली समुग्घायं गच्छति? गोयमा! नो इणट्ठे समट्ठे ।

१ "भ्रयपने" ह्र० ॥ २ परिणामालम्बनग्रहणकारण तेन लब्धनामत्रिकम् । कार्याभ्यासान्योऽन्यप्रवेशविषमीकृतप्रदेशम् ॥ ३ सर्वेऽपि खलु भदन्त! केवलिन समुद्घात गच्छन्ति? गौतम! नायमर्थ समर्थ । यस्य आयुषा तुल्यानि बन्धने स्थितिभिश्च । भवोपग्राहिकर्माणि न समुद्घात स गच्छति ॥ अगत्वा समुद्घातम् अनन्ता केवलिनो जिना । जरामरणविप्रमुक्ता सिद्धिं वरगतिं गता ॥

जस्साउएण तुल्लाइ, बधणेहि ठिईहि य ।
भवोवग्गाहिकम्माइ, न समुग्घाय स गच्छइ ॥
अगतूण समुग्घाय, अणता केवली जिणा ।
जरमरणविप्पमुक्का, सिद्धिं वरगइं गया ॥ (प्रज्ञा० पत्र ६०१–१)

अत्र "बधणेहिं"ति वध्यन्त इति बन्धनानि "भुजिपत्यादिभ्य कर्मापादाने" (सि० ५–३–१२८) इति कर्मण्यनट्, कर्मपरमाणवस्तै , शेष सुगमम् । गत्वा वाऽगत्वा वा समुद्घातम् । समुद्घातस्वरूप च स्वोपज्ञषडशीतिकटीकाया विस्तरत प्ररूपित तत एवावधारणीयम् । भवोपग्राहिकर्मक्षपणाय लेश्यातीतमत्यन्ताप्रकम्प परमनिर्जराकारण ध्यान प्रतिपित्सुर्योगनिरोधार्थमुपक्रमते । तत्र पूर्वं बादरकाययोगेन बादरमनोयोग निरुणद्धि, ततो वाग्योगम्, तत सूक्ष्मकाययोगेन बादरकाययोगम्, तेनैव सूक्ष्ममनोयोग सूक्ष्मवाग्योग च, सूक्ष्मकाययोग तु सूक्ष्मक्रियमनिवर्तिशुक्लध्यान ध्यायन् स्वावष्टम्भेनैव निरुणद्धि, अन्यस्यावष्टम्भनीयस्य योगान्तरस्य तदाऽसत्त्वात् । तद्ध्यानसामर्थ्याच्च वदनोदरादिविवरपूरणेन सङ्कुचितदेहत्रिभागवर्तिप्रदेशो भवति । तदनन्तर समुच्छिन्नक्रियमप्रतिपाति शुक्लध्यानं ध्यायन् मध्यमप्रतिपत्त्या ह्रस्वपञ्चाक्षरोद्गिरणमात्र काल शैलेशीकरण प्रविशति । तत्र शैलेश –मेरु तस्येव स्थिरता–साम्यावस्था शैलेशी, यद्वा सर्वसंवर शील तस्य य ईश शीलेश तस्येय योगनिरोधावस्था शैलेशी, तस्यां करण–पूर्वविरचितशैलेशीसमयसमानगुणश्रेणीकस्य वेदनीयनामगोत्राख्याऽघातिकर्मत्रितयस्याऽसङ्ख्येयगुणया श्रेण्या आयु शेषस्य तु यथास्वरूपस्थितया श्रेण्या निर्जरण शैलेशीकरणम् । तत्रासौ प्रविष्टोऽयोगी स चासौ केवली च अयोगिकेवली । अथ च शैलेशीकरणचरमसमयानन्तरमुच्छिन्नचतुर्विधकर्मबन्धनत्वाद् अष्टमृत्तिकालेपलिप्ताऽधोनिमग्नक्रमाऽपनीतमृत्तिकालेपजलतलमर्यादोर्ध्वगामितथाविधाऽलाबुवद् ऊर्ध्वं लोकान्ते गच्छति, न परतोऽपि, परतस्य जलकल्पगत्युपष्टम्भिधर्मास्तिकायाऽभावात् । स चोर्ध्वं गच्छन् ऋजुश्रेण्या यावत्स्वाकाशप्रदेशेष्विहावगाढस्तावत एव प्रदेशानूर्ध्वमप्यवगाहमानो विवक्षितसमयाच्च समयान्तरमसंस्पृशन् गच्छति ।

तदुक्तमावश्यकचूर्णौ—

जत्तिए जीवो अवगाढो तावइयाए ओगाहणाए उड्ढ उज्जुग गच्छइ न वक, बीय च समय न फुसइ ॥ (पूर्वार्द्ध पत्र ५८२) इति ॥

इ यमा धकारानिममजिनप्रवचनप्रदीपप्रतिमा श्रीजिनभद्रगणिपूज्या अप्याहु —

पज्जत्तमित्तसन्निस्स जत्तियाइं जहन्नजोगिस्स ।
हुति मणोदव्वाइ, तव्वावारो य जम्मत्तो ॥ (विशेषा० गा० ३०५९)
तदसखगुणविहीण, समए समए निरुभमाणो सो ।
मणसो सव्वनिरोह, कुणइ असखिज्जसमएहिं ॥ (विशेषा० गा० ३०६०)

१ समुसन्न° क० ख० ग० घ० ङ० ॥ २ यावत्यां जीवोऽवगाढस्तावत्याऽवगाहनया ऊर्ध्वमृजुक गच्छति न वक्रम्, द्वितीय च समय न स्पृशति ॥ ३ पर्याप्तमात्रसञ्ज्ञिनो यावन्ति जघन्ययोगिन । भवन्ति मनोद्रव्याणि तद्व्यापारश्च यन्मात्र ॥ तदसङ्ख्यगुणविहीनं समये समये निरुन्धान स । मनस सर्वनिरोध करोत्यसङ्ख्येयसमयै ॥

पंजत्तमित्तबिंदियजहन्नवइजोगपज्जया जे उ ।
तदसंखगुणविहीणे, समए समए निरुभतो ॥ (विसे० गा० ३०६१)
सव्ववइजोगरोहं, संखाईएहिं कुणइ समएहिं ।
तत्तो य सुहुमपणयस्स पढमसमओववन्नस्स ॥ (विसेसा० गा० ३०६२)
जो किर जहन्नजोगो, तदसंखिज्जगुणहीणमिक्केके ।
समए निरुभमाणो, देहतिभाग च मुचतो ॥ (विसेसा० गा० ३०६३)
रुभइ स कायजोगं, संखाईएहिं चेव समएहिं ।
तो कयजोगनिरोहो, सेलेसीभावणामेइ ॥ (विसेसा० गा० ३०६४)
हस्सक्खराइ मज्झेण जेण कालेण पच भण्णंति ।
अच्छइ सेलेसिगओ, तत्तियमेत्त तओ काल ॥ (विसेसा० गा० ३०६८)
तणुरोहारंभाओ, झायइ सुहुमकिरियानियट्टिं सो ।
वोच्छिन्नकिरियमप्पडिवाई सेलेसिकालम्मि ॥ (विसेसा० गा० ३०६९)
तदसखेज्जगुणाए, गुणसेढीइ रइय पुरा कम्म ।
समए समए खविउ, कमेण सव्व तहिं कम्म ॥ (विसेसा० गा० ३०८२)
उजुसेढीपडिवन्नो, समयपएसतर अफुसमाणो ।
एगसमएण सिज्झइ, अह सागारोवउत्तो सो ॥ (विसेसा०गा०३०८८) इति तस्य गुणस्थानमयोगिकेवलिगुणस्थानम् १४ इति ॥ २ ॥

व्याख्यातानि समावार्थानि चतुर्दशापि गुणस्थानानीति । अथ यथैतेष्वेव गुणस्थानेषु भगवता बन्धमुदयमुदीरणा सत्ता चाऽऽश्रित्य कर्माणि क्षपितानि तथा निर्मिणुः प्रथम तावद् बन्धमाश्रित्य क गुणस्थाने कियत्य कर्मप्रकृतयो व्यवच्छिन्ना [2] इत्येतद् बन्धलक्षणकथनपूर्वक प्रचिकटयिषुराह—

अभिनवकम्मग्गहणं, बधो ओहेण तत्थ वीस सयं ।
तित्थयराहारगदुगवज्ज मिच्छम्मि सतरसय ॥ ३ ॥

मिथ्यात्वादिभिर्हेतुभिरभिनवस्य—नूतनस्य कर्मण —ज्ञानावरणादेर्ग्रहणम्—उपादान बन्ध इत्युच्यते । 'ओघेन' सामान्येनैक किञ्चिद्गुणस्थानकमनाश्रित्येत्यर्थ । "तत्थ" त्ति तत्र

---

१ पर्याप्तमात्रद्वीन्द्रियजघन्यवचोयोगपर्यया ये तु । तदसङ्ख्यगुणविहीनान् समये समये निरुन्धान ॥ सर्वं वचोयोगरोध सङ्ख्यातीतै करोति समये । ततश्च सूक्ष्मपनकस्य प्रथमसमयोपपन्नस्य ॥ य किल जघन्ययोगस्तदसङ्ख्येयगुणहीनमेकैकस्मिन् । समये निरुन्धानो देहत्रिभाग च मुञ्चन् ॥ रुणद्धि स काययोग सङ्ख्यातीतैरेव समयै । तत कृतयोगनिरोध शैलेशीभावनामेति ॥ ह्रस्वाक्षराणि मध्येन येन कालेन पञ्च भण्यन्ते । आस्ते शैलेशीगत तावन्मात्र तक कालम् ॥ तनुरोधारम्भाद् ध्यायति सूक्ष्मक्रियानिवृत्ति स । व्युच्छिन्नक्रियमप्रतिपाति शैलेशीकाले ॥ तदसङ्ख्येयगुणाया गुणश्रेण्या रचित पुरा कर्म । समये समये क्षपयित्वा क्रमेण सर्व तत्र कर्म ॥ ऋजुश्रेणिप्रतिपन्न समयप्रदेशान्तरमस्पृशन् । एकसमयेन सिध्यति अथ साकारोपयुक्त स ॥ २ खविय कमसो सेलेसिकालेण ॥ इति भाष्ये पाठः ॥

वशादवसेय । "तिरियीणदुहगतिग" ति । त्रिकशब्द प्रत्येक सम्बध्यते, 'तिर्यक्त्रिक' तिर्यग्गतितिर्यगानुपूर्वीतिर्यगायुर्लक्षण 'स्त्यानर्द्धित्रिक' निद्रानिद्राप्रचलाप्रचलास्त्यानर्द्धिरूप 'दुर्भगत्रिक' दुर्भगदु स्वराऽनादेयस्वरूपमिति ॥ ४ ॥

अणमज्झागिइसघयणचउ निउज्जोयकुखगइत्थि त्ति ।
पणवीसतो मीसे, चउसयरि दुआउयअवधा ॥ ५ ॥

चतु शब्दस्य प्रत्येक योजनात् "अण" त्ति अनन्तानुबन्धिचतुष्कम् अनन्तानुबन्धिक्रोधमानमायालोभाख्यम्, मध्या —मध्यमा आद्यन्तवर्जा आकृतय —संस्थानानि मध्याकृतय, तासा चतुष्क—न्यग्रोधपरिमण्डलसंस्थान सादिसंस्थान वामनसंस्थान कुब्जसंस्थानमिति, तथा काकाक्षिगोलकन्यायात् मध्यशब्दस्यात्रापि योग, ततो मध्यानि—मध्यमानि प्रथमान्तिमवर्जानि संहननानि—अस्थिनिचयात्मकानि तेषा चतुष्कम्—ऋषभनाराचसंहनन नाराचसंहननम् अर्धनाराचसहनन कीलिकासहननमिति, "निउ" त्ति नीचैर्गोत्रम्, उद्योतम्, कु—कुत्सिताऽप्रशस्ता खगति —विहायोगति कुखगति अप्रशस्तविहायोगतिरित्यर्थ, "त्थि" त्ति स्त्रीवेद इत्येतासा पञ्चविंशतिप्रकृतीना सास्वादनेऽन्त, अत्र बध्यन्ते नोपरत्रेत्यर्थ, यतोऽनन्तानुबन्धिप्रत्ययो ह्यासा बन्ध, स चोपरत्र नास्तीति । ततश्चैकाधिकशतात् पञ्चविंशत्यपगमे "मीसि" त्ति 'मिश्रे' सम्यग्मिथ्यादृष्टिगुणस्थाने षट्सप्ततिर्ब धे भवति । ततोऽपि "दुआउयअबध" त्ति द्वयोर्मनुष्यायुर्देवायुषोरबन्धो ह्यायुरबन्धकत्वाद् ह्यायुरबन्धादिति हेतोश्चतु सप्ततिर्भवति । इदमुक्त भवति—इह नारकतिर्यगायुषी यथासख्य मिथ्यादृष्टिसास्वादनगुणस्थानयोर्व्यवच्छिन्ने, शेष तु मनुष्यायुर्देवायुर्द्वयमवतिष्ठते तदपि मिश्रो न बध्नाति, मिश्रस्य सर्वथाऽऽयुर्बन्धप्रतिषेधात् । उक्त च—

सम्मामिच्छद्दिट्ठी, आउयबध पि न करेइ । त्ति ।

तत षट्सप्ततेरायुर्द्वयापगमे चतु सप्ततिर्भवतीति ॥ ५ ॥

सम्मे सगसयरि जिणाउबंधि वइर नरतिग बियकसाया ।
उरलदुगतो देसे, सत्तट्ठी तिअकसायंतो ॥ ६ ॥

"सम्मि" त्ति अविरतसम्यग्दृष्टिगुणस्थाने "सगसयरि" त्ति सप्तसप्ततिप्रकृतीना बन्धो भवति । कथम्? इति चेद् उच्यते—पूर्वोक्तैव चतु सप्तति "जिणाउबधि" त्ति तीर्थकरनाममनुष्यायुर्देवायुर्द्वयबन्धे सति सप्तसप्ततिर्भवति । एतदुक्त भवति—तीर्थकरनाम तावत् सम्यक्त्वप्रत्ययादेवात्र बन्धमायाति, ये च तिर्यग्मनुष्या अविरतसम्यग्दृशस्ते देवायुर्बध्नन्ति, ये तु नारकदेवास्ते मनुष्यायुर्बध्नन्ति, ततोऽत्रेय प्रकृतित्रयी समधिका लभ्यते, सा च पूर्वोक्तायां चतु सप्ततौ क्षिप्यते जाता सप्तसप्ततिरिति । "वइर" त्ति वज्रर्षभनाराचसंहनन "नरतिग" त्ति नरत्रिक—नरगतिनरानुपूर्वीनरायुर्लक्षण "बियकसाय" त्ति द्वितीयकषाया —अप्रत्याख्यानावरणक्रोधमानमायालोभा "उरलदुग" त्ति औदारिकद्विकम्—औदारिकशरीरौदारिकाङ्गोपाङ्गलक्षणमित्येतासा दशप्रकृतीनामविरतसम्यग्दृष्टावन्तो भवति, एता अत्र बध्यन्ते नोपरत्रेत्यर्थ । अथ-

१ °क मध्याकृतिचतुष्कं-न्य° ख० ॥　२ °कं संहननचतुष्कम्—ऋ° क० ख० घ० ङ० ॥
३ सम्यग्मिथ्यादृष्टिरायुर्बं धमपि न करोति ॥　४ °युर्विवर्तबध्नति, क० ख० ॥

अत्र भाष्य—पणिहाणाणि इमाणि य इह कायव्वाणि निच्छएणेव। पणिहाणता जम्हा संपुन्ना वदणा भणिया ॥१॥(८५०) उवएस-विसेसाओ इत्तो अहिगपि चित्तउत्तीहि। पपडियभावाइसय कीरत गुणकरं चेव ॥२॥(८५१) उक्त च—मिच्छादसणमहणं सम्मद्-सणविसुद्धिहेउ च। चिइवदणाइ विहिणा पन्नत्त वीयरागेहिं ॥३॥(७८४) भावुल्लासेण विणा अहिगपचित्ती न हुज्ज धम्मंमि। सो खलु सुप्पणिहाण भण्णइ विन्नायसमएहिं ॥४॥ (८१३) वदणपणिहाणाओ सुविसुद्धाओ पवड्ढमाणाओ। सुवइ जिणिंदसमए देवत्त दद्दुरो पत्तो ॥७॥ (८१५) कयमित्थ पसगेण एव पणिहाणसगया एसा। सपुण्णा उक्कोसा निद्दिट्ठा वदणा लट्ठा ॥६॥ (८७४)

दर्दुराङ्कदेवकथा त्विय—

रायगिहे गुणसिलयंमि चेइए अन्नया समोसरिओ। वीरजिणो जा धम्म कहइ सुरासुरनरसहाए ॥१॥ ता चउसहस्ससामाणियएहि चउगुणाइ आयरक्खेहिं। अग्गमहिसीहि चउहिं नियनियपरिवारजुत्तेहिं ॥२॥ अन्नेहिं बहुदेवीदेवेहि जुओ महाविभूईए। पडुपडह-नियवाईयरवेण पूरतओ गयण ॥ ३ ॥ तत्थेगो नरअमरो पत्तो तिपयाहिऊण वीरजिण। वन्दित्तु नमसित्ता धम्मकहते भणइ एव ॥ ४ ॥ अविगलनिम्मलकेवलबलेण सयलपि मुणह पहू! तुज्झे। गोयमपमुहमुणीण नट्टविहिं पुण पयसेमि ॥ ५ ॥ दव्वत्थ-यतिकाउ मोण मुणिपुगवो विहेसीअ। अप्पडिसिद्ध अणुमयमिय विहिणा नाडय काउ ॥ ६ ॥ पुणवि नमतो भणिओ सो पहुणा अमरपवर! जीयमिण। किंचमिण तो दिट्ठो एमो पत्तो सठाणमि ॥७॥ अह नमिय जिण पुच्छइ गोयमनामी सुरेण पहु! इमिणा। किं कासि पुरा सुकय ज लद्धा एरिसी रिद्धी ॥८॥ जिणवदणपणिहाणा इमस्स रिद्धी इमत्ति जिणभणिय। पुणरवि गोयमपुट्ठो तच्चरिअ कहइ इअ सामी ॥९॥ इह रायगिहे नयरे मह पासे गहिय सुद्धगिहिधम्मो। नदमणिआरसिट्ठी पोसहसालाइ कइयावि

दे', कषाया ह्यनन्तानु-
, अनन्तानुबन्धिनस्तु
न्मनुदितान् बध्नाति।
रेपादाः—
ता, एतावतैव स
तत' कालान्तरेण
। ततो बन्धावलिका
(५—२)
ार्सहनन च मनुष्य-
ासा दशप्रकृतीनाम-
ानीयते, तत "देसे
। तृतीयकषायाणा—
भावाद् अनुदिताना
चतुष्कं पूर्वोक्तसस-

सायं।
७॥
ग" ति अस्थिरद्वि-
पद् प्रकृतय प्रमत्ते
। भाव । यद्वा
यदा कश्चित् प्रमत्त
तदा पूर्वोक्ता पद्

।

ह—'सुरायुर्नभन्'
भावना—सुरा
तु घोलनापरिणा-
ामवेऽप्यागच्छेत्,
य च इक्क, नायव
न्य प्रमत्तेनारब्ध

शातव्यमप्रमत्ते ॥

॥१०॥ कयअट्ठमभत्तो गहियपोसहो अइतिसाय परिभूओ। धन्ने जलयरजीवे मनतो गमिय कहमि निसा ॥११॥ गोसे सेणिय-निवइ विन्नविउ गिण्हिऊण बहु दव्व। चउदिसि चउवणसडेहिं मडिअ करइ सो वाविं ॥१२॥ सोलसरोगमिभूओ मुक्को वेज्जेहिं अट्टझाणेण। मरिउ सो दद्दुरओ उप्पन्नो नियपवावीए ॥१३॥ धन्नो स नदसिट्ठी जेण इमा कारिया पवरवावी। बहुजणसतावहरा वणसडजुया महुरसलिला ॥१४॥ इअ नरनारिमुहाओ निसमिय सो नियपुव्वभवनाम। सजायजाइसरणो अणुतावा इय विचिंतेइ ॥१५॥ अहह अहोऽहमभग्गो हा हारियनरभवो अकयपुन्नो। भट्ठो भट्ठपइन्नो निग्गथाओ पवयणाओ ॥ १६ ॥ तो सयमेव पवज्जे गिहिधम्ममभिग्गह च गिण्हेइ। कप्पइ मे जा जीव छट्ठछट्ठेण पारेउ ॥ १७ ॥ पारणदिणेवि फासुअउव्वट्टणियाहि धोणनीरण। कप्पइ मह वित्ती खलु सचित्तआहारनियमो मे ॥१८॥ अह अम्ह रायगिहे समोसढा सुणिय अम्ह आगमण। लोअमुहा सो तुट्ठो चलिओ मे वदणनिमित्त ॥१९॥ इत्तो वदणहेउ अम्हाण सेणिओऽवि नरनाहो। चलिओ भडचडगरचाउरगसेणाइ परियरिओ ॥२०॥ तस्सेगेण हएण अक्कतो सो उ वामचलणेण। निग्गयजतो तुरिय एगतमवक्कमेऊण ॥२१॥ अम्ह वदिय सकत्थएण उच्चरिअ पुणवि गिहिधम्म। जिणवदणपरिणामा मरिउ अणसणविहाणेण ॥ २२ ॥ सोहम्मदेवलोए सुविमाणे दद्दुरावडसमि। नामेण दद्दुरको चउपल्लठिई सुरो जाओ ॥२३॥ असुअ अदिट्ठपुव्व सुरलच्छि पिच्छिऊण तारिच्छ। अह चिंतिउ पयट्टो अइविम्हियमाणसो एसो ॥२४॥ किं मज्झे हुअ मए अइउग्गतर तव समायरिअ? । किं मयलछणसच्छहमणुचरिअमणुत्तर सील? ॥२५॥ किं वा दाण दिन्न? साहूसु तवनिअमसयमुज्जुएसु। धणिय सुभावणाए किंच मए भाविओ अप्पा ? ॥२६॥ इय मुणइ वियप्पिय सममोहिणा मुणिय भणइ हु लद्धा। वीरजिणवदणाए पणिहाणेण इमा रिद्धी ॥ २७ ॥ ता वीरजिण तिहुअणपामि वदामि तह नममामि। सो मम

मत्राभिमाय —द्वितीयकषायास्तावत् तदुदयाभावान्न बध्नाति देशविरतादि , कषाया ह्यनन्तानुबन्धिवर्जा वेद्यमाना एव बध्यन्ते, "'जे वेएइ ते बंधइ" इति वचनात्, अनन्तानुबन्धिनस्तु चतुर्विंशतिसत्कर्माऽनन्तवियोजको मिथ्यात्व गतो बन्धावलिकामात्र कालमनुदितान् बध्नाति ।

यदाहु सप्ततिकाटीकाया मोहनीयचतुर्विंशतिकावसरे श्रीमलयगिरिपादाः—

इह सम्यग्दृष्टिना सता केनचित् प्रथमतोऽनन्तानुबन्धिनो विसयोजिता , एतावतैव स विश्रान्तो न मिथ्यात्वादिक्षयाय उद्युक्तवान्, तथाविधसामग्र्यभावात् । तत कालान्तरेण मिथ्यात्व गत सन् मिथ्यात्वप्रत्ययतो भूयोऽप्यनन्तानुबन्धिनो बध्नाति । ततो बन्धावलिका यावत् नाद्याप्यतिक्रामति तावत् तेषामुदय विना बन्ध इति । (पत्र १३५–२)

नरत्रिक पुनरेकान्तेन मनुष्यवेद्यम्, औदारिकद्विक वज्रऋषभनाराचसहनन च मनुष्यतिर्यगेकान्तवेद्यम्, देशविरतादिषु देवगतिवेद्यमेव बध्नाति नान्यत्, तेनासा दशप्रकृतीनामविरतसम्यग्दृष्टिगुणस्थानेऽन्त । तत एतत् प्रकृतिदशक पूर्वोक्तसप्तसप्ततेरपनीयते, तत "देसे सत्तट्ठि" त्ति 'देसे' देशविरतगुणस्थाने सप्तषष्टिर्बध्यते "तियकसायतु" त्ति तृतीयकषायाणा–प्रत्याख्यानावरणक्रोधमानमायालोभाना देशविरतेऽन्त , तदुत्तरेषु तेषामुदयाभावाद् अनुदिताना चाबन्धात् "'जे वेयइ ते बंधइ" इति वचनाद् इति भाव । एतच्च प्रकृतिचतुष्कं पूर्वोक्तसप्तषष्टेरपनीयते ॥ ६ ॥ तत —

तेवट्ठि पमत्ते सोग अरइ अथिरदुग अजस अस्सायं ।
वुच्छिज्ज छच्च सत्त व, नेइ सुराउ जया निट्ठं ॥ ७ ॥

"तेवट्ठि पमत्ति" त्ति त्रिषष्टि प्रमत्ते बध्यते । शोक अरति "अथिरदुग" त्ति अस्थिरद्विकम्–अस्थिराऽशुभरूपम् "अजस" त्ति अयश कीर्तिनाम असातमित्येता षट् प्रकृतय प्रमत्ते "वुच्छिज्ज" त्ति प्राकृतत्वादादेशस्य व्यवच्छिद्यन्ते–क्षीयन्ते बन्धमाश्रित्येति भाव । यद्वा सप्त वा व्यवच्छिद्यन्ते । कथम्[२] इत्याह—"नेइ सुराउ जया निट्ठ" त्ति यदा कश्चित् प्रमत्त सन् सुरायुर्बन्धमारभते निष्ठा च नयति सुरायुर्बन्ध समापयतीत्यर्थ तदा पूर्वोक्ता षट् सुरायु सहिता सप्त व्यवच्छिद्यन्त इति ॥ ७ ॥

गुणसट्ठि अप्पमत्ते, सुराउबंधं तु जइ इहागच्छे ।
अन्नह अट्ठावन्ना, ज आहारगदुग बंधे ॥ ८ ॥

"गुणसट्ठि" त्ति एकोनषष्टिरप्रमत्ते बध्यत इति शेष । कथम्[३] इत्याह—'सुरायुर्बध्नन्' देवायुर्बन्ध कुर्वन् यदि चेद् 'इह' अप्रमत्तगुणस्थान आगच्छेत् । इयमत्र भावना—सुरायुर्बन्ध हि प्रमत्त एवारभते नाऽप्रमत्तादि , तस्यातिविशुद्धत्वात्, आयुष्कस्य तु घोलनापरिणामेनैव बन्धनात्, परं सुरायुर्बध्नन् प्रमत्ते किञ्चित् सावशेषे सुरायुर्बन्धेऽप्रमत्तेऽप्यागच्छेत्, अत्र च सावशेष सुरायुर्निष्ठा नयति तत एकोनषष्टिरप्रमत्ते भवति "देवाउय च इक्क, नायव्व अप्पमत्तम्मि ।" इति वचनात् । "अन्नह अट्ठावन्न" त्ति अन्यथा यदि सुरायुर्बन्ध प्रमत्तेनारब्ध प्रमत्तेनैव निष्ठा नीतस्ततोऽष्टापञ्चाशदप्रमत्ते भवतीति ।

१—२ यान् वेदयते तान् बध्नाति ॥ ३ °मुष्य र० म० ॥ ४ देवायुष्क चैक ज्ञातव्यमप्रमत्ते ॥

अत्राभिप्राय —द्वितीयकषायास्तावत् तदुदयाभावान्न बध्नाति देशविरतादि[1], कषाया ह्यनन्तानुबन्धिवर्जा वेद्यमाना एव बध्यन्ते, "जे वेएइ ते बधइ" इति वचनात्, अनन्तानुबन्धिनस्तु चतुर्विंशतिसत्कर्माऽनन्तवियोजको मिथ्यात्व गतो बन्धावलिकामात्र कालमनुदितान् बध्नाति ।

यदाहु सप्ततिकाटीकाया मोहनीयचतुर्विंशतिकावसरे श्रीमलयगिरिपादाः—

इह सम्यग्दृष्टिना सता केनचित् प्रथमतोऽनन्तानुबन्धिनो विसयोजिता, एतावतैव स विश्रान्तो न मिथ्यात्वादिक्षयाय उद्युक्तवान्, तथाविधसामग्र्यभावात् । तत कालान्तरेण मिथ्यात्व गत सन् मिथ्यात्वप्रत्ययतो भूयोऽप्यनन्तानुबन्धिनो बध्नाति । ततो बन्धावलिका यावत् नाद्याप्यतिक्रामति तावत् तेषामुदय विना बन्ध इति । (पत्र १३५-२)

नरत्रिक पुनरेकान्तेन मनुष्यवेद्यम्, औदारिकद्विक वज्रऋषभनाराचसहनन च मनुष्यतिर्यगेकान्तवेद्यम्, देशविरतादिषु देवगतिवेद्यमेव बध्नाति नान्यत्, तेनासा दशप्रकृतीनामनिरतसम्यग्दृष्टिगुणस्थानेऽन्त । तत एतत् प्रकृतिदशक पूर्वोक्तसप्तसप्ततेरपनीयते, तत "देसे सत्तट्ठि" त्ति 'देशे' देशविरतगुणस्थाने सप्तषष्टिर्बध्यते "तियकसायतु" त्ति तृतीयकषायाणाप्रत्याख्यानावरणक्रोधमानमायालोभाना देशविरतेऽन्त, तदुत्तरेषु तेषामुदयाभावाद् अनुदिताना चाबन्धात् "जे वेयइ ते बधइ" इति वचनाद् इति भाव । एतच्च प्रकृतिचतुष्कं पूर्वोक्तसप्तषष्टेरपनीयते ॥ ६ ॥ तत —

तेवट्ठि पमत्ते सोग अरइ अथिरदुग अजस अस्सायं ।
वुच्छिज्ज छच्च सत्त व, नेइ सुराउं जया निट्ठं ॥ ७ ॥

"तेवट्ठि पमत्ति" त्ति त्रिषष्टि प्रमत्ते बध्यते । शोक[2] अरति "अथिरदुग" त्ति अस्थिरद्विकम्—अस्थिराऽशुभरूपम् "अजस" त्ति अयश कीर्तिनाम असातमित्येता षट् प्रकृतय प्रमत्ते "वुच्छिज्ज" त्ति प्राकृतत्वादादेशस्य व्यवच्छिद्यन्ते—क्षीयन्ते बन्धमाश्रित्येति भाव[2] । यद्वा सप्त वा व्यवच्छिद्यन्ते । कथम्[3] इत्याह—"नेइ सुराउ जया निट्ठ" ति यदा कश्चित् प्रमत्त सन् सुरायुर्बन्धमारभते निष्ठा च नयति सुरायुर्बन्ध समापयतीत्यर्थ तदा पूर्वोक्ता षट् सुरायु सहिता सप्त व्यवच्छिद्यन्त इति ॥ ७ ॥

गुणसट्ठि अप्पमत्ते, सुराउबंध तु जइ इहागच्छे ।
अन्नह अट्ठावन्ना, जं आहारगदुग बधे ॥ ८ ॥

"गुणसट्ठि" त्ति एकोनषष्टिरप्रमत्ते बध्यत इति शेष । कथम्[3] इत्याह—'सुरायुर्बध्नन्' देवायुर्बन्ध कुर्वन् यदि चेद् 'इह' अप्रमत्तगुणस्थान आगच्छेत् । इयमत्र भावना—सुरायुर्बन्ध हि प्रमत्त एवारभते नाऽप्रमत्तादि, तस्यातिविशुद्धत्वात्, आयुष्कस्य तु घोलनापरिणामेनैव बन्धनात्, पर सुरायुर्बध्नन् प्रमत्ते किञ्चित् सावशेषे सुरायुर्बन्धेऽप्रमत्तेऽप्यागच्छेत्, अत्र च सावशेष सुरायुर्निष्ठा नयति तत एकोनषष्टिरप्रमत्ते भवति "देवाउय च इक्क, नायव्व अप्पमत्तम्मि ।" इति वचनात् । "अन्नह अट्ठावन्न" त्ति अन्यथा यदि सुरायुर्बन्ध प्रमत्तेनारब्ध प्रमत्तेनैव निष्ठा नीतस्ततोऽष्टापञ्चाशदप्रमत्ते भवतीति ।

१—२ यान् वेदयते तान् बध्नाति ॥ ३ °दुदय रा० रा० ॥ ४ देवायुष्क चैक ज्ञातव्यमप्रमत्ते ॥

ननु यदि पूर्वोक्तत्रिषष्टे शोकाऽरत्यस्थिरद्विकाऽयशोऽसातलक्षण प्रकृतिषट्कमपनीयते तर्हि सा सप्तपञ्चाशद् भवति, अथ सुरायु सहित पूर्वोक्तप्रकृतिषट्कमपनीयते तर्हि षट्पञ्चाशत्, तत कथमुक्तमेकोनषष्टिरष्टपञ्चाशद्वाऽप्रमत्ते ? इत्याशङ्क्याह—"ज आहारगदुग बधे" त्ति 'यद्' यस्मात् कारणाद् आहारकद्विक बन्धे भवतीति शेष । अयमत्राशय —अप्रमत्तयतिसम्बन्धिना सयमविशेषेणाऽऽहारकद्विक बध्यते, तच्चेह लभ्यत इति पूर्वापनीतमप्यत्र क्षिप्यते, तत षट्पञ्चाशद् आहारकद्विकक्षेपेऽष्टपञ्चाशद् भवति, सप्तपञ्चाशत् पुनराहारकद्विकक्षेप एकोनषष्टिरिति ॥८॥

अडवन्न अपुव्वाइमि, निद्दुगतो छपन्न पणभागे ।
सुरदुग पणिंदि सुखगइ, तसनव उरलविणु तणुवगा ॥ ९ ॥
समचउर निमिण जिण वन्नअगुरुलघुचउ छलसि तीसतो ।
चरमे छवीसबधो, हासरईकुच्छभयभेओ ॥ १० ॥

"अडवन्न अपुव्वाइमि" त्ति । इह किलाऽपूर्वकरणाद्धाया सप्त भागा क्रियन्ते । तत्राऽपूर्वस्य—अपूर्वकरणस्यादिमे—प्रथमे सप्तभागेऽष्टपञ्चाशत् पूर्वोक्ता भवति । तत्र चाद्ये सप्तभागे निद्राद्विकस्य—निद्राप्रचलालक्षणस्यान्तो भवति, अत्र बध्यते नोत्तरत्रापि, उत्तरत्र तद्बन्धाध्यवसाय स्थानाभावात्, उत्तरेष्वप्ययमेव हेतुरनुसरणीय । तत पर षट्पञ्चाशद् भवति । कथम् ? इत्याह—"पणभागि" त्ति पञ्चाना भागाना समाहार पञ्चभाग तस्मिन् पञ्चभागे, पञ्चसु भागे ष्वित्यर्थ । इदमुक्त भवति—अपूर्वकरणाद्धाया सप्तसु भागेषु विवक्षितेषु प्रथमे सप्तभागेऽष्टपञ्चाशत्, तत्र च व्यवच्छिन्ननिद्राप्रचलापनयने षट्पञ्चाशत्, सा च द्वितीये सप्तभागे तृतीये सप्तभागे चतुर्थे सप्तभागे पञ्चमे सप्तभागे षष्ठे सप्तभागे भवतीत्यर्थ । तत्र च षष्ठे सप्तभागे आसां त्रिंशत्प्रकृतीनामन्तो भवति इत्याह—"सुरदुग" इत्यादि । सुरद्विक—सुरगति-सुरानुपूर्वीरूप "पणिंदि" त्ति पञ्चेन्द्रियजाति, सुखगति—प्रशस्तविहायोगति "तसनव" त्ति त्रसनवक—त्रसबादरपर्याप्तप्रत्येकस्थिरशुभसुभगसुस्वराऽऽदेयलक्षण "उरल विणु" त्ति औदारिकशरीरं विना औदारिकाङ्गोपाङ्ग च विनेत्यर्थ "तणु" त्ति तनव—शरीराणि "उवग" त्ति उपाङ्गे । इदमुक्त भवति—वैक्रियशरीरम् आहारकशरीरं तैजसशरीरं कार्मणशरीर वैक्रियाङ्गोपाङ्गम् आहारकाङ्गोपाङ्ग चेति । "समचउर" त्ति समचतुरस्रसंस्थान "निमिण" त्ति निर्माण "जिण" त्ति जिननाम—तीर्थकरनामेत्यर्थ "वन्नअगुरुलहुचउ" त्ति चतु शब्दस्य प्रत्येकमभिसम्बन्धाद् वर्णचतुष्क—वर्णगन्धरसस्पर्शरूपम्, अगुरुलघुचतुष्कम्—अगुरुलघूपघातपराघातोच्छ्वासलक्षणमित्येतासा त्रिंशत्प्रकृतीना "छलसि" त्ति षष्ठोंऽश—भाग षडश, मयूरव्यसकादित्वात् समास, यथा—तृतीयो भागस्त्रिभाग इति । अत्र डकारस्य लकारो "डो ल" (सि० ८–१–२०२) इति प्राकृतसूत्रेण तस्मिन् षडशे । तत पूर्वोक्तषट्पञ्चाशत इमा स्त्रिंशत् प्रकृतयोऽपनीयन्ते शेषा षड्विंशतिप्रकृतयोऽपूर्वकरणस्य "चरमि" त्ति चरमे—अन्तिमे सप्तमे सप्तभागे बन्धे लभ्यन्त इत्यर्थ । चरमे च सप्तभागे हास च रतिश्च "कुच्छ" त्ति कुत्सा च—जुगुप्सा भय च हासरतिकुत्साभयानि तेषा भेद—व्यवच्छेदो हासरतिकुत्साभयभेदो भवतीति । एताश्चतस्र प्रकृतय पूर्वोक्तषड्विंशतेरपनीयन्ते, शेषा द्वाविंशति, सा

चाऽनिवृत्तिबादरप्रथमभागे भवतीति ॥ ९-१० ॥ एतदेवाह—

अनियट्टिभागपणगे, इगेगहीणो दुवीसविहबंधो ।
पुमसंजलणचउण्ह, कमेण छेओ सतर सुहुमे ॥ ११ ॥

'अनिवृत्तिभागपञ्चके' अनिवृत्तिबादराद्धाया पञ्चसु भागेष्वित्यर्थः । स पूर्वोक्तो द्वाविंशतिबन्ध एकैकहीनो वाच्यः, एकैकस्मिन् भागे एकैकस्याः प्रकृतेर्बन्धव्यवच्छेद इत्यर्थः । कथम्? इत्याह—"पुमसंजलणचउण्ह कमेण छेउ" त्ति क्रमेणाऽऽनुपूर्व्या प्रथमे भागे पुवेदस्य च्छेदस्तत एकविंशतेर्बन्धः, द्वितीये भागे सञ्ज्वलनक्रोधस्य च्छेदस्ततो विंशतेर्बन्धः, तृतीये भागे संज्वलनमानस्य च्छेदस्तत एकोनविंशतेर्बन्धः, चतुर्थे भागे संज्वलनमायायाश्छेदस्ततोऽष्टादशानां बन्धः, पञ्चमभागे संज्वलनलोभस्य च्छेदः, उत्तरत्र तद्बन्धाध्यवसायस्थानाभावः छेदहेतुः, सज्वलनलोभस्य तु बादरसम्परायप्रत्ययो बन्धः, स चोत्तरत्र नास्तीत्यतश्छेदस्ततः सूक्ष्मसम्पराये सप्तदशप्रकृतीनां बन्धो भवतीत्यत आह—"सतर सुहुमि" त्ति स्पष्टम् ॥११॥

चउदसणुच्चजसनाणविग्घदसगं ति सोलसुच्छेओ ।
तिसु सायबंध छेओ, सजोगि बंधंतुणंतो अ ॥ १२ ॥
बंधो सम्मत्तो ।

"चउदसण" त्ति चतुर्णां दर्शनानां समाहारश्चतुर्दर्शनं—चक्षुर्दर्शनाऽचक्षुर्दर्शनाऽवधिदर्शनकेवलदर्शनरूपम् "उच्च" त्ति उच्चैर्गोत्रम् "जस" त्ति यशःकीर्तिनाम "नाणविग्घदसग" ति ज्ञानावरणपञ्चकं विघ्नपञ्चकम्—अन्तरायपञ्चकमुभयमीलने ज्ञानविघ्नदशकमित्येतासां षोडशप्रकृतीनां सूक्ष्मसम्पराये बन्धस्योच्छेदो भवति, एतद्बन्धस्य साम्परायिकत्वाद् उत्तरेषु च साम्परायिकस्य कषायोदयलक्षणस्याऽभावादिति । "तिसु सायबंध" त्ति त्रिषु—उपशान्तमोहक्षीणमोहसयोगिकेवलिगुणस्थानेषु सातबन्धः सातस्य केवलयोगप्रत्ययस्य द्विसामयिकस्य तृतीयसमयेऽवस्थानाभावादिति भावः, न साम्परायिकस्य, तस्य कषायप्रत्ययत्वात् ।

आह च भाष्यसुधाम्भोनिधिः—

उवसंतखीणमोहा, केवलिणो एगविहबंधा[1] ।
ते पुण[2] दुसमयठिइयस्स बंधगा न उण संपरायस्स[3] ॥ इति ।

"छेओ सजोगि" त्ति डमरुकमणिन्यायात् सातबन्धशब्दस्येह सम्बन्धस्ततः सयोगिकेवलिगुणस्थाने सातबन्धस्य च्छेदः—व्यवच्छेदः । इह सातबन्धोऽस्ति, योगसद्भावात् । नोत्तरत्राऽयोगिकेवलिगुणस्थाने, योगाभावात् । ततोऽबन्धका अयोगिकेवलिनः । उक्तं च—

सेलेसी पडिवन्ना, अबन्धगा हुंति नायव्वा[4] ।

"बंधतुणंतो अ" त्ति बन्धस्यान्तोऽनन्तश्च बन्धशब्दस्याऽग्रे षष्ठीलोपः प्राकृतत्वात् । ततः इदमुक्तं भवति—यत्र हि गुणस्थाने यासां प्रकृतीनां बन्धहेतुव्यवच्छेदस्तत्र तासां बन्ध-

१ उपशान्तक्षीणमोहाः केवलिन एकविधबन्धाः ॥ ३ ते पुनर्द्विसमयस्थितिकस्य बन्धकाः न पुनः सम्परायस्य ॥ ५ शैलेशीं प्रतिपन्ना अबन्धका भवन्तीति ज्ञातव्याः ॥ २-४-६ षोडशे पञ्चाशके क्रमेण ४१ गाथायाः उत्तरार्धे ४२ गाथायाः पूर्वार्द्धमुत्तरार्द्धे चोपलभ्यते ॥

स्यान्त¹, यथा मिथ्यादृष्टिगुणस्थाने व्यवच्छिन्नबन्धाना षोडशानां प्रकृतीनाम्, मिथ्यात्वाविरतिकषाययोगा बन्धहेतवस्तेषु मिथ्यात्व तत्रैव व्यवच्छिन्नम्, ततश्च मिथ्यादृष्टिगुणस्थाने तासा बन्धस्यान्त, तत उत्तरेषु कारणवैकल्येन बन्धाभावात्, इतरासा बन्धस्यानन्त, तत उत्तरेष्वपि तद्बन्धकारणसाकल्येन बन्धभावादिति। एवमन्येष्वपि गुणस्थानेषु प्रकृतीना स्वस्वबन्धहेतुव्यवच्छेदाव्यवच्छेदाभ्या साकल्यवैकल्यवशाद् बन्धस्यान्तोऽनन्तश्च भावनीय इति ॥ १२ ॥

॥ इति श्रीदेवेन्द्रसूरिविरचिताया स्वोपज्ञकर्मस्तवटीकाया बन्धाधिकार समाप्त ॥

बन्धाधिकारमेन, विवृण्वता यन्मयाऽर्जित पुण्यम्।
इह कर्मबन्धमुक्तो, लोक सर्वोऽपि तेनास्तु ॥

साम्प्रतमुदयस्य प्रायस्तत्समानत्वाद् उदीरणायाश्च लक्षणकथनपूर्वक कस्मिन् गुणस्थाने कियत्य प्रकृतयस्तस्य भगवत क्षीणा ? इत्येतन्निर्दिदिक्षुराह—

उदओ विवागवेयणमुदीरण अपत्ति इह दुवीससय।
सतरसयं मिच्छे मीससम्मआहारजिणऽणुदया ॥ १३ ॥

इह कर्मपुद्गलाना यथास्वस्थितिबद्धानामुदयसमयप्राप्ताना यद् विपाकेन—अनुभवनेन वेदन स उदय उच्यते। "उदीरण अपत्ति" त्ति कर्मपुद्गलाना यथास्वस्थितिबद्धाना यद् अप्राप्तकाल वेदनमुदीरणा भण्यते। "इह" त्ति 'इह' उदये उदीरणायां च "दुवीससय" ति 'द्विविंशशत' द्वाभ्यामधिक विंश शत द्विविंशशत मयूरव्यसकादित्वात् समास, तत् सामान्यतोऽधिक्रियत इति शेष। सप्तदशशत "मिच्छे" त्ति मिथ्यादृष्टिगुणस्थाने उदये भवति। कथम् ? इत्याह—"मीससम्मआहारजिणणुदय" त्ति, मिश्र च "सम्म" त्ति सम्यक्त्व च "आहार" त्ति इहाऽऽहारकशब्देन सर्वत्राऽऽहारकशरीराऽऽहारकाङ्गोपाङ्गलक्षणमाहारकद्विक गृह्यते तत आहारक च "जिण" त्ति जिननाम च मिश्रसम्यक्त्वाहारजिनास्तेषामनुदयात्। इदमत्र हृदयम्—मिश्रोदयस्तावत् सम्यग्मिथ्यादृष्टिगुणस्थान एव भवति, सम्यक्त्वोदयस्त्वविरतसम्यग्दृष्ट्यादौ, आहारकद्विकोदय प्रमत्तादौ, जिननामोदय सयोगिकेवल्यादौ भवति। तत इद प्रकृतिपञ्चक द्वाविंशतिशताद् अपनीयते ततो मिथ्यादृष्टिगुणस्थाने सप्तदशशत भवतीति ॥ १३ ॥

सुहुमतिगायवमिच्छ, मिच्छत सासणे इगारसयं।
निरयाणुपुव्विणुदया, अणथावरइगविगलअंतो ॥ १४ ॥

सूक्ष्मत्रिक च—सूक्ष्माऽपर्याप्तसाधारणरूपम् आतप च मिथ्यात्व च सूक्ष्मत्रिकातपमिथ्यात्व मिथ्यात्वे—मिथ्यादृष्टावन्तो यस्य तद् मिथ्यात्वान्तम्, एतत्प्रकृतिपञ्चकस्य मिथ्यात्वेऽन्तो भवतीत्यर्थ। अयमत्राशय—सूक्ष्मनाम्न उदय सूक्ष्मैकेन्द्रियेषु, अपर्याप्तनाम्नस्तु सर्वेष्वप्यपर्याप्तकेषु, साधारणनाम्नोऽनन्तवनस्पतिषु, आतपनामोदयस्तु बादरपृथिवीकायिकेष्वेव, न चैतेषु स्थितो जीव सास्वादनादित्व लभते, नापि पूर्वप्रतिपन्नस्तेषूत्पद्यते, सास्वादनस्तु

---

१ °केषु च, क० घ० ॥

यद्यपि बादरपर्याप्तैकेन्द्रियेषूत्पद्यते तथापि न तस्यातपनामोदयः, तत्रोत्पन्नमात्रस्यासमाप्तशरीरस्यैव सास्वादनत्ववमनात्, समाप्ते च शरीरे तत्राऽऽतपनामोदयो भवति, मिथ्यात्वोदयः पुनर्मिथ्यादृष्टावेव, तेनैतासां पञ्चप्रकृतीनां मिथ्यादृष्टावुदयस्यान्तः । तत इदं प्रकृतिपञ्चकं पूर्वोक्तसप्तदशशतादपनीयते शेषं द्वादशशतं सास्वादने उदयं प्रतीत्य भवति, नरकानुपूर्व्यपनयने चैकादशशतं भवतीत्येतदेवाह—"सासणे इगारसयं नरयाणुपुव्विणुदय" त्ति सास्वादने एकादशशतमुदये भवति, नरकानुपूर्व्यनुदयात्, नरकानुपूर्व्या उदयो हि नरके वक्रेण गच्छतो जीवस्य भवति, न च सास्वादनो नरकं गच्छति ।

यदुक्तं बृहत्कर्मस्तवभाष्ये—

> नेरयाणुपुव्वियाए, सासणसम्मम्मि होइ न हु उदओ ।
> नरयम्मि जं न गच्छइ, अवणिज्जइ तेण सा तस्स ॥ (गा० ८)

ततो नरकानुपूर्वी मिथ्यादृष्टिव्यवच्छिन्नसूक्ष्मत्रिकातपमिथ्यात्वलक्षणप्रकृतिपञ्चकं च सप्तदशशतादपनीयते शेषं सासादने एकादशशतं भवतीति । "अणथावरइगविगलअंतु" त्ति "अण" त्ति अनन्तानुबन्धिनश्चत्वारः क्रोधमानमायालोभाः स्थावरनाम "इग" त्ति एकेन्द्रियजातिः विकलाः—पञ्चेन्द्रियजात्यपेक्षयाऽसम्पूर्णाः द्वीन्द्रियजातित्रीन्द्रियजातिचतुरिन्द्रियजातय इत्यर्थः, इत्येतासां नवानां प्रकृतीनां सास्वादनेऽन्तः उदयमाश्रित्य भवति । इयमत्र भावना—अनन्तानुबन्धिनामुदये हि सम्यक्त्वलाभ एव न भवति ।

यदाहु श्रीभद्रबाहुस्वामिपादाः—

> पढमिल्लुयाण उदए, नियमा संजोयणाकसायाणं ।
> सम्मद्दंसणलंभं, भवसिद्धीया वि न लहंति ॥ (आ० नि० गा० १०८)

नापि सम्यग्मिथ्यात्वं कोऽप्यनन्तानुबन्ध्युदये गच्छति, योऽपि पूर्वप्रतिपन्नसम्यक्त्वोऽनन्तानुबन्धिनामुदयं करोति सोऽपि सास्वादन एव भवतीत्युत्तरेष्वासामुदयाभावः । स्थावरैकेन्द्रियजातिविकलेन्द्रियजातयस्तु यथासमेकेन्द्रियविकलेन्द्रियवेद्या एव । उत्तरगुणस्थानानि तु संज्ञिपञ्चेन्द्रिय एव प्रतिपद्यते, पूर्वप्रतिपन्नोऽपि पञ्चेन्द्रियेष्वेव गच्छतीत्युत्तरेष्वासामुदयाभाव इति ॥ १४ ॥

मीसे सयमणुपुव्वीणुदया मीसोदएण मीसंतो ।
चउसयमजए सम्माणुपुव्विखेवा बियकसाया ॥ १५ ॥

'मिश्रे' सम्यग्मिथ्यादृष्टौ शतमुदये भवति, कथम्[१] इत्याह—"अणुपुव्वीणुदय" त्ति, इहानुपूर्वीशब्देन तिर्यगानुपूर्वीमनुजानुपूर्वीदेवानुपूर्वीलक्षणा आनुपूर्वीत्रयी गृह्यते तस्या अनुदयात् मिश्रोदयेन च । अयमत्र भावः—नरकानुपूर्वी तावद् उदयमाश्रित्य सास्वादने व्यवच्छिन्ना, इह सा न गृह्यते, शेषमानुपूर्वीत्रिकं मिश्रदृष्टेर्नोदेति, तस्य मरणाभावात् "न सम्म-

१ "ण्वुद" ख० ग० ॥ २ नरकानुपूर्व्याः सासादनसम्यक्त्वे भवति न खलूदयः । नरकं यस्माद् गच्छति अपनीयते तेन सा तस्य ॥ ३ प्रथमानामुदये नियमात् संयोजनाकषायाणाम् । सम्यग्दर्शनलाभं भवसिद्धिका अपि न लभन्ते ॥ ४ न सम्यग्मिश्रः करोति कालम् ॥

मीसो कुणइ काल" इति वचनात्, मिश्रप्रकृति पुनरत्रोदये प्राप्यते, तत' सासादनव्यवच्छिन्न प्रकृतिनवकमानुपूर्वीत्रिक च पूर्वोक्तैकादशशताद् अपनीयते शेषा तिष्ठति प्रकृतीना नवनवति, तत्र मिश्रप्रकृतिप्रक्षेपे जात शतमिति। "मीसंतु" त्ति मिश्रगुणस्थाने मिश्रप्रकृतेरन्तो भवति, एतदुदये हि मिश्रदृष्टिरेव भवति नान्य इति। "चउसयमजए सम्माणुपुविखेव" त्ति चतुर्भिरधिक शत चतु शतमुदये भवति, क? इत्याह—'अयते' अविरतसम्यग्दृष्टौ, कथम्? इत्याह—"सम्म" त्ति सम्यक्त्व "अणुपुवि" त्ति आनुपूर्व्यश्चतस्रस्तासां क्षेपात्—प्रक्षेपात्। इदमुक्त भवति—पूर्वोक्तशताद् मिश्रगुणस्थानव्यवच्छिन्नैका मिश्रप्रकृतिरपनीयते, शेषा नवनवति, तत्र सम्यक्त्वानुपूर्वीचतुष्कलक्षण प्रकृतिपञ्चक क्षिप्यते जात चतु शतम्, यत सम्यक्त्वमत्र गुणे उदयत एव, तथाऽविरतसम्यग्दृशा यथास्व चतस्रोऽप्यानुपूर्व्य इति। "बियकसाय" त्ति द्वितीयकषाया—अप्रत्याख्यानावरणाश्चत्वार क्रोधमानमायालोभा ॥ १५ ॥

मणुतिरिणुपुव्वि विउवऽट्ठ दुहग अणइज्जदुग सतरछेओ।
सगसीइ देसि तिरिगइआउ निउज्जोय तिकसाया ॥ १६ ॥

"मणुतिरिणुपुव्वि" त्ति आनुपूर्वीशब्दस्य प्रत्येक योजनाद् मनुजानुपूर्वी तिर्यगानुपूर्वी "विउवऽट्ठ" त्ति वैक्रियाष्टक—वैक्रियशरीरवैक्रियाङ्गोपाङ्गदेवगतिदेवानुपूर्वीदेवायुर्नरकगतिनरकानुपूर्वीनरकायुर्लक्षण दुर्भगम् अनादेयद्विकम्—अनादेयाऽयश कीर्तिरूपम् इत्येतासां सप्तदशप्रकृतीनामविरतसम्यग्दृष्टावुदय प्रतीत्य च्छेदो भवति। तत इमा सप्तदश प्रकृतय पूर्वोक्तचतु शताद् अपनीयन्ते शेषा "सगसीइ देसि" त्ति सप्ताशीति "देसि" त्ति देशविरते उदये भवति। इदमत्र तात्पर्यम्—द्वितीयकषायोदये हि देशविरतेर्लाभ आगमे निषिद्ध, यदागम —

बीयकसायाणुदए, अप्पच्चक्खाणनामधिज्जाण।
सम्मद्दसणलभ, विरयाविरय न उ लहति ॥ (आ० नि० गा० १०९)

नापि पूर्वप्रतिपन्नदेशविरत्यादेर्जीवस्य तदुदयसम्भवस्तेनोत्तरेषु तदुदयाभाव, मनुजानुपूर्वीतिर्यगानुपूर्व्योस्तु परभवादिसमयेषु त्रिष्वपान्तरालगतावुदयसम्भव, स च यथायोग मनुजतिरश्चा वर्षाष्टकाद् उपरिष्टात् सम्भविषु देशविरत्यादिगुणस्थानेषु न सम्भवति; देवत्रिक नारकत्रिक च देवनारकवेद्यमेव, न च तेषु देशविरत्यादे सम्भव, वैक्रियशरीरवैक्रियाङ्गोपाङ्गनाम्नोस्तु देवनारकेषूदय, तिर्यग्मनुष्येषु तु आयुर्येणाऽविरतसम्यग्दृष्ट्यन्तेषु, यस्तूत्तरगुणस्थानेष्वपि केषाञ्चिदागमे विष्णुकुमारस्थूलभद्रादीनां वैक्रियद्विकस्योदय श्रूयते स प्रविरलतरत्वादिना केनापि कारणेन पूर्वाचार्यैर्न विवक्षित इत्यस्माभिरपि न विवक्षित इति, दुर्भगमनादेयद्विकमित्येतास्तु तिस्र प्रकृतयो देशविरत्यादिषु गुणप्रत्ययाद् नोदयन्त इत्येवा अविरते व्यवच्छिन्ना इति। "तिरिगइआउ" त्ति तिर्यक्शब्दस्य प्रत्येक योगात् तिर्यग्गतिस्तिर्यगायु "निउज्जोय" त्ति नीचैर्गोत्रमुद्योत च "तिकसाय" त्ति तृतीया कषाया-

१ द्वितीयकषायाणामुदये अप्रत्याख्याननामधेयानाम्। सम्यग्दर्शनलाभ विरताविरत न तु लभन्ते ॥
२ °त इति। दुर्भ० क० घ० ङ० ॥

त्रिकपाया मयूरव्यसकादित्वात् पूरणप्रत्ययलोपी समास', प्रत्याख्यानावरणाश्चत्वार क्रोधमानमायालोभाः ॥ १६ ॥

अट्ठच्छेओ इगसी, पमत्ति आहारजुगलपक्खेवा ।
थीणतिगाहारगदुगछेओ छस्सयरि अपमत्ते ॥ १७ ॥

पूर्वोक्ताष्टप्रकृतीना देशविरते उदयमाश्रित्य च्छेदो भवति, तत प्रमत्ते एकाशीतिर्भवति, आहारकयुगलप्रक्षेपात् । इदमत्र हृदयम्—तिर्यग्गतितिर्यगायुषी तिर्यक्ष्वेवे एव, तेषु च देशविरतान्तान्येव गुणस्थानानि घटन्ते नोत्तराणीत्युत्तरेषु तदुदयाभाव , नीचैर्गोत्र तु तिर्यग्गतिस्थाभाव्याद् ध्रुवोदयिक न परावर्तते, ततश्च देशविरतस्यापि तिरश्चो नीचैर्गोत्रोदयोऽस्त्येव, मनुजेषु पुन सर्वस्य देशविरतादेर्गुणिनो गुणप्रत्ययाद् उच्चैर्गोत्रमेवोदेतीत्युत्तरत्र नीचैर्गोत्रोदयाभाव , उद्योतनाम स्वभावतस्तिर्यक्ष्वेवम्, तेषु च देशविरतान्तान्येव गुणस्थानानि नोत्तराणीत्युत्तरेषु तदुदयाभाव , यद्यपि यतिवैक्रियेऽप्युद्योतनामोदेति "उत्तरदेहे च देवजई" इति वचनात् तथापि स्वल्पत्वादिना केनापि कारणेन पूर्वाचार्यैर्न विवक्षितमित्यस्माभिरपि न विवक्षितम्, तृतीयकपायोदये हि चारित्रलाभ एव न भवति, उक्त च पूज्यै.—

तइयकसायाणुदए, पच्चक्खाणावरणनामधिज्जाण ।
देसिक्कदेसविरइ, चरित्तलभ न उ लहति ॥ (आ० नि० गा० ११०)

न च पूर्वप्रतिपन्नचारित्रस्य तदुदयसम्भव इत्युत्तरेषु तदुदयाभाव इत्येता अष्टौ प्रकृतय पूर्वोक्तसप्ताशीतेरपनीयन्ते शेषा एकोनाशीति , तत्र आहारकयुगल क्षिप्यते, यत. प्रमत्तयतेराहारकयुगलस्योदयो भवतीत्येकाशीति । "थीणतिग" त्ति स्त्यानर्द्धित्रिक—निद्रानिद्राप्रचलाप्रचलास्त्यानर्द्धिरूपम् आहारकद्विकम्—आहारकशरीराहारकाङ्गोपाङ्गलक्षणमिति प्रकृतिपञ्चकस्य प्रमत्ते छेदो भवति, ततः पूर्वोक्तैकाशीतेरिद प्रकृतिपञ्चकमपनीयते शेषा पट्सप्ततिरप्रमत्ते उदये भवति । अयमत्राशय —स्त्यानर्द्धित्रिकोदय प्रमादरूपत्वाद् अप्रमत्ते न सम्भवति, आहारकद्विक च विकुर्वाणो यतिरौत्सुक्याद् अवश्य प्रमादवशगो भवत्यत इदमप्यप्रमत्ते उदयमाश्रित्य न घटतीति, यत्पुनरिदमन्यत्र श्रूयते—प्रमत्तयतिराहारक विकृत्य पश्चाद् विशुद्धिवशात् तत्रस्थ एवाप्रमत्तता यातीति तत् केनापि स्वल्पत्वादिना कारणेन पूर्वाचार्यैर्न विवक्षितमित्यस्माभिरपि न विवक्षितमिति ॥ १७ ॥

सम्मत्ततिमसघयणतिगच्छेओ बिसत्तरि अपुव्वे ।
हासाइछक्कअंतो, छसट्ठि अनियट्टि वेयतिगं ॥ १८ ॥

सम्यक्त्वम् अन्तिमसंहननत्रिकम्—अर्धनाराचसंहननकीलिकासंहननसेवार्तसंहननरूपमित्येतत्प्रकृतिचतुष्टयस्याप्रमत्ते छेदो भवति, तत इद प्रकृतिचतुष्क पूर्वोक्तपट्सप्ततेरपनीयते शेषा द्वासप्तति "अपुव्वि" त्ति अपूर्वकरणे उदये भवतीति । अयमत्राशय —सम्यक्त्वे क्षपिते उपशमिते वा श्रेणिद्वयमारुह्यत इत्यपूर्वकरणादौ तदुदयाभाव , अन्तिमसंहननत्रयो-

१ उत्तरदेहे च देवयती ॥ २ तृतीयकषायाणामुदये प्रत्याख्यानावरणनामधेयानाम् । देशैकदेशविरतिं चारित्रलाभ न तु लभन्ते ॥

दये तु श्रेणिमारोढुमेव न शक्यते तथाविधशुद्धेरभावाद् इत्युत्तरेषु तदुदयाभाव । "हासाइछक्कअतु" त्ति हास्यमादौ यस्य षट्कस्य तद् हास्यादिषट्क—हास्यरत्यरतिशोकभयजुगुप्साख्य तस्यान्तोऽपूर्वकरणे भवति, सङ्क्लिष्टतरपरिणामत्वाद् एतस्य, उत्तरेषां च विशुद्धतरपरिणामत्वात् तेषु तदुदयाभाव इति । उत्तरेष्वप्ययमुदयव्यवच्छेदहेतुरनुसरणीय । तत इद प्रकृतिषट्क पूर्वोक्तद्विसप्ततेरपनीयते शेषा "छसट्ठि अनियट्टि" त्ति षट्षष्टिरनिवृत्तिबादरे भवति, उदयमाश्रित्येति शेष । "वेयतिग" ति वेदत्रिक—स्त्रीवेदपुवेदनपुसकवेदाख्यम् ॥ १८ ॥

सजलणतिगं छच्छेओ सट्ठि सुहुमम्मि तुरियलोभतो ।
उवसतगुणे गुणसट्ठि रिसहनारायदुगअतो ॥ १९ ॥

'सज्वलनत्रिक' संज्वलनक्रोधमानमायारूपमित्येतासां षण्णा प्रकृतीनामनिवृत्तिबादरे छेदो भवति । तत्र स्त्रिया श्रेणिमारोहन्त्या स्त्रीवेदस्य प्रथममुदयच्छेद तत क्रमेण पुवेदस्य नपुसकवेदस्य संज्वलनत्रयस्य चेति, पुसस्तु श्रेणिमारोहत प्रथम पुवेदस्योदयच्छेदस्तत क्रमेण स्त्रीवेदस्य षण्ढवेदस्य संज्वलनत्रयस्य चेति, षण्ढस्य तु श्रेणिमारोहत प्रथम षण्ढवेदस्योदयच्छेदस्तत स्त्रीवेदस्य पुवेदस्य सज्वलनत्रयस्य चेति । एतत्प्रकृतिषट्क पूर्वोक्तषट्षष्टेरपनीयते, शेषा "सट्ठि सुहुमम्मि" त्ति षष्टि सूक्ष्मसंपराये उदये भवति । अत्र च 'तुर्यलोभान्त' चतुर्थलोभान्त सज्वलनलोभव्यवच्छेद इत्यर्थ । तत इयमेका प्रकृति षष्टेरपनीयते शेषा 'उपशान्तगुणे' उपशान्तमोहगुणस्थाने एकोनषष्टिरुदये भवति । "रिसहनारायदुगअतु" त्ति ऋषभनाराचद्विकम्—ऋषभनाराचसहननाराचसंहननाख्य तस्यान्त उपशान्तगुणे भवति, प्रथमसंहननेनैव क्षपकश्रेण्यारोहणात् क्षीणमोहादौ तदुदयाभाव । उपशमश्रेणिस्तु प्रथमसंहननत्रयेणारुह्यते, तत इद प्रकृतिद्वय पूर्वोक्तैकोनषष्टेरपनीयते शेषा ॥ १९ ॥

सगवन्न खीण दुचरमि, निद्दुगतो य चरमि पणपन्ना ।
नाणतरायदसणचउ छेओ सजोगि बायाला ॥ २० ॥

सप्तपञ्चाशत् "खीण" त्ति क्षीणमोहस्य "दुचरिमि" त्ति द्विचरमसमये—चरमसमयादर्वाग् द्वितीये समये निद्राद्विकस्य—निद्राप्रचलाख्यस्य क्षीणद्विचरमसमयेऽन्त इत्येतत् प्रकृतिद्वय पूर्वोक्तसप्तपञ्चाशतोऽपनीयते तत "चरमि" त्ति चरमसमये क्षीणमोहस्येति शेष , "पणपन्न" त्ति पञ्चपञ्चाशद् उदये भवति । इदमुक्त भवति—निद्राप्रचलयो क्षीणमोहस्य द्विचरमसमये उदयच्छेद । अपरे पुनराहु —उपशान्तमोहे निद्राप्रचलयोरुदयच्छेद , पञ्चानामपि निद्राणा घोलनापरिणामे भवत्युदय , क्षपकाणा त्वतिविशुद्धत्वाद् न निद्रोदयसम्भव , उपशमकाना पुनरनतिविशुद्धत्वात् स्यादपीति । "नाणतरायदसणचउ" त्ति ज्ञानावरणपञ्चक—मतिश्रुतावधिमन पर्यायकेवलज्ञानावरणरूपम् अन्तरायपञ्चक—दानलाभभोगोपभोगवीर्यान्तरायाख्य दर्शनचतुष्क—चक्षुरचक्षुरवधिकेवलदर्शनावरणलक्षणमित्येतासां क्षीणमोहचरमसमये छेदो भवति, तदनन्तर क्षीणमोहत्वाद् इत्येतत्प्रकृतिचतुर्दशक पूर्वोक्तपञ्चपञ्चाशतोऽपनीयते, शेषैकचत्वारिंशत् तीर्थकरनामोदयाच्च तत्प्रक्षेपे द्वाचत्वारिंशत् सयोगिकेवलिनि भवतीति । एतदेवाह—"सजोगि बायाल" त्ति स्पष्टम् ॥ २० ॥

तित्थुदया उरलाऽथिरखगइदुग परित्ततिग छ सठाणा ।
अगुरुलहुवन्नचउ निमिणतेयकम्माइसंघयण ॥ २१ ॥

ननु पञ्चपञ्चाशतो ज्ञानावरणपञ्चकाऽन्तरायपञ्चकदर्शनचतुष्कलक्षणप्रकृतिचतुर्दशकापनयन एकचत्वारिंशदेव भवति, तत कथमुक्त सयोगिनि द्विचत्वारिंशद्[2] इत्याह—"तित्थुदय" त्ति 'तीर्थोदयात्' तीर्थकरनामोदयादित्यर्थ । यत सयोग्यादौ तीर्थकरनामोदयो भवति, यदुक्तम्—

उदए जस्स सुरासुरनरवइनिवहेहिँ पूइओ होइ ।
त तित्थयरन्नाम, तस्स विवागो हु केवलिणो ॥ (बृ० क० वि० गा० १४९)

तत पूर्वोक्तैकचत्वारिंशति तीर्थकरनाम क्षिप्यते जाता द्विचत्वारिंशत्, सा च सयोगिनि भवतीति। "उरलाऽथिरखगइदुग" त्ति द्विकशब्दस्य प्रत्येक योगाद् औदारिकद्विकम्—औदारिकशरीरौदारिकाङ्गोपाङ्गलक्षणम् अस्थिरद्विकम्—अस्थिराऽशुभाख्य खगतिद्विक—शुभविहायोगत्य-शुभविहायोगतिरूपम् "परित्ततिग" त्ति प्रत्येकत्रिकम्—प्रत्येकस्थिरशुभाख्यम् "छ सठाण" त्ति षट्सस्थानानि—समचतुरस्रन्यग्रोधपरिमण्डलसादिवामनकुब्जहुण्डसरूपाणि सस्थानशब्दस्य च पुस्त्व प्राकृतलक्षणवशात्, यदाह पाणिनिः स्वप्राकृतलक्षणे—"लिंग व्यभिचार्यपि" । "अगुरुलहुवन्नचउ" त्ति चतु शब्दस्य प्रत्येक सम्बन्धाद् अगुरुलघुचतुष्कम्—अगुरुलघूपघात-पराघातोच्छ्वासाख्य वर्णचतुष्क—वर्णगन्धरसस्पर्शरूपम् "निमिण" त्ति निर्माण "तेय" त्ति तैजसशरीर "कम्म" त्ति कार्मणशरीर "आइसघयण" ति प्रथमसंहनन—वज्रर्षभनाराचसहननमित्यर्थ ॥ २१ ॥

दूसर सूसर सायासाएगयर च तीस वुच्छेओ ।
बारस अजोगि सुभगाइज्जजसन्नयरवेयणिय ॥ २२ ॥
तसतिग पणिदि मणुयाउगइ जिणुच त्ति चरमसमयता ।
॥ उदओ सम्मत्तो ॥

दु स्वर सुस्वर सात च—सुखम् असात च—दु ख सातासाते तयोरेकतरम्—अन्यतरत् सातं वाऽसात वेत्यर्थ , तदेतासा त्रिंशत प्रकृतीना सयोगिकेवलिन्युदयव्यवच्छेद । तत्रैकतरवेदनीय यदयोगिकेवलिनि न वेदयितव्य तत् सयोगिकेवलिचरमसमये व्युच्छिन्नोदय भवति, पुनरुत्तरत्रोदयाभावात् । दु स्वरसुस्वरनाम्नोस्तु भाषापुद्गलविपाकित्वाद् वाग्योगिनामेवोदय , शेषाणां पुन शरीरपुद्गलविपाकित्वात् काययोगिनामेव । तेन हि योगेन पुद्गलग्रहणपरिणामालम्बनानि, ततस्तेषु गृहीतेष्वेतेषा कर्मणा स्वस्वविपाकेनोदयो भवति, तेनाऽयोगिकेवलिनि तद्योगाभावात् तदुदयाभाव इति एतास्त्रिंशत् प्रकृतय पूर्वोक्तद्विचत्वारिंशतोऽपनीयन्ते, ततं शेषा द्वादश प्रकृतयोऽयोगिकेवलिन्युदयमाश्रित्य भवन्तीति । एतदेवाह—"बारस अजोगि" इत्यादि । द्वादश प्रकृतयोऽयोगिकेवलिनि 'चरमसमयान्ता ' चरमसमयेऽयोगिकेवलिगुणस्थान-

१ उदये यस्य सुरासुरनरपतिनिवहै पूजितो भवति । तत् तीर्थकरनाम तस्य विपाको हि केवलिन ॥
२ तत एता° ख० ङ० ॥

स्यान्त'—व्यवच्छेदो यासां ताश्चरमसमयान्ता । ता एवाह—सुभग आदेय "जस" त्ति यश - कीर्तिनाम अन्यतरवेदनीय सयोगिकेवलिचरमसमयव्यवच्छिन्नोद्धरित वेदनीयमित्यर्थ ॥ २२ ॥

"तसतिग" ति त्रसत्रिक—त्रसबादरपर्याप्ताख्य "पणिंदि" त्ति पञ्चेन्द्रियजाति "मणुयाउ-गइ" त्ति मनुजशब्दस्य प्रत्येक योगात् मनुजायुर्मनुजगति "जिण" त्ति जिननाम "उच्च" ति उच्चैर्गोत्रम् इतिशब्दो द्वादशप्रकृतिपरिसमाप्तिद्योतक इति ॥

॥ इति श्रीदेवेन्द्रसूरिविरचिताया स्वोपज्ञकर्मस्तवटीकायामुदयाधिकार, समाप्त ॥

उदयाधिकारमेन, विवृण्वता यन्मयाऽर्जित सुकृतम् ।
दुष्कर्मोदयरहितो, लोक सर्वोऽपि तेनास्तु ॥

अथ तस्य भगवत कस्मिन् गुणस्थाने कियत्य प्रकृतय उदीरणामाश्रित्य व्यवच्छिन्ना ' इत्येतदतिदेशद्वारेणाह—

उदउ व्वुदीरणा परमपमत्ताईसगगुणेसु ॥ २३ ॥

उदयवद् उदीरणा पूर्वोक्तशब्दार्था गुणस्थानेषु वक्तव्या । किमुक्त भवति '—यावतीनां प्रकृतीनामुदयस्वामी तावतीनामुदीरणास्वाम्यपीति । अतिप्रसङ्गनिवृत्त्यर्थमाह—"परमपम त्ताइसगगुणेसु" त्ति । 'परं' केवलमियान् विशेष —अप्रमत्त आदौ येषां तेऽप्रमत्तादय गुणा – गुणस्थानानि, सप्त च ते गुणाश्च सप्तगुणा, अप्रमत्तादयश्च ते सप्तगुणाश्च अप्रमत्तादिसप्त गुणास्तेष्वप्रमत्तादिसप्तगुणेषु ॥ २३ ॥ किम् ' इत्याह—

एसा पयडितिगूणा, वेयणियाऽऽहारजुगल थीणतिग ।
मणुयाउ पमत्तंता, अजोगि अणुदीरगो भगवं ॥ २४ ॥

॥ उदीरणा सम्मत्ता ॥

'एषा' उदीरणा प्रकृतित्रिकेण ऊना—हीना वक्तव्या । इयमत्र भावना—मिथ्यादृष्टे सप्तदशोत्तरशतस्योदय, उदीरणाऽप्येवम् । सास्वादनस्य एकादशशतस्योदयस्तथैवोदीरणाऽपि । मिश्रस्योदय शतस्य, उदीरणाऽपि । अविरतसम्यग्दृष्टेरुदयश्चतुरुत्तरशतस्य, तथैवोदीरणा । देश-विरतस्य सप्ताशीतेरुदय, उदीरणाऽपि । प्रमत्तस्यैकाशीतेरुदय, उदीरणाऽपि च । अप्रमत्ते उदय षट्सप्तते, उदीरणा त्रिसप्तते १ । अपूर्वकरणे उदयो द्विसप्तते, उदीरणा एको नसप्तते २ । अनिवृत्तिबादरे उदय षट्षष्टे उदीरणा त्रिषष्टे ३ । सूक्ष्मसम्पराये उदय षष्टे, उदीरणा सप्तपञ्चाशत ४ । उपशान्तमोहे उदय एकोनषष्टे, उदीरणा षट्पञ्चाशत ५ । क्षीणमोहे उदय सप्तपञ्चाशत, उदीरणा चतुष्पञ्चाशत ६ । सयोगिकेवलिन्युदयो द्विचत्वा-रिंशत, उदीरणा एकोनचत्वारिंशत ७ इति । ननु केन प्रकृतित्रिकेणाऽप्रमत्तादिषूदीरणा ऊना ? इत्याशङ्क्याह—"वेयणियाहारजुगल" त्ति, युगलशब्दस्य प्रत्येक योजनाद् वेदनीययुगल—सात-वेदनीयाऽसातवेदनीयरूपम्, आहारकयुगलम्—आहारकशरीराहारकाङ्गोपाङ्गलक्षणम्, "थीण-तिग" ति 'स्त्यानर्द्धित्रिक' निद्रानिद्राप्रचलाप्रचलास्त्यानर्द्धिरूप, मनुष्यायु इत्येतासामष्टानां

प्रकृतीना प्रमत्तेऽन्त —व्यवच्छेद उदीरणा प्रतीत्य ,यासा ता प्रमत्तान्ताः ; । अयमत्र भावार्थ —स्त्यानर्द्धित्रिक प्रमादरूपत्वाद् अप्रमत्तादिषु ,नास्त्येव, कुतस्तेषु तदुदीरणा ?, आहारकशरीर च विकुर्वाण औत्सुक्याद् यति. प्रमत्त एवेति अप्रमत्तादिषु तदपि नास्ति, कुतस्तेषु तदुदीरणा ?, सातासातमनुजायुषा हि प्रमादसहितेनैव योगेनोदीरणा भवति नान्येनेत्युत्तरेषु न तदुदीरणा । तदयमत्र तात्पर्यार्थ —उदयमाश्रित्य प्रमत्ते हि स्त्यानर्द्धित्रिकाहारकद्विकाख्यपञ्चप्रकृतयो व्यवच्छिद्यन्ते, उदीरणामाश्रित्य पुन स्त्यानर्द्धित्रिकाहारकद्विकसातासातमनुजायुर्लक्षणा अष्टौ प्रकृतय इति मनुजायु सातासातरूपप्रकृतित्रयेणाऽप्रमत्तादिषु ऊना उदीरणा वाच्येति । 'अयोगी' अयोगिकेवली 'अनुदीरक' न किमपि कर्मोदीरणया क्षिपति, योगाभावात्, उदीरणा हि योगकृतकरणविशेष इति भगवान् परमप्रयत्नवान् सर्वसंवररूपचारित्रधर्मवान् नेत्यर्थ ॥ २४ ॥

इति श्रीदेवेन्द्रसूरिविरचिताया स्वोपज्ञकर्मस्तवटीकायामुदीरणाधिकार. समाप्त ॥

सुकृत मया यदाप्त, विवृण्वतोदीरणाधिकारमिमम् ।
तेनास्तु सर्वलोको, दुष्कर्मोदीरणारहित ॥

अथ सत्तालक्षणकथनपूर्वक यथा तेन भगवता त्रिलोकीपतिना श्रीमद्वर्धमानस्वामिना सत्तामाश्रित्य गुणस्थानेषु कर्माणि क्षपितानि तथा प्रतिपादयन्नाह—

सत्ता कम्माण ठिई, बन्धाईलद्धअत्तलाभाणं ।
सत्ते अडयालसयं, जा उवसमु विजिणु बियतइए ॥ २५ ॥

सत्ता उच्यत इति शेष , किम् ? इत्याह—'कर्मणा' ज्ञानावरणादियोग्यपरमाणूना स्थिति अवस्थान सद्भाव इति पर्याया । किंविशिष्टाना कर्मणाम् ? इत्याह—'बन्धादिलब्धात्मलाभाना' तत्र मिथ्यात्वादिभिर्हेतुभि कर्मयोग्यपुद्गलैरात्मनो वह्न्यय पिण्डवद् अन्योऽन्यानुगमाभेदात्मक सम्बन्धो बन्ध , आदिशब्दात् सङ्क्रमकरणादिपरिग्रह , ततो बन्धादिभिर्लब्ध — प्राप्त आत्मलाभ —आत्मस्वरूप यैस्तानि बन्धादिलब्धात्मलाभानि तेषा बन्धादिलब्धात्मलाभाना कर्मणां या स्थिति सा सत्ता, तस्या "संते" त्ति सत्कर्मणि—सत्तायामष्टाचत्वारिंश शत प्रकृतीना भवति । कियन्ति गुणस्थानानि यावद् ? इत्याह—"जा उवसमु" त्ति 'यावदुपशमम्' उपशान्तमोहम् । अयमर्थ —मिथ्यादृष्टिगुणस्थानात् प्रभृत्युपशान्तमोहगुणस्थान यावदष्टाचत्वारिंश शत सत्ताया भवति । किमविशेषेण ? नेत्याह—"विजिणु बियतइए" त्ति विगत जिननाम यस्मात् तद् विजिन जिननामविरहित तदेवाष्टाचत्वारिंश शत भवति । क ? इत्याह—द्वितीये–सासादने तृतीये–मिश्रदृष्टौ, "सासणमिस्सरहिएसु वा तित्थ" इति वचनात् सास्वादनमिश्रयो सप्तचत्वारिंश शत भवतीत्यर्थ । इदमत्र हृदयम्—इह मिथ्यादृष्टेरष्टचत्वारिंशमपि शत सत्तायाम्, यदा हि प्राग्बद्धनरकायु क्षायोपशमिक सम्यक्त्वमवाप्य तीर्थकरनाम्नो बन्धमारभते तदाऽसौ नरकेषूत्पद्यमान सम्यक्त्वमवश्य वमतीति मिथ्यादृष्टे-

१ °त कर° ग० ङ० ॥ २ °मगोऽमे° ङ० ॥ ३ सास्वादनमिश्ररहितेषु वा तीर्थंकरम् ॥

स्तीर्थंकरनाम्नोऽपि सत्ता सम्भवति, सास्वादनमिश्रयोस्तु तस्मिन्नेव जिननामरहिते सप्तचत्वारिंशं शतं सत्तायां, जिननामसत्कर्मणो जीवस्य तद्भावाऽनवाप्तेः, तद्बन्धारम्भस्य च शुद्धसम्यक्त्वप्रत्ययत्वात्। यदुक्तं बृहत्कर्मस्तवभाष्ये—

तित्थयरेण विहीणं, सीयालसयं तु संतए होइ।
सासायणम्मि उ गुणे, सम्मामीसे य पयडीणं ॥ (गा० २५)

अविरतसम्यग्दृष्ट्यादीनामक्षिप्तदर्शनसप्तकानामष्टचत्वारिंशस्यापि शतस्य सत्ता सम्भवतीति ॥२५॥

अप्पुव्वाइचउक्के, अण तिरिनिरयाउ विणु बिआलसयं।
सम्माइचउसु सत्तगखयम्मि इगचत्तसयमहवा ॥ २६ ॥

गाथापर्यन्तवर्त्यथवाशब्दस्य सम्बन्धात् पूर्वं तावदष्टचत्वारिंशं शतं सत्तायामुक्तम्, अथवाऽयमपरः सत्तामाश्रित्य भेदः, तथाहि—'अपूर्वादिचतुष्के' अपूर्वकरणानिवृत्तिबादरसूक्ष्मसम्परायोपशान्तमोहरूपे "अण" त्ति अनन्तानुबन्धिचतुष्कं "तिरिनिरयाउ" त्ति आयुःशब्दस्य प्रत्येकं योगात् तिर्यगायुर्नरकायुश्च विना द्विचत्वारिंशं शतं भवतीति। अयमाशयः—यः कश्चिद् विसंयोजितानन्तानुबन्धिचतुष्को बद्धदेवायुर्मनुजायुषि वर्तमान उपशमश्रेणिमारोहति, तस्य तिर्यगायुर्नरकायुरनन्तानुबन्धिचतुष्कलक्षणप्रकृतिषट्करहितं शेषं द्विचत्वारिंशं शतं सत्तायां प्राप्यते। यदुक्तं बृहत्कर्मस्तवभाष्ये—

अणतिरिनारयरहियं, बायालसयं वियाण संतम्मि।
उवसामगस्सऽपुव्वानियट्टि सुहुमो व संतम्मि ॥ (गा० २६)

"सम्माइचउसु" त्ति सम्यक्त्वादिचतुर्षु—अविरतसम्यग्दृष्टिदेशविरतप्रमत्ताप्रमत्तेषु "सत्तगखयम्मि" त्ति अनन्तानुबन्धिचतुष्कमिथ्यात्वमिश्रसम्यक्त्वलक्षणसप्तकक्षये सत्येकचत्वारिंशं शतमथवा सत्तायां भवति। इहाप्यथवाशब्द आवृत्त्या योज्यते। यदुक्तं बृहत्कर्मस्तवसूत्रे—

अणमिच्छमीससम्मं, अविरयसम्माइअप्पमत्तंता। (गा० ६) इति ॥ २६ ॥

खवगं तु पप्प चउसु वि, पणयालं नरयतिरिसुराउ विणा।
सत्तग विणु अडतीसं, जा अनियट्टी पढमभागो ॥ २७ ॥

क्षपकं 'तु' पुनरर्थे, क्षपकं पुनः 'प्राप्य' आश्रित्य 'चतुर्ष्वपि' अविरतदेशविरतप्रमत्ताप्रम-

द्भवाप्ते' । उक्त च—

सुरनरयतिरियआउ, नियभवे सव्वजीवाण । (वृ० क० स्त० गा० ६) इति ।

इय चैतेषु गुणस्थानेषु सामान्यजीवाना सम्भवमाश्रित्य सत्ता वर्णिता, न त्वधिकृतस्तव-स्तुत्यस्य चरमजिनपरिवृढस्य, अस्या सुरनारकतिर्यगायु सम्भवापेक्षणीयत्वाद्, जिनस्य च तदसम्भवात्, तस्यापि च प्राग्भवापेक्षया सम्भवो वाच्य । इदमेव पञ्चचत्वारिंश शत सप्तकमनन्तानुबन्धिमिथ्यात्वमिश्रसम्यक्त्वाख्य विनाऽष्टात्रिंश शत भवति । कियन्ति गुणस्थानानि यावद्[२] इत्याह—"जा अनियट्टी पढमभागु" त्ति, इहानिवृत्तिबादराद्धाया नव भागा क्रियन्ते, ततोऽविरते देशविरते प्रमत्तेऽप्रमत्ते निवृत्तिबादरेऽनिवृत्तिबादरस्य च प्रथमो भागस्तावदष्टात्रिंश शत भवति । उक्त च—

[३]सते अडयालसय, खवग तु पडुच्च होइ पणयाल ।
आउतिग नत्थि तहिं, सत्तगखीणम्मि अडतीस ॥
(वृ० क० स्त० भा० गा० २९)

पणयाल अडतीसं, अविरयसम्माउ अप्पमत्तु त्ति ।
अप्पुव्वे अडतीस, नवर खवगम्मि बोधव्व ॥　　इति ॥ २७ ॥

अथ क्षपकश्रेणिमधिकृत्याऽनिवृत्तिबादरादिषु प्रकृतिषु सत्ता वर्ण्यते उपशमश्रेणिसत्तायास्त्विह नाधिकार इति—

थावरतिरिनिरयायवदुग थीणतिगेग विगल साहार ।
सोलखओ दुवीससय, बियंसि बियतियकसायंतो ॥ २८ ॥

इहानिवृत्तिबादरस्य प्रथमे भागेऽष्टत्रिंश शत सत्ताया भवति । तत्र च "थावरतिरिनिरयायवदुग" त्ति द्विकशब्दस्य प्रत्येक योगात् स्थावरद्विक–स्थावरसूक्ष्मलक्षणम्, तिर्यग्द्विक–तिर्यग्गतितिर्यगानुपूर्वीरूपम्, नरकद्विक–नरकगतिनरकानुपूर्वीलक्षणम्, आतपद्विकम्–आतपोद्योताख्यम्, "थीणतिग" त्ति स्त्यानर्द्धित्रिक–निद्रानिद्राप्रचलाप्रचलास्त्यानर्द्धिलक्षणम्, "इग" त्ति एकेन्द्रियजाति, "विगल" त्ति विकलेन्द्रियजातय –द्वीन्द्रियजातित्रीन्द्रियजातिचतुरिन्द्रियजातिलक्षणा[४], "साहार" ति साधारणनाम इत्येतासा षोडशाना प्रकृतीना क्षय सत्तामाश्रित्य भवति । ततोऽनिवृत्तिबादरस्य 'ब्यशे' द्वितीयभागे द्वाविंश शत भवति । तत्र "बियतियकसाय तु" त्ति कषायशब्दस्य प्रत्येक योगाद् द्वितीयकषाया –अप्रत्याख्यानावरणाश्चत्वार, तृतीयकषाया –प्रत्याख्यानावरणाश्चत्वार इत्येतासामष्टाना प्रकृतीनामन्त –क्षय । ततस्तृतीयांशे चतुर्दशशत भवतीति ॥ २८ ॥ एतदेवाह—

तइयाइसु चउदसतेरबारछपणचउतिहिय सय कमसो ।
नपुइत्थिहासछगपुंसतुरियकोहमयमायखओ ॥ २९ ॥

---

१ सुरनरकतिर्यगायुर्निजकभवे सर्वजीवानाम् ॥ २ सत्तायामष्टचत्वारिंश शत क्षपक तु प्रतीत्य भवति पञ्चचत्वारिंशम् । आयुस्त्रिक नास्ति तत्र सप्तके क्षीणेऽष्टात्रिंशम् ॥ ३ पञ्चचत्वारिंशमष्टात्रिंशमविरतसम्यक्त्वादप्रमत्त इति । अपूर्वेऽष्टात्रिंश नवर क्षपके बोद्धव्यम् ॥ ४ °जाति –द्वी° क० ग० ॥ ५ °णा 'द्य° क० ग० ॥

स्तीर्थंकरनाम्नोऽपि सत्ता सम्भवति, सास्वादनमिश्रयोस्तु तस्मिन्नेव जिननामरहिते सप्तचत्वारिंश शत सत्ताया, जिननामसत्कर्मणो जीवस्य तद्भावाऽनवाप्ते, तद्बन्धारम्भस्य च शुद्धसम्यक्त्वप्रत्ययत्वात् । यदुक्त बृहत्कर्मस्तवभाष्ये—

तित्थयरेण विहीण, सीयालसय तु संतए होइ ।
सासायणम्मि उ गुणे, सम्मामीसे य पयडीण ॥ (गा० २५)

अविरतसम्यग्दृष्टादीनामक्षिप्तदर्शनसप्तकानामष्टचत्वारिंशसापि शतस्य सत्ता सम्भवतीति ॥२५॥

अप्पुव्वाइचउक्के, अण तिरिनिरयाउ विणु वियालसय ।
सम्माइचउसु सत्तगखयम्मि इगचत्तसयमहवा ॥ २६ ॥

गाथापर्यन्तवर्त्यथवाशब्दस्य सम्बन्धात् पूर्वं तावदष्टचत्वारिंश शत सत्तायामुक्तम्, अथवाऽयमपर सत्तामाश्रित्य भेद, तथाहि—'अपूर्वादिचतुष्के' अपूर्वकरणानिवृत्तिबादरसूक्ष्मसम्परायोपशान्तमोहरूपे "अण" त्ति अनन्तानुबन्धिचतुष्क "तिरिनिरयाउ" त्ति आयुशब्दस्य प्रत्येक योगात् तिर्यगायुर्नरकायुश्च विना द्विचत्वारिंश शत भवतीति । अयमाशय —य कश्चिद् विसंयोजितानन्तानुबन्धिचतुष्को बद्धदेवायुर्मनुजायुषि वर्तमान उपशमश्रेणिमारोहति, तस्य तिर्यगायुर्नरकायुरनन्तानुबन्धिचतुष्कलक्षणप्रकृतिषट्करहित शेष द्विचत्वारिंश शत सत्तायां प्राप्यते । यदुक्त बृहत्कर्मस्तवभाष्ये—

अणतिरिनारयरहिय, बायालसय वियाण संतम्मि ।
उवसामगस्सऽपुव्वानियट्टि सुहुमो व संतम्मि ॥ (गा० २६)

"सम्माइचउसु" त्ति सम्यक्त्वादिचतुर्षु—अविरतसम्यग्दृष्टिदेशविरतप्रमत्ताप्रमत्तेषु "सत्तगखयम्मि" त्ति अनन्तानुबन्धिचतुष्कमिथ्यात्वमिश्रसम्यक्त्वलक्षणसप्तकक्षये सत्येकचत्वारिंश शतमथवा सत्ताया भवति । इहाप्यथवाशब्द आवृत्त्या योज्यते । यदुक्त बृहत्कर्मस्तवसूत्रे—

अणमिच्छमीससम्म, अविरयसम्माइअप्पमत्ता । (गा० ६) इति ॥ २६ ॥

खवग तु पप्प चउसु वि, पणयाल नरयतिरिसुराउ विणा ।
सत्तग विणु अडतीस, जा अनियट्टी पढमभागो ॥ २७ ॥

क्षपक 'तु' पुनरर्थे, क्षपक पुन 'प्रतीत्य' आश्रित्य 'चतुर्ष्वपि' अविरतदेशविरतप्रमत्ताप्रमत्तेषु "पणयाल" ति पञ्चचत्वारिंश शतमथवा भवति । अथवाशब्द इहापि सम्बध्यते । कथम् ? इत्याह—"नरयतिरिसुराउ विणा" त्ति, आयु शब्दस्य प्रत्येक योगात् नरकायुस्तिर्यगायु सुरायुर्विना—अन्तरेण । इदमुक्त भवति—यो जीवो नारकतिर्यक्सुरेषु चरम तद्भवमनुभूय मनुष्यतयोत्पन्नस्तस्य नारकतिर्यक्सुरायूषि स्वस्वभवे व्यवच्छिन्नसत्ताकानि जातानि, पुनश्च

---

१ तीर्थंकरेण विहीन सप्तचत्वारिंश शत तु सत्तायां भवति । सास्वादने तु गुणे सम्यग्मिश्रे च प्रकृतीनाम् ॥ २ अनतिर्यङ्नारकरहित द्वाचत्वारिंश शत विजानीहि सत्तायाम् । उपशामकस्य अपूर्वस्याऽनिवृत्ते सूक्ष्मस्य (अपूर्वस्येत्यादौ विभक्तिव्यत्ययात्षष्ठी) वा सत्तायाम् (अनेनानन्तानुबन्धिचतुष्क गृह्यते) ॥ ३ अन मिथ्यामिश्रसम्यक् अविरतसम्यक्त्वाद्यप्रमत्तान्तम् ॥ (अत्राप्यनेनानन्तानुबन्धिचतुष्क ।) ४ °षकजिम पु° रा० गा० ॥

दनवाप्ते । उक्त च—

सुरनरयतिरियआउ, नियमभवे सव्वजीवाण । (बृ० क० स्त० गा० ६) इति ।

इय चैतेपु गुणस्थानेपु सामान्यजीवाना सम्भवमाश्रित्य सत्ता वर्णिता, न त्वधिकृतस्तव-स्तुत्यस्य चरमजिनपरिवृढस्य, अस्मा सुरनारकतिर्यगायु सम्भवापेक्षणीयत्वाद्, जिनस्य च तदसम्भवात्, तस्यापि च प्राग्भवापेक्षया सम्भवो वाच्य । इदमेव पञ्चचत्वारिंश शत सप्त-कमनन्तानुबन्धिमिथ्यात्वमिश्रसम्यक्त्वाख्य विनाऽष्टात्रिंश शत भवति । कियन्ति गुणस्था-नानि यावद्[1] इत्याह—"जा अनियट्टी पढमभागु" त्ति, इहानिवृत्तिबादराद्धाया नव भागा क्रियन्ते, ततोऽविरते देशविरते प्रमत्तेऽप्रमत्ते निवृत्तिबादरेऽनिवृत्तिबादरस्य च प्रथमो भाग-स्तावदष्टात्रिंश शत भवति । उक्त च—

[2]संते अडयालसय, खवग तु पडुच्च होइ पणयालु ।
आउतिग नत्थि तहिं, सत्तगखीणम्मि अडतीसं ॥
(बृ० क० स्त० भा० गा० २९)

[3]पणयाल अडतीसं, अविरयसम्माउ अप्पमत्तु त्ति ।
अप्पुव्वे अडतीसं, नवरं खवगम्मि बोधव्व ॥ इति ॥ २७ ॥

अथ क्षपकश्रेणिमभिकृत्याऽनिवृत्तिबादरादिपु प्रकृतिपु सत्ता वर्ण्यते उपशमश्रेणिसत्तायास्त्विह नाधिकार इति—

थावरतिरिनिरयायवदुग थीणतिगेग विगल साहार ।
सोलखओ दुवीससय, वियंसि वियतियकसायंतो ॥ २८ ॥

इहानिवृत्तिबादरस्य प्रथमे भागेऽष्टत्रिंश शत सत्ताया भवति । तत्र च "थावरतिरिनिरयाय-वदुग" त्ति द्विकशब्दस्य प्रत्येक योगात् स्थावरद्विक—स्थावरसूक्ष्मलक्षणम्, तिर्यग्द्विक—तिर्य-ग्गतितिर्यगानुपूर्वीरूपम्, नरकद्विक—नरकगतिनरकानुपूर्वीलक्षणम्, आतपद्विकम्—आतपोद्यो-ताख्यम्, "थीणतिग" त्ति स्त्यानर्द्धित्रिक—निद्रानिद्राप्रचलाप्रचलास्त्यानर्द्धिलक्षणम्, "इग" त्ति एकेन्द्रियजाति, "विगल" त्ति विकलेन्द्रियजातय —द्वीन्द्रियजातित्रीन्द्रियजातिचतुरि-न्द्रियजातिलक्षणा[4], "साहार" त्ति साधारणनाम इत्येतासा षोडशाना प्रकृतीना क्षय सत्ता-माश्रित्य भवति । ततोऽनिवृत्तिबादरस्य 'वंशे' द्वितीयभागे द्विविंश शत भवति । तत्र "वियतियकसाय तु" त्ति कपायशब्दस्य प्रत्येक योगाद् द्वितीयकपाया —अप्रत्याख्यानावरणा-श्चत्वार, तृतीयकपाया —प्रत्याख्यानावरणाश्चत्वार इत्येतासामष्टाना प्रकृतीनामन्त —क्षय । ततस्तृतीयांशे चतुर्दशशत भवतीति ॥ २८ ॥ एतदेवाह—

तइयाइसु चउदसतेरबारछपणचउतिहिय सय कमसो ।
नपुइत्थिहासछगपुंसतुरियकोहमयमायखओ ॥ २९ ॥

---

१ सुरनरकतिर्यगायुरनकभवे सवजीवानाम् ॥ २ सत्तायामष्टचत्वारिंश शत क्षपक तु प्रतीत्य भवति पञ्चचत्वारिंशम् । आयुस्त्रिक नास्ति तत्र सप्तके क्षीणेऽष्टात्रिंशम् ॥ ३ पञ्चचत्वारिंशमष्टात्रिंशमविरतसम्यक्त्वादप्रमत्त इति । अपूर्वेऽष्टात्रिंश नवरं क्षपके बोद्धव्यम् ॥ ४ °जाति –द्वी° क० घ० ॥ ५ °णा, 'सा° , क० घ० ॥

तृतीयादिषु भागेषु चतुर्दश च त्रयोदश च द्वादश च षट् च पञ्च च चत्वारि च त्रीणि चेति द्वन्द्व, तैरधिक शतम्, "तिहिय सय" इत्यत्राकारलोपो विभक्तिलोपश्च प्राकृतत्वात्, 'क्रमश ' क्रमेण सत्तायां भवति । कथम् ? इत्याह—"नपुइत्थि" इत्यादि । नपु च–नपुसकवेद स्त्री च–स्त्रीवेद हास्यषट्क च–हास्यरत्यरतिशोकभयजुगुप्साख्य पुमाश्च–पुवेद नपुस्त्रीहास्यषट्कपुमास, क्रोधश्च–कोप मदश्च–मदो मानोऽहङ्कार इति पर्याया माया च–निकृति क्रोधमदमाया, तुर्या–चतुर्थी संज्वलना क्रोधमदमायास्तुर्यक्रोधमदमाया, नपुस्त्रीहास्यषट्कपुमासश्च तुर्यक्रोधमदमायाश्च नपुस्त्रीहास्यषट्कपुतुर्यक्रोधमदमाया, तासा क्षयो नपुस्त्रीहास्यषट्कपुतुर्यक्रोधमदमायाक्षय । 'मायखओ' इत्यत्र ह्रस्वत्व "दीर्घह्रस्वौ मिथो वृत्तौ" (सि० ८–१–४) इत्यनेन प्राकृतसूत्रेण । इति गाथाक्षरार्थ । भावार्थस्त्वयम्—अनिवृत्तिबादरस्य तृतीये भागे द्वितीयतृतीयकषायाष्टकक्षये चतुर्दशाधिक शतम्, चतुर्थभागे नपुसकवेदक्षये त्रयोदशाधिक शतम्, पञ्चमे भागे स्त्रीवेदक्षये द्वादशाधिक शतम्, षष्ठे भागे हास्यषट्कक्षये षडधिक शतम्, सप्तमे भागे पुवेदक्षये पञ्चाधिक शतम्, अष्टमे भागे संज्वलनक्रोधक्षये चतुरधिक शतम्, नवमे भागे संज्वलनमानक्षये त्र्यधिक शतम्, संज्वलनमायाक्षये तु द्व्यधिक शत सत्तायां भवति । तच्च सूक्ष्मसम्पराये ॥ २९ ॥ तथा चाह—

सुहुमि दुसय लोहंतो, खीणदुचरिमेगसय दुनिद्दखओ ।
नवनवइ चरमसमए, चउदसणनाणविग्घंतो ॥ ३० ॥

"सुहुमि" त्ति सूक्ष्मसम्पराये 'द्विशत' द्वाभ्यामधिक शत सत्तायां भवति । तत्र च 'लोभान्त ' संज्वलनलोभस्य क्षय । तत "खीणदुचरिमेगसउ" त्ति क्षीणमोहद्विचरमसमये 'एकशतम्' एकाधिक शत सत्तायाम् । तत्र च "दुनिद्दखउ" त्ति निद्राप्रचलयोर्द्वयो क्षयो भवति, ततो नवनवतिश्चरमसमये क्षीणमोहगुणस्थानस्येति शेष । तत्र चत्वारि च तानि दर्शनानि च चतुर्दर्शनानि–चक्षुरचक्षुरवधिकेवलदर्शनावरणाख्यानि, ज्ञानानि ज्ञानावरणानि–मतिश्रुतावधिमन पर्यायकेवलज्ञानावरणलक्षणानि पञ्च, विघ्नानि–दानलाभभोगोपभोगवीर्यविघ्नरूपाणि पञ्च, तेषामन्तो भवति ॥ ३० ॥ तत —

पणसीइ सजोगि अजोगि दुचरिमे देवखगइगंधदुगं ।
फासट्ट वन्नरसतणुबंधणसंघायपण निमिणं ॥ ३१ ॥

पञ्चाशीति सयोगिकेवलिनि सत्तायां भवति । तत "अजोगि दुचरिमे" त्ति अयोगिकेवलिनि द्विचरमसमये इत्येतासा द्विसप्ततिप्रकृतीना क्षयो भवति । ता एवाह—"देवखगइगंधदुग" ति । द्विकशब्दस्य प्रत्येक योगाद् देवद्विक–देवगतिदेवानुपूर्वीरूपम्, खगतिद्विक–शुभविहायोगत्यशुभविहायोगतिरूपम्, गन्धद्विक–सुरभिगन्धाऽसुरभिगन्धाख्यम्, "फासट्ट" त्ति स्पर्शाष्टक–गुरुलघुमृदुखरशीतोष्णस्निग्धरूक्षाख्यम्, "वन्नरसतणुबंधणसंघायपण" त्ति पञ्चकशब्दस्य प्रत्येक सम्बन्धाद् वर्णपञ्चक–कृष्णनीललोहितहारिद्रशुक्लाख्यम्, रसपञ्चक–तिक्तकटुकषायाम्लमधुररूपम्, तनुपञ्चकम्–औदारिकवैक्रियाहारकतैजसकार्मणतनुलक्षणम्, एव तनुनाम्ना बन्धनपञ्चक सङ्घातनपञ्चक च वाच्यम्, "निमिण" त्ति निर्माणमिति ॥ ३१ ॥

संघयणअथिरसंठाणछक्क अगुरुलहुचउ अपज्जत्तं ।
साय व असाय वा, परित्तुवगतिग सुसर नियं ॥ ३२ ॥

षट्कशब्दस्य प्रत्येक योगात् संहननषट्क—वज्रऋषभनाराचऋषभनाराचनाराचार्धनाराच-कीलिकासेवार्तसंहननाख्यम्, अस्थिरषट्कम्—अस्थिराऽशुभदुर्भगदुःस्वराऽनादेयाऽयशःकीर्तिरूपम्, संस्थानषट्क—समचतुरस्रन्यग्रोधपरिमण्डलसादिवामनकुब्जहुण्डसंस्थानाख्यम्, अगुरुलघुचतुष्कम्—अगुरुलघूपघातपराघातोच्छ्वासाख्यम्, अपर्याप्तम्, सात वाऽसात वा एकतरवेदनीय, यदनुदयावस्थम्, "परित्तुवगतिग" त्ति त्रिकशब्दस्य प्रत्येक सम्बन्धात् प्रत्येकत्रिक—प्रत्येकस्थिरशुभाख्यम्, उपाङ्गत्रिकम्—औदारिकवैक्रियाऽऽहारकाङ्गोपाङ्गरूपम्, सुस्वरम्, "निय" ति नीचैर्गोत्रमिति ॥ ३२ ॥

बिसयरिखओ य चरिमे, तेरस मणुयतसतिग जसाइज्जं ।
सुभगजिणुच्च पणिंदिय सायासाएगयरछेओ ॥ ३३ ॥

इत्येतासा द्विसप्ततिप्रकृतीनामयोगिकेवलिद्विचरमसमये सत्तामाश्रित्य क्षयो भवति । तत पूर्वोक्तपञ्चाशीतेरिमा द्विसप्ततिप्रकृतयोऽपनीयन्ते शेषास्त्रयोदश प्रकृतयोऽयोगिचरमसमये क्षीयन्ते । तथा चाह—"बिसयरिखओ" त्ति स्पष्टम् । 'चः' पुनरर्थे व्यवहितसम्बन्धश्च । चरमसमये पुन अयोगिकेवलिनस्त्रयोदशप्रकृतीना क्षयो भवति । "मणुयतसतिग" त्ति त्रिकशब्दस्य प्रत्येक योगाद् मनुजत्रिक—मनुजगतिमनुजानुपूर्वीमनुजायुर्लक्षणम्, त्रसत्रिक—त्रसबादरपर्याप्ताख्यम्, "जसाइज्ज" ति यशःकीर्तिनाम आदेयनाम सुभगम् "जिणुच्च" त्ति जिननाम उच्चैर्गोत्रम् । "पणिंदिय" त्ति पञ्चेन्द्रियजाति' सातासातयोरेकतर तस्य च्छेद —सत्तामाश्रित्य क्षय इति ॥ ३३ ॥ अत्रैव मतान्तरमाह—

नरअणुपुव्वि विणा वा, बारस चरिमसमयम्मि जो खविउ ।
पत्तो सिद्धिं देविंदवंदिय नमह त वीर ॥ ३४ ॥

'नरानुपूर्वी विना' मनुष्यानुपूर्वीमन्तरेण वाशब्दो मतान्तरसूचको द्वादश प्रकृतीरयोगिकेवलिचरमसमये य क्षपयित्वा सिद्धिं प्राप्तस्त वीर नमतेति सण्टङ्क । अयमत्राभिप्राय —मनुजानुपूर्व्या अयोगिद्विचरमसमये सत्ताव्यवच्छेद, उदयाभावात्, उदयवतीना हि द्वादशानां स्तिबुकसङ्क्रमाभावात् स्वानुभावेन दलिक चरमसयेऽपि दृश्यत इति युक्तस्तासा चरमसमये क्षय, आनुपूर्वीनाम्ना तु चतुर्णामपि क्षेत्रविपाकित्वाद् भवान्तरालगतावेवोदयस्तेन भवस्थस्य नास्ति तदुदय, तदुदयाभावाच्चायोगिद्विचरमसमये मनुजानुपूर्व्या अपि सत्ताव्यवच्छेद, तन्मतेऽयोगिकेवलिनो द्विचरमसमये त्रिसप्ततिप्रकृतीना चरमसमये [च] द्वादशानां क्षय इति । ततो यो भगवान् मातापित्रोर्दिवङ्गतयो सम्पूर्णनिजप्रतिज्ञो भक्तिसम्भारभ्राजिष्णुरोचिष्णुलोकान्तिकत्रिदशसद्मजन्मभि पुष्पमाणवकैरिव "सर्वजगज्जीवहिय भयव तित्थ पवत्तेहि" (आव० नि० गा० २१५) इत्यादिवचोभिर्निवेदिते निष्क्रमणसमये संवत्सर यावत् निरन्तर स्थूरचामीकरधारासारै प्रावृषेण्यधाराधर इवाप्रुद्ददारिद्र्यसन्तापप्रसरमवनीमण्डलस्योपशमय्य परस्पर-

१ सर्वजगज्जीवहित भगवम् तीर्थं प्रवर्तय ॥

महमहमिकया समायातसुरासुरनरोरगनाथकनिकरै "जय जीव नन्द क्षत्रियवरवृषभ !" इत्यादिवचनरचनया स्तूयमान सम्प्राप्य ज्ञातखण्डवन प्रतिपन्ननिरवद्यचारित्रभार साधिकां द्वादशसवत्सरीं यावत् परीषहोपसर्गवर्गसंसर्गमुग्रमधिसह्य परमसितध्यानाऽकुण्ठकुठारधारया सकलघनघातिवनखण्डखण्डनमखण्डमाधाय निर्मलाऽविकलकेवलबलावलोकितनिखिललोकालोक श्रीगौतमप्रभृतिमुनिपुङ्गवाना तत्त्वमुपदिश्य संसारसरित सुख सुखेन समुत्तरणाय भव्यजनानां धर्मतीर्थमुपदर्श्याऽयोगिकेवलिचरमसमये त्रयोदश प्रकृतीर्द्वादश प्रकृतीर्वा क्षपयित्वा 'सिद्धिं' परमानन्दरूपा प्राप्त, त 'नमत' प्रणमत 'वीर' श्रीवर्धमानस्वामिनम्, किंविशिष्टम्? 'देवेन्द्रवन्दित' देवाना भवनपतिव्यन्तरज्योतिष्कवैमानिकानामिन्द्रा.-स्वामिनो देवेन्द्रास्तैर्वन्दित शशधरकरनिकरनिर्मलतरगुणगणोत्कीर्तनेन स्तुत शिरसा च प्रणत "वदुङ् स्तुत्यभिवादनयो" इति वचनात्, यद्वा पदैकदेशे पदसमुदायोपचाराद् देवेन्द्रेण-देवेन्द्रसूरिणा आचार्येण श्रीमज्जगच्चन्द्रसूरिचरणसरसीरुहचञ्चरीकेण वन्दित सकलकर्मक्षयलक्षणाऽसाधारणगुणसङ्कीर्तनेन स्तुत कायेन च प्रणत इति। 'नमत' इति प्रेरणाया पञ्चम्यन्त क्रियापदम्, तच्च श्रोतृणा कथञ्चिदनाभोगवशत प्रमादसम्भवेऽप्याचार्येण नोद्विजितव्यम्, किन्तु मृदुमधुरवचोभि शिक्षानिबन्धनै श्रोतृणा मनासि प्रह्लाद्य यथार्हं सन्मार्गप्रवृत्तिरुपदेष्टव्या इति ज्ञापनार्थम्। यदाह प्रवचनोपनिषद्वेदी भगवान् हरिभद्रसूरि —

> [१]अणुवत्तणाइ सेहा, पाय पावंति जुग्गय परम।
> रयण पि गुणुक्करिस, उवेइ सोहम्मणगुणेण ॥ (पञ्चव० गा० १७)
> इत्थ य पमायखलिया, पुव्वब्भासेण कस्स व न हुंति।
> जो तेऽवणेइ सम्म, गुरुत्तण तस्स सफल ति ॥ (पञ्चव० गा० १८)
> को नाम सारहीण, स हुज्ज जो भद्दवाइणो दमए।
> दुट्ठे वि य जो आसे, दमेइ त सारहिं बिंति ॥ (पञ्चव० गा० १९) इति ॥१४॥

॥ इति श्रीदेवेन्द्रसूरिविरचिताया स्वोपज्ञकर्मस्तवटीकाया सत्ताधिकार समाप्त ॥

॥ तत्समाप्तौ च समाप्ता लघुकर्मस्तवटीका ॥

सत्ताधिकारमेन, विवृण्वता यन्मयाऽर्जित सुकृतम्।
नि.शेषकर्मसत्तारहितस्तेनास्तु लोकोऽयम् ॥

---

१ अनुवर्तनया शिक्षका प्राय प्राप्नुवन्ति योग्यता परमाम्। रत्नमपि गुणोत्कर्षमुपैति शोधकगुणेन ॥ अत्र च प्रमादस्खलितानि पूर्वाभ्यासेन कस्य वा न भवन्ति?। यस्तानि अपनयति सम्यग् गुरुत्व तस्य सफलमिति ॥ को नाम सारथीनां स भवेद् यो भद्रवाजिनो दमयेत्?। दुष्टानपि च योऽश्वान् दमयति त सारथिं ब्रुवते ॥

॥ अथ प्रशस्तिः ॥

विष्णोरिव यस्य विभो , पदत्रयी व्यानशे जगन्निखिलम् ।
कर्ममलपटलमुक्त , स श्रीवीरो जिनो जयतु ॥ १ ॥
कुन्दोज्ज्वलकीर्तिभरै , सुरभीकृतसकलविष्टपाभोग ।
शतमखशतविनतपद , श्रीगौतमगणधर पातु ॥ २ ॥
तदनु सुधर्मस्वामी जम्बूप्रभवादयो मुनिवरिष्ठा ।
श्रुतजलनिधिपारीणा , भूयास श्रेयसे सन्तु ॥ ३ ॥
क्रमात् प्राप्ततपाचार्येत्यभिख्या भिक्षुनायका ।
समभूवन् कुले चान्द्रे, श्रीजगच्चन्द्रसूरय ॥ ४ ॥
जगज्जनितबोधाना, तेषा शुद्धचरित्रिणाम् ।
विनेया समजायन्त, श्रीमद्देवेन्द्रसूरय ॥ ५ ॥
स्वान्ययोरुपकाराय, श्रीमद्देवेन्द्रसूरिणा ।
कर्मस्तवस्य टीकेय, सुखबोधा विनिर्ममे ॥ ६ ॥
विबुधवरधर्मकीर्तिश्रीविद्यानन्दसूरिमुख्यबुधै ।
स्वपरसमयैककुशलैस्तदैव सशोधिता चेयम् ॥ ७ ॥
यदुदितमल्पमतिना, सिद्धान्तविरुद्धमिह किमपि शास्त्रे ।
विद्वद्भिस्तत्त्वज्ञै , प्रसादमाधाय तच्छोध्यम् ॥ ८ ॥
कर्मस्तवसूत्रमिद, विवृण्वता यन्मयाऽर्जित सुकृतम् ।
सर्वेऽपि कर्मबन्धास्तेन त्रुट्यन्तु जगतोऽपि ॥ ९ ॥



॥ अर्हम् ॥

तपागच्छीयपूज्यश्रीदेवेन्द्रसूरिविरचितः

बन्धस्वामित्वनामा तृतीयः कर्मग्रन्थः ।

सावचूरिकः

सम्यग् बन्धस्वामित्वदेशक वर्धमानमानम्य ।
बन्धस्वामित्वस्य, व्याख्येय लिख्यते किञ्चित् ॥

इह स्वपरोपकाराय यथार्थाभिधान बन्धस्वामित्वप्रकरणमारिप्सुराचार्यो मङ्गलादिप्रतिपादिका गाथामाह—

बंधविहाणविमुक्कं, वंदिय सिरिवद्धमाणजिणचंदं ।
गइयाईसु वुच्छं, समासओ बंधसामित्तं ॥ १ ॥

व्याख्या—इह प्रथमार्धेन मङ्गल द्वितीयार्धेनाऽभिधेय साक्षादुक्तम् । प्रयोजनसम्बन्धौ तु सामर्थ्यगम्यौ । तत्र बन्ध —कर्मपरमाणूना जीवप्रदेशै सह सम्बन्धस्तस्य विधान—मिथ्यात्वादिभिर्बन्धहेतुभिर्निर्वर्तन बन्धविधान तेन विमुक्त स तथा त बन्धविधानविमुक्त वन्दित्वा श्रीवर्धमानजिनचन्द्रम् 'वक्ष्ये' अभिधास्ये 'समासत ' सक्षेपतो न विस्तरेण, किम् ? इत्याह— 'बन्धस्वामित्व' बन्ध —कर्माणूना जीवप्रदेशै सह सम्बन्धस्तस्य स्वामित्वम्—आधिपत्य जीवानामिति गम्यते । केषु ? "गइयाईसु" ति गतिरादिर्येषा तानि गत्यादीनि, आदिशब्दाद् इन्द्रियादिपरिग्रह , तेषु गत्यादिषु मार्गणास्थानेषु ।

अत्र चेय मार्गणास्थानप्रतिपादिका बृहद्बन्धस्वामित्वगाथा—

गइ १ इंदिए य २ काए ३, जोए ४ वेए ५ कसाय ६ नाणे य ७ ।
संजम ८ दंसण ९ लेसा १०, भव ११ सम्मे १२ सन्नि १३ आहारे १४ ॥ (गा० २)

तत्र गतिश्चतुर्धा—नरकगतिस्तिर्यग्गतिर्मनुष्यगतिर्देवगतिरिति १ । इन्द्रिय स्पर्शनरसनघ्राणचक्षु श्रोत्रभेदात् पञ्चधा, इन्द्रियग्रहणेन च तदुपलक्षिता एकेन्द्रियद्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियपञ्चेन्द्रिया गृह्यन्ते २ । काय षोढा पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतित्रसकायभेदात् ३ । योग पञ्चदशधा—सत्यमनोयोग १ असत्यमनोयोग २ सत्यासत्यमनोयोग ३ असत्यामृषामनोयोग ४ सत्यवाग्योग ५ असत्यवाग्योग ६ सत्यासत्यवाग्योग ७ असत्यामृषावाग्योग ८ वैक्रियकाययोग ९ आहारककाययोग १० औदारिककाययोग ११ वैक्रियमिश्रकाययोग १२ आहारक-

१ °न विमुक्त मन्दि° क० ग० घ० ॥

मिश्रकाययोग १३ औदारिकमिश्रकाययोग १४ कार्मणकाययोग १५ इति ४। वेदस्त्रिधा—स्त्रीवेद पुरुषवेदो नपुंसकवेदश्च ५। कषाया क्रोधमानमायालोभा ६। ज्ञानं पञ्चधा—मतिज्ञानं श्रुतज्ञानम् अवधिज्ञानं मनःपर्यायज्ञानं केवलज्ञानं च, ज्ञानग्रहणेन चाऽज्ञानमपि तत्प्रतिपक्षभूतमुपलक्ष्यते, तच्च त्रिविधम्—मत्यज्ञानं श्रुताज्ञानं विभङ्गज्ञानं चेति ज्ञानमार्गणास्थानमष्टधा ७। 'संयम' चारित्रं तच्च पञ्चधा—सामायिकं छेदोपस्थापनं परिहारविशुद्धिकं सूक्ष्मसम्परायं यथाख्यातं च, संयमग्रहणेन च तत्प्रतिपक्षभूतो देशसंयमोऽसंयमश्च सूच्यत इति संयमं सप्तधा ८। दर्शनं चतुर्विधम्—चक्षुर्दर्शनम् अचक्षुर्दर्शनम् अवधिदर्शनं केवलदर्शनं च ९। लेश्या षोढा—कृष्णलेश्या नीललेश्या कापोतलेश्या तेजोलेश्या पद्मलेश्या शुक्ललेश्या च १०। भव्य—तथारूपानादिपारिणामिकभावात् सिद्धिगमनयोग्य, भव्यग्रहणेन च तत्प्रतिपक्षभूतोऽभव्योऽपि गृह्यते ११। सम्यक्त्वं त्रिधा—क्षायोपशमिकम् औपशमिकं क्षायिकं च, सम्यक्त्वग्रहणेन च तत्प्रतिपक्षभूतं मिथ्यात्वं सासादनं मिश्रं च परिगृह्यते १२। संज्ञी—विशिष्टस्मरणादिरूपमनोविज्ञानसहितेन्द्रियपञ्चकसमन्वित, तत्प्रतिपक्षभूत सर्वोऽप्येकेन्द्रियादिरसंज्ञी सोऽपि संज्ञिग्रहणेन सूचितो द्रष्टव्य १३। आहारयति ओजोलोमप्रक्षेपाहाराणाम् यतममाहारमित्याहारक, तत्प्रतिपक्षभूतोऽनाहारक १४। ननु ज्ञानादिषु किमर्थमज्ञानादिप्रतिपक्षग्रहणं कृतम्?, उच्यते—चतुर्दशस्वपि मार्गणास्थानेषु प्रत्येकं सर्वसांसारिकसत्त्वसङ्ग्रहार्थमिति।

उक्तरूपेषु गत्यादिषु बन्धस्वामित्वं वक्ष्ये। तत्र बन्धं च प्रतीत्य विंशत्युत्तरं प्रकृतिशतमधिक्रियते। तथाहि—ज्ञानावरणे उत्तरप्रकृतय पञ्च, दर्शनावरणे नव, वेदनीये द्वे, मोहे सम्यक्त्वमिश्रवर्जा षड्विंशति, आयुषि चतस्र, नाम्नि भेदान्तरसम्भवेऽपि सप्तषष्टि, गोत्रे द्वे, अन्तराये पञ्च, सर्वमीलने विंशत्युत्तरं शतमिति एतच्च प्राक् सविस्तरं कर्मविपाके भावितमेव ॥ १ ॥ सम्प्रति विंशत्युत्तरशतमध्यगतानामेव वक्ष्यमाणार्थोपयोगित्वेन प्रथमं कियतीनामपि प्रकृतीनां सङ्ग्रहं पृथक्करोति—

जिण सुरविउवाहारदु, देवाउ य नरयसुहुमविगलतिगं ।
एगिंदि थावराऽऽयव, नपु मिच्छं हुंड छेवट्ठं ॥ २ ॥
अण मज्झागिइ संघयण, कुखग निय इत्थि दुहगथीणतिगं ।
उज्जोय तिरिदुग तिरिनराउ नरउरलदुग रिसहं ॥ ३ ॥

व्याख्या—जिननाम १ सुरद्विक—सुरगतिसुरानुपूर्वीरूपं ३ वैक्रियद्विक—वैक्रियशरीरवैक्रियाङ्गोपाङ्गलक्षणम् ५ आहारकद्विकम्—आहारकशरीरं तदङ्गोपाङ्गं च ७ देवायुष्कं च ८ नरकत्रिक—नरकगतिनरकानुपूर्वीनरकायुष्करूपं ११ सूक्ष्मत्रिक—सूक्ष्माऽपर्याप्तसाधारणलक्षणं १४ विकलत्रिक—द्वित्रिचतुरिन्द्रियजातय १७ एकेन्द्रियजाति १८ स्थावरनाम १९ आतपनाम २० नपुंसकवेद २१ मिथ्यात्वं २२ हुण्डसंस्थानं २३ सेवार्तसंहननम् २४ ॥ २ ॥

"अण" त्ति अनन्तानुबन्धिक्रोधमानमायालोभा २८ 'मध्याकृतय' मध्यमसंस्थानानि—न्यग्रोधपरिमण्डलं सादि वामनं कुब्जं चेति ३२ मध्यमसंहननानि—ऋषभनाराचं नाराचम् अर्धनाराचं कीलिका चेति ३६ "कुखग" त्ति अशुभविहायोगति ३७ नीचैर्गोत्रं ३८ स्त्रीवेद

३९ दुर्भगत्रिक—दुर्भगदु स्वराऽनादेयरूप ४२ स्त्यानर्द्धित्रिक—निद्रानिद्राप्रचलाप्रचलास्त्यानर्द्धिलक्षणम् ४५ उद्योतनाम ४६ तिर्यग्द्विक—तिर्यग्गतितिर्यगानुपूर्वीरूपम् ४८ तिर्यगायु ४९ नरायु ५० नरद्विक—नरगतिनरानुपूर्वीलक्षणम् ५२ औदारिकद्विकम्—औदारिकशरीरमौदारिकाङ्गोपाङ्गनाम च ५४ वज्रऋषभनाराचसंहननम् ५५ इति पञ्चपञ्चाशत्प्रकृतिसङ्ग्रह ॥३॥

अथैतस्य प्रकृतिसङ्ग्रहस्य यथास्थानमुपयोग दर्शयन् मार्गणास्थानाना प्रथम गतिमार्गणास्थानमाश्रित्य बन्ध प्रतिपाद्यते—

सुरइगुणवीसवज्ज, इगसउ ओहेण बधहिं निरया।
तित्थ विणा मिच्छि सय, सासणि नपुचउ विणा छनुई॥४॥

व्याख्या—"जिण सुरविउवाहार" (गा० २) इत्यादिगाथोक्ता क्रमेण सुरद्विकाद्येकोनविंशतिप्रकृतीर्वर्जयित्वा शेषमेकोत्तरशतमोघेन नारका बध्नन्ति। अयमत्राभिप्राय —एता एकोनविंशतिकर्मप्रकृतीर्बन्धाधिकृतकर्मप्रकृतिविंशत्युत्तरशतमध्याद् मुक्त्वा शेषस्यैकोत्तरशतस्य नरकगतौ नानाजीवापेक्षया सामान्यतो बन्ध, सुरद्विकाद्येकोनविंशतिप्रकृतीना तु भवप्रत्ययादेव नारकाणामबन्धकत्वात्। सामान्येन नरकगतौ बन्धमभिधाय सम्प्रति तमेव मिथ्यादृष्ट्यादिगुणस्थानचतुष्टयविशिष्ट त दर्शयति—"तित्थ विणा" इत्यादि। प्रागुक्तमेकोत्तरशत तीर्थकरनाम विना मिथ्यादृष्टिगुणस्थानके शत भवति। एतच्च शत नपुसकवेदमिथ्यात्वहुण्डसंस्थानसेवार्तसहननप्रकृतिचतुष्क विना सासादनगुणस्थानके षण्णवतिर्नारकाणा बन्धे॥ ४॥

विणु अणछवीस मीसे, बिसयरि सम्मम्मि जिणनराउजुया।
इय रयणाइसु भगो, पकाइसु तित्थयरहीणो॥ ५॥

व्याख्या—प्रागुक्ता षण्णवतिरनन्तानुबन्ध्यादिषड्विंशतिप्रकृतीर्विना मिश्रगुणस्थाने सप्तति। सैव जिननामनरायुष्कयुता सम्यग्दृष्टिगुणस्थानके द्विसप्तति। 'इति' एव बन्धमाश्रित्य भङ्ग 'रत्नादिषु' रत्नप्रभाशर्कराप्रभावालुकाप्रभाभिधानप्रथमनरकपृथिवीत्रये द्रष्टव्य। पङ्कप्रभादिषु पुनरेष एव भङ्गस्तीर्थकरनामहीनो विज्ञेय। अयमर्थ —पङ्कप्रभाधूमप्रभातम प्रभासु सम्यक्त्वसद्भावेऽपि क्षेत्रमाहात्म्येन तथाविधाध्यवसायाभावात् तीर्थकरनामबन्धो नारकाणा नास्तीति, ततस्तत्र सामान्येन शतम्, मिथ्यादृशा च शतम्, सासादनाना षण्णवति, मिश्राणा सप्तति, अविरतसम्यग्दृष्टीनामेकसप्तति। इह सामान्यपदेऽविरतसम्यग्दृष्टिगुणस्थाने च रत्नप्रभादिभङ्गस्तीर्थकरनाम्ना हीन उक्त। मिथ्यादृष्ट्यादिषु त्रिषु गुणस्थानेषु पुनस्तस्य प्रागेवाऽपनीतत्वात् तदवस्थ एव॥ ५॥

अजिणमणुआउ ओहे, सत्तमिए नरदुगुच विणु मिच्छे।
इगनवई सासाणे, तिरिआउ नपुसचउवज्ज॥ ६॥

व्याख्या—रत्नप्रभादिनरकत्रयसामान्यबन्धाधिकृतैकोत्तरशतमध्याज्जिननाममनुजायुषी मुक्त्वा शेषा नवनवतिरोघबन्धे सप्तमपृथिव्या नारकाणा भवति। सैव नवनवतिर्नरगतिनरानुपूर्वीरूपनरद्विकोच्चैर्गोत्रैर्विना षण्णवतिर्मिथ्यादृष्टिगुणस्थाने भवति। सैव षण्णवतिस्तिर्यगायुर्नपुसकवेदमिथ्यात्वहुण्डसस्थानसेवार्तसंहननवर्जिता एकनवति सासादने सप्तम्या नारकाणाम्॥ ६॥

अणचउवीसविरहिया, सनरदुगुच्चा य सयरि मीसदुगे ।
सतरसउ ओहि मिच्छे, पजतिरिया विणु जिणाहारं ॥ ७ ॥

व्याख्या—प्रागुक्ता एकनवतिरनन्तानुबन्ध्यादिचतुर्विंशतिप्रकृतिभिर्विरहिता नरद्विकोच्चैर्गोत्राभ्यां च सहिता सप्ततिर्भवति, सा च "मीसदुगे" त्ति मिश्राऽविरतगुणस्थानद्वये द्रष्टव्या । इह सप्तम्यां नरायुस्तावद् न बध्यत एव, तद्बन्धाभावेऽपि च मिश्रगुणस्थानकेऽविरतगुणस्थानके च नरद्विकं बध्यते । अयमर्थः—नरद्विकस्य नरायुषा सह नावश्यं प्रतिबन्धो यदुत यत्रैवायुर्बध्यते तत्रैव गत्यानुपूर्वीद्वयमपि, तस्याऽन्यदाऽपि बन्धात्; मिथ्यात्वसासादनयोस्तु कलुषाध्यवसायत्वेन नरद्विकं न बध्यते । एवं नरकगतौ बन्धस्वामित्वं प्रतिपाद्य अथ तिर्यग्गतौ तदाह—"सतरसउ" इत्यादि । विंशत्युत्तरशतं जिननामाऽऽहारकद्विकं च विना शेषं सप्तदशोत्तरशतमोघे मिथ्यादृष्टिगुणस्थाने च पर्याप्तास्तिर्यञ्चो बध्नन्ति । अत्रौघे तिरश्चां सत्यपि सम्यक्त्वे भवप्रत्ययादेव तथाविधाध्यवसायाभावात् तीर्थंकरनाम्नः सम्पूर्णसंयमाभावाद् आहारकद्विकस्य च बन्धो नास्तीति हृदयम् ॥ ७ ॥

विणु नरयसोल सासणि, सुराउ अण एगतीस विणु मीसे ।
ससुराउ सयरि सम्मे, बीयकसाए विणा देसे ॥ ८ ॥

व्याख्या—प्रागुक्तं सप्तदशोत्तरशतं नरकत्रिकादिषोडशप्रकृतीर्विना एकोत्तरशतं सासादने पर्याप्ततिरश्चाम् । एतदेवैकोत्तरशतं सुरायुरनन्तानुबन्ध्याद्येकत्रिंशत्प्रकृतीश्च विना एकोनसप्ततिः, सा मिश्रगुणस्थाने बध्यते । अयं भावार्थः—"[1]सम्मामिच्छद्दिट्ठी आउबंधं पि न करेइ ।" इति वचनाद् अत्र सुरनरायुषोरबन्धः, अनन्तानुबन्ध्यादयश्च पञ्चविंशतिप्रकृतयः सासादन एव व्यवच्छिन्नबन्धाः, तथा मनुष्यास्तिर्यञ्चश्च मिश्रगुणस्थानकस्था अविरतसम्यग्दृष्टिवद् देवार्हमेव बध्नन्ति, तेन नरद्विकौदारिकद्विकवज्रऋषभनाराचानामपि बन्धाभावः । एषैव एकोनसप्ततिः सुरायुषा सहिता सप्ततिः 'सम्यक्त्वे' अविरतगुणस्थानके भवति । सप्ततिः 'द्वितीयकषायैः' अप्रत्याख्यानक्रोधमानमायालोभैर्विना षट्षष्टिर्देशविरतगुणस्थाने बध्यते ॥८॥

अथ तिर्यग्गतिबन्धाधिकार एव ग्रन्थलाघवार्थं मनुष्यगतावपि बन्धं दर्शयति—

इय चउगुणेसु वि नरा, परमजया सजिण ओहु देसाई ।
जिणइक्कारसहीणं, नवसउ अपजत्ततिरियनरा ॥ ९ ॥

व्याख्या—यथा पर्याप्ततिरश्चां मिथ्यादृष्ट्यादिषु चतुर्षु गुणस्थानेषु सप्तदशोत्तरशतादिको बन्ध उक्तः 'इति' एवं पर्याप्तनरा अपि चतुर्षु—मिथ्यादृष्टिसासादनमिश्राविरतिगुणस्थानेषु सप्तदशोत्तरशतादिबन्धस्वामिनो मन्तव्याः । 'परम्' अयताः अविरतसम्यग्दृष्टयः पर्याप्तनराः "सजिण" त्ति अविरतसम्यग्दृष्टिपर्याप्ततिर्यग्बन्धयोग्यसप्ततिर्जिननामसहिता एकसप्ततिस्तां बध्नन्ति, जिननामकर्मणोऽपि बन्धकत्वात् तेषाम् । "ओहु देसाइ" त्ति देशविरतादिगुणस्थानकेषु गुणस्थानकाऽनाश्रयणे च पर्याप्तनराणां पुनः 'ओघः' सामान्यो बन्धोऽवसेयः । स च कर्मस्तवोक्त एव । यतः कर्मस्तवग्रन्थे सामान्यतो गुणस्थानकेषु बन्धः प्रतिपादितो न पुनः किञ्चन गत्यादिमा-

1 सम्यग्मिथ्यादृष्टिरायुर्बन्धमपि न करोति ॥

गेणास्थानमाश्रित्य, स चात्र बहुषु स्थानेषूपयोगीति मूलतोऽपि दर्श्यते—

अभिनवकम्मग्गहणं, बंधो ओहेण तत्थ वीस सयं ।
तित्थयराहारगदुगवज्जं मिच्छम्मि सतरसयं ॥
नरयतिग जाइथावरचउ हुंडाऽऽयवछिवट्ठनपुमिच्छं ।
सोलंतो इगहियसउ, सासणि तिरिथीणदुहगतिगं ॥
अणमज्झागिइसंघयणचउ निउज्जोय कुखगइत्थि त्ति ।
पणवीसंतो मीसे, चउसयरि दुआउय अबंधा ॥
सम्मे सगसयरि जिणाउबंधि वइर नरतिग बियकसाया ।
उरलदुगंतो देसे, सत्तट्ठी तियकसायंतो ॥
तेवट्ठि पमत्ते सोग अरइ अथिर दुग अजस अस्सायं ।
वुच्छिज्ज छच्च सत्त व, नेइ सुराउं जया निट्ठं ॥
गुणसट्ठि अप्पमत्ते, सुराउबंधं तु जइ इहागच्छे ।
अन्नह अट्ठावन्ना, जं आहारगदुगं बंधे ॥
अडवन्न अपुव्वाइमि, निद्दुगंतो छपन्न पणभागे ।
सुरदुग पणिंदि सुखगइ, तसनव उरल विणु तणुवंगा ॥
समचउर निमिण जिण वन्नअगुरुलहुचउ छलंसि तीसंतो ।
चरिमे छवीसबंधो, हासरईकुच्छभयभेओ ॥
अनियट्टिभागपणगे, इगेगहीणो दुवीसविहबंधो ।
पुमसंजलणचउण्हं, कमेण छेओ सतर सुहुमे ॥
चउदंसणुच्चजसनाणविग्घदसगं ति सोलसुच्छेओ ।
तिसु सायबंध छेओ, सजोगि बंधतुणंतो य ॥ (गाथा ३–१२) इति ।

एतासां दशानामपि गाथानां व्याख्यानं कर्मस्तवटीकातो बोद्धव्यम् । इत्योघबन्धः । इह कर्मस्तवोक्तगुणस्थानकबन्धाद् नरतिरश्चां मिश्राऽविरतगुणस्थानकयोरयं विशेषः— कर्मस्तवे मिश्रगुणस्थानके चतुःसप्ततिः अविरतसम्यग्दृष्टिगुणस्थानके सप्तसप्ततिः तिरश्चां पुनर्मनुष्यद्विकौदारिकद्विकवज्रऋषभनाराचसंहननरूपप्रकृतिपञ्चकस्य बन्धाभावाद् मिश्रगुणस्थानके एकोनसप्ततिः, अविरतसम्यग्दृष्टौ सुरायुः क्षेपे सप्ततिः, नराणां तु मिश्रे एकोनसप्ततिः, अविरतसम्यग्दृष्टौ तीर्थकरनामसुरायुः क्षेपे एकसप्ततिः। अस्यां च एकसप्ततौ यदि मनुष्यद्विकौदारिकद्विकवज्रऋषभनाराचसंहननप्रकृतिपञ्चकं नरायुष्कं च क्षिप्यते तदा कर्मस्तवोक्ता सप्तसप्ततिर्भवत्यविरतगुणस्थानके। तथा कर्मस्तवे देशविरतगुणस्थानके या सप्तषष्टिरुक्ता सा तिरश्चां जिननामरहिता षट्षष्टिर्देशविरतगुणस्थाने भवति। प्रमत्तादीनि गुणस्थानानि तिरश्चां न सम्भवन्ति। नराणां तु सर्वगुणस्थानकसम्भवेन देशविरतादिगुणस्थानकेषु कर्मस्तवोक्त एव सर्वोऽप्यन्यूनाधिक ओघबन्धो वाच्यः। ततश्च पर्याप्तनराणां सामान्येन बन्धे विंशत्युत्तरशतं प्रकृतीनां प्राप्यते, तेषामेव मिथ्यादृशां सप्तदशोत्तरशतम्, सासादनानामेकोत्तरशतम्,

मिश्राणामेकोनसप्तति, अविरतसम्यग्दृष्टीनामेकसप्तति, देशविरताना सप्तषष्टि', प्रमत्ताना त्रिषष्टि, अप्रमत्तानामेकोनषष्टिरष्टपञ्चाशद्वा, निवृत्तिबादराणा प्रथमे भागेऽष्टपञ्चाशत्, भागपञ्चके षट्पञ्चाशत्, सप्तमभागे षड्विंशति, अनिवृत्तिबादराणामाद्ये भागे द्वाविंशति, द्वितीये एकविंशति, तृतीये विंशति, चतुर्थे एकोनविंशति, पञ्चमेऽष्टादश च, सूक्ष्मसम्परायाणा सप्तदश, उपशान्तमोहक्षीणमोहसयोगिनामेका सातलक्षणा प्रकृतिर्बन्धे प्राप्यते, अयोगिना तु बन्धाभाव। एवमन्यत्राप्योघबन्ध कर्मस्तवानुसारेण भावनीय। उक्तस्तिर्यग्नराणा पर्याप्ताना बन्ध, अथ तेपामेवापर्याप्ताना तमाह—"जिणइक्कारसहीण" इत्यादि। यदेव नराणामोघबन्धे विंशत्युत्तरशत तदेव जिननामाद्येकादशप्रकृतिहीन शेष नवोत्तरशतमपर्याप्ततिर्यग्नरा ओघतो मिथ्यात्वे च बध्नन्ति। यद्यपि करणापर्याप्तो देवो मनुष्यो वा जिननामकर्म सम्यक्त्वप्रत्ययेन बध्नाति तथापीह नराणा लब्ध्याऽपर्याप्तत्वेन विवक्षणाद् न जिननामबन्ध ॥ ९॥

तिर्यग्गतौ मनुष्यगतौ च बन्धस्वामित्वमुक्तम्। साम्प्रत देवगतिमधिकृत्य तदुच्यते—

निरय व्व सुरा नवरं, ओहे मिच्छे इगिदितिगसहिया।
कप्पदुगे वि य एवं, जिणहीणो जोइभवणवणे ॥ १० ॥

व्याख्या—सुरा अपि नारकवद् ओघतो विशेषतश्च तद्बन्धस्वामिनोऽवगन्तव्या'। नवरमय विशेष—ओघे मिथ्यात्वगुणस्थानके च बन्धमाश्रित्य सुरा एकेन्द्रियादित्रिकसहिता द्रष्टव्या। ततोऽयमर्थ—यो नारकाणामेकोत्तरशतरूप ओघबन्ध' स एवैकेन्द्रियजातिस्थावरनामाऽऽतपनामप्रकृतित्रयसहित सुराणा सामान्यतो बन्धश्चतुरग्रशतम्, तदेव मिथ्यात्वे जिननामरहित त्र्युत्तरशतम्, एतदेवैकेन्द्रियजातिस्थावराऽऽतपनपुसकवेदमिथ्यात्वहुण्डसेवार्तलक्षणप्रकृतिसप्तकहीन सासादने षण्णवति, षण्णवतिरेवानन्तानुबन्ध्यादिषड्विंशतिप्रकृतिरहिता मिश्रे सप्तति, सैव जिननामनरायुष्कयुता द्विसप्ततिस्तामविरतसम्यग्दृष्टयो देवा बध्नन्तीति सामान्यदेवगतिबन्ध। साम्प्रत देवविशेषनामोच्चारणपूर्वक तमाह—"कप्पदुगे" इत्यादि। 'कल्पद्विकेऽपि' सौधर्मेशानाख्यदेवलोकद्वयेऽपि 'एव' सामान्यदेवबन्धवद् बन्धो द्रष्टव्य। तथाहि—सामान्येन चतुरग्रशतम्, मिथ्यादृशा त्र्यग्रशतम्, सासादनाना षण्णवति, मिश्राणा सप्तति, अविरताना द्विसप्तति। देवौघो जिननामकर्महीनो ज्योतिष्कभवनपतिव्यन्तरदेवेषु तद्देवीषु च विज्ञेय, जिनकर्मसत्ताकस्य तेषूत्पादाभावेन तत्र तद्बन्धासम्भवात्, तत सामान्यतस्त्र्यधिकशतम्, मिथ्यात्वेऽपि त्र्यधिकशतम्, सासादने षण्णवति, मिश्रे सप्तति, अविरते एकसप्तति ॥ १० ॥

रयण व्व सणकुमाराइ आणयाई उज्जोयचउरहिया।
अपजतिरिय व्व नवसयमिगिंदिपुढविजलतरुविगले ॥ ११ ॥

व्याख्या—सनत्कुमाराद्या सहस्रारान्ता देवा रत्नप्रभादिप्रथमपृथिवीत्रयनारकवद् बन्धमाश्रित्य द्रष्टव्या। तद्यथा—सामान्येनैकाग्रशतम्, मिथ्यादृशा शतम्, सासादनाना षण्णवति, मिश्राणा सप्तति, अविरताना द्विसप्तति। आनताद्या ग्रैवेयकनवकान्ता देवा अपि उद्योतनामतिर्यग्गतितिर्यगानुपूर्वीतिर्यगायु प्रकृतिचतुष्करहिता रत्नप्रभादिनारकवदेव द्रष्टव्या, तत.

सामान्यत सप्तनवतिं ते बध्नन्ति, मिथ्यादृश षण्णवतिम्, सासादना द्विनवतिम्, मिश्रेऽविरते चोद्योतादिचतुष्कस्य प्रागेवापनीतत्वात् सम्पूर्ण एव रत्नप्रभादिभङ्ग ततो मिश्रा सप्ततिं अविरता द्विसप्ततिं बध्नन्ति । मिथ्यात्वादिगुणस्थानत्रयाभावात् पञ्चानुत्तरविमानदेवा एतामेवाविरतगुणस्थानकप्रोक्ता द्विसप्ततिं बध्नन्तीत्यनुक्तमपि ज्ञेयमिति । उक्त देवगतौ बन्धस्वामित्वम्, तद्भणनाच्च गतिबन्धमार्गणा समाप्ता । साम्प्रतमिन्द्रियेषु कायेषु च तदारभ्यते—"अपज्ज" इत्यादि । अपर्याप्ततिर्यग्वद् नवोत्तरशतमेकेन्द्रियपृथ्वीजलतरुविकलेषु द्रष्टव्यम् । अयमर्थ — विंशत्युत्तरशतमध्याद् जिननामाद्येकादशप्रकृतीर्मुक्त्वा शेष नवोत्तरशतमेकेन्द्रिया विकलेन्द्रिया, पृथ्वीजलवनस्पतिकायाश्च सामान्यपदिनो मिथ्यादृशश्च बध्नन्ति ॥ ११ ॥

अथैतेषामेव सासादनगुणस्थाने बन्धमाह—

छनवइ सासणि विणु सुहुमतेर केइ पुण बिंति चउनवइ ।
तिरियनराऊहिँ विणा, तणुपज्जत्तिं न ते जंति ॥ १२ ॥

व्याख्या—प्रागुक्त नवोत्तरशत सूक्ष्मत्रिकादिप्रकृतित्रयोदशक मिथ्यात्व एव व्यवच्छिन्नबन्धमिति कृत्वा तद् विना षण्णवति सासादने एकेन्द्रियविकलेन्द्रियपृथ्वीजलवनस्पतिकायाना भवति । केचित् पुनराचार्या ब्रुवते चतुर्नवतिं तिर्यग्नरायुष्काभ्या विना, यतस्त एकेन्द्रियविकलेन्द्रियादय, सासादना सन्तस्तनुपर्याप्तिं न यान्ति अतस्ते तिर्यग्नरायुरबन्धका । अय भावार्थ — तिर्यग्नरायुषोस्तनुपर्याप्त्या पर्याप्तैरेव बध्यमानत्वात् पूर्वमतेन शरीरपर्याप्त्युत्तरकालमपि सासादनभावस्येष्टत्वाद् आयुर्बन्धोऽभिमत , इह तु प्रथममेव तन्निवृत्तेर्नेष्ट इति षण्णवति । तिर्यग्नरायुषी विना मतान्तरेण चतुर्नवति ॥ १२ ॥

उक्त एकेन्द्रियादीना बन्ध , अथ पञ्चेन्द्रियाणा त्रसकायिकाना च तमाह—

ओहु पणिंदि तसे गइतसे जिणिक्कार नरतिगुच्च विणा ।
मणवयजोगे ओहो, उरले नरभंगु तम्मिस्से ॥ १३ ॥

व्याख्या—'ओघ.' विंशत्युत्तरशतादिलक्षण कर्मस्तवोक्त. पञ्चेन्द्रियेषु त्रसकायिकेषु चावगन्तव्य. । तद्यथा—सामान्यतो विंशत्युत्तरशतम्, मिथ्यात्वे सप्तदशोत्तरशतम्, सासादने एकोत्तरशतम्, मिश्रे चतु.सप्तति॰, अविरते सप्तसप्तति , देशे सप्तषष्टि , प्रमत्ते त्रिषष्टि , अप्रमत्ते एकोनषष्टिरष्टपञ्चाशद्वा, निवृत्तिबादरे प्रथमभागेऽष्टपञ्चाशत्, भागपञ्चके षट्पञ्चाशत्, सप्तमभागे षड्विंशति,, अनिवृत्तिबादरे आद्ये भागे द्वाविंशति , द्वितीये एकविंशति,, तृतीये विंशति , चतुर्थे एकोनविंशति , पञ्चमेऽष्टादश, सूक्ष्मे सप्तदश, शेषगुणस्थानत्रये सातस्यैकस्य बन्ध , अयोगिनि बन्धाभाव । गतित्रसा —तेजोवायुकायास्तेषु जिननामाद्येकादशप्रकृतीर्नरत्रिकमुच्चैर्गोत्र च विना विंशत्युत्तर शत शेष पञ्चोत्तरं शत बन्धे लभ्यते, सासादनादिभावस्तु नैषा सम्भवति । यत उक्तम्—

न हु किंचि लभिज्ज सुहुमतसा ॥[1]

सूक्ष्मत्रसास्तेजोवायुकायजीवा इति । एवमुक्त इन्द्रियेषु कायेषु च बन्ध , सम्प्रति योगेषु

[1] न हि किंचिल्लभन्ते सूक्ष्मत्रसा ॥

तु प्रतिपादयन्नाह—"मणवयजोगे" इत्यादि । सूचकत्वात् सूत्रस्य सत्यादिमनोयोगचतुष्के तत्पूर्वके सत्यादिवाग्योगचतुष्के च ओघबन्धो विंशत्युत्तरशतादिलक्षणः कर्मस्तवोक्तो ज्ञेयः । तत्र सत्यादिस्वरूपं त्विदम्—सत्यं यथा अस्ति जीवः सदसद्रूपो देहमात्रव्यापीत्यादिरूपतया यथावस्थितवस्तुतत्त्वचिन्तनपरम् । सत्यविपरीतं त्वसत्यम् । मिश्रस्वभावं सत्यासत्यम्, यथा—धवखदिरपलाशादिमिश्रेषु बहुष्वशोकवृक्षेष्वशोकवनमेवेदमिति विकल्पनापरम् । तथा यद् न सत्यं नापि मृषा तदसत्यामृषा, इह विप्रतिपत्तौ सत्यां यद् वस्तुप्रतिष्ठासया सर्वज्ञमतानुसारेण विकल्प्यते, यथा अस्ति जीवः सदसद्रूप इत्यादि तत् किल सत्यं परिभाषितम् । यत् पुनर्विप्रतिपत्तौ सत्यां वस्तुप्रतिष्ठासया सर्वज्ञमतोत्तीर्णं विकल्प्यते, यथा नास्ति जीवः एकान्तनित्यो वा इत्यादि तद् असत्यम् । यत् पुनर्वस्तुप्रतिष्ठासामन्तरेण स्वरूपमात्रपर्यालोचनपरम्, यथा हे देवदत्त ! घटमानय, गां देहि मह्यमित्यादिचिन्तनपरं तद् असत्यामृषा, इदं स्वरूपमात्रपर्यालोचनपरत्वाद् न यथोक्तलक्षणं सत्यं भवति नापि मृषेति । इदमपि व्यवहारनयमतेन द्रष्टव्यम्, निश्चयनयमतेन तु विप्रतारणादिबुद्धिपूर्वकमसत्येऽन्तर्भवति, अन्यथा तु सत्ये । "उरले" त्ति मनोवाग्योगपूर्वके औदारिककाययोगे नरभङ्गः "इय चउगुणेसु वि नरा" (गा० ९) इत्यादिना प्रागुक्तस्वरूपः । यथा—ओघे विंशत्युत्तरशतम्, मिथ्यात्वे सप्तदशोत्तरशतम्, सासादने एकोत्तरशतम्, मिश्रे एकोनसप्तति, अविरते एकसप्तति इत्यादि । मनोरहितवाग्योगे विकलेन्द्रियभङ्गः । केवलकाययोगे त्वेकेन्द्रियभङ्गः । "तम्मिस्से" त्ति 'तन्मिश्रे' औदारिकमिश्रयोगे ॥१३॥

सम्प्रति बन्ध उच्यते—

आहारछग विणोहे, चउदससउ मिच्छि जिणपणगहीणं ।
सासणि चउनवइ विणा, नरतिरिआऊ सुहुमतेर ॥ १४ ॥

व्याख्या—विंशत्युत्तरशतमाहारकादिप्रकृतिषट्कं विना शेषं चतुर्दशाभिरुशतमोघबन्धे प्राप्यते । अयं भावार्थः—औदारिकमिश्रं कार्मणेन सह, तच्चापर्याप्तावस्थायां केवलिसमुद्घातावस्थायां वा, उत्पत्तिदेशे हि पूर्वभवादनन्तरमागतो जीवः प्रथमसमये कार्मणेनैव केवलेनाहारयति, ततः परमौदारिकस्याप्यारब्धत्वादौदारिकेण कार्मणमिश्रेण यावद् शरीरस्य निष्पत्तिः, केवलिसमुद्घातावस्थायां द्वितीयषष्ठसप्तमसमयेषु कार्मणेन मिश्रमौदारिकमिति । अपर्याप्तावस्थायां च नाहारकादिषट्कं बध्यते इति तन्निषेधः । केवलिसमुद्घातावस्थायां पुनरेकस्य सातस्यैव बन्धोऽभिधास्यते । एतदेव चतुर्दशोत्तरशतमौदारिकमिश्रकाययोगी मिथ्यात्वे जिननामादिप्रकृतिपञ्चकहीनं शेषं नवोत्तरं शतं बध्नाति । स एव सासादने चतुर्नवतिं बध्नाति, नवोत्तरशतमध्याद् मुक्त्वा नरतिर्यगायुषी सूक्ष्मत्रिकादित्रयोदशप्रकृतीश्च, नरतिर्यगायुषोरपर्याप्तत्वेन सासादने बन्धाभावात्, सूक्ष्मत्रिकादित्रयोदशकस्य तु मिथ्यात्व एव व्यवच्छिन्नबन्धतया च ॥ १४ ॥

अणचउवीसाइ विणा, जिणपणजुय सम्मि जोगिणो सायं ।
विणु तिरिनराउ कम्मे, वि एवमाहारदुगि ओहो ॥ १५ ॥

व्याख्या—प्रागुक्ता चतुर्नवतिरनन्तानुबन्ध्यादिचतुर्विंशतिप्रकृतीर्विना जिननामादिप्रकृति-

पञ्चकयुता च पञ्चसप्ततिस्तामौदारिकमिश्रकाययोगी सम्यक्त्वे बध्नाति । तथा सयोगिन औदारिकमिश्रस्था केवलिसमुद्घाते द्वितीयषष्ठसप्तमसमयेषु सातमेवैकं बध्नन्ति । एवं गुणस्थानकचतुष्क एवौदारिकमिश्रयोगो लभ्यते नान्यत्र। अथ कार्मणयोगादिषु बन्धः प्रतिपाद्यते "विणु तिरि" इत्यादि । यथौदारिकमिश्रे बन्धविधिरोघतो विशेषतश्चोक्त एवं कार्मणयोगेऽपि तिर्यग्नरायुषी विना वाच्यः, कार्मणकाययोगे तिर्यग्नरायुषोर्बन्धाभावात् । कार्मणकाययोगो ह्यपान्तरालगतावुत्पत्तिप्रथमसमये च जीवस्य मिथ्यात्वसासादनाऽविरतगुणस्थानकत्रयोपेतस्य लभ्यते । उक्तं च—

मिच्छे सासाणे वा, अविरयसम्मम्मि अहव गहियम्मि ।
जंति जिया परलोए, सेसिक्कारस गुणे मुत्तुं ॥ (प्रव० गा० १३०६)

तथा सयोगिनः केवलिसमुद्घाते तृतीयचतुर्थपञ्चमसमयेषु चेति गुणस्थानकचतुष्टय एव कार्मणकाययोगो नान्यत्र । ततो विंशत्युत्तरशतमध्याद् आहारकषट्कतिर्यग्नरायुःप्रकृतीर्मुक्त्वा शेषस्य द्वादशोत्तरशतस्य सामान्येन कार्मणकाययोगे बन्धः । तदेव द्वादशोत्तरशतं जिनादिपञ्चकं विना शेषं सप्तोत्तरशतं कार्मणकाययोगे मिथ्यादृशो बध्नन्ति । तदेव सप्तोत्तरशतं सूक्ष्मादित्रयोदश प्रकृतीर्मुक्त्वा शेषा चतुर्नवतिं कार्मणयोगे सासादना बध्नन्ति । चतुर्नवतिरेवाऽनन्तानुबन्ध्यादिचतुर्विंशतिप्रकृतीर्विना जिननामादिप्रकृतिपञ्चकसहिता च पञ्चसप्ततिस्ता कार्मणयोगेऽविरता बध्नन्ति । सयोगिनस्तु कार्मणकाययोगे सातमेवैकं बध्नन्ति । तथाऽऽहारकाययोगश्चतुर्दशपूर्वविद, आहारकमिश्रकाययोगश्च तस्यैवाऽऽहारकशरीरस्य प्रारम्भसमये परित्यागसमये च औदारिकेण सह द्रष्टव्यः । ततः 'आहारकद्विके' आहारकशरीरतन्मिश्रलक्षणे योगद्वये ओघः कर्मस्तवोक्तः प्रमत्तगुणस्थानवर्ती त्रिषष्टिप्रकृतिबन्धरूपः । एतत् काययोगद्वयं हि लब्ध्युपजीवनात् प्रमत्तस्यैव न त्वप्रमत्तस्य ॥ १५ ॥

सुरओहो वेउव्वे, तिरियनराउरहिओ य तम्मिस्से ।
वेयतिगाइम बिय तिय, कसाय नव दु चउ पंच गुणा ॥ १६ ॥

व्याख्या—'सुरौघः' सामान्यदेवबन्धो वैक्रियकाययोगे द्रष्टव्यः । तद्यथा—सामान्येन चतुरग्रशतम्, मिथ्यात्वे त्र्युत्तरशतम्, सासादने षण्णवतिः, मिश्रे सप्ततिः, अविरते द्विसप्ततिः । तथा 'तन्मिश्रे' वैक्रियमिश्रे स एव सुरौघस्तिर्यग्नरायुष्करहितो वाच्यः । इह देवनारका निजायुः षण्मासावशेषा एवायुर्बध्नन्ति, अतो वैक्रियमिश्रयोगे उत्पत्तिप्रथमसमयादनन्तरमपर्याप्तावस्थासम्भविनि आयुर्द्वयबन्धाभावः । तथा चाऽत्रौघे द्व्युत्तरशतम्, मिथ्यात्व एकोत्तरशतम्, सासादने चतुर्नवतिः, अविरत एकसप्ततिः । वैक्रियमिश्रयोगो मिश्रता चाऽस्यात्र कार्मणकायेनैव सह मन्तव्या । अयमपि च मिथ्यात्वसासादनाऽविरतगुणस्थानकत्रय एव लभ्यते नान्यत्र । यद्यपि देशविरतस्याऽम्बडादेः प्रमत्तस्य तु विष्णुकुमारादेर्वैक्रियं कुर्वतो वैक्रियमिश्रवैक्रियसम्भवः श्रूयते परं स्वमावस्य वैक्रिययोगस्याऽत्र गृहीतत्वाद् अथवा स्वल्पत्वाद् अन्यतो वा

१ मिथ्यात्वे सासादने वाऽविरतसम्यक्त्वेऽथवा गृहीते । यान्ति जीवाः परलोकं शेषैकादश गुणस्थानानि मुक्त्वा ॥ २ °यभावम्मि अहिगए अहवा । प्रवचनसारोद्धारे त्वेवं पाठः ॥

कुतोऽपि हेतो पूर्वाचार्यै स नोक्त । एव योगेषु बन्धस्वामित्वमुक्तम् । अथ वेदादिषु तद्भिधित्सु प्रथम गुणस्थानकानि तेष्वाह—"वेयतिग" इत्यादि । 'वेदत्रिके' स्त्रीवेदपुवेदनपुसकवेदरूपे 'नव' नवसङ्ख्याकानि "संजलण" इत्याद्यग्रेतनगाथा(१७)स्थ "पढम" इति पदस्यात्रापि सम्बन्धात् 'प्रथमानि' मिथ्यात्वादीनि अनिवृत्तिबादरान्तानि गुणस्थानकानि भवन्ति, तत पर वेदानामभावात् । एतेषु य कर्मस्तवोक्त सामान्यबन्ध स द्रष्टव्य । तद्यथा—सामान्यतो नानाजीवापेक्षया विंशत्युत्तरशतम्, मिथ्यात्वे सप्तदशोत्तरशतम्, सासादने एकोत्तरशतम्, मिश्रे चतु सप्तति, अविरते सप्तसप्तति, देशविरते सप्तषष्टि, प्रमत्ते त्रिषष्टि, अप्रमत्ते एकोनषष्टिरष्टपञ्चाशद्वा, निवृत्तिबादरे प्रथमभागेऽष्टपञ्चाशत्, भागपञ्चके षट्पञ्चाशत्, सप्तमभागे षड्विंशति, अनिवृत्तिबादरे आद्ये भागे द्वाविंशति, एवमन्यत्रापि गुणस्थानकेषु यथासम्भव कर्मस्तवोक्तो बन्धो वाच्य । कषायद्वारे—आद्येऽनन्तानुबन्धिक्रोधमानमायालोभरूपे कषायचतुष्के द्वे प्रथमे मिथ्यात्वसासादनाख्ये गुणस्थानके तत्र तीर्थकरबन्धस्य सम्यक्त्वप्रत्ययत्वाद् आहारकद्विकबन्धस्य च सयमहेतुत्वाद् अनन्तानुबन्धिषु तदभावात् सामान्येन सप्तदशोत्तरशतम्, मिथ्यात्वे सप्तदशोत्तरशतम्, सासादने एकोत्तरशतम् । द्वितीयेऽप्रत्याख्यानाख्ये कषायचतुष्के चत्वारि प्रथमानि मिथ्यात्वसासादनमिश्राऽविरतनामकानि गुणस्थानकानि, तत्राहारकद्विकबन्धाभावेन सामान्येन अष्टादशोत्तरशतम्, मिथ्यात्वे सप्तदशोत्तरशतम्, सासादने एकोत्तरशतम्, मिश्रे चतु सप्तति, अविरते सप्तसप्तति । तृतीये प्रत्याख्यानावरणाख्ये कषायचतुष्के पञ्च आद्यानि मिथ्यात्वादीनि देशविरतान्तानि गुणस्थानकानि, देशविरते सप्तषष्टि, शेषाणि तथैव ॥ १६ ॥

संजलणतिगे नव दस, लोभे चउ अजइ दु ति अनाणतिगे ।
बारस अचक्खुचक्खुसु, पढमा अहखाइ चरमचउ ॥ १७ ॥

व्याख्या—'सज्वलनत्रिके' संज्वलनक्रोधमानमायारूपे नवाऽऽद्यानि गुणस्थानकानि । तत्र सामान्यबन्धाद् निवृत्तिबादर यावद् वेदत्रिकन्यायेन विंशत्युत्तरशतादिको बन्ध, अनिवृत्तिबादरे तु प्रथमे भागे द्वाविंशति, द्वितीये पुवेदरहिता एकविंशति, तृतीये सज्वलनक्रोधरहिता विंशति, चतुर्थे संज्वलनमानरहिता एकोनविंशति, पञ्चमे सज्वलनमायारहिता अष्टादश । संज्वलनलोभस्य तु सूक्ष्मसम्परायेऽपि भावात् तत्र दश प्रथमानि गुणस्थानानि, तत्र नव तथैव, दशमे तु सूक्ष्मसम्पराये सप्तदश प्रकृतय । सयमद्वारे—'अयते' असयते चत्वारि आद्यानि गुणस्थानानि, तत्र सामान्यतोऽविरतसम्यग्दृष्टेरपि सङ्गृहीतत्वाद् जिननामक्षेपात् सप्तदशोत्तरशत जातमष्टादशोत्तरशतम्, मिथ्यात्वे सप्तदशोत्तरशतम्, सासादने एकोत्तरशतम्, मिश्रे चतु सप्तति, अविरते सप्तसप्तति । ज्ञानद्वारे—'अज्ञानत्रिके' मत्यज्ञानश्रुताज्ञानविभङ्गरूपे द्वे मिथ्यात्वसासादने, त्रीणि वा गुणस्थानकानि मिश्रेण सह । अयमाशय —मिश्रे ज्ञानाशोऽज्ञानाशश्चास्ति, तत्र यदाऽज्ञानाशप्राधान्यविवक्षा तदाऽज्ञानत्रिके गुणस्थानकद्वयमेव, ज्ञानाशप्राधान्यविवक्षाया तु तृतीय मिश्रमपि, तत्रौघे सप्तदशोत्तरशतम्, मिथ्यात्वे सप्तदशोत्तरशतम्, सासादने एकोत्तरशतम् मिश्रे चतु सप्तति । दर्शनद्वारे—चक्षुरचक्षुर्दर्शनयो प्रथमानि

द्वादश गुणस्थानानि, परतस्तु चक्षुरचक्षुषो सतोरप्यनुपयोगित्वेनाव्यापारात् । तत्रौघे विंशत्युत्तरशतम्, मिथ्यात्वे सप्तदशोत्तरशतम्, इत्यादि यावत् क्षीणमोहे सातबन्ध एक । यथाख्याते चरमगुणस्थानकचतुष्कम्, तत्र सामान्यत एक, उपशान्तमोहे एक, क्षीणमोहे एक, सयोगिनि एक, अयोगिनि शून्यम् ॥ १७ ॥

मणनाणि सग जयाई, समइय छेय चउ दुन्नि परिहारे ।
केवलिदुगि दो चरमाऽजयाइ नव मइसुओहिदुगे ॥ १८ ॥

व्याख्या—मन पर्यायज्ञाने सप्त 'यतादीनि' प्रमत्तसयतादीनि क्षीणमोहान्तानि । तत्र सामान्यत आहारकद्विकसहिता त्रिषष्टिर्जाता पञ्चषष्टि, प्रमत्ते त्रिषष्टि इत्यादि यावत् क्षीणमोहे एक केवलसातबन्ध । सामायिके छेदोपस्थापने च चत्वारि यतादीनि गुणस्थानानि, तत्र सामान्यत पञ्चषष्टि, प्रमत्ते त्रिषष्टिरित्यादि यावत्, सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानकादौ तु सूक्ष्मसम्परायादिचारित्रभावात् । तथा 'द्वे गुणस्थानके' प्रमत्ताप्रमत्तरूपे परिहारविशुद्धिकचारित्रे नोत्तराणि, तस्मिंश्चारित्रे वर्तमानस्य श्रेण्यारोहणप्रतिषेधात्, तत्र सामान्यत पञ्चषष्टि, प्रमत्ते त्रिषष्टि, अप्रमत्ते एकोनषष्टिरष्टपञ्चाशद्वा । 'केवलद्विके' केवलज्ञानकेवलदर्शनरूपे 'द्वे चरमे' अन्तिमे सयोगिकेवल्ययोगिकेवल्याख्ये गुणस्थानके भवत, अत्रौघे एकस्य सातस्य बन्ध सयोगिनि च, अयोगिनि शून्यम् । तथा मतिश्रुतयो 'अवधिद्विके' च अवधिज्ञानावधिदर्शनलक्षणे 'अयतादीनि' अविरतसम्यग्दृष्ट्यादीनि क्षीणमोहपर्यवसानानि नव गुणस्थानकानि भवन्ति, सयोग्यादौ केवलोत्पत्त्या मत्यादेरभावात्, तत्रौघतोऽप्रमत्तादेर्मत्यादिमत आहारकद्विकस्यापि बन्धसम्भवाद् एकोनाशीति, विशेषचिन्तायामविरतादिगुणस्थानकेषु कर्मस्तवोक्त सप्तसप्तत्यादिमितो बन्धो द्रष्टव्य ॥ १८ ॥

अड उवसमि चउ वेयगि, खइए इक्कार मिच्छतिगि देसे ।
सुहुमि सठाण तेरस, आहारगि नियनियगुणोहो ॥ १९ ॥

व्याख्या—इह 'अयतादि' इति पद सर्वत्र योज्यते । ततोऽयतादीनि उपशान्तमोहान्तान्यष्टौ गुणस्थानान्यौपशमिकसम्यक्त्वे भवन्ति, तत्र सामान्यत औपशमिकसम्यक्त्वे वर्तमानाना देवमनुजायुषोर्बन्धाभावात् पञ्चसप्तति, अविरतेऽपि पञ्चसप्तति, देशे सुरायुरबन्धात् षट्षष्टि, प्रमत्ते द्वाषष्टि, अप्रमत्ते अष्टपञ्चाशद् इत्यादि यावदुपशान्ते एक । 'वेदके' क्षायोपशमिकापरपर्यायेऽयतादीन्यप्रमत्तान्तानि चत्वारि गुणस्थानकानि, तत्रौघे एकोनाशीति, अविरते सप्तसप्तति, देशे सप्तषष्टि, प्रमत्ते त्रिषष्टि, अप्रमत्ते एकोनषष्टिरष्टपञ्चाशद्वा । अत परमु पशमश्रेणावौपशमिक क्षपकश्रेणौ पुन क्षायिकम्, क्षायोपशमिकसम्यक्त्व तूदीर्णमिथ्यात्वक्षयेऽनुदीर्णमिथ्यात्वोपशमे च भवतीति । उक्त च—

[1]मिच्छत्त जमुइण्ण, त खीण अणुइय तु उवसत ।
मीसीभावपरिणय, वेइज्जत खओवसम ॥ (विशेषा० गा० ५३२)

तथा क्षायिकसम्यक्त्वे अयतादीनि अयोगिकेवलिपर्यवसानानि एकादश गुणस्थानकानि,

१ मिथ्यात्व यद् उदीर्ण तत् क्षीणमनुदित तूपशान्तम् । मिश्रीभावपरिणत वेद्यमान क्षयोपशमम् ॥

तत्रौघे एकोनाशीति , अविरते सप्तसप्तति , देशे सप्तषष्टि इत्यादि यावदयोगिनि शून्यम् । क्षायिकसम्यक्त्वस्वरूप त्विदम्—

खीणे दसणमोहे, तिविहम्मि वि भवनियाणभूयम्मि ।
निप्पच्चवायमउल, सम्मत्त खाइय होइ ॥ (आव० भ० गा० ४८)

तथा 'मिथ्यात्वत्रिके' मिथ्यादृष्टिसास्वादनमिश्रलक्षणे 'देशे' देशविरते 'सूक्ष्मे' सूक्ष्मसम्पराये 'स्वस्थान' निजस्थानम् । अयमर्थ —मिथ्यात्वमार्गणास्थाने मिथ्यादृष्टिगुणस्थानम्, सासादनमार्गणास्थाने सासादनगुणस्थानम्, मिश्रमार्गणास्थाने मिश्रगुणस्थानम्, देशसंयममार्गणास्थाने देशविरतगुणस्थानम्, सूक्ष्मसम्परायसंयमे सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानम् । अत्र च स्वस्वगुणस्थानीयो बन्ध , यथा—मिथ्यात्वे ओघतो विशेषतश्च सप्तदशोत्तरशतम्, एव सासादने एकोत्तरशतम्, मिश्रे चतु सप्तति', देशे सप्तषष्टि , सूक्ष्मे सप्तदश । आहारकद्वारे—त्रयोदश गुणस्थानानि मिथ्यादृष्ट्यादीनि सयोगिकेवल्यन्तानि आहारके जीवे लभ्यन्ते, अयोगी त्वनाहारक । तत्रौघत विंशत्युत्तरशतम्, मिथ्यात्वे सप्तदशोत्तरशतम्, इत्यादि यावत् सयोगिनि सातरूपैका प्रकृतिर्बन्धे भवति । एव वेदादिषु मार्गणास्थानेषु गुणस्थानकान्युपदर्श्य सम्प्रति तेषु बन्धातिदेशमाह—"नियनियगुणोहो" त्ति निजनिजगुणौघ , एतेषु वेदादिषु यानि स्वस्वगुणस्थानानि तेष्वोघ कर्मस्तवोक्तो बन्धे द्रष्टव्य इत्यर्थ । स च यथास्थान भावित एव ॥ १९ ॥

यच्च प्रागुक्तम् "अष्टौपशमिकसम्यक्त्वे गुणस्थानानि" इति तत्र कश्चिद्विशेषमाह—

परमुवसमि वट्टंता, आउ न बधंति तेण अजयगुणे ।
देवमणुआउहीणो, देसाइसु पुण सुराउ विणा ॥ २० ॥

व्याख्या—सर्वत्र वेदादिषु निजनिजगुणौघो वाच्य इत्युक्त परमौपशमिकेऽयं विशेष — औपशमिके वर्तमाना जीवा आयुर्न बध्नन्ति तेनाऽयतगुणस्थानके देवमनुजायुर्भ्यां हीन ओघो वाच्य , नरकतिर्यगायुषो प्रागेव मिथ्यात्वसासादनयोरपनीतत्वाच्च तद्धीनता । तथा 'देशादिषु' देशविरतप्रमत्ताऽप्रमत्तेषु पुनरोघ सुरायुर्विना ज्ञेय । औपशमिकसम्यक्त्व तूपशमश्रेण्यां प्रथमसम्यक्त्वलाभे वा भवति जीवस्य । उक्त च—

उवसामगसेढिगयस्स होइ उवसामिय तु सम्मत्त ।
जो वा अकयतिपुंजो, अखवियमिच्छो लहइ सम्म ॥
(विशेषा० गा० ५२९, २७३५)

ननु क्षायोपशमिकौपशमिकसम्यक्त्वयो क प्रतिविशेष ?, उच्यते—क्षायोपशमिके मिथ्यात्वदलिकवेदन विपाकतो नास्ति प्रदेशत पुनर्विद्यते, औपशमिके तु प्रदेशतोऽपि नास्तीति विशेष ॥ २० ॥ उक्त वेदादिषु बन्धस्वामित्वम् । अथ लेश्याद्वारमुच्यते—

ओहे अट्ठारसय, आहारदुगूण आइलेसतिगे ।
त तित्थोण मिच्छे, साणाइसु सव्वहिं ओहो ॥ २१ ॥

१ क्षीणे दर्शनमोहे त्रिविधेऽपि भवनिदानभूते । निष्प्रत्यपायमतुल सम्यक्त्व क्षायिक भवति ॥ २ उपशमकश्रेणिगतस्य भवति औपशमिक तु सम्यक्त्वम् । यो वाऽकृतत्रिपुञ्जोऽक्षपितमिथ्यात्वो लभते सम्यक्त्वम् ॥

॥ अर्हम् ॥

पूज्यश्रीदेवेन्द्रसूरिविरचितस्वोपज्ञटीकोपेत·

षडशीतिनामा चतुर्थः कर्मग्रन्थः ।

॥ ॐ नमः प्रवचनाय ॥

यद्भाषितार्थलवमाप्य दुरापमाशु, श्रीगौतमप्रभृतय शमिनामधीशा ।
सूक्ष्मार्थसार्थपरमार्थविदो बभूवु, श्रीवर्धमानविभुरस्तु स व शिवाय ॥ १ ॥
निजधर्माचार्येभ्यो, नत्वा निष्कारणैकबन्धुभ्य ।
श्रीषडशीतिकशास्त्र, विवृणोमि यथागम किञ्चित् ॥ २ ॥

तत्राऽऽदावेवाऽभीष्टदेवतास्तुत्यादिप्रतिपादिकामिमा गाथामाह—

नमिय जिण जियमग्गणगुणठाणुवओगजोगलेसाओ ।
बंधऽप्पबहुभावे, संखिज्जाई किमवि वुच्छ ॥ १ ॥

जिनं नत्वा जीवस्थानादि वक्ष्य इति सम्बन्ध । तत्र 'नत्वा' नमस्कृत्य, नमस्कारो हि चतुर्धा—द्रव्यतो नामैको न भावतो यथा पालकादीनाम् १, भावतो नामैको न द्रव्यतो यथाऽनुत्तरोपपातिसुरादीनाम् २, एको द्रव्यतोऽपि भावतोऽपि यथा शाम्बकुमारप्रभृतीनाम् ३, एको न द्रव्यतो नापि भावतो यथा कपिलादीनाम् ४ । ततो द्रव्यभावरूपेण भावनमस्कारेण नमस्कृत्य । कम् ? इत्याह—'जिन' रागद्वेषमोहादिदुर्वारवैरिवारजेतारं वीतरागम्, परमार्हन्त्यमहिमालङ्कृत तीर्थकरमित्यर्थ । अनेन परमाभीष्टदेवतानमस्कारेण ऐकान्तिकमात्यन्तिकं भावमङ्गलमाह, तेन च शास्त्रस्याऽऽपरिसमाप्तेर्निष्प्रत्यूहता भवतीति । क्त्वाप्रत्ययस्य चोत्तरक्रिया सापेक्षत्वाद् उत्तरक्रियामाह—जीवमार्गणागुणस्थानादि वक्ष्ये । इह स्थानशब्दस्य प्रत्येक योगाद् जीवस्थानानि, मार्गणास्थानानि, गुणस्थानानि । तत्र जीवन्ति—यथायोग्य प्राणान् धारयन्तीति जीवा प्राणिन शरीरभृत इति पर्याया, तेषा जीवाना स्थानानि—सूक्ष्मापर्याप्तैकेन्द्रियत्वादयोऽवान्तरविशेषा, तिष्ठन्ति जीवा एषु इति कृत्वा जीवस्थानानि १। मार्गण—जीवादीना पदार्थानामन्वेषण मार्गणा, तस्या स्थानानि—आश्रया मार्गणास्थानानि वक्ष्यमाणानि गत्यादीनि २। गुणा—ज्ञानदर्शनचारित्ररूपा जीवस्वभावविशेषा, स्थान—पुनरेतेषा शुद्ध्यशुद्धिप्रकर्षापकर्षकृत स्वरूपभेद, तिष्ठन्ति गुणा अस्मिन्निति कृत्वा, गुणाना स्थानानि गुणस्थानानि—परमपदप्रासादशिखरारोहणसोपानकल्पानि स्वोपज्ञकर्मस्तवटीकायां सविस्तरमभिहितानि इहैव वा किञ्चिद्वक्ष्यमाणानि मिथ्यादृष्टिप्रभृतीनि चतुर्दश ३। "उवओग" त्ति उपयोजनमुपयोग —बोधरूपो जीवव्यापार, भावे घञ्, यद्वा उपयुज्यते—वस्तुपरिच्छेद प्रति

व्यापार्यत इत्युपयोग , कर्मणि घञ्, यदि वा उपयुज्यते वस्तुपरिच्छेद प्रति जीवोऽनेनेत्युपयोग , "पुनाम्नि घ" (सि० ५–३–१३०) इति करणे घप्रत्यय , सर्वत्र जीवस्वतत्त्वभूतोऽवबोध एवोपयोगो मन्तव्य ४। "योग" त्ति योजन योग –जीवस्य वीर्यं परिस्पन्द इति यावत्, यदि वा युज्यते–धावनवल्गनादिक्रियासु व्यापार्यत इति योग , कर्मणि घञ्, यद्वा युज्यते–सम्बध्यते धावनवल्गनादिक्रियासु जीवोऽनेनेति "पुनाम्नि०" (सि० ५–३–१३०) इति करणे घप्रत्यय , स च मनोवाक्कायलक्षणसहकारिकारणभेदात् त्रिविधो वक्ष्यमाणस्वरूप ५। "लेसाउ" त्ति लिश्यते–श्लिष्यते कर्मणा सहात्माऽनयेति लेश्या, कृष्णादिद्रव्यसाचिव्यादात्मन शुभाशुभपरिणामविशेष । यदुक्तम्—

कृष्णादिद्रव्यसाचिव्यात्, परिणामो य आत्मन ।
स्फटिकस्येव तत्रायं, लेश्याशब्द प्रवर्तते ॥ इति ।

सा च षोढा—कृष्णलेश्या नीललेश्या कापोतलेश्या तेजोलेश्या पद्मलेश्या शुक्लेश्या । आसां च स्वरूप जम्बूफलखादकषट्पुरुषीदृष्टान्तेन ग्रामघातनप्रचलितचौरषट्कदृष्टान्तेन वा एवमवसेयम्—

जह जंबुपायवेगो, सुपक्कफलभरियनमियसाहग्गो ।
दिट्ठो छहिँ पुरिसेहिँ, ते बिंती जंबु भक्खेमो ॥
किह पुण ते[1] बिंतेगो, आरुहणे हुज्ज जीयसंदेहो ।
तो छिंदिऊण मूलाउ पाडिउ ताई भक्खेमो ॥
बीयाऽऽह इइहेण, किं छिन्नेण तरुणा उ अम्ह[2] ति ।
साहा महल्ल छिंदह, तइओ बेई पसाहा उ ॥
गुच्छे चउत्थओ पुण, पचमओ बेइ गिण्हह फलाइ ।
छट्ठो उ बेइ पडिया, एए च्चिय खायहा घितु ॥
दिट्ठतस्सोवणओ, जो बेइ तरु तु छिंद मूलाओ ।
सो वट्टइ किण्हाए, साह महल्लाउ नीलाए ॥
हवइ पसाहा काऊ, गुच्छा तेऊ फलाइँ पम्हाए ।
पडियाइँ सुक्कलेसा, अहवा अन्न इमाऽऽहरण ॥
चोरा गामवहत्थ, विणिग्गया एगु बेइ घाएह ।

१ यथा जम्बूपादप एक सुपक्वफलभरितनतशाखाग्र । दृष्ट षड्भि पुरुषैस्ते ब्रुवते जम्बू भक्षयाम ॥ कथ पुनस्ता [भक्षयाम][2] ब्रवीत्येक आरोहणे भवेद् जीवस्य देह । ततश्छित्त्वा मूलत पातयित्वा ता भक्षयाम ॥ द्वितीय आह एतावता किं छिन्नेन तरुणा तु अस्माकम्[3] इति । शाखा महतीश्छिन्त तृतीयो ब्रवीति प्रशाखास्तु ॥ गुच्छांश्चतुर्थक पुन पचमो ब्रवीति गृहीत फलानि । षष्ठस्तु ब्रवीति पतिता एता एव खादत गृहीत्वा ॥ दृष्टान्तस्योपनयो यो ब्रवीति तरु तु छिन्त मूलत । स वर्तते कृष्णायां शाखा महतीर्नीलायाम् ॥ भवति प्रशाखा कापोती गुच्छास्तैजसी फलानि पद्मा । पतितानि शुक्लेश्या अथवाऽन्यदिदमाहरणम् ॥ चौरा ग्रामवधार्थं विनिर्गता एको ब्रवीति घातयत ।

जं पिच्छइ तं सव्वं, दुपयं च चउप्पयं वा वि ॥
बीओ माणुस पुरिसे, य तईओ साउहे चउत्थो उ ।
पंचमओ जुज्झंते, छट्ठो पुण तत्थिमं भणइ ॥
इक्कं ता हरह धणं, बीयं मारेह मा कुणह एयं ।
केवल हरह धणं ती, उवसंहारो इमो तेसिं ॥
सव्वे मारेह त्ती, वट्टइ सो किण्हलेसपरिणामे ।
एवं कमेण सेसा, जा चरमो सुक्कलेसाए ॥

अस्यैव दृष्टान्तद्वयस्य सङ्ग्रहगाथा —

मूलं साह पसाहा, गुच्छ फले छिंद पडियभक्खणया ।
सव्वं माणुस पुरिसा, साउह जुज्झंत धणहरणा ॥

आसु च लेश्यासु यो जीवो यस्यां लेश्यायां वर्तते स प्रदर्श्यते—

वेरेणं निरणुकंपो, अइचंडो दुम्मुहो खरो फरुसो ।
किण्हाइ अणज्झप्पो, वहकरणरओ य तक्कालं ॥
मायाडम्भे कुसलो, उक्कोडालुद्ध चवलचलचित्तो ।
मेहुणतिव्वाभिरओ, अलियपलावी य नीलाए ॥
मूढो आरंभपिओ, पावं न गणेइ सव्वकज्जेसु ।
न गणेइ हाणिवुड्ढी, कोहजुओ काउलेसाए ॥
दक्खो संवरसीलो, रिजुभावो दाणसीलगुणजुत्तो ।
धम्मम्मि होइ बुद्धी, अरूसणो तेउलेसाए ॥
सच्चणुकंपो य थिरो, दाणं खलु देइ सव्वजीवाणं ।
अइकुसलबुद्धिमंतो, धिइमंतो पम्हलेसाए ॥
धम्मम्मि होइ बुद्धी, पावं वज्जेइ सव्वकज्जेसु ।
आरंभेसु न रज्जइ, अपक्खवाई य सुक्काए ॥ ६ ।

यं प्रेक्षते तं सर्वं द्विपदं च चतुष्पदं वाऽपि ॥ द्वितीयो मनुष्यान् पुरुषांश्च तृतीयः सायुधांश्चतुर्थस्तु । पञ्चमको युध्यमानान् षष्ठः पुनस्तत्रेदं भणति ॥ एकं तावद् हरथ धनं द्वितीयं मारयथ मा कुरुतैवम् । केवलं हरत धनं उपसंहारोऽयं तेषाम् ॥ सर्वान् मारयतेति वर्तते स कृष्णलेश्यापरिणामे । एवं क्रमेण शेषा यावत् चरमः शुक्लेश्यायाम् ॥

१ मूलं शाखां प्रशाखां गुच्छान् फलानि छिन्त पतितभक्षणता । सर्वं मनुष्यान् पुरुषान् सायुधान् युध्यमानान् [हन्त] धनहरणम् ॥ २ वैरेण निरनुकम्पः अतिचण्डः दुर्मुखः खरः परुषः । कृष्णायामनध्यात्मः वधकरणरतश्च तत्कालम् ॥ मायादम्भे कुशलः उत्कोचालुब्धश्चपलचलचित्तः । मैथुनतीव्राभिरतः अलीकप्रलापी च नीलायाम् ॥ मूढः आरम्भप्रियः पापं न गणयति सर्वकार्येषु । न गणयति हानिवृद्धी क्रोधयुतः कापोतलेश्यायाम् ॥ दक्षः संवरशीलः ऋजुभावो दानशीलगुणयुक्तः । धर्मे भवति बुद्धिः अरोषणः तेजोलेश्यायाम् ॥ सत्त्वानुकम्पकश्च स्थिरः दानं खलु ददाति सर्वजीवेभ्यः । अतिकुशलबुद्धिमान् धृतिमान् पद्मलेश्यायाम् ॥ धर्मे भवति बुद्धिः पापं वर्जयति सर्वकार्येषु । आरम्भेषु न रजति अपक्षपाती च शुक्लायाम् ॥

ततो जीवस्थानानि च मार्गणास्थानानि च गुणस्थानानि च उपयोगाश्च योगाश्च लेश्याश्चेति द्वन्द्वे द्वितीया शस्। "बंध" त्ति मिथ्यात्वादिभिर्बन्धहेतुभिरञ्जनचूर्णपूर्णसमुद्गकवद् निरन्तर पुद्गलनिचिते लोके कर्मयोग्यवर्गणापुद्गलैरात्मन क्षीरनीरवद् वह्न्यय पिण्डवद्वा अन्योन्यानुगमाभेदात्मक सम्बन्धो बन्ध १। उपलक्षणत्वाद् उदयोदीरणासत्ताना परिग्रह । तत्र तेषामेव कर्मपुद्गलाना यथास्वस्थितिबद्धानामपवर्तनादिकरणकृते स्वाभाविके वा स्थित्यपचये सत्युदयसमयप्राप्ताना विपाकवेदनमुदय २। तेषामेव कर्मपुद्गलानामकालप्राप्ताना जीवसामर्थ्यविशेषाद् उदयावलिकाया प्रवेशनमुदीरणा ३। तेषामेव कर्मपुद्गलाना बन्धसङ्क्रमाभ्या लब्धात्मलाभाना निर्जरणसङ्क्रमकृतस्वरूपप्रच्युत्यभावे सति सद्भाव सत्ता ४। यद्वा बन्ध इति पदैकदेशेऽपि 'भामा सत्यभामा' इति न्यायेन पदप्रयोगदर्शनाद् बन्धहेतवो मिथ्यात्वाऽविरतिकषाययोगरूपा वक्ष्यमाणा गृह्यन्ते ७। "अप्पबहू" त्ति भावप्रधानत्वान्निर्देशस्य अल्पबहुत्व गत्यादिरूपमार्गणास्थानादीना परस्पर स्तोकभूयस्त्वम् ८। "भाव" त्ति जीवाजीवाना तेन तेन रूपेण भवनानि—परिणमनानि भावा औपशमिकादय ९। ततो बन्धश्च अल्पबहुत्व च भावाश्चेति द्वन्द्वे द्वितीयाबहुवचन शस्। सूत्रे च "अप्पबहू" इत्यत्र दीर्घत्व "दीर्घह्रस्वौ मिथो वृत्तौ" (सि० ८–१–४) इति प्राकृतसूत्रेण। "सखिज्जाइ" त्ति सङ्ख्यायते—चतुष्पल्यादिप्ररूपणया परिमीयत इति सङ्ख्येयम्, आदिशब्दादसङ्ख्येयानन्तकपरिग्रह १०। तत एव जीवस्थानादिकमनन्तकपर्यवसान द्वारकलापमत्र वक्ष्य इत्यनेनाभिधेयमाह । कथ वक्ष्ये ? इत्याह—"किमवि" त्ति किमपि किञ्चित्—स्वल्प न विस्तरवत्, दु षमानुभावेनापचीयमानमेधायुर्बलादिगुणानामैदयुगीनजनाना विस्तराभिधाने सत्युपकारासम्भवात्, तदुपकारार्थ चैष शास्त्रारम्भप्रयास । एतेन सङ्क्षिप्तरुचिसत्त्वानाश्रित्य प्रयोजनमाचष्टे। सम्बन्धस्त्वर्थापत्तिगम्य, स चोपायोपेयलक्षण साध्यसाधनलक्षणो गुरुपर्वक्रमलक्षणो वा स्वयमभ्यूह्य ।

इह च मार्गणास्थानगुणस्थानादय सर्वे पदार्था न जीवपदार्थमन्तरेण विचारयितु शक्यन्त इति प्रथम जीवस्थानग्रहणम् १। जीवाश्च प्रपञ्चतो निरूप्यमाणा गत्यादिमार्गणास्थानैरेव निरूपयितु शक्यन्त इति तदनन्तर मार्गणास्थानग्रहणम् २। तेषु च मार्गणास्थानेषु वर्तमाना जीवा न कदाचिदपि मिथ्यादृष्ट्याद्यन्यतमगुणस्थानकविकला भवन्तीति ज्ञापनाय मार्गणास्थानकानन्तर गुणस्थानकग्रहणम् ३। अमूनि च गुणस्थानकानि परिणामशुद्ध्यशुद्धिप्रकर्षापकर्षरूपाण्युपयोगवतामेवोपपद्यन्ते नान्येषामाकाशादीनाम्, तेषा ज्ञानादिरूपपरिणामरहितत्वादिति प्रतिपत्त्यर्थ गुणस्थानकग्रहणानन्तरमुपयोगग्रहणम् ४। उपयोगवन्तश्च मनोवाक्कायचेष्टासु वर्तमाना नियमत कर्मसम्बन्धभाजो भवन्ति। तथा चागम —

–जाव ण एस जीवे एयइ वेयइ चलइ फदइ घट्टइ खुब्भइ त त भाव परिणमइ ताव ण अट्ठविहबधए वा सत्तविहबधए वा छव्विहबधए वा एगविहबधए वा नो ण अबधए।

इति ज्ञापनार्थमुपयोगग्रहणानन्तरं योगग्रहणम् ५। योगवशाच्चोपात्तस्यापि कर्मणो यावद्

---

१ यावत् खलु एष जीव एजते व्येजते चलति स्पन्दते घट्टते क्षुभ्यति त त भाव परिणमते तावदष्टविधबन्धको वा सप्तविधबन्धको वा षड्विधबन्धको वा एकविधबन्धको वा न खल्वबन्धक ॥

न कृष्णाद्यन्यतमलेश्यापरिणामो जायते तावद् न तस्य स्थितिपाकविशेषो भवति, "स्थितिपाकविशेषस्तस्य भवति लेश्याविशेषेण" इति वचनप्रामाण्यात्, ततो योगवशादुपात्तस्य कर्मणो लेश्याविशेषत' स्थितिपाकविशेषो भवतीति प्रतिपत्तये योगानन्तर लेश्याग्रहणम् ६ । लेश्यावन्तश्च यथायोग्यैर्बन्धहेतुभि कर्मबन्धोदयोदीरणासत्ता प्रकुर्वन्तीति ज्ञापनाय लेश्यानन्तर बन्धग्रहणम् ७ । बन्धोदयादियुक्ताश्च जीवा मार्गणास्थानाद्याश्रित्य नियमत परस्परमल्पे वा भवेयुर्बहवो वेति निवेदनार्थं बन्धानन्तरमल्पबहुत्वग्रहणम् ८ । ते च जीवा मार्गणास्थानादिष्वल्पे वा बहवो वा भवन्तोऽवश्य षण्णामौपशमिकादिभावाना केषुचिद् भावेषु वर्तन्त इति प्रकटनार्थमल्पबहुत्वानन्तर भावग्रहणम् ९ । औपशमिकादिभाववर्ता च जीवानामल्पबहुत्व नियमत' सङ्ख्येयकेन असङ्ख्येयकेन अनन्तकेन वा निरूपणीयमिति भावग्रहणानन्तर सङ्ख्येयकादिग्रहणम् १० इति ।

यद्यपि चेह सामान्येनोक्त "जीवस्थानादि वक्ष्ये" तथाप्येव विशेषतो द्रष्टव्यम्—जीवस्थानकेषु गुणस्थानकयोगोपयोगलेश्याकर्मबन्धोदयोदीरणासत्ता वक्ष्ये, मार्गणास्थानकेषु पुनर्जीवस्थानकगुणस्थानकयोगोपयोगलेश्याऽल्पबहुत्वानि, गुणस्थानकेषु च जीवस्थानकयोगोपयोगलेश्याबन्धहेतुबन्धोदयोदीरणासत्ताऽल्पबहुत्वानि । तत्र गाथा —

चउदसजियठाणेसु, चउदस गुणठाणगाणि १ जोगा य २ ।
उवयोग ३ लेस ४ बधु ५ दउ ६ दीरणा ७ संत ८ अट्ठ पए ॥
चउदसमग्गणठाणेसु, मूलपएसु बिसट्ठि इयरेसु ।
जिय १ गुण २ जोगु ३ वओगा ४, लेस ५ ऽप्पबहु ६ च छट्ठाणा ॥
चउदसगुणठाणेसु, जिय १ जोगु २ वओग ३ लेस ४ बघा ५ य ।
बधु ६ दयु ७ दीरणाओ ८, संत ९ ऽप्पबहु १० च दस ठाणा ॥ इति ॥ २ ॥

तत्र यथोद्देश निर्देश इति न्यायात् प्रथम तावद् जीवस्थानानि निरूपयन्नाह—

इह सुहुमबायरेगिंदिबितिचउअसन्निसन्निपर्चिदी ।
अपजत्ता पजत्ता, कमेण चउदस जियट्ठाणा ॥ २ ॥

'इह' अस्मिन् जगति अनेन क्रमेण चतुर्दश जीवस्थानानि मासिरूपितशब्दार्थानि भवन्ति । केन क्रमेण ? इति चेद्, इत्याह—सूक्ष्मबादरैकेन्द्रियद्वित्रिचतुरसंज्ञिसंज्ञिपञ्चेन्द्रिया, एते च सर्वेऽपि प्रत्येकं पर्याप्तका अपर्याप्तकाश्चेति । तत्र एक स्पर्शनलक्षणमिन्द्रिय येषां त एकेन्द्रिया पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतय, ते च प्रत्येकं द्वेधा—सूक्ष्मा बादराश्च । सूक्ष्मनामकर्मोदयात् सूक्ष्मा सकललोकव्यापिन, बादरनामकर्मोदयाद् बादरा ते च लोकप्रतिनियतदेशवर्तिन । द्वित्रिचतुरसंज्ञिसंज्ञिपञ्चेन्द्रिया इति, इन्द्रियशब्दस्य प्रत्येक योगाद् द्वीन्द्रिया त्रीन्द्रिया चतुरिन्द्रिया असंज्ञिसंज्ञिभेदभिन्नाश्च पञ्चेन्द्रिया । तत्र द्वे स्पर्शनरसनलक्षणे

---

१ चतुर्दशजीवस्थानेषु चतुर्दश गुणस्थानकानि योगाश्च । उपयोगलेश्याबन्धोदयोदीरणासत्ता अष्ट पदानि ॥ चतुर्दशमार्गणास्थानेषु मूलपदेषु द्विषष्टिरितरेषु । जीवगुणयोगोपयोगा लेश्याऽल्पबहुत्वं च षड् स्थानानि ॥ चतुर्दशगुणस्थानेषु जीवयोगोपयोगलेश्याबन्धाश्च । बन्धोदयोदीरणा सत्ताऽल्पबहुत्व च दश स्थानानि ॥

इन्द्रिये येषा ते द्वीन्द्रिया कृमिपूतरकचन्दनकशङ्खकपर्दजलौकाप्रभृतय । त्रीणि स्पर्शनरसनघ्राणरूपाणि इन्द्रियाणि येषा ते त्रीन्द्रिया कुन्थुमत्कुणयूकागर्दभेन्द्रगोपकमत्कोटकादय । चत्वारि स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुर्लक्षणानि इन्द्रियाणि येषा ते चतुरिन्द्रिया भ्रमरमक्षिकामशकवृश्चिकादय । पञ्च स्पर्शनरसनघ्राणचक्षु श्रोत्रलक्षणानि इन्द्रियाणि येषा ते पञ्चेन्द्रिया मत्स्यमकरेभकलभसारसहसनरसुरनारकादय', ते च द्विविधा —संज्ञिनोऽसंज्ञिनश्च । तत्र संज्ञान संज्ञा–भूतभवद्भाविभावस्वभावपर्यालोचनम्, "उपसर्गादात " (सि० ५–३–११०) इत्यङ्प्रत्यय', सा विद्यते येषा ते संज्ञिन –विशिष्टस्मरणादिरूपमनोविज्ञानभाज इति यावत्, तद्विपरीता असंज्ञिन –विशिष्टस्मरणादिरूपमनोविज्ञानविकला इत्यर्थ । एते च सूक्ष्मैकेन्द्रियादय प्रत्येक द्विधा—पर्याप्तका अपर्याप्तकाश्च । पर्याप्तिर्नाम–पुद्गलोपचयज पुद्गलग्रहणपरिणमनहेतु शक्तिविशेष, सा च विषयभेदात् षोढा—आहारपर्याप्ति १ शरीरपर्याप्ति २ इन्द्रियपर्याप्ति' ३ उच्छ्वासपर्याप्ति ४ भाषापर्याप्ति ५ मन पर्याप्ति ६ चेति । तत्र यया बाह्यमाहारमादाय खलरसरूपतया परिणमयति सा आहारपर्याप्ति १ । यया रसीभूतमाहारं रसासृग्मांसमेदोऽस्थिमज्जाशुक्रलक्षणसप्तधातुरूपतया परिणमयति सा शरीरपर्याप्ति २ । यया धातुरूपतया परिणमितमाहारमिन्द्रियरूपतया परिणमयति सा इन्द्रियपर्याप्ति ३ । यया पुनरुच्छ्वासप्रायोग्यवर्गणादलिकमादाय उच्छ्वासरूपतया परिणमय्याऽऽलम्ब्य च मुञ्चति सा उच्छ्वासपर्याप्ति ४ । यया तु भाषाप्रायोग्यवर्गणाद्रव्य गृहीत्वा भाषात्वेन परिणमय्याऽऽलम्ब्य च मुञ्चति सा भाषापर्याप्ति ५ । यया पुनर्मनोयोग्यवर्गणादलिक गृहीत्वा मनस्त्वेन परिणमय्याऽऽलम्ब्य च मुञ्चति सा मन पर्याप्ति ६ । एताश्च यथाक्रममेकेन्द्रियाणा द्वीन्द्रियादीना संज्ञिना च चतु पञ्चषट्संख्या भवन्ति । यदागमे—

आहारसरीरिंदिय, पज्जत्ती आणपाणुभासमणे ।
चत्तारि पच छ प्पि य, एगिंदियविगलसन्नीण ॥

पर्याप्तयो विद्यन्ते येषा ते पर्याप्ता, "अभ्रादिभ्य " (सि० ७–२–४६) इति मत्वर्थीय अप्रत्यय, स्वार्थिककप्रत्ययोपादानात् पर्याप्तका । ये पुन स्वयोग्यपर्याप्तिपरिसमाप्तिविकलास्तेऽपर्याप्तका, ते च द्विधा लब्ध्या करणैश्च । तत्र येऽपर्याप्तका एव सन्तो म्रियन्ते न पुन स्वयोग्यपर्याप्ती' सर्वा अपि समर्थयन्ते ते लब्ध्यपर्याप्तका, ये पुन करणानि–शरीरेन्द्रियादीनि न तावद् निर्वर्तयन्ति अथ चावश्य पुरस्ताद् निर्वर्तयिष्यन्ति ते करणापर्याप्तका' । इह चैवमागम —

लब्ध्यपर्याप्तका अपि नियमादाहारशरीरेन्द्रियपर्याप्तिपरिसमाप्तावेव म्रियन्ते नार्वाग्, यस्मादागामिभवायुर्बद्ध्वा म्रियन्ते सर्व एव देहिन, तच्चाऽऽहारशरीरेन्द्रियपर्याप्तिपर्याप्तानामेव बध्यते । इति ॥ २ ॥

तदेवं निरूपितानि जीवस्थानानि । अथैतेष्वेव जीवस्थानेषु गुणस्थानानि प्रचिकटयिषुराह—

१ आहारशरीरेन्द्रियाणि पर्याप्तय आनप्राणभाषामनांसि । अतस्र पञ्च षडपि च एकेन्द्रियविकलसंज्ञिनाम् ॥

थायरअसन्निविगले, अपज्जि पढमबिय सन्निअपजत्ते ।
अजयजुय सन्निपज्जे, सव्वगुणा मिच्छ सेसेसु ॥ ३ ॥

इह चतुर्दश गुणस्थानानि भवन्ति । तद्यथा—मिथ्यादृष्टिगुणस्थान १ सासादनसम्यग्दृष्टिगुणस्थान २ सम्यग्मिथ्यादृष्टिगुणस्थानम् ३ अविरतसम्यग्दृष्टिगुणस्थान ४ देशविरतिगुणस्थान ५ प्रमत्तसंयतगुणस्थानम् ६ अप्रमत्तसंयतगुणस्थानम् ७ अपूर्वकरणगुणस्थानम् ८ अनिवृत्तिबादरसम्परायगुणस्थान ९ सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानम् १० उपशान्तकषायवीतरागच्छद्मस्थगुणस्थान ११ क्षीणकषायवीतरागच्छद्मस्थगुणस्थान १२ सयोगिकेवलिगुणस्थानम् १३ अयोगिकेवलिगुणस्थानम् १४ । एतेषामर्थलेशोऽयम्—

[1]जीवाइपयत्थेसु, जिणोवइट्ठेसु जा असद्दहणा ।
सद्दहणा वि य मिच्छा, विवरीयपरूवणा जा य ॥
संसयकरण ज पि य, ज तेसु अणायरो पयत्थेसु ।
त पचविह मिच्छ, तद्दिट्ठी मिच्छदिट्ठी य ॥
उवसमअद्धाएँ ठिओ, मिच्छमपत्तो तमेव गतुमणो ।
सम्म आसायतो, सासायण मो मुणेयव्वो ॥
जह गुडदहीणि विसमाइभावसहियाणि हुति मीसाणि ।
भुजतस्स तहोभयदिट्ठीए मीसदिट्ठीओ ॥
तिविहे वि हु सम्मत्ते, थोवा वि न विरइ जस्स कम्मवसा ।
सो अविरउ त्ति भन्नइ, देसे पुण देसविरईओ ॥
विगहाकसायनिद्दासद्दाइरओ भवे पमत्तु त्ति ।
पचसमिओ तिगुत्तो, अपमत्तजई मुणेयव्वो ॥
अप्पुव्व अप्पुव्व, जहुत्तर जो करेइ ठिइकड ।
रसकड तग्घाय, सो होइ अपुव्वकरणु त्ति ॥
विणिवट्टति विसुद्धिं, समगपइट्ठा वि जम्मि अन्नुन्न ।
तत्तो नियट्टिठाण, विवरीयमओ वि अनियट्टी ॥
थूलाण लोहखडाण वेयगो बायरो मुणेयव्वो ।
सुहुमाण होइ सुहुमो, उवसतेहि तु उवसंतो ॥

---

[1] जीवादिपदार्थेषु जिनोपदिष्टेषु याऽश्रद्धा । श्रद्धाऽपि च मिथ्या विपरीतप्ररूपणा या च ॥ संशयकरणं यदपि च यस्तेष्वनादर पदार्थेषु । तत्पञ्चविध मिथ्यात्व तद्दृष्टि मिथ्यादृष्टिश्च ॥ उपशमाध्वनि स्थितो मिथ्यात्वमप्राप्तस्तमेव गन्तुमना । सम्यक्त्व आस्वादयन् सास्वादनो ज्ञातव्य ॥ यथा गुडदधिनी विषमादिभावसहिते भवतो मिश्रे । भुञ्जानस्य तथोभयदृष्ट्या मिश्रदृष्टिक ॥ त्रिविधेऽपि हि सम्यक्त्वे स्तोकाऽपि न विरति यस्य कर्मवशात् । सोऽविरत इति भण्यते देश पुनर्देशविरते ॥ विकथाकषायनिद्राशब्दादिरतो भवेत् प्रमत्त इति । पञ्चसमितस्त्रिगुप्तोऽप्रमत्तयतिर्ज्ञातव्य ॥ अपूर्वमपूर्व यथोत्तरं य करोति स्थितिखण्ड । रसखण्डम् तद्घात स भवत्यपूर्वकरण इति ॥ विनिवर्तन्ते विशुद्धिं समकप्रविष्टा अपि यस्मिन्नन्योन्यम् । ततो निवृत्तिस्थान विपरीतमतोऽप्यनिवृत्ति ॥ स्थूलानां लोभखण्डानां वेदको बादरो ज्ञातव्य । सूक्ष्माणां भवति सूक्ष्म उपशान्तै तु उपशान्तः ॥

खीणम्मि मोहणिज्जे, खीणकसाओ सजोग जोगि त्ति (गत्ति) ।
होइ पउत्ता य तओ, अपउत्ता होइ हु अजोगी ॥
अविरयसासणमिच्छा, परभविया न उण सेसगुणठाणा ।
मिच्छस्स तिन्नि भगा, छावलिय होइ सासाण ॥
तित्तीसयर चउत्थ, पुव्वाण कोडि ऊण तेरसम ।
लहुपचक्खर चरिम, अतमुहु सेसगुणठाणा ॥

ततो बादराश्च–बादरैकेन्द्रिया पृथिव्यम्बुवनस्पतिलक्षणा असञ्ज्ञी च–विशिष्टस्मरणादि-रूपमनोविज्ञानविकल. विकलाश्च–विकलेन्द्रिया द्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रिया बादरासञ्ज्ञि-विकल तस्मिन् बादरासंज्ञिविकले । किंविशिष्टे? "अपज्जि" त्ति अपर्याप्ते, कोऽर्थ? अपर्याप्तबादरैकेन्द्रियेषु पृथिव्यम्बुवनस्पतिषु, तथा अपर्याप्तेऽसञ्ज्ञिनि, तथा विकलेषु द्वीन्द्रि-यत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियेष्वपर्याप्तेषु । किम्? इत्याह—"पढमबिय" त्ति इह "सव्वगुणा" इति पदाद् गुणशब्दस्याकर्षणम्, तत. प्रथम–मिथ्यादृष्टिगुणस्थान द्वितीय–सासादनगुणस्थान भवति । अथ तेजोवायुवर्जन किमर्थम्? इति चेद्, उच्यते—तेजोवायूना मध्ये सम्य-क्त्वलेशवतामपि उत्पादाभावात् सम्यक्त्व चासादयता सासादनभावाभ्युपगमात् ।

नन्वेकेन्द्रियाणामागमे सासादनभावो नेष्यते, "उभयाभावो पुढवाइएसु सम्मत्तलद्धीए" इति परममुनिप्रणीतवचनप्रामाण्यात्, अत एवागमे एकेन्द्रिया अज्ञानिन एवोक्ता, द्वीन्द्रि-यादयश्च केचिदपर्याप्तावस्थाया सासादनभावाभ्युपगमाद् ज्ञानिन उक्ता केचिच्च तदभावाद् अज्ञानिन, यदि पुनरेकेन्द्रियाणामपि सासादनभाव स्यात् तर्हि तेऽपि द्वीन्द्रियादिवद् उभ-यथाऽप्युच्येरन्, न चोच्यन्ते, यदुक्तम्—

एगेंदिया ण भते! किं नाणी अन्नाणी? गोयमा! नो नाणी नियमा अन्नाणी । तथा—बेइंदिया ण भते! किं नाणी अन्नाणी? गोयमा! नाणी वि अन्नाणी वि । इत्यादि ।

तत् कथमिहापर्याप्तबादरैकेन्द्रियेषु पृथिव्यम्बुवनस्पतिलक्षणेषु सासादनगुणस्थानकभाव उक्त?, सत्यमेतत्, किन्तु मा त्वरिष्ठा, सर्वमेतदग्रे प्रतिविधास्याम इति ।

"सन्निअपजत्ते अजयजुय" त्ति । सञ्ज्ञिन्यपर्याप्ते तदेव पूर्वोक्त मिथ्यादृष्टिसासादनलक्षण गुणस्थानकद्वयमयतयुत भवति । यमनं यत–विरतिरित्यर्थ, न विद्यते यत यस्य सोऽयतोऽ-विरतसम्यग्दृष्टिरित्यर्थ, तेन युत–सयुक्तमयतयुतम् । इदमुक्त भवति—सञ्ज्ञिन्यपर्याप्ते त्रीणि मिथ्यादृष्टिसासादनाऽविरतसम्यग्दृष्टिलक्षणानि गुणस्थानानि भवन्ति, न शेषाणि सम्यग्मिथ्या-

---

१ क्षीणे मोहनीये क्षीणकषाय सयोग योगीति । भवति प्रयोक्ता च तत अप्रयोक्ता भवत्येवायोगी ॥ अविरतसास्वादनमिथ्यात्वानि परभविकानि न पुन शेषगुणस्थानानि । मिथ्यात्वस्य त्रयो भङ्गा षडावलिक भवति सास्वादनम् ॥ त्रयस्त्रिंशदतराणि चतुर्थं पूर्वाणां कोटिरूना त्रयोदशम् । लघुपञ्चाक्षर चरममन्तर्मुहूर्तं शेषगुणस्थानानि ॥ २ उभयाभाव पृथिव्यादिकेषु सम्यक्त्वलब्धे ॥ ३ एकेन्द्रिया भदन्त! किं ज्ञानि नोऽज्ञानिन? गौतम! न ज्ञानिनो नियमादज्ञानिन ॥ द्वीन्द्रिया भदन्त! किं ज्ञानिनोऽज्ञानिन? गौतम! ज्ञानिनोप्यज्ञानिनोऽपि ॥

औदारिकप्रयोक्ता, प्रथमाष्टमसमययोरसाविष्ट ।
मिश्रौदारिकयोक्ता, सप्तमषष्ठद्वितीयेषु ॥
कार्मणशरीरयोगी, चतुर्थके पञ्चमे तृतीये च ।

(प्रश का २७६-७७) इति ।

'पर्याप्ते' सूक्ष्मे सूक्ष्मैकेन्द्रिये औदारिककाययोगो भवति । पर्याप्तशब्दश्च "सन्नि सन्निपजत्ते" इति पदाद् डमरुकमणिन्यायेन सर्वत्र योज्य । "चउसु" त्ति चतुर्षु द्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियासंज्ञिपञ्चेन्द्रियेषु पर्याप्तेषु तदेवौदारिक भवति । कि केवलम्[१] न इत्याह—'सभाष' सह भाषया असत्यामृषारूपया "विगलेसुं असच्चमोसा" इति वचनाद् वर्तत इति सभाषम् । कोऽर्थ [१] विकलत्रिकासंज्ञिपञ्चेन्द्रियेषु पर्याप्तेषु औदारिककाययोगाऽसत्यामृषाभाषालक्षणौ द्वौ योगावित्यर्थ । तद् इत्यनुवर्तते, तद् औदारिक सह वैक्रियद्विकेन—वैक्रियवैक्रियमिश्रलक्षणेन वर्तत इति सवैक्रियद्विक बादरैकेन्द्रियपर्याप्ते भवति । अयमर्थ —बादरैकेन्द्रिये पर्याप्ते औदारिककाययोगवैक्रियकाययोगवैक्रियमिश्रकाययोगलक्षणास्त्रयो योगा भवन्ति । तत्र औदारिककाययोग पृथिव्यम्बुतेजोवनस्पतीनाम्, वैक्रियद्विक तु वायुकायस्येति ॥

प्ररूपिता जीवस्थानेषु योगा । साम्प्रतमुपयोगा प्ररूपणावसरप्राप्ता, ते च द्वादश । तद्यथा—मतिज्ञान १ श्रुतज्ञान २ अवधिज्ञान ३ मन पर्यवज्ञान ४ केवलज्ञान ५ लक्षणानि पञ्च ज्ञानानि, मत्यज्ञान १ श्रुताज्ञान २ विभङ्ग ३ रूपाणि त्रीण्यज्ञानानि, चक्षुर्दर्शना१ऽचक्षुर्दर्शना२ऽवधिदर्शन३केवलदर्शन४रूपाणि चत्वारि दर्शनानि इत्येतानुपयोगान् जीवस्थानकेषु दिदर्शयिषुराह—"पजसन्निसु बार उवओग" त्ति पजशब्देन पर्याप्त उच्यते, तत पर्याप्ताश्च ते संज्ञिनश्च पर्याप्तसंज्ञिन, तेषु पर्याप्तसंज्ञिषु 'द्वादश' द्वादशसख्या उपयोगा भवन्ति । ते च क्रमेणैव न तु युगपत्, उपयोगाना तथाजीवस्वभावतो यौगपद्यासम्भवात् । उक्त च—"समए दो नुवओगा" इति । श्रीमद्भद्रबाहुस्वामिपादा अप्याहु —

नाणम्मि दसणम्मि य, एत्तो एगयरयम्मि उवउत्ता ।
सव्वस्स केवलिस्सा, जुगव दो नत्थि उवओगा ॥

(आ नि गा ९७९) इति ॥ ५ ॥

पजचउरिंदिअसन्निसु, दुदस दुअनाण दससु चक्खु विणा ।
सन्निअपज्जे मणनाणचक्खुकेवलदुगविहूणा ॥ ६ ॥

चतुरिन्द्रियाश्च असंज्ञिनश्च चतुरिन्द्रियासंज्ञिन, पर्याप्ताश्च ते चतुरिन्द्रियासंज्ञिनश्च तेषु पर्याप्तचतुरिन्द्रियासंज्ञिषु चत्वार उपयोगा भवन्ति । के[२] इत्याह—"दुदस दुअनाण" त्ति दर्श –दर्शनम्, द्वयोर्दर्शयो[३] समाहारो द्विदर्श—चक्षुर्दर्शनाऽचक्षुर्दर्शनलक्षणम्, द्वयोरज्ञानयो समाहारो द्व्यज्ञान—मत्यज्ञानश्रुताज्ञानरूपम् । अयमर्थ —पर्याप्तचतुरिन्द्रियेषु पर्याप्तासंज्ञिपञ्चेन्द्रियेषु च मत्यज्ञानश्रुताज्ञानचक्षुर्दर्शनाऽचक्षुर्दर्शनलक्षणाश्चत्वार उपयोगा भवन्ति । दशसु जी-

१ विकलेषु असत्यामृषा इति ॥ २ समये द्वौ नोपयोगौ ॥ ३ ज्ञाने दर्शने चानयोरेकतरस्मिन् उपयुक्ता । सर्वस्य केवलिनो युगपद् द्वौ न स्त उपयोगौ ॥

वस्थानकेषु पर्याप्ताऽपर्याप्तसूक्ष्मबादरैकेन्द्रिय४द्वीन्द्रिय६त्रीन्द्रिया८ऽपर्याप्तचतुरिन्द्रिया९ऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रिय१०लक्षणेषु पूर्वोक्ताश्चत्वार उपयोगाश्चक्षुर्दर्शन विना भवन्ति । अयमर्थ.—पूर्वोक्तदशजीवस्थानकेषु चक्षुर्दर्शनवर्जा अचक्षुर्दर्शनमत्यज्ञानश्रुताज्ञानलक्षणास्त्रय उपयोगा भवन्ति ।

ननु स्पर्शनेन्द्रियावरणक्षयोपशमसम्भवाद् भवतु मतिरेकेन्द्रियाणाम्, यत्तु श्रुत तत् कथ जाघटीति [1] भाषालब्धिश्रोत्रेन्द्रियलब्धिमतो हि तद् उपपद्यते नान्यस्य । तदुक्तम्—

भावसुय भासासोयलद्धिणो जुज्जए न इयरस्स ।
भासाभिमुहस्स सुय, सोऊण व ज हविज्जाहि ॥
(विशेषा० गा० १०२) इति ।

उच्यते—इह तावदेकेन्द्रियाणामाहारादिसञ्ज्ञा निधन्ते तथा सूत्रेऽभिधानात्, संज्ञा चाभिलाप उच्यते । यदवादि परोपकारभूरिभि श्रीहरिभद्रसूरिभिर्मूलावश्यकटीकायाम्—

आहारसंज्ञा आहाराभिलाष क्षुद्वेदनीयोदयप्रभव खल्वात्मपरिणामविशेष (पत्र ५८०) इति ।

अभिलाषश्च ममैवरूप वस्तु पुष्टिकारि तद् यदीदमवाप्यते तत समीचीन भवतीत्येव शब्दार्थोल्लेखानुविद्ध स्वपुष्टिनिमित्तभूतप्रतिनियतवस्तुप्राप्त्यध्यवसायरूप, [illegible] च श्रुतमेव, शब्दार्थालोचनानुसारित्वात्, श्रुतस्यैवैतल्लक्षणत्वात् ।

यदवादिषुर्दलितप्रवादिकुवादा श्रीजिनभद्रगणिक्षमाश्रमणपादाः—

[2]इदियमणोनिमित्त, ज विन्नाण सुयाणुसारेण ।
निययत्थुत्तिसमत्थ, त भावसुय मई सेसं ॥ (विशेषा० गा० १००)

"सुयाणुसारेण" त्ति शब्दार्थालोचनानुसारेण । केवलमेकेन्द्रियाणामव्यक्त एव कश्चनाप्यनिर्वचनीय शब्दार्थोल्लेखो द्रष्टव्य, अन्यथाऽऽहारादिसञ्ज्ञाऽनुपपत्ते । यदप्युक्तम्—भाषालब्धिश्रोत्रेन्द्रियलब्धिविकलत्वाद् एकेन्द्रियाणा श्रुतमनुपपन्नमिति, तदप्यसमीक्षिताभिधानम्, तथाहि—बकुलादे स्पर्शनेन्द्रियातिरिक्तद्रव्येन्द्रियलब्धिविकलत्वेऽपि किमपि सूक्ष्म भावेन्द्रियपञ्चकविज्ञानमभ्युपगम्यते "[3]पचिंदिओ व बउलो नरु व सबविसओवलभाओ" इत्यादिवचनप्रामाण्यात् । तथा भाषाश्रोत्रेन्द्रियलब्धिविकलत्वेऽपि तेषा किमपि सूक्ष्म श्रुतमपि भविष्यति, अन्यथाऽऽहारादिसञ्ज्ञाऽनुपपत्ते ।

यदाह भाष्यसुधाम्भोनिधिः (?)

[4]जह सुहम भाविंदियनाण दविंदियाण विरहे वि ।
[5]दव्वसुयाभावम्मि वि, भावसुय पत्थिवाईण ॥ (विशेषा० गा० १०३) इति ।

सञ्ज्ञी चासौ अपर्याप्तश्च संज्ञ्यपर्याप्त तस्मिन् संज्ञ्यपर्याप्ते मन पर्यवज्ञानचक्षुर्दर्शनकेवलज्ञान-

१ भावश्रुत भाषाश्रोत्रलब्धिकस्य युज्यते नेतरस्य । भाषाभिमुखस्य श्रुत श्रुत्वा वा यद् भवेत् । २ इन्द्रियमनोनिमित्त यद् विज्ञान श्रुतानुसारेण । निजकार्योक्तिसमर्थं तद् भावश्रुत मति शेषम् ॥ ३ पञ्चेन्द्रिय [illegible] बकुलो नर इव सर्वविषयोपलम्भात् ॥ ४ यथा सूक्ष्म भावेन्द्रियज्ञान द्रव्येन्द्रियाणा विरहेऽपि । द्रव्यश्रुताभावेऽपि भावश्रुत पृथिव्यादीनाम् ॥ ५ °थावरोहे [illegible] । तह दव्वसुयाभावे भा° इति विशेषावश्यकभाष्ये ॥

केवलदर्शनलक्षणकेवलद्विकविहीना शेषा मतिज्ञानश्रुतज्ञानावधिज्ञानमत्यज्ञानश्रुताज्ञानविभङ्गज्ञानाचक्षुर्दर्शनावधिदर्शनरूपा अष्टावुपयोगा भवन्ति ॥ ६ ॥

उक्ता जीवस्थानेषु उपयोगा । साम्प्रत जीवस्थानेष्वेव लेश्या प्रतिपिपादयिषुराह—

सन्निदुगि छ लेस अपज्जयायरे पढम चउ ति सेसेसु ।
सत्तट्ठबंधुदीरण, संतुदया अट्ठ तेरससु ॥ ७ ॥

संज्ञिनो द्विकम्—अपर्याप्तपर्याप्तलक्षण संज्ञिद्विक तस्मिन्, संज्ञिन्यपर्याप्ते संज्ञिनि पर्याप्ते चेत्यर्थ, षड् लेश्या —कृष्णनीलकापोततेज पद्मशुक्ललक्षणा भवन्ति । अपर्याप्तबादरे प्रथमाश्चतस्र —कृष्णनीलकापोततेजोरूपा भवन्ति ।

तेजोलेश्या कथमस्मिन्नवाप्यते [1] इति चेद् उच्यते—यदा

पुढवीआउवणस्सइगब्भेपज्जत्तसंखजीवीसु ।
सग्गचुआण वासो, सेसा पडिसेहिया ठाणा ॥ (वृ० सं० गा० १८०)

इति वचनात् कश्चनापि देव स्वर्गलोकात् च्युत सन् बादरैकेन्द्रियतया भूदकतरुषु मध्ये समुत्पद्यते तदा तस्य घण्टालालान्यायेन सा प्राप्यत इत्यदोष ।

"ति सेसेसु" त्ति प्रथमा इत्यनुवर्तते, प्रथमास्तिस्र —कृष्णनीलकापोतलक्षणा 'शेषेषु' प्रागुक्तापर्याप्तपर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रियापर्याप्तबादरैकेन्द्रियवर्जितेषु अपर्याप्तपर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रिय२द्वीन्द्रिय२त्रीन्द्रिय२चतुरिन्द्रिया२ऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रिय२पर्याप्तबादरैकेन्द्रिय१लक्षणेष्वेकादशसु जीवस्थानेषु भवन्ति ना नान्या, तेषा सदैवाऽशुभपरिणामत्वात्, शुभपरिणामरूपाश्च तेजोलेश्यादय ॥

तदेव जीवस्थानकेषु लेश्या अभिधाय साम्प्रतमेतेष्वेव बन्धोदयोदीरणासत्तास्थानचतुष्टयमभिधित्सुराह—"सत्तट्ठ बधु" इत्यादि । सप्त वा अष्टौ वा सप्ताष्टा, "सुज्वार्थे सङ्ख्या सङ्ख्येये सङ्ख्यया बहुव्रीहि" (सि ३–१–१९) इति सूत्रेण बहुव्रीहिसमास, यथा द्विना इत्यादौ । बन्धश्च उदीरणा च बन्धोदीरणे सप्ताष्टाना बन्धोदीरणे सप्ताष्टबन्धोदीरणे त्रयोदशसु जीवस्थानेषु सञ्ज्ञिपर्याप्तवर्जितेषु शेषेषु भवत । एतदुक्त भवति—अपर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रिय१पर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रिया२ऽपर्याप्तबादरैकेन्द्रिय३पर्याप्तबादरैकेन्द्रिया४ऽपर्याप्तद्वीन्द्रिय५पर्याप्तद्वीन्द्रिया६ऽपर्याप्तत्रीन्द्रिय ७ पर्याप्तत्रीन्द्रिया८ऽपर्याप्तचतुरिन्द्रिय ९ पर्याप्तचतुरिन्द्रिया१०ऽपर्याप्तासंज्ञिपञ्चेन्द्रिय११पर्याप्तासंज्ञिपञ्चेन्द्रिया१२ऽपर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रिय१३रूपेषु त्रयोदशसु जीवस्थानेषु सप्तानामष्टाना वा बन्ध, सप्तानामष्टाना वा उदीरणा । तथाहि—यदाऽनुभूयमानभवायुषस्त्रिभागनवभागादिरूपे शेषे सति परभवायुर्बध्यते तदाऽष्टानामपि कर्मणा बन्ध, शेषकाल त्वायुषो बन्धाभावात् सप्तानामेव बन्ध । तथा यदाऽनुभूयमानभवायुरुदयावलिकावशेष भवति तदा सप्तानामुदीरणा, अनुभूयमानभवायुषोऽनुदीरणात्, आवलिकाशेषस्योदीरणाऽनर्हत्वात् । उदीरणा हि उदयावलिकाबहिर्वर्तिनीभ्य स्थितिभ्य सकाशात् कषायसहितेन कषायासहितेन वा योगकरणेन दलिकमाकृष्य उदयसमयप्राप्तदलिकेन सहाऽनुभवनम् ।

तथा चोक्त कर्मप्रकृतिचूर्णौ—

१ पृथ्व्यप्वनस्पतिगर्भपर्याप्तसङ्ख्यातवर्षजीविषु । स्वर्गच्युताना वास शेषाणि प्रतिषिद्धानि स्थानानि ॥

उदयावलियाबाहिरिल्लठिईहिंतो कसायसहियासहिएण जोगकरणेण दलियमाकड्ढिय उदयपत्तदलिएण सम अणुभवणमुदीरणा ।

तत' कथमावलिकागतस्योदीरणा भवति ², न च परभवायुषस्तदोदीरणासम्भव , तस्योदयाभावात्, अनुदितस्य च उदीरणाऽनर्हत्वात् । शेषकाल त्वष्टानामुदीरणा । सत्त्व उदयश्च प्राकृतत्वात् सन्तोदया, अष्टानामेव कर्मणां त्रयोदशसु जीवस्थानकेषु पूर्वेषु भवत. । तथाहि—एतेषु त्रयोदशसु जीवस्थानकेषु सर्वकालमष्टानामपि सत्ता, यतोऽष्टानामपि कर्मणां सत्ता उपशान्तमोहगुणस्थानक यावदनुवर्तते । एते च जीवा उत्कर्षतो यथासम्भवमविरतसम्यग्दृष्टिगुणस्थानकवर्तिन एवेति । एवमुदयोऽप्येतेषु जीवस्थानेष्वष्टानामेव कर्मणा द्रष्टव्य' । तथाहि—सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानक यावदष्टानामपि कर्मणामुदयोऽवाप्यते, एतेषु च जीवस्थानकेषूत्कर्षतोऽपि यथासम्भवमविरतसम्यग्दृष्टिगुणस्थानकसम्भव इति ॥ ७ ॥

सत्तट्ठछेगबंधा, संतुदया सत्त अट्ठ चत्तारि ।
सत्त ट्ठ छ पंच दुगं, उदीरणा सन्निपज्जत्ते ॥ ८ ॥

सञ्ज्ञी चासौ पर्याप्तश्च संज्ञिपर्याप्त तस्मिन् संज्ञिपर्याप्ते चत्वारो बन्धा भवन्ति । तद्यथा—सप्ताना प्रकृतीना बन्ध एक , अष्टाना प्रकृतीनां बन्धो द्वितीय , षण्णा प्रकृतीना बन्धस्तृतीय , एकस्या प्रकृतेर्बन्धश्चतुर्थो बन्ध । तत्राऽऽयुर्वर्जाना सप्ताना कर्मप्रकृतीनां बन्धो जघन्येनाऽन्तर्मुहूर्तं यावद् उत्कर्षेण च त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि षण्मासोनानि अन्तर्मुहूर्तोनपूर्वकोटित्रिभागाभ्यधिकानि । तथाऽऽयुर्बन्धकाले तासामष्टाना बन्धोऽजघन्योत्कर्षेणाऽन्तर्मुहूर्तप्रमाण , आयुषि बध्यमानेऽष्टाना प्रकृतीना बन्ध प्राप्यते, आयुषश्च बन्धोऽन्तर्मुहूर्तमेव काल भवति, न ततोऽप्यधिकम् । तथा एता एवाष्टावायुर्मोहनीयवर्जा षट्, एतासा च जघन्येन एक समय बन्ध । तथाहि—ज्ञानावरणदर्शनावरणवेदनीयनामगोत्रान्तरायरूपाणा षण्णा प्रकृतीना बन्ध सूक्ष्मसम्परायगुणस्थाने, तत्र चोपशमश्रेण्या कश्चिदेक समय स्थित्वा द्वितीयसमये भवक्षयेण दिव गत सन् अविरतो भवति, अविरतत्वे चावश्य सप्तप्रकृतीना बन्धक इति षण्णा बन्धो जघन्येनैक समय यावद्, उत्कर्षेण त्वन्तर्मुहूर्तम्, सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानस्याऽऽन्तर्मौहूर्तिकत्वात् । तथा सप्ताना प्रकृतीना बन्धव्यवच्छेदे सत्येकस्या सातवेदनीयरूपाया प्रकृतेर्बन्ध , स च जघन्येनैक समयम्, एकसमयता चोपशमश्रेण्यामुपशान्तमोहगुणस्थाने प्राग्वद्भावनीया, उत्कर्षेण पुनर्देशोना पूर्वकोटिं यावत् । स चोत्कर्षत कस्य वेदितव्य ² इति चेद् उच्यते—यो गर्भवासे माससप्तकमुषित्वाऽनन्तर शीघ्रमेव योनिनिष्क्रमणजन्मना जातो वर्षाष्टकाद्योर्ध्वं संयम प्रतिपन्न , प्रतिपत्त्यनन्तरं च क्षपकश्रेणिमारुह्य उत्पादितकेवलज्ञानदर्शन , तस्य सयोगिकेवलिनो वेदितव्य' । अथ चात्र तात्पर्यार्थ —मिथ्यादृष्ट्याद्यप्रमत्तान्तेषु सप्तानामष्टाना वा बन्ध', आयुर्बन्धाभावाद् अपूर्वकरणानिवृत्तिबादरयोश्च सप्तानां बन्ध , सूक्ष्मसम्पराये षण्णा बन्ध , उपशान्तमोहादिष्वेकस्या प्रकृतेर्बन्ध । तथा सत्त्व उदयश्च प्राकृतत्वात् सन्तोदया, तत

१ उदयावलिकाबाह्यस्थितिभ्य कषायसहितासहितेन योगकरणेन दलिकमाकृष्य उदयप्राप्तदलिकेन सम अनुभवनमुदीरणा ॥

सञ्ज्ञिपर्याप्ते सत्तामाश्रित्य त्रीणि स्थानानि, तद्यथा—सप्त अष्ट चत्वारि। एवमुदयमप्याश्रित्य त्रीणि स्थानानि, तद्यथा—सप्त अष्ट चत्वारि। तत्र सर्वप्रकृतिसमुदयोऽष्टौ, एतासां चाष्टानां सत्ताऽभव्यानधिकृत्याऽनाद्यपर्यवसाना, भव्यानधिकृत्याऽनादिसपर्यवसाना। तथा मोहे क्षीणे सप्तानां सत्ता, सा चाजघन्योत्कर्षेणाऽन्तर्मुहूर्तप्रमाणा, सा हि क्षीणमोहगुणस्थाने, तस्य च कालमानमन्तर्मुहूर्तमिति। घातिकर्मचतुष्टयक्षये च चतसृणां सत्ता, सा च जघन्येनाऽन्तर्मुहूर्तप्रमाणा, उत्कर्षेण पुनर्देशोनपूर्वकोटिमाना। तथा सर्वप्रकृतिसमुदयोऽष्टौ, तासां च उदयोऽभव्यानाश्रित्याऽनाद्यपर्यवसान, भव्यानाश्रित्याऽनादिसपर्यवसान। उपशान्तमोहगुणस्थानकात् प्रतिपतितानाश्रित्य पुन सादिसपर्यवसान। स च जघन्येनाऽन्तर्मुहूर्तप्रमाण, उपशमश्रेणीत पतितस्य पुनरप्यन्तर्मुहूर्तेन कस्याप्युपशमश्रेणिप्रतिपत्ते, उत्कर्षेण तु देशोनाऽपार्धपुद्गलपरावर्त। तथा ता एवाष्टौ मोहनीयवर्जा सप्त, तासामुदयो जघन्येन एक समयम्। तथाहि—मोहवर्जसप्तानां प्रकृतीनामुदय उपशान्तमोहे क्षीणमोहे वा प्राप्यते, तत्र कश्चिद् उपशान्तगुणस्थानके एक समय स्थित्वा द्वितीये समये भवक्षयेण दिव गच्छन् अविरतो भवति, अविरतत्वे चावश्यमष्टानां प्रकृतीनामुदय, तत सप्तानामुदयो जघन्येनैकसमय यावदवाप्यते, उत्कर्षेण त्वन्तर्मुहूर्तम्, उपशान्तमोहक्षीणमोहगुणस्थानयोरान्तर्मौहूर्तिकत्वात्। तथा घातिकर्मवर्जाश्चतस्र प्रकृतय, तासां च जघन्यत उदय आन्तर्मौहूर्तिक, उत्कर्षेण देशोनपूर्वकोटिप्रमाण इति। पिण्डार्थश्चायम्—मिथ्यादृष्टिगुणस्थानकमारभ्य यावद् उपशान्तमोहगुणस्थानक तावद् अष्टानामपि सत्ता, क्षीणमोहगुणस्थाने सप्तानां सत्ता, सयोग्ययोगिगुणस्थानकयोश्चतसृणां सत्ता। तथा मिथ्यादृष्टे प्रभृति सूक्ष्मसम्पराय यावद् अष्टानामुदय, उपशान्तमोहगुणस्थाने क्षीणमोहगुणस्थाने च सप्तानां प्रकृतीनामुदय, सयोग्ययोगिगुणस्थानयोश्चतसृणामुदय इति। तथा सञ्ज्ञिपर्याप्ते उदीरणास्थानानि पञ्च, तद्यथा—सप्त अष्ट षट् पञ्च द्वे इति। तत्र यदाऽनुभूयमानभवायुरावलिकावशेष भवति तदा तथास्वभावत्वेन तस्यानुदीर्यमाणत्वात् सप्तानामुदीरणा, यदा त्वनुभूयमानभवायुरावलिकावशेष न भवति तदाऽष्टानां प्रकृतीनामुदीरणा। तत्र मिथ्यादृष्टिगुणस्थानकात् प्रभृति यावत् प्रमत्तसंयतगुणस्थानक तावत् सप्तानामष्टानां वा उदीरणा, सम्यग्मिथ्यादृष्टिगुणस्थानके तु सदैवाऽष्टानामेव उदीरणा, आयुष आवलिकाशेषे मिश्रगुणस्थानस्यैवाऽभावात्। तथाऽप्रमत्तगुणस्थानकात् प्रभृति यावत् सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानकस्यावलिकाशेषो न भवति तावद् वेदनीयायुर्वर्जानां षण्णां प्रकृतीनामुदीरणा, तदानीमतिविशुद्धत्वेन वेदनीयायुरुदीरणायोग्याध्यवसायस्थानाभावात्, आवलिकावशेषे तु मोहनीयस्याऽप्यावलिकाप्रविष्टत्वेनोदीरणाया असम्भवात् ज्ञानावरणदर्शनावरणनामगोत्रान्तरायाणामेवोदीरणा। एतेषामेव चोपशान्तमोहगुणस्थानकेऽप्युदीरणा। क्षीणमोहगुणस्थानकेऽप्येतेषामेव यावद् आवलिकामात्रमवशेषो न भवति, आवलिकावशेषे तु ज्ञानावरणदर्शनावरणान्तरायाणामप्यावलिकाप्रविष्टत्वाद् नोदीरणेति द्वयोरेव नामगोत्रयोरुदीरणा, एवं सयोगिकेवलिगुणस्थानकेऽपि। अयोगिकेवलिगुणस्थानके तु वर्तमानो जीव सर्वथाऽनुदीरक एव। ननु तदानीमप्येष सयोगिकेवलिगुणस्थानक इव भवोपग्राहिकर्मचतुष्टयोदयवान् वर्तते

तत कथ तदाऽपि तयोर्नामगोत्रयोरुदीरको न भवति ? नैष दोष , उदये सत्यपि योगसव्यपेक्षत्वाद् उदीरणाया , तदानीं च तस्य योगासम्भवादिति ॥ ८ ॥

तदेव जीवस्थानकेषु गुणस्थानकाद्यभिधाय साम्प्रत मार्गणास्थानेषु जीवस्थानकादि वियक्षुस्तान्येव तावद् निर्दिशन्नाह—

गइइंदिए य काए, जोए वेए कसायनाणेसु ।
संजमदंसणलेसा, भवसम्मे सन्निआहारे ॥ ९ ॥

गम्यते—तथाविधकर्मसचिवैर्जीवै प्राप्यत इति गति —नारकत्वादिपर्यायपरिणति १। इन्दनादिन्द्र —आत्मा ज्ञानैश्वर्ययोगात् तस्येदमिन्द्रियम्, "इन्द्रियम्" (सि ७–१–१७४) इति सूत्रेणाऽभीष्टरूपनिष्पत्ति , ततो गतिश्च इन्द्रिय च गतीन्द्रिय तस्मिन् गतीन्द्रिये, एवमन्यत्रापि द्वन्द्व कार्य ,"च" समुच्चये २ । चीयते—यथायोग्यमौदारिकादिवर्गणागणैरुपचय नीयत इति काय "चितिदेहावासोपसमाधाने कश्चादे" (सि० ५–३–७९) इति घञ्प्रत्ययश्चकारस्य ककार (च) ३। युज्यते धावनवल्गनादिचेष्टास्वात्माऽनेनेति "पुन्नाम्नि०" (सि० ५–३–१३०) इति घे योग ४। वेद्यते—अनुभूयत इन्द्रियोद्भूत सुखमनेनेति वेद ५। "कष शिष जष झष" इत्यादिदण्डकधातु , कष्यन्ते—हिंस्यन्ते परस्परमस्मिन् प्राणिन इति कष —ससार , कषमयन्ते—गच्छन्ति एभिर्जन्तव इति कषाया , यद्वा कषस्याय —लाभो येभ्यस्ते कषाया ६। ज्ञातिर्ज्ञानम् , यद्वा ज्ञायते—परिच्छिद्यते वस्त्वनेनेति ज्ञानम्, सामान्यविशेषात्मके वस्तुनि विशेषग्रहणात्मको बोध इत्यर्थ ७। सयमन—सम्यगुपरमण सावद्ययोगादिति संयम , यद्वा सयम्यते—नियम्यत आत्मा पापव्यापारसम्भारादनेनेति संयम "संनिव्युपाद्यम" (सि० ५–३–२५) इति सूत्रेणाल्प्रत्यय , यदि वा सम्—शोभना यमा —प्राणातिपातानृतभाषणादत्तादानाब्रह्मपरिग्रहविरमणलक्षणा अस्मिन्निति सयमश्चारित्रम् ८ । दृश्यते—विलोक्यते वस्त्वनेनेति दर्शनम्, यदि वा दृष्टिर्दर्शनम्, सामान्यविशेषात्मके वस्तुनि सामान्यात्मको बोध इत्यर्थ ९। लिश्यते—श्लिष्यते कर्मणा सहाऽऽत्माऽनयेति लेश्या १० । भवति—परमपदयोग्यतामासादयतीति भव्य —सिद्धिगमनयोग्य "भव्यगेयजन्यरम्यापात्याप्लाव्य न वा" (सि० ५–१–७) इति कर्तरि यप्रत्यय , सूत्रे च यकारलोप प्राकृतत्वात् ११। "सम्म" त्ति सम्यक्शब्द प्रशसार्थोऽविरुद्धार्थो वा, सम्यग् जीव , तद्भाव सम्यक्त्वम्, प्रशस्तो मोक्षाविरोधी वा प्रशमसवेगादिलक्षण आत्मधर्म इति यावत् । यदाहु श्रीमद्भद्रबाहुस्वामिपादाः—

से य सम्मत्ते पसत्थसम्मत्तमोहणीयकम्माणुवेयणोवसमखयसमुत्थे पसमसवेगाइलिंगे सुहे आयपरिणामे ॥ (आव नि० पत्र ८११–१) इत्यादि १२।

सम्यान सज्ञा—भूतभवद्भाविभावस्वभावपर्यालोचन सा विद्यते येषां ते संज्ञिन , "ब्रीह्यादिभ्यस्तौ" (सि० ७–२–५) इति इन्प्रत्यय , विशिष्टस्मरणादिरूपमनोविज्ञानसहितेन्द्रियपञ्च-

१ तच सम्यक्त्व प्रशस्तसम्यक्त्वमोहनीयकर्माणुवेदनोपशमक्षयसमुत्थ प्रशमसवेगादिलिङ्ग शुभ आत्मपरिणाम ॥ २ अनिष्ठवस्त्वेऽत्र लेखकदोषो यतोपलभ्यतेऽद तु व्रीह्यादिभ्य इति । तत्वतस्तु शिखादिभ्य इन्नित्यनेनैवेन् (सि० ७–२–४) ॥

कसमन्विता इत्यर्थः १३। ओजआहारलोमाहारकवलाहाराणामन्यतममाहारमाहारयति–गृह्णातीत्याहारः, "अच्" (सि० ५–१–४९) इत्यच् [प्रत्ययः] आहारक इत्यर्थः १४। ओजआहारादीनां लक्षणमिदम्—

सरीरेणोयाहारो, तयाइ फासेण लोमआहारो।
पक्खेवाहारो पुण, कावलिओ होइ नायव्वो ॥ (प्रव० गा० ११८०) ॥९॥

उक्तानि मूलभूतानि चतुर्दश मार्गणास्थानानि। इदानीमेतेषामेवोत्तरभेदानाह—

सुरनरतिरिनिरयगई, इगबियतियचउपणिंदि छक्काया।
भूजलजलणाऽनिलवणतसा य मणवयणतणुजोगा ॥ १० ॥

इह गतिशब्दः प्रत्येकं सम्बध्यते, ततः सुरगतिः नरगतिः तिर्यग्गतिः नरकगतिः। तत्र सुष्ठु राजन्त इति सुराः, यदि वा सुष्ठु रान्ति–ददति प्रणतानामभीप्सितमर्थं लवणाधिपसुस्थित इव लवणजलधौ मार्गं जनार्दनस्येति सुराः, यद्वा 'सुरत् ऐश्वर्यदीप्त्योः' सुरन्ति–विशिष्टमैश्वर्यमनुभवन्ति दिव्याभरणसम्भारसमृद्ध्या सहजनिजशरीरकान्त्या च, दीप्यन्त इति सुराः, सुरेषु विषये गतिः सुरगतिः। नृणन्ति–विवेकमासाद्य नयधर्मपरा भवन्तीति नराः–मनुष्यास्तेषु विषये गतिर्नरगतिः। "तिरि" त्ति प्राकृतत्वात् तिरोऽञ्चन्ति–गच्छन्तीति तिर्यञ्चः, व्युत्पत्तिनिमित्तं चैतत् प्रवृत्तिनिमित्तं तिर्यग्गतिनाम, एते चैकेन्द्रियादयः, ततस्तिर्यक्षु विषये गतिस्तिर्यग्गतिः। नरान् उपलक्षणत्वात् तिरश्चोऽपि प्रभूतपापकारिणः कायन्तीव आह्वयन्तीवेति नरकाः–नरकावासास्तत्रोत्पन्ना जन्तवोऽपि नरकाः, नरको वा विद्यते येषां ते "अभ्रादिभ्यः" (सि० ७–२–४६) इत्यप्रत्यये नरकास्तेषु विषये गतिर्नरकगतिः १। इहापि इन्द्रियशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धाद् एकेन्द्रियद्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियपञ्चेन्द्रिया इति २। षट् कायाः–भूः–पृथ्वी जलम्–आपः ज्वलनः–तेजः अनिलः–वायुः "वण" त्ति वनस्पतिः त्रसाः–द्वीन्द्रियादयः, ततः प्रत्येकं कायशब्दस्य योगात् पृथिव्येव कायः शरीरं यस्य स पृथिवीकायः, एवमप्कायः तेजस्कायः वायुकायः वनस्पतिकायः त्रसकाय इति ३। 'च' समुच्चये। योगशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धात् त्रयो योगाः, तथाहि—मनोयोगः वचनयोगः तनुयोगः। तत्र तनुयोगेन मनःप्रायोग्यवर्गणाभ्यो गृहीत्वा मनोयोगेन मनस्त्वेन परिणमितानि वस्तुचिन्ताप्रवर्तकानि द्रव्याणि मन इत्युच्यन्ते, तेन मनसा सहकारिकारणभूतेन योगो मनोयोगः, मनोविषयो वा योगो मनोयोगः। उच्यत इति वचनं भाषापरिणामापन्नः पुद्गलद्रव्यसमूह इत्यर्थः, तेन वचनेन सहकारिकारणभूतेन योगो वचनयोगः, वचनविषयो वा योगो वचनयोगः। तनोति–विस्तारयत्यात्मप्रदेशाननयामिति तनुरौदारिकादिशरीरं तया सहकारिकारणभूतया योगस्तनुयोगः, तनुविषयो वा योगस्तनुयोगः ४ ॥१०॥

वेय नरित्थिनपुंसा, कसाय कोहमयमायलोभ त्ति।
मइसुयऽवहिमणकेवलविभंगमइसुअनाणसागारा ॥ ११ ॥

वेदशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धात् त्रयो वेदाः—नरवेदः स्त्रीवेदः नपुंसकवेदः। तत्र नरस्य–

१ शरीरेणौजआहारस्त्वचा स्पर्शेन लोमाहारः। प्रक्षेपाहारः पुनः कावलिको भवति ज्ञातव्यः ॥

पुरुषस्य स्त्रियं प्रति अभिलाषो नरवेदः, स्त्रियः—योषितः पुरुषं प्रत्यभिलाषः स्त्रीवेदः, नपुंसकस्य—पण्डस्य स्त्रीपुरुषौ प्रत्यभिलाषो नपुंसकवेदः ५। कषायाश्चत्वारः—क्रोधकषायः "मद" त्ति मदो मानोऽहङ्कारो गर्व इत्यर्थः मानकषायः मायाकषायः लोभकषायः । इतिशब्दः कषायाणामनन्तानुबन्ध्यादिबहुभेदसूचनार्थः, सूत्रे च "मायलोभ" त्ति ह्रस्वत्वं प्राकृतत्वात् ६। "मइ-सुयऽवहि" इत्यादि । इहाऽवधीत्यत्राऽकारलोपाद् ज्ञानशब्दस्य च प्रत्येकं सम्बन्धाद् एवं प्रयोगः—मतिज्ञानं श्रुतज्ञानम् अवधिज्ञानं मनःपर्यवज्ञानं केवलज्ञानम्, तथा विभङ्गमत्यज्ञान-श्रुताज्ञानानि । एतानि पञ्च ज्ञानानि त्रीण्यज्ञानानि साकाराणि वर्तन्त इति वाक्यार्थः । भावार्थस्त्वयम्—"बुधिं मनिंच् ज्ञाने" मननं मतिः, यद्वा मन्यते—इन्द्रियमनोद्वारेण नियतं वस्तु परिच्छिद्यतेऽनयेति मतिः—योग्यदेशावस्थितवस्तुविषयः इन्द्रियमनोनिमित्तोऽवगमविशेषः, मतिश्च सा ज्ञानं च मतिज्ञानम् । श्रवणं श्रुतम्—अभिलापप्लावितार्थग्रहणहेतुरुपलब्धिविशेषः, एवमाकारं वस्तु घटशब्दाभिलाप्यं जलधारणाद्यर्थक्रियासमर्थमित्यादिरूपतया प्रधानीकृतत्रिकाल-साधारणसमानपरिणामः शब्दार्थपर्यालोचनानुसारी इन्द्रियमनोनिमित्तोऽवगमविशेषः इत्यर्थः, श्रुतं च तद् ज्ञानं च श्रुतज्ञानम् । अवधानमवधिः—इन्द्रियाद्यनपेक्षमात्मनः साक्षादर्थग्रहणम्, अथवा अवशब्दोऽधःशब्दार्थः अव—अधोऽधो विस्तृतं वस्तु धीयते—परिच्छिद्यतेऽनेनेत्यवधिः, यद्वा अवधिः—मर्यादा रूपिष्वेव द्रव्येषु परिच्छेदकतया प्रवृत्तिरूपा तदुपलक्षितं ज्ञानमप्यवधिः, अवधिश्च तद् ज्ञानं च अवधिज्ञानम् । परि—सर्वतोभावे, अवनमवः, "तुदादिभ्योऽनकौ" इत्यधिकारे "अकितो च" इत्यनेनौणादिकोऽकारप्रत्ययः, अवनं गमनं वेदनमिति पर्यायाः, परि अवः पर्यवः, मनसि मनसो वा पर्यवो मनःपर्यवः सर्वतस्तत्परिच्छेद इत्यर्थः, मनःपर्यवश्च तद् ज्ञानं च मनःपर्यवज्ञानम् । यद्वा मनःपर्यायज्ञानम्, तत्र संज्ञिभिर्जीवैः काययोगेन गृहीतानि मनःप्रायोग्यवर्गणाद्रव्याणि चिन्तनीयवस्तुचिन्तनव्यापृतेन मनोयोगेन मनस्त्वेन परिणमय्याऽऽल-म्ब्यमानानि मनांसीत्युच्यन्ते, तेषां मनसां पर्यायाः—चिन्तनानुगताः परिणामाः मनःपर्यायाः, तेषु तेषां वा सम्बन्धि ज्ञानं मनःपर्यायज्ञानम् । यद्वा आत्मभिर्वस्तुचिन्तने व्यापारितानि मनांसि पर्येति—अवगच्छतीति मनःपर्यायम् "कर्मणोऽण्" (सि ५-१-१४) इत्यण्प्रत्ययः, मनःपर्यायं च तद् ज्ञानं च मनःपर्यायज्ञानम् । केवलम्—एकं मत्यादिरहितत्वात् "नट्ठम्मि उ छाउ-मत्थिए नाणे" (आ० नि० गा० ५३९) इति परममुनिप्रणीतवचनप्रामाण्यात्, शुद्धं वा केवलं तदावरणमलकलङ्कपङ्कापगमात्, सकलं वा केवलं तत्प्रथमतयैव निःशेषतदावरणविगमतः सम्पूर्णोत्पत्तेः, असाधारणं वा केवलम् अनन्यसदृशत्वात्, अनन्तं वा केवलं ज्ञेयानन्तत्वाद् अपर्यवसितानन्तकालावस्थायित्वाद्वा, निर्व्याघातं वा केवलं लोकेऽलोके वा क्वापि व्याघाताभावात्, केवलं च तद् ज्ञानं च केवलज्ञानं—यथावस्थितसमस्तभूतभवद्भाविभावावभासि ज्ञानमिति भावना । तथा मतिश्रुतावधिज्ञानान्येव मिथ्यात्वपङ्ककलुषिततया यथाक्रमं मत्यज्ञानश्रुताज्ञानविभङ्गज्ञान-व्यपदेशभाञ्जि भवन्ति । उक्तं च—

आद्यत्रयमज्ञानमपि भवति मिथ्यात्वसंयुक्तम् ॥ (प्रश० का० २२७) इति ।

१ नष्टे तु छाद्मस्थिके ज्ञाने ॥

"विभग" त्ति विपरीतो भङ्ग —परिच्छित्तिप्रकारो यस्मिंस्तद् विभङ्गम्, विपर्यस्तमवधिज्ञान विभङ्गज्ञानमुच्यते इत्यर्थ । सह आकारेण—जातिवस्तुप्रतिनियतग्रहणपरिणामरूपेण "आगारो उ विसेसो" इति वचनाद् विशेषेण वर्तन्त इति साकाराणि । अयमर्थ —वक्ष्यमाणानि चत्वारि दर्शनान्यनाकाराणि, अमूनि च पञ्च ज्ञानानि साकाराणि । तथाहि—सामान्यविशेषात्मक हि सकल ज्ञेय वस्तु, कथम्[१] इति चेद् उच्यते—दूरादेव हि शालतमालतालबकुलाशोकचम्पककदम्बजम्बुनिम्बादिविशिष्टव्यक्तिरूपतयाऽनवधारित तरुनिकरमवलोकयत सामान्येन वृक्षमात्रप्रतीतिजनक यदपरिस्फुट किमपि रूप चकास्ति तत् सामान्यरूपमनाकारं दर्शनमुच्यते, "निर्विशेष विशेषाणामग्रहो दर्शनमुच्यते" इति वचनप्रामाण्यात् । यत् पुनस्तस्यैव निकटीभूतस्य तालतमालशालादिव्यक्तिरूपतयाऽवधारित तमेव महीरुहसमूहमुत्पश्यतो विशिष्टव्यक्तिप्रतीतिजनक परिस्फुट रूपमाभाति तद् विशेषरूप साकार ज्ञानम् अप्रमेयप्रभावपरमेश्वरप्रवचनप्रवीणचेतस प्रतिपादयन्ति, सह विशिष्टाकारेण वर्तत इति कृत्वा । तदेव प्रतिप्राणिप्रसिद्धप्रमाणाबाधितप्रतीतिवशात् सर्वमपि वस्तुजात सामान्यविशेषरूपद्वयात्मक भावनीयमिति ॥ ११ ॥

सामइय छेय परिहार सुहुम अहखाय देस जय अजया ।
चक्खु अचक्खू ओही, केवलदसण अणागारा ॥ १२ ॥

समाना—ज्ञानदर्शनचारित्राणामाय —लाभ समाय समाय एव सामायिक विनयादेराकृतिगणत्वाद् इकण्प्रत्यय, यद्वा सम —रागद्वेषविप्रमुक्तो य सर्वभूतान्यात्मवत् पश्यति, आयो लाभ प्राप्तिरिति पर्याया, समस्य आय समाय, समो हि प्रतिक्षणमपूर्वैर्ज्ञानदर्शनचरणपर्यायैर्भवाटवीभ्रमणसक्लेशविच्छेदकैर्निरुपमसुखहेतुभिरध कृतचिन्तामणिकामधेनुकल्पद्रुमोपमैर्युज्यते, समाय एव सामायिक मूलगुणानामाधारभूत सर्वसावद्यविरतिरूप चारित्रम् । यदाह वाचकमुख्यः—

सामायिक गुणानामाधार खमिव सर्वभावानाम् ।
न हि सामायिकहीनाश्चरणादिगुणान्विता येन ॥
तस्माज्जगाद भगवान्, सामायिकमेव निरुपमोपायम् ।
शारीरमानसानेकदु खनाशस्य मोक्षस्य ॥

यद्यपि च सर्वमपि चारित्रमविशेषत सामायिक तथापि छेदादिविशेषैर्विशेष्यमाणमर्थत शब्दान्तरतश्च नानात्व भजते । प्रथम पुनरविशेषणात् सामान्यशब्द एवावतिष्ठते सामायिकमिति । तच्च द्विधा—इत्वर यावत्कथिक च । तत्रेत्वर भाविव्यपदेशान्तरत्वात् स्वल्पकालम्, तच्च प्रथमचरमतीर्थकरतीर्थे भरतैरवतेषु यावद् अद्यापि शैक्षकस्य महाव्रतानि नारोप्यन्ते तावद् विज्ञेयम् । आत्मन कथा यावद् यदास्ते तद् यावत्कथ यावज्जीवमित्यर्थ, यावत्कथमेव यावत्कथिकम्, एतच्च भरतैरवतेषु प्रथमचरमवर्जमध्यमद्वाविंशतितीर्थकरतीर्थान्तर्गतसाधूना महाविदेहतीर्थकरमुनीना चावसेयम्, तेषामुपस्थापनाया अभावात् । "छेय" त्ति छेदोपस्थापना, तत्र पूर्वपर्यायस्य छेदेनो पस्थापना—महाव्रतेष्वारोपण यत्र चारित्रे तत् छेदोपस्थापनम्, भरतैरवतप्रथमचरमतीर्थकरतीर्थे एव

१ आकारस्तु विशेष ॥ २ °मपश्चिमव° क० ख० ग० घ० ड० ॥ ३ °मुत्थापनाया अ° क० ख० ग० ड० ॥ ४ छेदेनोत्था° ख० ड० । छेदोत्थाप° ग० ॥ ५ °व्रतेषु यत्र क० ख० ग० घ० ड० ॥

नान्यत्र । तच्च द्विधा—सातिचार निरतिचार च। तत्राऽनतिचारमित्वरसामायिकस्य शैक्षकस्य यद् आरोप्यते, तीर्थान्तरं वा सङ्क्रामत साधो , यथा श्रीपार्श्वनाथतीर्थाद् वर्धमानस्वामितीर्थं सङ्क्रामत पञ्चयामधर्मप्रतिपत्तौ । सातिचार पुनर्यद् मूलगुणघातिन पुनर्व्रतोच्चारणम् । "परिहारे" त्ति 'परिहारविशुद्धिक' परिहरण परिहारस्तपोविशेषस्तेन विशुद्धिर्यस्मिंश्चारित्रे तत् परिहारविशुद्धिकम्, तच्च द्विधा—निर्विशमानक निर्विष्टकायिक च । तत्र निर्विशमानका विवक्षितचारित्रसेवका , निर्विष्टकायिका आसेवितविवक्षितचारित्रकायिका , तदव्यतिरेकात् चारित्रमप्येवमुच्यते ।

इह नवको गण , तत्रैको वाचनाचार्यश्चत्वारो निर्विशमानकाश्चत्वारश्चाऽनुचारिण । निर्विशमानकाना चाय तपोविशेष —

[1]परिहारियाण उ तवो, जहन्न मज्झो तहेव उक्कोसो ।
सीउण्हवासकाले, भणिओ धीरेहिं पत्तेय ॥
तत्थ जहन्नो गिम्हे, चउत्थ छट्ठ तु होइ मज्झिमओ ।
अट्ठममिह उक्कोसो, इत्तो सिसिरे पवक्खामि ॥
सिसिरे उ जहन्नाई, छट्ठाई दसमचरिमगो होइ ।
वासासु अट्ठमाई, बारसपज्जतगो नेओ ॥
पारणगे आयाम, पचसु गहो दोसऽभिग्गहो भिक्खे ।
कप्पट्ठिया वि पइदिण, करेंति एमेव आयाम ॥
एव छम्मास तव, चरिउ परिहारिया अणुचरति ।
अणुचरगे परिहारियपयट्ठिए[2] जाव छम्मासा ॥
[3]कप्पट्ठिओ वि एव, छम्मास तव करेइ सेसा उ ।
अणुपरिहारिगभाव, वयति कप्पट्ठियत्त च ॥
[4]एवेसो अट्ठारसमासपमाणो उ वन्निओ कप्पो ।
सखेवओ विसेसो, विसेससुत्ताउ नायव्वो ॥
[5]कप्पसमत्तीइ तय, जिणकप्प वा उवेंति गच्छ वा ।
पडिवज्जमाणगा पुण, जिणस्सगासे पवज्जति ॥ (प्रवच० गा० ६०२–६०९)

---

१ परिहारिकाणा तु तप जघन्य मध्यम तथैवोत्कृष्टम् । शीतोष्णवर्षाकाले भणित धीरै प्रत्येकम् ॥ तत्र जघन्य ग्रीष्मे चतुर्थं षष्ठ भवति मध्यमम् । अष्टममिह उत्कृष्टमित शिशिरे प्रवक्ष्यामि ॥ शिशिरे तु जघन्यादि षष्ठादि दशमचरमक भवति । वर्षासु अष्टमादि द्वादशपर्यन्तक ज्ञेयम् ॥ पारणके आचाम्ल पञ्चसु ग्रह द्वयोरभिग्रहो भिक्षे । कल्पस्थिता अपि प्रतिदिन कुर्वन्ति एवमेवाचामाम्लम् ॥ एव षण्मासान् तपश्चरित्वा परिहारिका अनुचरन्ति । अनुचरका परिहारिकपदस्थिता यावत् षण्मासान् ॥ २ **प्रवचनसारोद्धारे** तु–°परिट्ठिए–°परिस्थिता इति ॥ ३ कल्पस्थितोऽप्येव षण्मासांस्तप करोति शेषास्तु । अनुपरिहारिकभाव व्रजन्ति कल्पस्थितत्व च ॥ एव एषोऽष्टादशमासप्रमाणस्तु वर्णित कल्प । सक्षेपतो विशेषो विशेषसूत्राद् ज्ञातव्य ॥ ४ एव सो अ° क० गा० ॥ ५ कल्पसमाप्तौ तक (परिहारिककल्प) जिनकल्पं वोपयन्ति गच्छ वा । प्रतिपद्यमानका पुनर्जिनसकाशे प्रपद्यन्ते ॥

तित्थयरसमीवासेवगस्स पासे व न उण अन्नस्स ।
एएसिं ज चरण, परिहारविसुद्धिग त तु ॥ (प्रवच० गा० ६१०)

अथैते परिहारविशुद्धिका कस्मिन् क्षेत्रे काले वा भवन्ति ?, उच्यते—इह क्षेत्रादिनिरूपणार्थं विंशतिद्वाराणि । तद्यथा—क्षेत्रद्वारं १ कालद्वार २ चारित्रद्वारं ३ तीर्थद्वारं ४ पर्यायद्वारम् ५ आगमद्वार ६ वेदद्वारं ७ कल्पद्वारं ८ लिङ्गद्वार ९ लेश्याद्वारं १० ध्यानद्वारं ११ गणद्वारम् १२ अभिग्रहद्वारं १३ प्रव्रज्याद्वारं १४ मुण्डापनद्वारं १५ प्रायश्चित्तविधिद्वारं १६ कारणद्वार १७ नि प्रतिकर्मद्वारं १८ भिक्षाद्वारं १९ पन्थद्वारम् २० । तत्र क्षेत्रे द्विधा मार्गणा—जन्मत सद्भावतश्च । यत्र क्षेत्रे जातस्तत्र जन्मतो मार्गणा, यत्र च कल्पे स्थितो वर्तते तत्र सद्भावत । उक्त च—

खित्ते दुहेह मग्गण, जम्मणओ चेव संतिभावे य ।
जम्मणओ जहिं जाओ, संतीभावो य जहिं कप्पो ॥ (पञ्चव० १४८५)

तत्र जन्मत सद्भावतश्च पञ्चसु भरतेषु पञ्चस्वैरवतेषु न तु महाविदेहेषु । न चैतेषा संहरणमस्ति येन जिनकल्पिका इव सहरणत सर्वासु कर्मभूमिष्वकर्मभूमिषु वा प्राप्येरन् । उक्त च—

खेत्ते भरहेरवएसु हुति संहरणवज्जिया नियमा । (पञ्चव० गा० १५२९)

कालद्वारे—अवसर्पिण्या तृतीये चतुर्थे वाऽरके जन्म, सद्भाव पञ्चमेऽपि, उत्सर्पिण्यां द्वितीये तृतीये चतुर्थे वा जन्म, सद्भाव पुनस्तृतीये चतुर्थे वा । उक्त च—

ओसप्पिणीएँ दोसु, जम्मणओ तीसु संतिभावेण ।
उस्सप्पिणि विवरीओ, जम्मणओ संतिभावेण ॥ (पञ्चव० गा० १४८७)

नोउत्सर्पिण्यवसर्पिणीरूपे चतुर्थारकप्रतिभागे काले न सम्भवन्ति, महाविदेहक्षेत्रे तेषामसम्भवात् । चारित्रद्वारे—संयमद्वारेण मार्गणा । तत्र सामायिकस्य च्छेदोपस्थापनस्य च चारित्रस्य यानि जघन्यानि सयमस्थानानि तानि परस्पर तुल्यानि, समानपरिणामत्वात्, ततोऽसङ्ख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणानि संयमस्थानान्यतिक्रम्योर्ध्वं यानि संयमस्थानानि तानि परिहारविशुद्धियोग्यानि, तान्यपि च केवलिप्रज्ञया परिभाव्यमानान्यसङ्ख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणानि, तानि प्रथमद्वितीयचारित्राविरोधीनि तेष्वपि सम्भवात् । तत ऊर्ध्वं यानि सङ्ख्यातीतानि संयमस्थानानि तानि सूक्ष्मसम्परायययथाख्यातचारित्रयोग्यानि । उक्त च—

तुल्ला जहन्नठाणा, संजमठाणाण पढमबिइयाण ।
तत्तो असखलोए, गतु परिहारियट्ठाणा ॥ (पञ्चव० गा० १५३०)

---

१ तीर्थकरसमीपासेवकस्य पार्श्वे वा न पुनरन्यस्य । एतेषा यत् चरण परिहारविशुद्धिक तत्तु ॥ २ क्षेत्रे द्विधेह मार्गणा जन्मतश्चैव सद्भावतश्च । जन्मतो यत्र जात सद्भावतश्च यत्र कल्प ॥ ३ कप्पे क० ख० ग० घ० ङ० ॥ ४ क्षेत्रे भरतैरवतयो भवन्ति सहरणवर्जिता नियमात् ॥ ५ अवसर्पिण्यां द्वयोर्जन्म तस्त्रिषु सद्भावेन । उत्सर्पिण्या विपरीत जन्मत सद्भावत ॥ ६ तिसु य स° पञ्चवस्तुके ॥ ७ तुल्यानि जघन्यस्थानानि सयमस्थानयो प्रथमद्वितीययो । ततोऽसङ्ख्यातलोकान् गत्वा परिहारिकस्थानानि ॥ ८ °णाई प° क० ख० ग० घ० ङ० ॥

[1]ते [2]वि असंखा लोगा, अविरुद्धा चेव पढमबीयाण ।
उवरिं पि तो असंखा, संजमठाणाउ दुण्ह पि ॥ (पञ्चव० गा० १५३१)

तत्र परिहारविशुद्धिककल्पप्रतिपत्ति स्वकीयेष्वेव सयमस्थानेषु वर्तमानस्य भवति न शेषेषु । यदा त्वतीतनयमधिकृत्य पूर्वप्रतिपन्नो विवक्ष्यते तदा शेषेष्वपि संयमस्थानेषु भवति, परिहारविशुद्धिककल्पसमाप्त्यनन्तरमन्येष्वपि च चारित्रेषु सम्भवात्, तेष्वपि च वर्तमानस्याऽतीतनयमपेक्ष्य पूर्वप्रतिपन्नत्वात् । उक्त च—

[3]सट्ठाणे पडिवत्ती, अन्नेसु वि हुज्ज पुव्वपडिवन्नो ।
तेसु वि वट्टतो सो, तीयनय पप्प वुच्चइ उ ॥ (पञ्चव० गा० १५३२)

तीर्थद्वारे—परिहारविशुद्धिको नियमत तीर्थे प्रवर्तमान एव सति भवति, न तूच्छेदेऽनुत्पत्त्या वा तदभावे जातिस्मरणादिना । उक्त च—

[4]तित्थि त्ति नियमओ चिय, होइ स तित्थम्मि न उण तदभावे ।
विगएऽणुप्पन्ने वा, जाईसरणाइएहिं तु ॥ (पञ्चव० गा० १४९२)

पर्यायद्वारे—पर्यायो द्विधा—गृहस्थपर्यायो यतिपर्यायश्च । एकैकोऽपि द्विधा—जघन्य उत्कृष्टश्च । तत्र गृहस्थपर्यायो जघन्य एकोनत्रिंशद्वर्षाणि, यतिपर्यायो विंशति, द्वावपि चोत्कृष्टतो देशोनपूर्वकोटीप्रमाणौ । उक्त च—

[5]एयस्स एस नेओ, गिहिपरियाओ जहन्निगुणतीसा ।
जइपरियाओ वीसा, दोसु वि उक्कोस देसूणा ॥ (पञ्चव० गा० १४९४)

आगमद्वारे—अपूर्वागम स नाधीते, यस्मात् त कल्पमधिकृत्य प्रगृहीतोचितयोगाराधनत एव स कृतकृत्यता भजते, पूर्वाधीत तु विश्रोतसिकाक्षयनिमित्त नित्यमेवैकाग्रमना सम्यक् प्रायोऽनुसरति । उक्त च—

[6]अप्पुव्व नाहिज्जइ, आगममेसो पडुच्च त कप्प ।
जमुचियपंगहियजोगाराहणओ चेव कयकिच्चो ॥
पुव्वाहीय तु तय, पाय अणुसरइ निच्चमेवेसो ।
एगग्गमणो सम्म, विस्सोयसिगाइखयहेऊ ॥ (पञ्चव० गा० १४९५–९६)

वेदद्वारे—प्रवृत्तिकाले वेद पुरुषवेदो वा नपुसकवेदो वा भवेत्, न स्त्रीवेद, स्त्रिया परिहारविशुद्धिककल्पप्रतिपत्त्यसम्भवात् । अतीतनयमधिकृत्य पुन पूर्वप्रतिपन्नश्चिन्त्यमान सवेदो

---

१ तान्यपि असङ्ख्यानि लोकानि अविरुद्धा येव प्रथमद्वितीययो । उपर्यपि ततोऽसङ्ख्यातानि सयमस्थानानि द्वयोरपि ॥ २ ताण वि असखलो° पञ्चवस्तुके ॥ ३ स्वस्थाने प्रतिपत्तिरन्येष्वपि भवेत् पूर्वप्रतिपन्न । तेष्वपि वर्तमान सोऽतीतनय प्राप्य उच्यते तु ॥ ४ तीर्थ इति नियमत एव भवति स तीर्थे न पुनस्तदभावे । विगतेऽनुत्पन्ने वा जातिस्मरणादिकैस्तु ॥ ५ एतस्यैष ज्ञेयो गृहिपर्यायो जघन्यत एकोनत्रिंशत् (वर्षाणि) । यतिपर्यायो विंशतिर्द्वयोरपि उत्कृष्टो देशोना (पूर्वकोटी) ॥ ६ अपूर्व नाधीते आगममेष प्रतीत्य त कल्पम् । यदुचितप्रगृहीतयोगाराधनत एव कृतकृत्य ॥ ७ जम्म पञ्चवस्तुके ॥ ८ °पगिट्ठजो° पञ्चवस्तुके ॥ ९ पूर्वाधीत तु तत् (श्रुतम्) प्रायोऽनुसरति नित्यमेवैष । एकाग्रमना सम्यग् विश्रोतसिकादिक्षयहेतुम् ॥

वा भवेद् अवेदो वा, तत्र सवेद श्रेणिप्रतिपत्त्यभावे उपशमश्रेणिप्रतिपत्तौ वा, क्षपकश्रेणिप्रतिपत्तौ त्ववेद इति । उक्त च—

[1]वेदो पविचिकाले, इत्थीवज्जो उ होइ एगयरो ।
पुव्वपडिवन्नओ पुण, होज्ज सवेओ अवेओ वा ॥ (पञ्चव० गा० १४९७)

कल्पद्वारे—स्थितकल्प एवाय नास्थितकल्पे, "ठियेकप्पम्मि वि नियमा" [2] (पञ्चव० गा० १५३३) इति वचनात् । तत्राऽऽचेल्क्यादिषु दशस्वपि स्थानेषु ये स्थिता साधवस्तत्कल्प स्थितकल्प उच्यते, ये पुनश्चतुर्षु शय्यातरपिण्डादिष्ववस्थितेषु कल्पेषु स्थिता शेषेषु चाऽऽचेलक्यादिषु षट्स्वस्थितास्तत्कल्पोऽस्थितकल्प । उक्त च—

[3]ठियँ अट्ठिओ य कप्पो, आचेलक्काइएसु ठाणेसु ।
सव्वेसु ठिया पढमो, चउ ठिय छसु अट्ठिया बीओ ॥ (पञ्चव० गा० १४९९)

आचेलक्यादीनि च दश स्थानान्यमूनि—

[4]आचेल्कुद्देसियसिज्जायररायपिंडकिइकम्मे ।
वयजिट्ठपडिक्कमणे, मासपज्जोसवणकप्पे ॥ (पञ्चव० गा० १५००)

चत्वारश्चावस्थिता कल्पा इमे—

सिज्जायरपिंडम्मी, चाउज्जामे य पुरिसजेट्ठे य ।
किइकम्मस्स य करणे, [5]चत्तारि अवट्ठिया कप्पा ॥ (पञ्चाश० १७ गा० १०)

लिङ्गद्वारे—नियमतो द्विविधेऽपि लिङ्गे भवति । तद्यथा—द्रव्यलिङ्गे भावलिङ्गे च । एकेनापि विना विवक्षितकल्पोचितसामाचार्ययोगात् । लेश्याद्वारे—तेज प्रभृतिकासूत्तरासु तिसृषु विशुद्धासु लेश्यासु परिहारविशुद्धिक कल्प प्रतिपद्यते, पूर्वप्रतिपन्न पुन सर्वास्वपि कथञ्चिद् भवति, तत्राऽपीतरास्वविशुद्धलेश्यासु नात्यन्तसङ्क्लिष्टासु वर्तते, तथाभूतासु वर्तमानो न प्रभूत कालमवतिष्ठते, किन्तु स्तोकम्, यत स्ववीर्यवशात् झटित्येव ताभ्यो व्यावर्तते । अथ प्रथमत एव कस्मात् प्रवर्तते ? उच्यते—कर्मवशात् । उक्त च—

[7]लेसासु विसुद्धासु, पडिवज्जइ तीसु न उण सेसासु ।
पुव्वपडिवन्नओ पुण, हुज्जा सव्वासु वि कहचि ॥
नच्चतसंकिलिट्ठासु थोवकाल च हदि इयरेसु ।
चित्ता कम्माण गई, तहा वि विरिय फल देइ ॥ (पञ्चव० गा० १५०३–४)

---

१ वेद प्रवृत्तिकाले स्त्रीवर्जस्तु भवति एकतर । पूर्वप्रतिपन्नक पुनर्भवेत् सवेदोऽवेदो वा ॥ २ स्थितकल्प एव नियमात् । ३ स्थितोऽस्थितश्च कल्प आचेलक्यादिकेषु स्थानेषु । सर्वेषु स्थिता प्रथम चतुर्षु स्थिता षट्स्वस्थिता द्वितीय ॥ ४ आचेलक्यौद्देशिकशय्यातरराजपिण्डकृतिकर्माणि । व्रतज्येष्ठप्रतिक्रमणानि मास पर्युषणाकल्पौ ॥ ५ शय्यातरपिण्डे चतुर्यामे च पुरुषज्येष्ठे च । कृतिकर्मणश्च करणे चत्वारोऽवस्थिता कल्पा ॥ ६ पञ्चाशके प्रवचनसारोद्धारे च– ठिइकप्पो मज्झिमाण तु' इत्येव पाठ ॥ ७ लेश्यासु विशुद्धासु प्रतिपद्यते तिसृषु न पुन शेषासु । पूर्वप्रतिपन्नक पुनर्भवेत् सर्वास्वपि कथञ्चित् ॥ नात्यन्तसङ्क्लिष्टासु स्तोककाल च हन्दि इतरासु । चित्रा कर्मणा गति तथापि वीर्य फल ददाति ॥ ८ इयरासु प्र० पञ्चवस्तुके च ॥

ध्यानद्वारे—धर्मध्यानेन प्रवर्तमानेन परिहारविशुद्धिक कल्प प्रतिपद्यते । पूर्वप्रतिपन्न पुनरार्तरौद्रयोरपि भवति केवल प्रायेण निरनुबन्ध । उक्त च—

झाणम्मि वि धम्मेण, पडिवज्जइ सो पवड्ढमाणेण ।
इयरेसु वि झाणेसु, पुव्वपवन्नो न पडिसिद्धो ॥
एव च कुसलजोगे, उद्दामे तिव्वकम्मपरिणामा ।
रुद्दट्टेसु वि भावो, इमस्स पाय निरणुबधो ॥ (पञ्चव० गा० १५०५–६)

गणद्वारे—जघन्यतस्त्रयो गणा प्रतिपद्यन्ते, उत्कर्षत शतसङ्ख्या । पूर्वप्रतिपन्ना जघन्यत उत्कर्षतो वा शतश । पुरुषगणनया जघन्यत प्रतिपद्यमाना सप्तविंशति, उत्कर्षत सहस्रम् । पूर्वप्रतिपन्ना पुनर्जघन्यत शतश, उत्कर्षत सहस्रश । आह च—

गणओ तिन्नेव गणा, जहन्न पडिवत्ति सयस उक्कोसा ।
उक्कोसजहन्नेण, सयसु चिय पुव्वपडिवन्ना ॥
सत्तावीस जहन्ना, सहस्समुक्कोसओ य पडिवत्ती ।
सयसो सहस्ससो वा, पडिवन्न जहन्न उक्कोसा ॥ (पञ्चव० गा० १५३४–३५)

अन्यच्च यदा पूर्वप्रतिपन्न कल्पमध्याद् एको निर्गच्छति अन्य प्रविशति तदोनप्रक्षेपे प्रतिपत्तौ कदाचिद् एकोऽपि भवति पृथक्त्व वा । उक्त च—

पडिवज्जमाण भइया, इक्को वि य हुज्ज ऊणपक्खेवे ।
पुव्वपडिवन्नया वि य, भइया एक्को पुहुत्त वा ॥ (पञ्चव० गा० १५३६)

अभिग्रहद्वारे—अभिग्रहाश्चतुर्विधा । तद्यथा—द्रव्याभिग्रहा क्षेत्राभिग्रहा कालाभिग्रहा भावाभिग्रहाश्च विचित्रा भवन्ति । तत्र परिहारविशुद्धिकस्य इमेऽभिग्रहा न भवन्ति, यस्माद् एतस्य कल्प एव यथोदितरूपोऽभिग्रहो वर्तते । उक्त च—

दव्वाईय अभिग्गह, विचित्तरूवा न हुति पुण केई ।
एयस्स जावकप्पो, कप्पु चियऽभिग्गहो जेण ॥
एयम्मि गोयराई, नियया नियमेण निरववाया य ।
तप्पालण चिय पर, एयस्स विसुद्धिठाण तु ॥ (पञ्चव० गा० १५०९–१०)

प्रव्रज्याद्वारे—नासावन्य प्रव्राजयति कल्पस्थितिरेषेति कृत्वा । उक्त च—

---

१ ध्यानेऽपि धर्मेण (ध्यानेन) प्रतिपद्यतेऽसौ प्रवर्धमानेन । इतरेष्वपि ध्यानेषु पूर्वप्रपन्नो न प्रतिषिद्ध ॥ एव च कुशलयोगे उद्दामे तीव्रकर्मपरिणामात् । रौद्रार्त्तयोरपि भावोऽस्य प्रायो निरनुबन्ध ॥ २ एव अकु° क० ख० ग० घ० ङ० ॥ ३ गणतस्त्रय एव गणा जघन्या प्रतिपत्ति शतश उत्कृष्टा । उत्कृष्टजघन्याभ्या शतश एव पूर्वप्रतिपन्ना ॥ सप्तविंशतिर्जघन्या सहस्राण्युत्कृष्टतश्च प्रतिपत्ति । शतश सहस्रशो वा प्रतिपन्ना जघन्या उत्कृष्टा ॥ ४ प्रतिपद्यमाना भक्ता एकोऽपि च भवेद् ऊनप्रक्षेपे । पूर्वप्रतिपन्नका अपि च भक्ता एक पृथक्त्व वा ॥ ५ द्रव्यादिका अभिग्रहा विचित्ररूपा न भवन्ति पुन केऽपि । एतस्य यावत्कल्प कल्प एवाभिग्रहो येन ॥ ६ °व्वाईआऽभि° इति पञ्चवस्तुके ॥ ७ °ति इत्तिरिआ । इति पञ्चवस्तुके ॥ ८ °स्स आवकहिओ कप्पो चि° इति पञ्चवस्तुके ॥ ९ एतस्मिन् गोचरादयो नियता नियमेन निरपवादाश्च । तत्पालनमेव परमेतस्य विशुद्धिस्थान तु ॥

पव्वाएइ न एसो, अन्न कप्पट्ठिइ त्ति काउण । (पञ्चव० गा० १५११)

उपदेशं पुनर्यथाशक्ति प्रयच्छति । मुण्डापनद्वारेऽपि नासावन्यं मुण्डापयति । अथ प्रव्रज्यानन्तरं नियमतो मुण्डनमिति प्रव्रज्याग्रहणेनैव तद् गृहीतमिति किमर्थं पृथग् द्वारम् ? तदयुक्तम्, प्रव्रज्यानन्तरं नियमतो मुण्डनस्याऽसम्भवात्, अयोग्यस्य कथञ्चिद्दत्तायामपि प्रव्रज्याया पुनरयोग्यतापरिज्ञाने मुण्डनायोगाद्, अत पृथगिद द्वारमिति । प्रायश्चित्तविधिद्वारे—मनसाऽपि सूक्ष्ममप्यतिचारमापन्नस्य नियमतश्चतुर्गुरुकं प्रायश्चित्तमस्य, यत एष कल्प एकाग्रताप्रधानस्ततस्तद्भङ्गे गुरुतरो दोष इति । कारणद्वारे—कारण नामाऽऽलम्बनम्, तत्पुन सुपरिशुद्धं ज्ञानादिकम्, तच्चास्य न विद्यते येन तदाश्रित्याऽपवादपदसेविता स्यात्, एष हि सर्वत्र निरपेक्ष क्लिष्टकर्मक्षयनिमित्त मारब्धमेव स्व कल्प यथोक्तविधिना समापयन् महात्मा वर्तते । उक्त च—

कारणमालंबणमो, त पुण नाणाइयं सुपरिसुद्ध ।
एयस्स त न विज्जइ, उचियं तवसाहणोपायं ॥
सव्वत्थ निरवेयक्खो, आढवियं सं दढ समाणतो ।
वट्टइ एस महप्पा, किलिट्ठकम्मक्खयनिमित्त ॥ (पञ्चव० गा० १५१७–१८)

निष्प्रतिकर्मताद्वारे—एष महात्मा निष्प्रतिकर्मशरीरोऽक्षिमलादिकमपि कदाचिद् नापनयति, न च प्राणान्तिकेऽपि व्यसने समापतिते द्वितीयपद सेवते । उक्त च—

निप्पडिकम्मसरीरो, अच्छिमलाई वि नावणेइ सया ।
पाणतिए वि य महावसणम्मि न वट्टए बीए ॥
अप्पबहुत्तालोयणविसयाईओ उ होइ एस त्ति ।
अहवा सुहभावाओ, बहुग पेय चिय इमस्स ॥ (पञ्चव० गा० १५१९–२०)

भिक्षाद्वारे—भिक्षा विहारक्रमश्चाऽस्य तृतीयस्या पौरुष्या भवति, शेषासु च पौरुषीषु कायोत्सर्ग, निद्राऽपि चाऽस्याऽल्पा द्रष्टव्या । यदि पुन कथमपि जङ्घाबलमस्य परिक्षीण भवति तथाऽप्येकोऽविहरन्नपि महाभागो न द्वितीयपदमापद्यते, किन्तु तत्रैव यथाकल्पमात्मीययोगान् विदधाति । उक्त च—

तइयाए पोरिसीए, भिक्खाकालो विहारकालो उ ।
सेसासु य उस्सग्गो, पाय अप्पा य निद्दा वि ॥ (पञ्चव० गा० १५२१)

---

१ प्रव्राजयति नैषोऽन्य कल्पस्थितिरिति कृत्वा ॥ २ कारणमालम्बन तत् पुन ज्ञानादिक सुपरिशुद्धम् । एतस्य तन्न विद्यते उचित तप साधनोपाय ॥ ३ पञ्चवस्तुके तु–°साहणा पाय–° साधनाप्राय ॥ ४ सर्वत्र निरपेक्ष आरब्ध स्व दृढ समापयन् । वर्तते एष महात्मा क्लिष्टकर्मक्षयनिमित्तम् ॥ ५ °रवेक्खो क० घ० ङ० ॥ ६ °ढवियं चेव सं स° ख० । पञ्चवस्तुके तु–आढत्तं चिय द° ॥ ७ निष्प्रतिकर्मशरीरोऽक्षिमलाद्यपि नापनयति सदा । प्राणान्तिकेऽपि च महाव्यसने न वर्तते द्वितीये ॥ ८ पञ्चवस्तुके तु–तहा य° ॥ ९ अल्पबहुत्वालोचनविषयातीतस्तु भवत्येष इति । अथवा शुभभावाद् बहुकमप्येतदेवास्य ॥ १० तृतीयस्यां पौरुष्यां भिक्षाकालो विहारकालस्तु । शेषासु च उत्सर्गं प्रायोऽल्पा च निद्राऽपि ॥ ११ निद्द त्ति ॥ इति पञ्चवस्तुके ॥

[1]जंघाबलम्मि खीणे, अविहरमाणो वि नवरि नावज्जे ।
तत्थेव अहाकप्प, कुणइ उ जोग महाभागो ॥ (पञ्चव० गा० १५२२)

एते च परिहारविशुद्धिका द्विविधा , तद्यथा—इत्वरा यावत्कथिकाश्च । तत्र ये कल्पसमास्त्यनन्तरमेव कल्प गच्छ वा समुपयास्यन्ति त इत्वरा , ये पुन कल्पसमास्त्यनन्तरमव्यवधानेन जिनकल्प प्रतिपत्स्यन्ते ते यावत्कथिका । उक्त च—

[2]इत्तरिय थेरकप्पे, जिणकप्पे आवकहिय त्ति ॥ (पञ्चव० गा० १५२४)

अत्र स्थविरकल्पग्रहणमुपलक्षण स्वकल्पे वेति द्रष्टव्यम् । तत्रेत्वराणां कल्पप्रभावाद् देवमनुष्यतिर्यग्योनिककृता उपसर्गा सद्योघातिन आतङ्का अतीवाविषह्याश्च वेदना न प्रादु ष्पन्ति, यावत्कथिकानां सम्भवेयुरपि । ते हि जिनकल्प प्रतिपत्स्यमाना जिनकल्पभावमनुविदधति, जिनकल्पिकाना चोपसर्गादय सम्भवन्तीति । उक्त च—

[3]इत्तरियाणुवसग्गा आयका वेयणा य न हवन्ति ।
आवकहियाण भइया, (पञ्चव० गा० १५२६) इति ।

तथा "सुहुम" त्ति 'सूक्ष्मसम्पराय' सम्परैति—पर्यटति संसारमनेनेति सम्पराय —क्रोधादिकषाय , सूक्ष्मो लोभांशमात्रावशेषतया सम्परायो यत्र तत् सूक्ष्मसम्परायम् । इदमपि संक्लिश्यमानकविशुध्यमानकभेद द्विधा । तत्र श्रेणिमच्यवमानस्य संक्लिश्यमानकम्, श्रेणिमारोहतो विशुध्यमानकमिति । "अहखाय" त्ति अथशब्दोऽत्र याथातथ्ये, आङ् अभिविधौ, आ—समन्ताद् याथातथ्येन ख्यातमथाख्यातम्, कषायोदयाभावतो निरतिचारत्वात् पारमार्थिकरूपेण ख्यातमथाख्यातम् । यद्वा यथा सर्वस्मिन् जीवलोके ख्यात—प्रसिद्धम् अकषाय भवति चारित्रमिति यत्तद् यथाख्यातम् । "देसजय" त्ति देशे—सङ्कल्पनिरपराधत्रसवधविषये यत—यमन संयमो यस्य स देशयत —सम्यग्दर्शनयुत एकाणुव्रतादिधारी, अनुमतिमात्रश्रावक इत्यर्थ । यदाह श्रीशिवशर्मसूरिवर कर्मप्रकृतौ—

[4]एगव्वयाइ चरमो, अणुमइमित्त त्ति देसजई ॥ (गा० ३४०)

"अजय" त्ति न विद्यते यत—विरत विरतिर्यस्य सोऽयत सर्वथा विरतिहीन । तथा दर्शनशब्दस्य प्रत्येक सम्बन्धात् चक्षुर्दर्शनाचक्षुर्दर्शनावधिदर्शनकेवलदर्शनरूपाणि चत्वारि दर्शनानि । तत्र चक्षुषा दर्शन—वस्तुसामान्यांशात्मक ग्रहण चक्षुर्दर्शनम् १, अचक्षुषा—चक्षुर्वर्जशेषेन्द्रियचतुष्टयेन मनसा च यद् दर्शन—सामान्यांशात्मक ग्रहण तद् अचक्षुर्दर्शनम् २, अवधिना—रूपिद्रव्यमर्यादया दर्शन—सामान्यांशग्रहणमवधिदर्शनम् ३, केवलेन—सम्पूर्णवस्तुतत्त्वग्राहकबोधविशेषरूपेण यद् दर्शन—सामान्यांशग्रहण तत् केवलदर्शनम् ४ इति । किंरूपाण्येतानि दर्शनानि ? अत आह—'अनाकाराणि' सामान्याकारयुक्तत्वे सत्यपि न विद्यते विशिष्टव्यक्त आकारो येषु तान्यनाकाराणि । भावार्थ प्रागेवोक्त इति ॥ १२ ॥

---

१ जङ्घाबले क्षीणेऽविहरन्नपि नवरं नापद्यते । तत्रैव यथाकल्पं करोति तु योगं महाभाग ॥ २ इत्वरा स्थविरकल्पे, जिनकल्पे यावत्कथिका इति ॥ ३ इत्वरिकाणामुपसर्गा आतङ्का वेदनाश्च न भवन्ति । यावत्कथिकानां भक्ता ॥ ४ एकव्रतादिचरम अनुमतिमात्र इति देशयति ॥ ५ श्वे व्याख्या आ° ८० ॥

क० १८

किण्हा नीला काऊ, तेऊ पम्हा य सुक्क भव्वियरा ।
वेयग खइगुवसम मिच्छ मीस सासाण सन्नियरे ॥ १३ ॥

इह षोढा लेश्या—कृष्णलेश्या नीललेश्या कापोतलेश्या तेजोलेश्या पद्मलेश्या 'च' समुच्चये व्यवहितसम्बन्धश्च, स च शुक्ललेश्या च इत्यत्र योज्य । 'भव्य' मुक्तिगमनार्ह 'इतर' अभव्य —कदाचनापि सिद्धिगमनानर्ह । "वेयग" त्ति 'वेदक' सम्यक्त्वपुद्गलवेदनात् क्षायोपशमिकमित्यर्थ । तत्रोदीर्णस्य मिथ्यात्वस्य क्षयेण अनुदीर्णस्य चोपशमेन विष्कम्भितोदयस्वरूपेण यद् निर्वृत्त तत् क्षायोपशमिकम् । उक्त च—

मिच्छत्त जमुइन्न, त खीण अणुदिय च उवसत ।
मीसीभावपरिणय, वेइज्जत खओवसम ॥ (विशेषा० गा० ५३२)

तथा "खइग" त्ति क्षयेण—अत्यन्तोच्छेदेन त्रिविधस्याऽपि दर्शनमोहनीयस्य निर्वृत्त क्षायिकम् । तच्च क्षपकश्रेण्यामेव भवति—

पढमकसाए समय, खवेइ अतोमुहुत्तमित्तेण ।
तत्तु च्चिय मिच्छत्त, तओ य मीस तओ सम्म ॥
बद्धाऊ पडिवन्नो, पढमकसायक्खए जइ मरिज्जा ।
तो मिच्छत्तोदयओ, चिणिज्ज भुज्जो न खीणम्मि ॥
तम्मि मओ जाइ दिव, तप्परिणामो य सत्तए खीणे ।
उवरयपरिणामो पुण, पच्छा नाणामइगईओ ॥
खीणम्मि दसणतिए, किं होइ तओ तिदसणाईओ[1] ।
भन्नइ सम्मद्दिट्ठी, सम्मत्तखए कओ सम्म[2] ॥
निव्वलियमयणकुद्दवरूव मिच्छत्तमेव सम्मत्त ।
खीण न उ जो भावो, सद्दहणालक्खणो तस्स ॥
सो तस्स विसुद्धयरो, जायइ सम्मत्तपुग्गलक्खयओ ।
दिट्ठि व्व सण्हसुद्धब्भपडलविगमे मणूसस्स ॥
जह सुद्धजलाणुगय, वत्थ सुद्ध जलक्खए सुतर ।
सम्मत्तसुद्धपुग्गलपरिक्खए दसण पेव ॥ (विशेषा० गा० १३१५–२१)

---

१ मिथ्यात्व यदुदीर्णं तत् क्षीणमनुदित चोपशान्तम् । मिश्रभावपरिणत वेद्यमान क्षायोपशमिकम् ॥
२ प्रथमकषायान् समक क्षपयति अन्तर्मुहूर्त्तमात्रेण । तत एव मिथ्यात्व ततश्च मिश्र तत सम्यक्त्वम् ॥ बद्धायु प्रतिपन्न प्रथमकषायक्षये यदि म्रियेत । ततो मिथ्यात्वोदयतश्चिनुयाद् भूयो न क्षीणे ॥ तस्मिन् मृतो याति दिव तत्परिणामश्च सप्तके क्षीणे । उपरतपरिणाम पुन पश्चान्नानामतिगतिक ॥ क्षीणे दर्शनत्रिके किं भवति तकस्त्रिदर्शनातीत[1] । भण्यते सम्यग्दृष्टि सम्यक्त्वक्षये कुत सम्यक्त्वम्[2] ॥ निर्वलितमदनकोद्रवरूप मिथ्यात्वमेव सम्यक्त्वम् । क्षीण न तु यो भाव श्रद्धानलक्षणस्तस्य ॥ स तस्य विशुद्धतरो जायते सम्यक्त्व पुद्गलक्षयत । दृष्टिरिव श्लक्ष्णशुद्धाभ्रपटलविगमे मनुष्यस्य ॥ यथा शुद्धजलानुगत वस्त्र शुद्ध जलक्षये सुतराम् । सम्यक्त्वशुद्धपुद्गलपरिक्षये दर्शनमप्येवम् ॥ ३ इद क० ग० म० ह० ॥

तंम्मि य तइय चउत्थे, भवम्मि सिज्झति खइयसम्मत्ते ।
सुरनरयजुगलिसु गई, इम तु जिणकालियनराण ॥
पडिवत्ती[1] अविरयदेसपमत्तापमत्तविरयाण ।
अन्नयरो पडिवज्जइ, सुद्धज्झाणोवगयचित्तो ॥ (विशेषा० गा० १३१४)

तथा उदीर्णस्य मिथ्यात्वस्य क्षये सति अनुदीर्णस्य उपशम —विपाकप्रदेशवेदनरूपस्य द्विविधस्याप्युदयस्य विष्कम्भण तेन निर्वृत्तमौपशमिकम्, तच्च द्विधा—ग्रन्थिभेदसम्भवमुपशमश्रेणिसम्भवं च । तत्र ग्रन्थिभेदसम्भवमेवम्—इह गम्भीरापारससारसागरमध्यमध्यासीनो जन्तुर्मिथ्यात्वप्रत्ययमनन्तान् पुद्गलपरावर्तान् अनन्तदु खलक्षाण्यनुभूय कथमपि तथाभव्यत्वपरिपाकवशतो गिरिसरिदुपलघोलनाकल्पेनाऽनाभोगनिर्वर्तितयथाप्रवृत्तिकरणेन "करण परिणामोऽत्र" इति वचनादध्यवसायविशेषरूपेणाऽऽयुर्वर्जानि ज्ञानावरणीयादिकर्माणि सर्वाण्यपि पल्योपमासङ्ख्येयभागन्यूनैकसागरोपमकोटाकोटीस्थितिकानि करोति, अत्र चाऽन्तरे जीवस्य कर्मजनितो घनरागद्वेषपरिणामरूप कर्कशनिबिडचिरप्ररूढगुपिलवक्रग्रन्थिवद् दुर्भेदोऽभिन्नपूर्वो ग्रन्थिर्भवति । तदुक्तम्—

तीए[2] वि थोवमित्ते, खविए इत्थतरम्मि जीवस्स ।
हवइ हु अभिन्नपुव्वो, गंठी एव जिणा बिंति ॥ (धर्मसं० गा० ७५२)
गंठि त्ति सुदुब्भेओ, कक्खडघणरूढगूढगंठि व्व ।
जीवस्स कम्मजणिओ, घणरागद्दोसपरिणामो ॥ (विशेषा० गा० ११९५) इति ।

इम च ग्रन्थि यावद् अभव्या अपि यथाप्रवृत्तिकरणेन कर्म क्षपयित्वाऽनन्तश समागच्छन्ति । उक्त चावश्यकटीकायाम्—

अभव्यस्यापि कस्यचिद् यथाप्रवृत्तिकरणतो ग्रन्थिमासाद्य अर्हदादिविभूतिदर्शनत प्रयोजनान्तरतो वा प्रवर्तमानस्य श्रुतसामायिकलाभो भवति न शेषलाभ इति ॥ (पत्र ७६)

एतदनन्तर कश्चिदेव महात्मा समासन्नपरमनिर्वृतिसुख समुल्लसितप्रचुरदुर्निवारवीर्यप्रसरो निशितकुठारधारयेव परमविशुद्ध्या यथोक्तस्वरूपस्य ग्रन्थेर्भेद विधाय मिथ्यात्वस्थितेरन्तर्मुहूर्तमुदयक्षणादुपर्यतिक्रम्याऽपूर्वकरणानिवृत्तिकरणलक्षणविशुद्धिजनितसामर्थ्योऽन्तर्मुहूर्तकालप्रमाण तत्प्रदेशवेद्यदलिकाभावरूपमन्तरकरण करोति । अत्र यथाप्रवृत्तिकरणापूर्वकरणानिवृत्तिकरणानामय क्रम —

जा[3] गंठी ता पढम, गंठि समइच्छओ भवे बीय ।
अनियट्टीकरण पुण, सम्मत्तपुरक्खडे जीवे ॥ (विशेषा० गा० १२०३)

---

१ तस्मिश्च तृतीये चतुर्थे भवे सिध्यन्ति क्षायिकसम्यक्त्वे । सुरनारकयुगलिकेषु गतिरेतत्तु जिनकालिकनराणाम् ॥ प्रतिपत्तो अविरतदेशप्रमत्ताप्रमत्तविरतानाम् । अन्यतर प्रतिपद्यते शुक्लध्यानोपगतचित्त ॥ २ तस्या अपि स्तोकमात्रे क्षपितेऽत्रान्तरे जीवस्य । भवति हि अभिन्नपूर्वो ग्रन्थिरेव जिना ब्रुवते ॥ ग्रन्थिरिति सुदुर्भेद कर्कशघनरूढगूढग्रन्थिरिव । जीवस्य कर्मजनितो घनरागद्वेषपरिणाम ॥ ३ यावद् ग्रन्थिस्तावत् प्रथमं ग्रन्थि समतिक्रमतो भवेद् द्वितीयम् । अनिवृत्तिकरण पुन पुरस्कृतसम्यक्त्वे जीवे ॥

"गंठि समइच्छओ" त्ति ग्रन्थिं समतिक्रामत —भिन्दानस्येति, "सम्मपुरक्खडे" त्ति सम्यक्त्वं पुरस्कृतं येन तस्मिन्, आसन्नसम्यक्त्वे जीवेऽनिवृत्तिकरणं भवतीत्यर्थः । एतस्मिंश्चान्तरकरणे कृते सति तस्य मिथ्यात्वकर्मणः स्थितिद्वयं भवति । अन्तरकरणादधस्तनी प्रथमा स्थितिरन्तर्मुहूर्तप्रमाणा, तस्मादेवान्तरकरणादुपरितनी शेषा द्वितीया स्थितिः । स्थापना । तत्र प्रथमस्थितौ मिथ्यात्वदलिकवेदनादसौ मिथ्यादृष्टिरेव । अन्तर्मुहूर्तेन पुनस्तस्यामपगतायामन्तरकरणप्रथमसमय एव औपशमिकसम्यक्त्वमवाप्नोति, मिथ्यात्वदलिकवेदनाभावात् । यथा हि वनदावानलः पूर्वदग्धेन्धनमूषरं वा देशमवाप्य विध्यायति तथा मिथ्यात्ववेदनवनदावोऽप्यन्तरकरणमवाप्य विध्यायति, तथा च सति तस्यौपशमिकसम्यक्त्वलाभः । यदाहुः श्रीपूज्यपादाः—

ऊसरदेसं दड्ढिल्लयं च विज्झाइ वणदवो पप्प ।
इय मिच्छस्स अणुदए, उवसमसम्मं लहइ जीवो ॥ (विशेषा० गा० २७३४) इति ।

व्यावर्णितं ग्रन्थिभेदसम्भवमौपशमिकसम्यक्त्वम् । अथोपशमश्रेणिसम्भवमौपशमिकसम्यक्त्वं त्रिभुवनजनमथितप्रवचनोपनिषद्वेदिश्रीजिनभद्रगणिक्षमाश्रमणप्रणीतगाथाभिरेव भाव्यते—

उवसामगसेढीए, पट्ठवओ अप्पमत्तविरओ त्ति ।
पज्जवसाणे सो वा, होइ पमत्तो अविरओ वा ॥
अन्ने भणंति अविरय देस-पमत्ता-ऽपमत्तविरयाण ।
अन्नयरो पडिवज्जइ, दसणसमयम्मि उ नियट्टी ॥
(विशेषा० गा० १२८५–१२८९)
संजलणाईण समो, जुत्तो संजोयणादओ जे उ ।
ते पुव्विं चिय समिया, णणु सम्मत्ताइलाभम्मि ॥ (विशेषा० गा० १२९०)

आचार्य —

आसि खओवसमो सिं, समोऽहुणा भणइ को विसेसो सिं ।
नणु खीणम्मि उइन्ने, सेसोवसमे खओवसमो ॥
सो चेव णणूवसमो, उइए खीणम्मि सेसए समिए ।
सुहुमोदयया मीसे, न तूवसमिए विसेसोऽयं ॥
वेएइ संतकम्मं, खओवसमिएसु नाणुभागं सो ।
उवसंतकसाओ पुण, वेएइ न संतकम्मं पि ॥ (विशेषा० गा० १२९१–९३)

---

१ ऊषरदेशं दग्धं च विध्यायति वनदवः प्राप्य । इति मिथ्यात्वस्यानुदये औपशमिकसम्यक्त्वं लभते जीवः ॥ २ उपशमकश्रेण्याः प्रस्थापकोऽप्रमत्तविरत इति । पर्यवसाने स वा भवति प्रमत्तोऽविरतो वा ॥ अन्ये भणन्त्यविरतदेशप्रमत्ताप्रमत्तविरतानाम् । अन्यतरः प्रतिपद्यते दर्शनसमये [illegible] निवृत्तिः ॥ सज्वलनादीनां शमो युक्तः संयोजनाद्यो ये [illegible] । ते पूर्वमेव शमिता ननु सम्यक्त्वादिलाभे ॥ ३ भाष्ये "समणम्मि–" शमने ॥ ४ आसीत् क्षयोपशम एषां शमोऽधुना भण्यते को विशेषोऽनयोः ? । ननु क्षीणे उदीर्णे शेषोपशमे क्षयोपशमः ॥ स एव ननूपशमः उदिते क्षीणे शेषके शमिते । सूक्ष्मोदयता मिश्रे न त्वौपशमिके विशेषोऽयम् [illegible] वेदयति सत्कर्म क्षायोपशमिकेषु नानुभागं सः । उपशान्तकषायः पुनर्वेदयति न सत्कर्मापि ॥

[1]संजोयणाइयाण, नणूदओ संजयस्स पडिसिद्धो ।
सच्चमिह सोऽणुभाग, पडुच्च न पएसकम्म तु ॥
भणिय च सुए जीवो, वेएइ न वाऽणुभागकम्म तु ।
ज पुण पएसकम्म, नियमा वेएइ त सव्व ॥
नाणुदिय निज्जरए, नासतमुदेइ ज तओऽवस्स ।
सव्व पएसकम्म, वेएउ मुच्चए सव्वो ॥
किह दसणाइघाओ, न होइ संजोयणाइवेयणओ ।
मदाणुभावयाए, जहाऽणुभावम्मि वि कहिंचि ॥
निच्चमुइन्न पि जहा, सयलचउन्नाणिणो तदावरण ।
न वि घाइ मदयाए, पएसकम्म तहा नेय ॥ (विशेषा० गा० १२९४–९८)

"मिच्छ" त्ति मिथ्यात्वम्—अदेवदेवबुद्ध्यगुरुगुरुबुद्ध्यतत्त्वतत्त्वबुद्धिलक्षणम् । "मीस" त्ति इहानन्तराभिहितविधिना लब्धेनौपशमिकसम्यक्त्वेन ग्रन्थिसम्भवेन औषधविशेषकल्पेन मदनकोद्रवस्थानीय मिथ्यात्वमोहनीय कर्म विशोधयित्वा त्रिधा करोति । तथाहि—शुद्धमर्धविशुद्धमविशुद्ध चेति । स्थापना △▲▲ । तत्र त्रयाणा पुञ्जाना मध्ये योऽसावर्धविशुद्ध पुञ्ज स मिश्र उच्यते, सम्यग्मिथ्यात्वमित्यर्थ । एतदुदयात् किल प्राणी जिनप्रणीत तत्त्व न सम्यक् श्रद्धाति नापि निन्दति । उक्त च बृहच्छतकबृहच्चूर्णौ—

[2]जहा नालिकेरदीववासिस्स अइछुहियस्स वि पुरिसस्स इत्थ ओयणाइए अणेगहा वि ढोइए तस्स आहारस्स उवरिं न रुई न य निंदा, जेण कारणेण सो ओयणाइओ आहारो न कयाइ दिट्ठो नावि सुओ, एव सम्मामिच्छद्दिट्ठिस्स वि जीवाइपयत्थाण उवरिं न रुई न य निंदा इत्यादि ।

तथा "सासाण" त्ति सासादन तत्र आयम्—औपशमिकसम्यक्त्वलक्षण सादयति—अपनयति आसादनम्—अनन्तानुबन्धिकषायवेदनम्, अत्र पृषोदरादित्वाद् यशब्दलोप, "रम्यादिभ्य" (५–३–१२६) कर्तर्यनट्प्रत्यय, सति ह्यस्मिन् परमानन्दरूपानन्तसुखदो नि श्रेयसतरुबीजभूतो ग्रन्थिभेदसम्भवौपशमिकसम्यक्त्वलाभो जघन्यत समयमात्रेण उत्कर्षत षड्भिरावलिकाभिरपगच्छतीति, तत सह आसादनेन वर्तत इति सासादनम् । यद्वा सास्वादन तत्र सम्यक्त्वलक्षणरसास्वादनेन वर्तत इति सास्वादनम्, यथा हि भुक्तक्षीरान्नविषयव्यलीकचित्तपुरुषस्तद्वमनकाले क्षीरान्नरसमास्वादयति तथाऽत्रापि गुणस्थाने मिथ्यात्वाभिमुखतया सम्यक्त्वस्योपरि व्यलीकचित्तस्य

---

१ संयोजनादिकाना ननूदय सयतस्य प्रतिषिद्ध । सत्यमिह सोऽनुभाग प्रतीत्य न प्रदेशकर्म तु ॥ भणित च श्रुते जीवो वेदयति न वा अनुभागकर्म तु । यत् पुन प्रदेशकर्म नियमाद् वेदयति तद् सर्वम् ॥ नानुदित निर्जीर्यते नासदुदेति यत्तोऽवश्यम् । सर्व प्रदेशकर्म वेदयित्वा मुच्यते सर्व ॥ कथ दर्शनादिघातो न भवति सयोजनादिवेदनत । मन्दानुभावतया यथा अनुभावेऽपि कस्मिश्चिद् ॥ नित्यमुदीर्णमपि यथा सकलचतुर्ज्ञानिनस्तदावरणम् । नापि घातयति मन्दत्वात् प्रदेशकर्म तथा ज्ञेयम् ॥ २ यथा नालिकेरद्वीपवासिन अतिक्षुधितस्यापि पुरुषस्यात्रौदनादिके अनेकधाऽपि ढौकिते तस्याहारस्योपरि न रुचिर्न च निन्दा, येन कारणेन स ओदनादिक आहारो न कदाचिद् दृष्टो नापि श्रुत, एव सम्यग्मिथ्यादृशोऽपि जीवादिपदार्थानामुपरि न रुचिर्न च निन्दा ॥

पुरुषस्य सम्यक्त्वमुद्वमतस्तद्रसास्वादो भवतीति इद सास्वादनमुच्यत इति । तथा "सन्नि" त्ति विशिष्टस्मरणादिरूपमनोविज्ञानभाक् सञ्ज्ञी, इतरोऽसञ्ज्ञी सर्वोऽप्येकेन्द्रियादि ॥ १३ ॥

आहारेयर भेया, सुरनरयविभंगमइसुओहिदुगे ।
सम्मत्ततिगे पम्हासुक्कासन्नीसु सन्निदुगं ॥ १४ ॥

ओजोलोमप्रक्षेपाहाराणामन्यतममाहारमाहारयतीत्याहारक । 'इतर' अनाहारको विग्रहगत्यादिगत । "भेय" त्ति चतुर्दशमोलमार्गणास्थानानामिमेऽवान्तराश्चतुरादिसङ्ख्या भेदा भवन्तीति शेष, सर्वेऽपि द्विषष्टिभेदा । तथाहि—गतिश्चतुर्धा, इन्द्रिय पञ्चधा, काय षोढा, योगस्त्रिधा, वेदस्त्रिधा, कषायश्चतुर्धा, ज्ञानपञ्चकम् अज्ञानत्रिकमिति ज्ञानमार्गणास्थानमष्टधा, सयमपञ्चक देश सयमासयमसहित सप्तधा, दर्शन चतुर्धा, लेश्या षोढा, भव्योऽभव्यश्चेति भव्यमार्गणास्थान द्विधा, सम्यक्त्वत्रयमिथ्यात्वमिश्रसासादनभेदात् सम्यक्त्वमार्गणास्थान षोढा, सञ्ज्ञिमार्गणास्थान सप्रतिपक्ष द्वेधा, आहारकमार्गणास्थान सप्रतिपक्ष द्वेधा । सर्वेऽप्येते एकत्र मील्यन्ते तत उत्तरभेदा द्वाषष्टिरिति । अत्र गाथा—

> [1]चउ पण छ च्चिय तिय चउ, अड सग चउ छच्च दु छग दो दुन्नि ।
> गइयाइमग्गणाण, इय उत्तरभेय बासट्ठी ॥

इत्येवमुक्ता गत्यादिमार्गणास्थानानामवान्तरभेदा । साम्प्रतमेतेष्वेव जीवस्थानानि चिन्तयन्नाह—"सुरनरयविभग" इत्यादि । सुरगतौ नरकगतौ च 'सञ्ज्ञिद्विक' पर्याप्तापर्याप्तलक्षण भवति । अपर्याप्तश्चेह करणापर्याप्तो गृह्यते, न लब्ध्यपर्याप्त , तस्य देवनरकगत्योरुत्पादाभावात् । तथा 'विभङ्गे' विभङ्गज्ञाने 'मतौ' मतिज्ञाने 'श्रुते' श्रुतज्ञाने "ओहिदुगि" त्ति अवधिद्विके—अवधिज्ञानावधिदर्शनलक्षणे 'सम्यक्त्वत्रिके' क्षायोपशमिकक्षायिकौपशमिकलक्षणे पद्मलेश्याया शुक्ललेश्याया सञ्ज्ञिनि च सञ्ज्ञिद्विकमपर्याप्तपर्याप्तलक्षण भवति, न शेषाणि जीवस्थानानि, तेषु मिथ्यात्वादिकारणतो मतिज्ञानादीनामसम्भवात् । अत एव च हेतोरिहापर्याप्तक करणापर्याप्तको गृह्यते, न लब्ध्यपर्याप्त , तस्य मिथ्यादृष्टित्वाद् अशुभलेश्याकत्वाद् असञ्ज्ञित्वाच्चेति । आह—क्षायिकक्षायोपशमिकौपशमिकेषु कथ सञ्ज्ञी अपर्याप्तको लभ्यते ? उच्यते—इह य कश्चित् पूर्वबद्धायुष्क क्षपकश्रेणिमारभ्यानन्तानुबन्ध्यादिसप्तकक्षय कृत्वा क्षायिकसम्यक्त्वमुत्पाद्य यदा गतिचतुष्टयस्यान्यतरस्या गतावुत्पद्यते तदा सोऽपर्याप्त क्षायिकसम्यक्त्वे प्राप्यते, क्षायोपशमिकसम्यक्त्वयुक्तश्च देवादिभवेभ्योऽनन्तरमिहोत्पद्यमानस्तीर्थकरादिरपर्याप्तक सुप्रतीत एव । औपशमिक सम्यक्त्व पुनरपर्याप्तावस्थायामनुत्तरसुरस्य द्रष्टव्यम् ।

इहौपशमिकसम्यक्त्वमपर्याप्तस्य केचिद् नेच्छन्ति, तथा च ते प्राहु —न तावदस्यामेवापर्याप्तावस्थायामिद सम्यक्त्वमुपजायते, तदानीं तस्य तथाविधविशुद्ध्यभावात्, अथैतत्तदानीं मोत्पादि, यत्तु पारभविक तद् भवतु, केन विनिवार्यत इति मन्येथास्तदपि न युक्तियुक्तमुत्पश्याम , यतो यो मिथ्यादृष्टिस्तत्प्रथमतया सम्यक्त्वमौपशमिकमवाप्नोति स तावत्तद्भावमापन्न सन् काल न करोत्येव । यदुक्तमागमे—

[1] चत्वार पञ्च षट् त्रयश्चत्वारोऽष्ट सप्त चत्वार षड्‌ द्वौ षड्‌ द्वौ द्वौ । गत्यादिमार्गणानामित्युत्तरभेदा द्वाषष्टि ॥

[1]अणन्तबंधोदयमाउगबंध कालं च सासणो कुणई ।
उवसमसम्मद्दिट्ठी, चउण्हमिक्कं पि नो कुणई ॥

उपशमश्रेणेर्मृत्वाऽनुत्तरसुरेषूत्पन्नस्याऽपर्याप्तकस्यैतल्लभ्यते इति चेद् नन्वेतदपि न बहु मन्यामहे, तस्य प्रथमसमय एव सम्यक्त्वपुद्गलोदयात् क्षायोपशमिकं सम्यक्त्वं भवति न त्वौपशमिकम् । उक्तं च शतकबृहच्चूर्णौ—

[2]'जो उवसमसम्मद्दिट्ठी उवसमसेढीए कालं करेइ सो पढमसमए चेव सम्मत्तपुंजं उदयावलियाए छोढूण सम्मत्तपुग्गले वेएइ, तेण न उवसमसम्मद्दिट्ठी अपज्जत्तगो लब्भइ इत्यादि ।

तस्मात् पर्याप्तसञ्ज्ञिलक्षणमेकमेव जीवस्थानकमत्र प्राप्यत इति स्थितम् ।

अपरे पुनराहुः—भवत्येवापर्याप्तावस्थायामप्यौपशमिकं सम्यक्त्वम्, सप्ततिचूर्ण्यादिषु तथाभिधानात् । सप्ततिचूर्णौ हि गुणस्थानकेषु नामकर्मणो बन्धोदयादिमार्गणावसरेऽविरतसम्यग्दृष्टेरुदयस्थानचिन्तायां पञ्चविंशत्युदयः सप्तविंशत्युदयश्च देवनारकानधिकृत्योक्तः, तत्र नारकाः क्षायिकवेदकसम्यग्दृष्टयः, देवास्तु त्रिविधसम्यग्दृष्टयोऽपि । तथा च तद्ग्रन्थः—

[3]पणवीससत्तावीसोदया देवनेरइए पडुच्च, नेरइगो [4]खइयगवेयगसम्मद्दिट्ठी
देवो तिविहसम्मद्दिट्ठी वि ॥

पञ्चविंशत्युदयश्च शरीरपर्याप्तिं निर्वर्तयतः । तथाहि—निर्माणस्थिरास्थिरागुरुलघुशुभाशुभतैजसकार्मणवर्णगन्धरसस्पर्शचतुष्कदेवगतिदेवानुपूर्वीपञ्चेन्द्रियजातित्रसबादरपर्याप्तकं सुभगदुर्भगयोरेकतरम् आदेयानादेययोरेकतरं यशःकीर्त्ययशःकीर्त्योरेकतरमित्येकविंशतिः, ततः शरीरपर्याप्त्या पर्याप्तस्य वैक्रियद्विकोपघातप्रत्येकसमचतुरस्रलक्षणप्रकृतिपञ्चकक्षेपे देवानुपूर्व्यपनयने च पञ्चविंशतिर्भवति । ततः शरीरपर्याप्त्या पर्याप्तस्य [5]शेषपर्याप्तिभिः पुनरपर्याप्तस्य पराघातप्रशस्तविहायोगतिक्षेपे सप्तविंशतिर्भवति । ततोऽपर्याप्तावस्थायामपीह देवस्यौपशमिकं सम्यक्त्वमुक्तम् । तथा पञ्चसङ्ग्रहेऽपि मार्गणास्थानकेषु जीवस्थानकचिन्तायामौपशमिकसम्यक्त्वे "[6]उवसमसम्मम्मि दो सन्नी" इत्यनेन ग्रन्थेन सञ्ज्ञिद्विकमुक्तम् । ततः सप्ततिचूर्ण्यभिप्रायेण पञ्चसङ्ग्रहाभिप्रायेण चास्माभिरपि औपशमिकसम्यक्त्वे सञ्ज्ञिद्विकमुक्तम्, तत्त्वं तु केवलिनो विशिष्टबहुश्रुता वा विदन्तीति ॥ १४ ॥

तमसन्निअपज्जजुयं, नरे सबायरअपज्ज तेऊए ।
थावर इगिंदि पढमा, चउ बार असन्नि दु दु विगले ॥ १५ ॥

'तत्' पूर्वोक्तं सञ्ज्ञिद्विकमपर्याप्तासञ्ज्ञियुतं 'नरे' नरेषु लभ्यते, जातावेकवचनम् । अयमर्थः—

---

१ अनन्तानुबन्धिबन्धोदयं आयुर्बन्धं कालं च सासादनः करोति । औपशमिकसम्यग्दृष्टिश्चतुर्णामेकमपि न करोति ॥ २ य उपशमसम्यग्दृष्टिरुपशमश्रेणौ कालं करोति स प्रथमसमय एव सम्यक्त्वपुञ्जं उदयावलिकायां क्षिप्त्वा सम्यक्त्वपुद्गलान् वेदयति तेन नोपशमसम्यग्दृष्टिरपर्याप्तको लभ्यते ॥ ३ पञ्चविंशतिसप्तविंशत्युदयौ देवनैरयिकान् प्रतीत्य, नैरयिकः क्षायिकवेदकसम्यग्दृष्टिर्देवस्त्रिविधसम्यग्दृष्टिरपि ॥ ४ खइग° क० ख० ग० घ० ङ० ॥ ५ इत ऊर्ध्वं—"शेषपर्याप्तिभिरपर्याप्तस्य" इत्येष पाठो जैनधर्मप्रसारकसभाप्रकाशिते पुस्तकेऽधिको दृश्यते, परमस्मत्पार्श्ववर्तिषु पञ्चस्वपि पुस्तकादर्शेषु नास्ति अतो मूले नादृत इति ॥ ६ उपशमसम्यक्त्वे द्वौ सञ्ज्ञिनौ ॥

इह द्वये मनुष्या, गर्भव्युत्क्रान्तिका सम्मूर्च्छिमाश्च । तत्र ये गर्भव्युत्क्रान्तिकास्तेषु यथोक्त संज्ञिद्विक लभ्यते । ये तु वान्तपित्तादिषु सम्मूर्च्छन्ति तेऽन्तर्मुहूर्तायुषोऽसंज्ञिनो एकान्त्यपर्याप्तकाश्च द्रष्टव्या । यदाहु श्रीमदार्यश्यामपादाः प्रज्ञापनायाम्—

केहि ण भते ! सम्मुच्छिममणुस्सा सम्मुच्छति ? गोयमा ! अतो मणुस्सखेत्तस्स पणयालीसाए जोयणसयसहस्सेसु अड्ढाइज्जेसु दीवसमुद्देसु पनरससु कम्मभूमीसु तीसाए अकम्मभूमीसु छप्पन्नाए अतरदीवेसु गब्भवक्कतियमणुस्साण चेव उच्चारेसु वा पासवणेसु वा खेलेसु वा सिंघाणेसु वा वतेसु वा पित्तेसु वा पूएसु वा सोणिएसु वा सुक्केसु वा सुक्कपुग्गलपरिसाडेसु वा विगयजीवकलेवरेसु वा थीपुरिससंजोगेसु वा नगरनिद्धमणेसु वा सव्वेसु चेव असुइट्ठाणेसु इत्थ ण सम्मुच्छिममणुस्सा सम्मुच्छति अगुलस्स असखेज्जभागमित्ताए ओगाहणाए । असन्नी मिच्छद्दिट्ठी अन्नाणी सव्वाहिं पज्जत्तीहिं अपज्जत्ता अतमुहुत्ताउया चेव काल करेंति त्ति । (पत्र ५०–१)

तान् सम्मूर्च्छिममनुष्यानाश्रित्य तृतीयमप्यसंज्ञ्यपर्याप्तलक्षण जीवस्थान प्राप्यत इति । "सबायरअपज्ज तेऊए" त्ति तदेवेत्यनुवर्तते, तदेव पूर्वोक्त संज्ञिद्विक सह बादरापर्याप्तेन वर्तत इति सबादरापर्याप्त तेजोलेश्यायां लभ्यते । एतदुक्त भवति—तेजोलेश्यायां त्रीणि जीवस्थानानि भवन्ति संज्ञ्यपर्याप्त संज्ञिपर्याप्त बादरैकेन्द्रियापर्याप्तश्च । बादरोऽपर्याप्त कथमवाप्यते ? इति चेद् उच्यते—इह भवनपतिव्यन्तरज्योतिष्कसौधर्मेशानदेवा पृथिवीजलवनस्पतिषु मध्ये उत्पद्यन्ते । यदाह दु षमा धकारनिमग्नजिनप्रवचनप्रदीपो भगवान् जिनभद्रगणिक्षमाश्रमणः—

पुढवीआउवणस्सइ, गब्भे पज्जत्तसखजीवीसु ।
सग्गचुयाण वासो, सेसा पडिसेहिया ठाणा ॥ (बृ० सं० पत्र ७७–१)

ते च तेजोलेश्यावन्त, यदभाणि—

किण्हा नीला काऊ, तेउलेसा य भवणवतरिया ।
जोइससोहम्मीसाणि तेउलेसा मुणेयव्वा ॥ (बृ० सं० पत्र ८१–१)

यल्लेश्यश्च म्रियते तल्लेश्य एव अग्रेऽपि समुत्पद्यते, "जल्लेसे मरइ तल्लेसे उववज्जइ" इति वचनात् । अतो बादरापर्याप्तावस्थाया कियत्काल तेजोलेश्याऽवाप्यत इति सिद्ध जीवस्थानकत्रय तेजोलेश्यायामिति । कायद्वारे—स्थावरेषु पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतिलक्षणेषु, इन्द्रियद्वारे एकेन्द्रिये च प्रथमानि चत्वारि जीवस्थानानि सूक्ष्मैकेन्द्रियापर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रियपर्याप्तबादरैकेन्द्रियापर्याप्तबाद-

१ क्व भदन्त ! सम्मूर्च्छिममनुष्या सम्मूर्च्छन्ति ? गौतम ! अन्तर्मनुष्यक्षेत्रस्य पञ्चचत्वारिंशति योजनशतसहस्रेषु अर्धतृतीयेषु द्वीपसमुद्रेषु पञ्चदशसु कर्मभूमिषु त्रिंशत्यकर्मभूमिषु षट्पञ्चाशत्यन्तर्द्वीपेषु गर्भव्युत्क्रान्तिकमनुष्याणामेव उच्चारेषु वा प्रश्रवणेषु वा श्लेष्मसु वा सिंघानेषु वा वान्तेषु वा पित्तेषु वा पूयेषु वा शोणितेषु वा शुक्रेषु वा शुक्रपुद्गलपरिशाटेषु वा विगतजीवकलेवरेषु वा स्त्रीपुरुषसयोगेषु वा नगरनिर्धमनेषु वा सर्वेष्वेवाशुचिस्थानेषु अत्र सम्मूर्च्छिममनुष्या सम्मूर्च्छन्ति अङ्गुलस्यासङ्ख्येयभागमात्रयाऽवगाहनया । असंज्ञिनो मिथ्यादृष्टयोऽज्ञानिन सर्वाभि पर्याप्तिभिरपर्याप्तका अन्तर्मुहूर्तायुष्का एव काल कुर्वन्ति ॥
२ पृथिव्यब्वनस्पतिषु गर्भजेषु पर्याप्तसङ्ख्यातजीविषु । स्वर्गच्युतानां वास शेषाणि प्रतिषिद्धानि स्थानानि ॥
३ कृष्णनीलकापोततेजोलेश्याश्च भवनव्यन्तरा । ज्योतिष्कसौधर्मेशानेषु तेजोलेश्या ज्ञातव्या ॥ ४ यल्लेश्यो म्रियते तल्लेश्य उत्पद्यते ॥

रैकेन्द्रियपर्याप्तलक्षणानि भवन्ति। 'असन्निनि' सञ्ज्ञिव्यतिरिक्ते कोलिकन्नोलिकन्यायेन प्रथमशब्दस्य सम्बन्धात् 'प्रथमानि' आदिमानि द्वादश जीवस्थानानि पर्याप्तापर्याप्तसूक्ष्मवादरैकेन्द्रियद्वित्रिचतुरसञ्ज्ञिपञ्चेन्द्रियलक्षणानि भवन्ति, सर्वेषामपि विशिष्टमनोविकलतया सञ्ज्ञिप्रतिपक्षत्वाविशेषात्, सञ्ज्ञिप्रतिपक्षस्य चाऽसञ्ज्ञित्वेन व्यवहारात् । "दु दु विगल" त्ति 'विकलेषु' द्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियेषु द्वे द्वे जीवस्थानके भवत । तत्र द्वीन्द्रियेषु द्वीन्द्रियोऽपर्याप्त पर्याप्त इति द्वे, त्रीन्द्रियेषु त्रीन्द्रियोऽपर्याप्त पर्याप्त इति द्वे, चतुरिन्द्रियेषु चतुरिन्द्रियोऽपर्याप्त पर्याप्त इति द्वे ॥१५॥

दस चरम तसे अजयाहारग तिरि तणु कसाय दु अनाणे ।
पढमतिलेसा भवियर, अचक्खु नपु मिच्छि सव्वे वि ॥ १६ ॥

'त्रसे' त्रसकाये 'चरमाणि' अन्तिमानि पर्याप्तापर्याप्तद्वित्रिचतुरसञ्ज्ञिसञ्ज्ञिपञ्चेन्द्रियलक्षणानि दश जीवस्थानानि भवन्ति, द्वीन्द्रियादीनामेव त्रसत्वात्। 'अयते' अविरते सर्वाण्यपि जीवस्थानानि भवन्ति । तथा आहारके "तिरि" त्ति तिर्यग्गतौ 'तनुयोगे' काययोगे कषायचतुष्टये 'द्वयोरज्ञानयो' मत्यज्ञानश्रुताज्ञानरूपयो 'प्रथमत्रिलेश्यासु' कृष्णलेश्यानीललेश्याकापोतलेश्यालक्षणासु भव्ये 'इतरस्मिन्' अभव्ये "अचक्खु" त्ति अचक्षुर्दर्शने "नपु" त्ति नपुसकवेदे "मिच्छ" त्ति मिथ्यात्वे 'सर्वाण्यपि' चतुर्दशापि जीवस्थानकानि भवन्ति, सर्वजीवस्थानकव्यापकत्वाद् अयतादीनामिति ॥ १६ ॥

पजसन्नी केवलदुग, संजय मणनाण देस मण मीसे ।
पण चरम पज्ज वयणे, तिय छ व पज्जियर चक्खुम्मि ॥ १७ ॥

"पजसन्नि" त्ति पर्याप्तसञ्ज्ञिलक्षणमेकमेव जीवस्थान भवति। क? इत्याह—'केवलद्विके'[1] केवलज्ञानकेवलदर्शनलक्षणे 'सयतेषु' सामायिकच्छेदोपस्थापनपरिहारविशुद्धिकसूक्ष्मसम्पराययथाख्यातरूपपञ्चप्रकारसयमवत्सु "मणनाण" त्ति मन पर्यायज्ञाने "देस" त्ति देशयते—देशविरते श्रावक इत्यर्थ , "मण" त्ति मनोयोगे "मीस" त्ति मिश्रे—सम्यग्मिथ्यादृष्टौ । तत्र केवलद्विके सयतेषु मन पर्यायज्ञाने देशविरते च सञ्ज्ञिपर्याप्तलक्षण जीवस्थानक विना नान्यद् जीवस्थानक सम्भवति, तत्र सर्वविरतिदेशविरत्योरभावात् । मनोयोगेऽप्येतदन्तरेणाऽन्यद् जीवस्थानक न घटते, तत्र मन सद्भावायोगात् । मिश्रे पुन पर्याप्तसञ्ज्ञिव्यतिरेकेण शेष जीवस्थानक तथाविधपरिणामाभावादेव न सम्भवतीति । तथा पञ्च जीवस्थानानि 'चरमाणि' अन्तिमानि 'पर्याप्तानि' पर्याप्तद्वीन्द्रियपर्याप्तत्रीन्द्रियपर्याप्तचतुरिन्द्रियपर्याप्तासन्निपञ्चेन्द्रियपर्याप्तसञ्ज्ञिपञ्चेन्द्रियलक्षणानि "वयण" त्ति वचनयोगे—वाग्योगे भवन्ति न शेषाणि, तेषु वाग्योगासम्भवात् । "तिय छ व पज्जियर चक्खुम्मि" त्ति चक्षुर्दर्शने त्रीणि जीवस्थानानि पर्याप्तचतुरिन्द्रियपर्याप्तासञ्ज्ञिपञ्चेन्द्रियपर्याप्तसञ्ज्ञिपञ्चेन्द्रियरूपाणि नान्यानि, तेषु चक्षुष एवाभावात् । अत्रैव मतान्तरेण[2] विकल्पमाह—षड् वा जीवस्थानानि चक्षुर्दर्शने भवन्ति । कथम्? इत्याह—"पज्जियर" त्ति पूर्वप्रदर्शितपर्याप्तत्रिक सेतरमपर्याप्तत्रिकसहित षड् भवन्ति । इदमुक्त भवति—अपर्याप्तपर्याप्तचतुरिन्द्रियासन्निपञ्चेन्द्रियसञ्ज्ञिपञ्चेन्द्रियरूपाणि षड् जीवस्थानानि चक्षुर्दर्शने भवन्ति, चतुरिन्द्रियादीनामिन्द्रियपर्याप्त्या

1 °नल्व° क० ख० ग० ङ० ॥ 2 °प्येतमन्तर° क० ख० ङ० ॥

पर्याप्ताना शेषपर्याप्त्यपेक्षया अपर्याप्तानामपि आचार्यान्तरैश्चक्षुर्दर्शनाभ्युपगमात् ।

यदुक्त पञ्चसङ्ग्रहमूलटीकायाम्—

करणापर्याप्तेषु चतुरिन्द्रियादिषु इन्द्रियपर्याप्तौ सत्या चक्षुर्दर्शन भवति । (पत्र-५-१) इति ॥ १७ ॥

थीनरपणिंदि चरमा, चउ अणहारे दु संनि छ अपज्जा ।
ते सुहुमअपज्ज विणा, सासणि इत्तो गुणे वुच्छ ॥ १८ ॥

स्त्रीवेदे नरवेदे पञ्चेन्द्रिये च 'चरमाणि' अन्तिमानि पर्याप्तापर्याप्तासज्ञिसंज्ञिपञ्चेन्द्रियलक्षणानि चत्वारि जीवस्थानानि भवन्ति । यद्यपि च सिद्धान्ते असज्ञी पर्याप्तोऽपर्याप्तो वा सर्वथा नपुसक एवोक्त । तथा चोक्त श्रीभगवत्याम्—

ते ण भते ! असन्निपचेदियतिरिक्खजोणिया कि इत्थिवेयगा पुरिसवेयगा नपुसगवेयगा ? गोयमा ! नो इत्थिवेयगा नो पुरिसवेयगा नपुसगवेयगा (श० २४ उ० १ पत्र ८०६) इति । तथापीह स्त्रीपुसलिङ्गाकारमात्रमङ्गीकृत्य स्त्रीवेदे नरवेदे चासज्ञी निर्दिष्ट इत्यदोष ।

उक्त च पञ्चसङ्ग्रहमूलटीकायाम्—

यद्यपि चासन्निपर्याप्तापर्याप्तो नपुसकौ तथापि स्त्रीपुसलिङ्गाकारमात्रमङ्गीकृत्य स्त्रीपुसावुक्तौ (पत्र १०) इति ।

अपर्याप्तकश्चेह करणापर्याप्तको गृह्यते न लब्ध्यपर्याप्तक, लब्ध्यपर्याप्तकस्य सर्वस्य नपुसकत्वात् । अनाहारके "दु सन्नि छ अपज्ज" त्ति द्विविध सज्ञी पर्याप्तापर्याप्तलक्षण षड् अपर्याप्ताश्चेत्यष्टौ जीवस्थानानि भवन्ति । अयमर्थ —अपर्याप्तसूक्ष्मबादरैकेन्द्रियद्वित्रिचतुरसन्निसन्निपञ्चेन्द्रियलक्षणानि सप्त जीवस्थानानि अनाहारके विग्रहगतावेक द्वौ त्रीन् वा समयान् यावद् आहारासम्भवात् सम्भवन्ति,

विग्गहगइमावन्ना, केवलिणो समुहया अजोगी य ।
सिद्धा य अणाहारा, सेसा आहारगा जीवा ॥ (श्रावकप्र० गा० ९८)

इति वचनात्, सज्ञिपर्याप्तलक्षण जीवस्थानम् अनाहारके केवलिसमुद्घातावस्थाया तृतीयचतुर्थपञ्चमसमयेषु लभ्यते । उक्त च—

कार्मणशरीरयोगी, तृतीयके पञ्चमे चतुर्थे च ।
समयत्रये च तस्मिन्, भवत्यनाहारको नियमात् ॥ (प्रश० का० २७७)

"ते सुहुमअपज्ज विणा सासणि" त्ति सास्वादने सम्यक्त्वे तान्येव पूर्वोक्तानि षड् अपर्याप्त पर्याप्तसंज्ञिद्विकलक्षणान्यष्टौ जीवस्थानानि सूक्ष्मापर्याप्त विना सप्त भवन्ति । एतदुक्त भवति—अपर्याप्तबादरैकेन्द्रियद्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियासंज्ञिपञ्चेन्द्रियसज्ञिपञ्चेन्द्रियपर्याप्तसज्ञिपञ्चेन्द्रियलक्षणानि सप्त जीवस्थानकानि सास्वादनसम्यक्त्वे भवन्तीति, यत्तु सूक्ष्मैकेन्द्रियापर्याप्तलक्षण जीव-

१ ते भदन्त ! असज्ञिपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिका किं स्त्रीवेदका पुरुषवेदका नपुसकवेदका ? गौतम ! न स्त्रीवेदका न पुरुषवेदका नपुसकवेदका इति ॥ २ विग्रहगतिमापन्ना केवलिन समुद्धता अयोगिनश्च । सिद्धाश्चानाहारा शेषा आहारका जीवा ॥

स्थान तत् सास्वादनसम्यक्त्वे न घटामियति, सास्वादनसम्यक्त्वस्य मनाक् शुभपरिणामरूपत्वात्, महासङ्क्लिष्टपरिणामस्य च सूक्ष्मैकेन्द्रियमध्ये उत्पादाभिधानात् । सूत्रे च सर्वत्र लिङ्गव्यत्यय प्राकृतत्वात्, प्राकृते हि लिङ्ग व्यभिचार्यपि । यदाह पाणिनिः स्वप्राकृतलक्षणे "लिङ्ग व्यभिचार्यपि" इति । उक्तानि मार्गणास्थानकेषु जीवस्थानकानि । इत ऊर्ध्वमेतेष्वेव मार्गणास्थानकेषु "गुणि" त्ति गुणस्थानकानि 'वक्ष्ये' प्रतिपादयिष्य इति ॥ १८ ॥ अथ यथाप्रतिज्ञातमेव निर्वाहयन्नाह—

पण तिरि चउ सुरनरए, नर संनि पणिंदि भव्व तसि सव्वे ।
इग विगल भू दग वणे, दु दु एगं गइतस अभव्वे ॥ १९ ॥

पञ्च गुणस्थानकानि मिथ्यादृष्टिसास्वादनमिश्राविरतसम्यग्दृष्टिदेशविरतिलक्षणानि "तिरि" त्ति तिर्यग्गतौ भवन्ति । चतु शब्दस्य प्रत्येक योगात् 'सुरे' सुरगतौ चत्वारि प्रथमगुणस्थानकानि 'नरके' नरकगतौ च प्रथमानि चत्वारि गुणस्थानानि भवन्ति न देशविरतादीनि, तेषु भवस्वभावतो देशतोऽपि विरतेरभावादिति । 'नरे' नरगतौ 'सञ्ज्ञिनि' विशिष्टमनोविज्ञानभाजि पञ्चेन्द्रिये भव्ये 'त्रसे' त्रसकाये च 'सर्वाण्यपि' चतुर्दशापि गुणस्थानकानि भवन्ति, एतेषु मिथ्यादृष्ट्यादीनामयोगिकेवल्यवसानाना सर्वभावानामपि सम्भवात् । "इग" त्ति एकेन्द्रियेषु सामान्यत "विगल" त्ति 'विकलेन्द्रियेषु' द्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियेषु 'भुवि' पृथ्वीकाये 'उदके' अप्काये 'वने' वनस्पतिकाये "दु दु" त्ति 'द्वे द्वे' आद्ये मिथ्यात्वसासादनलक्षणे भवत । तत्र मिथ्यात्वमविशेषेण सर्वेषु द्रष्टव्यम्, सासादन तु तेजोवायुवर्जबादरैकेन्द्रियद्वित्रिचतुरिन्द्रियपृथिव्यम्बुवनस्पतिषु लब्ध्या पर्याप्तकेषु करणेन त्वपर्याप्तकेषु, न सर्वेष्विति । तथा एक मिथ्यात्वलक्षण गुणस्थानक भवति, केषु? इत्याह—गत्या गमनेन त्रसा न तु त्रसनामकर्मोदयाद् गतित्रसा —तेजोवायवस्तेषु, सासादनभावोपगतस्य तेषु मध्य उत्पादाभावाद् अभव्येषु चेति ॥ १९ ॥

वेय तिकसाय नव दस, लोभे चउ अजइ दु ति अनाणतिगे ।
बारस अचक्खुचक्खुसु, पढमा अहखाइ चरम चऊ ॥ २० ॥

'वेदे' वेदत्रये त्रयाणा कषायाणा समाहारस्त्रिकषाय—क्रोधमानमायालक्षण तस्मिन् त्रिकषाये "पढम" त्ति प्रथमानीति पद डमरुकमणिन्यायेन सर्वत्र योज्यम् । ततो वेदे—स्त्रीपुनपुंसकलक्षणे कषायत्रये च प्रथमानि मिथ्यादृष्ट्यादीनि अनिवृत्तिबादरपर्यन्तानि नव गुणस्थानकानि भवन्ति न शेषाणि, अनिवृत्तिबादरगुणस्थान एव वेदत्रिकस्य कषायत्रिकस्य चोपशान्तत्वेन क्षीणत्वेन वा शेषेषु गुणस्थानेषु तदसम्भवात् । 'लोभे' लोभकषाये दश गुणस्थानानि, तत्र नव पूर्वोक्तानि दशम तु सूक्ष्मसम्परायलक्षणम्, तत्र किट्टीकृतसूक्ष्मलोभकषायदलिकस्य वेद्यमानत्वात् । चत्वारि प्रथमानि 'अयते' विरतिहीन इत्यर्थ, कोऽर्थ? विरतिहीने मिथ्यात्वसास्वादनमिश्राविरतसम्यग्दृष्टिलक्षणानि चत्वारि गुणस्थानानि भवन्तीति । "दु ति अनाणतिगे" त्ति 'अज्ञानत्रिके' मत्यज्ञानश्रुताज्ञानविभङ्गज्ञानलक्षणे प्रथमे द्वे गुणस्थानके मिथ्यादृष्टिसास्वादनरूपे भवत, न मिश्रमपि । यतो यद्यपि मिश्रगुणस्थानके यथास्थितवस्तुतत्त्वनिर्णयो नास्ति तथापि न तान्यज्ञानान्येव सम्यग्ज्ञानलेशव्यामिश्रत्वाद् अत एव न मिश्रगुणस्थानकमभिधीयते । उक्त च—

मिथ्यात्वाधिकस्य मिश्रदृष्टेरज्ञानबाहुल्यं सम्यक्त्वाधिकस्य पुनः सम्यग्ज्ञानबाहुल्यम् (नित्यकर्मीयषडशीतिटीका पत्र १६०-२) इति ।

ज्ञानलेशसद्भावतो न मिश्रगुणस्थानकमज्ञानत्रिके लभ्यते इत्येके प्रतिपादयन्ति तन्मतमधिकृत्यास्माभिरपि 'द्वे' इत्युक्तम् ।

अन्ये पुनराहुः—अज्ञानत्रिके त्रीणि गुणस्थानानि, तद्यथा—मिथ्यात्वं सासादनं मिश्रदृष्टिश्च । यद्यपि "मिस्सम्मी वामिस्सा" (पञ्चसं० गा० २०) इति वचनाद् ज्ञानत्र्यामिश्राण्यज्ञानानि प्राप्यन्ते न शुद्धाज्ञानानि तथापि तान्यज्ञानान्येव, शुद्धसम्यक्त्वमूलत्वेनात्र ज्ञानस्य प्रसिद्धत्वात्, अन्यथा हि यद्यशुद्धसम्यक्त्वस्यापि ज्ञानमभ्युपगम्यते तदा सासादनस्यापि ज्ञानाभ्युपगमः स्यात्, न चैतदस्ति, तस्याज्ञानित्वेनानन्तरमेवेह प्रतिपादितत्वात्, तस्माद् अज्ञानत्रिके प्रथमं गुणस्थानकत्रयमवाप्यत इति ।

तन्मतमाश्रित्यास्माभिरपि 'त्रिकम्' इत्युक्तम् । तत्त्वं तु केवलिनो विशिष्टश्रुतविदो वा विदन्तीति । द्वादश प्रथमानि गुणस्थानकानि अचक्षुर्दर्शने चक्षुर्दर्शने च भवन्ति, यतो मिथ्यादृष्टिप्रभृतिक्षीणमोहपर्यन्तेषु गुणस्थानकेष्वचक्षुर्दर्शनचक्षुर्दर्शनसम्भवात् । यथाख्याते चारित्रे 'चरमाणि' अन्तिमानि उपशान्तमोहक्षीणमोहसयोगिकेवल्ययोगिकेवलिलक्षणानि चत्वारि गुणस्थानानि भवन्ति, एषु कषायाभावादिति ॥ २० ॥

मणनाणि सग जयाई, समइय छेय चउ दुन्नि परिहारे ।
केवलदुगि दो चरमाऽजयाइ नव मइ सुओहिदुगे ॥ २१ ॥

'मनोज्ञाने' मनःपर्यवज्ञाने "सग" त्ति सप्त गुणस्थानानि भवन्ति । कानि ? इत्याह—'यतादीनि' तत्र "यमू उपरमे" यमनं यतः सम्यक् सावद्याद् उपरमणमित्यर्थः, यतः विद्यते यस्य स यतः—प्रमत्तयतिः, यतः आदौ येषां तानि यतादीनि—प्रमत्ताप्रमत्तापूर्वकरणानिवृत्तिबादरसूक्ष्मसम्परायोपशान्तमोहक्षीणमोहलक्षणानीति । सामायिके छेदोपस्थापने च चत्वारि यतादीनि गुणस्थानानि, प्रमत्ताप्रमत्तनिवृत्तिबादरानिवृत्तिबादराणीत्यर्थः । द्वे गुणस्थानके प्रमत्ताप्रमत्तरूपे परिहारविशुद्धिकचारित्रे इत्यर्थः, नोत्तराणि, तस्मिन् चारित्रे वर्तमानस्य श्रेण्यारोहणप्रतिषेधात् । 'केवलद्विके' केवलज्ञानकेवलदर्शनरूपे द्वे गुणस्थाने भवतः, के ? इत्याह—'चरमे' अन्तिमे सयोगिकेवलिगुणस्थानकायोगिकेवलिगुणस्थानके इति । *"अजयाइ नव मइसुओहिदुगे"* त्ति अयतः—अविरतः स आदौ येषां तान्ययतादीनि—अविरतसम्यग्दृष्ट्यादीनि क्षीणमोहपर्यवसानानि नव गुणस्थानानि भवन्ति 'मतौ' मतिज्ञाने 'श्रुते' श्रुतज्ञाने 'अवधिद्विके' अवधिज्ञानावधिदर्शनलक्षणे, न शेषाणि । तथाहि—न मतिज्ञानश्रुतज्ञानावधिज्ञानानि मिथ्यादृष्टिसासादनमिश्रेषु भवन्ति, तद्भावे ज्ञानत्वस्यैवायोगात् । यत् तु अवधिदर्शनं तत् कुतश्चिदभिप्रायाद् विशिष्टश्रुतविदो मिथ्यादृष्ट्यादीनां नेच्छन्ति, तन्मतमाश्रित्यास्माभिरपि तत् तेषां न भणितम् । अथ च सूत्रे मिथ्यादृष्ट्यादीनामप्यवधिदर्शनं प्रतिपाद्यते । यदाह रभसवशविनम्रसुरासुरनरकिन्नरविद्याधरपरिवृढमाणिक्यमुकुटकोटीविटङ्कनिघृष्टचरणारविन्दयुगलः श्रीसुधर्मस्वामी पञ्चमाङ्गे—

ओहिदंसणअणागारोवउत्ता णं भंते ! किं नाणी अन्नाणी ? गोयमा ! नाणी वि अन्नाणी

१ मिश्रे व्यामिश्राणि ॥ २ °वल्ययोगिके° ख० ग० घ० ॥ ३ अवधिदर्शनानाकारोपयुक्ता भदन्त ! किं

वि । जइ नाणी तो अत्थेगइया तिनाणी अत्थेगइया चउनाणी । जे तिनाणी ते आभिणिबो-हियनाणी सुअनाणी ओहिनाणी । जे चउनाणी ते आभिणिबोहियनाणी सुयनाणी ओहिनाणी मणपज्जवनाणी । जे अन्नाणी ते नियमा मइअन्नाणी सुयअन्नाणी विभगनाणी । (श० ८ उ० २ पत्र ३५५-१) इति ।

अत्र हि येऽज्ञानिनस्ते मिथ्यादृष्टय एवेति मिथ्यादृष्ट्यादीनामप्यवधिदर्शन साक्षादत्र सूत्रे प्रतिपादितम् । स एव विभङ्गज्ञानी यदा सासादनभावे मिश्रभावे वा वर्तते तत्रापि तदानीमवधिदर्शन प्राप्यत इति । यत् पुन सयोग्ययोगिकेवलिगुणस्थानकद्विक तत्र मतिज्ञानादि न सम्भवत्येव, तद्व्यवच्छेदेनैव केवलज्ञानस्य प्रादुर्भावात् "नट्ठम्मि उ छाउमत्थिए नाणे" (आव० नि० गा० ५३९) इति वचनप्रामाण्यादिति ॥ २१ ॥

अड उवसमि चउ वेयगि, खइगे इक्कार मिच्छतिगि देसे ।
सुहुमे य सठाण तेर जोग आहार सुक्काए ॥ २२ ॥

काकाक्षिगोलकन्यायाद् इह ' अयतादीनि" [इति] पद सर्वत्र योज्यते । ततोऽयतादीन्युपशान्तमोहान्तान्यष्टौ गुणस्थानान्यौपशमिकसम्यक्त्वे भवन्ति । अयतादीन्यप्रमत्तान्तानि चत्वारि 'वेदके' क्षायोपशमिकापरपर्याये गुणस्थानकानि भवन्ति । क्षायिकसम्यक्त्वे अयतादीन्ययोगिकेवलिपर्यवसानान्येकादश गुणस्थानकानि भवन्ति । तथा 'मिथ्यात्वत्रिके' मिथ्यादृष्टिसासादनमिश्रलक्षणे 'देशे' देशविरते 'सूक्ष्मे' सूक्ष्मसम्पराये 'च' समुच्चये 'स्वस्थान' निजस्थानम् । इदमुक्त भवति—मिथ्यात्वमार्गणास्थाने मिथ्यादृष्टिगुणस्थानम्, सासादनमार्गणास्थाने सासादन गुणस्थानम्, मिश्रे मार्गणास्थाने मिश्र गुणस्थानम्, देशसयममार्गणास्थाने देशविरत गुणस्थानम्, सूक्ष्मसम्परायसयममार्गणास्थाने सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानम् । तथा 'योगे' मनोवाक्कायलक्षणे अयोगिकेवलिवर्जितानि शेषाणि त्रयोदश गुणस्थानानि भवन्ति, सर्वेष्वप्येतेषु यथायोग योगत्रयस्यापि सम्भवात् । तथा आहारकेषु आद्यानि त्रयोदश गुणस्थानानि भवन्ति, सर्वेष्वप्येतेषु ओजोलोमप्रक्षेपाहाराणामन्यतमस्याहारस्य यथायोग सम्भवात् । तथा "सुक्काए" त्ति शुक्ललेश्याया प्रथमानि त्रयोदश गुणस्थानानि भवन्ति, न त्वयोगिकेवलिगुणस्थानम्, तस्य लेश्यातीतत्वादिति ॥ २२ ॥

अस्सन्निसु पढमदुग, पढमतिलेसासु छच्च दुसु सत्त ।
पढमतिमदुगअजया, अणहारे मग्गणासु गुणा ॥ २३ ॥

'असज्ञिषु' सज्ञिव्यतिरिक्तेषु प्रथम मिथ्यादृष्टिसासादनलक्षण गुणस्थानकद्वय भवति । तत्र (ग्रन्थाग्रम्-१०००) मिथ्यात्वमविशेषेण सर्वत्र द्रष्टव्यम्, सासादन तु लब्धिपर्याप्तकाना करणापर्याप्तावस्थायामिति । प्रथमासु तिसृषु लेश्यासु मिथ्यादृष्ट्यादीनि प्रमत्तान्तानि षड् गुणस्था-

ज्ञानिनोऽज्ञानिन [2] गौतम ! ज्ञानिनोऽप्यज्ञानिनोऽपि । यदि ज्ञानिन ततोऽस्त्येकका त्रिज्ञानिनोऽस्त्येककाश्च तुर्ज्ञानिन । ये त्रिज्ञानिनस्ते आभिनिबोधिकज्ञानिन श्रुतज्ञानिनोऽवधिज्ञानिन । ये चतुर्ज्ञानिनस्ते आभिनिबोधिकज्ञानिन श्रुतज्ञानिनोऽवधिज्ञानिनो मन पर्यायज्ञानिन । ये अज्ञानिनस्ते नियमाद् मत्यज्ञानिन श्रुताज्ञानिनो विभङ्गज्ञानिन ॥ १ जे नाणी ते अ° **भगवत्याम्** ॥ २ °मा तिअन्नाणी, त जहा—मइ° **भगवत्याम्** ॥ ३ नष्टे तु छाद्मस्थिके ज्ञाने ॥ ४ °तादीति प° क० ॥

नानि भवन्ति । 'च' समुच्चये । कृष्णनीलकापोतलेश्याना हि प्रत्येकमसङ्ख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणान्यध्यवसायस्थानानि, ततो मन्दसङ्क्लेशेषु तदध्यवसायस्थानेषु तथाविधसम्यक्त्वदेशविरतिसर्वविरतीनामपि सद्भावो न विरुध्यते । उक्त च—

सम्यक्त्वदेशविरतिसर्वविरतीना प्रतिपत्तिकाले शुभलेश्यात्रयमेव भवति । उत्तरकाल तु सर्वा अपि लेश्या परावर्तन्तेऽपि इति ।

श्रीमदाराध्यपादा अप्याहु —

सम्मत्तसुय सव्वासु लहइ सुद्धासु तीसु य चरित्त ।
पुव्वपडिवन्नओ पुण, अन्नयरीए उ लेसाए ॥ (आव० नि० गा० ८२२)

श्रीभगवत्यामप्युक्तम्—

सामाइयसजए ण भते ! कइलेसासु हुज्जा ? गोयमा ! छसु लेसासु होज्जा, एव छेओवट्ठावणियसजए वि (श० २५ उ० ७ पत्र ९१३–१) इत्यादि ।

तथा 'द्वयो' तेजोलेश्यापद्मलेश्ययो सप्त गुणस्थानानि भवन्ति, तत्र षट् पूर्वोक्तान्येव सप्तम त्वप्रमत्तगुणस्थानकम्, अप्रमत्तसयताध्यवसायस्थानापेक्षया मिथ्यादृष्ट्यादीना प्रमत्तान्ताना तेजोलेश्यापद्मलेश्ये तारतम्येन जघन्यात्यन्ताविशुद्धिके द्रष्टव्ये । तथा अनाहारके पञ्च गुणस्थानानि भवन्ति । कानि ? इत्याह—'प्रथमान्तिमद्विकाऽयतानि' इति द्विकशब्दस्य प्रत्येक योगात् प्रथमद्विक–मिथ्यादृष्टिसासादनलक्षणम् अन्तिमद्विक–सयोगिकेवल्ययोगिकेवलिलक्षणम् 'अयत' इति अविरतसम्यग्दृष्टिश्चेति । तत्र मिथ्यात्वसासादनाविरतसम्यग्दृष्टिलक्षण गुणस्थानकत्रयमनाहारके विग्रहगतौ प्राप्यते, सयोगिकेवलिगुणस्थानक त्वनाहारके समुद्घातावस्थाया तृतीयचतुर्थपञ्चमसमयेषु द्रष्टव्यम् । यदवादि—"चतुर्थतृतीयपञ्चमेष्वनाहारक" इति । अयोगिकेवल्यवस्थाया तु योगरहितत्वेनौदारिकादिशरीरपोषकपुद्गलग्रहणाभावाद् अनाहारकत्वम्, "औदारिकवैक्रियाहारकशरीरपोषकपुद्गलोपादानमाहार" इति प्रवचनोपनिषद्वेदिन । एव मार्गणास्थानेषु गत्यादिषु "गुण" त्ति गुणस्थानकान्यभिहितानि ॥ २३ ॥

अधुना मार्गणास्थानेष्वेव योगानभिधित्सु प्रथम तावद्योगानेव स्वरूपत आह—

सच्चेयर मीस असच्चमोस मण वइ विउव्वियाहारा ।
उरल मीसा कम्मण, इय जोगा कम्ममणहारे ॥ २४ ॥

इह योगशब्देन कारणे कार्योपचारात् तत्सहकारिभूत मन प्रभृत्येव विवक्षितमिति तै सह योगस्य सामानाधिकरण्यम् । तत्र मनोयोगश्चतुर्धा, तद्यथा—सत्यमनोयोग १ असत्यमनोयोग २ सत्यासत्यमनोयोग ३ असत्यामृषमनोयोग ४ । तत्र सन्तो मुनय पदार्था वा, तेषु यथासङ्ख्य मुक्तिप्रापकत्वेन यथावस्थिततत्त्वचिन्तनेन च हित सत्य, यथाऽस्ति जीव सदसद्रूप कायप्रमाण इत्यादिरूपतया यथावस्थितवस्तुविकल्पनपर इत्यर्थ , सत्यश्चासौ मनोयोगश्च सत्य-

---

१ सम्यक्त्वश्रुत सर्वासु लभते शुद्धासु तिसृषु च चारित्रम् । पूर्वप्रतिपन्न पुनरन्यतरस्या तु लेश्यायाम् ॥
२ सामायिकसयतो भद त ! कतिषु लेश्यासु भवेत् ? गौतम ! षट्सु लेश्यासु भवेत्, एव छेदोपस्थापनीय सयतोऽपि ॥

मनोयोग १ । तथा सत्यविपरीतोऽसत्य , यथा नास्ति जीव एकान्तसद्भूतो विश्वव्यापीत्यादि-कुविकल्पचिन्तनपर , असत्यश्चासौ मनोयोगश्च असत्यमनोयोग २ । तथा मिश्र —सत्यासत्य-मनोयोग , यथा इह धवखदिरपलाशादिमिश्रेषु बहुष्वशोकवृक्षेषु अशोकवनमेवेदमिति यदा विकल्पयति तदा तत्राऽशोकवृक्षाणा सद्भावात् सत्य , अन्येषामपि धवखदिरपलाशादीना तत्र सद्भावाद् असत्य इति सत्यासत्यमनोयोग इति, व्यवहारनयमतापेक्षया चेवमुच्यते, परमार्थत पुनर-यमसत्य एव यथाविकल्पितार्थायोगात् ३ । न विद्यते सत्य यत्र सोऽसत्य , न विद्यते मृषा यत्र सोऽमृष , असत्यश्चासावमृषश्च "क नञादिभिन्ने" (सि० ३-१-१०५) इति कर्मधारय , असत्यामृषश्चासौ मनोयोगश्च असत्यामृषमनोयोग ४। इह विप्रतिपत्तौ सत्या वस्तुप्रतिष्ठासया सर्व-ज्ञमतानुसारेण यद् विकल्प्यते, यथाऽस्ति जीव सदसद्रूप इत्यादि, तत् किल सत्य परिभाषितम् आराधकत्वात् । यत्तु विप्रतिपत्तौ सत्या वस्तुप्रतिष्ठासया सर्वज्ञमतोत्तीर्णं किञ्चिद् विकल्प्यते, यथा नास्ति जीव एकान्तनित्यो वेत्यादि, तद् असत्यमिति परिभाषित विराधकत्वात् । यत् पुन-र्वस्तुप्रतिष्ठासामन्तरेण स्वरूपमात्रप्रतिपादनपर व्यवहारपतित किञ्चिद् विकल्प्यते, यथा हे देवदत्त ! घटमानय गा देहि मह्यमित्यादि, तद् एतत् स्वरूपमात्रप्रतिपादन व्यावहारिक विकल्पनानम् । न यथोक्तलक्षण सत्य नापि मृषेत्यसत्यामृषमनोयोग इति व्याख्यातश्चतुर्धा मनोयोग । "वइ" त्ति वाग्योगोऽपि चतुर्धा द्रष्टव्य , तथाहि—सत्यवाग्योग १ असत्यवाग्योग २ सत्यासत्य-वाग्योग ३ असत्यामृषवाग्योग ४ । तत्र सता हिता सत्या, सत्या चासौ वाक् च सत्यवाक्, तया सहकारिकारणभूतया योगो [सत्य]वाग्योग , अथवा वचनगत सत्यत्व तत्कार्यत्वाद् योगे-ऽप्युपचर्यते, ततश्च सत्यश्चासो वाग्योगश्च सत्यवाग्योग , भावार्थ सत्यमनोयोगवद् वाच्य' १। असत्या—सत्याद् विपरीता सा चासो वाक् चाऽसत्यवाक् तया योगोऽसत्यवाग्योग २ । तथा सत्या चासावसत्या चेत्यादि पूर्ववत् कर्मधारयो बहुव्रीहिर्वा, सा चासौ वाक् च सत्यासत्यवाक्, तत्सत्ययो योग सत्यासत्यवाग्योग ३ । न विद्यते सत्य यत्र सोऽसत्य , न विद्यते मृषा यत्र सोऽमृष , असत्यश्चासावमृषश्चासत्यामृष , स चासो वाग्योगश्च असत्यामृषवाग्योग , शेष मनो-योगवत् सर्वं वाच्यम् ४ । अत्र तृतीयचतुर्थौ मनोयोगो वाग्योगौ च परिस्थूरव्यवहारनयमतेन द्रष्टव्यो । निश्चयनयमतेन तु मनोवाग्वचन वा सर्वमदुष्टविवक्षापूर्वक सत्यम्, अज्ञानादि-दूषिताशयपूर्वक त्वसत्यम्, उभयानुभयरूप तु नास्त्येव सत्यासत्ययोरन्तर्भावादिति भाव-नीयम् । तथा काययोग सप्तधा—वैक्रियकाययोग आहारककाययोग "उरल" त्ति औदारि-ककाययोग "मीस" त्ति मिश्रशब्दस्य पूर्वदर्शितशरीरत्रिकेण सह सम्बन्धाद् वैक्रियमिश्र-काययोग आहारकमिश्रकाययोग औदारिकमिश्रकाययोग "कम्मण" त्ति कार्मणकाययोग इत्य-क्षरार्थ । भावार्थस्त्वयम्—विविधा विशिष्टा वा क्रिया विक्रिया, तस्या भव वैक्रियम् । तथाहि—तदेक भूत्वाऽनेक भवति, अनेक भूत्वैकम्, अणु भूत्वा महद् भवति, महद् भूत्वाऽणु, तथा खचर भूत्वा भूमिचर भवति, भूमिचर भूत्वा खचरम्, अदृश्य भूत्वा दृश्य भवति, दृश्य भूत्वाऽदृश्य-मित्यादि । यद्वा विशिष्ट कुर्वन्ति तदिति वैकुर्विकम्, पृषोदरादित्वाद् अभीष्टरूपसिद्धि । तच्च द्विधा—औपपातिक लब्धिप्रत्यय च । तत्रौपपातिकमुपपातजन्मनिमित्तम्, तच्च देवनारकाणाम्,

लब्धिप्रत्यय तिर्यङ्मनुष्याणाम् । उक्त च श्रीमदनुयोगद्वारलघुवृत्तौ—

विविहाँ विसिट्ठगा वा, किरियाँ तीए अ ज भव तमिह ।
नियमा विउव्विय पुण, नारगदेवाण पयईए ॥ (पत्र ८७)

तदेव काययोगस्तन्मयो वा योगो वैक्रिययोगो वैकुर्विककाययोगो वा १ । वैक्रिय मिश्र यत्र कार्मणेन औदारिकेण वा स वैक्रियमिश्र , तत्र कार्मणेन मिश्र देवनारकाणामपर्याप्तावस्थाया प्रथमसमयादनन्तरम्, बादरपर्याप्तकवायो पञ्चेन्द्रियतिर्यङ्मनुष्याणा च वैक्रियलब्धिमता वैक्रियारम्भकाले वैक्रियपरित्यागकाले वा औदारिकेण मिश्रम्, ततो वैक्रियमिश्रश्चासौ कायश्च वैक्रियमिश्रकायस्तेन योगो वैक्रियमिश्रकाययोग २ । चतुर्दशपूर्वविदा तथाविधकार्योत्पत्तौ विशिष्टलब्धिवशाद् आह्रियते निर्वर्त्यत इत्याहारकम्, अथवाऽऽह्रियन्ते गृह्यन्ते तीर्थकरादिसमीपे सूक्ष्मा जीवादय पदार्था अनेनेत्याहारकम् । "कृद्बहुल" (बहुलम् सि० ५-१-२) इति कर्मणि करणे वा णक । यदवादि—

कैज्जम्मि समुप्पन्ने, सुयकेवलिणा विसिट्ठलद्धीए ।
ज इत्थ आहरिज्जइ, भणति आहारग त तु ॥ (अनु हा टी पत्र ८७)
पाणिदयरिद्धिसदरिसणत्थमत्थोवगहणहेउ वा ।
ससयवुच्छेयत्थ, गमण जिणपायमूलम्मि ॥
(अनु चू पत्र ६१, अनु हा टी पत्र ८७)

तदेव कायस्तेन योग आहारककाययोग ३ । आहारक मिश्र यत्र औदारिकेणेति गम्यते स आहारकमिश्र , सिद्धप्रयोजनस्य चतुर्दशपूर्वविद आहारक परित्यजत औदारिकमुपाददानस्य आहारक प्रारभमाणस्य वा प्राप्यते, स एव कायस्तेन योग आहारकमिश्रकाययोग ४ । तथा औदारिककाययोग इह प्रसिद्धसिद्धान्तसन्दोहविवरणप्रकरणप्रमाणग्रन्थप्रथनावाप्तसुधाशुधामधवलयश प्रसरधवलितसकलवसुधरावलयप्रभुश्रीहरिभद्रसूरिदर्शिता व्युत्पत्तिर्लिख्यते—

तैत्थ ताव उदार उराल उरल ओराल वा । तित्थगरगणधरसरीराइ पडुच्च उदार वुच्चइ, न तओ उदारतरमन्नमत्थि त्ति काउ, उदार नाम प्रधानम् । उराल नाम विस्तराल विशालमिति वा, ज भणिय होइ, कह² साइरेगजोयणसहस्समवट्ठियप्पमाणमोरालिय, अन्नमिदहमित्त नत्थि, वेउव्विय हुज्ज लक्खमहिय, अवट्ठिय पचधणुसयाइ अहे सत्तमाए, इत्थ पुण अवट्ठियपमाण

१ विविधा विशिष्टा वा क्रिया तस्या च यद् भव तदिह । नियमाद् वैकुर्विक पुन नारकदेवाना प्रकृत्या ॥ २ °या विकिरिय तीए ज तमिह । अनुयोगद्वारलघुवृत्तौ ॥ ३ कार्ये समुत्पन्ने श्रुतकेवलिना विशिष्टलब्ध्या । यदत्राह्रियते भणन्ति आहारक तत् तु ॥ प्राणिदयार्द्धिसन्दर्शनार्थमर्थावग्रहणहेतुर्वा । सशयव्युच्छेदार्थं गमन जिनपादमूले ॥ ४ तत्र तावदुदारमुरालमुरलमोराल वा । तीर्थकरगणधरशरीराणि प्रतीत्योदार मुच्यते, न तत उदारतरमन्यदस्तीति कृत्वा ॥ ५ ओराल ओरालिय अनुयोगद्वारचूर्णौ ॥ ६ काउ उदार । उदा° अनुयोगद्वारचूर्णौ ॥ ७ यद् भणित भवति, कथ सातिरेकयोजनसहस्रमवस्थितप्रमाणमौदारिकम्, अन्यदेतावन्मात्र नास्ति, वैक्रिय भवेद् लक्षाधिकम्, अवस्थित पञ्च धनु शतानि अध सप्तम्याम्, अत्र पुन अवस्थितप्रमाण सातिरेक योजनसहस्रम् ॥ ८ °सत, इम पु° अनुयोगद्वारचूर्णिलघुवृत्त्यो ॥

इरेग जोयणसहस्स वनस्पत्यादीनामिति । उरल नाम स्वल्पप्रदेशोपचितत्वाद् बृहत्त्वाच्च भिण्ड-
द् । ओरील नाम मासास्थिस्नाय्वाद्यवयवबद्धत्वात् । (अनु हा टी पत्र ८७)

श्रीपूज्या अप्याहु —

तित्थोदारमुरॉल, ओरालमहव महल्लगत्तेण ।
ओरालिय ति पढम, पडुच्च तित्थेसरसरीर ॥
भण्णइ य तहोरालु, वित्थरवत वणस्सतिं पप्प ।
पयईइ नत्थि अन्न, इदहमित्त विसाल ति ॥
उरल थेवपएसोवचिय पि महल्लग जहा भिंड ।
मसट्ठिण्हारुबद्ध, ओराल समयपरिभासा ॥ (अनु हा टी पत्र ८७)

सर्वत्र स्वार्थिक इकप्रत्यय , उदारमेव उरालमेव उरलमेव ओरालमेव औदारिकम्, पृषोदरा-
दित्वाद् इष्टरूपनिष्पत्ति , औदारिकमेव चीयमानत्वात् काय , तेन सहकारिकारणभूतेन तद्विषयो
। योग औदारिककाययोग ५ । तथा औदारिक मिश्र यत्र कार्मणेनेति गम्यते स औदारि-
कमिश्र , उत्पत्तिदेशे हि पूर्वभवादनन्तरमागतो जीव प्रथमसमये कार्मणेनेव केवलेनाऽऽहारयति,
तत परमौदारिकस्याऽप्यारब्धत्वाद् औदारिकेण कार्मणमिश्रेण यावत् शरीरनिष्पत्ति । यदाह
सकलश्रुताम्भोनिधिपारदृश्वा विश्वानुग्रहकाम्यया निर्मितानेकशास्त्रसन्दर्भ श्रीमद्भद्रबाहुस्वामी—

जोएण कम्मएण, आहारेई अणतर जीवो ।
तेण पर मीसेण, जाव सरीरस्स निप्फत्ती ॥

केवलिसमुद्घातावस्थाया तु द्वितीयषष्ठसप्तमसमयेषु कार्मणेन मिश्रमौदारिक प्रतीतमेव,
"मिश्रौदारिकयोक्ता सप्तमषष्ठद्वितीयेषु ॥" (प्रश० का० २७६) इति वचनात्, औदारिक-
मिश्रश्चासौ कायश्च तेन योग औदारिकमिश्रकाययोग ६ । तथा कर्मणो विकार कार्मणम्,
"विकारे" (सि० ६–२–३०) अण्प्रत्यय , यद्वा कर्मैव कार्मणम्, "प्रज्ञादिभ्योऽण्" (सि०
७–२–१६५) [इत्यण्]प्रत्यय , कर्मपरमाणव एवात्मप्रदेशै सह क्षीरनीरवद् अन्योन्यानु-
गता सन्त कार्मण शरीरम् । उक्त च—

कम्मविगारो कम्मणमट्ठविहविचित्तकम्मनिप्फन्न ।
सव्वेसि सरीराण, कारणभूय मुणेयव्व ॥ (अनु हा टी पत्र ८७)

अत्र "सव्वेसिं" इति सर्वेषामौदारिकादीना शरीराणा कारणभूत–बीजभूत कार्मणशरीरम्,

---

१ श्रेयम्बि अनुयोगद्वारचूर्णौ ॥ २ समग्रोऽप्ययं पाठ अनुयोगद्वारचूर्णावपि पत्र ६०–६१ वर्तते ॥ ३ तत्रोदारमुराल ओरालमथवा महत्त्वा । औदारिकमिति प्रथम प्रतीत्य तीर्थेश्वरशरीरम् ॥ भण्यते च तथोरालं विस्तारवद् वनस्पतिं प्राप्य । प्रकृत्या नास्त्यन्यद् एतावन्मात्र विशालमिति ॥ उरलं स्तोक-प्रदेशोपचितमपि महद्यथा भिण्डम् । मांसास्थिस्नायुबद्धमोराल समयपरिभाषा ॥ ४ °राल उरल ओराल-महव विन्नेयं । इति अनुयोगद्वारलघुवृत्तौ पाठ ॥ ५ योगेन कार्मणेनाहारयत्यनन्तरं जीव । ततः परं मिश्रेण यावच्छरीरस्य निष्पत्ति ॥ ६ कर्मविकार कार्मणमष्टविधविचित्रकर्मनिष्पन्नम् । सर्वेषां शरीराणां कारणभूतं ज्ञातव्यम् ॥

न खल्वामूलमुच्छिन्ने भवप्रपञ्चप्ररोहबीजभूते कार्मणे वपुषि शेषशरीरप्रादुर्भावसम्भव ।

इद च कार्मणशरीर जन्तोर्गत्यन्तरसङ्क्रान्तौ साधकतम करणम् । तथाहि—कार्मणेनैव वपुषा परिकरितो जन्तुर्मरणदेशमपहायोत्पत्तिदेशमुपसर्पति ।

ननु यदि कार्मणवपु परिकरितो गत्यन्तर सङ्क्रामति तर्हि गच्छन् कस्मात् नोपलक्ष्यते ? [उच्यते—] कर्मपुद्गलानामतिसूक्ष्मतया चक्षुरादीन्द्रियागोचरत्वात् । आह च प्रज्ञाकरगुप्तोऽपि—

अन्तरा भवदेहोऽपि, सूक्ष्मत्वान्नोपलक्ष्यते ।
निष्क्रामन् प्रविशन् वाऽपि, नाभावोऽनीक्षणादपि ॥

कार्मणमेव कायस्तेन योग कार्मणकाययोग ७ । "इय जोग" त्ति 'इति' परिसमाप्तौ । ततोऽयमर्थ —एत एव योगा नान्य इति ।

ननु तैजसमपि शरीर विद्यते, यद् भुक्ताहारपरिणमनहेतुर्यद्वशाद् विशिष्टतपोविशेषसमुत्थलब्धिविशेषस्य पुरुषस्य तेजोलेश्याविनिर्गम, तत् कथमुच्यते एत एव योगा नान्ये ? इति, नैष दोष, सदा कार्मणेन सहाऽव्यभिचारितया तैजसस्य तद्ग्रहणेनैव गृहीतत्वादिति ।

निरूपिता स्वरूपतो योगा । साम्प्रतमेतानेव मार्गणास्थानेषु निरूपयन्नाह—"कम्मणाहारि" त्ति व्यवच्छेदफल हि वाक्यम्, अतोऽवश्यमवधारयितव्यम् । तत्रावधारणमिहैवम्—कार्मणमेवैकमनाहारके न शेषयोगा, असम्भवादिति । न पुनरेवम्—कार्मणमनाहारकेष्वेवेति, आहारकेष्वपि उत्पत्तिप्रथमसमये कार्मणयोगसम्भवात्, "जोएण कम्मएण, आहारेई अणतर जीवो ।" इति परममुनिवचनप्रामाण्यात् । नापि 'कार्मणमनाहारकेषु भवत्येव' इत्यवधारणमाधेयम्, अयोगिकेवल्यवस्थायामनाहारकस्यापि कार्मणकाययोगाभावात्, "सेयजोगो उ अजोगी" इति वचनात् । एवमन्यत्रापि यथासम्भवमवधारणविधिरनुसरणीय इति ॥ २४ ॥

नरगइ पणिंदि तस तणु, अचक्खु नर नपु कसाय सम्मदुगे ।
सन्नि छलेसाहारग, भव्व मइ सुओहिदुगि सव्वे ॥ २५ ॥

'नरगतौ' मनुष्यगतौ पञ्चेन्द्रिये 'त्रसे' त्रसकाये तनुयोगे अचक्षुर्दर्शने 'नरे' नरवेदे पुवेद इत्यर्थ "नपु" त्ति नपुसकवेदे 'कषायेषु' क्रोध[illegible]लोभेषु 'सम्यक्त्वद्विके' क्षायोपशमिकक्षायिकलक्षणे 'सं[illegible] [illegible] आहारके भव्ये 'मतौ' मतिज्ञाने 'श्रुते' श्रुतज्ञाने [illegible] अवधिज्ञाना[illegible] 'सर्वे' पञ्चदशापि योगा भवन्ति, एतेषु सर्वेष्वपि [illegible] [illegible] [illegible] नापि [illegible] अकम्मगाहारगेसु" इति पद [illegible]

तेण

इति सप[illegible] ७९

अथ उ[illegible]

१ यो[illegible]

२ आवश्[illegible]

गृहीता एव ततो द्वितीयादिसमयेष्विव तदानीमप्यौदारिकमिश्रकाययोग इति, तदेतद् अयुक्तम्, सम्यग्वस्तुतत्त्वापरिज्ञानात्, यतो यद्यपि तदानीमौदारिकादिपु पुद्गला गृह्यमाणा गृहीता एव तथापि न तेषा गृह्यमाणाना स्वग्रहणक्रिया प्रति करणरूपता येन तन्निवन्धनो योग परिकल्प्येत, किन्तु कर्मरूपतैव, निष्पन्नरूपस्य सत उत्तरकाल करणभावदर्शनात् । नहि घट स्वनिष्पादनक्रिया प्रति कर्मरूपता करणरूपता च प्रतिपद्यमानो दृश्यते, द्वितीयादिसमयेषु पुनस्तेपामपि प्रथमसमयगृहीतानामन्यपुद्गलोपादान प्रति करणभावो न विरुध्यते, निष्पन्नत्वात्, अतस्तदानीमौदारिकमिश्रकाययोग उपपद्यत एव । अत एवोक्तम्—"तेण पर मीसेण" इति । तस्माद् अस्त्याहारकस्याप्युत्पत्तिप्रथमसमये कार्मणकाययोग इति । अत "जोगा अकम्मगाहारगेसु" इति पद चिन्त्यमस्तीति ॥ २५ ॥

तिरि इत्थि अजय सासण, अनाण उवसम अभव्व मिच्छेसु ।
तेराहारदुगूणा, ते उरलदुगूण सुरनरए ॥ २६ ॥

"तिरि" त्ति तिर्यग्गतो 'स्त्रिया' स्त्रीवेदे 'अयते' विरतिहीने सासादनसम्यक्त्वे "अनाण" त्ति अज्ञानत्रिके—मत्यज्ञानश्रुताज्ञानविभङ्गलक्षणे 'उपशमे' औपशमिकसम्यक्त्वे 'अभव्येपु' सिद्धिगमनानुचितेपु 'मिथ्यात्वे' मिथ्यादृष्टिपु त्रयोदश योगा भवन्ति । के[1] इत्याह—आहारकद्विकेन—आहारकाहारकमिश्रलक्षणेन ऊना—हीना आहारकद्विकोना । अयमत्राशय —मनोयोगचतुष्टयवाग्योगचतुष्टयौदारिकौदारिकमिश्रवैक्रियवैक्रियमिश्रकार्मणलक्षणा योगा भवन्ति । तत्र कार्मणमपान्तरालगतौ उत्पत्तिप्रथमसमय एव, औदारिकमिश्रमपर्याप्तावस्थायाम्, पर्याप्तावस्थायामौदारिक मनोवाग्योगचतुष्टय च । तथा तिरश्चामपि केपाञ्चिद् वैक्रियलब्धियोगतो वैक्रियमिश्र वैक्रिय च घटत एव। यत्तु आहारकद्विकम्—आहारकाहारकमिश्रलक्षण तद् न सम्भवत्येव, तिरश्चा तत्र सर्वविरत्यसम्भवात्, सर्वविरतस्य हि चतुर्दशपूर्ववेदिन आहारकद्विक सम्भवति, "आहारं चउदसपुव्विणो" इत्यादिवचनप्रामाण्यादिति । तथा इह स्त्रीवेदो द्रव्यरूपो द्रष्टव्य, न तु तथारूपाध्यवसायलक्षणो भावरूप, तथाविवक्षणात् । एवमुपयोगमार्गणायामपि द्रष्टव्यम् । प्राक् च गुणस्थानकमार्गणाया सर्वोऽपि वेदो भावस्वरूपो गृहीत, तथाविवक्षणादेव, अन्यथा तेपु मोक्तगुणस्थानकसङ्ख्यायोगात्, सयोगिकेवल्यादावपि द्रव्यवेदस्य भावात्, द्रव्यवेदश्च बाह्याकारमात्रम् । तत स्त्रीपु त्रयोदश योगा आहारकद्विकोना भवन्ति, न पुनराहारकद्विकमपि, यत आहारकद्विक चतुर्दशपूर्वविद एव भवति, "आहारकदुग जायइ चउदसपुव्विणो" इति वचनात् । न च स्त्रीणा चतुर्दशपूर्वाधिगमोऽस्ति, स्त्रीणामागमे दृष्टिवादाध्ययनप्रतिपेधात् ।

यदाह भाष्यसुधासुधाशु:—

तुच्छा गारवबहुला, चलिंदिया दुब्बला धिईए य ।
इय अइसेसज्झयणा, भूयावादो य नो थीण ॥ (विशेपा० गा० ५५२) इति ।

'भूतवाद' दृष्टिवाद । तथा अयते सासादने अज्ञानत्रिके च त्रयोदश योगा आहारकद्वि-

[1] पूर्ववत् ॥ २ आहारक चतुर्दशपूर्विण ॥ ३ आहारकद्विक जायते चतुर्दशपूर्विण ॥ ४ तुच्छा गौरवबहुलाश्चलेन्द्रिया दुर्बला धृत्या च । इति अतिशयीन्यध्ययनानि भूतवादश्च न स्त्रीणाम् ॥

कोना भवन्ति । आहारकद्विक पुनरेतेष्वज्ञानत्वादेव दूरापास्तम् । तथा औपशमिकसम्यक्त्वे आहारकद्विकोनास्त्रयोदश योगा , आहारक त्त्रापि न घटामियर्ति, यत औपशमिकसम्यक्त्व प्रथमसम्यक्त्वोत्पादकाले उपशमश्रेण्यारोहे वा भवति । न च प्रथमसम्यक्त्वोत्पादकाले चतुर्दशपूर्वाधिगमसम्भव , तदभावाच्च कथमाहारकद्विकभाव प्रादुर्भावपदवीमियर्ति ? । उपशमश्रेण्यारूढ स्त्वाहारक नारभत एव, तस्याऽप्रमत्तत्वात्, आहारकारम्भकस्य तु लब्ध्युपजीवनेन औत्सुक्यभावत प्रमादबहुलत्वात् । उक्त च—

आहारग [redacted] पमत्तो उप्पाएइ न अप्पमत्तो इति ।

आहारकस्थितश्चोपशमश्रेणिं नारभत एव, तथास्वभावत्वादिति । तथा अभव्ये मिथ्यात्वे च चतुर्दशपूर्वाधिगमाभावादेव आहारकद्विकवर्जास्त्रयोदश योगा । त एव पूर्वोक्तास्त्रयोदश योगा औदारिकद्विकेन—औदारिकौदारिकमिश्रलक्षणेन ऊना —हीना एकादश योगा 'सुरे' सुरगतौ 'नरके' नरकगतौ भवन्ति । तथाहि—मनोवाग्योगचतुष्टयवैक्रियवैक्रियमिश्रकार्मणलक्षणा एकादश योगा सुरेषु नारकेषु च घटन्ते । तत्र कार्मणमपान्तरालगतावुत्पत्तिप्रथमसमय एव, वैक्रियमिश्रमपर्याप्तावस्थायाम्, पर्याप्तावस्थाया तु वैक्रिय मनोवाग्योगचतुष्टय च । यत् पुनरौदारिकद्विक तद् भवप्रत्ययादेव देवनारकाणा न सम्भवति । आहारकद्विक तु सुरनारकाणा भवस्वभावतया विरत्यभावेन सर्वविरतिप्रत्ययचतुर्दशपूर्वाधिगमासम्भवादेव दूरापास्तमिति ॥ २६ ॥

कम्मुरलदुग थावरि, ते सविउव्विदुग पच इगि पवणे ।
छ असन्नि चरमवइजुय, ते विउविदुगूण चउ विगले ॥ २७ ॥

कार्मणम् 'औदारिकद्विकम्' औदारिकौदारिकमिश्रलक्षणमिति त्रयो योगा । क ? इत्याह—"थावरि" त्ति स्थावरकाये—पृथिव्यप्तेजोवनस्पतिकायरूपे, वायुकायिकस्य पृथग् भणिष्यमाणत्वात् । अयमत्र भाव —स्थावरचतुष्के कार्मणौदारिकद्विकरूपास्त्रयो योगा भवन्ति । तत्र कार्मणमपान्तरालगतावुत्पत्तिप्रथमसमये वा, ओदारिकमिश्र [redacted] अपर्याप्तावस्थायाम्, पर्याप्तावस्थाया पुनरौदारिकमिति । 'ते' पूर्वोक्तास्त्रयो योगा 'सवैक्रियद्विका ' सह वैक्रियद्विकेन—वैक्रियवैक्रियमिश्रलक्षणेन वर्तन्त इति सवैक्रियद्विका सन्त पञ्च भवन्ति । क ? इत्याह—"इगि" त्ति सामान्यत एकेन्द्रिये 'पवने' वायुकाये च । तत्र कार्मणौदारिकद्विकलक्षणयोगत्रयभावना प्राग्वत् । वैक्रियद्विकभावना त्वेवम्—इह किल चतुर्विधा वायवो वान्ति । तद्यथा—सूक्ष्मा अपर्याप्ता १ सूक्ष्मा पर्याप्ता २ बादरा अपर्याप्ता ३ बादरा पर्याप्ताश्च ४ । तत्र बादरपर्याप्ताना केषाञ्चिद् वैक्रियलब्धिसम्भवोऽस्ति तानधिकृत्य वैक्रियमिश्र वैक्रिय च लभ्यते ।

ननु कथमुच्यते केषाञ्चिद् वैक्रियलब्धिसम्भवोऽस्ति ? यावता सर्वेऽपि बादरपर्याप्तवायव सवैक्रिया एव, अवैक्रियाणा चेष्टाया एवाप्रवृत्ते । उक्त च—

केई भणति—सव्वे वेउव्विया वाया वायति, अवेउव्वियाण चिट्ठा चेव न पवत्तइ ।

(अनु० चू० पत्र ६७, अनु० हा० टी० पत्र ९२) इति ।

---

१ आहारक [redacted] प्रमत्त उत्पादयति नाप्रमत्त ॥ २ केचिद् भणन्ति—सर्वे वैकुर्विका वाता वान्ति, अवै क्रियाणां चेष्टैव न प्रवर्तते ॥ ३ °याण वाण चे° अनुयोगद्वारचूर्णिलघुटीकयो ॥

तद् अयुक्तम्, सम्यक् सिद्धान्तापरिज्ञानात्, अवैक्रियाणामपि तेषां स्वभावत एव चेष्टोपपत्तेः । यदाह भगवान् श्रीहरिभद्रसूरिरनुयोगद्वारटीकायाम्—

वाउक्काइया चउव्विहा—सुहुमा पज्जत्ता अपज्जत्ता, बादरा वि य पज्जत्ता अपज्जत्ता । तत्थ तिन्नि रासी पत्तेयं असंखेज्जलोगप्पमाणप्पएसरासिपमाणमित्ता, जे पुण बादरा पज्जत्ता ते पयरासंखेज्जइभागमित्ता । तत्थ ताव तिण्ह रासीण वेउव्वियलद्धी चेव नत्थि । बायरपज्जत्ताण पि असंखिज्जइभागमित्ताण लद्धी अत्थि । जेसिं पि लद्धी अत्थि ते वि पलिओवमासंखिज्जभागसमयमित्ता संपयं पुच्छासमए वेउव्वियवत्तिणो । तथा जेण सव्वेसु चेव उड्डलोगाइसु चला वायवो विज्जंति तम्हा अवेउव्विया वि वाया वायंति त्ति घित्तव्वं । सभावो तेसिं वाइयव्वं । (पत्र ९२, अनु० चू० पत्र ६७) इति ।

वानाद्वायुरिति कृत्वा "तिण्ह रासीण" ति त्रयाणां राशीनां पर्याप्तापर्याप्तसूक्ष्मापर्याप्तबादरवायुकायिकानाम् । तथा त एव पूर्वोक्ताः पञ्च कार्मणौदारिकद्विकवैक्रियद्विकलक्षणयोगाः चरमा—चतुर्थी असत्यामृषरूपा वाग्—वचनयोगश्चरमवाक् तया युक्ताः षड् योगा भवन्ति । क्व ? इत्याह—'असंज्ञिनि' संज्ञिव्यतिरिक्ते जीवे । तत्र कार्मणमपान्तरालगतावुत्पत्तिप्रथमसमये च, औदारिकमिश्रमपर्याप्तावस्थायाम्, पर्याप्तावस्थायामौदारिकम् । बादरपर्याप्तवायुकायिकानां वैक्रियद्विकम्, चरमभाषा शङ्खादिद्वीन्द्रियादीनामिति । त एव पूर्वोक्ताः षड् योगा वैक्रियद्विकेन—वैक्रियवैक्रियमिश्रलक्षणेन ऊनाः—हीनाश्चत्वारो भवन्ति । क्व ? इत्याह—'विकलेषु' द्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियेषु । कोऽर्थः ? तत्र कार्मणौदारिकद्विकभावना प्राग्वत् । चरमभाषा च असत्यामृषरूपा शङ्खादीनां भवति, शेषास्तु भाषा न भवन्त्येव "विगलेसु असच्चमोसेव" इति वचनादिति ॥ २७ ॥

कम्मुरलमीस विणु मण, वइ समइय छेय चक्खु मणनाणे ।
उरलदुग कम्म पढमतिम मणवइ केवलदुगम्मि ॥ २८ ॥

कार्मणमौदारिकमिश्रं विना शेषास्त्रयोदश योगा भवन्ति । क्व ? इत्याह—मनोयोगे वाग्योगे सामायिकसंयमे छेदोपस्थापनसंयमे चक्षुर्दर्शने मनःपर्यायज्ञाने । भावना सुकरैव । यौ तु कार्मणौदारिकमिश्रौ तौ तेषु सर्वथा न सम्भवत एव, तयोरपर्याप्तावस्थाया भावात्, मनोयोगवाग्योगसामायिकच्छेदोपस्थापनचक्षुर्दर्शनमनःपर्यायज्ञानानां च तस्यामवस्थायामसम्भवात् । तथा "उरलदुग" त्ति औदारिकद्विकमौदारिकौदारिकमिश्रकार्मणकाययोगौ [मिश्रकाययोगौ] सयोग्यवस्थायामेव समुद्घातगतस्य वेदितव्यौ ["कम्म" त्ति कार्मणकाययोग]

---

१ वायुकायिकाश्चतुर्विधाः—सूक्ष्माः पर्याप्ताः १ अपर्याप्ताः २, बादरा अपि च पर्याप्ताः ३ अपर्याप्ताः ४ । तत्र त्रयो राशयः प्रत्येकं असङ्ख्येयलोकप्रमाणप्रदेशराशिप्रमाणमात्रा, ये पुनर्बादराः पर्याप्तास्ते प्रतरासङ्ख्यातभागमात्राः । तत्र तावत् त्रयाणां राशीनां वैक्रियलब्धिरेव नास्ति । बादरपर्याप्तानामपि असङ्ख्यातभागमात्राणां लब्धिरस्ति । येषामपि लब्धिरस्ति तेऽपि पल्योपमासङ्ख्येयभागसमयमात्राः साम्प्रतं पृच्छासमये वैकुर्विकवर्त्तिनः । तथा येन सर्वेष्वेव ऊर्ध्वलोकादिषु चला वायवो विद्यन्ते तस्माद्वैकुर्विका अपि वाता वान्तीति ग्रहीतव्यम् । स्वभावस्तेषां वातव्यम् । २ °व लोगा° रा० अनुयोगद्वारलघुटीकायाम् । °व लोगागासाइ° अनुयोगद्वारचूर्णौ ॥ ३ विगलेसु असच्चामोसा वा ॥ ४ इत ऊर्ध्वम्—"केवलद्विके' केवलज्ञानकेवलदर्शनरूपे सप्त योगाः । के ते ? इत्याह—' इत्येवरूपः पाठो यदि स्यात्तदा सङ्गतिमेति ॥ ५ °दारिकमिश्रकार्म° क० रा० ग० घ० ङ० ॥

मिश्रौदारिकयोक्ता, सप्तमषष्ठद्वितीयेषु ॥ (प्रश० का० २७६)
कार्मणशरीरयोगी, चतुर्थके पञ्चमे तृतीये च । (प्रश० का० २७७) इति ।

प्रथमान्तिममनोयोगौ तु अविकलसकलविमलकेवलज्ञानकेवलदर्शनसम्यवलोकितनिखिललोकालोकस्य भगवतो मन पर्यायज्ञानिभिरनुत्तरसुरादिभिर्वा मनसा पृष्टस्य सतो मनसैव देशनात् । ते हि भगवत्प्रयुक्तानि मनोद्रव्याणि मन पर्यायज्ञानेनाऽवधिज्ञानेन वा पश्यन्ति, दृष्ट्वा च ते विवक्षितवस्त्वालोचनाकारान्यथानुपपत्त्या लोकस्वरूपादिक बाह्यमर्थं पृष्टमवगच्छन्ति । प्रथमान्तिमवाग्योगौ तु देशनादिषु व्यापृतस्य तस्यैव भगवतो द्रष्टव्याविति ॥ २८ ॥

मणवइउरला परिहारि सुहुमि नव ते उ मीसि सविउव्वा ।
देसे सविउव्विदुगा, सकम्मुरलमिस्स अहखाए ॥ २९ ॥

परिहारविशुद्धिके सूक्ष्मसम्पराये च नव योगा । के ते ? इत्याह—मनोयोगश्चतुर्धा वाग्योगश्चतुर्धा औदारिक चेति । यत्त्वाहारकद्विक वैक्रियद्विक कार्मणमौदारिकमिश्र च तद् न सम्भवत्येव । तथाहि—आहारकद्विक चतुर्दशपूर्ववेदिन एव भवति, "आहार चउदसपुव्विणो"[1] इति वचनात्, परिहारविशुद्धिकसयमप्रतिपत्ति पुनरुत्कर्षतोऽप्यधीतकिञ्चिन्न्यूनदशपूर्वस्यैव, तथैव सिद्धान्तेऽभ्यनुज्ञानात्, तत् कथ परिहारविशुद्धिकस्याऽऽहारकद्विकसम्भव ? । नापि तस्य वैक्रियद्विकमम्भव , तस्यामवस्थाया तत्करणाननुज्ञानात्, जिनकल्पिकस्येव तस्याऽप्यत्य तविशुद्धाप्रमादमूलसयमघोरानुष्ठानपरायणत्वात्, वैक्रियारम्भे च लब्ध्युपजीवनेन औत्सुक्यभावात् प्रमादसम्भवात् । अत एव सूक्ष्मसम्परायसयमेऽप्याहारकद्विकवैक्रियद्विकलक्षणाना चतुर्णां योगानामसम्भव , सूक्ष्मसम्परायसयमोपेतस्याऽप्यत्यन्तविशुद्धतया निस्तरङ्गमहोदधिकल्पत्वेन वैक्रियादिमारम्भासम्भवात् । कार्मणमौदारिकमिश्र चापर्याप्तावस्थायामेवेति सयमद्वयेऽपि तस्याऽभाव । ते पुन पूर्वोक्ता नव योगा 'सवैक्रिया' सह वैक्रियेण वर्तन्त इति सवैक्रिया वैक्रियसहिता सन्तो दश योगा 'मिश्रे' सम्यग्मिथ्यादृष्टौ भवन्ति । तत्र वैक्रिय देवनारकापेक्षया, यत्तु वैक्रियमिश्र तद् नैवाप्यते, तस्याऽपर्याप्तावस्थाभावित्वात्, मिश्रभावस्य च "न सम्ममिच्छो कुणइ काल"[2] इति वचनप्रामाण्याद् अपर्याप्तावस्थायामसम्भवात् ।

स्यादेतद्—वैक्रियलब्धिमता मनुष्यतिरश्चा सम्यग्मिथ्यादृशा सता वैक्रियारम्भसम्भवेन कथ वैक्रियमिश्र नावाप्यते ? इति, उच्यते—तेषा वैक्रियारम्भासम्भवात्, अन्यतो वा कुतश्चित् कारणात् पूर्वाचार्यैस्तद् नाभ्युपगम्यत इति न सम्यगवगच्छाम , तथाविधसम्प्रदायाभावात्, अतोऽस्माभिरपि तद् नेष्टमिति । 'देशे' देशविरते त एव नव पूर्वोक्ता 'सवैक्रियद्विका' वैक्रियतन्मिश्रसहिता सन्त एकादश योगा भवन्ति, देशविरतानामम्बडादीना वैक्रियलब्धिमता वैक्रियद्विकसम्भवात् । तथा त एव नव पूर्वोक्ता 'सकार्मणौदारिकमिश्रा' सह कार्मणौदारिकमिश्राभ्या वर्तन्त इति सकार्मणौदारिकमिश्रा सन्त एकादश योगा यथाख्यातसंयमे भवन्ति । अयमर्थ — मनोयोगचतुष्टयवाग्योगचतुष्टयकार्मणौदारिकद्विकलक्षणा एकादश योगा यथाख्याते भवन्ति । तत्र मनोवाक्चतुष्कौदारिकयोगा सुज्ञाना एव । कार्मणमौदारिकमिश्र तु यथाख्यातसयम-

---

१ आहारक चतुर्दश पूर्विण ॥ २ न सम्यग्मिथ्यादृष्टि करोति काल ॥

श्रीकुलभृत्स्य भगवत केवलिन सम्भवति, तस्य हि समुद्घातगतस्य तृतीयचतुर्थपञ्चमसमयेषु कार्मणम्, "कार्मणशरीरयोगी चतुर्थके पञ्चमे तृतीये च ।" (प्रश० का० २७७) इति वचनात्, द्वितीयषष्ठसप्तमसमयेष्वौदारिकमिश्रम्, "मिश्रौदारिकयोक्ता सप्तमषष्ठद्वितीयेषु ॥" (प्रश० का० २७६) इति वचनाद् अवाप्यत इति यथाख्यातसयमे द्वयोरपि सम्भवात् ।

अथ विनेयजनानुग्रहाय केवलिसमुद्घातस्वरूपमभिधीयते—तत्र सम्यग्–अपुनर्भावेन उत्–प्राबल्येन कर्मणो हननं–घात प्रल्यो यस्मिन् प्रयत्नविशेषे स समुद्घात । अय च केवलिसमुद्घातोऽष्टसामयिक, त च प्रारभमाण प्रथममेवाऽऽयोजिकाकरणमान्तर्मौहूर्तिकमुदीरणावलिकाया कर्मप्रक्षेपव्यापाररूपमभ्येति । अथाऽऽयोजिकाकरणमिति क शब्दार्थ ? उच्यते—"आङ् मर्यादायाम्" आ–मर्यादया केवलिदृष्टया योजन–शुभाना योगाना व्यापारणमायोजिका, "भावे" (सि० ५-३-१२२) णक, तस्या करणमायोजिकाकरणम् । आह च—

कइसमइए ण भते ! आओजीकरणे पन्नत्ते ? गोयमा ! असखेज्जसमइए अतोमुहुत्तिए आओजीकरणे पन्नत्ते ॥ (प्रज्ञापनापत्र ६०१–१)

अथ कृतकृत्योऽपि केवली किमर्थं समुद्घात करोति ? इति चेद्, उच्यते—वेदनीयनामगोत्राणामायुषा सह समीकरणार्थम् । यदाह भगवान् श्रीभद्रबाहुस्वामी—

> नाऊण वेयणिज्जं, अइबहुय आउय च थोवाग ।
> गतूण समुग्घाय, खवेइ कम्म निरवसेस ॥ (आ नि गा ९५४)

प्रज्ञापनायामप्युक्तम्—

कम्हा ण भते ! केवली समुग्घाय गच्छइ ? गोयमा ! केवलिस्स चत्तारि कम्मसा अक्खीणा अवेइया अणिज्जिन्ना भवन्ति । त जहा—वेयणिज्जे आउए नामे गोए । सव्वबहुए से वेयणिज्जे कम्मे हवइ, सव्वथोवे से आउए कम्मे हवइ, विसमं सम करेइ बधणेहिं ठिईहि य, विसमसमीकरणयाए बधणेहि ठिईहि य एव खलु केवली समुग्घाय गच्छइ ॥ (पत्र ६०१–१)

"बधणेहिं" ति बध्यन्त आत्मप्रदेशै सह लोलीभावेन संश्लिष्टा क्रियन्ते योगवशाद् ये ते बन्धना, "भुजिपत्यादिभ्य कर्मापादाने" (सि० ५–३–१२८) इति कर्मण्यनट्, कर्मपरमाणव, स्थितय –वेदनाकाला, शेष सुगमम् । उक्त च—

> आयुषि समाप्यमाने, शेषाणा कर्मणा यदि समाप्ति ।
> न स्यात् स्थितिवैषम्याद्, गच्छति स तत समुद्घातम् ॥
> स्थित्या च बन्धनेन च, समीक्रियार्थं हि कर्मणा तेषाम् ।
> अन्तर्मुहूर्तशेषे, तदायुषि समुज्जिघांसति स ॥

---

१ कतिसामयिक भदन्त ! आयोजिकाकरण प्रज्ञप्तम् ? गौतम ! असङ्ख्येयसामयिकमान्तर्मौहूर्तिकम् आयोजिकाकरण प्रज्ञप्तम् ॥ २ ज्ञात्वा वेदनीय अतिबहुक आयुष्क च स्तोकम् । गत्वा समुद्घात क्षपयति कर्म निरवशेषम् ॥ ३ कस्माद् भदन्त ! केवली समुद्घात गच्छति ? गौतम ! केवलिनश्चत्वार कर्मांशा अक्षीणा अवेदिता अनिर्जीर्णा भवन्ति । तद्यथा—वेदनीय आयुष्क नाम गोत्रम् । सर्वबहुक तस्य वेदनीय कर्म भवति, सर्वस्तोक तस्यायुष्क कर्म भवति विषम सम करोति, बन्धनै स्थितिभिश्च, विषमस्य समीकरणाय बन्धनै स्थितिभिश्च एव खलु केवली समुद्घात गच्छति ॥

अथ सर्वेऽपि केवलिन समुद्घात गच्छन्ति न वा [1] इति चेद्, उच्यते—यस्य केवलिन आयुपा सह वेदनीयनामगोत्राणि समस्थितिकानि भवन्ति स हि न केवलिसमुद्घात करोति, शेषस्तु करोति । उक्त च श्रीमदार्यश्यामपादे —

सेवे वि ण भते ! केवली समुग्घाय गच्छति ? गोयमा ! नो इणट्ठे समट्ठे ।
जस्साउएण तुलाइ, बधणेहिं ठिईहि य । भवोवग्गाहिकम्माइ, समुग्घाय से न गच्छइ ॥
अगतूण समुग्घाय, अणता केवली जिणा । जरमरणविप्पमुक्का, सिद्धिं वरगइ गया ॥
(पत्र० ६०१–१)

समुद्घात च कुर्वन् केवली प्रथमसमये बाहुल्यत स्वशरीरप्रमाणमूर्ध्वमधश्च लोकान्तपर्यन्तमात्मप्रदेशाना सङ्घातदण्ड दण्डस्थानीय ज्ञानाभोगत करोति, द्वितीयसमये तु तमेव दण्ड पूर्वापरदिग्द्वयप्रसारणात् पार्श्वतो लोकान्तगामिकपाटमिव कपाट करोति, तृतीयसमये तमेव कपाट दक्षिणोत्तरदिग्द्वयप्रसारणाद् मन्थसदृश मन्थान करोति लोकान्तप्रापिणमेव । एव च लोकस्य प्रायो बहु पूरित मन्थान्तराण्यपूरितानि भवन्ति, अनुश्रेणि गमनात्, चतुर्थे तु समये तान्यपि मन्थान्तराणि सह लोकनिष्कुटै पूरयति, ततश्च सकलो लोक पूरितो भवतीति । तदनन्तरमेव पञ्चमे समये यथोक्तक्रमात् प्रतिलोम मन्थान्तराणि सहरति जीवप्रदेशान् सकर्मकान् सङ्कोचयति, षष्ठे समये मन्थानमुपसहरति घनतरसङ्कोचनात्, सप्तमे समये कपाटमुपसहरति दण्डात्मनि सङ्कोचनात्, अष्टमे समये दण्ड समुपहृत्य शरीरस्थ एव भवति । न चैतत् स्वमनीषिकाविजृम्भितम् । यदाहुर्वृद्धा —

[3] उड्ढाहाययं लोगतगामिण सो सदेहविक्खभ ।
पढमसमयम्मि दड, करेइ बिइयम्मि उ कवाड ॥
तइयसमयम्मि मथ, चउत्थए लोगपूरण कुणइ ।
पडिलोम संहरण, काउ तो होइ देहत्थो ॥ (विशेषा० गा० ३०५२–३०५३)

वाचकवरोऽप्याह—

दण्ड प्रथमे समये, कपाटमथ चोत्तरे तथा समये ।
मन्थानमथ तृतीये, लोकव्यापी चतुर्थे तु ॥
सहरति पञ्चमे त्वन्तराणि मन्थानमथ पुन षष्ठे ।
सप्तमके तु कपाट, सहरति ततोऽष्टमे दण्डम् ॥ (प्रश० का० २७४–२७५)

तस्येदानीं समुद्घातस्य योगव्यापारश्चिन्त्यते—योगाश्च मनोवाक्काया, अत्रैषा क कदा व्याप्रियते [ ] । तत्रेह मनोवाग्योगयोरव्यापार एव, प्रयोजनाभावात् ।

---

१ सर्वेऽपि भदन्त ! केवलिन समुद्घात गच्छन्ति ? गौतम ! नायमर्थ समर्थ । यस्याऽऽयुपा तुल्यानि बन्धनै स्थितिभिश्च । भवोपग्राहिकर्माणि समुद्घात स न गच्छति ॥ अगत्वा समुद्घातमनन्ता केवलिनो जिना । जरामरणविप्रमुक्ता सिद्धिं वरगतिं गता ॥ २ °णमट्ठे क० ख० घ० ङ० ॥ ३ ऊर्ध्वाधआयत लोकान्तगामिन स स्वदेहविष्कम्भम् । प्रथमसमये दण्ड करोति द्वितीये तु कपाटम् ॥ तृतीयसमये मन्थान चतुर्थके लोकपूरण करोति । प्रतिलोम सहरण कृत्वा ततो भवति देहस्थ ॥

यदाह धर्मसारमूलटीकाया भगवान् श्रीहरिभद्रसूरि —

मनोवचसी तदा न व्यापारयति, प्रयोजनाभावात् ।

काययोगस्य तु औदारिककाययोगस्यौदारिकमिश्रकाययोगस्य वा कार्मणकाययोगस्य वा व्यापारो न शेषस्य, लब्ध्युपजीवनाभावेन शेषस्य काययोगस्याऽसम्भवात् । तत्र प्रथमाष्टमसमययोरौदारिककायप्राधान्याद् औदारिककाययोग एव, द्वितीयषष्ठसप्तमकेषु पुन कार्मणशरीरस्यापि व्याप्रियमाणत्वाद् औदारिकमिश्र एव, तृतीयचतुर्थपञ्चमेषु तु केवलमेव कार्मण शरीर व्यापारभागिति कार्मणकाययोग ।

यदाहु श्रीमदार्यश्यामपादाः श्रीप्रज्ञापनाया षट्त्रिंशत्तमे समुद्घातपदे—

पढमट्ठमेसु समएसु ओरालियसरीरकायजोग जुजइ, बिइयछट्ठसत्तमेसु समएसु ओरालियमीसगसरीरकायजोग जुजइ, तइयचउत्थपचमेसु समएसु कम्मगसरीरकायजोग जुजइ ॥ (पत्र ६०१–२)

भाष्यकारोऽप्याह—

न किर समुग्घायगओ, मणवइजोगप्पओयण कुणइ ।
ओरालियजोग पुण, जुजइ पढमऽट्ठमे समए ॥
उभयव्वावाराओ, तम्मीस बीयछट्ठसत्तमए ।
तिचउत्थपचमे कम्मग तु तम्मत्तचिट्ठाओ ॥ (निशे० गा० ३०५४–३०५५)

तत समुद्घातात् प्रतिनिवृत्तो मनोवाक्काययोगत्रयमपि व्यापारयति । यत स भगवान् भवधारणीयकर्मसु नामगोत्रवेदनीयेष्वचिन्त्यमाहात्म्यसमुद्घातवशत प्रभूतमायुषा सह समीकृतेष्वप्यन्तर्मुहूर्तभाविपरमपदो यदाऽनुत्तरौपपातिकादिना देवेन मनसा पृच्छ्यते तर्हि व्याकरणाय मन पुद्गलान् गृहीत्वा मनोयोग युनक्ति, तमपि सत्यमसत्यामृषारूप वा, मनुष्यादिना पृष्ट सन् अपृष्टो वा कार्यवशाद् गृहीत्वा भाषापुद्गलान् वाग्योगम्, तमपि सत्यमसत्यामृषारूप वा, न शेषान् वाङ्मनोयोगान्, क्षीणरागद्वेषत्वात्, काययोग तु गमनादिचेष्टासु, तदेवमन्तर्मुहूर्तं काल यथायोग योगत्रयव्यापारभाक् केवली भूत्वा तदनन्तरम् अत्यन्ताप्रकम्प लेश्यातीत परमनिर्जराकारण ध्यान प्रतिपित्सुरवश्य योगनिरोधाय उपक्रमते, योगे सति यथोक्तरूपस्य ध्यानस्याऽसम्भवात् । यदाह भाष्यसुधाम्भोधिः—

[3]विणिवत्तसमुग्घाओ, तिन्नि वि जोगे जिणो पउजिज्जा ।
सच्चमसच्चामोसं, च सो मण तह वईजोग ॥
ओरालकायजोग, गमणाई पाडिहारियाण च ।

---

१ प्रथमाष्टमयो समययोरौदारिकशरीरकाययोग युनक्ति, द्वितीयषष्ठसप्तमेषु समयेषु औदारिकमिश्रशरीरकाययोगं युनक्ति, तृतीयचतुर्थपञ्चमेषु समयेषु कार्मणशरीरकाययोग युनक्ति ॥ २ न किल समुद्घातगतो मनोवाग्योगप्रयोजन करोति । औदारिकयोगं पुनर्युनक्ति प्रथमाष्टमयो समययो ॥ उभयव्यापारात् तन्मिश्र द्वितीयषष्ठसप्तमेषु । तृतीयचतुर्थपञ्चमेषु कार्मण तु तन्मात्रचेष्टायाः ॥ ३ निवृत्तसमुद्घातस्त्रीनपि योगान् जिन प्रयुङ्क्ते । सत्यमसत्यामृष च स मनस्तथा वाग्योगम् ॥ औदारिककाययोग गमनादि प्रातिहारिकाणां च ।

पच्चप्पण करिज्जा, जोगनिरोह तओ कुणई ॥
किं न सजोगो सिज्झइ, स बंधहेउ त्ति ज खलु सजोगो ।
न समेइ परमसुक्क, स निज्जराकारण परम॥ (विशेषा० गा० ३०५६–३०५८)

अन्यत्राप्युक्तम्—

स ततो योगनिरोध, करोति लेश्यानिरोधमभिकाङ्क्षन् ।
समयस्थितिं च बन्ध, योगनिमित्त स निरुरुत्सु ॥
समये समये कर्मादाने सति सन्ततेर्न मोक्ष स्यात् ।
यद्यपि हि विमुच्यन्ते, स्थितिक्षयात् पूर्वकर्माणि ॥
नाकर्मणो हि वीर्यं, योगद्रव्येण भवति जीवस्य ।
तस्याऽवस्थानेन तु, सिद्ध समयस्थितिबन्ध ॥

योगनिरोध च कुर्वाण प्रथम मनोयोग निरुणद्धि, तत्र पर्याप्तमात्रसंज्ञिपञ्चेन्द्रियस्य प्रथमसमये यावन्ति मनोद्रव्याणि यावन्मात्रश्च तद्व्यापारस्तस्माद् असङ्ख्येयगुणहीन मनोयोग प्रतिसमय निरुन्धानोऽसङ्ख्येयै समयै साकल्येन निरुणद्धि । यदाह भगवान् श्रीमदार्यश्याम —

से ण पुव्वामेव सन्निस्स पचिंदियस्स पज्जत्तयस्स जहन्नजोगिस्स हिट्ठा असखेज्जगुणपरिहीण पढम मणजोग निरुभइ ॥ (प्रज्ञा० समु० पद ३६ पत्र ६०७–२)

भाष्यकारोऽप्याह—

पज्जत्तमित्तसन्निस्स जत्तियाइ जहन्नजोगिस्स । हुति मणोदव्वाइ, तव्वावारो य जम्मत्तो ॥
तदसखगुणविहीण, समए समए निरुभमाणो सो ।
मणसो सव्वनिरोह, कुणइ असखिज्जसमएहि ॥
(विशेषा० गा० ३०५९–३०६०)

तओ अणतर च ण बेइदियस्स पज्जत्तगस्स जहन्नजोगिस्स हिट्ठा असखिज्जगुणहीण दुच्च वइजोग निरुभइ ॥ (प्रज्ञा० समु० पद ३६ पत्र ६०७–२)

भाष्यकृदप्याह—

पज्जत्तमित्तबिंदियजहन्नवइजोगपज्जवा जे उ । तदसखगुणविहीण, समए समए निरुभतो ॥
सव्ववइजोगरोह, सखाईएहिँ कुणइ समएहि । (विशेषा० गा० ३०६१–३०६२)

प्रत्यर्पण कुर्यात् योगनिरोध तत करोति ॥ किं न सयोग सिध्यति स बन्धहेतुरिति यत् खलु सयोग । न समेति परमशुक्ल स निर्जराकारण परम् ॥

१ स पूर्वमेव सज्ञिन पञ्चेन्द्रियस्य पर्याप्तकस्य जघन्ययोगिनोऽधस्तादसङ्ख्येयगुणपरिहीण प्रथम मनोयोग निरुणद्धि ॥ २ पर्याप्तमात्रसज्ञिनो यावन्ति जघन्ययोगिन । भवन्ति मनोद्रव्याणि तद्व्यापारश्च यन्मात्र ॥ तदसङ्ख्यगुणविहीन समये समये निरुन्धन् स । मनस सर्वनिरोध करोत्यसङ्ख्येयसमयै ॥ ३ ततोऽनन्तरं च द्वीन्द्रियस्य पर्याप्तकस्य जघन्ययोगिनोऽधस्तादसङ्ख्येयगुणहीन द्वितीय वचोयोग निरुणद्धि ॥ ४ पर्याप्तमात्रद्वीन्द्रियजघन्यवचोयोगपर्याया ये तु । तदसङ्ख्यगुणविहीन समये समये निरुन्धन् ॥ सर्ववचोयोगरोध सङ्ख्यातीतै करोति समयै ॥

तओ अणतर च णं सुहुमस्स पणगजीवस्स अपज्जत्तगस्स जहन्नजोगिस्स हिट्ठा असखेज्ज-गुणपरिहीण तच्च कायजोग निरुभइ ॥ (प्रज्ञा० समु० पद ३६ पत्र ६०७–२)

त च काययोग निरुन्धान सूक्ष्मक्रियमप्रतिपातिध्यानमधिरोहति । तत्सामर्थ्याच्च वदनोदरा-दिविवरपूरणेन सङ्कुचितदेहत्रिभागवर्तिप्रदेशो भवति । यदाह भाष्यसुधासुधांशुः—

तत्तो य सुहुमपणगस्स पढमसमओववन्नस्स ॥ (विशेषा० गा० ३०६२)
जो किर जहन्नजोगो, तदसखेज्जगुणहीणमिक्किक्के ।
समए निरुभमाणो, देहतिभाग च मुचतो ॥
रुभइ स कायजोग, सखाईएहिँ चेव समएहिँ ।
तो कयजोगनिरोहो, सेलेसीभावयामेई ॥ (विशेषा० गा० ३०६३–३०६४)
सील च समाहाण, निच्छयओ सव्वसवरो सो य ।
तस्सेसो सेलेसो, सेलेसी होइ तदवत्था ॥
हस्सक्खराइ मज्झेण जेण कालेण पच भण्णति ।
अच्छइ सेलेसिगओ, तत्तियमित्त तओ काल ॥
तणुरोहारभाओ, झायइ सुहुमकिरियानियट्टिं सो ।
वुच्छिन्नकिरियमप्पडिवाई सेलेसिकालम्मि ॥ (विशेषा०गा० ३०६७–३०६९)

प्रज्ञापनायामप्युक्तम्—

लोगनिरोह करित्ता अजोगय पाउणइ, अजोगय पाउणित्ता ईसि हस्सपचक्खरुच्चारणद्धाए असखेज्जसमइय अतमुहुत्तिय सेलेसिं पडिवज्जइ, पुव्वरइयगुणसेढीय च ण कम्म तीसे सेलेसद्धाए असखेज्जाहि गुणसेढीहि असखेज्जे कम्मखधे खवयते वेदणिज्जाउयनामगोए इच्चेए चत्तारि कम्मसे जुगव खवित्ता ओरालियतेयाकम्मगाइ सव्वाहि विप्पजहणाहिं विप्पजहित्ता उज्जुसेढीए अफुसमाणगईए एगसमएण अविग्गहेण उड्ढ गता सागारोवउत्ते सिज्झइ ॥ (समु० प० ३६ पत्र ६०७–२)

भाष्यकारोऽप्याह—

तदसखेज्जगुणाए, गुणसेढीइ रइय पुरा कम्म ।

---

१ ततोऽनन्तर च सूक्ष्मस्य पनकजीवस्य अपर्याप्तकस्य जघन्ययोगिनोऽधस्तादसङ्ख्येयगुणपरिहीण तृतीय काययोग निरुणद्धि ॥ २ ततश्च सूक्ष्मपनकस्य प्रथमसमयोपपन्नस्य ॥ य किल जघन्ययोग तदसङ्ख्येयगुण हीनमेकैकस्मिन् । समये निरुन्धन देहत्रिभाग च मुञ्चन् ॥ रुणद्धि स काययोग सङ्ख्यातीतैरेव समयैः । तत कृतयोगनिरोध शैलेशीभावतामेति ॥ शील च समाधान निश्चयत सर्वसवर स च । तस्येश शैलेश शैलेशी भवति तदवस्था ॥ हस्वाक्षराणि मध्येन येन कालेन पञ्च भण्यन्ते । आस्ते शैलेशीगतस्तावन्मात्र तत कालम् ॥ तनुरोधारम्भाद् ध्यायति सूक्ष्मक्रियाऽनिवृत्ति स । व्युच्छिन्नक्रियाऽप्रतिपातिन शैलेशीकाले ॥ ३ योगनिरोध कृत्वाऽयोगता प्राप्नोति, अयोगता प्राप्य ईषत् पञ्चहस्वाक्षरोच्चारणाद्धया असङ्ख्येयसामयिकीमान्तर्मौहूर्तिकीं शैलेशीं प्रतिपद्यते, पूर्वरचितगुणश्रेणीक च कर्म तस्या शैलेश्यद्धायामसङ्ख्येयाभिर्गुणश्रेणिभिरसङ्ख्येयान् कर्मस्कन्धान् क्षपयन् वेदनीयायुर्नामगोत्राणि इत्येताश्चतुर कर्मांशान् युगपत् क्षपयित्वौदारिकतैजसकार्मणानि सर्वाभिर्विप्रहाणैर्विप्रहाय ऋजुश्रेण्याऽस्पृशद्गत्या एकसमयेनाविग्रहेणोर्ध्वं गत्वा साकारोपयुक्त सिध्यति ॥ ४ तदसङ्ख्येयगुणया गुणश्रेण्या रचित पुरा कर्म । समये समये क्षपयित्वा क्रमेण सर्वं तत्र कर्म ॥

समग्ग समए संविउ, कमेण सव्व तहिं कम्म ॥ (विशेपा० गा० ३०८२)
रिउंसेढीपडिवन्नो, समयपएसतर अफुसमाणो ।
एगसमएण सिज्झइ, अह सागारोवउचो सो ॥ (विशेपा० गा० ३०८८)

अय च समुद्घातविधि सर्वोऽप्यावश्यकाभिप्रायेणोक्त । तत्रेय गाथा—

दडे कवाडे मथतरे य सहरणया सरीरत्थे ।
भासाजोगनिरोहे, सेलेसी सिज्झणा चेव ॥ (आ० नि० गा० ९५५) इति ॥२९॥

अभिहिता मार्गणास्थानेपु योगा । साम्प्रतमेतेष्वेव उपयोगस्वरूपनिरूपणपूर्वकमुपयोगान भिधित्सुराह—

तिअनाण नाण पण चउ, दसण बार जिय लक्खणुवओगा ।
विणु मणनाण दुकेवल, नव सुरतिरिनिरयअजएसु ॥ ३० ॥

'त्रीण्यज्ञानानि' मत्यज्ञानश्रुताज्ञानविभङ्गरूपाणि 'ज्ञानानि' मतिज्ञानश्रुतज्ञानावधिज्ञानमन - पर्यवज्ञानकेवलज्ञानलक्षणानि पञ्च **स्वोपज्ञकर्मविपाकटीकाया** विस्तरेणाभिहितस्वरूपाणि 'चत्वारि दर्शनानि' चक्षुर्दर्शनाचक्षुदर्शनावधिदर्शनकेवलदर्शनरूपाणि इत्येव द्वादशोपयोगा प्रागभिरूपितशब्दार्था भवन्ति । किंविशिष्टा ? इत्याह—"जिय लक्खण" त्ति प्राकृतत्वाद् विभक्तिलोप , 'जीवस्य' आत्मन 'लक्षण' लक्ष्यते—ज्ञायते तदन्यव्यवच्छेदेनेति लक्षणम्—असाधारण स्वरूपम् । अत एवोक्तमन्यत्र—"उपयोगलक्षणो जीव " इति । ते च द्विधा—साकारा अनाकाराश्च । तत्र पञ्च ज्ञानानि त्रीण्यज्ञानानि इत्यष्टावुपयोगा साकारा , चत्वारि दर्शनानि अनाकारा उपयोगा । यदाह प्रवचनार्थसार्थसरससरसीरुहसमूहप्रकाशनसहस्रभानुर्भगवान् श्रीमदार्य-**श्यामः प्रज्ञापनायामुपयोगपदेऽष्टमे**—

कतिविहे ण भते ! उवओगे पन्नत्ते ? गोयमा ! दुविहे उवओगे पन्नत्ते, त जहा—सागारोवओगे य अणागारोवओगे य । सागारोवओगे ण भते ! कतिविहे पन्नत्ते ? गोयमा ! अट्ठविहे पन्नत्ते, त जहा—आभिणिवोहियनाणसागारोवओगे सुयनाणसागारोवओगे ओहिनाणसागारोवओगे मणपज्जवनाणसागारोवओगे केवलनाणसागारोवओगे मइअन्नाणसागारोवओगे

१ खविय कमसो सेलेसिकालेण । इति **विशेपावश्यकभाष्ये** ॥ २ ऋजुश्रेणिप्रतिपन्न समयप्रदेशान्तरमस्पृशन् । एकसमयेन सिध्यति अथ साकारोपयुक्त स ॥ ३ दण्ड कपाट मन्था अन्तराणि सहरणता शरीरस्थ । भाषायोगनिरोध शैलेशी सिद्धिश्चैव ॥ ४ असत्पार्श्ववर्तिपु सर्वेष्वपि पुस्तकादर्शेषु **जैनधर्मप्रसारकसभया** मुद्रिते चादर्श उपयोगपदेऽष्टमे इत्येवमेवोपलभ्यते पर **प्रज्ञापनाया** अष्टमपद तु सज्ञापदमेव, उपयोगपद तु एकोनत्रिंशत्तममेवेति ॥ ५ कतिविधो भदन्त ! उपयोग प्रज्ञप्त ? गौतम ! द्विविध उपयोग प्रज्ञप्त , तद्यथा—साकारोपयोगश्चानाकारोपयोगश्च । साकारोपयोगो भदन्त ! कतिविध प्रज्ञप्त ? गौतम ! अष्टविध प्रज्ञप्त , तद्यथा—आभिनिबोधिकज्ञानसाकारोपयोग १ श्रुतज्ञानसाकारोपयोग २ अवधिज्ञानसाकारोपयोग ३ मन पर्यवज्ञानसाकारोपयोग ४ केवलज्ञानसाकारोपयोग ५ मत्यज्ञानसाकारोपयोग ६ श्रुताज्ञानसाकारोपयोग ७ विभङ्गज्ञानसाकारोपयोग ८ । अनाकारोपयोगो भदन्त ! कतिविध प्रज्ञप्त ? गौतम ! चतुर्विध प्रज्ञप्त , तद्यथा—चक्षुर्दर्शनानाकारोपयोग १ अचक्षुर्दर्शनानाकारोपयोग २ अवधिदर्शनानाकारोपयोग ३ केवलदर्शनानाकारोपयोग ४ ॥

सुयअन्नाणसागारोवओगे विभगनाणसागारोवओगे । अणागारोवओगे ण भते ! कइविहे पन्नत्ते ? गोयमा ! चउव्विहे पन्नत्ते, त जहा—चक्खुदसणअणागारोवओगे अचक्खुदसणअणागारोवओगे ओहिदसणअणागारोवओगे केवलदसणअणागारोवओगे य ॥ (उपयो० पद २९ पत्र ५२५-१)

भावार्थ प्रागेन मार्गणास्थाने भेदाभिधानावसरे सप्रपञ्चमभिहित इति । "तिनु मणनाण" इत्यादि, विना मन पर्यायज्ञान केवलद्विक च—केवलज्ञानकेवलदर्शनलक्षण शेषा नवोपयोगा भवन्ति 'सुरे' सुरगतौ "तिरि" त्ति तिर्यग्गतो 'नरके' नरकगतो 'अयते' विरतिहीने, एतेषु सर्वेष्वपि हि सर्वविरत्यसम्भवेन मन पर्यायज्ञानकेवलद्विकासम्भवादिति ॥ ३० ॥

तस जोय वेय सुक्काहार नर पणिदि सन्नि भवि सव्वे ।
नयणेयर पण लेसा, कसाइ दस केवलदुगूणा ॥ ३१ ॥

त्रसेषु 'योगेषु' मनोवाक्कायरूपेषु 'वेदेषु' द्रव्यवेदरूपस्त्रीपुनपुसकलक्षणेषु शुक्ललेश्यायाम् आहारकेषु नरगतौ पञ्चेन्द्रियेषु सज्ञिषु "भवि" त्ति भव्येषु च सर्वे द्वादशाप्युपयोगा सम्भवन्ति, एतेषु सर्वेष्वपि सम्यक्त्वदेशविरतिसर्वविरत्यादीना सम्भवात् । "नयण" ति चक्षुर्दर्शने "इयर" त्ति अचक्षुर्दर्शने 'पञ्चसु लेश्यासु' कृष्णनीलकापोततेज पद्मलेश्यासु 'कषायेषु' क्रोधमानमायालोभेषु दश उपयोगा भवन्ति । के ? इत्याह—केवलद्विकेन ऊना —हीना ज्ञानचतुष्टयाऽज्ञानत्रिकदर्शनत्रिकरूपा , न तु केवलद्विकम्, चक्षुर्दर्शनादिसद्भावेऽनुत्पादात् तस्य ॥ ३१ ॥

चउरिंदि असन्नि दुअनाणदस इग बि ति थावरि अचक्खू ।
तिअनाण दंसणदुग, अनाणतिग अभव मिच्छदुगे ॥ ३२ ॥

चतुरिन्द्रिये असज्ञिनि च चत्वार उपयोगा भवन्ति । के ते ? इत्याह—'द्व्यनानदर्शनं' द्वे अज्ञाने—मत्यज्ञानश्रुताज्ञानरूपे, द्वे दर्शने—चक्षुर्दर्शनाचक्षुर्दर्शनलक्षणे इत्यर्थ । तथा त एव पूर्वोक्ताश्चत्वार उपयोगा "अचक्खु" त्ति अचक्षुष —चक्षुर्दर्शनरहिता सन्तस्त्रयो भवन्ति । केषु ? इत्याह—"इग" त्ति सामान्यत एकेन्द्रियेषु द्वीन्द्रियेषु त्रीन्द्रियेषु 'स्थावरेषु' पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतिषु । कोऽर्थ ? एकद्वित्रीन्द्रियस्थावरेषु मत्यज्ञानश्रुताज्ञानाचक्षुर्दर्शनरूपास्त्रय उपयोगा भवन्तीत्यर्थ , न शेषा , यत सम्यक्त्वाभावाद् मतिश्रुतज्ञानासम्भव , सर्वविरत्यभावाच्च मन पर्यायज्ञानकेवलज्ञानकेवलदर्शनाभाव , यत् पुनरवधिद्विक विभङ्गज्ञान च तद् भवप्रत्यय गुणप्रत्यय वा न चाऽनयोरन्यतरोऽपि प्रत्यय स भवति, चक्षुर्दर्शनोपयोगाभावस्तु चक्षुरिन्द्रियाभावादेव सिद्ध । तथा त्रयाणामज्ञानाना समाहार त्र्यज्ञानम्, अज्ञानत्रिकम्—मत्यज्ञानश्रुताज्ञानविभङ्गरूप 'दर्शनद्विक' चक्षुर्दर्शनाचक्षुर्दर्शनलक्षणमित्येते पञ्चोपयोगा भवन्ति । क ? इत्याह—'अज्ञानत्रिके' मत्यज्ञानश्रुताज्ञानविभङ्गरूपे । मत्यज्ञानत्रिकेऽवधिदर्शन पूर्वाचार्यै कुतश्चित् कारणात् नेष्यते तद् न सम्यगवगच्छाम , तथाविधसम्प्रदायाभावात्, अथ च सिद्धान्ते प्रतिपाद्यते, तथा च प्रज्ञप्तिसूत्र पूर्वदर्शितमेव, तदभिप्रायादस्माभिरपि नोक्तमिति । 'अभवे' अभव्ये 'मिथ्यात्वद्विके' मिथ्यात्वे सास्वादने [च] पञ्चोपयोगा —अज्ञानत्रिकदर्शनद्विकरूपा न शेषा , अवदातसम्यक्त्वविरत्यभावादिति ॥ ३२ ॥

केवलदुगे नियदुग, नव तिअनाण विणु खइय अहखाए।
दसणनाणतिग देसि मीसि अन्नाणमीस त ॥ ३३ ॥

'केवलद्विके' केवलज्ञानकेवलदर्शनलक्षणे 'निजद्विक' केवलज्ञानकेवलदर्शनरूपमुपयोगद्विक भवति, न शेषा दश, ज्ञानदर्शनव्यवच्छेदेनैव केवलयुगलस्य सद्भावात्, "नट्ठम्मि उ छाउमत्थिए नाणे।" (आ० नि० गा० ५३९) इति वचनात्। तथा क्षायिके सम्यक्त्वे यथाख्याते च सयमे नवोपयोगा भवन्ति । के ते? इत्याह—'अज्ञानत्रिक' मतिश्रुताज्ञानविभङ्गज्ञानलक्षण विना, यत क्षायिकयथाख्यातयोरज्ञानत्रिक न भवत्येव, तस्य मिथ्यात्वनिबन्धनत्वात्, निर्मूलतो मिथ्यात्वक्षयेणोपशमेन च क्षायिकसम्यक्त्वयथाख्यातोत्पादात्, अत एतयोर्नवैवोपयोगा भवन्तीति। तथा 'देशे' देशविरते षडुपयोगा भवन्ति । कथम्? इत्याह—'दर्शनज्ञानत्रिक' त्रिकशब्दस्य प्रत्येक सम्बन्ध, दर्शनत्रिक–चक्षुर्दर्शनाचक्षुर्दर्शनावधिदर्शनरूपम्, ज्ञानत्रिक–मतिश्रुतावधिज्ञानरूपमिति, न शेषा, मिथ्यात्वसर्वविरत्यभावात्। मिश्रे तदेव दर्शनज्ञानत्रिकमज्ञानमिश्र द्रष्टव्यम्, मतिज्ञान मत्यज्ञानमिश्र १ श्रुतज्ञान श्रुताज्ञानमिश्र २ अवधिज्ञान विभङ्गज्ञानमिश्र ३ दर्शनत्रिक ३ चेति मिश्रेऽपि षडुपयोगा सिद्धा भवन्ति। इद चावधिदर्शनमागमाभिप्रायेण उच्यते, अन्यथा एतेष्वेव मार्गणास्थानकेषु गुणस्थानकमार्गणाया "अजयाइ नव मइसुओहिदुगे" (गा० २१) इत्युक्तमिति ॥ ३३ ॥

मणनाणचक्खुवज्जा, अणहारे तिन्नि दंस चउ नाणा।
चउनाणसजमोवसम वेयगे ओहिदंसे य ॥ ३४ ॥

मन पर्यायज्ञानचक्षुर्दर्शनवर्जा शेषा दशोपयोगा अनाहारके भवन्ति । यत्तु मन पर्यवज्ञान चक्षुर्दर्शन तदनाहारके न सम्भवति, यतोऽनाहारको विग्रहगतौ केवलिसमुद्घातावस्थायां च, न च तदानीं मन पर्यायज्ञानचक्षुर्दर्शनसम्भव इति। तथा 'त्रीणि दर्शनानि' चक्षुर्दर्शनाचक्षुर्दर्शनावधिदर्शनरूपाणि 'चत्वारि ज्ञानानि' मतिश्रुतावधिमन पर्यायलक्षणानीत्येव सप्तोपयोगा भवन्ति, क्व? इत्याह—चतु शब्दस्य प्रत्येक सम्बन्धात् चतुर्षु ज्ञानेषु–मतिज्ञानश्रुतज्ञानावधिज्ञानमन पर्यायज्ञानेषु, तथा चतुर्षु सयमेषु–सामायिकच्छेदोपस्थापनपरिहारविशुद्धिकसूक्ष्मसम्परायेषु, औपशमिके सम्यक्त्वे 'वेदके' क्षायोपशमिकापरपर्याये, अवधिदर्शने 'च' समुच्चये, न शेषा, तत्सद्भावे मत्यज्ञानादीनामसम्भवात्। इहाप्यवधिदर्शने मत्यज्ञानाद्युपयोगप्रतिषेधो बहुश्रुताचार्याभिप्रायापेक्षया द्रष्टव्य, अन्यथा हि मत्यज्ञानादिमतामपि सूत्रे साक्षाद् अवधिदर्शन प्रतिपादितमेव, प्रज्ञप्तिसूत्र च प्रागेवोक्तमिति ॥ ३४ ॥

उक्ता मार्गणास्थानेषु उपयोगा । अथ योगेषु जीवगुणस्थानकयोगोपयोगान् अधिकृत्य मतान्तरमाह—

दो तेर तेर बारस, मणे कमा अट्ठ दु चउ चउ वयणे।
चउ दु पण तिन्नि काए, जियगुणजोगोवओगऽन्ने ॥ ३५ ॥

अन्ये त्वाचार्या "मणि" त्ति मनोयोगे द्वे जीवस्थानके, त्रयोदश गुणस्थानकानि, त्रयोदश

१ °ये, अवधिद्विके-अवधिज्ञानावधिदर्शनरूपे च क० ख० ग० घ० ङ० मुद्रितपुस्तकादर्शे च ॥

योगा, द्वादशोपयोगा इतीच्छन्ति 'क्रमात्' क्रमेण यथासङ्ख्यमित्यर्थ । अत्रायमभिप्राय — प्राग् योगान्तरसहितोऽसहितो वा स्वरूपमात्रेणैव काययोगादिविवक्षितस्तेन तत्र यथोक्तगुणस्थानकादिवक्तव्यता सर्वाऽप्युपपद्यते, इह तु काययोगादिर्योगान्तरविरहित एव विवक्ष्यते । यथा— मनोयोगवाग्योगविरहित काययोग, मनोयोगविरहितो वाग्योग । ततो मनोयोगे द्वे अन्तिमे जीवस्थानके, अयोगिकेवलिवर्जितानि त्रयोदश गुणस्थानानि, कार्मणौदारिकमिश्रवर्जितास्त्रयोदश योगा, कार्मणौदारिकमिश्रौ हि काययोगौ अपर्याप्तावस्थाया केवलिसमुद्घातावस्थाया वा । न च तदानीं मनोयोग, अपर्याप्तावस्थाया मनस एवाभावात्, केवलिसमुद्घातावस्थाया तु प्रयोजनाभावात् । उक्त च—

मनोवचसी तु तदा सर्वथा न व्यापारयति, प्रयोजनाभावात् । (धर्मसारमूलटीकायाम्)

तथा 'वचने' मनोयोगविरहिते वाग्योगे क्रमाद् अष्टौ जीवस्थानानि—पर्याप्तापर्याप्तद्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियासञ्ज्ञिपञ्चेन्द्रियरूपाणि, द्वे गुणस्थाने—मिथ्यात्वसासादनलक्षणे, चत्वारो योगा — कार्मणौदारिकमिश्रौदारिकासत्यामृषावाग्योगरूपा, चत्वार उपयोगा —मत्यज्ञानश्रुताज्ञानचक्षुर्दर्शनाचक्षुर्दर्शनलक्षणा । वाग्योगो हि मनोयोगविरहितस्वभावो द्वीन्द्रियादिष्वेवाऽसञ्ज्ञिपञ्चेन्द्रियपर्यन्तेषु सम्भवति नान्येषु । ततो यथोक्तान्येव जीवस्थानकादीनि तत्र सम्भवन्ति नोनाधिकानि । तथा केवलकाययोगे चत्वारि पर्याप्तापर्याप्तसूक्ष्मबादरैकेन्द्रियलक्षणानि जीवस्थानकानि, द्वे आद्ये गुणस्थानके—मिथ्यादृष्टिसासादनलक्षणे, पञ्च योगा —वैक्रियद्विकौदारिकद्विककार्मणरूपा, त्रय उपयोगा —मत्यज्ञानश्रुताज्ञानाचक्षुर्दर्शनस्वरूपा । केवलकाययोगो हि एकेन्द्रियेष्वेवावाप्यते, तत्र जीवस्थानकादीनि यथोक्तान्येव घटन्त इति ॥ ३५ ॥

अभिहित योगेष्वेकीयमतम् । साम्प्रत मार्गणास्थानेषु लेश्या अभिधित्सुराह—

छसु लेसासु सठाण, एगिंदि असन्नि भूदगवणेसु ।
पढमा चउरो तिन्नि उ, नारय विगलग्गि पवणेसु ॥ ३६ ॥

षड्लेश्यासु स्वस्थान सा सा लेश्या भवति, यथा कृष्णलेश्याया कृष्णलेश्या इत्यादि । *सामान्यत एकेन्द्रियेषु 'असंज्ञि(नि' मनोविज्ञानरहिते) 'भूदकवनेषु' पृथिव्यम्बुवनस्पतिषु प्रथमा —* कृष्णनीलकापोततेजोलेश्याश्चतस्रो भवन्ति, भवनपतिव्यन्तरज्योतिष्कसौधर्मेशानदेवा हि स्वस्वभवच्युता एतेषु मध्ये समुत्पद्यन्ते ते च तेजोलेश्यावन्त, जीवश्च यल्लेश्य एव म्रियते अग्रेऽपि तल्लेश्य एवोपपद्यते, "जल्लेसे मरइ तल्लेसे उववज्जइ" इति वचनात् । तत एतेषामपर्याप्तावस्थाया कियत्काल तेजोलेश्या भवति । नारकेषु 'विकलेषु' द्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियेषु 'अग्निषु' तेजस्कायेषु 'पवनेषु' वायुकायिकेषु प्रथमास्तिस्र —कृष्णनीलकापोतलेश्या भवन्ति नाऽन्या, प्रायोऽमीषामप्रशस्ताध्यवसायस्थानोपेतत्वात् ॥ ३६ ॥

अहखाय सुहुम केवलदुगि सुक्का छावि सेसठाणेसु ।
नरनिरयदेवतिरिया, थोवा दु असखऽणतगुणा ॥ ३७ ॥

यथाख्यातसयमे सूक्ष्मसम्परायसयमे च 'केवलद्विके' केवलज्ञानकेवलदर्शनरूपे शुक्लेश्यैव न शेषलेश्या, यथाख्यातसयमादौ एकान्तविशुद्धपरिणामभावात् तस्य च शुक्लेश्याऽविनाभू-

तत्वात् । 'शेषस्थानेषु' सुरगतौ तिर्यग्गतौ मनुष्यगतो पञ्चेन्द्रियत्रसकाययोगत्रयवेदत्रयकषायचतुष्टयमतिज्ञानश्रुतज्ञानावधिज्ञानमन पर्यायज्ञानमत्यज्ञानश्रुताज्ञानविभङ्गज्ञानसामायिकच्छेदोपस्थापनपरिहारविशुद्धिकदेशविरताविरतचक्षुर्दर्शनाचक्षुर्दर्शनावधिदर्शनभव्याभव्यक्षायिकक्षायोपशमिकौपशमिकसास्वादनमिश्रमिथ्यात्वसंज्ञ्याहारकानाहारकलक्षणैकचत्वारिंशत्सु शेषमार्गणास्थानकेषु षडपि लेश्या ।

उक्ता मार्गणास्थानेषु लेश्या । इदानी मार्गणास्थानेषु स्वस्थानापेक्षयाऽल्पबहुत्व निरूपयिषुराह—'नरनिरय' इत्यादि । इह यथासङ्ख्येन योजना कर्तव्या । सा चैवम्—नरा निरयदेवतिर्यग्योनिकेभ्य सकाशात् स्तोका । यत इह द्विविधा नरा —वातपित्तादिजन्मान सम्मूर्छजा, स्त्रीगर्भोत्पन्ना गर्भजाश्च । तत्राद्या कदाचिद् न भवन्त्येव, जघन्यत समयस्य उत्कृष्टतस्तु चतुर्विंशतिमुहूर्ताना तदन्तरकालस्य प्रतिपादितत्वात् ।

यदाह सन्देहसन्दोहशैलशृङ्गभङ्गदम्भोलिर्भगवान् जिनभद्रगणिक्षमाश्रमणः—

बारस मुहुत्त गब्भे, उक्कोस समुच्छिमेसु चउवीस ।
उक्कोस विरहकालो, दोसु वि य जहन्नओ समओ ॥ (बृ० स० पत्र १३०-१)

उत्पन्नाना तु जघन्यत उत्कृष्टतश्चान्तर्मुहूर्तमवस्थितिकत्वेन परत सर्वेषा निर्लेपत्वसम्भवाद् यदा तु भवन्ति तदा जघन्यत एको द्वौ त्रयो वा, उत्कृष्टतस्त्वसङ्ख्याता । इतरे तु सर्वदैव सङ्ख्येया भवन्ति नासङ्ख्येया, तत्र सङ्ख्येयकस्य सङ्ख्यातभेदत्वान्न ज्ञायते कियदपि सङ्ख्येयकम् अतो विशेषत इद प्ररूप्यते—इह षष्ठवर्ग पञ्चमवर्गेण यदा गुणितो भवति तदा गर्भजमनुष्यसङ्ख्या भवति । अथ कोऽय षष्ठ (ग्रन्थाग्रम्–१५००) वर्ग [2] कश्च पञ्चम [2] इत्येतदुच्यते—विवक्षित कश्चिद् राशिस्तेनैव राशिना यत्र गुण्यते स तावद् वर्ग । तत्रैकस्य वर्ग एव न भवति, अतो वृद्धिरहितत्वादेष वर्ग एव न गण्यते । द्वयोस्तु वर्गश्चत्वारो भवन्ति, एष प्रथमो वर्ग ४ । चतुर्णां वर्ग षोडशेति द्वितीयो वर्ग १६ । षोडशाना वर्गो द्वे शते षट्पञ्चाशदधिके तृतीयो वर्ग २५६ । अस्य राशेर्वर्ग पञ्चषष्टि सहस्राणि पञ्च शतानि षट्त्रिंशदधिकानि चतुर्थो वर्ग ६५५३६ । अस्य राशेर्वर्ग सार्धगाथया प्रोच्यते—

चत्तारि य कोडिसया, अउणत्तीस च हुति कोडीओ ।
अउणावन्न लक्खा, सत्तट्ठि चेव य सहस्सा ॥
दो य सया छन्नउया, पचमवग्गो इमो विणिद्दिट्ठो । (अनु० चू० पत्र ७०)

अङ्कस्थापना—४२९४९६७२९६ । अस्यापि राशेर्वर्गो गाथात्रयेण प्रतिपाद्यते—

एवं कोडाकोडी, चउरासीइ भवे सहस्साइ ।

---

१ सा चैकचे द्वन्द्वमेययोरिति 'एकचत्वारिंशति' इति भाव्यम्, भविष्यत्यपि, तथापि लेखकेन पण्डितमन्येन वा केनाप्येतद् अङ्कित लक्ष्यते ॥ २ द्वादश मुहूर्त्ता गर्भजेषु सम्मूर्च्छिमेषु चतुर्विंशति । उत्कर्षतो विरहकाल द्वयोरपि च जघन्यत समय ॥ ३ चत्वारि च कोटिशतानि एकोनत्रिंशच्च भवन्ति कोट्य । एकोनपञ्चाशद् लक्षा सप्तषष्टिरेव च सहस्राणि ॥ द्वे च शते षण्णवति पञ्चमवर्गोऽय विनिर्दिष्ट ॥ ४ °ग्गो समासतो होति । अनुयोगद्वारचूर्णौ ॥ ५ एव कोटाकोटी चतुरशीतिर्भवन्ति सहस्राणि ।

चत्तारि य सत्तट्ठा, हुंति सया कोडिकोडीण ॥
चोयाल लक्खाइ, कोडीण सत्त चेव य सहस्सा ।
तिन्नि य सया य सयरी, कोडीण हुति नायव्वा ॥
पचाणउई लक्खा, एगावन्न भवे सहस्साइ ।
छ स्सोलसुत्तर सया, एसो छट्ठो हवइ वग्गो ॥ (अनु० चू० पत्र ७०)

[अङ्कतोऽपि दर्श्यंते—] १८४४६७४४०७३७०९५५१६१६ । तदयं षष्ठो वर्ग पूर्वोक्तेन पञ्चमवर्गेण गुण्यते, तथा च सति या सङ्ख्या भवति तत्संख्या जघन्यपदिनो गर्भजमनुष्या वर्तन्ते । सा चेयम्—७९२२८१६२५१४२६४३३७५९३५४३९५०३३६ । अय च राशि कोटीकोट्यादिप्रकारेण केनाऽप्यभिधातु न शक्यतेऽत पर्यन्तादारभ्याङ्कमात्रसङ्ग्रहार्थं गाथाद्वयम्—

छग तिन्नि तिन्नि सुन्न, पचेव य नव य तिन्नि चत्तारि ।
पचेव तिन्नि नव पच, सत्त तिन्नेव तिन्नेव ॥
चउ छ द्दो चउ इक्को, पण दो छक्किक्गो य अट्ठेव ॥
दो दो नव सत्तेव य, अकट्ठाणा पराहुत्ता ॥ (अनु० चू० पत्र० ७०)

तदेवमेतेष्वेकोनत्रिंशदङ्कस्थानेषु जघन्यपदिनो गर्भजमनुष्या वर्तन्ते ।

उक्त चानुयोगद्वारेषु—

जहन्नपए [सखेज्जा] संखिज्जाओ कोडाकोडाकोडीओ । (पत्र २०५-२)

सदैवं जघन्यपदिनो मनुष्या , उत्कृष्टपदिनस्त्वसङ्ख्याता । उक्त चानुयोगद्वारसूत्रे—

उक्कोसपए असखिज्जा असखिज्जाहिं उसप्पिणीओसप्पिणीहिं अवहीरति कालओ, खित्तओ उक्कोसपए रूवपक्खित्तेहि मणूसेहि सेढी अवहीरइ, असखेज्जाहिं अवसप्पिणीहिं उस्सप्पिणीहिं कालओ, खित्तओ अगुलपढमवग्गमूल तइयवग्गमूलपडुप्पन्न ॥ (पत्र २०५-२)

अस्येयमक्षरगमनिका—उत्कृष्टपदे मनुष्या असङ्ख्येयोत्सर्पिण्यवसर्पिणीसमयराशितुल्या । क्षेत्रतस्त्वेकस्मिन् मनुष्यरूपे प्रक्षिप्ते मनुष्यरूपैरेका नभःप्रदेशश्रेणिरपह्रियते । कियता कालेन ? इत्याह—असङ्ख्येयोत्सर्पिण्यवसर्पिणीभि । कियता क्षेत्रखण्डापहारेण ? इत्याह—"अगुलपढमवग्गमूल तइयवग्गमूलपडुप्पन्न" ति श्रेणेरङ्गुलप्रमाणे क्षेत्रे य प्रदेशराशिस्तस्य यत् प्रथम वर्गमूल तत् तृतीयवर्गमूलप्रदेशराशिना गुण्यते, गुणिते च य प्रदेशराशिर्भवति तत्प्रमाण क्षेत्रखण्डमेकैक रूपमपहरति । अयमर्थ —इह किलाङ्गुलप्रमाणक्षेत्रे नभःप्रदेशराशि सद्भावतोऽसङ्ख्येय-

---

चत्वारि च सप्तषष्टिभवन्ति शतानि कोटिकोटीनाम् ॥ चतुश्चत्वारिंशद् लक्षा कोटीना सप्त एव च सहस्राणि । त्रीणि च शतानि च सप्तति कोटीना भवन्ति ज्ञातव्यानि ॥ पञ्चनवतिर्लक्षा एकपञ्चाशद् भवन्ति सहस्राणि । षट् षोडशोत्तराणि शतानि एष षष्ठो भवति वर्ग ॥ १ सत्तरि अनुयोगद्वारचूर्णिलघुवृत्त्यो ॥

१ षट् त्रीणि त्रीणि शून्य पञ्चैव च नव च त्रीणि चत्वारि । पञ्चैव त्रीणि नव पञ्च सप्त त्रीण्येव त्रीण्येव ॥ चत्वारि षट् द्वे चत्वारि एक पञ्च द्वे षट् एककश्च अष्टैव । द्वे द्वे नव सप्तैव च अङ्कस्थानानि पराङ्मुखानि ॥ २ य ठाणाइ उवरिहुत्ताइ ॥ अनुयोगद्वारचूर्णौ ॥ ३ जघन्यपदे संख्याना सङ्ख्येया कोटिकोटिकोट्य ॥

प्रदेशपरिमाणोऽप्यसत्कल्पनया षट्पञ्चाशदधिकशतद्वयपरिमाणं कल्प्यते २५६, अत्र प्रथमं वर्गमूलं षोडश १६, द्वितीयं वर्गमूलं चत्वारि ४, तृतीयं वर्गमूलं द्वे २, तत्र प्रथमवर्गमूलं षोडशलक्षणं तृतीयवर्गमूलेन गुणितं जाता द्वात्रिंशत् ३२, एवमेते नभःप्रदेशाः सद्भावतोऽसङ्ख्येया अप्यसत्कल्पनया द्वात्रिंशत्सङ्ख्या परिग्राह्याः । ततः श्रेणेर्मध्याद् यथोक्तप्रमाणं द्वात्रिंशत्प्रदेशप्रमाणमित्यर्थः क्षेत्रखण्डं यद्येकैकं मनुष्यरूपं क्रमेण प्रतिसमयमपहरति तदाऽसङ्ख्येयोत्सर्पिण्यवसर्पिणीभिः सर्वाऽपि श्रेणिरपह्रियते यद्येकं मनुष्यरूपं स्यात्, तच्च नास्ति, सर्वोत्कृष्टानामपि समुदितगर्भजसम्मूर्छजमनुष्याणामेतावतामेव भावात् । इदमुक्तं भवति—उत्कृष्टपदवर्तिभिरपि सर्वैः सप्तरज्जुप्रमाणस्य घनीकृतस्य लोकस्यैकैकप्रदेशपङ्क्तिरूपं श्रेणिमात्रमपि अङ्गुलमात्रक्षेत्रप्रदेशराशिसम्बन्धितृतीयवर्गमूलगुणितप्रथमवर्गमूलप्रदेशप्रमाणैरसत्कल्पनया षट्पञ्चाशदधिकशतद्वयप्रमाणाङ्गुलमात्रक्षेत्रप्रदेशराशिसम्बन्धिद्विकलक्षणतृतीयवर्गमूलगुणितषोडशकलक्षणप्रथमवर्गमूललब्धद्वात्रिंशत्प्रदेशप्रमाणैराकाशखण्डैर्मनुष्यरूपस्थानीयैरपह्रियमाणमपि नापह्रियते, एकरूपहीनत्वात्, यदि पुनरेकं रूपमन्यत् स्यात् ततः सकलाऽपि श्रेणिरपह्रियेत । कालतश्च प्रतिसमयमेतावत्प्रमाणैरप्याकाशखण्डैरपह्रियमाणा श्रेणिरसङ्ख्याताभिरुत्सर्पिण्यवसर्पिणीभिनि:शेषतोऽपह्रियते, कालतः सकाशात् क्षेत्रस्यात्यन्तसूक्ष्मत्वात् । उक्तं च—

"उक्कोसपए जे मणुस्सा हवंति तेसु इक्कम्मि मणूसरूवे पक्खित्ते समाणे तेहिं मणुस्सेहिं सेढी अवहीरइ । तीसे य सेढीए कालखित्तेहिं अवहारो मग्गिज्जइ—कालओ ताव असंखिज्जाहिं उस्सप्पिणीओसप्पिणीहिं, खित्तओ अंगुलपढमवग्गमूलं तइयवग्गमूलपडुप्पन्नं । किं भणियं होइ [1]—तीसे सेढीए अंगुलायए खंडे जो पएसरासी तस्स जं पढमवग्गमूलपएसरासिमाणं तं तइयवग्गमूलपएसरासिपडुप्पाइए समाणे जो पएसरासी हवइ एवइएहिं खंडेहिं अवहीरमाणी अवहीरमाणी जाव निट्ठाइ ताव मणुस्सा वि अवहीरमाणा अवहीरमाणा निट्ठंति । आह कहमेगा सेढी एवइमित्तेहिं खण्डेहिं अवहीरमाणी अवहीरमाणी असंखेज्जाहिं उस्सप्पिणिओसप्पिणीहिं अवहीरइ [2] आयरिओ आह—खेत्तस्स सुहुमत्तणओ । सुत्ते वि जं भणियं—

सुहुमो य होइ कालो, तत्तो सुहुमयरयं हवइ खित्तं ।
अंगुलसेढीमित्ते, ओसप्पिणीओ असंखिज्जा ॥" (अनु० चू० पत्र ७२) इति ।

---

१ उत्कृष्टपदे ये मनुष्या भवन्ति तेष्वेकस्मिन् मनुष्यरूपे प्रक्षिप्ते सति तैर्मनुष्यैः श्रेणिरपह्रियते । तस्याश्च श्रेणेः कालक्षेत्राभ्यामपहारो मृग्यते—कालतस्तावदसङ्ख्येयाभिरुत्सर्पिण्यवसर्पिणीभिः, क्षेत्रतोऽङ्गुलप्रथमवर्गमूलं तृतीयवर्गमूलगुणितम् । किं भणितं भवति [?]—तस्याः श्रेणेरङ्गुलायते खण्डे यः प्रदेशराशिः तस्य यत् प्रथमवर्गमूलप्रदेशराशिमानं तत् तृतीयवर्गमूलप्रदेशराशिगुणिते सति यः प्रदेशराशिर्भवति एतावद्भिः खण्डैरपह्रियमाणाऽपह्रियमाणा यावन्निस्तिष्ठति तावद् मनुष्या अपि अपह्रियमाणा अपह्रियमाणा निस्तिष्ठन्ति । आह कथमेका श्रेणिरेतावन्मात्रैः खण्डैरपह्रियमाणा अपह्रियमाणा असङ्ख्येयाभिरुत्सर्पिण्यवसर्पिणीभिरपह्रियते [?] आचार्य आह—क्षेत्रस्य सूक्ष्मत्वात् । सूत्रेऽपि यद्भणितम्—सूक्ष्मश्च भवति कालस्ततः सूक्ष्मतरकं भवति क्षेत्रम् । अङ्गुलश्रेणिमात्रेऽवसर्पिण्योऽसङ्ख्येयाः ॥ २ जाव अनुयोगद्वारचूर्णौ ॥ ३ °डुप्पाडितं अनुयोगद्वारचूर्णौ ॥ ४ °ढमं वग्गमूलं तं तइयवग्गमूलपएसरासिणा पडुप्पातिज्जइ, पडुप्पाडिते समाणे जो रासी हवइ एवइएहिं खण्डेहिं सा सेढी अव° अनुयोगद्वारचूर्णौ ॥ ५ गाथेयमावश्यकनिर्युक्तौ सप्तत्रिंशत्तमी ॥

अतो निरयादिभ्य सकाशात् स्तोका नरा , तेभ्यो नारका असङ्ख्येयगुणा । यत एवमनुयोगद्वारेषु नारकपरिमाणमुपदर्श्यते—

नेरइयाण भते ! केवइया वेउव्वियसरीरा पन्नत्ता ? गोयमा ! दुविहा पन्नत्ता, त जहा—बद्धिल्लया मुक्किल्लया य । तत्थ ण जे ते बद्धिल्लया ते ण असखेज्जा असखिज्जाहि उस्सप्पिणिअवसप्पिणीहिं अवहीरति कालओ, खेत्तओ असखेज्जाओ सेढीओ पयरस्स असखेज्जइभागो । तासि ण सेढीण विक्खमसूई अगुलपढमवग्गमूल बीयवग्गमूलपडुप्पन्न, अहव ण अगुलबिइयवग्गमूलघणपमाणमित्ताओ सेढीओ ॥ (पत्र १९९–२)

अस्येयमक्षरगमनिका—नारकाणा बद्धानि वैक्रियशरीराण्यसङ्ख्येयानि, प्रतिनारकमेकैकवैक्रियसद्भावाद् नारकाणा चासङ्ख्येयत्वात्, तानि च कालतोऽसङ्ख्येयोत्सर्पिण्यवसर्पिणीसमयराशितुल्यानि । क्षेत्रतस्तु प्रतरासङ्ख्येयभागवर्त्यसङ्ख्येयश्रेणीना ये प्रदेशास्तत्सङ्ख्यानि भवन्ति । ननु प्रतरासङ्ख्येयभागेऽसङ्ख्येययोजनकोटयोऽपि भवन्ति तत् किमेतावत्यपि क्षेत्रे या नभ श्रेणयो भवन्ति ता इह गृह्यन्ते ? न, इत्याह—"तासि ण सेढीण विक्खमसूई" इत्यादि । तासा श्रेणीना विष्कम्भसूचिर्विस्तरश्रेणिर्ग्राह्येति शेष । कियती ? इत्याह—"अगुल" इत्यादि । अङ्गुलप्रमाणे प्रतरक्षेत्रे य श्रेणिराशि तत्र किलासङ्ख्येयानि वर्गमूलान्युत्तिष्ठन्ति अत प्रथमवर्गमूल द्वितीयवर्गमूलेन प्रत्युत्पन्न–गुणितम्, तथा च यावन्त्योऽत्र श्रेणयो लब्धा एतावत्प्रमाणश्रेणीना विष्कम्भसूचिर्भवति, एतावत्य श्रेणयोऽत्र गृह्यन्त इत्यर्थ । इदमुक्त भवति—अङ्गुलप्रमाणे प्रतरक्षेत्रे किलाऽसत्कल्पनया षट्पञ्चाशदधिके द्वे शते श्रेणीना भवत, तद्यथा—२५६, अत्र प्रथम वर्गमूल १६, द्वितीय ४, चतुर्भिश्च षोडश गुणिता जाता चतु षष्टि ६४, एषा चतु षष्टिरपि सद्भावतोऽसङ्ख्येया श्रेणयो मन्तव्या , एतावत्सङ्ख्यश्रेणीना विस्तरसूचिरिह ग्राह्या । अथवा 'ण' इति वाक्यालङ्कारे, अय द्वितीय प्रकार प्रस्तुतार्थविषये । तथाहि—"अङ्गुलबिइयवग्गमूलघण" इत्यादि । अङ्गुलप्रमाणप्रतरक्षेत्रवर्तिश्रेणिराशेर्यद् द्वितीयवर्गमूलमनन्तर चतुष्टयरूप दर्शित तस्य यो घनश्चतु षष्टिलक्षणस्तत्प्रमाणा श्रेणयोऽत्र गृह्यन्त इति प्ररूपणैव भिद्यतेऽर्थतस्तु स एव । इदमत्र तात्पर्यम्—सप्तरज्जुप्रमाणस्य घनीकृतस्य लोकस्य या ऊर्ध्वाधआयता एकप्रादेशिक्य श्रेणयोऽङ्गुलमात्रक्षेत्रप्रदेशराशिगतद्वितीयवर्गमूलघनप्रदेशराशिप्रमाणास्तासा यावान् प्रदेशराशिस्तावत्प्रमाणा नारका , अतस्ते नरेभ्योऽसङ्ख्यातगुणा एव ॥

एतेभ्योऽपि देवा असङ्ख्यातगुणा । कथम् ? इति चेद् उच्यते—देवा हि भवनपत्यादिभेदेन चतुर्धा, भवनपतयोऽसुरादिभेदेन दशविधा । तत्राऽसुरकुमारा अपि तावद् घनीकृतस्य लोकस्य या ऊर्ध्वाधआयता एकप्रादेशिक्य श्रेणयोऽङ्गुलमात्रक्षेत्रगतप्रदेशराशिसम्बन्धिप्रथमवर्गमूलासङ्ख्येयभागगतप्रदेशराशिप्रमाणास्तासा सम्बन्धी यावान् प्रदेशराशिस्तावत्सङ्ख्याका , एव नागकुमारादयोऽपि द्रष्टव्या । तथा सङ्ख्येययोजनप्रमाणाकाशप्रदेशसूचिरूपै खण्डैर्यावद्भिर्घनीकृतस्य लोकस्य मण्डकाकार प्रतरोऽपह्रियते तावत्प्रमाणा व्यन्तरा । उक्त च—

संखेज्जजोयणाण, सूइपएसेहि भाइय पयर ।
वतरसुरेहिं हीरइ, एव एक्केक्कभेएण ॥ (पञ्चस० गा० ४८)

अस्या अक्षरगमनिका—सङ्ख्येययोजनप्रमाणा 'सूचि' एकप्रादेशिकी पङ्क्तिस्तत्प्रदेशै—सङ्ख्येययोजनप्रमाणैकप्रादेशिकपङ्क्तिप्रदेशैरिति यावत् भक्त प्रतर व्यन्तरसुरैरपह्रियते तावद्भागरूपराशिप्रमाणा व्यन्तरसुरा इत्यर्थ । इयमत्र भावना—सङ्ख्येययोजनप्रमाणसूचिप्रदेशा किलाऽसत्कल्पनया दश, प्रतरप्रदेशाश्च लक्षम्, ततो दशभिर्भागे हृते लब्धा सहस्रा दश एतावन्त इत्यर्थ । 'एवम्' उक्तेन प्रकारेण अतिनिकाय व्यन्तराणा भावना कार्या । न चैव सर्वसमुदायपरिमाणनियमव्याघातप्रसङ्ग, सूचिप्रमाणहेतुयोजनसङ्ख्येयत्वस्य वैचित्र्यादिति ॥

तथा षट्पञ्चाशदधिकशतद्वयाङ्गुलप्रमाणैराकाशप्रदेशसूचिरूपै खण्डैर्यावद्भिर्यथोक्तस्वरूप प्रतरमपह्रियते तावत्प्रमाणा ज्योतिष्का देवा । उक्त च—

छप्पन्नदोसयंगुलसूइपएसेहिं भाइय पयरं ।
जोइसिएहिं हीरइ, (पञ्चसं० गा० ४९) इति ।

अत एवोक्तम्—"वाणमतरेहिंतो सखेज्जगुणा जोइसिय" त्ति । तथा वैमानिकदेवा घनीकृतस्य लोकस्य या ऊर्ध्वाधआयता एकप्रादेशिक्य श्रेणयोऽङ्गुलमात्रक्षेत्रप्रदेशराशिसम्बन्धितृतीयवर्गमूलघनप्रमाणास्तासा यावान् प्रदेशराशिस्तावत्प्रमाणा, अत सकलभवनपत्यादिसमुदायापेक्षया चिन्त्यमाना देवा नारकेभ्योऽसङ्ख्यातगुणा एव । तेभ्योऽपि च देवेभ्यस्तिर्यञ्चोऽनन्तगुणा, सतानन्तसङ्ख्योपेतस्य वनस्पतिकायस्य सद्भावात् । उक्त च—

एएसि ण भते ! नेरइयाण तिरिक्खजोणियाण मणुस्साण देवाण सिद्धाण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा बहुया वा तुल्ला वा विसेसाहिया वा ? गोयमा ! सव्वथोवा मणुस्सा, नेरइया असंखेज्जगुणा, देवा असखेज्जगुणा, सिद्धा अणतगुणा, तिरिक्खजोणिया अणतगुणा ॥
(प्रज्ञाप० पत्र ११९–२)

तथा—

थोवा नरा नरेहि य, असखगुणिया हवंति नेरइया ।
तत्तो सुरा सुरेहि य, सिद्धाऽणता तओ तिरिया ॥
(जीवस० गा० २७१) इति ॥ ३७ ॥

उक्त गतिष्वल्पबहुत्वम् । साम्प्रतमिन्द्रियद्वारे कायद्वारे तदभिधित्सुराह—

पण चउ ति दु एगिंदी, थोवा तिन्नि अहिया अणतगुणा ।
तस थोव असखऽग्गी, भूजलनिल अहिय वणऽणता ॥ ३८ ॥

पञ्चेन्द्रियाश्चतुरिन्द्रियादिभ्य स्तोका, तेभ्यश्चतुरिन्द्रिया 'अधिका' विशेषाधिका, तेभ्यस्त्रीन्द्रिया विशेषाधिका, तेभ्यो द्वीन्द्रिया विशेषाधिका । तत्र च यद्यपि घनीकृतस्य लोकस्य

१ षट्पञ्चाशदधिकद्विशताङ्गुलसूचिप्रदेशैर्भक्त प्रतरः । ज्योतिष्कै ह्रियते ॥ २ व्यन्तरेभ्य सङ्ख्येयगुणा ज्योतिष्का ॥ ३ एतेषा भदन्त ! नैरयिकाणा तिर्यग्योनिकानां मनुष्याणां देवानां सिद्धाना च कतरे कतरेभ्योऽल्पा वा बहुका वा तुल्या वा विशेषाधिका वा ? गौतम ! सर्वस्तोका मनुष्या, नैरयिका असङ्ख्येयगुणा, देवा असङ्ख्येयगुणा सिद्धा अनन्तगुणा, तिर्यग्योनिका अनन्तगुणा ॥ ४ स्तोका नरा नरेभ्यश्चासङ्ख्यगुणिता भवन्ति नैरयिका । तत सुरा सुरेभ्यश्च सिद्धा अनन्तास्ततस्तिर्यञ्च ॥

ऊर्ध्वाधआयता एकप्रादेशिक्य श्रेणयोऽसङ्ख्यातयोजनकोटीकोटीप्रमाणाकाशप्रदेशसूचिगतप्रदेशराशिप्रमाणास्तासा यावान् प्रदेशराशिस्तावत्प्रमाणा द्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियतिर्यग्योनिपञ्चेन्द्रिया अविशेषेण सूत्रे निर्दिष्टा, तथा चोक्त तत्र यथोक्तरूपद्वीन्द्रियपरिमाणाभिधानानन्तरम्—

जह बेइंदियाण तहा तेइंदियाण चउरिंदियाण वि भाणियव्व पर्चिदियतिरिक्खजोणियाण वि। (अनुयो० पत्र २०४–१) इति।

तथापि सूचिपरिमाणहेतुयोजनगतासङ्ख्यातरूपसङ्ख्याया बहुभेदत्वान्न यथोक्तविशेषाधिकत्वाभिधानव्याघात। अत एव च हेतोस्तिर्यग्योनिपञ्चेन्द्रियेषु द्वीन्द्रियादितुल्यतया सूत्रेऽभिहितेष्वपि तत्रापि नरनिरयदेवप्रक्षेपेऽपि पञ्चेन्द्रियाश्चतुरिन्द्रियादिभ्य स्तोका एव द्रष्टव्या। यदभ्यधायि—

[1]पर्चिदिया य थोवा, [2]विवज्जएण वियला विसेसहिया। (जीवस० गा० २७५)

द्वीन्द्रियेभ्योऽपि चैकेन्द्रिया अनन्तगुणा, वनस्पतिकायजीवराशेरनन्तानन्तत्वात्।

यदुक्तमार्षे—

[3]एएसि ण भंते! एगिंदियबेइंदियतेइंदियचउरिंदियपर्चिदियाण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा बहुआ वा विसेसाहिया वा? गोयमा! सव्वत्थोवा पर्चिदिया, चउरिंदिया विसेसाहिया, तेंदिया विसेसाहिया, बेइंदिया विसेसाहिया, एगिंदिया अणतगुणा।

(प्रज्ञापनापद ३ पत्र १२०–२)

"तस थोव" इत्यादि। 'त्रसा' द्वीन्द्रियादय पूर्वनिर्दिष्टसङ्ख्यास्तेजस्कायिकादिभ्य स्तोका। तेभ्यस्त्रसेभ्योऽसङ्ख्यातगुणा "अग्गि" त्ति अग्निकायिका, तेषा सूक्ष्मबादरभेदभिन्नानामसङ्ख्येयलोकाकाशप्रदेशराशिप्रमाणत्वात्। तेभ्य "भू" त्ति पृथिवीकायिका विशेषाधिका। तेभ्य "जल" त्ति अप्कायिका विशेषाधिका। तेभ्य "अनिल" त्ति वायुकायिका विशेषाधिका। यद्यपि च एतेषामपि पृथिवीकायिकादीनामसङ्ख्येयलोकाकाशप्रदेशराशिप्रमाणतया सूत्रे अविशेषेण निर्देश कृत, तथा चोक्तम्—

[4]जहा पुढविकाइयाण एव आउकाइयाण वि। (अनु० पत्र २०२–१) इत्यादि।

तथापि लोकानामसङ्ख्यातत्वस्याऽनेकभेदभिन्नत्वादिहैव विशेषाधिकत्वाभिधानेऽपि न कश्चिद्दोष। उक्त च श्रीप्रज्ञापनायाम्—

"[5]एएसि ण भंते! तसकाइयाण पुढविकाइयाण आउकाइयाण तेउकाइयाण वाउकाइयाण

---

१ यथा द्वीन्द्रियाणा तथा त्रीन्द्रियाणा चतुरिन्द्रियाणामपि भणितव्य पञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकानामपि॥ २ पञ्चेन्द्रियाश्च स्तोका विपर्ययेण विकला विशेषाधिका॥ ३ एतेषा भदन्त! एकेन्द्रियद्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियपञ्चेन्द्रियाणा च कतरे कतरेभ्योऽल्पा वा बहुका वा विशेषाधिका वा? गौतम! सर्वस्तोका पञ्चेन्द्रिया, चतुरिन्द्रिया विशेषाधिका, त्रीन्द्रिया विशेषाधिका, द्वीन्द्रिया विशेषाधिका, एकेन्द्रिया अनन्तगुणा॥ ४ यथा पृथ्वीकायिकानामेवमप्कायिकानामपि॥ ५ एतेषा भदन्त! त्रसकायिकानां पृथ्वीकायिकानामप्कायिकाना तेजस्कायिकाना वायुकायिकाना वनस्पतिकायिकानामकायिकाना च कतरे कतरेभ्योऽल्पा वा बहुका वा तुल्या वा विशेषाधिका वा? गौतम! सर्वस्तोकास्त्रसकायिका, तेजस्कायिका असङ्ख्येयगुणा, पृथ्वीकायिका विशेषाधिका, अप्कायिका विशेषाधिका, वायुकायिका विशेषाधिका, अकायिका अनन्तगुणा, वनस्पतिकायिका अनन्तगुणा॥

वणस्सइकाइयाण अकाइयाण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा बहुया वा तुल्ला वा विसेसाहिया वा ? गोयमा ! सव्वत्थोवा तसकाइया, तेउकाइया असखिज्जगुणा, पुढविकाइया विसेसाहिया, आउकाइया विसेसाहिया, वाउकाइया विसेसाहिया, अकाइया अणतगुणा, वणस्सइकाइया अणतगुणा। (प्रज्ञा० पद ३ पत्र १२२-२)

अन्यत्राप्युक्तम्—

थोवा य तसा तत्तो, तेउ असंखा तओ विसेसहिया ।
कमसो भूदगवाऊ, अकायहरिया अणतगुणा ॥ (जीवस० गा० २७६)

"अकाय" त्ति सिद्धा । तेभ्यो वायुकायिकेभ्य "वणऽणत" त्ति वनस्पतिकायिका अनन्तगुणा, अनन्तलोकाकाशप्रदेशप्रमाणत्वाद् वनस्पतिकायिकानामिति ॥ ३८ ॥

सम्प्रति योगेषु वेदेषु अल्पबहुत्व प्रचिकटयिषुराह—

मणवयणकायजोगी, थोवा अस्सखगुण अणतगुणा ।
पुरिसा थोवा इत्थी, सखगुणाऽणतगुण कीवा ॥ ३९ ॥

मनोयोगिन स्तोका, सज्ञिपञ्चेन्द्रियाणामेव मनोयोगित्वात्। तेभ्यो वाग्योगिनोऽसङ्ख्यातगुणा, द्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियासज्ञिपञ्चेन्द्रियाणा वाग्योगिना मनोयोगिभ्योऽसङ्ख्यातगुणाना तत्र प्रक्षेपात्। वाग्योगिभ्योऽपि काययोगिनोऽनन्तगुणा, वनस्पतिकायिकानामप्यनन्ताना तत्र प्रक्षेपादिति। आह च—

एएसि ण भते ! जीवाण सजोगीण मणजोगीण वइजोगीण कायजोगीण अजोगीण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा बहुया वा तुल्ला वा विसेसाहिया वा ? गोयमा ! सव्वत्थोवा मणजोगी, वइजोगी असखेज्जगुणा, अजोगी अणतगुणा, कायजोगी अणतगुणा, सजोगी विसेसाहिया । (प्रज्ञा० पद ३ पत्र १३४-१)

तथा स्त्र्यादिभ्य पुरुषा स्तोका । तेभ्य स्त्रिय सङ्ख्यातगुणा । उक्त च—

तिगुणा तिरूवअहिया, तिरियाण इत्थिया मुणेयव्वा ।
सत्तावीसगुणा पुण, मणुयाण तदहिया चेव ॥
बत्तीसगुणा बत्तीसरूवअहिया उ तह य देवाण ।
देवीओ पन्नत्ता, जिणेहि जियरागदोसेहिं ॥ (प्रवच० गा० ८८३-८८४)

स्त्रीभ्यश्च 'क्लीबा' नपुसका अनन्तगुणा, अनन्तगुणता च वनस्पत्यपेक्षया द्रष्टव्या। उक्त च—

---

१ स्तोकाश्च त्रसास्ततस्तेजस्कायिका असङ्ख्येयगुणास्तत विशेषाधिका । क्रमशो भूदकवायवोऽकायवनस्पतिकायिका अनन्तगुणा ॥ २ एतेषा भदन्त ! जीवाना सयोगिना मनोयोगिना वाग्योगिना काययोगिनामयोगिना च कतरे कतरेभ्योऽल्पा वा बहुका वा तुल्या वा विशेषाधिका वा ? गौतम ! सर्वस्तोका मनोयोगिन वाग्योगिनोऽसङ्ख्येयगुणा, अयोगिनोऽनन्तगुणा काययोगिनोऽनन्तगुणा, सयोगिनो विशेषाधिका ॥ ३ त्रिगुणास्त्रिरूपाधिकास्तिरश्चा स्त्रियो ज्ञातव्या । सप्तविंशतिगुणा पुनर्मनुजाना तदधिका एव सप्तविंशत्यधिका एवेत्यर्थ ' ॥ द्वात्रिंशद्गुणा द्वात्रिंशद्रूपाधिकास्तु तथा च देवेभ्य । देव्य प्रज्ञप्ता जिनैर्जितरागदोषै ॥

एएसि ण भंते[1] जीवाणं सवेयगाणं इत्थीवेयगाणं पुरिसवेयगाणं नपुंसकवेयगाणं अवेयगाण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा बहुया वा तुल्ला वा विसेसाहिया वा ? गोयमा ! सव्वत्थोवा जीवा पुरिसवेयगा, इत्थीवेयगा सखेज्जगुणा, अवेयगा अणतगुणा, नपुंसगवेयगा अणतगुणा, सवेयगा विसेसाहिया ॥ (प्रज्ञा० पद ३ पत्र १३४–२) ॥ ३९ ॥

माणी कोही माई, लोही अहिय मणनाणिणो थोवा ।
ओहि असंखा मइसुय, अहिय सम असख विब्भंगा ॥ ४० ॥

कषायद्वारे—सर्वस्तोका मानिन , मानपरिणामकालस्य क्रोधादिपरिणामकालापेक्षया सर्वस्तोकत्वात् । तेभ्य क्रोधिनो विशेषाधिका , क्रोधपरिणामकालस्य मानपरिणामकालापेक्षया विशेषाधिकत्वात् । तेभ्योऽपि मायिनो विशेषाधिका , यद् भूयस्त्वेन जन्तूना प्रभूतकाल च मायाबहुलत्वात् । ततोऽपि लोभिनो विशेषाधिका , सर्वेषामपि प्राय ससारिजीवाना सदा परिग्रहाद्याकाङ्क्षासद्भावात् । उक्त च—

एएसि ण भंते[2] जीवाणं सकसाईणं कोहकसाईणं माणकसाईणं मायाकसाईणं लोभकसाईणं अकसाईण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा बहुया वा तुल्ला वा विसेसाहिया वा ? गोयमा ! सव्वत्थोवा जीवा अकसाई, माणकसाई अणतगुणा, कोहकसाई विसेसाहिया, मायाकसाई विसेसाहिया, लोभकसाई विसेसाहिया, सकसाई विसेसाहिया । (प्रज्ञा० पद ३ पत्र १३५–१)

ज्ञानद्वारे—'मनोज्ञानिन ' मन पर्यायज्ञानिन शेषज्ञान्यपेक्षया स्तोका , तद्धि गर्भजमनुष्याणा तत्रापि सयतानामप्रमत्ताना विविधामर्षौषध्यादिलब्धियुक्तानामुपजायते । उक्त च—

[3]त सजयस्स सव्वप्पमायरहियस्स विविहरिद्धिमओ ।

(विशेषा० गा० ८१२) इत्यादि ।

ते च स्तोका एव, सङ्ख्यातत्वात् । तेभ्योऽसङ्ख्येयगुणा अवधिज्ञानिन , सम्यग्दृष्टिदेवादीनामप्यवधिज्ञानभाजा तेभ्योऽसङ्ख्यातगुणत्वात् । ततोऽवधिज्ञानिभ्यो मतिज्ञानिश्रुतज्ञानिनो विशेषाधिका , अवधिज्ञानरहितसम्यग्दृष्टिनरतिर्यक्प्रक्षेपात् । एतौ च मतिज्ञानिश्रुतज्ञानिनौ स्वस्थाने चिन्त्यमानौ द्वावपि 'समौ' तुल्यौ, मतिज्ञानश्रुतज्ञानयो परस्परमनान्तरीयकत्वात् ।

यदाह भगवान् देवर्धिवाचकः—

---

१ एतेषा भदन्त ! जीवाना सवेदकाना स्त्रीवेदकाना पुरुषवेदकाना नपुसकवेदकानामवेदकाना च कतरे कतरेभ्योऽल्पा वा बहुका वा तुल्या वा विशेषाधिका वा ? गौतम ! सर्वस्तोका जीवा पुरुषवेदका , स्त्रीवेदका सङ्ख्येयगुणा , अवेदका अनन्तगुणा , नपुसकवेदका अनन्तगुणा , सवेदका विशेषाधिका ॥ २ एतेषा भदन्त ! जीवाना सकषायिणा क्रोधकषायिणा मानकषायिणा मायाकषायिणा लोभकषायिणा अकषायिणा च कतरे कतरेभ्य अल्पा वा बहुका वा तुल्या वा विशेषाधिका वा ? गौतम ! सर्वस्तोका जीवा अकषायिण , मानकषायिणोऽनन्तगुणा , क्रोधकषायिणो विशेषाधिका , मायाकषायिणो विशेषाधिका , लोभकषायिणो विशेषाधिका , सकषायिणो विशेषाधिका ॥ ३ तत्सयतस्य सर्वप्रमादरहितस्य विविधर्द्धिमत ॥ ४ °स्पर मान्तरी° क० ख० ग० घ० ङ० ॥

जत्थ मइनाण तत्थ सुयनाणं, जत्थ सुयनाण तत्थ मइनाण, दो वि एयाइ अनुनमणुगयाइ ।
(नन्दी पत्र १४०-१) इति ।

तेभ्यश्च मतिज्ञानिश्रुतज्ञानिभ्यो विभङ्गज्ञानिनोऽसङ्ख्यातगुणा , मिथ्यादृष्टिसुरादीना विभङ्गज्ञानवता तेभ्योऽसङ्ख्यातगुणत्वादिति ॥ ४० ॥

केवलिणो णतगुणा, मइसुयअन्नाणि णतगुण तुल्ला ।
सुहुमा थोवा परिहार सख अहखाय सखगुणा ॥ ४१ ॥

तेभ्यश्च विभङ्गज्ञानिभ्य केवलिनोऽनन्तगुणा , सिद्धाना तेभ्योऽनन्तगुणत्वात्, तेषा च केवलज्ञानयुक्तत्वात् । तेभ्योऽपि च केवलज्ञानिभ्यो मत्यज्ञानिश्रुताज्ञानिनोऽनन्तगुणा , सिद्धेभ्योऽपि वनस्पतिकायिकानामनन्तगुणत्वात्, तेषा च मिथ्यादृष्टितया मत्यज्ञानश्रुताज्ञानयुक्तत्वात् । एते चोभयेऽपि मत्यज्ञानिश्रुताज्ञानिन स्वस्थाने चिन्त्यमानास्तुल्या , मत्यज्ञानश्रुताज्ञानयो परस्परमविनाभावित्वात् । उक्त च—

एएसि ण भते ! जीवाण आभिणिबोहियनाणीण सुयनाणीण ओहिनाणीण मणपज्जवनाणीण केवलनाणीण मइअन्नाणीण सुयअन्नाणीण विभगनाणीण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा बहुया वा तुल्ला वा विसेसाहिया वा ? गोयमा ! सव्वत्थोवा जीवा मणपज्जवनाणी, ओहिनाणी असखेज्जगुणा, आभिणिबोहियनाणी सुयनाणी दो वि तुल्ला विसेसाहिया, विभगनाणी असखिज्जगुणा, केवलनाणी अणतगुणा, मइअन्नाणी सुयअन्नाणी य दो वि तुल्ला अणतगुणा ।
(प्रज्ञा० पद ३ पत्र १३७-१)

सयमद्वारे—सर्वस्तोका सूक्ष्मसम्परायसंयमिन , शतपृथक्त्वमात्रसम्भवात् । तेभ्य परिहारविशुद्धिका सङ्ख्यातगुणा , सहस्रपृथक्त्वसम्भवात् । तेभ्योऽपि यथाख्यातचारित्रिण सङ्ख्यातगुणा , कोटिपृथक्त्वेन प्राप्यमाणत्वादिति ॥ ४१ ॥

छेय समईय सखा, देस असखगुण णतगुण अजया ।
थोव असख दु णता, ओहि नयण केवल अचक्खू ॥ ४२ ॥

तेभ्यो यथाख्यातचारित्रिभ्यश्छेदोपस्थापनचारित्रिण सङ्ख्येयगुणा , कोटीशतपृथक्त्वेन लभ्यमानत्वात् । तेभ्योऽपि सामायिकसंयमिन सङ्ख्येयगुणा , कोटीसहस्रपृथक्त्वेन प्राप्यमाणत्वात् । तेभ्योऽपि देशविरता असङ्ख्यातगुणा , असङ्ख्याताना तिरश्चा देशविरतिसम्भवात् । तेभ्योऽनन्तगुणा 'अयता' सयमहीना आद्यगुणस्थानकचतुष्टयवर्तिन इत्यर्थ , मिथ्यादृशामनन्तानन्तत्वात् । दर्शनद्वारे यथाक्रममेव पदघटना—स्तोका अवधिदर्शनिन , सुरनारकाणा नरतिरश्चा

---

१ यत्र मतिज्ञान तत्र श्रुतज्ञानम्, यत्र श्रुतज्ञान तत्र मतिज्ञानम्, द्वे अपि एते अन्योन्यमनुगते ॥
२ एतेषा भदन्त ! जीवाना आभिनिबोधिकज्ञानिना श्रुतज्ञानिनामवधिज्ञानिनां मन पर्यवज्ञानिना केवलज्ञानिना मत्यज्ञानिना श्रुताज्ञानिना विभङ्गज्ञानिना च कतरे कतरेभ्योऽल्पा वा बहुका वा तुल्या वा विशेषाधिका वा ? गौतम ! सर्वस्तोका जीवा मन पर्यवज्ञानिन अवधिज्ञानिनोऽसङ्ख्येयगुणा आभिनिबोधिकज्ञानिन श्रुतज्ञानिनो द्वयेऽपि तुल्या विशेषाधिका , विभङ्गज्ञानिनोऽसङ्ख्येयगुणा , केवलज्ञानिनोऽनन्तगुणा , मत्यज्ञानिन श्रुताज्ञानिनश्च द्वयेऽपि तुल्या अनन्तगुणा ॥

च केषाञ्चिदवधिदर्शनसम्भवात् । तेभ्यश्चक्षुर्दर्शनिनोऽसङ्ख्यातगुणा चतुरिन्द्रियादीनामपि चक्षुर्दर्शनिना तत्र प्रक्षेपात् । तेभ्योऽनन्तगुणा केवलदर्शनिन, सिद्धाना तेभ्योऽनन्तगुणत्वात्, तेपा च केवलदर्शनयुक्तत्वात् । तेभ्योऽप्यनन्तगुणा अचक्षुर्दर्शनिन, सर्वससारिजीवानां सिद्धेभ्योऽनन्तगुणत्वात्, तेषा च नियमादचक्षुर्दर्शनोपेतत्वात् । यदाहु परममुनय —

एएसि ण भते[1] जीवाण चक्खुदसणीण अचक्खुदसणीण ओहिदसणीण केवलदसणीण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा वहुया वा तुल्ला वा विसेसाहिया वा? गोयमा! सव्वत्थोवा जीवा ओहिदसणी, चक्खुदसणी असखिज्जगुणा, केवलदसणी अणन्तगुणा, अचक्खुदसणी अणतगुणा। (प्रज्ञा० पद ३ पत्र १३७-२) इति । ॥ ४२ ॥

पच्छाणुपुव्वि लेसा, थोवा दो सख णंत दो अहिया ।
अभवियर थोव णंता, सासण थोवोवसम सखा ॥ ४३ ॥

लेश्याद्वारे पश्चानुपूर्व्या लेश्या वाच्या । तद्यथा—शुक्ललेश्या पद्मलेश्या तेजोलेश्या कापोतलेश्या नीललेश्या कृष्णलेश्या । तत्र स्तोका शुक्ललेश्यावन्त, वैमानिकेष्वेव देवेपु लान्तकादिष्वनुत्तरसुरपर्यवसानेपु केपुचिदेव कर्मभूमिजेपु मनुष्यस्त्रीपुसेपु तिर्यक्स्त्रीपुसेपु च केपुचित् सङ्ख्यातवर्षायुष्केपु शुक्ललेश्यासम्भवात् । तत सङ्ख्यातगुणा पद्मलेश्यावन्त, सनत्कुमारमाहेन्द्रब्रह्मलोकदेवेषु कल्पेपु च मनुष्यतिर्यक्षु पद्मलेश्याभावात्, सनत्कुमारादिदेवाना च लान्तकादिदेवेभ्य सङ्ख्येयगुणत्वात् । तेभ्योऽपि तेजोलेश्यावन्त सङ्ख्येयगुणा, सौधर्मेशानादिदेवेपु केपुचिच्च तिर्यग्मनुष्येपु तेजोलेश्यासद्भावात्, तेपा च सकलपद्मलेश्यासहिततिर्यगादिप्राणिगणापेक्षया सङ्ख्येयगुणत्वात् । तत कापोतलेश्यावन्तोऽनन्तगुणा, अनन्तकायिकेष्वपि कापोतलेश्यासद्भावात् । ततोऽपि विशेषाधिका नीललेश्यावन्त, नारकादीना तल्लेश्यावता तत्र प्रक्षेपात् । तत कृष्णलेश्यावन्तो विशेषाधिका, भूयसा तल्लेश्यासद्भावात् । यदभ्यधायि परमगुरुणा—

एएसि ण भते! जीवाण सलेस्साण किण्हलेस्साण नीललेस्साण काउलेस्साण तेउलेस्साण पम्हलेस्साण सुक्कलेस्साण अलेस्साण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा वहुया वा तुल्ला वा विसेसाहिया वा? गोयमा! सव्वत्थोवा जीवा सुक्कलेस्सा, पम्हलेस्सा सखिज्जगुणा, तेउलेस्सा सखिज्जगुणा, अलेस्सा अणतगुणा, काउलेस्सा अणतगुणा, नीललेस्सा विसेसाहिया, किण्हलेस्सा विसेसाहिया, सलेस्सा विसेसाहिया । (प्रज्ञा० पद ३ पत्र १३५-१)

भव्यद्वारे—अभव्या स्तोका, तेपा वक्ष्यमाणस्वरूपजघन्ययुक्तानन्तकतुल्यत्वात् । तेभ्यो

१ एतेषा भदन्त! जीवानां चक्षुर्दर्शनिनामचक्षुर्दर्शनिनामवधिदर्शनिनां केवलदर्शनिनां च कतरे कतरेभ्य अल्पा वा बहुका वा तुल्या वा विशेषाधिका वा? गौतम! सर्वस्तोका जीवा अवधिदर्शनिन, चक्षुर्दर्शनिनोऽसङ्ख्येयगुणा, केवलदर्शनिनोऽनन्तगुणा, अचक्षुर्दर्शनिनोऽनन्तगुणा ॥ २ एतेषा भदन्त! जीवाना सलेश्यानां कृष्णलेश्यानां नीललेश्यानां कापोतलेश्याना तेजोलेश्याना पद्मलेश्याना शुक्ललेश्याना अलेश्याना च कतरे कतरेभ्योऽल्पा वा बहुका वा तुल्या वा विशेषाधिका वा? गौतम! सर्वस्तोका जीवा शुक्ललेश्या, पद्मलेश्या सङ्ख्येयगुणा, तेजोलेश्या सङ्ख्येयगुणा, अलेश्या अनन्तगुणा, कापोतलेश्या अनन्तगुणा, नीललेश्या विशेषाधिका, कृष्णलेश्या विशेषाधिका, सलेश्या विशेषाधिका ॥

भव्या –सिद्धिगमनार्हा अनन्तगुणा । आह च भगवानार्यश्यामः—

ऐएसि[1] ण भंते ! जीवाण भवसिद्धियाण अभवसिद्धियाण नोभवसिद्धियाण नोअभवसिद्धियाण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा बहुया वा तुल्ला वा विसेसाहिया वा ? गोयमा ! सव्वत्थोवा अभवसिद्धिया, नोभवसिद्धिया नोअभवसिद्धिया अणंतगुणा, भवसिद्धिया अणंतगुणा ।

(प्रज्ञा० पद ३ पत्र १३९–१)

सम्यक्त्वद्वारे—सास्वादनसम्यग्दृष्टय स्तोका, औपशमिकसम्यक्त्वात् केपाञ्चिदेव प्रच्यवमानाना सास्वादनत्वात् । तेभ्य "उवसम" त्ति औपशमिकसम्यग्दृष्टय सङ्ख्यातगुणा ॥ ४३ ॥

मीसा संखा वेयग, असंखगुण खइय मिच्छ दु अणंता ।

सन्नियर थोव णंताऽणहार थोवेयर असंखा ॥ ४४ ॥

तेभ्यश्चौपशमिकसम्यग्दृष्टिभ्यो मिश्रा असङ्ख्यातगुणा । तेभ्य "वेयग" त्ति क्षायोपशमिकसम्यग्दृष्टयोऽसङ्ख्यातगुणा । तेभ्य क्षायिकसम्यग्दृष्टयोऽनन्तगुणा, क्षायिकसम्यक्त्ववता सिद्धानामानन्त्यात् । तेभ्योऽपि मिथ्यादृष्टयोऽनन्तगुणा, सिद्धेभ्योऽपि वनस्पतिजीवानामनन्तगुणत्वात्, तेषा च मिथ्यादृष्टित्वादिति । सज्ञिद्वारे—सज्ञिनो जीवा स्तोका, देवनारकसमनस्कपञ्चेन्द्रियतिर्यङ्नराणामेव सज्ञित्वात् । तेभ्य 'इतरे' असज्ञिनोऽनन्तगुणा, वनस्पतिजीवानामनन्तत्वात् । यदागमे न्यगादि—

ऐएसि[3] ण भंते ! जीवाण सन्नीण असन्नीण नोसन्नीण नोअसन्नीण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा बहुया वा तुल्ला वा विसेसाहिया वा ? गोयमा ! सव्वत्थोवा जीवा सन्नी, नोसन्नीनोअसन्नी अणंतगुणा, असन्नी अणंतगुणा । (प्रज्ञा० पद ३ पत्र १३९–१)

तथाऽऽहारकद्वारे—अनाहारका स्तोका, विग्रहगत्यापन्नसमुद्घातकेवलिभवस्थायोगिकेवलिसिद्धानामेवानाहारकत्वात् । यदाह भाष्यसुधाम्भोधिः—

विग्गहगइमावन्ना, केवलिणो समुहया अजोगी य ।

सिद्धा य अणाहारा, सेसा आहारगा जीवा ॥

तेभ्य 'इतरे' आहारका जीवा असङ्ख्यातगुणा । यदवाचि वाचयमप्रवरै श्रीमदार्यश्यामपादैः—

ऐएसि ण भंते ! जीवाण आहारगाण अणाहारगाण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा बहुया

---

१ एतेषां भदन्त ! जीवाना भवसिद्धिकानामभवसिद्धिकानां नोभवसिद्धिकानां नोअभवसिद्धिकाना च कतरे कतरेभ्योऽल्पा वा बहुका वा तुल्या वा विशेषाधिका वा ? गौतम ! सर्वस्तोका अभवसिद्धिका, नोभवसिद्धिका नोअभवसिद्धिका अनन्तगुणा, भवसिद्धिका अनन्तगुणा ॥ २ °याणो अ° प्रज्ञापनायाम् ॥ ३ एतेषां भदन्त ! जीवाना संज्ञिनामसज्ञिनां नोसंज्ञिना नोअसज्ञिनां च कतरे कतरेभ्योऽल्पा वा बहुका वा तुल्या वा विशेषाधिका वा ? गौतम ! सर्वस्तोका जीवा सज्ञिन, नोसंज्ञिनोअसज्ञिनोऽनन्तगुणा, असज्ञिनोऽनन्तगुणा ॥ ४ °न्नीनोअसन्नीण प्रज्ञापनायाम् ॥ ५ विग्रहगत्यापन्ना केवलिन समुद्धता अयोगिनश्च । सिद्धाश्चानाहारा शेषा आहारका जीवा ॥ ६ गाथेयं आवश्यकप्रज्ञप्ति प्रवचनसारोद्धारश्रीचन्द्रीयसङ्ग्रहणीषु वर्तते परं भाष्यकारग्रन्थस्था नोपलब्धा ॥ ७ एतेषां भदन्त ! जीवानां आहारकाणामनाहारकाणा च कतरे कतरेभ्योऽल्पा वा बहुका वा तुल्या वा विशेषाधिका वा ? गौतम ! सर्वस्तोका जीवा अनाहारका, आहारका असङ्ख्येयगुणा ॥

वा तुल्ला वा विसेसाहिया वा ? गोयमा ! सव्वत्थोवा जीवा अणाहारगा, आहारगा असंखिज्जगुणा । (प्रज्ञा० पद ३ पत्र १३८-१)

ननु च सिद्धेभ्योऽनन्तगुणा संसारिजीवा ते च प्राय आहारका तत् कथमसङ्ख्यातगुणा अनाहारकेभ्य आहारका ? इति, नैष दोष, यत प्रतिसमयमेकैकस्य निगोदस्याऽसङ्ख्येयभागप्रमाणाविग्रहगत्यापन्ना जीवा लभ्यन्ते, ते चानाहारका, तत आहारकजीवानामनाहारकजीवापेक्षयाऽसङ्ख्यातगुणत्वमेवेति ॥ ४४ ॥ चिन्तित गत्यादिमार्गणास्थानेषु स्वस्थानापेक्षयाऽल्पबहुत्वम् । इदानीं गुणस्थानकेषु जीवस्थानानि चिन्तयन्नाह—

सव्वजियठाण मिच्छे, सग सासणि पण अपज्ज सन्निदुगं ।
सम्मे सन्नी दुविहो, सेसेसु सन्निपज्जत्तो ॥ ४५ ॥

सर्वाणि जीवस्थानानि—चतुर्दशापि मिथ्यादृष्टिगुणस्थानके भवन्ति, मिथ्यात्वस्य सर्वेषु जीवस्थानकेषु सम्भवात् । तथा "सग" त्ति सप्त जीवस्थानानि सासादने भवन्ति । तद्यथा—'पञ्चापर्याप्ता' बादरैकेन्द्रियोऽपर्याप्त १ द्वीन्द्रियोऽपर्याप्त २ त्रीन्द्रियोऽपर्याप्त ३ चतुरिन्द्रियोऽपर्याप्त ४ असंज्ञिपञ्चेन्द्रियोऽपर्याप्त ५ 'सज्ञिद्विकम्' सज्ञी अपर्याप्त ६ पर्याप्त ७ । अपर्याप्तकाश्चेह करणापर्याप्तका द्रष्टव्या, न तु लब्ध्यपर्याप्तका, तेषु मध्ये सास्वादनसम्यक्त्वसहितस्योत्पादाभावात् । "सम्मे सन्नी दुविहो" त्ति अविरतसम्यग्दृष्टिगुणस्थानके सज्ञी 'द्विविध' अपर्याप्तपर्याप्तरूपो द्रष्टव्य । इहापर्याप्तक करणापेक्षया ज्ञेयो न तु लब्ध्यपेक्षया, लब्ध्यपर्याप्तमध्येऽविरतसम्यग्दृष्टेरभावात् । 'शेषेषु' मिश्रदेशविरत्यादिगुणस्थानकेषु सज्ञी पर्याप्त इत्येकमेव जीवस्थानकम्, न शेषाणि, तेषा मिश्रभावदेशविरत्यादिप्रतिपत्त्यभावात् । न च पूर्वप्रतिपन्नमिश्रभावोऽन्येषु जीवस्थानकेषु सङ्क्रामन् लभ्यते, "न सम्ममिच्छो कुणइ काल" इति वचनात् ॥ ४५ ॥

तदेव गुणस्थानकेषु व्याख्यातानि जीवस्थानकानि । सम्प्रति गुणस्थानकेष्वेव योगान् व्याख्यानयन्नाह—

मिच्छदुग अजइ जोगाहारदुगूणा अपुव्वपणगे उ ।
मणवइउरलं सविउव्व मीसि सविउव्वदुग देसे ॥ ४६ ॥

मिथ्यादृष्टिद्विक—मिथ्यादृष्टिसासादनलक्षण तत्र 'अयते' अविरतसम्यग्दृष्टौ चैतेत्र गुणस्थानकत्रये सज्ञी पञ्चेन्द्रियोऽपि लभ्यते, तस्य च यथोक्ता आहारकद्विकेन—आहारककाययोगाहारकमिश्रकाययोगलक्षणेन ऊना—रहितास्त्रयोदश योगा सम्भवन्ति । यत् पुनराहारकद्विक तत् चतुर्दशपूर्विण एव । यदभ्यधायि—

औहारदुग जायइ चउदसपुव्विस्स (पञ्चस० गा० १२) इति ।

न च मिथ्यादृष्टिसासादनायताना चतुर्दशपूर्वाधिगमसम्भव इति । तथा 'अपूर्वपञ्चके' अपूर्वकरणानिवृत्तिबादरसूक्ष्मसम्परायोपशान्तमोहक्षीणमोहलक्षणे नव योगा भवन्ति । तद्यथा—चतुर्विधो मनोयोग ४ चतुर्विधो वाग्योग ४ औदारिककाययोग १ इति, न शेषा, अत्यन्तविशुद्धतया तेषा वैक्रियाहारकद्विकारम्भासम्भवात्, तत्र स्थिताना च स्वभावत एव श्रेण्यारोहाभावात् ।

१ न सम्यग्मिथ्यादृष्टि काल करोति ॥ २ आहारकद्विक जायते चतुर्दशपूर्विण ॥

औदारिकमिश्रमपर्याप्तावस्थायाम्, कार्मण त्वपान्तरालगतो। यद्वा उभे अपि केवलिसमुद्घातावस्थायाम्, ततस्ते अप्यत्र गुणस्थानकपञ्चके न सम्भवत इति। तथा त एव पूर्वोक्ता नव योगा सवैक्रिया सन्तो दश योगा 'मिश्रे' सम्यग्मिथ्यादृष्टिगुणस्थानके भवन्ति। तथाहि—चतुर्विधमनोयोगचतुर्विधवाग्योगौदारिकवैक्रियलक्षणा दश योगा मिश्रे भवन्ति, न शेषा। तद्यथा—आहारकद्विकस्याऽसम्भव पूर्वाधिगमासम्भवादेव, कार्मणशरीर त्वपान्तरालगतौ सम्भवति, अस्य च मरणासम्भवेनाऽपान्तरालगत्यसम्भवस्ततस्तस्याप्यसम्भव। अत एवौदारिकवैक्रियमिश्रे अपि न सम्भवत, तयोरपर्याप्तावस्थाभावित्वात्।

ननु मा भूद् देवनारकसम्बन्धि वैक्रियमिश्रम्, यत् पुनर्मनुष्यतिरश्चा सम्यग्मिथ्यादृशा वैक्रियलब्धिमता वैक्रियकरणसम्भवेन तदारम्भकाले वैक्रियमिश्र भवति तत् कस्माद् नाभ्युपगम्यते? उच्यते—तेषा वैक्रियकरणासम्भवादन्यतो वा यत कुतश्चित् कारणात् पूर्वाचार्यैर्नाभ्युपगम्यते तन्न सम्यगवगच्छाम, तथाविधसम्प्रदायाभावात्, एतच्च प्रागेवोक्तमिति। तथा त एव पूर्वोक्ता नव योगा 'सवैक्रियद्विका' वैक्रियवैक्रियमिश्रसहिता सन्त एकादश 'देसे' देशविरते भवन्ति, अम्बडस्येव वैक्रियलब्धिमतो देशविरतस्य वैक्रियारम्भसम्भवादिति ॥ ४६ ॥

साहारदुग पमत्ते, ते विउवाहारमीस विणु इयरे।
कम्मुरलदुगताइममणवयण सजोगि न अजोगी ॥ ४७ ॥

पूर्वोक्ता एवैकादश योगाश्चतुर्विधमनोयोगचतुर्विधवाग्योगौदारिकवैक्रियद्विकलक्षणा 'साहारद्विका' आहारकाहारकमिश्रसहिता सन्तस्त्रयोदश योगा प्रमत्ते भवन्ति। औदारिकमिश्रकार्मणकाययोगाभावस्तु पूर्वोक्तयुक्तेरेवावसेय इति। त एव पूर्वोक्तास्त्रयोदश योगा वैक्रियमिश्राहारकमिश्र विना एकादश 'इतरस्मिन्' अप्रमत्तगुणस्थानके भवन्ति। तथाहि—चतुर्विधमनोयोगचतुर्विधवाग्योगौदारिकवैक्रियाहारकलक्षणा एकादश योगा अप्रमत्ते। यत्तु वैक्रियमिश्रमाहारकमिश्र च तन्न सम्भवति, तद् वैक्रियस्याहारकस्य च प्रारम्भकाले भवति, तदानीं च लब्ध्युपजीवनादिनौत्सुक्यभावत प्रमादभाव सम्भवतीति। तथौदारिकमिश्रमपर्याप्तावस्थायाम्, कार्मण त्वपान्तरालगतौ। यद्वा उभे अपि केवलिसमुद्घातावस्थायाम्, ततस्ते अप्यत्र गुणस्थानके न सम्भवत इति। तथा कार्मणम् 'औदारिकद्विकम्' औदारिकौदारिकमिश्रलक्षणम् अन्त्यादिममनसी—सत्यासत्यामृषरूपो मनोयोगो अन्त्यादिमवचने—सत्यासत्यामृषलक्षणौ वाग्योगो चेति सप्त योगा सयोगिकेवलिनो भवन्ति, कार्मणौदारिकमिश्रे तु समुद्घातावस्थायामिति। 'न' नैव पञ्चदशयोगमध्यादेकेनापि योगेन युक्त 'अयोगी' अयोगिकेवली भवति, योगाभावनिबन्धनत्वादयोगित्वावस्थाया इति॥४७॥

उक्ता गुणस्थानकेषु योगा। अधुनैतेष्वेवोपयोगानभिधातुकाम आह—

तिअनाण दुदसाइमदुगे अजइ देसि नाणदसतिग।
ते मीसि मीस समणा, जयाइ केवलिदुगतदुगे ॥ ४८ ॥

'आदिमद्विके' मिथ्यादृष्टिसास्वादनलक्षणप्रथमद्वितीयगुणस्थानकद्वय इत्यर्थ। "तिअनाण दुदस" त्ति त्रयाणामज्ञानाना समाहारस्त्र्यज्ञान—मत्यज्ञानश्रुताज्ञानविभङ्गज्ञानरूप, दर्शन दर्शो

१ °वमिश्रद° ख० ग० घ० ॥ २ °मादिका° क० ग० घ० ङ० ॥

द्वयोर्दर्शयो समाहारो द्विदर्श-चक्षुर्दर्शनाचक्षुर्दर्शनरूपमित्येते पञ्चोपयोगा मिथ्यादृष्टिसासादनयोर्भवन्ति, न शेषा, सम्यक्त्वविरत्यभावात्। तथा 'अयते' अविरतसम्यग्दृष्टौ 'देशे' देशविरते षडुपयोगा भवन्ति। तथाहि—"नाणदसतिग" ति त्रिकशब्दस्य प्रत्येकमभिसम्बन्धाद् ज्ञानत्रिक-मतिज्ञानश्रुतज्ञानावधिज्ञानरूप दर्शत्रिक-चक्षुर्दर्शनाचक्षुर्दर्शनावधिदर्शनलक्षणमिति, न शेषा, सर्वविरत्यभावात्। 'ते' पूर्वोक्ता ज्ञानत्रिकदर्शनत्रिकरूपा षडुपयोगा 'मिश्रे' सम्यग्मिथ्यादृष्टिगुणस्थानके 'मिश्रा' अज्ञानसहिता द्रष्टव्या, तस्योभयदृष्टिपातित्वात्, केवल कदाचित् सम्यक्त्वबाहुल्यतो ज्ञानबाहुल्यम्, कदाचिच्च मिथ्यात्वबाहुल्यतोऽज्ञानबाहुल्यम्, समकक्षताया तूभयासमतेति। अस्मिश्च गुणस्थानके यद् अवधिदर्शनमुक्त तत् सैद्धान्तिकमतापेक्षया द्रष्टव्यमित्युक्त प्राक्। "समणा जयाइ" त्ति "यमू उपरमे" यमन यत-सर्वसावद्यविरत तद् विद्यते यस्य स यत—"अभ्रादिभ्य" (सि० ७-२-४६) इत्यप्रत्यय प्रमत्तगुणस्थानकवर्ती साधु, यत आदिर्येषा गुणस्थानकाना तानि यतादीनि-प्रमत्ताप्रमत्तापूर्वकरणानिवृत्तिबादरसूक्ष्मसम्परायोपशान्तमोहक्षीणमोहलक्षणानि सप्त गुणस्थानकानि तेषु पूर्वोक्ता ज्ञानत्रिकदर्शनत्रिकाख्या षडुपयोगा "समण" त्ति मन पर्यायज्ञानसहिता सप्त भवन्तीति, न शेषा, मिथ्यात्वघातिकर्मक्षयाभावात्। 'केवलद्विक' केवलज्ञानकेवलदर्शनलक्षणोपयोगद्वयरूपम् 'अन्तद्विके' सयोगिकेवल्ययोगिकेवलिलक्षणचरमगुणस्थानकद्वये भवति, न शेषा दश ज्ञानदर्शनलक्षणा, तदुच्छेदेनैव केवलज्ञानकेवलदर्शनोत्पत्ते, "[2]नट्ठम्मि उ छाउमत्थिए नाणे" (आ० नि० गा० ५३९) इति वचनात्॥ ४८॥ तदेवमभिहिता गुणस्थानकेषूपयोगा। साम्प्रत यदिह प्रकरणे सूत्राभिमतमपि कार्मग्रन्थिकाभिप्रायानुसरणतो नाधिकृत तद्दर्शयन्नाह—

सासणभावे नाण, विउव्वगाहारगे उरलमिस्स।
नेगिंदिसु सासाणो, नेहाहिगय सुयमय पि॥ ४९॥

'सासादनभावे' सास्वादनसम्यग्दृष्टित्वे सति ज्ञान भवति नाज्ञानमिति 'श्रुतमतमपि' सिद्धान्तसम्मतमपि, तथाहि—

[3]बेइंदिया ण भते! किं नाणी अन्नाणी? गोयमा! नाणी वि अन्नाणी वि। जे नाणी ते नियमा दुनाणी, आभिणिबोहियनाणी सुयनाणी। जे अन्नाणी ते वि नियमा दुअन्नाणी, त जहा-मइअन्नाणी सुयअन्नाणी। (भ० श० ८ उ० २ पत्र ३४३-२)

इत्यादिसूत्रे द्वीन्द्रियादीना ज्ञानित्वमभिहित तच्च सास्वादनापेक्षयैव, न शेषसम्यक्त्वापेक्षया, असम्भवात्। उक्त च प्रज्ञापनाटीकायाम्—

[4]बेइंदियस्स दो नाणा कह लब्भंति? भण्णइ—सासायण पडुच्च तस्सापज्जत्तयस्स दो नाणा लब्भंति ( ) इति।

---

१ °त् कस्याचित् सम्य° क० ग० घ०॥ २ नष्टे तु छाद्मस्थिके ज्ञाने॥ ३ द्वीन्द्रिया भदन्त! किं ज्ञानिनोऽज्ञानिन? गौतम! ज्ञानिनोऽप्यज्ञानिनोऽपि। ये ज्ञानिनस्ते नियमाद्द्विज्ञानिन, आभिनिबोधिकज्ञानिन श्रुतज्ञानिन। येऽज्ञानिनस्तेऽपि नियमाद् द्व्यज्ञानिन, तद्यथा—मत्यज्ञानिन श्रुताज्ञानिन॥ ४ द्वीन्द्रियस्य द्वे ज्ञाने कथ लभ्येते? भण्यते—सासादन प्रतीत्य तस्यापर्याप्तकस्य द्वे ज्ञाने लभ्येते॥

तत सासादनभावेऽपि ज्ञान सूत्रसम्मतमेव । तच्चेत्य सूत्रसम्मतमपि नेह प्रकरणेऽधिकृतम्, किन्त्वज्ञानमेव, कर्मग्रन्थाभिप्रायस्यानुसरणात् । तदभिप्रायश्चायम्—सासादनस्य मिथ्यात्वाभिमुखतया तत्सम्यक्त्वस्य मलीमसत्वेन तन्निबन्धनस्य ज्ञानस्यापि मलीमसत्वादज्ञानरूपतेति ।

तथा सूत्रे वैक्रिये आहारके चारभ्यमाणे तेन प्रारभ्यमाणेन सहौदारिकस्यापि मिश्रीभवनाद् औदारिकमिश्रमुक्तमिति । तथा चाह प्रज्ञापनाटीकाकारः—

यदा पुनरौदारिकशरीरी वैक्रियलब्धिसम्पन्नो मनुष्य पञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिको वा पर्याप्तबादरवायुकायिको वा वैक्रिय करोति तदौदारिकशरीरयोग एव वर्तमान प्रदेशान् विक्षिप्य वैक्रियशरीरयोग्यान् पुद्गलानादाय यावद् वैक्रियशरीरपर्याप्त्या पर्याप्तिं न गच्छति तावद् वैक्रियेण मिश्रता, व्यपदेशश्च औदारिकस्य प्रधानत्वात् (पद १६ पत्र ३१९–१) ।

एवमाहारकेणापि सह मिश्रता द्रष्टव्या, आहारयति चैतेनेवेति तस्यैव व्यपदेश इति । परित्यागकाले वैक्रियस्याहारकस्य च यथाक्रम वैक्रियमिश्रमाहारकमिश्र च । उक्त च श्रीप्रज्ञापनाटीकायाम्—

[यदा] आहारकशरीरी भूत्वा कृतकार्य पुनरप्यौदारिक गृह्णाति तदाऽऽहारकस्य प्रधानत्वादौदारिकप्रदेश प्रति व्यापाराभावाच्च परित्यजति यावत् सर्वथैवाहारक तावदौदारिकेण मिश्रतेति आहारकमिश्रशरीरकायप्रयोग इति ।

तथैव वैक्रियाहारकारम्भकाले औदारिकमिश्र सूत्रेऽभिहितमपि नेह प्रकरणेऽधिकृत कार्मग्रन्थिकै', गुणविशेषप्रत्ययसमुत्थलब्धिविशेषकारणतया प्रारम्भकाले परित्यागकाले च वैक्रियस्याहारकस्य च प्राधान्यविवक्षणेन वैक्रियमिश्रस्याऽऽहारकमिश्रस्य चैवाभिधानात्, तदभिप्रायस्य चेहानुसरणात् । तथा नैकेन्द्रियेषु "सासाणो" त्ति भावप्रधानोऽय निर्देश , सासादनभाव सूत्रे मत , अन्यथा द्वीन्द्रियादीनामिवैकेन्द्रियाणामपि ज्ञानित्वमुच्येत, न चोच्यते, कि तु विशेषत प्रतिषिध्यते । तथाहि—

एगिंदिया ण भंते ! कि नाणी अन्नाणी [१] गोयमा ! नो नाणी नियमा अन्नाणी (भ० श० ८ उ० २ पत्र ३४५–२) इति ।

स चेत्थ सासादनभावप्रतिषेध सूत्रे मतोऽपि केनचित् कारणेन कार्मग्रन्थिकैर्नाभ्युपगम्यत इतीहापि प्रकरणे नाधिक्रियते, तदभिप्रायस्यैवेह प्रायोऽनुसरणादिति । "नेहाहिगय सुयमय पि" इत्येतद् विभक्तिपरिणामेन प्रतिपद सम्बन्धनीयम्, तथैव सम्बन्धितमिति ॥ ४९ ॥

अधुना गुणस्थानकेष्वेव लेश्या अभिधित्सुराह—

छसु सव्वा तेउतिगं, इगि छसु सुक्का अजोगि अल्लेसा ।
बंधस्स मिच्छअविरइकसायजोग त्ति चउ हेऊ ॥ ५० ॥

'षट्सु' मिथ्यादृष्टिसासादनमिश्राविरतदेशविरतप्रमत्तलक्षणेषु गुणस्थानकेषु 'सर्वा' षडपि कृष्णनीलकापोततेज पद्मशुक्ललेश्या भवन्ति । "तेउतिग इगि" त्ति 'एकस्मिन्' अप्रमत्तगुणस्थानके 'तेजस्त्रिक' तेज पद्मशुक्ललेश्यात्रय भवति, न पुनराद्य लेश्यात्रयमित्यर्थाल्लभ्यम् । 'षट्सु'

१ एकेन्द्रिया भदन्त ! किं ज्ञानिनोऽज्ञानिन ? गौतम ! नो ज्ञानिनो नियमादज्ञानिन ॥

अपूर्वकरणानिवृत्तिबादरसूक्ष्मसम्परायोपशान्तमोहक्षीणमोहसयोगिकेवलिलक्षणेषु गुणस्थानकेषु शुक्लेश्या भवति न शेषा पञ्च। 'अयोगिन' अयोगिकेवलिन 'अलेश्या' अपगतलेश्या। इह लेश्याना प्रत्येकमसङ्ख्येयानि लोकाकाशप्रदेशप्रमाणानि अध्यवसायस्थानानि, ततो मन्दाध्यवसायस्थानापेक्षया शुक्ललेश्यादीनामपि मिथ्यादृष्ट्यादौ, कृष्णलेश्यादीनामपि प्रमत्तगुणस्थानकेऽपि सम्भवो न विरुध्यत इति ॥

तदेवमुक्ता गुणस्थानकेषु लेश्या। सम्प्रति बन्धहेतवो वक्तुमवसरमाप्ता, ते च मूलभेदतश्चत्वार उत्तरभेदतश्च सप्तपञ्चाशत्, तानुभयथाऽपि प्रचिकटयिषुराह—"बधस्स मिच्छ" इत्यादि, 'बन्धस्य' ज्ञानावरणादिकर्मबन्धस्य मूलहेतवश्चत्वार 'इति' अमुना प्रकारेण भवन्ति। केन प्रकारेण? इत्याह—'मिथ्यात्वाविरतिकषाययोगा' तत्र मिथ्यात्व—विपरीतावबोधस्वभावम्, अविरति—सावद्ययोगेभ्यो निवृत्त्यभाव, कषाययोगा—प्राग्निरूपितशब्दार्था।

नन्वन्यत्र प्रमादोऽपि बन्धहेतुरभिधीयते, यदवादि—

मिथ्यात्वाविरतिप्रमादकषाययोगा बन्धहेतव। (तत्त्वा० अ० ८ सू० १)

इति स कथमिह नोक्त? उच्यते—मद्यविषयरूपस्य तस्याविरतावेवान्तर्भावो निवक्षित। कषायाश्च पृथगेवोक्ता, वैक्रियारम्भादिसम्भवी तु योगग्रहणेनैव गृहीत इत्यदोष इति ॥ ५० ॥

उक्ताश्चत्वारो मूलहेतव। इदानीमुत्तरभेदान् प्रचिकटयिषु प्रथम मिथ्यात्वस्याविरतेश्चोत्तरभेदानाह—

अभिगहियमणभिगहियाऽऽभिनिवेसिय ससइयमणाभोगं।
पण मिच्छ बार अविरइ, मणकरणानियमु छजियवहो ॥ ५१ ॥

अभिग्रहेण—इदमेव दर्शन शोभन नान्यद् इत्येवरूपेण कुदर्शनविषयेण निर्वृत्तमाभिग्रहिकम्, यद्वशाद् बोटिकादिकुदर्शनानामन्यतम गृह्णाति। तद्विपरीतमनाभिग्रहिकम्, यद्वशात् सर्वाण्यपि दर्शनानि शोभनानीत्येवमीषन्माध्यस्थ्यमुपजायते। 'आभिनिवेशिक' यद् अभिनिवेशेन निर्वृत्तम्, यथा गोष्ठामाहिलादीनाम्। 'साशयिक' यत् सशयेन निर्वृत्तम्, यद्वशाद् भगवदर्हदुपदिष्टेष्वपि जीवाजीवादितत्त्वेषु सशय उपजायते, यथा—न जाने किमिद भगवदुक्त धर्मास्तिकायादि सत्यम्? उतान्यथा? इति। 'अनाभोग' यद् अनाभोगेन निर्वृत्तम्, तच्चैकेन्द्रियादीनामिति। "पण मिच्छ" त्ति पञ्चप्रकार मिथ्यात्व भवतीति। द्वादशप्रकाराऽविरति, कथम्? इत्याह—मन—स्वान्त, करणानि—इन्द्रियाणि पञ्च तेषा स्वस्वविषये प्रवर्तमानानामनियम—अनियन्त्रणम्, तथा षण्णा—पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतित्रसरूपाणा जीवाना वध—हिंसेति ॥ ५१ ॥

अभिहिता मिथ्यात्वाविरत्युत्तरबन्धहेतव। सम्प्रति कषाययोगोत्तरबन्धहेतूनाह—

नव सोल कसाया पनर जोग इय उत्तरा उ सगवन्ना।
इगचउपणतिगुणेसुं, चउतिदुइगपचओ बधो ॥ ५२ ॥

स्त्रीवेदपुरुषवेदनपुसकवेदहास्यरत्यरतिशोकभयजुगुप्सारूपा नव नोकषाया, ते च कषायसहचरितत्वाद् उपचारेणेह कषाया इत्युक्ता। 'षोडश कषाया' अनन्तानुबन्धिक्रोधादय। नोकषायकषायस्वरूप च सविस्तर स्वोपज्ञकर्मविपाकटीकाया निरूपितमिति तत एवावधारणीयम्।

'पञ्चदश योगा ' अत्रैव व्याख्यातस्वरूपा । 'इति' अमुना प्रदर्शितप्रकारेण पञ्चद्वादशपञ्चविंशतिपञ्चदशलक्षणो सप्तपञ्चाशत् पुनरुत्तरभेदा बन्धस्य भवन्तीति ॥

प्रदर्शिता बन्धस्य मूलहेतवश्चत्वार उत्तरे सप्तपञ्चाशत्सङ्ख्या । अधुना बन्धस्य मूलहेतून् गुणस्थानकेषु चिन्तयन्नाह—"इगचउपणतिगुणेसु" इत्यादि । इहैव पदघटना—'एकस्मिन्' मिथ्यादृष्टिलक्षणे गुणस्थानके चत्वार –मिथ्यात्वाविरतिकषाययोगलक्षणा प्रत्यया –हेतवो यस्य स चतु प्रत्ययो बन्धो भवति । अयमर्थ —मिथ्यात्वादिभिश्चतुर्भि प्रत्ययैर्मिथ्यादृष्टिगुणस्थानकवर्ती जन्तुर्ज्ञानावरणादिकर्म बध्नाति । तथा 'चतुर्षु' गुणस्थानकेषु सास्वादनमिश्राविरतदेशविरतलक्षणेषु त्रय –मिथ्यात्वनिर्वर्जिता अविरतिकषाययोगलक्षणा प्रत्यया यस्य स त्रिप्रत्ययो बन्धो भवतीति । अयमर्थ —सास्वादनादयश्चत्वारो मिथ्यात्वोदयाभावात् तद्वर्जैस्त्रिभि प्रत्ययै कर्म बध्नन्ति । देशविरतगुणस्थानके यद्यपि देशत स्थूलप्राणातिपातविषया विरतिरस्ति तथापि साऽल्पत्वाद् नेह विवक्षिता, विरतिशब्देन इह सर्वविरतेरेव विवक्षितत्वादिति । तथा 'पञ्चसु' गुणस्थानकेषु प्रमत्ताप्रमत्तापूर्वकरणानिवृत्तिबादरसूक्ष्मसम्परायलक्षणेषु द्वौ प्रत्ययौ—कषाययोगाभिख्यौ यस्य स द्विप्रत्ययो बन्धो भवति । इदमुक्त भवति—मिथ्यात्वाविरतिप्रत्ययद्वयस्य एतेष्वभावात् शेषेण कषाययोगप्रत्ययद्वयेनाऽमी प्रमत्तादय कर्म बध्नन्तीति । तथा 'त्रिषु' उपशान्तमोहक्षीणमोहसयोगिकेवलिलक्षणेषु गुणस्थानकेषु एक एव मिथ्यात्वाविरतिकषायाभावाद् योगलक्षण प्रत्ययो यस्य स एकप्रत्ययो भवति । अयोगिकेवली भगवान् सर्वथाऽप्यबन्धक इति ॥ ५२ ॥ भाविता मूलबन्धहेतवो गुणस्थानकेषु । सम्प्रत्येतानेव मूलबन्धहेतून् विनेयवर्गानुग्रहार्थमुत्तरप्रकृतीराश्रित्य चिन्तयन्नाह—

चउमिच्छमिच्छअविरइपच्चइया सायसोलपणतीसा ।
जोग विणु तिपच्चइयाऽऽहारगजिणवज्ज सेसाओ ॥ ५३ ॥

प्रत्ययशब्दस्य प्रत्येक सम्बन्धात् चतु प्रत्ययिका सातलक्षणा प्रकृति । मिथ्यात्वप्रत्ययिका षोडश प्रकृतय । मिथ्यात्वाविरतिप्रत्ययिका पञ्चत्रिंशत् प्रकृतय । योगं विना 'त्रिप्रत्ययिका ' मिथ्यात्वाविरतिकषायप्रत्ययिका आहारकद्विकजिनवर्जा शेषा प्रकृतय इति गाथाक्षरार्थ । भावार्थ पुनरयम्—सातलक्षणा प्रकृतिश्चत्वार प्रत्यया मिथ्यात्वाविरतिकषाययोगा यस्या सा चतु प्रत्ययिका, "अतोऽनेकस्वराद्" (सि० ७–२–६) इतीकप्रत्यय , मिथ्यात्वादिभिश्चतुर्भिरपि प्रत्ययै सात बध्यत इत्यर्थ । तथाहि—सात मिथ्यादृष्टौ बध्यत इति मिथ्यात्वप्रत्ययम्, शेषा अप्यविरत्यादयस्तत्र प्रत्यया सन्ति, केवल मिथ्यात्वस्य एवेह प्राधान्येन विवक्षितत्वात् ते तदन्तर्गतत्वेनैव विवक्षिता , एवमुत्तरत्रापि । तदेव मिथ्यात्वाभावेऽप्यविरतिमत्सु सास्वादनादिषु बध्यत इत्यविरतिप्रत्ययम् । तदेव कषाययोगवत्सु प्रमत्तादिषु सूक्ष्मसम्परायावसानेषु बध्यत इति कषायप्रत्ययम्, योगप्रत्ययस्तु पूर्ववत् तदन्तर्गतो विवक्ष्यते । तदेवोपशान्तादिषु केवलयोगवत्सु मिथ्यात्वाविरतिकषायाभावेऽपि बध्यत इति योगप्रत्ययमिति । एव सातलक्षणा प्रकृतिश्चतु प्रत्ययिका । तथा मिथ्यात्वप्रत्ययिका षोडश प्रकृतय । इह यासा कर्मस्तवे—"नरयतिग ३ जाइ ४ थावरचउ ४ हुडा १ऽऽयव १ छिवट्ठ १ नपु १ मिच्छ १ । सोलन्तो",

(गा० ३) इति गाथावयवेन नारकत्रिकादिषोडशप्रकृतीनां मिथ्यादृष्टावन्त उक्तस्ता मिथ्यात्वप्रत्यया भवन्तीत्यर्थः । तद्भावे बध्यन्ते तदभावे तूत्तरत्र सास्वादनादिषु न बध्यन्त इत्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां मिथ्यात्वमेवासां प्रधानं कारणम्, शेषप्रत्ययत्रयं तु गौणमिति । तथा मिथ्यात्वाविरतिप्रत्ययिकाः पञ्चत्रिंशत् प्रकृतयः, तथाहि—"सासणि तिरि ३ थीण ३ दुहग ३ तिग ॥ अण ४ मज्झागिइ ४ संघयणचउ ४ नि १ उज्जोय १ कुखगइ १ त्थि १ त्ति ।" (कर्मस्त० गा० ४-५) इति सूत्रावयवेन तिर्यक्त्रिकप्रभृतिपञ्चविंशतिप्रकृतीनां सास्वादने बन्धव्यवच्छेद उक्तः, तथा—"वइर १ नरतिय ३ बियकसाया ४ । उरलदुगंतो २" (कर्मस्त० गा० ६) इति सूत्रावयवेन वज्रर्षभनाराचादीनां दशानां प्रकृतीनां देशविरते बन्धव्यवच्छेद उक्तः, एवं च पञ्चविंशतेर्दशानां च मीलने पञ्चत्रिंशत् प्रकृतयो मिथ्यात्वाविरतिप्रत्ययिका एताः, शेषप्रत्ययद्वयं तु गौणम्, तद्भावेऽप्युत्तरत्र तद्बन्धाभावादिति भावः । भणितशेषा आहारकद्विकतीर्थकरनामवर्जाः सर्वा अपि प्रकृतयो योगवर्जत्रिप्रत्ययिका भवन्ति, मिथ्यादृष्ट्यविरतेषु सकषायेषु च सर्वेषु सूक्ष्मसम्परायावसानेषु यथासम्भवं बध्यन्त इति मिथ्यात्वाविरतिकषायलक्षणप्रत्ययत्रयनिबन्धना भवन्तीत्यर्थः । उपशान्तमोहादिषु केवलयोगवत्सु योगसद्भावेऽप्येतासां बन्धो नास्तीति योगप्रत्ययवर्जनम्, अन्वयव्यतिरेकसमधिगम्यत्वात् कार्यकारणभावस्येति हृदयम् । आहारकशरीराहारकाङ्गोपाङ्गलक्षणाहारकद्विकतीर्थकरनाम्नोस्तु प्रत्ययः "सम्मत्तगुणनिमित्तं, तित्थयरं संजमेण आहारं ।" (बृहच्छत० गा० ४५) इति वचनात् संयमः सम्यक्त्वं चाभिहितं इतीह तद्वर्जनमिति ॥ ५३ ॥

उक्तं प्रासङ्गिकम् । इदानीमुत्तरबन्धभेदान् गुणस्थानकेषु चिन्तयन्नाह—

पणपन्न पन्न तियछहिय चत्त गुणचत्त छचउदुगवीसा ।
सोलस दस नव नव सत्त हेउणो न उ अजोगिम्मि ॥ ५४ ॥

मिथ्यादृष्टौ पञ्चपञ्चाशद् बन्धहेतवः १ । सासादने पञ्चाशद् बन्धहेतवः २ । चत्तशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धात् त्र्यधिकचत्वारिंशदित्यर्थः, बन्धहेतवो मिश्रगुणस्थानके ३ । षडधिकचत्वारिंशद् बन्धहेतवोऽविरतिगुणस्थानके ४ । एकोनचत्वारिंशद् बन्धहेतवो देशविरतगुणस्थानके ५ । विंशतिशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धात् षड्विंशतिर्बन्धहेतवः प्रमत्तगुणस्थाने ६ । चतुर्विंशतिर्बन्धहेतवोऽप्रमत्तगुणस्थानके ७ । द्वाविंशतिर्बन्धहेतवोऽपूर्वकरणे ८ । षोडश बन्धहेतवोऽनिवृत्तिबादरे ९ । दश बन्धहेतवः सूक्ष्मसम्पराये १० । नव बन्धहेतवः उपशान्तमोहे ११ । नव बन्धहेतवः क्षीणमोहे १२ । सप्त बन्धहेतवः सयोगिकेवलिगुणस्थाने १३ । 'न तु' नैवायोगिन्येकोऽपि बन्धहेतुरस्ति, बन्धाभावादेवेति ॥ ५४ ॥ अथामूनेव बन्धहेतून् भावयन्नाह—

पणपन्न मिच्छि हारगदुगूण सासाणि पन्न मिच्छ विणा ।
मिस्सदुगकम्मअण विणु तिचत्त मीसे अह छचत्ता ॥ ५५ ॥

मिथ्यादृष्टौ आहारकाहारकमिश्रलक्षणद्विकोनाः पञ्चपञ्चाशद् बन्धहेतवो भवन्ति, आहारकद्विकवर्जनं तु "संयमवतां तदुदयो नान्यस्य" इति वचनात् । सास्वादने मिथ्यात्वपञ्चकेन विना पञ्चाशद् बन्धहेतवो भवन्ति, पूर्वोक्तायाः पञ्चपञ्चाशतो मिथ्यात्वपञ्चकेऽपनीते पञ्चाशद् बन्धहे-

१ सम्यक्त्वगुणनिमित्तं तीर्थकरं संयमेनाहारकम् ॥

तत्र सासादने द्रष्टव्या । मिश्रे त्रिचत्वारिंशद् बन्धहेतवो भवन्ति, कथम् ? इत्याह—'मिश्र द्विकम्' औदारिकमिश्रवैक्रियमिश्रलक्षण "कम्म" त्ति कार्मणशरीर "अण" त्ति अनन्तानुबन्धिनस्तैर्विना । इयमत्र भावना—"न सम्ममिच्छो कुणइ काल" इति वचनात् सम्यग्मिथ्यादृष्टे परलोकगमनाभावाद् औदारिकमिश्रवैक्रियमिश्रद्विक कार्मण च न सम्भवति, अनन्तानुबन्ध्युदयस्य चास्य निषिद्धत्वाद् अनन्तानुबन्धिचतुष्टय च नास्ति, अत एतेषु सप्तसु पूर्वोक्ताया पञ्चाशतोऽपनीतेषु शेषास्त्रिचत्वारिंशद् बन्धहेतवो मिश्रे भवन्ति । 'अथ' अनन्तरं षट्चत्वारिंशद् बन्धहेतवो भवन्ति ॥ ५५ ॥

सदुमिस्सकम्म अजए, अविरइकम्मुरलमीसबिकसाए ।
मुत्तु गुणचत्त देसे, छवीस साहारदु पमत्ते ॥ ५६ ॥

क ? इत्याह—'अयते' अविरते, कथम् ? इत्याह—"सदुमिस्सकम्म" त्ति द्वयोर्मिश्रयो समाहारो द्विमिश्रम्, द्विमिश्र च कार्मण च द्विमिश्रकार्मणम्, सह द्विमिश्रकार्मणेन वर्तते या त्रिचत्वारिंशत् । इयमत्र भावना—अविरतसम्यग्दृष्टे परलोकगमनसम्भवात् पूर्वापनीतमौदारिकमिश्रवैक्रियमिश्रलक्षण द्विक कार्मण च पूर्वोक्ताया त्रिचत्वारिंशति पुन प्रक्षिप्यते ततोऽविरते षट्चत्वारिंशद् बन्धहेतवो भवन्ति । तथा 'देसे' देशविरते एकोनचत्वारिंशद् बन्धहेतवो भवन्ति, कथम् ? इत्याह—अविरति —त्रसासंयमरूपा कार्मणम् औदारिकमिश्र द्वितीयकषायान्—अप्रत्याख्यानावरणान् मुक्त्वा शेषा एकोनचत्वारिंशदिति । अत्रायमाशय —विग्रहगतावपर्याप्तकावस्थाया च देशविरतेरभावात् कार्मणौदारिकमिश्रद्वय न सम्भवति, त्रसासयमाद् निरतत्वात् त्रसाविरतिर्न जायतेति ।

ननु त्रसासयमात् सङ्कल्पजाद् एवासौ विरतो न त्वारम्भजादपि तत् कथमसौ त्रसाविरति सर्वाऽप्यपनीयते ?, सत्यम्, किन्तु गृहिणामशक्यपरिहारत्वेन सत्यप्यारम्भजा त्रसाविरतिर्न विवक्षितेत्यदोष । एतच्च बृहच्छतकबृहच्चूर्णिमनुसृत्य लिखितमिति न स्वमनीषिका परिभावनीया । तथाऽप्रत्याख्यानावरणोदयस्याऽऽस निषिद्धत्वाद् इत्यप्रत्याख्यानावरणचतुष्टय न घटां प्राञ्चति । तत एते सप्त पूर्वोक्ताया षट्चत्वारिंशतोऽपनीयन्ते तत एकोनचत्वारिंशद् बन्धहेतव शेषा देशविरते भवन्ति । तथा षड्विंशतिर्बन्धहेतव प्रमत्ते भवन्ति । "साहारदु" त्ति सह आहारद्विकेन—आहारकाहारकमिश्रलक्षणेन वर्तत इति साहारकद्विका ॥ ५६ ॥

अविरइ इगार तिकसायवज्ज अपमत्ति मीसदुगरहिया ।
चउवीस अपुव्वे पुण, दुवीस अविउव्वियाहारा ॥ ५७ ॥

त्रसाविरतेर्देशविरतेऽपनयनात् शेषा एकादशाविरतय इह गृह्यन्ते, तृतीया कषायास्तिकषाया —प्रत्याख्यानावरणास्तद्वर्जा —तद्विरहिता साहारकद्विका च सैव एकोनचत्वारिंशत् षड्विंशतिर्भवति । इदमत्र हृदयम्—प्रमत्तगुणस्थान एकादशधा अविरति प्रत्याख्यानावरणचतुष्टय च न सम्भवति, आहारकद्विक त्र सम्भवति, तत पूर्वोक्ताया एकोनचत्वारिंशत पञ्चदशकेऽपनीते द्विके च तत्र प्रक्षिप्ते षड्विंशतिर्बन्धहेतव प्रमत्ते भवन्तीति । तथा अप्रमत्तस्य लब्ध्यनुपजीवनेनाऽऽहारकमिश्रवैक्रियमिश्रलक्षणमिश्रद्विकरहिता सैव षड्विंशतिश्चतुर्विंशतिर्बन्धहेतवोऽप्रमत्ते

भवन्ति । 'अपूर्वे' अपूर्वकरणे पुनः सैव चतुर्विंशतिर्वैक्रियाहारकरहिता द्वाविंशतिर्बन्धहेतवो भवन्तीति ॥ ५७ ॥

अछहास सोल बायरि, सुहुमे दस वेयसंजलणति विणा ।
खीणुवसंति अलोभा, सजोगि पुव्वुत्त सग जोगा ॥ ५८ ॥

एते च पूर्वोक्ता द्वाविंशतिर्बन्धहेतव 'अछहासा' हास्यरत्यरतिशोकभयजुगुप्सालक्षणहास्यषट्करहिता षोडश बन्धहेतव "बायरि" त्ति अनिवृत्तिबादरसम्परायगुणस्थानके भवन्ति, हास्यादिषट्कस्यापूर्वकरणगुणस्थानक एव व्यवच्छिन्नत्वादिति भाव । तथा त एव षोडश त्रिकशब्दस्य प्रत्येक सम्बन्धाद् वेदत्रिक–स्त्रीपुनपुंसकलक्षण सञ्ज्वलनत्रिक–सञ्ज्वलनक्रोधमानमायारूप तेन विना दश बन्धहेतव सूक्ष्मसम्पराये भवन्ति, वेदत्रयस्य सञ्ज्वलनक्रोधमानमायात्रिकस्य चानिवृत्तिबादरसम्परायगुणस्थानक एव व्यवच्छिन्नत्वात् । त एव दश 'अलोभा' लोभरहिता सन्तो नव बन्धहेतव क्षीणमोहे उपशान्तमोहे च भवन्ति, मनोयोगचतुष्कवाग्योगचतुष्कौदारिककाययोगलक्षणा नव बन्धहेतव उपशान्तमोहे क्षीणमोहे च प्राप्यन्ते, न तु लोभ, तस्य सूक्ष्मसम्पराय एव व्यवच्छिन्नत्वात् । सयोगिकेवलिनि पूर्वोक्ता सप्त योगा, तथाहि—औदारिकमौदारिकमिश्र कार्मण प्रथमान्तिमौ मनोयोगौ प्रथमान्तिमौ वाग्योगौ चेति । तत्रौदारिक सयोग्यवस्थायाम्[1] औदारिकमिश्रकार्मणकाययोगौ समुद्घातावस्थायामेव वेदितव्यौ ।

मिश्रौदारिकयोक्ता, सप्तमषष्ठद्वितीयेषु ॥ (प्रशम० का० २७६)

कार्मणशरीरयोगी, चतुर्थके पञ्चमे तृतीये च । (प्रशम० का० २७७) इति ।

प्रथमान्तिममनोयोगौ भगवतोऽनुत्तरसुरादिभिर्मनसा पृष्टस्य मनसैव देशनात्, प्रथमान्तिमवाग्योगौ तु देशनादिकाले । अयोगिकेवलिनि न कश्चिद् बन्धहेतु, योगस्यापि व्यवच्छिन्नत्वात् ॥ ५८ ॥ उक्ता गुणस्थानकेषु बन्धहेतव । सम्प्रति गुणस्थानकेष्वेव बन्ध निरूपयन्नाह—

अपमत्तंता सत्तट्ठ मीसअप्पुव्वबायरा सत्त ।
बंधइ छ स्सुहुमो एगमुवरिमाऽबंधगाऽजोगी ॥ ५९ ॥

मिथ्यादृष्टिप्रभृतयोऽप्रमत्तान्ता सप्ताष्टौ वा कर्माणि बध्नन्ति, आयुर्बन्धकालेऽष्टौ शेषकाल तु सप्त । "मीसअप्पुव्वबायरा" इति मिश्रापूर्वकरणानिवृत्तिबादरा सप्तैव बध्नन्ति, तेषामायुर्बन्धाभावात् । तत्र मिश्रस्य तथास्वाभाव्याद् इतरयो पुनरतिविशुद्धत्वाद् आयुर्बन्धस्य च घोलनापरिणामनिबन्धनत्वात् । "छ स्सुहुमु" त्ति सूक्ष्मसम्परायो मोहनीयायुर्वर्जानि षट् कर्माणि बध्नाति, मोहनीयबन्धस्य बादरकषायोदयनिमित्तत्वात्, तस्य च तदभावात्, आयुर्बन्धाभावस्त्वतिविशुद्धत्वादवसेय । "एगमुवरिम" त्ति 'एक' सातवेदनीय कर्म 'उपरितना' सूक्ष्मसम्परायाद् उपरिष्टाद्वर्तिन उपशान्तमोहक्षीणमोहसयोगिकेवलिनो बध्नन्ति, न शेषकर्माणि, तद्बन्धहेतुत्वाभावात् । 'अबन्धक' सर्वकर्मप्रकृतिबन्धरहित 'अयोगी' चरमगुणस्थानकवर्ती, सर्वबन्धहेतुरवाभावादिति ॥ ५९ ॥ उक्ता गुणस्थानकेषु बन्धस्थानयोजना । साम्प्रत गुणस्थानकेष्वेवोदयसत्तास्थानयोजना निरूपयन्नाह—

---

१ सयोग्यवस्था° क० ख० ग० घ० ङ० ॥

आसुहुम सतुदए, अट्ठ वि मोह विणु सत्त खीणम्मि ।
चउ चरिमदुगे अट्ठ उ, सते उवसंति सत्तुदए ॥ ६० ॥

सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानकमभिव्याप्य सत्तायामुदये चाष्टावपि कर्मप्रकृतयो भवन्ति । अयमर्थ —मिथ्यादृष्टिगुणस्थानकमारभ्य सूक्ष्मसम्पराय यावत् सत्तायामुदये चाष्टावपि कर्माणि प्राप्यन्ते । 'मोह विना' मोहनीय वर्जयित्वा सप्त कर्मप्रकृतयो भवन्ति 'क्षीणे' क्षीणमोहगुणस्थानके, सत्तायामुदये च मोहनीयस्य क्षीणत्वात् । "चउ चरिमदुगे" त्ति 'चरमद्विके' सयोगयोगिकेवलिगुणस्थानद्वये सत्तायामुदये च चतस्रोऽघातिकर्मप्रकृतयो भवन्ति, तत्र घातिकर्मचतुष्टयस्य क्षीणत्वात् । "अट्ठ उ सते उवसंति सत्तुदए" त्ति तुशब्दस्य व्यवहितसम्बन्धाद् उपशान्तमोहगुणस्थानके पुनरष्टावपि कर्मप्रकृतय सत्ताया प्राप्यन्ते, सप्तोदये मोहनीयोदयाभावादिति भाव ॥ ६० ॥

उक्ता सत्तोदयस्थानयोजना । साम्प्रतमुदीरणास्थानानि गुणस्थानकेषु निरूपयिषुराह—

उइरंति पमत्तंता, सगट्ठ मीसट्ठ वेयआउ विणा ।
छग अपमत्ताइ तओ, छ पंच सुहुमो पणुवसंतो ॥ ६१ ॥

मिथ्यादृष्टिप्रभृतय प्रमत्तान्ता यावद् अद्याप्यनुभूयमानभवायुरावलिकाशेष न भवति तावत् सर्वेऽप्यमी निरन्तरमष्टावपि कर्माण्युदीरयन्ति । आवलिकावशेषे पुनरनुभूयमाने भवायुषि सप्तैव, आवलिकावशेषस्य कर्मण उदीरणाया अभावात्, तथास्वाभाव्यात् । "मीसट्ठ" त्ति सम्यग्मिथ्यादृष्टि पुनरष्टावेव कर्माण्युदीरयति, न तु कदाचनापि सप्त, सम्यग्मिथ्यादृष्टिगुणस्थानके वर्तमानस्य सत आयुष आवलिकावशेषत्वाभावात् । स ह्यन्तर्मुहूर्तावशेषायुष्क एव तद्भाव परित्यज्य सम्यक्त्व मिथ्यात्व वा नियमात् प्रतिपद्यत इति । 'अप्रमत्तादयस्तथ' अप्रमत्तापूर्वकरणानिवृत्तिबादरलक्षणा 'वेद्यायुर्विना' वेदनीयायुषी अन्तरेण षट् कर्माणि उदीरयन्ति, तेषामतिविशुद्धतया वेदनीयायुषोरुदीरणायोग्याध्यवसायस्थानाभावात् । "छ पंच सुहुमो" त्ति ['सूक्ष्म ' सूक्ष्मसम्पराय षट् पञ्च वा कर्माण्युदीरयति ।] तत्र षड् अनन्तरोक्तानि, तानि च तावद् उदीरयति यावद् मोहनीयमावलिकावशेष न भवति । आवलिकावशेषे च मोहनीये तस्याप्युदीरणाया अभावात् शेषाणि पञ्च कर्माण्युदीरयति । "पणुवसंतु" त्ति उपशान्तमोह पञ्च कर्माण्युदीरयति न वेदनीयायुर्मोहनीयकर्माणि, तत्र वेदनीयायुषो कारण प्रागेवोक्तम्, मोहनीय तूदयाभावाद् नोदीर्यते, "वेद्यमानमेवोदीर्यते" इति वचनादिति ॥ ६१ ॥

पण दो खीण दु जोगी णुदीरगु अजोगि थेव उवसंता ।
संखगुण खीण सुहुमा, नियट्टिअप्पुव्व सम अहिया ॥ ६२ ॥

क्षीणमोहोऽनन्तरोक्तानि पञ्च कर्माण्युदीरयति । तानि च तावद् उदीरयति यावद् ज्ञानावरणदर्शनावरणान्तरायाण्यावलिकाप्रविष्टानि न भवन्ति, आवलिकाप्रविष्टेषु तु तेषु तेषामप्युदीरणाया अभावात् । द्वे एव नामगोत्रलक्षणे कर्मणी उदीरयति । "दु जोगि" त्ति 'द्वे' कर्मणी नामगोत्राख्ये योगा नाम—मनोवाक्कायरूपा विद्यन्ते यस्य स योगी—सयोगिकेवली उदीरयति, न शेषाणि । घातिकर्मचतुष्टय तु मूलत एव क्षीणमिति न तस्योदीरणासम्भव , वेदनीयायुषो-

स्तूदीरणा पूर्वोक्तकारणादेव न भवति । "णुदीरगु अजोगि" त्ति अयोगिकेवली न कस्यापि कर्मण उदीरक , योगसव्यपेक्षत्वाद् उदीरणाया , तस्य च योगाभावादिति ॥

उक्ता गुणस्थानकेषूदीरणास्थानयोजना । सम्प्रति गुणस्थानकेष्वेव वर्तमानाना जन्तूनामल्प-त्वबहुत्वमाह्—"थेव उवसत" त्ति स्तोका 'उपशान्ता' उपशान्तमोहगुणस्थानवर्तिनो जीवा , यतस्ते प्रतिपद्यमानका उत्कर्षतोऽपि चतु पञ्चाशत्प्रमाणा एव प्राप्यन्त इति । तेभ्य सकाशात् क्षीणमोहा सङ्ख्येयगुणा , यतस्ते प्रतिपद्यमानका एकस्मिन् समयेऽष्टोत्तरशतप्रमाणा अपि लभ्यन्ते । एतच्चोत्कृष्टपदापेक्षयोक्तम् अन्यथा कदाचिद् विपर्ययोऽपि द्रष्टव्य —स्तोका क्षीणमोहा , बहवस्तु तेभ्य उपशान्तमोहा । तथा तेभ्य क्षीणमोहेभ्य सकाशात् सूक्ष्मसम्परायानिवृत्तिबा-दरापूर्वकरणा विशेषाधिका । स्वस्थाने पुनरेते चिन्त्यमानास्त्रयोऽपि 'समा' तुल्या इति ॥ ६२ ॥

जोगि अपमत्त इयरे, संखगुणा देससासणामीसा ।
अविरय अजोगिमिच्छा, असख चउरो दुवे णंता ॥ ६३ ॥

तेभ्य सूक्ष्मादिभ्य सयोगिकेवलिन सङ्ख्यातगुणा , तेषा कोटीपृथक्त्वेन लभ्यमानत्वात् । तेभ्योऽप्रमत्ता सङ्ख्येयगुणा , कोटीसहस्रपृथक्त्वेन प्राप्यमाणत्वात् । तेभ्य "इयरे" त्ति अप्र-मत्तप्रतियोगिन प्रमत्ता सङ्ख्येयगुणा । प्रमादभावो हि बहूना बहुकाल च लभ्यते विपर्ययेण त्वप्रमाद इति न यथोक्तसङ्ख्याव्याघात । "देस" इत्यादि देशविरतसास्वादनमिश्राविरतलक्षणा-श्चत्वारो यथोत्तरमसङ्ख्येयगुणा । अयोगिमिथ्यादृष्टिलक्षणौ च द्वौ यथोत्तरमनन्तगुणौ । तत्र प्रमत्तेभ्यो देशविरता असङ्ख्येयगुणा , तिरश्चामप्यसङ्ख्यातानां देशविरतिभावात् । सास्वादनास्तु कदाचित् सर्वथैव न भवन्ति, यदा भवन्ति तदा जघन्येनैको द्वौ वा, उत्कर्षतस्तु देशविरते-भ्योऽप्यसङ्ख्येयगुणा । तेभ्योऽपि मिश्रा असङ्ख्येयगुणा , सास्वादनाद्धाया उत्कर्षतोऽपि षडाव-लिकामानतया स्तोकत्वात्, मिश्राद्धाया पुनरन्तर्मुहूर्तप्रमाणतया प्रभूतत्वात् । तेभ्योऽप्यसङ्ख्ये-यगुणा अविरतसम्यग्दृष्टय , तेषा गतिचतुष्टयेऽपि प्रभूततया सर्वकालसम्भवात् । तेभ्योऽप्ययो-गिकेवलिनो भवस्थाभवस्थभेदभिन्ना अनन्तगुणा , सिद्धानामनन्तत्वात् । तेभ्योऽप्यनन्तगुणा मिथ्यादृष्टय , साधारणवनस्पतीना सिद्धेभ्योऽप्यनन्तगुणत्वात् तेषा च मिथ्यादृष्टित्वादिति ॥ ६३ ॥

तदेवमभिहित गुणस्थानवर्तिना जीवानामल्पबहुत्वम् । इदानीं "नमिय जिण जियमग्गण" (गा० १) इत्यादि द्वारगाथासूचित भावद्वार व्याचिख्यासुराह—

उवसमखयमीसोदयपरिणामा दु नव ठार इगवीसा ।
तियभेय सन्निवाइय सम्म चरण पढम भावे ॥ ६४ ॥

इह किल षड् भावा भवन्ति । विशिष्टहेतुभि स्वतो वा जीवाना तत्तद्रूपतया भवनानि भवन्त्येभिरुपशमादिभि पर्यायैरिति वा भावा । किंनामान पुनस्ते ? इत्याह—"उवसमखय-मीसोदय" इत्यादि । अत्र सूचकत्वात् सूत्रस्यैव प्रयोग , "उवसम" त्ति औपशमिको भाव , "खय" त्ति क्षायिको भाव , "मीस" त्ति क्षायोपशमिको भाव , "उदय" त्ति औदयिको भाव , "परिणाम" त्ति पारिणामिको भाव । तत्रोपशमनमुपशम —विपाकप्रदेशरूपतया द्विवि-धस्याप्युदयस्य विष्कम्भण स एव तेन वा निर्वृत्त औपशमिक । क्षय —कर्मणोऽत्यन्तोच्छेद

स एव तेन वा निर्वृत्त क्षायिक । क्षयश्च—समुदीर्णस्याभाव उपशमश्च—अनुदीर्णस्य विष्कम्भितोदयत्व ताभ्या निर्वृत्त क्षायोपशमिक । उदय—शुभाशुभप्रकृतीना विपाकतोऽनुभवन स एव तेन वा निर्वृत्त औदयिक । परि—समन्ताद् नमन—जीवानामजीवानां च जीवत्वादिस्वरूपानुभवन प्रति प्रह्वीभवन परिणाम स एव तेन वा निर्वृत्त पारिणामिक । एतेषामेव यथासख्य भेदानाह—"दु नव ठार इगवीसा तिय भेय" त्ति द्वौ भेदावौपशमिकस्य १ नव भेदा क्षायिकस्य २ अष्टादश भेदा क्षायोपशमिकस्य ३ एकविंशतिर्भेदा औदयिकस्य ४ त्रयो भेदा पारिणामिकस्य ५ । "संनिवाइय" त्ति सम्—इति सहतरूपतया नि—इति नियत पतन—गमनमेकत्र वर्तन सन्निपात, कोऽर्थ ? एषामेव द्व्यादिसयोगप्रकारस्तेन निर्वृत्त सान्निपातिक, अय च षष्ठो भाव ६ । अथ "यथोद्देश निर्देश" इति न्यायात् औपशमिकादिभावाना द्व्यादीन् भेदान् प्रचिकटयिषुराह—"सम्म चरण पढम भावे" त्ति इह यथासख्य दर्शनमोहनीयचारित्रमोहनीयकर्मोपशमभूत सम्यक्त्व चरण च 'प्रथमे' आद्ये 'भावे' औपशमिकलक्षणे भवतीति शेष । इति निरूपितौ द्वौ भेदावौपशमिकभावस्य ॥ ६४ ॥

बीए केवलजुयल, सम्म दाणाइलद्धि पण चरण ।
तइए सेसुवओगा, पण लद्धी सम्म विरइदुग ॥ ६५ ॥

'द्वितीये' क्षायिके भावे नव भेदा भवन्ति । तथाहि—'केवलयुगल' केवलज्ञान केवलदर्शनम् । तत्र केवलज्ञानावरणक्षयभूतत्वेन क्षायिक केवलज्ञान १ केवलदर्शनावरणक्षयसम्भूत क्षायिक केवलदर्शन २ दर्शनमोहनीयक्षयसमुत्थ क्षायिक सम्यक्त्व ३ 'दानादिलब्धय पञ्च' दानलाभभोगोपभोगवीर्यलक्षणा दानादिरूपपञ्चप्रकारान्तरायक्षयोद्भूता क्षायिक्य ८ चारित्रमोहनीयक्षयसम्भूत च क्षायिक चरण यथाख्यातसज्ञितमित्यर्थ ९ । तथा 'तृतीये' क्षायोपशमिकभावेऽष्टादश भेदा भवन्ति । तद्यथा—'शेषोपयोगा' केवलज्ञानकेवलदर्शनव्यतिरिक्ता मतिज्ञानश्रुतज्ञानावधिज्ञानमन पर्यवज्ञानरूपज्ञानचतुष्टयमत्यज्ञानश्रुताज्ञानविभङ्गज्ञानरूपाज्ञानत्रिकचक्षुर्दर्शनाचक्षुर्दर्शनावधिदर्शनलक्षणदर्शनत्रिकस्वरूपा दशोपयोगा १० "पण लद्धि" त्ति पदैकदेशे पदसमुदायोपचाराद् दानलाभभोगोपभोगवीर्यलक्षणा लब्धय पञ्च ५ "सम्म" त्ति सम्यक्त्व १ 'विरतिद्विक' देशविरतिसर्वविरतिलक्षणम् २ इत्येतेऽष्टादश भेदा क्षायोपशमिके भवन्ति । तत्र चत्वारि ज्ञानानि त्रीण्यज्ञानानि ज्ञानावरणीयकर्मक्षयोपशमसम्भूतत्वेन, त्रीणि दर्शनानि दर्शनावरणक्षयोपशमोद्भूतत्वेन, दानादिपञ्चलब्धय पञ्चविधान्तरायकर्मक्षयोपशमजन्यत्वेन क्षायोपशमिकभावान्तर्वर्तिन्य इति ।

ननु दानादिलब्धय पूर्वं क्षायिकभाववर्तिन्य उक्ता, इह तु क्षायोपशमिक्य इति कथ न विरोध ? नैतदेवम्, अभिप्रायापरिज्ञानात् । इह दानादिलब्धयो द्विविधा भवन्ति—अन्तरायकर्मण क्षयसम्भविन्य क्षयोपशमसम्भविन्यश्च । तत्र च या क्षायिक्य पूर्वमुक्तास्ता क्षयसम्भूतत्वेन केवलिन एव, या पुनरिह क्षायोपशमिकान्तर्गता उच्यन्ते ता क्षयोपशमसम्भूताश्छद्मस्थानामेव । सम्यक्त्वसर्वविरती अपि क्षायोपशमिके अत्र भावे, ते च यथासख्य दर्शनमोहनीयचारित्रमोहनीयक्षयोपशमोद्भवत्वेन प्रस्तुतभाव एव वर्तेते इति भाव । देशविरतिरप्यप्र-

त्याख्यानावरणक्षयोपशमजत्वेन क्षायोपशमिकभावे वर्तत एवेति ॥ ६५ ॥

अन्नाणमसिद्धत्तासंजमलेसाकसायगइवेया ।
मिच्छं तुरिए भव्वाभव्वत्तजियत्तपरिणामे ॥ ६६ ॥

अज्ञानम् १ असिद्धत्वम् २ असंयम ३ लेश्या —कृष्णनीलकापोततेज पद्मशुक्ललेश्याभेदात् पद् ९ कषाया —क्रोधमानमायालोभाख्याश्चत्वार १३ गति —नरकतिर्यग्मनुष्यसुरगतिभेदाच्चतुर्धा १७ वेदा —स्त्रीपुनपुसकाख्यास्त्रय २० मिथ्यात्वम् २१ इत्येते एकविंशतिभेदा 'तुर्ये' चतुर्थे औदयिके भावे भवन्तीत्यक्षरार्थ । भावार्थ पुनरयम्—इहासदध्यवसायात्मक सज्ज्ञानमप्यज्ञान तच्च मिथ्यात्वोदयजमेव । यदभ्यधायि—

जह दुवयणमवयण, कुच्छिय सील असीलमसईए ।
भन्नइ तह नाण पि हु, मिच्छद्दिट्ठिस्स अन्नाण ॥ (विशेषा० गा० ५२०)

असिद्धत्वमपि सिद्धत्वाभावरूपमष्टमकारकर्मोदयजमेव । असंयम —अविरतत्व तदप्यप्रत्याख्यानावरणोदयाद् जायते । लेश्यास्तु येषा मते कषायनिष्यन्दो लेश्या तन्मतेन कषायमोहनीयोदयजत्वाद् औदयिक्य , यन्मतेन तु योगपरिणामो लेश्या तदभिप्रायेण योगत्रयजनककर्मोदयप्रभवा , येषा त्वष्टकर्मपरिणामो लेश्यास्तन्मतेन ससारित्वासिद्धत्ववद् अष्टप्रकारकर्मोदयजा इति । कषाया —क्रोधमानमायालोभरूपा मोहनीयकर्मोदयादेव भवन्ति । इह गतय —गतिनामकर्मोदयादेव नारकत्वतिर्यक्त्वमनुजत्वदेवत्वलक्षणपर्याया जायन्त इति । वेदा —स्त्रीपुंनपुसकाख्या नोकषायमोहनीयोदयादेव जायमाना स्पष्टमौदयिका एवेति । मिथ्यात्वमपि अतत्त्वश्रद्धानरूप मिथ्यात्वमोहनीयोदयजमेव इत्यौदयिक प्रतीतमिति ।

ननु निद्रापञ्चकसातादिवेदनीयहास्यरत्यरतिप्रभृतय प्रभूततरभावा अन्येऽपि कर्मोदयजन्या सन्ति तत् किमित्येतावन्त एवैते निर्दिष्टा ?, सत्यम् , उपलक्षणत्वादन्येऽपि द्रष्टव्या , केवल पूर्वशास्त्रेषु प्राय एतावन्त एव निर्दिष्टा दृश्यन्त इत्यत्राप्येतावन्त एवास्माभि प्रदर्शिता । तथा भव्यत्वम् १ अभव्यत्व २ जीवत्वम् ३ इत्येते त्रयो भेदा पारिणामिके भावे भवन्ति । तदेव द्विभेद औपशमिको भाव २ नवभेद क्षायिक ९ अष्टादशभेद क्षायोपशमिक १८ एकविंशतिभेद औदयिक. २१ त्रिभेद पारिणामिक ३ । सर्वेऽपि भावपञ्चकभेदास्त्रिपञ्चाशदिति ॥६६॥

प्ररूपित सप्रभेद भावपञ्चकम् । अधुना सान्निपातिकाख्यषष्ठभावभेदप्ररूपणायोपक्रम्यते—तत्र च यद्यप्यौपशमिकादिभावाना पञ्चानामपि द्विकादिसयोगभङ्गा षड्विंशतिर्भवन्ति, तद्यथा—औपशमिक १ क्षायिक २ क्षायोपशमिक ३ औदयिक ४ पारिणामिक ५ इति भावपञ्चक पट्टकादावालिख्यते ततो दश द्विकसंयोगा अक्षसंचारणया लभ्यन्ते, दशैव त्रिकसंयोगा , पञ्च चतुष्कसंयोगा , एक पञ्चकसंयोग इति । तथापि षडेव सयोगा जीवेष्वविरुद्धा सम्भवन्ति । शेषास्तु विंशति. संयोगभङ्गा. प्ररूपणामात्रभावित्वेनाऽसम्भविन एव, अत सम्भविषड्भेदद्वारेण गत्याद्याश्रिता यावन्त सान्निपातिकभावभेदा. सम्भवन्ति यावन्तश्च न सम्भवन्ति तदेतत् प्रकटयन्नाह—

१ यथा दुर्वचनमवचन कुत्सित शीलमशीलमसत्या । भण्यते तथा ज्ञानमपि खलु मिथ्यादृष्टेरज्ञानम् ॥

चउ चउगईसु मीसगपरिणामुदएहिँ चउ सखइएहिँ ।
उवसमजुएहिँ वा चउ, केवलि परिणामुदयखइए ॥ ६७ ॥

चत्वारो भङ्गाश्चतसृषु गतिषु चिन्त्यमानासु भवन्ति । कै कृत्वा ? इत्याह—मिश्रकपारिणामिकौदयिकैर्भावैर्व्यावर्णितस्वभावै । इयमत्र भावना—गतिचतुष्टयद्वारेण चिन्त्यमान क्षायोपशमिकपारिणामिकौदयिकलक्षण एकोऽप्ययं त्रिकसयोगरूप सान्निपातिको भावश्चतुर्धा भवति । तथाहि—क्षायोपशमिकानीन्द्रियाणि, पारिणामिक जीवत्वादि, औदयिकी नरकगति इत्येको नरकगत्याश्रितस्त्रिकसंयोग । एव तिर्यङ्मनुष्यदेवगत्यभिलापेन त्रयो भङ्गका अन्येऽपि वाच्या इति । एव चतुर्विधा गतिं प्रतीत्य त्रिकसयोगेन चत्वारो भेदा निरूपिता । सम्प्रति चतु संयोगेन चतुरो भेदानाह—"चउ सखइएहिँ" ति चत्वारो भेदा भवन्ति । कै ? इत्याह—सह क्षायिकेण वर्तन्ते ये क्षायोपशमिकपारिणामिकौदयिकलक्षणा भावास्ते सक्षायिकास्तै सक्षायिकै । अयमर्थ —गतिचतुष्टयद्वारेण चिन्त्यमान क्षायोपशमिकपारिणामिकौदयिकक्षायिकलक्षण एकोऽप्ययं चतुष्कसयोगरूप सान्निपातिको भावश्चतुर्धा भवति । तद्यथा—क्षायोपशमिकानीन्द्रियाणि, पारिणामिक जीवत्वादि, औदयिकी नरकगति , क्षायिक सम्यक्त्वमित्येको नरकगत्याश्रितश्चतुष्कसयोग । एव तिर्यङ्मनुष्यदेवगत्यभिलापेन त्रयो भङ्गका अन्येऽपि वाच्या इति । एव चतुर्विधा गतिं प्रतीत्यैकप्रकारेण चतुष्कसयोगेन चत्वारो भेदा निरूपिता । अधुना प्रकारान्तरेण चतुष्कसयोग एव चतुरो भेदानाह—"उवसमजुएहिँ वा चउ" त्ति वाशब्दोऽथवाशब्दार्थ , अथवा क्षायिकभावाभावे औपशमिकेन प्रदर्शितस्वरूपेण भावेन युतै—कलितै पूर्वोक्तै क्षायोपशमिकपारिणामिकौदयिकैरेव निष्पन्नस्य सान्निपातिकभावस्य गतिचतुष्क प्रतीत्य 'चत्वार' चतु सङ्ख्या भेदा भवन्तीति शेष । तद्यथा—क्षायोपशमिकानीन्द्रियाणि, पारिणामिक जीवत्वम्, औदयिकी नरकगति , औपशमिक सम्यक्त्वमित्येको नरकगत्याश्रितश्चतुष्कसंयोग । एव तिर्यङ्मनुष्यदेवगत्यभिलापेन त्रयो भङ्गा अन्येऽपि वाच्या । तदेवमभिहिता गतिचतुष्टयमाश्रित्यैकेन त्रिकसयोगेन द्वाभ्या चतुष्कसयोगाभ्या द्वादश विकल्पा । सम्प्रति शुद्धसयोगत्रयस्वरूप शेषभेदत्रय निरूपयिषुराह—"केवलि परिणामुदयखइए" त्ति 'केवली' केवलज्ञानी पारिणामिकौदयिकक्षायिके सान्निपातिकभेदे त्रिकसयोगरूपे वर्तते, यतस्तस्य पारिणामिक जीवत्वादि औदयिकी मनुजगति क्षायिकाणि ज्ञानदर्शनचारित्रादीनि । तदेवमेकस्त्रिकसंयोग केवलिषु सम्भवतीति ॥ ६७ ॥

खयपरिणामे सिद्धा, नराण पणजोगुवसमसेढीए ।
इय पनर सन्निवाइयभेया वीस असंभविणो ॥ ६८ ॥

'सिद्धा' निर्दग्धसकलकर्मेन्धना क्षायिकपारिणामिके सान्निपातिकभेदे द्विकसयोगरूपे वर्तन्ते । तथाहि—सिद्धाना क्षायिक ज्ञानदर्शनादि, पारिणामिक जीवत्वमिति द्विकसंयोगो भवति । 'नराणा' मनुष्याणा पञ्चकसंयोग सान्निपातिकभेद उपशमश्रेण्यामेव प्राप्यते, यतो यः क्षायिकसम्यग्दृष्टिर्मनुष्य उपशमश्रेणीं प्रतिपद्यते तस्यौपशमिक चारित्र क्षायिक सम्यक्त्व क्षायोपशमिकानीन्द्रियाणि औदयिकी मनुजगति पारिणामिक जीवत्व भव्यत्व चेति । 'इति'

अमुना पूर्वदर्शितप्रकारेण गत्यादिषु संयोगषट्कचिन्तनलक्षणेन परस्परविरोधाभावेन सम्भविन पञ्चदश सान्निपातिकभेदा षड्भावविकल्पा प्ररूपिता इति शेष ।-"वीसं असंभविणो" त्ति विंशतिसङ्ख्या सयोगा असम्भविन, प्ररूपणामात्रभावित्वेन न जीवेषु तेषा सम्भवोऽस्तीति ।

ननु षड्विंशतिभेदा प्राक् प्रदर्शिता, इह तु पञ्चदशाना विंशतेश्च मीलने पञ्चत्रिंशत्सङ्ख्या भेदा प्राप्नुवन्तीति कथ न विरोध ?, अत्रोच्यते—ननु विसरणशीलो देवानाप्रिय, यतोऽनन्तरमेवोदित गत्यादिद्वारेणैव ते चिन्त्यमाना पञ्चदश भवन्ति, मौला द्व्यादिसयोगास्तु षडेव । तथाहि—एको द्विकसंयोग, द्वौ द्वौ त्रिकचतुष्कसयोगौ, एक पञ्चकसयोग इति षण्णा विंशत्या मीलने षड्विंशतिसङ्ख्यैवोपजायत इति नात्र कश्चन विरोध इति ॥ ६८ ॥

अभिहिता सप्रभेदा जीवानामौपशमिकादयो भावा । साम्प्रतमेतानेव कर्मविषये चिन्तयन्नाह—

मोहेव समो मीसो, चउघाइसु अट्ठकम्मसु य सेसा ।
धम्माइ पारिणामियभावे खंधा उदइए वि ॥ ६९ ॥

'मोहे एव' षष्ठीसप्तम्योरर्थं प्रत्यभेदाद्, यथा वृक्षे शाखा वृक्षस्य शाखा, मोहनीयस्यैव कर्मण 'शम' उपशमोऽनुदयावस्था भस्मच्छन्नाग्नेरिव न तु समस्ताना कर्मणाम् । "मीसो चउघाइसु" त्ति 'मिश्र' क्षयोपशम, तत्र क्षय—उदयावस्थस्यात्यन्ताभावस्तेन सहोपशम—अनुदयावस्था दरविध्यातवह्निवत् क्षयोपशम, 'चतुर्षु' चतु सङ्ख्येषु 'घातिषु' ज्ञानादिगुणघातकेषु कर्मस्वित्युत्तरेणात्रापि सम्बन्धनीयम्, ततो ज्ञानावरणदर्शनावरणमोहनीयान्तरायलक्षणाना घातिकर्मणामेव क्षयोपशमो भवति न त्वघातिकर्मणामिति । 'अष्टकर्मसु' ज्ञानावरणाद्यन्तरायावसानेषु 'च' पुनरर्थे अष्टकर्मसु पुन 'शेषा' औदयिकक्षायिकपारिणामिकभावा भवन्ति । तत्रोदय—विपाकानुभवनम्, क्षय—अत्यन्ताभाव, परिणाम—तेन तेन रूपेण परिणमनमित्यक्षरार्थ । भावार्थस्त्वयम्—मोहनीयकर्मण पञ्चापि भावा प्राप्यन्ते । मोहनीयवर्जितज्ञानावरणदर्शनावरणान्तरायलक्षणाना तु त्रयाणा घातिकर्मणामुदयक्षयक्षयोपशमपरिणामस्वभावाश्चत्वार एव भावा भवन्ति न पुनरुपशम । शेषाणा वेदनीयायुर्नामगोत्रस्वरूपाणा चतुर्णामप्यघातिकर्मणामुदयक्षयपरिणामलक्षणास्त्रय एव भावा भवन्ति, न तु क्षयोपशमोपशमाविति ।

प्रतिपादिता जीवेषु तदाश्रितकर्मसु च पञ्चापि भावा । अधुना तान् अजीवेषु विभणिषुराह—"धम्माइ" इत्यादि । इह पदैकदेशे पदसमुदायोपचाराद् धर्मास्तिकाय १ अधर्मास्तिकाय २ आकाशास्तिकाय ३ पुद्गलास्तिकाय ४ कालद्रव्य ५ चेति परिग्रह । तत्र धारयति—गतिपरिणतजीवपुद्गलान्, तत्स्वभावतायामवस्थापयतीति धर्म, अस्तयश्चेह प्रदेशास्तेषां चीयत इति काय—सङ्घातोऽस्तिकाय, ततो धर्मश्चासावस्तिकायश्च धर्मास्तिकाय । तथा न धारयति—गतिपरिणतानपि जीवपुद्गलान् तत्स्वभावताया नावस्थापयति स्थित्युपष्टम्भकत्वात् तस्येत्यधर्म शेष प्राग्वत् । आ—समन्तात् काशते—अवगाहदानतया प्रतिभासत इत्याकाश, शेष प्राग्वत् । पूरणगलनधर्माण पुद्गला, पृषोदरादित्वाद् इष्टरूपसिद्धि, शेष पूर्ववत् । तथा "कलण् सङ्ख्याने" कलन काल, कल्यते वा—परिच्छिद्यते वस्त्वनेनेति काल, कलाना वा—समयादिरूपाणा समूह काल । आह सामूहिके प्रत्यये नपुसकलिङ्गेन भवितव्यम्, यथा कापोत मायूरं चेति, [तत्र,]

यदाहु श्रीहेमचन्द्रसूरिपादाः—उच्यते रूढिवशाद् लिङ्गस्य न नियम । यदाह पाणिनिः—लिङ्गमशिष्यम्, लोकाश्रयत्वात् तस्येति ।

तत काल एव तत्तद्रूपद्रवणाद् द्रव्यं कालद्रव्यम्, तत्र च कालस्य वस्तुत समयरूपस्य निर्विभागत्वाद् न देशप्रदेशसम्भव, अत एवात्रास्तिकायत्वाभावो वेदितव्य ।

नन्वतीतानागतवर्तमानभेदेन कालस्यापि त्रैविध्यमस्तीति किमिति नोक्तम् ?, सत्यम्, अतीतानागतयोर्विनष्टानुत्पन्नत्वेनाऽविद्यमानत्वाद् वार्तमानिक एव समयरूप सद्रूप ।

यद्येव तर्हि पूर्वसमयनिरोधेनैवोत्तरसमयसद्भावेऽसङ्ख्याताना समयाना समुदयसमित्याद्यसम्भवादावलिकादय शास्त्रान्तरप्रतिपादिता कालविशेषा कथ सङ्गच्छन्ते ?, सत्यम्, तत्त्वतो न सङ्गच्छन्त एव, केवल व्यवहारार्थमेव कल्पिता इति ।

अथ केऽमी आवलिकादय कालविशेषा ? इति विनेयजनपृच्छाया तदनुग्रहाय समयादारभ्य कालविशेषा प्रतिपाद्यन्ते । तत्र समयस्वरूपमेवमनुयोगद्वारे प्रतिपाद्यते, तद्यथा—

"से कि त समए ? समयस्स ण परूवण करिस्सामि—से जहानामए तुन्नागदारए सिया तरुणे बलव जुगव जुवाणे अप्पायके थिरग्गहत्थे दढपाणिपायपासपिट्ठतरोरुपरिणए तलजमलजुगलपरिघनिभबाहू चम्मिट्ठगदुहणमुट्ठियसमाहयनिचियगायकाए लघणपवणजवणवायामसमत्थे उरस्सबलसमन्नागए छेए दक्खे पत्तट्ठे कुसले मेहावी निउणे निउणसिप्पोवगए एग महइ पडसाडिय वा पट्टसाडिय वा गहाय सयराह हत्थमित्त ओसारिज्जा, तत्थ चोयए पन्नवग एव वयासी—जेण कालेण तेण तुन्नागदारएण तीसे पडसाडियाए वा पट्टसाडियाए वा सयराह हत्थमित्ते

---

१ अथ कोऽसौ समय ? समयस्य प्ररूपणा करिष्यामि—असौ यथानामक तुन्नागदारक स्यात् तरुण बलवान् युगवान् युवा अल्पातङ्क स्थिरहस्ताग्रो दृढपाणिपादपार्श्वपृष्ठान्तरोरुपरिणत तलयमलयुगलपरिघनिभबाहु चर्मेष्टकाद्रुघणमुष्टिकसमाहतनिचितगात्रकायो लङ्घनप्लवनजवनव्यायामसमर्थ उरस्यबलसमन्वागत छेको दक्ष प्राप्तार्थं कुशलो मेधावी निपुणो निपुणशिल्पोपगत एका महतीं पटशाटिका वा पट्टशाटिकां वा गृहीत्वा शीघ्र हस्तमात्रमपसारयेत्, तत्र चोदक प्रज्ञापकमेवमवादीत्—येन कालेन तेन तुन्नागदारकेण तस्या पटशाटिकाया वा पट्टशाटिकाया वा शीघ्र हस्तमात्र अपसारित स समयो भवति ? नायमर्थं समर्थ, कस्मात् ? यस्मात् सङ्ख्येयाना तन्तूनां समुदयसमितिसमागमेन पटशाटिका निष्पद्यते, उपरितने तन्तावच्छिन्ने आधस्त्यस्तन्तुर्न च्छिद्यते, अन्यस्मिन् काले उपरितनस्तन्तु छिद्यते अन्यस्मिन् काले आधस्त्य तन्तुश्छिद्यते, तस्मादसौ समयो न भवति । एव वदन्त प्रज्ञापक चोदक एवमवादीत्—येन कालेन तेन तुन्नागदारकेण तस्या पटशाटिकाया वा पट्टशाटिकाया वा उपरितनस्तन्तुश्छिन्न स समय ? न भवति, कस्मात् ? यस्मात् सङ्ख्येयानां पक्ष्मणा समुदयसमितिसमागमेनैकस्तन्तुर्निष्पद्यते, उपरितने पक्ष्मण्यच्छिन्ने आधस्त्य पक्ष्म न च्छिद्यते, अन्यस्मिन् काले उपरितन पक्ष्म च्छिद्यतेऽन्यस्मिन् काले आधस्त्य पक्ष्म च्छिद्यते, तस्मात् स समयो न भवति । एव वदन्त प्रज्ञापक चोदक एवमवादीत्—येन कालेन तेन तुन्नागदारकेण तस्य तन्तोरुपरितन पक्ष्म च्छिन्न स समय ? न भवति कस्मात् ? यस्मादनन्तानां सङ्घाताना समुदयसमितिसमागमेन एक पक्ष्म निष्पद्यते, उपरितने सङ्घातेऽविसङ्घातिते आधस्त्य सङ्घातो न विसङ्घात्यते, अन्यस्मिन् काल उपरितन सङ्घातो विसङ्घात्यतेऽन्यस्मिन् काले आधस्त्य सङ्घातो विसङ्घात्यते, तस्मात् स समयो न भवति । अतोऽपि सूक्ष्मतर समय प्रज्ञप्त श्रमणायुष्मन् ! ॥ असङ्ख्येयानां समयानां समुदयसमितिसमागमेन सैकाऽऽवलिकेति प्रोच्यते ॥

ओसारिए से समए भवइ ? नो इणट्ठे समट्ठे, कम्हा ? जम्हा सखिज्जाण ततूण समुदयसमिति-समागमेण[1] पडसाडिया निप्फज्जइ, उवरिल्लयम्मि ततुम्मि अच्छिन्ने हिट्ठिल्ले ततू न छिज्जइ, अन्नम्मि काले उवरिल्ले ततू छिज्जइ अन्नम्मि काले हिट्ठिल्ले ततू छिज्जइ, तम्हा से समए न भवइ । एव वयत पन्नवग चोयए एव वयासी—जेण कालेण तेण तुन्नागदारएण तीसे पड-साडियाए वा पट्टसाडियाए वा उवरिल्ले ततू छिन्ने से समए ? न भवइ, कम्हा ? जम्हा संखिज्जाण पम्हाण समुदयसमिइसमागमेण एगे ततू निप्फज्जइ, उवरिल्ले पम्हम्मि अच्छिन्ने हिट्ठिल्ले पम्हे न छिज्जइ, अन्नम्मि काले उवरिल्ले पम्हे छिज्जइ अन्नम्मि काले हिट्ठिल्ले पम्हे छिज्जइ, तम्हा से समए न भवइ । एव वयत पन्नवग चोयए एव वयासी—जेण कालेण तेण तुन्नागदारएण तस्स ततुस्स उवरिल्ले पम्हे छिन्ने से समए ? न भवइ, कम्हा ? जम्हा अणताण सघायाण समुदयसमिइसमागमेण एगे पम्हे निप्फज्जइ, उवरिल्ले सघाए अविसघाइए हिट्ठिल्ले सघाए न विसघाइज्जइ, अन्नम्मि काले उवरिल्ले सघाए विसघाइज्जइ अन्नम्मि काले हिट्ठिल्ले सघाए विसंघाइज्जइ, तम्हा से समए न भवइ । इत्तो वि ण सुहुमतराए समए पन्नत्ते समणाउसो ! १ (पत्र १७५–२) ॥ असंखिज्जाण समयाण समुदयसमिइसमागमेण सा एगा आवलिय त्ति पवुच्चइ २ (पत्र १७८–२) ॥

सङ्ख्येया आवलिका आन , एक उच्छ्वास इत्यर्थ ३ । ता एव सङ्ख्येया नि श्वास ४ । द्वयो-रपि काल प्राणु ५ । सप्तभि प्राणुभि स्तोक ६ । सप्तभि स्तोकैर्लव ७ । सप्तसप्तत्या लवाना मुहूर्त ८ । त्रिंशता मुहूर्तैरहोरात्र ९ । तै पञ्चदशभि पक्ष १० । ताभ्या द्वाभ्या मास ११ । मासद्वयेन ऋतु १२ । ऋतुत्रयमानमयनम् १३ । अयनद्वयेन सवत्सर १४ । पञ्च-भिस्तैर्युगम् १५ । विंशत्या युगैर्वर्षशतम् १६ । तैर्दशभिर्वर्षसहस्रम् १७ । तेषा शतेन वर्षलक्षम् १८ । चतुरशीत्या च वर्षलक्षै पूर्वाङ्ग भवति १९ । पूर्वाङ्ग चतुरशीतिवर्षलक्षैर्गुणित पूर्व भवति २०, तच्च सप्तति कोटिलक्षाणि षट्पञ्चाशच्च कोटिसहस्राणि वर्षाणाम् । उक्त च—

पुव्वस्स य परिमाण, सयरिं खलु हुंति कोडिलक्खाओ ।
छप्पन्न च सहस्सा, बोधव्वा वासकोडीण ॥ (जीवस० गा० ११३)

स्थापना—७०५६०००००००००० । इदमपि चतुरशीत्या लक्षैर्गुणित त्रुटिताङ्ग भवति २१ । एतदपि चतुरशीत्या लक्षैर्गुणित त्रुटितम् २२ । एतदपि चतुरशीतिलक्षैर्गुणितमटटाङ्गम् २३ । एतदपि चतुरशीत्या लक्षैर्गुणितमटटम् २४ । एव सर्वत्र पूर्व पूर्वो राशिश्चतुरशीतिलक्षस्वरूपेण गुणकारेण गुणित उत्तरोत्तरराशिरूपता प्रतिपद्यत इति प्रतिपत्तव्यम् । ततश्च अववाङ्ग २५ अवव २६ हुहूकाङ्ग २७ हुहूक २८ उत्पलाङ्ग २९ उत्पल ३० पद्माङ्ग ३१ पद्म ३२ नलिनाङ्ग ३३ नलिन ३४ अर्थनिपूराङ्ग ३५ अर्थनिपूर ३६ अयुताङ्ग ३७ अयुत ३८ नयुताङ्ग ३९ नयुत ४० प्रयुताङ्ग ४१ प्रयुत ४२ चूलिकाङ्ग ४३ चूलिका ४४ शीर्षप्रहेलिकाङ्ग ४५, एवमेते राशयश्चतुरशीतिलक्षस्वरूपेण गुणकारेण यथोत्तर वृद्धा द्रष्टव्यास्तावद् यावदिदमेव

१ °ण एगा प° अनुयोगद्वारे ॥ २–३ °ए भवइ ? न भ° अनुयोगद्वारे ॥ ४ पूर्वस्स च परिमाण सप्तति खलु भवति कोटिलक्षाणाम् । षट्पञ्चाशच्च सहस्रा ज्ञातव्या वर्षकोटीनाम् ॥

शीर्षप्रहेलिकाङ्ग चतुरशीतिलक्षैर्गुणित शीर्षप्रहेलिका भवति ४६ । अस्या स्वरूपमङ्कतोऽपि दर्श्यते—७५८२६३२५३०७३०१०२४११५७९७३५६९९७५६९६४०६२१८९६-६८४८०८०१८३२९६ अग्रे चत्वारिंश शून्यशतम् । तदेव शीर्षप्रहेलिकाया सर्वाण्यमूनि चतुर्नवत्यधिकशतसङ्ख्यान्यङ्कस्थानानि भवन्ति । एतस्माच्च परतोऽपि सङ्ख्येय कालोऽस्ति, स त्वनतिशयिनामसंव्यवहार्यत्वात् सर्पपोपमयाऽत्रैव वक्ष्यते । पल्योपमसागरोपमपुद्गलपरावर्तादिका-स्वरूप पुन स्वोपज्ञशतकटीकाया सविस्तरमभिहित तत एवावधारणीयम् ।

ततो धर्मास्तिकाय १ अधर्मास्तिकाय २ आकाशास्तिकाय ३ पुद्गलास्तिकाय ४ काल ५-द्रव्याणि 'पारिणामिके' तेन तेन रूपेण परिणमनस्वभावे पर्यायविशेषे वर्तन्त इति शेष । तथाहि—धर्माधर्माकाशास्तिकायानामनादिकालादारभ्य जीवाना पुद्गलाना च गतिस्थित्युपष्टम्भा-वकाशदानपरिणामेन परिणतत्वादनादिपारिणामिकभाववर्तित्वम् । कालरूपसमयस्याप्यपरापरस-मयोत्पत्तितयाऽऽवलिकादिपरिणामपरिणतत्वादनादिपारिणामिकभाववर्तित्वमेव । व्यणुकादिस्क-न्धाना सादिकालात् तेन तेन स्वभावेन परिणामात् सादिपारिणामिकत्व मेर्वादिस्कन्धाना त्वना-दिकालात् तेन तेन रूपेण परिणामादनादिपारिणामिकभाववर्तित्व चेति । आह किं सर्वेऽप्य-जीवा पारिणामिक एव भावे वर्तन्ते ? आहोश्वित् केचिदन्यस्मिन्नपि ? इत्याह—"खधा उदए वि" त्ति 'स्कन्धा' अनन्तपरमाण्वात्मका न तु केवलाणव , तेषां जीवेनाऽग्रहणात्, 'औद-यिकेऽपि' ओदयिकभावेऽपि, न केवल पारिणामिक इत्यपिशब्दार्थ । तथाहि—शरीरादिना-मोदयजनित औदारिकादिशरीरतया ओदारिकादीना स्कन्धानामेवोदय इति भाव । उदय एवौदयिक इति व्युत्पत्तिपक्षे तु कर्मस्कन्धलक्षणेष्वजीवेष्वौदयिकभावो भवतीति भाव । तथाहि—क्रोधाद्युदये जीवस्य कर्मस्कन्धानामुदयस्तेषामेवौदयिकत्वमिति ।

नन्वेव कर्मस्कन्धाश्रिता औपशमिकादयोऽपि भावा अजीवाना सम्भवन्त्यतस्तेषामपि भणन प्राप्नोति, सत्यम्, तेपामविवक्षितत्वात्, अत एव कैश्चिदजीवाना पारिणामिक एव भावोऽभ्यु पगम्यत इति ॥ ६९ ॥ व्याख्याता अजीवाश्रिता अपि भावा । सम्प्रति जीवगुणभूतेषु गुण-स्थानकेषु भावान् निरुरूपयिषुराह—

सम्माइचउसु तिग चउ, भावा चउ पणुवसामगुवसते ।
चउ खीणापुव्वि तिन्नि, सेसगुणट्ठाणगेगजिए ॥ ७० ॥

"सम्माइ" त्ति सम्यग्दृष्ट्यादिषु—अविरतसम्यग्दृष्टिप्रभृतिषु चतुर्षु—चतु सङ्ख्येष्वविरतसम्यग्दृ-ष्टिदेशविरतप्रमत्ताप्रमत्तलक्षणेषु गुणस्थानकेष्विति वक्ष्यमाणपदस्यात्रापि सम्बन्ध कार्य , "तिग चउ भाव" त्ति त्रयश्चत्वारो वा भावा प्राप्यन्त इति भाव । तत्र क्षायोपशमिकसम्यग्दृष्टेश्चतुर्ष्वपि गुणस्थानकेष्विमे त्रयोऽपि भावा लभ्यन्ते । तद्यथा—यथासम्भवमौदयिकी गति , क्षायोपश-मिकमिन्द्रियसम्यक्त्वादि, पारिणामिक जीवत्वमिति । क्षायिकसम्यग्दृष्टेरौपशमिकसम्यग्दृष्टेश्च चत्वारो भावा लभ्यन्ते, त्रयस्तावत् पूर्वोक्ता एव, चतुर्थस्तु क्षायिकसम्यग्दृष्टे क्षायिकसम्यक्त्वल क्षण , औपशमिकसम्यग्दृष्टे पुनरौपशमिकसम्यक्त्वस्वभाव इति । "चउ पणुवसामगुवसंते" त्ति चत्वार पञ्च वा भावा द्वयोरप्युपशमकोपशान्तयोर्भवन्ति । किमुक्त भवति ?—अनिवृत्तिबादर-

सूक्ष्मसम्परायलक्षणगुणस्थानकद्वयवर्ती जन्तुरुपशमक उच्यते, तस्य चत्वारः पञ्च वा भावा भवन्ति। कथम्? इति चेद्, उच्यते—त्रयस्तावत् पूर्ववदेव, चतुर्थस्तु क्षीणदर्शनत्रिकस्य श्रेणिमारोहत क्षायिकसम्यक्त्वलक्षणोऽन्यस्य पुनरौपशमिकस्वभाव इति । अमीषामेव चतुर्णां मध्येऽनिवृत्तिबादरसूक्ष्मसम्परायगुणस्थानकद्वयवर्तिनोऽप्यौपशमिकचारित्रस्य शास्त्रान्तरेषु प्रतिपादनाद् औपशमिकचारित्रप्रक्षेपे पञ्चम इति । 'उपशान्त' उपशान्तमोहगुणस्थानकवर्ती तस्यापि चत्वारः पञ्च वा भावा प्राप्यन्ते, ते चानन्तरोपशमकपदप्रदर्शिता एव । "चउ खीणापुव्वि" त्ति चत्वारो भावा 'क्षीणापूर्वयो' क्षीणमोहगुणस्थानकेऽपूर्वकरणगुणस्थानके चेत्यर्थ । तत्र क्षीणमोहे त्रय पूर्ववत्, चतुर्थ क्षायिकसम्यक्त्वचारित्रलक्षण, अपूर्वकरणे तु त्रय पूर्ववत्, चतुर्थ पुनः क्षायिकसम्यक्त्वस्वभाव औपशमिकसम्यक्त्वस्वभावो वेति । "तिन्नि सेसगुणट्ठाणगे" त्ति 'त्रय' त्रिसङ्ख्या भावा भवन्ति, केषु? इत्याह—विभक्तिलोपात् 'शेषगुणस्थानकेषु' मिथ्यादृष्टिसास्वादनसम्यग्मिथ्यादृष्टिसयोगिकेवल्ययोगिकेवलिलक्षणेषु । तत्र मिथ्यादृष्ट्यादीना त्रयाणामौदयिकी गति, क्षायोपशमिकानीन्द्रियाणि, पारिणामिक जीवत्वम् इत्येते त्रयो भावा प्रतीता एव । सयोगिकेवल्ययोगिकेवलिनो पुनरौदयिकी मनुजगति, क्षायिक केवलज्ञानादि, पारिणामिक जीवत्वम् इत्येतद्रूपास्त्रय इति । आह किममी त्रिप्रभृतयो भावा गुणस्थानकेषु चिन्त्यमाना सर्वजीवाधारतया चिन्त्यन्ते? आहोश्विदेकजीवाधारतया? इत्याह—"एगजिए" त्ति एकजीवाधारतयेत्थ भावविभागो मन्तव्य, नानाजीवापेक्षया तु सम्भविन सर्वेऽपि भावा भवन्तीति ।

अधुनैतेषु गुणस्थानकेषु प्रत्येक यस्य भावस्य सम्बन्धिनो यावन्त उत्तरभेदा यस्मिन् गुणस्थानके प्राप्यन्त इत्येतत् सोपयोगित्वादस्माभिरभिधीयते । तद्यथा—क्षायोपशमिकभावभेदा मिथ्यादृष्टिसास्वादनयोरन्तरायकर्मक्षयोपशमजदानादिलब्धिपञ्चक ५ अज्ञानत्रय ३ चक्षुर्दर्शनाचक्षुर्दर्शन-२ लक्षणा दश भवन्ति, सम्यग्मिथ्यादृष्टौ दानादिलब्धिपञ्चक ५ ज्ञानत्रय ३ दर्शनत्रय ३ मिश्ररूपसम्यक्त्व १ लक्षणा द्वादश भेदा भवन्ति, अविरतसम्यग्दृष्टौ मिश्रत्यागेन सम्यक्त्वप्रक्षेपे त एव द्वादश, विरतौ च द्वादशसु मध्ये देशविरतिप्रक्षेपे त्रयोदश, प्रमत्ताप्रमत्तयोश्च देशविरतिविरहितेषु पूर्वप्रदर्शितेषु द्वादशस्वेव सर्वविरतिमनःपर्यायज्ञानप्रक्षेपे चतुर्दश, अपूर्वकरणानिवृत्तिबादरसूक्ष्मसम्परायेषु चतुर्दशभ्य सम्यक्त्वापसारणे प्रत्येक त्रयोदश, उपशान्तमोहक्षीणमोहयोस्त्रयोदशभ्यश्चारित्रापसारणे द्वादश क्षायोपशमिकभावभेदा प्राप्यन्ते ।

अधुनौदयिकभावभेदा भाव्यन्ते—मिथ्यादृष्टावज्ञानासिद्धत्वादय एकविंशतिरपि भेदा भवन्ति, सास्वादन एकविंशतेर्मिथ्यात्वापसारणे विंशति, मिश्राविरतयोर्विंशतेरज्ञानापगमे एकोनविंशति, देशविरते च देवनारकगत्यभावे सप्तदश, प्रमत्ते च तिर्यग्गत्यसंयमाभावे पञ्चदश, अप्रमत्ते च पञ्चदशभ्य आद्यलेश्यात्रिकाभावे द्वादश, अपूर्वकरणेऽनिवृत्तिबादरे च द्वादशभ्यस्तेज पद्मलेश्ययोरभावे दश, सूक्ष्मसम्पराये सञ्ज्वलनलोभमनुजगतिशुक्ललेश्याऽसिद्धत्वलक्षणाश्चत्वार औदयिका भावा, उपशान्तक्षीणमोहसयोगिकेवलिषु चतुर्भ्य सञ्ज्वलनलोभाभावे त्रय, अयोगिकेवलिनस्तु मनुजगत्यसिद्धत्वरूपमौदयिकभावभेदद्वय प्राप्यते ।

औपशमिकभावभेदा उच्यन्ते—अविरतादारभ्योपशान्त यावदौपशमिकसम्यक्त्वरूप औप-

शमिकभावभेद प्राप्यते, औपशमिकचारित्रलक्षणस्त्वनिवृत्तेरारभ्योपशान्त यावत् प्राप्यते ।

क्षायिकभावभेदश्च क्षायिकसम्यक्त्वरूपोऽविरतादारभ्योपशान्त यावत् प्राप्यते, क्षीणमोहे च क्षायिक सम्यक्त्व चारित्र च प्राप्यते, सयोगिकेवल्ययोगिकेवलिनोस्तु नवापि क्षायिकभावा प्राप्यन्ते ।

पारिणामिकभावभेदा मिथ्यादृष्टो त्रयोऽपि, सास्वादनादारभ्य च क्षीणमोह यावदभव्यत्ववर्जा द्वौ भवत , सयोगिकेवल्ययोगिकेवलिनोस्तु जीवत्वमेवेति, भव्यत्वस्य च प्रत्यासन्नसिद्धावस्थायामभावादधुनाऽपि तदपगतप्रायत्वादिना केनचित् कारणेन शास्त्रान्तरेषु नोक्तमिति नास्माभिरप्यत्रोच्यते ।

यस्य भावस्य भेदा यस्मिन् गुणस्थानके यावन्त उक्तास्तेषा सम्भविभावभेदानामेकत्र मीलने सति तावद्भेदनिष्पन्न षष्ठ सान्निपातिकभावभेदस्तस्मिन् गुणस्थानके भवति । यथा— मिथ्यादृष्टावौदयिकभावभेदा एकविंशति , क्षायोपशमिकभावभेदा दश, पारिणामिकभावभेदास्त्रय , सर्वे भेदाश्चतुस्त्रिंशत् । एव सास्वादनादिष्वपि सम्भविभावभेदमीलने तावद्भेदनिष्पन्न षष्ठ सान्निपातिकभावभेदो वाच्य । एतदर्थसङ्ग्राहिण्यश्चैता गाथा यथा—

"[1]पण अतराय अन्नाण तिन्नि अचक्खुचक्खु दस एए ।
मिच्छे साणे य हवति मीसए अतराय पण ॥
नाणतिग दसणतिग, मीसगसम्म च बारस हवति ।
एव च अविरयम्मि वि, नवरि तहिं दसण सुद्ध ॥
देसे य देसविरई, तेरसमा तह पमत्तअपमत्ते ।
मणपज्जवपक्खेवा, चउदस अप्पुव्वकरणे उ ॥
वेयगसम्मेण विणा, तेरस जा सुहुमसपराउ चि ।
ते च्चिय उवसमखीणे, चरित्तविरहेण बारस उ ॥
खाओवसमिगभावाण कित्तणा गुणपए पडुच्च कया ।
उदइयभावे इण्हिं, ते चेव पडुच्च दसेमि ॥
चउगइयाई इगवीस मिच्छि साणे य हुति वीसं च ।
मिच्छेण विणा मीसे, इगुणीसमनाणविरहेण ॥
एमेव अविरयम्मी, सुरनारयगइविओगओ देसे ।
सत्तरस हुति ते चिय, तिरिगइअस्संजमाभावा ॥

१ पञ्चान्तराया अज्ञानानि त्रीणि अचक्षुश्चक्षु दश एते । मिथ्यात्वे सासादने च भवन्ति मिश्रके अन्तराया पञ्च ॥ ज्ञानत्रिक दर्शनत्रिक मिश्रसम्यक्त्व च द्वादश भवन्ति । एवं चाविरतेऽपि नवरं तत्र दर्शन शुद्धम् ॥ देशे च देशविरतिस्त्रयोदशी तथा प्रमत्ताप्रमत्तयो । मन पर्यवप्रक्षेपात् चतुर्दश अपूर्वकरणे तु ॥ वेदकसम्यक्त्वेन विना त्रयोदश यावत् सूक्ष्मसम्पराय इति । त एव उपशान्तक्षीणयो चारित्रविरहेण द्वादश तु ॥ क्षायोपशमिकभावानां कीर्तना गुणपदानि प्रतीत्य कृता । औदयिकभावे इदानीं तान्येव प्रतीत्य दर्शयामि ॥ चतुर्गत्यादिका एकविंशतिर्मिथ्यात्वे सासादने च भवन्ति विंशतिश्च । मिथ्यात्वेन विना मिश्रे एकोनविंशतिरज्ञानविरहेण ॥ एवमेवाविरते सुरनारकगतिवियोगतो देशे । सप्तदश भवन्ति त एव तिर्यग्गत्यसयमाभावात् ॥

पन्नरस पमत्तम्मी, अपमत्ते आइलेसतिगविरहे ।
ते च्चिय बारस सुक्केगलेसओ दस अपुव्वम्मि ॥
एव अनियट्टिम्मि वि, सुहुमे सजलणलोभमणुयगई ।
अतिमलेसअसिद्धत्तभावओ जाण चउ भावा ॥
संजलणलोभविरहा, उवसतक्खीणकेवलीण तिग ।
लेसाभावा जाणसु, अजोगिणो भावदुगमेव ॥
अविरयसम्मा उवसंतु जाव उवसमगखाइगा सम्मा ।
अनियट्टीओ उवसतु जाव उवसामिय चरण ॥
खीणम्मि खइयसम्म, चरण च दुग पि जाण समकाल ।
नव नव खाइयभावा, जाण सजोगे अजोगे य ॥
जीवत्तमभवत्त, भवत्त पि हु मुणेसु मिच्छम्मि ।
साणाई खीणते, दोन्नि अभवत्तवज्जा उ ॥
सज्जोगि अजोगिम्मि य, जीवत्त चेव मिच्छमाईण ।
ससभावमीलणाओ, भाव मुण सन्निवाय तु ॥

व्याख्यातप्राया एवैता , नवरमेकादश्या गाथायाम् "उवसमगखाइगा सम्म" त्ति अनेनौपशमिकक्षायिकसम्यक्त्वरूपमौपशमिकक्षायिकभावभेदद्वय युगपल्लाघवार्थं निरूपितम् । ततश्चाविरतादारभ्योपशान्तमोह यावत् कस्यचिदौपशमिकसम्यक्त्वरूप औपशमिकभावभेद प्राप्यते कस्यचित् पुन क्षायिकसम्यक्त्वरूप क्षायिकभावभेदश्चेति ॥ ७० ॥

व्याख्यात मूलद्वारगाथाया भावद्वारम् । सम्प्रति सङ्ख्येयकादिद्वार प्रचिकटयिषुराह—

संखिज्जेगमसंख, परित्तजुत्तनियपयजुय तिविह ।
एवमणत पि तिहा, जहन्नमज्झुक्कसा सव्वे ॥ ७१ ॥

एतावन्त एत इति सङ्ख्यान सङ्ख्येयम्, "य एचात" (सि० ५-१-२८) इति यप्रत्यय , तच्च 'एकम्' एकमेव भवति, नापरे असङ्ख्येयादेरिव परीत्तादयो मूलभेदस्वरूपा भेदा अस्य विद्यन्त इति भाव । न सङ्ख्यामर्हतीत्यसङ्ख्यम्, "दण्डादिभ्यो य" (सि० ६-४-१६८) इति यप्रत्यय , असङ्ख्येयक तत् पुन परीत्त च युक्त च निजपद—स्वकीयपदमसङ्ख्येयकलक्षण तच्च परीत्तयुक्तनिज-

१ पञ्चदश प्रमत्तेऽप्रमत्ते आदिलेश्यात्रिकविरहे । त एव द्वादश शुक्लैकलेश्यातो दश अपूर्व- ॥ एवम् निवृत्तेऽपि सूक्ष्मे सञ्ज्वलनलोभमनुजगत्यो । अन्तिमलेश्यासिद्धत्वयोर्भावाद् जानीहि चत्वारो भावा ॥ सञ्ज्वलनलोभविरहादुपशान्तक्षीणकेवलिनां त्रिकम् । लेश्याभावाज्जानीहि अयोगिनो भावद्विकमेव ॥ अविरतसम्यक्त्वादुपशान्त यावदुपशमकक्षायिके सम्यक्त्वे । अनिवृत्तित उपशान्त यावदौपशमिक चरणम् ॥ क्षीणे क्षायिकसम्यक्त्व चरण च द्विकमपि जानीहि समकालम् । नव नव क्षायिकभावान् जानीहि सयोगेऽयोगे च ॥ जीवत्वमभव्यत्व भव्यत्वमपि खलु जानीहि मिथ्यात्वे । सासादनादिषु क्षीणान्तेषु द्वावभव्यत्ववर्जौ तु ॥ सयोगिन्ययोगिनि च जीवत्वमेव मिथ्यात्वादीनाम् । स्वस्वभावमीलनाद् भाव जानीहि सान्निपातिक तु ॥

२ सिद्धहेमशब्दानुशासने "दण्डादेर्य" इति पाणिनीयसूत्रे तु "दण्डादिभ्यो यत्" इत्येवरूप सूत्रम् ॥

पदानि तैर्युक्त–समन्वित सत्, किम् ? इत्याह—'त्रिविध' त्रिप्रकार भवति । यथा—परीत्तासङ्ख्येयक १ युक्तासङ्ख्येयकम् २ असङ्ख्यातासङ्ख्येयकम् ३ इति उक्त त्रिधाऽसङ्ख्येयकम् । अधुना त्रिविधमनन्तकमाह—"एवमणत पि तिह" त्ति 'एवम्' अनेनानन्तरप्रदर्शितप्रकारेण परीत्तयुक्तनिजपदयुक्तलक्षणेन 'अनन्तमपि' अनन्तकमपि न केवलमसङ्ख्येयकमित्यपिशब्दार्थ 'त्रिधा' त्रिप्रकार वेदितव्यम्, तद्यथा—परीत्तानन्तक १ युक्तानन्तकम् २ अनन्तानन्तकम् ३ इति । एवमेतानि समुदितानि सप्तापि पदानि पुनरेकैकशस्त्रिरूपाणि भवन्तीति दर्शयितुमाह—"जहन्नमज्झुकसा सव्वे" त्ति प्राकृतत्वाल्लिङ्गव्यत्ययाद् 'जघन्यमध्यमोत्कृष्टानि' जघन्यमध्यमोत्कृष्टभेदभिन्नानि 'सर्वाणि' समस्तानि एकैकश सप्तापि पदानि वेदितव्यानीत्यर्थ । तथाहि—जघन्यसङ्ख्येयक मध्यमसङ्ख्येयकम् उत्कृष्टसङ्ख्येयकम् । तथा जघन्यपरीत्तासङ्ख्येयक मध्यमपरीत्तासङ्ख्येयकम् उत्कृष्टपरीत्तासङ्ख्येयकम् । जघन्ययुक्तासङ्ख्येयक मध्यमयुक्तासङ्ख्येयकम् उत्कृष्टयुक्तासङ्ख्येयकम् । जघन्यासङ्ख्यातासङ्ख्येयक मध्यमासङ्ख्यातासङ्ख्येयकम् उत्कृष्टासङ्ख्यातासङ्ख्येयकम् । तथा जघन्यपरीत्तानन्तक मध्यमपरीत्तानन्तकम् उत्कृष्टपरीत्तानन्तकम् । जघन्ययुक्तानन्तक मध्यमयुक्तानन्तकम् उत्कृष्टयुक्तानन्तकम् । जघन्यानन्तानन्तक मध्यमानन्तानन्तकम् उत्कृष्टानन्तानन्तकम् । तदेव सङ्ख्यातक त्रिधा असङ्ख्यातमनन्तक च नवधा भवतीति ॥ ७१ ॥

तदेव सङ्ख्येयकादिभेदप्ररूपणामात्र कृत्वा विस्तरतस्तत्स्वरूप निरूपयिषु सङ्ख्यातक त्रिधेति यदुद्दिष्ट तद् विवृण्वन्नाह—

लहु सखिज्ज दु चिय, अओ पर मज्झिम तु जा गुरुय ।
जबूदीवपमाणयचउपल्लपरूवणाइ इम ॥ ७२ ॥

इहैकको गणनसङ्ख्या न लभते, यत एकस्मिन् घटादौ दृष्टे घटादि वस्त्विद तिष्ठतीत्येवमेव प्राय प्रतीतिरुत्पद्यते, नैकसङ्ख्याविषयत्वेन । अथवा आदानसमर्पणादिव्यवहारकाले एक वस्तु प्रायो न कश्चिद् गणयति, अतोऽसंव्यवहार्यत्वादल्पत्वाद्वा नैको गणनसङ्ख्या लभते, तस्माद् द्विप्रभृतिरेव गणनसङ्ख्या । अत एवाह—'सङ्ख्येय' सङ्ख्यातक 'लघु' जघन्य–ह्रस्व, चियशब्दस्याऽवधारणार्थत्वात्, यदाहु श्रीहेमचन्द्रसूरिपादा प्राकृतलक्षणे—"णइ चेअ चिय च्च अवधारणे" (सि०८-२-१८४) द्वावेव, नैक , पूर्वोदितयुक्तेः । 'अत परम्' एतस्माद् द्विकभूतजघन्यसङ्ख्यातकादूर्ध्व मध्यम तु सङ्ख्यातक पुनस्त्रिचतुरादिकमनेकप्रकार भवति । कियद्दूर यावद् मध्यम भवति ? इत्याह—"जा गुरुय" ति 'यावद्' इत्यवधौ 'गुरुकम्' उत्कृष्ट–सर्वोपरिवर्ति सङ्ख्यातक प्राप्नोतीति शेष । अथेदमेव गुरुक सङ्ख्यातक कथ विज्ञेयम् ? इत्याह—'इदम्' अधुनैव वक्ष्यमाणस्वरूप गुरुक सङ्ख्यातक ज्ञेयमिति शेष । कया ? 'जम्बूद्वीपप्रमाणचतुष्पल्यप्ररूपणया' जम्बूनाम्ना वृक्षेणोपलक्षितो द्वीपो जम्बूद्वीपस्तेन जम्बूद्वीपेन प्रमाणम्–इयत्तावधारण येषा ते जम्बूद्वीपप्रमाणकास्ते च ते चत्वार –चतु सङ्ख्या पल्याश्च–धान्यपल्या इव जम्बूद्वीपप्रमाणकचतु पल्यास्तेषा प्रकृष्टरूपा प्ररूपणा–व्यावर्णना तया । एतदुक्त भवति—यथा जम्बूद्वीपो लक्षयोजनप्रमाण एवमेतेऽप्यायामविष्कम्भाभ्या प्रत्येक लक्षयोजनप्रमाणा वृत्ताकारत्वाच्च परिधिना,

परिही तिलक्ख सोलस, सहस्स दो य सय सत्तवीसहिया ।
कोसतिय अट्ठवीसं, धणुसय तेरंगुलद्धहियं ॥ (वृह० क्षे० गा० ६)

इतिगाथाभिहितप्रमाणोपेता । उक्तं च श्रीमदनुयोगद्वारसूत्रे—

जहन्नयं संखिज्जयं [3]केत्तिल्लियं होइ ? दो रूवाइं । तेण परं अजहन्नमणुक्कोसयाइं ठाणाइं जाव उक्कोसयसंखिज्जयं न पावइ । उक्कोसयं संखिज्जयं [4]केत्तियं होइ ? उक्कोसयस्स संखिज्जयस्स परूवणं करिस्सामि—से जहानामए पल्ले सिया एगं जोयणसयसहस्सं आयामविक्खंभेणं तिन्नि जोयणसयसहस्साइं सोलस सहस्साइं दोन्नि य सत्तावीसे जोयणसए तिन्नि य कोसे अट्ठावीसं च धणुसयं तेरस अंगुलाइं अद्धंगुलं च किंचि विसेसाहियं परिक्खेवेणं ॥ (पत्र २३५-१)

ततो जम्बूद्वीपप्रमाणचतुःपल्यप्ररूपणयेदमुत्कृष्टं सङ्ख्यातकं प्ररूपयिष्यत इति भावः ॥७२॥

अथैते चत्वारोऽपि पल्याः किंनामानः ? इत्येतदाह—

पल्लाऽणवट्ठियसलागपडिसलागमहासलागक्खा ।
जोयणसहसोगाढा, सवेइयंता ससिहभरिया ॥ ७३ ॥

धान्यपल्य इव पल्याः कल्प्यन्ते, ते च जम्बूद्वीपप्रमाणाः । किंनामानः ? इत्याह—“अणवट्ठिय” इत्यादि । यथोत्तरं वर्धमानस्वभावतयाऽवस्थितरूपाभावाद् अनवस्थित एवोच्यते । तथेह शलाका—एकैकसर्षपप्रक्षेपलक्षणास्ताभिः शलाकाभिर्भ्रियमाणत्वात् पल्योऽपि शलाका । तथा प्रतिशलाकाभिर्निष्पन्नत्वात् प्रतिशलाका । महाशलाकाभिर्निर्वृत्तत्वात् महाशलाका । ततः एषां द्वन्द्वेऽनवस्थितशलाकाप्रतिशलाकामहाशलाकास्ता इत्थम्भूता आख्या—संज्ञा येषां तेऽनवस्थितशलाकाप्रतिशलाकामहाशलाकाख्याः । त एव विशिष्यन्ते—योजनसहस्रं तु अवगाढाः । इदमुक्तं भवति—रत्नप्रभायाः पृथिव्याः प्रथमं योजनसहस्रप्रमाणं रत्नकाण्डं भित्त्वा द्वितीये वज्रकाण्डे प्रतिष्ठिता इति । पुनस्त एव विशिष्यन्ते—“सवेइयंत” त्ति वज्रमय्या अष्टयोजनोच्छ्रायायाश्च वार्यष्टौ द्वादश योजनान्युपरि मध्याधोविस्तृताया जम्बूद्वीपनगरप्राकारकल्पाया जगत्या द्विगव्यूतोच्छ्रितेन पञ्चधनुःशतविस्तृतेन नानारत्नमयेन जालकटकेन परिक्षिप्ता या उपरि वेदिकेति पद्मवरवेदिकेत्यर्थः, द्विगव्यूतोच्छ्रिता पञ्चधनुःशतविस्तीर्णा गवाक्षहेमकिङ्किणीजालघण्टायुक्ता देवानामासनशयनमोहनविविधक्रीडास्थानमुभयतो वनखण्डवती तस्या अन्तः—पर्यवसानप्रभाग इति यावद् वेदिकान्तः, ततश्च सह वेदिकान्तेन वर्तन्त इति सवेदिकान्ताः । ते च कथं सर्षपैर्भृताः ? इत्याह—“ससिहभरिय” त्ति सह शिखया—उच्छ्रयलक्षणया वर्तन्त इति सशिखाः, ततः सशिखं यथा भवति तथा सर्षपैर्भृताः—पूरिताः सशिखभृताः कर्तव्या इति शेषः । अयमत्रा-

---

१ परिधिस्त्रयो लक्षाः षोडश सहस्राणि द्वे च शते सप्तविंशत्यधिके । क्रोशत्रिकं अष्टाविंशं धनुःशतं त्रयोदशाङ्गुलान्यर्धाधिकानि ॥ २ जघन्यं सङ्ख्यातकं कियद् भवति ? द्वे रूपे । ततः परमजघन्योत्कृष्टानि स्थानानि यावद् उत्कृष्टसङ्ख्यातकं न प्राप्नोति । उत्कृष्टं सङ्ख्यातकं कियद् भवति ? उत्कृष्टस्य सङ्ख्यातकस्य प्ररूपणां करिष्ये—असौ यथानामकः पल्यः स्यात् एकं योजनशतसहस्रम् आयामविष्कम्भाभ्याम्, त्रीणि योजनशतसहस्राणि षोडश सहस्राणि द्वे च सप्तविंशे योजनशते त्रयश्च क्रोशाः अष्टाविंशं च धनुःशतं त्रयोदशाङ्गुलानि अर्धाङ्गुलं च किंचिद् विशेषाधिकं परिक्षेपेण ॥ ३-४ केवलं अनुयोगद्वारसूत्रे ॥

गाय —एतेषा व्यावर्णितस्वरूपाणा चतुर्णामपि पल्याना मध्याद् यो यथावसर सर्षपै पूर्यते त योजनसहस्रावगाहादूर्ध्वं समधिकाष्टयोजनोच्छ्रितवेदिकान्त पूरयित्वा तदुपरि तावत् शिखा वर्धनीया यावद् एकोऽपि सर्षपो नावतिष्ठत इति । अत्र सर्वे सवेदिकान्ता सशिखभृताश्च कर्तव्या इति सामान्योक्तावपि प्रथममनवस्थितपल्य एव भृत करणीय । शेषास्तु यथावस रमेवेति मन्तव्यमिति ॥ ७३ ॥

अधुना तस्यानवस्थितपल्यस्य जम्बूद्वीपप्रमाणस्य सर्षपैर्भृतस्य यद् विधेय तदाह—

तो दीवुदहिसु इक्किक्क सरिसव खिविय निट्ठिए पढमे ।
पढम व तदत चिय, पुण भरिए तम्मि तह खीणे ॥ ७४ ॥

'तत' सर्षपभरणादनन्तरमसत्कल्पनया केनचिद् देवेन दानवेन वा वामकरतले धृत्वा 'द्वीपोदधिषु' द्वीपसमुद्रेषु एकैक 'सर्षप' सिद्धार्थं क्षिप्त्वा 'निष्ठिते' अन्तर्भूतण्यर्थत्वात् निष्ठापिते—रिक्तीकृते 'प्रथमे' अनवस्थितपल्ये, कोऽर्थ ? एक सर्षप द्वीपे प्रक्षिपति, एकमुदधौ, पुनरप्येक द्वीपे, एकमुदधौ, एव प्रतिद्वीप प्रत्युदधि चैकैक सर्षप प्रतिक्षिपन्नसौ देवो वा दानवो वा तावद् गतो यावदनवस्थितपल्यो निष्ठितो भवति । तत किं विधेयम् ? इत्याह—"पढम व" इत्यादि । द्वीपे समुद्रे वा यत्रासावनवस्थितपल्यो निष्ठितो भवति "तदत चिय" त्ति स एवानवस्थितपल्यस्य निष्ठाकारी द्वीप समुद्रो वाऽन्त पर्यवसान प्रमाणतया यस्य द्वितीयानवस्थितपल्यस्य स तदन्तस्तम्, द्वितीयानवस्थितपल्यप्रमाणाभिधायक विशेषणमिदम्, ततस्तदन्तमेव चियशब्दस्याव धारणार्थत्वाद् विस्तीर्णतया तावत्प्रमाणमेवेत्यर्थ । 'प्रथममिव' आद्यपल्यमिवेत्युपमानेन द्वितीयमनवस्थितपल्यमपि सहस्रयोजनावगाढमष्टयोजनोच्छ्रितजगत्युपरिवेदिकोपशोभित सशिख सर्षपैर्भृत कुर्यादिति सूचयति । तत प्रथमानवस्थितपल्यमिव तदन्तमेव 'पुन' भूय 'भृते' सर्षपै पूरिते 'तस्मिन्' द्वितीयानवस्थितपल्ये 'तथा' तेन प्रकारेण निक्षिप्तचरमसर्षपद्वीपादेरग्रत एक सर्षपो द्वीपे, एक समुद्रे इत्यादिना 'क्षीणे' निष्ठिते सति द्वितीयानवस्थितपल्ये ॥ ७४ ॥

तत किं विधेयम् ? इत्याह—

खिप्पइ सलागपल्लेगु सरिसवो इय सलागख(खि)वणेण ।
पुन्नो बीओ य तओ, पुव्व पिव तम्मि उद्धरिए ॥ ७५ ॥

'क्षिप्यते' निधीयते शलाकापल्ये द्वितीये शलाकासज्ञक एकसख्य एव सर्षप , स च नानवस्थितपल्यसत्क किन्त्वन्य एवेत्यवसीयते, "पुण भरिए तम्मि तह खीणे" (गा० ७४) इति सूत्रावयवस्य सामस्त्यरिक्तीकरणप्रतिपादनपरत्वात् । अन्ये त्वनवस्थितपल्यसत्क एव क्षिप्यते इत्याचक्षते, तत्त्व तु केवलिनो विदन्तीति । आह किमिति द्वितीयपल्य एव निष्ठिते सत्येकस्य सर्षपस्य शलाकापल्ये प्रक्षेपणमभिहित यावता प्रथमपल्येऽपि निष्ठिते तत्रैकस्य सर्षपस्य प्रक्षेपो युज्यते ? इति, तदयुक्तम्, अभिप्रायापरिज्ञानात्, यतोऽनवस्थितपल्यशलाकाभिरेवासौ पूरणीय , प्रथमश्च लक्षयोजनविस्तृतत्वेनानवस्थितपरिमाणतयाऽनवस्थित एव न भवतीत्यतो द्वितीयाद्यनवस्थितपल्यशलाका एव तत्र प्रक्षेपमर्हन्तीति । न चैतत् स्वमनीषिकाविजृम्भितम्, यदुक्तमनुयोगद्वारेषु—

से ण पल्ले सिद्धत्थयाण भरिए, तओ ण तेहिं सिद्धत्थएहि दीवसमुद्दाण उद्धारे घिप्पइ, एगे दीवे एगे समुद्दे एगे दीवे एगे समुद्दे एव खिप्पमाणेहिं खिप्पमाणेहि जावइया ण दीवसमुद्दा तेहिं सिद्धत्थएहि अप्फुन्ना एस ण एवइए खित्ते पल्ले आइट्ठे। से ण पल्ले सिद्धत्थयाण भरिए, तओ ण तेहि सिद्धत्थएहि दीवसमुद्दाण उद्धारे घिप्पइ, एगे दीवे एगे समुद्दे एगे दीवे एगे समुद्दे एव खिप्पमाणेहिं खिप्पमाणेहि जावइया ण दीवसमुद्दा तेहि सिद्धत्थएहिं अप्फुन्ना एस ण एवइए खित्ते पल्ले पढमा सलागा (पत्र २३५-२) इति।

यश्च "पल्लाणवट्ठिय" (गा० ७३) इत्यादिगाथाया प्रथमस्यानवस्थितत्व्यपदेशोऽस्यो योग्यतामात्रेण राज्यार्हकुमारस्य राजव्यपदेशवद् द्रष्टव्य । "इय सलागखवणेण पुन्नो बीओ य" त्ति 'इति' अमुना पूर्वप्रदर्शितशलाकाक्षेपणप्रकारेण 'द्वितीयश्च' शलाकापल्य पूर्णो भृतो भवति सशिख इति यावत् । इयमत्र भावना—ततो यस्मिन् द्वीपे समुद्रे वा स एष द्वितीयपल्यो निष्ठा गतस्तदन्ता मूलत सर्वेऽपि ये द्वीपसमुद्रास्तावत्प्रमाण पुनरन्य पल्य परिकल्प्यते पूर्ववत् सर्षपै पूर्यते, ततस्त तावत्प्रमाण पल्यमुत्पाट्य ततो निष्ठितस्थानात् परतो द्वीपसमुद्रेष्वेकैक सर्षप प्रक्षिपेत्, यावदसौ निष्ठितो भवति, ततो द्वितीया शलाका सर्षपरूपा शलाकापल्ये प्रक्षिप्यते। ततोऽपि यस्मिन् द्वीपे समुद्रे वा स एष तृतीयोऽनवस्थितपल्यो निष्ठितस्तदन्ता मूलत सर्वेऽपि ये द्वीपसमुद्रास्तावत्प्रमाण पुनरन्य पल्य परिकल्प्यते पूर्ववत् सर्षपैरापूर्यते, ततस्त तावत्प्रमाण पल्यमुत्पाट्य ततो निष्ठितस्थानात् परतो द्वीपसमुद्रेष्वेकैक सर्षप प्रक्षिपेद् यावदसौ निष्ठितो भवति, ततस्तृतीया सर्षपरूपा शलाका शलाकापल्ये प्रक्षिप्यते। एवमनेन क्रमेण पुन पुनरनवस्थितपल्यस्य सर्षपभरणरिक्तीकरणलब्धैकैकसर्षपरूपाभि शलाकाभि शलाकापल्यो यथोक्तप्रमाण सशिखाकस्तावत् पूरयितव्यो यावत् तत्रैकोऽप्यन्य सर्षपो न मातीति। "बीओ य" त्ति इत्यत्र चशब्दात् पूर्वपरिपाट्यागतोऽनवस्थितपल्य सर्षपैरापूरणीय, तत किं विधेयम्? इत्याह—"तओ पुव्व पिव तम्मि उद्धरिए" त्ति 'तत' शलाकापल्यपूर्वपरिपाट्यागतानवस्थितपल्यापूरणानन्तर पूर्ववत् 'तस्मिन्' शलाकापल्ये उद्धृते सति ॥ ७५ ॥

खीणे सलाग तइए, एव पढमेहि बीयय भरसु।
तेहि य तइय तेहि य, तुरिय जा किर फुडा चउरो ॥ ७६ ॥

'क्षीणे च' निर्लेपे सति सर्षपरूपा शलाका 'तृतीये' प्रतिशलाकापल्ये प्रक्षिप्यते इतीयमक्षरगमनिका। भावार्थस्त्वयम्—तत शलाकापल्यापूरणानन्तर त शलाकापल्य वामकरतले कृत्वा पूर्वानवस्थितपल्यचरमसर्षपाक्रान्ताद् द्वीपात् समुद्राद्वा परत प्रतिद्वीप प्रतिसमुद्र चैकैक सर्षप प्रक्षिपेद् यावदसौ निष्ठितो भवति, तत प्रतिशलाकापल्ये सर्षपरूपा प्रथमा प्रतिशलाका प्रक्षिप्यते। ततोऽनन्तरोक्तोऽनवस्थितपल्य उत्पाट्यते, तत शलाकापल्यसर्षपाक्रान्ताद् द्वीपात्

१ स पल्य सिद्धार्थकैर्भृत, ततस्तै सिद्धार्थकैर्द्वीपसमुद्राणा उद्धारो गृह्यते, एको द्वीपे एक समुद्रे एको द्वीपे एक समुद्रे एव क्षिप्यमाणै क्षिप्यमाणै यावन्तो द्वीपसमुद्रास्तै सिद्धार्थकै स्पृष्टा एष एतावान् क्षेत्रे पल्य आदिष्ट । स पल्य सिद्धार्थकैर्भृत, ततस्तै सिद्धार्थकैर्द्वीपसमुद्राणामुद्धारो गृह्यते, एको द्वीपे एक समुद्रे एको द्वीपे एक समुद्रे एव क्षिप्यमाणै क्षिप्यमाणै यावन्तो द्वीपसमुद्रास्तै सिद्धार्थकै स्पृष्टा एषा एतावति क्षेत्रे पल्ये प्रथमा शलाका ॥ -

समुद्राद्वा परत पूर्वक्रमेण द्वीपसमुद्रेष्वेकैक सर्षप प्रक्षिपेद् यावदसौ नि शेषतो रिक्तो भवति। तत शलाकापल्ये पुनरपि सर्षपरूपा एका शलाका प्रक्षिप्यते। ततोऽनन्तरोक्तानवस्थितपल्यच रमसर्षपाक्रान्तो द्वीप समुद्रो वा यस्तदन्तमनवस्थितपल्य सर्षपैर्भृत्वा तत परत पुनरप्येकैक सर्षप प्रतिद्वीप प्रतिसमुद्र च प्रक्षिपेद् यावदसौ निष्ठितो भवति, ततो द्वितीया शलाका शलाकापल्ये प्रक्षिप्यते। एवमपरापरानवस्थितपल्यापूरणरिक्तीकरणलब्धैकैकसर्षपैर्यदा शलाकापल्य आपूरितो भवति पूर्वपरिपाट्या चानवस्थितपल्यस्तदा शलाकापल्यमुत्पाट्य प्राक्तनानवस्थितपल्य चरमसर्षपाक्रान्ताद् द्वीपात् समुद्राद्वा परत प्रतिद्वीप प्रतिसमुद्र चैकैक सर्षप प्रक्षिपेद् यावदसौ निर्लेपो भवति, तत प्रतिशलाकापल्ये द्वितीया शलाका प्रक्षिप्यते। ततोऽनवस्थितपल्य मुत्पाट्यानन्तररिक्तीकृतशलाकापल्यचरमसर्षपाक्रान्ताद् द्वीपात् समुद्राद्वा परत पूर्वक्रमेण द्वीपसमुद्रेष्वेकैक सर्षप प्रक्षिपेद् यावदसौ निष्ठितो भवति, तत पुनरपि शलाकापल्ये सर्षपरूपा शलाका प्रक्षिप्यते। यत्र चासौ द्वीपे समुद्रे वा निष्ठितस्तावत्प्रमाणविस्तारात्मकमनवस्थितपल्य सर्षपैरापूर्य तत परत पूर्वक्रमेण द्वीपसमुद्रेष्वेकैक सर्षप प्रक्षिपेद् यावदसौ निष्ठितो भवति, तत शलाकापल्ये द्वितीया शलाका सर्षपरूपा प्रक्षिप्यते। एवमनेन क्रमेण तावद् वक्तव्य यावत् त्रयोऽपि प्रतिशलाकापल्यशलाकापल्यानवस्थितपल्या परिपूर्णमापूरिता भवन्ति। तत प्रतिशलाकापल्यमुत्पाट्य निष्ठितस्थानात् परत प्रतिद्वीप प्रतिसमुद्रमेकैक सर्षप प्रक्षिपेद् यावदसौ निष्ठितो भवति, ततो महाशलाकापल्ये एका सर्षपरूपा शलाका प्रक्षिप्यते। तत शलाकापल्यमुत्पाट्य प्रतिशलाकापल्यगतचरमसर्षपाक्रान्ताद् द्वीपात् समुद्राद्वा परत प्रतिद्वीप प्रतिसमुद्रमेकैक सर्षप प्रक्षिपेद् यावदसौ निष्ठितो भवति, तत प्रतिशलाकापल्ये प्रतिशलाका प्रक्षिप्यते। ततोऽनवस्थितपल्यमुत्पाटयेत्, उत्पाट्य च शलाकापल्यगतचरमसर्षपाक्रान्ताद् द्वीपात् समुद्राद्वा परतो द्वीपसमुद्रेष्वेकैक सर्षप प्रक्षिपस्तावद् गच्छेद् यावदसौ नि शेषतो रिक्तो भवति, तत शलाकापल्ये प्रथमा शलाका प्रक्षिप्यते, ततोऽनन्तरोक्तानवस्थितपल्यगतचरमसर्षपाक्रान्तो द्वीप समुद्रो वा यस्तत्पर्यन्तविस्तारात्मकोऽनवस्थितपल्य कल्पयित्वा सर्षपैरापूर्यते, ततस्तमुत्पाट्य ततो निष्ठितस्थानात् परतो द्वीपसमुद्रेष्वेकैक सर्षप प्रक्षिपेद् यावदसौ निर्लेपो भवति, ततो द्वितीया शलाका शलाकापल्ये प्रक्षिप्यते, एव शलाकापल्य आपूरणीय, एवमापूरणोत्पाटनप्रक्षेपपरम्परया तावद्वक्तव्य यावन्महाशलाकापल्यप्रतिशलाकापल्यशलाकापल्यानवस्थितपल्या सर्वेऽपि परिपूर्णशिखायुक्ता समापूरिता भवन्ति। एतदेव निगमयन्नाह—"एव पढमेहिं" इत्यादि, 'एवम्' अनेन प्रदर्शितक्रमेण 'प्रथमे' अनवस्थितपल्येर्द्वितीयमेव द्वितीयक—शलाकापल्य 'भरस्व' पूरय, 'तैश्च' द्वितीयस्थानवर्तिभि शलाकापल्यै 'तृतीय' प्रतिशलाकापल्य भरस्व, 'तैश्च' प्रतिशलाकापल्यै 'तुर्यं' चतुर्थं महाशलाकापल्य तावद् भरस्व यावत् 'किल' इत्याप्तागमवादसंसूचक 'स्फुटा' व्याप्ता सशिखा भृता इति यावत् 'चत्वार' चतु सङ्ख्या अनवस्थितशलाकाप्रतिशलाकामहाशलाकाख्या पल्या भवन्तीति ॥ ७६ ॥ ततश्चतुर्णां पल्याना पूर्णत्वे यत् सम्पद्यते तदाह—

पढमतिपल्लुद्धरिया, दीवुदही पल्लचउसरिसवा य।
सव्वो वि एस रासी, रूवूणो परमसंखिज्ज ॥ ७७ ॥

प्रथमम्—आद्य यत् त्रिपल्य—पल्यत्रयमनवस्थितशलाकाप्रतिशलाकाख्य तेनोद्धृता —एकैकस-र्षपप्रक्षेपेण व्याप्ता' प्रथमत्रिपल्योद्धृता , क एते ? इत्याह—द्वीपोदधयो ¹ न केवल द्वीपोदधय पल्यचतुष्कसर्षपाश्च, कि भवति ? इत्याह—'सर्वोऽपि' समस्तोऽपि 'एष ' अनन्तरोक्त सर्षपल्या-सद्वीपसमुद्रपल्यचतुष्कगतसर्षपलक्षण 'राशि ' सङ्घात 'रूपोन ' एकेन सर्षपरूपेण रहित सन् 'परमसङ्ख्येयम्' उत्कृष्टसङ्ख्यातक भवतीति । तदेव तावदिदमुत्कृष्ट सङ्ख्येयकम् । जघन्य तु द्वौ, जघन्योत्कृष्टयोश्चान्तराले यानि सङ्ख्यास्थानानि तानि सर्वाणि मध्यम सङ्ख्येयकमिति सामर्थ्यादुक्त भवति । सिद्धान्ते च यत्र क्वचित् सङ्ख्यातग्रहण करोति तत्र सर्वत्रापि मध्यम सङ्ख्येयक द्रष्टव्यम् । यदुक्तमनुयोगद्वारचूर्णौ—

सिद्धंते य जत्थ जत्थ संखिज्जगगहण कत्त तत्थ तत्थ सव्व अजहन्नमणुक्कोसय दट्ठव्व (पत्र ८१) इति ।

इद चोत्कृष्ट सङ्ख्येयकमित्थमेव प्ररूपयितु शक्यते, द्विकादिदशशतसहस्रलक्षकोट्यादिशीर्ष-प्रहेलिकान्तराशिभ्योऽतिबहुना समतिक्रान्तत्वेन प्रकारान्तरेणाख्यातुमशक्यत्वात् । यदाहु प्रसि-द्धसिद्धान्तसन्दोहविवरणप्रकरणकरणप्रमाण(ग्रन्थ)प्रथनावाप्तसुधांशुधामधवलयश प्रसरधवलितम-कलवसुन्धरावलया श्रीहरिभद्रसूरिपादा अनुयोगद्वारटीकायाम्—

जंबूदीवप्पमाणमेत्ता चत्तारि पल्ला—पढमो अणवट्ठियपल्लो, बिइओ सलागापल्लो, तईओ पडिसलागापल्लो, चउत्थओ महासलागापल्लो । एए चउरो वि रयणप्पहपुढवीए पढम रयणकड जोय-णसहस्सावगाह भित्तूण बिइए वयरकडे पइट्ठिया । इमा ठवणा—▯ ▯ ▯ ▯ । एए ठविया । एगो गणण न उवेइ, दुप्पभिई सख त्ति काउ । तत्थ पढमे अणवट्ठियपल्ले दो सरिसवा पक्खित्ता एय जहन्नग संखिज्जग । तओ एगुत्तरवुड्ढीए तिन्नि चउरो पच जाव सो पुन्नो अन्न सरिसव न पडिच्छइ त्ति ताहे असब्भावट्ठवण पडुच्च वुच्चति—त को वि देवो दाणवो वा उक्खित्तु वामकरयले काउ ते सरिसवे जबूद्दीवाइए एग दीवे एग समुद्दे पक्खिवतिज्जा जाव निट्ठिया, ताहे सलागापल्ले एगो सरिसवो छूढो । जत्थ निट्ठिओ तेण सह आरिल्लएहि दीवसमुद्देहि पुणो अन्नो पल्लो आइ-ज्जइ, सो वि सरिसवाण भरिओ, तओ परओ एकेक्क दीवसमुद्देसु पक्खिवतेण निट्ठाविओ, तओ सलागापल्ले बिइया सलागा पक्खित्ता । एव एएण अणवट्ठियपल्लकरणक्कमेण सलागगहण

---

¹ सिद्धान्ते च यत्र यत्र सङ्ख्यातग्रहण कृत तत्र तत्र सर्वमजघन्यमनुत्कृष्ट द्रष्टव्यम् ॥ ² जम्बूद्वीप प्रमाणमात्राश्चत्वार पल्या —प्रथमोऽनवस्थितपल्य , द्वितीय शलाकापल्य , तृतीय प्रतिशलाकापल्य , चतुर्थको महाशलाकापल्य । एते चत्वारोऽपि रत्नप्रभापृथ्व्या प्रथम रत्नकाण्ड योजनसहस्रावगाह भित्त्वा द्वितीयस्मिन् वज्रकाण्डे प्रतिष्ठिता । एषा स्थापना ▯ ▯ ▯ ▯ । एते स्थापिता । एको गणना नोपैति, द्विप्रभृति सङ्ख्येति कृत्वा । तत्र प्रथमेऽनवस्थितपल्ये द्वौ सर्षपौ प्रक्षिप्तौ एतज्जघन्यक सङ्ख्यातकम् । तत एकोत्तरवृद्ध्या त्रयश्चत्वार पञ्च यावत् स पूर्णोऽन्य सर्षप न प्रतीच्छति इति तदा असद्भावस्थापना प्रतीत्योच्यते—त कोऽपि देवो दानवो वोत्क्षिप्य वामकरतले कृत्वा तान् सर्षपान् जम्बूद्वीपादिके एक द्वीपे एक समुद्रे प्रक्षिपेद् यावन्निष्ठिता , तदा शलाकापल्ये एक सर्षपो क्षिप्त । यत्र निष्ठितस्तेन सह आरातीयैर्द्वीपसमुद्रै पुनरन्य पल्य आदीयते, सोऽपि सर्षपैर्भृत , तत परत एकैक द्वीपसमुद्रेषु प्रक्षिपता निष्ठापित , तत शलाकापल्ये द्वितीया शलाका प्रक्षिप्ता । एवमेतेनानवस्थितपल्यकरणक्रमेण शलाकाग्रहण कुर्वता शलाकापल्य शलाकाभि

करेंतेण सलागापल्लो सलागाण भरिओ, कमागतो अणवट्ठियओ वि। तओ सलागापल्लो सलागं न पडिच्छइ त्ति काउ सो चेव उक्खित्तो निट्ठियट्ठाणाओ परओ पुव्वक्कमेण पक्खित्तो निट्ठिओ य, तओ पडिसलागापल्ले पढमा सलागा छूढा। तओ अणवट्ठिओ उक्खित्तो निट्ठियट्ठाणाओ परओ पुव्वक्कमेण पक्खित्तो निट्ठिओ य, तओ सलागापल्ले सलागा पक्खित्ता। एवं अण्णेण अण्णेण अणवट्ठिएण आइरणनिकिरतेण जाहे पुणो सलागापल्लो भरिओ अणवट्ठिओ य, ताहे पुणो सलागापल्लो उक्खित्तो पक्खित्तो निट्ठिओ य पुव्वक्कमेण, ताहे पडिसलागापल्ले बिइया पडिसलागा छूढा। एवं आइरणनिकिरणेण जाहे तिन्नि वि पडिसलागसलागअणवट्ठियपल्ला य भरिता ताहे पडिसलागापल्लो उक्खित्तो पक्खिप्पमाणो निट्ठिओ य ताहे महासलागापल्ले पढमा महासलागा छूढा, ताहे सलागापल्लो उक्खित्तो पक्खिप्पमाणो निट्ठिओ य ताहे पडिसलागापल्ले सलागा पक्खित्ता। ताहे अणवट्ठिओ उक्खित्तो पक्खित्तो य ताहे सलागापल्ले सलागा पक्खित्ता। एवं आइरणनिकिरणकमेण ताव कायव्वं जाव परंपरेण महासलागं पडिसलागं सलागं अणवट्ठियपल्लो य चउरो वि भरिया, ताहे उक्कोसमइच्छिय। इत्थ जावइया अणवट्ठियपल्लसलागापल्लपडिसलागापल्लेण य दीवसमुद्दा उद्धरिया, जे य चउपल्लट्ठिया सरिसवा एस सव्वो वि एतप्पमाणो रासी एगरूवूणो उक्कोसयं संखिज्जयं हवइ। जहण्णुक्कोसट्ठाणमज्झे जे ठाणा ते सव्वे पत्तेयं अजहण्णमणुक्कोसया संखिज्जया भणियव्वा। सिद्धंते य जत्थ जत्थ संखिज्जयगहणं कयं तत्थ तत्थ सव्वं अजहन्नमणुक्कोसयं दट्ठव्वं। एवं संखेज्जगे परूविए सीसो पुच्छइ—भगवं! किमेएण अणवट्ठियपल्लसलागपडिसलागाईहिं य दीवसमुद्दुद्धारगहणेण य उक्कोससंखिज्जपरूवणा किज्जइ? गुरू भणइ—नत्थि अन्नो संखिज्जगस्स फुडयरो परूवणोवाओ त्ति (पंत्र १११) ॥ ७७ ॥

भृत, क्रमागतोऽनवस्थितोऽपि। ततः शलाकापल्यः शलाकां न प्रतीच्छति इति कृत्वा स एवोत्क्षिप्तो निष्ठितस्थानात् परतः पूर्वक्रमेण प्रक्षिप्तो निष्ठितश्च, ततः प्रतिशलाकापल्ये प्रथमा शलाका क्षिप्ता। ततोऽनवस्थित उत्क्षिप्तो निष्ठितस्थानात् परतः पूर्वक्रमेण प्रक्षिप्तो निष्ठितश्च ततः शलाकापल्ये शलाका प्रक्षिप्ता। एवमन्येनान्येन अनवस्थितेन आकिरणनिष्किरणेन यदा पुनः शलाकापल्यो भृतोऽनवस्थितश्च तदा पुनः शलाकापल्य उत्क्षिप्तः प्रक्षिप्तो निष्ठितश्च पूर्वक्रमेण, तदा प्रतिशलाकापल्ये द्वितीया प्रतिशलाका क्षिप्ता। एवं आकिरणनिष्किरणेन यदा त्रयोऽपि प्रतिशलाकाशलाकानवस्थितपल्याश्च भृता तदा प्रतिशलाकापल्य उत्क्षिप्तः प्रक्षिप्यमाणो निष्ठितश्च तदा महाशलाकापल्ये प्रथमा महाशलाका क्षिप्ता तदा शलाकापल्य उत्क्षिप्तः प्रक्षिप्यमाणो निष्ठितश्च तदा प्रतिशलाकापल्ये शलाका प्रक्षिप्ता। तदाऽनवस्थित उत्क्षिप्तः प्रक्षिप्तश्च तदा शलाकापल्ये शलाका प्रक्षिप्ता। एवं आकिरणनिष्किरणक्रमेण तावत् वक्तव्यं यावत् परम्परया महाशलाका प्रतिशलाका शलाकाऽनवस्थितपल्याश्च चत्वारोऽपि भृता तदोत्कृष्टं अतिक्रान्तम्। अत्र यावन्तोऽनवस्थितपल्यशलाकापल्यप्रतिशलाकापल्यैश्च द्वीपसमुद्रा उद्धृता, ये च चतुष्पल्यस्थिताः सर्षपा एष सर्वोऽपि एतत्प्रमाणो राशिरेकरूपोन उत्कृष्टकं सङ्ख्यातकं भवति। जघन्योत्कृष्टस्थानमध्ये यानि स्थानानि तानि सर्वाणि प्रत्येकं अजघन्यानुत्कृष्टानि सङ्ख्यातकानि भणितव्यानि। सिद्धान्ते च यत्र यत्र सङ्ख्येयग्रहणं कृतं तत्र तत्र सर्वं अजघन्यमनुत्कृष्टं द्रष्टव्यम्। एवं सङ्ख्यातके प्ररूपिते शिष्यः पृच्छति—भगवन्! किमेतेनानवस्थितपल्यशलाकाप्रतिशलाकादिभिश्च द्वीपसमुद्रोद्धारग्रहणेन चोत्कृष्टसङ्ख्यातकप्ररूपणा क्रियते? गुरुर्भणति—नास्त्यन्यः सङ्ख्येयकस्य स्फुटतरः प्ररूपणोपाय इति॥ १ एष समग्रोऽपि पाठः अनुयोगद्वारचूर्णौ ७९ तमे पत्रेऽप्यस्ति॥

इत्युक्त त्रिविधमपि सङ्ख्येयकम् । इदानीं नवविधमसङ्ख्येयक नवविधमेव चानन्तकं निरूरू-पयिषुर्गाथायुगमाह—

रूवजुय तु परित्तासंखं लहु अस्स रासि अब्भासे ।
जुत्तासंखिज्ज लहु, आवलियासमयपरिमाण ॥ ७८ ॥

पूर्वोक्तमेवोत्कृष्ट सङ्ख्येयक 'रूपयुत तु' रूपेण—एकेन सर्पपेण पुनर्युक्त सत् 'लघु' जघन्य 'परीत्तासङ्ख्य' परीत्तासङ्ख्येयक भवति । इदमत्र हृदयम्—इह येनैकेन सर्पपरूपेण रहितोऽनन्तरोद्दिष्टो राशिरुत्कृष्टसङ्ख्यातकमुक्त तत्र राशौ तस्यैव रूपस्य निक्षेपो यदा क्रियते तदा तदेवोत्कृष्ट सङ्ख्यातक जघन्य परीत्तासङ्ख्यातक भवतीति । इह च जघन्यपरीत्तासङ्ख्येयकेऽभिहिते यद्यपि तस्यैव मध्यमोत्कृष्टभेदप्ररूपणावसरस्तथापि परीत्तयुक्तनिजपदभेदतस्त्रिभेदानामप्यसङ्ख्येयकाना मध्यमोत्कृष्टभेदौ पश्चादल्पवक्तव्यत्वात् प्ररूपयिष्येते, अतोऽधुना जघन्ययुक्तासङ्ख्यातक तावदाह—"अस्स रासि अब्भासे" इत्यादि अस्य राशे —जघन्यपरीत्तासङ्ख्येयकगतराशे 'अभ्यासे' परस्परगुणने सति 'लघु' जघन्य युक्तासङ्ख्येयक भवति । तच्च 'आवलिकासमयपरिमाणम्' आवलिका—"असखिज्जाण समयाण समुदयसमिइसमागमेण" (अनुयो० पत्र १७८-२) इत्यादिसिद्धान्तप्रसिद्धा तस्या समया —निर्विभागा कालविभागास्तत्परिमाणमावलिकासमयपरिमाणम्, जघन्ययुक्तासङ्ख्येयकतुल्यसमयराशिप्रमाणा आवलिका इत्यर्थ । एतदुक्त भवति—जघन्यपरीत्तासङ्ख्येयकसम्बन्धीनि यावन्ति सर्पपलक्षणानि रूपाणि तान्येकैकश पृथक् पृथक् संस्थाप्य तत एकैकस्मिन् रूपे जघन्यपरीत्तासङ्ख्यातकप्रमाणो राशिर्व्यवस्थाप्यते, तेषा च राशीना परस्परमभ्यासो विधीयते । इहैव भावना—असत्कल्पनया किल जघन्यपरीत्तासङ्ख्येयकराशिस्थाने पञ्च रूपाणि कल्प्यन्ते, तानि विरलीयन्ते—जाता पञ्चैकका १ १ १ १ १, एककानामध प्रत्येकं पञ्चैव वारा पञ्च पञ्च व्यवस्थाप्यन्ते । तद्यथा—५ ५ ५ ५ ५ । अत्र पञ्चभि पञ्च गुणिता जाता पञ्चविंशति , साऽपि पञ्चभिराहता जात पञ्चविंश शतम् इत्यादिक्रमेणामीषा राशीना परस्पराभ्यासे जातानि पञ्चविंशत्यधिकान्येकत्रिंशच्छतानि ३१२५ । एष कल्पनया तावदेतावन्मात्रो राशिर्भवति, सद्भावतस्त्वसङ्ख्येयरूपो जघन्ययुक्तासङ्ख्यातकतया मन्तव्य इति ॥ ७८ ॥

निरूपित जघन्ययुक्तासङ्ख्येयकम् । सम्प्रति शेषजघन्यासङ्ख्यातासङ्ख्यातकभेदस्य जघन्यपरीत्तानन्तकादिस्वरूपाणा त्रयाणा जघन्यानन्तकभेदाना च स्वरूपमतिदेशत प्रतिपिपादयिषुराह—

बितिचउपचमगुणणे, कमा सगासंख पढमचउसत्त ।
णंता ते रूवजुया, मज्झा रूवूण गुरु पच्छा ॥ ७९ ॥

इह "संखिज्जेगमसंखं" (गा० ७१) इत्यादिगाथोपन्यस्तोत्कृष्टसङ्ख्यातकादिमौलसप्तपदापेक्षया सङ्ख्यातकाद्यभेदविकल्पानि यानि परीत्तासङ्ख्यातकादीनि षट् पदानि तानि परीत्तासङ्ख्यातकानन्तानन्तकभेदद्वयविकल्पानि द्वित्रिचतु पञ्चसङ्ख्यात्वेन प्रोक्तानि । तत्र 'द्वित्रिचतु पञ्चम-

१ असङ्ख्येयाना समयाना समुदयसमितिसमागमेन ॥ २ मौलसप्तपदानि त्वेतानि—उत्कृष्टसङ्ख्यातकम् १ परीत्तासङ्ख्यातकम् २ युक्तासङ्ख्यातकम् ३ असङ्ख्यातासङ्ख्यातकम् ४ परीत्तानन्तकम् ५ युक्तानन्तकम् ६ अनन्तानन्तकम् ७ ॥

गुणने' द्वितीयतृतीयचतुर्थपञ्चमपदवाच्यराशेरन्योऽन्याभ्यासे सति 'क्रमात्' क्रमेण "सगासंख" त्ति प्राकृतत्वात् 'सप्तमासङ्ख्यातम्' स्थापनापेक्षया

जघन्यसङ्ख्यातकम् १	मध्यमसङ्ख्यातकम् २	उत्कृष्टसङ्ख्यातकम् ३
परीतास० जघ० १	परीतासं० मध्य० २	परीतास० उत्कृ० ३
युक्तास० जघन्यम् ४	युक्तासं० मध्य० ५	युक्तास० उत्कृ० ६
असं० असं० जघ० ७	अस० अस० मध्य० ८	अस० असं० उत्कृ० ९
परीतानन्त जघ० १	परीतानन्त मध्य० २	परीतानन्त उत्कृ० ३
युक्तानन्त० जघ० ४	युक्तानन्त मध्य० ५	युक्तानन्त उत्कृ० ६
अनन्तानन्त जघ० ७	अनन्तानन्तं मध्य० ८	अनन्तानन्त उत्कृ० ९

जघन्यासङ्ख्यातासङ्ख्यातकम् । "पढमचउसत्त णत" त्ति प्राकृतत्वात् प्रथमचतुर्थसप्तमान्यनन्तकानि । तत्र प्रथमानन्तक–जघन्यपरीतानन्तकम् चतुर्थानन्तकम्–जघन्ययुक्तानन्तकम् सप्तमानन्तक–जघन्यानन्तानन्तक भवतीति । इह जघन्यमध्यमोत्कृष्टभेदतोऽसङ्ख्येयकानन्तकयो प्रत्येक नवविधत्वात् प्रदर्शितभेदाना सप्तमप्रथमादिसङ्ख्यान सङ्गच्छत एव । इदमत्रैदम्पर्यम्—द्वितीये युक्तासङ्ख्यातकपदवाच्ये जघन्ययुक्तासङ्ख्यातकलक्षणे राशौ विवृते सति यावन्ति रूपाणि तावत्सु प्रत्येक जघन्ययुक्तासङ्ख्यातकमाना राशयोऽभ्यसनीया, ततस्तेषा राशीना परम्परताडने यो राशिर्भवति तत् सप्तमासङ्ख्येयक मन्तव्यम् । तृतीये त्वसङ्ख्येयकासङ्ख्येयकपदवाच्ये जघन्यासङ्ख्येयकासङ्ख्येयकरूपे राशौ यावन्ति रूपाणि तावतामेव जघन्यासङ्ख्येयकासङ्ख्येयकराशीनामन्योऽन्यगुणने सति यो राशि सम्पद्यते तत् प्रथमानन्तक जघन्यपरीतानन्तकमवसेयम् । चतुर्थे तु परीतानन्तकपदवाच्ये जघन्यपरीतानन्तकरूपे राशौ यावन्ति रूपाणि तावत्सङ्ख्याना जघन्यपरीतानन्तकराशीना परस्परमभ्यासे यावान् राशिर्भवति तत् चतुर्थमनन्तक जघन्ययुक्तानन्तक भवति । पञ्चमे तु युक्तानन्तकपदवाच्ये जघन्ययुक्तानन्तकरूपे राशौ यावन्ति रूपाणि तत्प्रमाणानामेव जघन्ययुक्तानन्तकराशीना परस्परगुणने यावान् राशि सम्पद्यते तत् सप्तमानन्तक जघन्यानन्तानन्तक भवति । आह परीतासङ्ख्यातकयुक्तासङ्ख्यातकासङ्ख्यातासङ्ख्यातकपरीतानन्तकयुक्तानन्तकानन्तानन्तकलक्षणा षडपि राशयो जघन्यास्तावन्निर्दिष्टा, मध्यमा उत्कृष्टाश्चैते कथ मन्तव्या ? इत्याह—"ते रूवजुया" इत्यादि । 'ते' अनन्तरोद्दिष्टा जघन्या षडपि राशयो रूपेण–एककलक्षणेन युता –समन्विता रूपयुता सन्त किं भवन्ति ? इत्याह—'मध्या' मध्यमा अजघन्योत्कृष्टा इति यावत् । तत्र य प्रागिर्दिष्टो जघन्यपरीतासङ्ख्यातकराशि स एकस्मिन् रूपे प्रक्षिप्ते मध्यमो भवति, उपलक्षण चैतत्, नैकरूपप्रक्षेप एव मध्यमभणन किन्त्वेकैकरूपनिक्षेपेऽय तावद् मध्यमो मन्तव्यो यावद् उत्कृष्टपरीतासङ्ख्येयकराशिर्न भवतीति । एवमनया दिशा जघन्ययुक्तासङ्ख्यातकादयोऽपि राशय एकैकस्मिन् रूपे निक्षिप्ते मध्यमा सम्पद्यन्ते, तदनु चैकैकरूपवृद्ध्या तावद् मध्यमा अवसेया यावत् स्वस्वमुत्कृष्टपद नासादयन्तीति । तर्ह्येते षडपि किंस्वरूपा सन्त उत्कृष्टा भवन्ति ? इत्याह—"रूवूण गुरु पच्छ" त्ति रूपेण–एककलक्षणेन ऊना –न्यूना रूपोना सन्तस्त एव प्रागभिहिता जघन्या राशय, तेशब्द आवृत्त्येहापि सम्बन्धनीय, किं भवन्ति ?

इत्याह—'गुरुव' उत्कृष्टा 'पाश्चात्या' पश्चिमराशय इत्यर्थः । इयमत्र भावना—जघन्ययुक्तासङ्ख्यातकराशिरेकेन रूपेण न्यूनः स एव पाश्चात्य उत्कृष्टपरीत्तासङ्ख्येयकस्वरूपो भवति, जघन्यासङ्ख्यातासङ्ख्यातकराशिस्त्वेकेन रूपेण न्यूनः सन् पाश्चात्य उत्कृष्टयुक्तासङ्ख्यातकस्वरूपो भवति, जघन्यपरीत्तानन्तकराशिः पुनरेकेन रूपेण न्यूनः पाश्चात्य उत्कृष्टासङ्ख्यातासङ्ख्यातकस्वरूपो भवति, जघन्ययुक्तानन्तकराशिस्त्वेकरूपोनः पाश्चात्य उत्कृष्टपरीत्तानन्तकस्वरूपो भवति, जघन्यानन्तानन्तकराशिरेकरूपरहितः पाश्चात्य उत्कृष्टयुक्तानन्तकस्वरूपो भवतीति । इदं चासङ्ख्येयकानन्तकभेदानामित्थं प्ररूपणमागमाभिप्रायत उक्तं, कैश्चिदन्यथाऽपि चोच्यते ॥ ७९ ॥ अत एवाह—

इय सुत्तुत्तं अन्ने, वग्गियमिक्कसि चउत्थयमसंखं ।
होइ असंखासंखं, लहु रूवजुयं तु तं मज्झं ॥ ८० ॥

'इति' पूर्वोक्तप्रकारेण यद् असङ्ख्यातकानन्तकस्वरूपं प्रतिपादितं तत् सूत्रे—अनुयोगद्वारलक्षणे सिद्धान्ते उक्तं—निगदितम् । तथा चोक्तं श्रीअनुयोगद्वारेषु—

उक्कोसए संखिज्जए रूवं पक्खित्तं जहन्नयं परित्तासंखिज्जयं होइ । तेण परं अजहन्नमणुक्कोसयाइं ठाणाइं जाव उक्कोसयं परित्तासंखिज्जयं न पावेइ । उक्कोसयं परित्तासंखिज्जयं कित्तियं होइ ? जहन्नयं परित्तासंखिज्जयं जहन्नयपरित्तासंखिज्जयमित्ताणं रासीणं अन्नमन्नब्भासो रूवूणो उक्कोसयं परित्तासंखिज्जयं हवइ, अहवा जहन्नयं जुत्तासंखिज्जयं रूवूणं उक्कोसयं परित्तासंखिज्जयं होइ । जहन्नयं जुत्तासंखिज्जयं कित्तियं होइ ? जहन्नयपरित्तासंखिज्जयमित्ताणं रासीणं अन्नमन्नब्भासो पडिपुन्नो जहन्नयं जुत्तासंखिज्जयं होइ, अहवा उक्कोसए परित्तासंखिज्जए रूवं पक्खित्तं जहन्नयं जुत्तासंखिज्जयं होइ, आवलिया वि तित्तिया चेव । तेण परं अजहन्नमणुक्कोसयाइं ठाणाइं जाव उक्कोसयं जुत्तासंखिज्जयं न पावइ । उक्कोसयं जुत्तासंखिज्जयं कित्तियं होइ ? जहन्नएणं जुत्तासंखिज्जएणं आवलिया गुणिया अन्नमन्नब्भासो रूवूणो उक्कोसयं जुत्तासंखिज्जयं होइ, अहवा जहन्नयं असंखिज्जासंखिज्जयं रूवूणं उक्कोसयं जुत्तासंखिज्जयं होइ । जहन्नयं असंखिज्जासंखिज्जयं कित्तियं होइ ? जहन्नएणं जुत्तासंखिज्जएणं आवलिया गुणिया अन्नमन्नब्भासो पडिपुन्नो जहन्नयं असंखिज्जासंखिज्जयं होइ, अहवा उक्कोसए जुत्तासंखिज्जए रूवं पक्खित्तं जहन्नयं असंखिज्जासंखिज्जयं होइ । तेण परं अजहन्नमणुक्कोसयाइं ठाणाइं जाव

---

१ उत्कृष्टके सङ्ख्येयके रूपं प्रक्षिप्तं जघन्यकं परीत्तासङ्ख्येयकं भवति । ततः परमजघन्योत्कृष्टकानि स्थानानि यावदुत्कृष्टं परीत्तासङ्ख्येयकं न प्राप्नोति । उत्कृष्टकं परीत्तासङ्ख्येयकं कियद् भवति ? जघन्यकं परीत्तासङ्ख्येयकं जघन्यपरीत्तासङ्ख्येयकमात्राणां राशीनामन्योन्याभ्यासो रूपोनः उत्कृष्टकं परीत्तासङ्ख्येयकं भवति, अथवा जघन्यकं युक्तासङ्ख्येयकं रूपोनं उत्कृष्टकं परीत्तासङ्ख्येयकं भवति । जघन्यकं युक्तासङ्ख्येयकं कियद् भवति ? जघन्यकपरीत्तासङ्ख्येयकमात्राणां राशीनामन्योन्याभ्यासः प्रतिपूर्णो जघन्यकं युक्तासङ्ख्येयकं भवति, अथवोत्कृष्टके परीत्तासङ्ख्येयके रूपं प्रक्षिप्तं जघन्यकं युक्तासङ्ख्येयकं भवति, आवलिकाऽपि तावत्येव । ततः परमजघन्योत्कृष्टकानि स्थानानि यावदुत्कृष्टकं युक्तासङ्ख्येयकं न प्राप्नोति । उत्कृष्टकं युक्तासङ्ख्येयकं कियद् भवति ? जघन्यकेन युक्तासङ्ख्येयकेनावलिका गुणिता अन्योन्याभ्यासो रूपोन उत्कृष्टकं युक्तासङ्ख्येयकं भवति, अथवा जघन्यकमसङ्ख्येयासङ्ख्येयकं रूपोनं उत्कृष्टकं युक्तासङ्ख्येयकं भवति । जघन्यकमसङ्ख्येयासङ्ख्येयकं कियद् भवति ? जघन्यकेन युक्तासङ्ख्येयकेनावलिका गुणिता अन्योन्याभ्यासः प्रतिपूर्णो जघन्यकमसङ्ख्येयासङ्ख्येयकं भवति, अथवोत्कृष्टके युक्तासङ्ख्येयके रूपं प्रक्षिप्तं जघन्यकमसङ्ख्येयासङ्ख्येयकं भवति । ततः परमजघन्योत्कृष्टकानि स्थानानि यावदुत्कृष्टक-

उक्कोसय असखिज्जासखिज्जय न पावेइ । उक्कोसय असखिज्जासखिज्जय कित्तिय होइ ? जहन्नय असखिज्जासखिज्जय जहन्नयअसखिज्जासखिज्जयमित्ताण रासीण अन्नमन्नब्भासो रूवूणो उक्कोसय असखिज्जासखिज्जय होइ, अहवा जहन्नय परित्ताणतय रूवूण उक्कोसय असखिज्जासखिज्जय होइ । जहन्नय परित्ताणतय कित्तिय होइ ? जहन्नय असखिज्जासखिज्जय जहन्नयअसखिज्जासखिज्जयमित्ताण रासीण अन्नमन्नब्भासो पडिपुन्नो जहन्नय परित्ताणतय होइ, अहवा उक्कोसए असखिज्जासखिज्जए रूव पक्खित्त जहन्नय परित्ताणतय होइ । तेण पर अजहन्नमणुक्कोसयाइ ठाणाइ जाव उक्कोसय परित्ताणतय न पावइ । उक्कोसय परित्ताणतय किन्तिय होइ ? जहन्नय परित्ताणतय जहन्नयपरित्ताणतयमित्ताण रासीण अन्नमन्नब्भासो रूवूणो उक्कोसय परित्ताणतय होइ, अहवा जहन्नय जुत्ताणतय रूवूण उक्कोसय परित्ताणतय होइ । जहन्नय जुत्ताणतय किन्तिय होइ ? जहन्नय परित्ताणतय जहन्नयपरित्ताणतयमित्ताण रासीण अन्नमन्नब्भासो पडिपुन्नो जहन्नय जुत्ताणतय होइ, अहवा उक्कोसए परित्ताणतए रूव पक्खित्त जहन्नय जुत्ताणतय होइ, अभवसिद्धिया वि तत्तिया चेव । तेण पर अजहन्नमणुक्कोसयाइ ठाणाइ जाव उक्कोसय जुत्ताणतय न पावइ । उक्कोसय जुत्ताणतय किन्तिय होइ ? जहन्नएण जुत्ताणतएण अभवसिद्धिया गुणिया अन्नमन्नब्भासो रूवूणो उक्कोसय जुत्ताणतय होइ, अहवा जहन्नय अणताणतय रूवूण उक्कोसय जुत्ताणतय होइ । जहन्नय अणताणतय किन्तिय होइ ? जहन्नएण जुत्ताणतएण अभवसिद्धिया गुणिया अन्नमन्नब्भासो पडिपुन्नो जहन्नय अणताणतय होइ, अहवा उक्कोसए जुत्ताणतए रूव पक्खित्त जहन्नय अणताणतय होइ । तेण पर अजहन्नमणुक्कोसयाइ ठाणाइ । ◁ एव उक्कोसय अणताणतय नत्थि ▷ (२३८–१) इति ।

मसङ्ख्येयासङ्ख्येयक न प्राप्नोति । उत्कृष्टकमसङ्ख्येयासङ्ख्येयक कियद् भवति ? जघन्यकमसङ्ख्येयासङ्ख्येयक जघन्यकासङ्ख्येयासङ्ख्येयकमात्राणा राशीनामन्योन्याभ्यासो रूपोन उत्कृष्टकमसङ्ख्येयासङ्ख्येयक भवति अथवा जघन्यक परीत्तानन्तक रूपोन उत्कृष्टकमसङ्ख्येयासङ्ख्येयक भवति । जघन्यक परीत्तानन्तक कियद् भवति ? जघन्यकमसङ्ख्येयासङ्ख्येय जघन्यकासङ्ख्येयासङ्ख्येयकमात्राणा राशीनामन्योन्याभ्यास प्रतिपूर्णो जघन्यक परीत्तानन्तक भवति, अथवोत्कृष्टकेऽसङ्ख्येयासङ्ख्येयके रूप प्रक्षिप्त जघन्यक परीत्तानन्तक भवति । तत परमजघन्योत्कृष्टकानि स्थानानि यावदुत्कृष्टक परीत्तानन्तक न प्राप्नोति । उत्कृष्टक परीत्तानन्तक कियद् भवति ? जघन्यक परीत्तानन्तक जघन्यकपरीत्तानन्तकमात्राणा राशीनामन्योन्याभ्यासो रूपोन उत्कृष्टक परीत्तानन्तक भवति, अथवा जघन्यक युक्तानन्तक रूपोनमुत्कृष्टक परीत्तानन्तक भवति । जघन्यक युक्तानन्तक कियद् भवति ? जघन्यक परीत्तानन्तक जघन्यकपरीत्तानन्तकमात्राणा राशीनामन्योन्याभ्यास प्रतिपूर्णो जघन्यक युक्तानन्तक भवति, अथवोत्कृष्टके परीत्तानन्तके रूप प्रक्षिप्त जघन्यक युक्तानन्तक भवति, अभवसिद्धिका अपि तावन्त एव । तत परमजघन्योत्कृष्टकानि स्थानानि यावदुत्कृष्टक युक्तानन्तक न प्राप्नोति । उत्कृष्टक युक्तानन्तक कियद् भवति ? जघन्यकेन युक्तानन्तकेनाभवसिद्धिका गुणिता अन्योन्याभ्यासो रूपोन उत्कृष्टक युक्तानन्तक भवति, अथवा जघन्यकमनन्तानन्तक रूपोनमुत्कृष्टक युक्तानन्तक भवति । जघन्यकमनन्तानन्तक कियद् भवति ? जघन्यकेन युक्तानन्तकेनाभवसिद्धिका गुणिता अन्योन्याभ्यास प्रतिपूर्णो जघन्यकमनन्तानन्तक भवति अथवोत्कृष्टके युक्तानन्तके रूप प्रक्षिप्त जघन्यकमनन्तानन्तक भवति । तत परमजघन्योत्कृष्टकानि स्थानानि । एवमुत्कृष्टकमनन्तानन्तक नास्ति ॥ ◁ ▷ एतच्चिह्नान्तर्गतपाठो मुद्रितानुयोगद्वारेषु नास्ति ॥

उक्त सूत्राभिप्राय । साम्प्रत मतान्तरगतमसङ्ख्यातानन्तकस्वरूपमाह—"अन्ने वग्गिय" इत्यादि । अन्ये आचार्या —एके सूरय एवमाहु , यथा—'चतुर्थकमसङ्ख्य' जघन्ययुक्तासङ्ख्यातक-रूप 'वर्गित' तावतैव राशिना गुणित सत् "एक्कसि" त्ति एकवार 'भवति' जायते—सम्पद्यते असङ्ख्यामध्य 'लघु' जघन्यम् , जघन्यासङ्ख्यातासङ्ख्यातक भवतीत्यर्थ । अत्रापि मते असङ्ख्यातक-मुद्दिश्य मध्यमोत्कृष्टभेदप्ररूपणा पूर्वोक्तेनेति दर्शयन्नाह—"रूवजुय तु त मज्झ" ति रूपेण—सर्षपलक्षणेन युत रूपयुत 'तु' अवधारणे व्यवहितसम्बन्धश्च 'तद्' इति तदेवानन्तराभिहित जघन्यासङ्ख्येयासङ्ख्येयादिकम् किं भवति ? इत्याह—'मध्य' मध्यमासङ्ख्येयासङ्ख्येयादिक भवति ॥८०॥

रूवूणमाइम गुरु, ति वग्गिउ त इमं दस क्खेवे ।
लोगागासपएसा, धम्माधम्मेगजियदेसा ॥ ८१ ॥

तदेव जघन्यासङ्ख्येयासङ्ख्येयादिक 'रूपोनम्' एकेन रूपेण रहित सद् 'आदिम' तदपेक्षया आद्यस्य राशे सम्बन्धि 'गुरु' उत्कृष्ट भवतीति । अयमत्राशय —जघन्यासङ्ख्येयासङ्ख्येयक रूपोन सद् युक्तासङ्ख्यातकमुत्कृष्टक भवति, जघन्यपरीत्तानन्त रूपोनमसङ्ख्येयासङ्ख्येयकमुत्कृष्ट भवति, जघन्ययुक्तानन्त तु रूपोनमुत्कृष्ट परीत्तानन्त भवति, जघन्यानन्तानन्तक तु रूपोनमु-त्कृष्ट युक्तानन्तक भवतीति । अधुना जघन्यपरीत्तानन्तक मतान्तरेण प्ररूपयन्नाह—"ति वग्गिउ त" इत्यादि । 'तद्' इति प्रागभिहित जघन्यासङ्ख्येयासङ्ख्येयक 'त्रिर्वर्गयित्वा' सदृशद्वि-राशी परस्पर त्रीन् वारानभ्यस्येत्यर्थ । अयमत्राशय —जघन्यासङ्ख्येयासङ्ख्येयकराशे सदृशद्वि-राशिगुणनलक्षणो वर्गो विधीयते, तस्यापि वर्गराशे पुनर्वर्ग क्रियते, तस्यापि वर्गराशे पुनरपि वर्गो निष्पाद्यत इति । तत किम् ? इत्याह—'इमान्' वक्ष्यमाणस्वरूपान् 'दश' इति दशस-ङ्ख्यान् क्षिप्यन्त इति कर्मणि घञि क्षेपा —प्रक्षेपणीयराशयस्तान् 'क्षिपस्व' निधेहीत्युत्तरगा-थाया सम्बन्ध । तथाहि—लोकाकाशस्य प्रदेशा १ धर्मश्च अधर्मश्च एकजीवश्च धर्माधर्मैक-जीवास्तेषा देशा —प्रदेशा । अयमत्रार्थ —धर्मास्तिकायप्रदेशा २ अधर्मास्तिकायप्रदेशा ३ एकजीवप्रदेशा ४ ॥ ८१ ॥ तथा—

ठिइबंधज्झवसाया, अणुभागा जोगछेयपलिभागा ।
दुण्ह य समाण समया, पत्तेयनिगोयए खिवसु ॥ ८२ ॥

स्थितिबन्धस्य कारणभूतान्यध्यवसायस्थानानि कषायोदयरूपाण्यध्यवसायशब्देनोच्यन्ते, तान्यसङ्ख्येयान्येव । तथाहि—ज्ञानावरणस्य जघन्योऽन्तर्मुहूर्तप्रमाण स्थितिबन्ध , उत्कृष्टस्तु त्रिंशत्सागरोपमकोटाकोटीप्रमाण , मध्यमपदे त्वेकद्वित्रिचतुरादिसमयाधिकान्तर्मुहूर्तादिकोऽस-ङ्ख्येयभेद , एषा च स्थितिबन्धाना निर्वर्तकान्यध्यवसायस्थानानि प्रत्येकमसङ्ख्येयलोकाकाशप्र-देशप्रमाणानि भिन्नान्येव, एव च सत्येकस्मिन्नपि ज्ञानावरणेऽसङ्ख्येयानि स्थितिबन्धाध्यवसाय-स्थानानि लभ्यन्ते, एव दर्शनावरणादिष्वपि वाच्यम् । "अणुभाग" त्ति 'अनुभागा' ज्ञाना-वरणादिकर्मणा जघन्यमध्यमादिभेदभिन्ना रसविशेषा , एतेषा चानुभागविशेषाणा निर्वर्तका-न्यसङ्ख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणान्यध्यवसायस्थानानि भवन्त्यतोऽनुभागविशेषा अप्येतावन्त एव द्रष्टव्या , कारणभेदाश्रितत्वात् कार्यभेदानाम् । "जोगछेयपलिभाग" त्ति योग —मनोवाकाय-

उक्कोसय असंखिज्जासंखिज्जय न पावेइ । उक्कोसय असंखिज्जासंखिज्जय किंचिय होइ ? जहन्नय असंखिज्जासंखिज्जय जहन्नयअसंखिज्जासंखिज्जयमित्ताण रासीण अन्नमन्नब्भासो रूवूणो उक्कोसय असंखिज्जासंखिज्जय होइ, अहवा जहन्नय परित्ताणतय रूवूण उक्कोसय असंखिज्जासंखिज्जय होइ । जहन्नय परित्ताणतय किंचिय होइ ? जहन्नय असंखिज्जासंखिज्जय जहन्नयअसंखिज्जासंखिज्जयमित्ताण रासीण अन्नमन्नब्भासो पडिपुन्नो जहन्नय परित्ताणतय होइ, अहवा उक्कोसए असंखिज्जासंखिज्जए रूव पक्खित्त जहन्नय परित्ताणतय होइ । तेण पर अजहन्नमणुक्कोसयाइ ठाणाइ जाव उक्कोसय परित्ताणतय न पावइ । उक्कोसय परित्ताणतय किंचिय होइ ? जहन्नय परित्ताणतय जहन्नयपरित्ताणतयमित्ताण रासीण अन्नमन्नब्भासो रूवूणो उक्कोसय परित्ताणतय होइ, अहवा जहन्नय जुत्ताणतय रूवूण उक्कोसय परित्ताणतय होइ । जहन्नय जुत्ताणतय किंचिय होइ ? जहन्नय परित्ताणतय जहन्नयपरित्ताणतयमित्ताण रासीण अन्नमन्नब्भासो पडिपुन्नो जहन्नय जुत्ताणतय होइ, अहवा उक्कोसए परित्ताणतए रूव पक्खित्त जहन्नय जुत्ताणतय होइ, अभवसिद्धिया वि तत्तिया चेव । तेण पर अजहन्नमणुक्कोसयाइ ठाणाइ जाव उक्कोसय जुत्ताणतय न पावइ । उक्कोसय जुत्ताणतय किंचिय होइ ? जहन्नएण जुत्ताणतएण अभवसिद्धिया गुणिया अन्नमन्नब्भासो रूवूणो उक्कोसय जुत्ताणतय होइ, अहवा जहन्नय अणताणतय रूवूण उक्कोसय जुत्ताणतय होइ । जहन्नय अणताणतय किंचिय होइ ? जहन्नएण जुत्ताणतएण अभवसिद्धिया गुणिया अन्नमन्नब्भासो पडिपुन्नो जहन्नय अणताणतय होइ, अहवा उक्कोसए जुत्ताणतए रूव पक्खित्त जहन्नय अणताणतय होइ । तेण पर अजहन्नमणुक्कोसयाइ ठाणाइ । ⊲ एव उक्कोसय अणताणतय नत्थि ⊳ (२३८–१) इति ।

मसङ्ख्येयासङ्ख्येयक न प्राप्नोति । उत्कृष्टकमसङ्ख्येयासङ्ख्येयक कियद् भवति ? जघन्यकमसङ्ख्येयासङ्ख्येयक जघन्यकासङ्ख्येयासङ्ख्येयकमात्राणा राशीनामन्योन्याभ्यासो रूपोन उत्कृष्टकमसङ्ख्येयासङ्ख्येयक भवति, अथवा जघन्यक परीत्तानन्तक रूपोन उत्कृष्टकमसङ्ख्येयासङ्ख्येयक भवति। जघन्यक परीत्तानन्तक कियद् भवति ? जघन्यकमसङ्ख्येयासङ्ख्येय जघन्यकासङ्ख्येयासङ्ख्येयकमात्राणा राशीनामन्योन्याभ्यास प्रतिपूर्णो जघन्यक परीत्तानन्तक भवति अथवोत्कृष्टकेऽसङ्ख्येयासङ्ख्येयके रूप प्रक्षिप्त जघन्यक परीत्तानन्तक भवति । तत परमजघन्योत्कृष्टकानि स्थानानि यावदुत्कृष्टक परीत्तानन्तक न प्राप्नोति । उत्कृष्टक परीत्तानन्तक कियद् भवति ? जघन्यक परीत्तानन्तक जघन्यकपरीत्तानन्तकमात्राणा राशीनामन्योन्याभ्यासो रूपोन उत्कृष्टक परीत्तानन्तक भवति, अथवा जघन्यक युक्तानन्तक रूपोनमुत्कृष्टक परीत्तानन्तक भवति। जघन्यक युक्तानन्तक कियद् भवति ? जघन्यक परीत्तानन्तक जघन्यकपरीत्तानन्तकमात्राणा राशीनामन्योन्याभ्यास प्रतिपूर्णो जघन्यक युक्तानन्तक भवति, अथवोत्कृष्टके परीत्तानन्तके रूप प्रक्षिप्त जघन्यक युक्तानन्तक भवति, अभवसिद्धिका अपि तावन्त एव । तत परमजघन्योत्कृष्टकानि स्थानानि यावदुत्कृष्टक युक्तानन्तक न प्राप्नोति । उत्कृष्टक युक्तानन्तक कियद् भवति ? जघन्यकेन युक्तानन्तकेनाभवसिद्धिका गुणिता अन्योन्याभ्यासो रूपोन उत्कृष्टक युक्तानन्तक भवति, अथवा जघन्यकमनन्तानन्तक रूपोनमुत्कृष्टक युक्तानन्तक भवति। जघन्यकमनन्तानन्तक कियद् भवति ? जघन्यकेन युक्तानन्तकेनाभवसिद्धिका गुणिता अन्योन्याभ्यास प्रतिपूर्णो जघन्यकमनन्तानन्तक भवति, अथवोत्कृष्टके युक्तानन्तके रूप प्रक्षिप्त जघन्यकमनन्तानन्तक भवति । तत परमजघन्योत्कृष्टकानि स्थानानि । एवमुत्कृष्टकमनन्तानन्तक नास्ति ॥ ⊲ ⊳ एतच्चिह्नान्तर्गतपाठो मुद्रितानुयोगद्वारेषु नास्ति ॥

उक्त सूत्राभिप्राय । साम्प्रत मतान्तरगतमसङ्ख्यातानन्तकस्वरूपमाह—"अन्ने वग्गिय" इत्यादि । अन्ये आचार्या —एके सूरय एवमाहु , यथा—'चतुर्थकमसङ्ख्य' जघन्ययुक्तासङ्ख्यातकरूप 'वर्गित' तावतैव राशिना गुणित सत् "एगसि" त्ति एकवार 'भवति' जायते—सम्पद्यते असङ्ख्यासङ्ख्य 'लघु' जघन्यम् , जघन्यासङ्ख्यातासङ्ख्यातक भवतीत्यर्थ । अत्रापि मते असङ्ख्यातकमुद्दिश्य मध्यमोत्कृष्टभेदप्ररूपणा पूर्वोक्तैवेति दर्शयन्नाह—"रूवजुय तु त मज्झ" ति रूपेण—सर्षपलक्षणेन युत रूपयुत 'तु' अवधारणे व्यवहितसम्बन्धश्च 'तद्' इति तदेवानन्तराभिहित जघन्यासङ्ख्येयासङ्ख्येयादिकम् किं भवति ? इत्याह—'मध्य' मध्यमासङ्ख्येयासङ्ख्येयादिक भवति ॥८०॥

रूवूणमाइमं गुरु, ति वग्गिउ त इमे दस क्खेवे ।
लोगागासपएसा, धम्माधम्मेगजियदेसा ॥ ८१ ॥

तदेव जघन्यासङ्ख्येयासङ्ख्येयादिक 'रूपोनम्' एकेन रूपेण रहित सद् 'आदिम' तदपेक्षया आद्यस्य राशे सम्बन्धि 'गुरु' उत्कृष्ट भवतीति । अयमत्राशय —जघन्यासङ्ख्येयासङ्ख्येयक रूपोन सद् युक्तासङ्ख्यातकमुत्कृष्टक भवति, जघन्यपरीत्तानन्त रूपोनमसङ्ख्येयासङ्ख्येयकमुत्कृष्ट भवति, जघन्ययुक्तानन्त तु रूपोनमुत्कृष्ट परीत्तानन्त भवति, जघन्यानन्तानन्तक तु रूपोनमुत्कृष्ट युक्तानन्तक भवतीति । अधुना जघन्यपरीत्तानन्तक मतान्तरेण प्ररूपयन्नाह—"ति वग्गिउ त" इत्यादि । 'तद्' इति प्रागभिहित जघन्यासङ्ख्येयासङ्ख्येयक 'त्रिर्वर्गयित्वा' सहशद्विराशी परस्पर त्रीन् वारानभ्यस्येत्यर्थ । अयमत्राशय —जघन्यासङ्ख्येयासङ्ख्येयकराशे सदृशद्विराशिगुणनलक्षणो वर्गो विधीयते, तस्यापि वर्गराशे पुनर्वर्गे क्रियते, तस्यापि वर्गराशे पुनरपि वर्गो निष्पाद्यत इति । तत किम् ? इत्याह—'इमान्' वक्ष्यमाणस्वरूपान् 'दश' इति दशसङ्ख्यान् क्षिप्यन्त इति कर्मणि घञि क्षेपा —प्रक्षेपणीयराशयस्तान् 'क्षिपस्व' निधेहीत्युत्तरगाथाया सम्बन्ध । तथाहि—लोकाकाशस्य प्रदेशा १ धर्मश्च अधर्मश्च एकजीवश्च धर्माधर्मैकजीवास्तेषा देशा —प्रदेशा । अयमत्रार्थ —धर्मास्तिकायप्रदेशा २ अधर्मास्तिकायप्रदेशा ३ एकजीवप्रदेशा ४ ॥ ८१ ॥ तथा—

ठिइबधज्झवसाया, अणुभागा जोगछेयपलिभागा ।
दुण्ह य समाण समया, पत्तेयनिगोयए खिवसु ॥ ८२ ॥

स्थितिबन्धस्य कारणभूतान्यध्यवसायस्थानानि कषायोदयरूपाण्यध्यवसायशब्देनोच्यन्ते, तान्यसङ्ख्येयान्येव । तथाहि—ज्ञानावरणस्य जघन्योऽन्तर्मुहूर्तप्रमाण स्थितिबन्ध , उत्कृष्टतस्तु त्रिंशत्सागरोपमकोटाकोटीप्रमाण , मध्यमपदे त्वेकद्वित्रिचतुरादिसमयाधिकान्तर्मुहूर्तादिकोऽसङ्ख्येयभेद , एषा च स्थितिबन्धाना निर्वर्तकान्यध्यवसायस्थानानि प्रत्येकमसङ्ख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणानि भिन्नान्येव, एव च सत्येकस्मिन्नपि ज्ञानावरणेऽसङ्ख्येयानि स्थितिबन्धाध्यवसायस्थानानि लभ्यन्ते, एव दर्शनावरणादिष्वपि वाच्यम् । "अणुभाग" त्ति 'अनुभागा' ज्ञानावरणादिकर्मणा जघन्यमध्यमादिभेदभिन्ना रसविशेषा , एतेषा चानुभागविशेषाणा निर्वर्तकान्यसङ्ख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणान्यध्यवसायस्थानानि भवन्त्यतोऽनुभागविशेषा अप्येतावन्त एव द्रष्टव्या , कारणभेदाश्रितत्वात् कार्यभेदानाम् । "जोगछेयपलिभाग" त्ति योग —मनोवाक्काय-

विषय वीर्य तस्य केवलिप्रज्ञाच्छेदेन अतिविशिष्टा निर्विभागा भागा योगच्छेदप्रतिभागा, ते च निगोदादीना सज्ञिपञ्चेन्द्रियपर्यन्ता ना जीवानामाश्रिता जघन्यादिभेदभिन्ना असङ्ख्येया मन्तव्या । "दुण्ह य समाण समय" त्ति 'द्वयोश्च समयो' उत्सर्पिण्यवसर्पिणीकालस्वरूपयो समया असङ्ख्येयस्वरूपा । "पत्तेयनिगोयए" त्ति अनन्तकायिकान् वर्जयित्वा शेषा पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतित्रसा प्रत्येकशरीरिण सर्वेऽपि जीवा इत्यर्थ, ते चासङ्ख्येया भवन्ति । निगोदा सूक्ष्माणा बादराणा चानन्तकायिकवनस्पतिजीवानां शरीराणीत्यर्थ, ते चासङ्ख्याता । एवमेते प्रत्येकमसङ्ख्येयस्वरूपा दश क्षेपास्तान् क्षिपस्व ॥ ८२ ॥

अथ राशिदशकप्रक्षेपानन्तर तस्येव राशेर्यस्मिन् विहिते यद् भवति तदाह—

पुण तम्मि ति वग्गियए, परित्तणत लहु तस्स रासीण ।
अब्भासे लहु जुत्ताणंत अभव्वजियमाण ॥ ८३ ॥

पुनरपि "तम्मि" त्ति 'तस्मिन' अनन्तरोदिते प्रक्षिप्तक्षेपदशके 'त्रिर्वर्गिते' त्रीन् वारान् वर्गिते सति परीत्तानन्त 'लघु' जघन्य भवति । इदमुक्त भवति—जघन्यासङ्ख्येयासङ्ख्येयकस्वरूपे वारत्रय वर्गिते राशौ दशैते क्षेपा क्षिप्यन्ते, तत इत्थ पिण्डितो यो राशि सम्पद्यते स पुनरपि वारत्रय वर्ग्यते ततो जघन्य परीत्तानन्तक भवतीति । इदानीं जघन्ययुक्तानन्तकनिरूपणायाह— "तस्स रासीण" इत्यादि, 'तस्य' जघन्यपरीत्तानन्तकस्य सम्बन्धिना राशीनामन्योन्यमभ्यासे सति 'लघु' जघन्य युक्तानन्तकमभव्यजीवमान भवति । इयमत्र भावना—जघन्यपरीत्तानन्तके ये राशय सर्षपरूपास्ते पृथक् पृथग् व्यवस्थाप्यन्ते, तेषा तथा व्यवस्थापितानां जघन्यपरीत्तानन्तकमानानां राशीनामन्योन्याभ्यासे सति युक्तानन्त जघन्य भवति, तथा जघन्ययुक्तानन्तके यावन्ति रूपाणि वर्तन्त अभवसिद्धिका अपि जीवा केवलिना तावन्त एव दृष्टा इति ॥ ८३ ॥

जघन्यानन्तानन्तकप्ररूपणायाह—

तव्वग्गे पुण जायइ, णतार्णत लहु तं च तिक्खुत्तो ।
वग्गसु तह वि न त होइ णतखेवे खिवसु छ इमे ॥ ८४ ॥

तस्य—जघन्ययुक्तान तकराशेर्वर्गे—सकृदभ्यासे तद्वर्गे कृते सति 'पुन' भूयोऽपि 'जायते' सम्पद्यते अनन्तानन्त 'लघु' जघन्यम्, जघन्यानन्तानन्तक भवतीत्यर्थ । उत्कृष्टानन्तानन्तकप्ररूपणायाह—"त च तिक्खुत्तो" इत्यादि । 'तच्च' तत् पुनर्जघन्यमनन्तानन्त 'त्रिकृत्व' त्रीन् वारान् 'वर्गयस्व' तावतेव राशिना गुणय । अयमत्राथ —जघन्यानन्तानन्तकराशेस्तावतैव राशिना गुणनस्वरूपो वर्ग क्रियते, ततस्तस्य वर्गितराशे पुनर्वर्ग, तस्यापि वर्गितराशेर्भूयोऽपि वर्ग इति । 'तथापि' एवमपि वारत्रय वर्गे कृतेऽपि 'तद्' उत्कृष्टमनन्तानन्तक 'न भवति' न जायते । तत किं कार्यम् ? इत्याह—अनन्तक्षेपान् 'इमान्' वक्ष्यमाणस्वरूपान् 'षट्' षट्सङ्ख्यान् 'क्षिपस्व' निवेहीति ॥ ८४ ॥ तानेव षडनन्तक्षेपानाह—

सिद्धा निगोयजीवा, वणस्सई काल पुग्गला चेव ।
सव्वमलोगनह पुण, ति वग्गिउ केवलदुगम्मि ॥ ८५ ॥

सर्व एव 'सिद्धा ' निष्ठितनि शेपकर्माण १ 'निगोदजीवा ' समस्ता अपि सूक्ष्मबादरभेदभिन्ना अनन्तकायिकसत्त्वा २ 'वनस्पतय ' प्रत्येकानन्ता सर्वेऽपि वनस्पतिजीवा ३ 'काल ' इति सर्वोऽप्यतीतानागतवर्तमानकालसमयराशि ४ 'पुद्गला ' समस्तपुद्गलराशे परमाणव ५ 'सर्वं' समस्तम् 'अलोकनभ ' अलोकाकाशमिति उपलक्षणत्वात् सर्वोऽपि लोकालोकप्रदेशराशि ६ इत्येतद्राशिषट्कप्रक्षेपानन्तर यस्मिन् कृते यद् भवति तदाह—'पुन ' पुनरपि 'त्रिर्वर्गयित्वा' त्रीन् वारास्तावतैव राशिना गुणयित्वा 'केवलद्विके' केवलज्ञानकेवलदर्शनयुगले क्षिप्ते सति ॥ ८५ ॥

किम्[1] इत्याह—

खित्ते णंताणंतं, हवेइ जिट्ठं तु ववहरइ मज्झं ।
इय सुहुमत्थवियारो, लिहिओ देविंदसूरीहिं ॥ ८६ ॥

'क्षिप्ते' न्यस्ते सत्यनन्तानन्तक 'भवति' जायते 'ज्येष्ठम्' उत्कृष्टम् 'तु ' पुनरर्थे व्यवहितसम्बन्धश्च । 'व्यवहरति' व्यवहारकारि 'मध्य तु' मध्यम पुन । इयमत्र भावना—इह केवलज्ञानकेवलदर्शनशब्देन तत्पर्याया उच्यन्ते, तत केवलज्ञानकेवलदर्शनयो पर्यायेष्वनन्तेषु क्षिप्तेषु सत्स्विति द्रष्टव्यम्, नवर ज्ञेयपर्यायाणामानन्त्याद् ज्ञानपर्यायाणामप्यानन्त्य वेदितव्यम्, एवमनन्तानन्त ज्येष्ठ भवति, सर्वस्यैव वस्तुजातस्यात्र सगृहीतत्वात्, अत पर वस्तुसत्त्वस्यैव सख्याविषयस्याभावादित्यभिप्राय । सूत्राभिप्रायतस्त्वित्थमप्यनन्तानन्तकमुत्कृष्ट न प्राप्यते, अनन्तकस्याष्टविधस्यैव तत्र प्रतिपादितत्वात् । तथा चोक्तमनुयोगद्वारेषु—

<* एवमुक्कोसय अणताणतय नत्थि *> ।

तदत्र तत्त्व केवलिनो विदन्ति । सूत्रे तु यत्र क्वचिदनन्तानन्तक गृह्यते तत्र सर्वत्राजघन्योत्कृष्टशब्दवाच्यमनन्तानन्तक द्रष्टव्यम् । तदेव व्याख्यात सप्रपञ्च सख्यातकासख्यातकानन्तकादिस्वरूपम्, तन्निरूपणे च व्याख्याता "नमिय जिण जियमग्गण" (गा० १) इत्यादि मौलद्वारगाथा । सम्प्रति षडशीतिसख्यगाथाप्रमाणत्वेन यथार्थ षडशीतिकशास्त्र समर्थयन्नाह—"इय सुहुमत्थवियारो" इत्यादि । 'इति' पूर्वोक्तप्रकारेण सूक्ष्म—मन्दमत्यगम्यो योऽर्थ—शब्दाभिधेय तस्य विचार विचारण 'लिखित'—अक्षरविन्यासीकृत पञ्चसङ्ग्रहादिशास्त्रेभ्य इति शेष । कै ? इत्याह—'देवेन्द्रसूरिभि ' करालकलिकालपातालतलावमग्नविशुद्धधर्मधुरोद्धरणधुरीणश्रीमज्जगच्चन्द्रसूरिक्रमकमलचञ्चरीकैरिति ॥ ८६ ॥

॥ इति श्रीदेवेन्द्रसूरिविरचिता स्वोपज्ञषडशीतिकटीका समाप्ता ॥

---

[1] एवमुत्कृष्टमनन्तानन्तक नास्ति । <* *> एतच्चिह्नान्तर्गतपाठो मुद्रितानुयोगद्वारेषु नोपलभ्य ॥

अथ ग्रन्थकारप्रशस्तिः ।

विष्णोरिव यस्य विभो, पदत्रयी व्यानशे जगन्निखिलम् ।
सूक्ष्मार्थसार्थदेशी, स श्रीवीरो जिनो जयतु ॥ १ ॥
कुन्दोज्ज्वलकीर्तिभरै, सुरभीकृतसकलविष्टपाभोग ।
शतमखशतविनतपदः, श्रीगौतमगणधरः पातु ॥ २ ॥
तदनु सुधर्मस्वामी, जम्बूप्रभवादयो मुनिवरिष्ठाः ।
श्रुतजलनिधिपारीणा, भूयासुः श्रेयसे सन्तु ॥ ३ ॥
ततः प्राप्ततपाचार्येत्यभिख्या भिक्षुनायकाः ।
समभूवन् कुले चान्द्रे, श्रीजगच्चन्द्रसूरयः ॥ ४ ॥
जगज्जनितबोधाना, तेषां शुद्धचरित्रिणाम् ।
विनेयाः समजायन्त, श्रीमद्देवेन्द्रसूरयः ॥ ५ ॥
स्वान्ययोरुपकाराय, श्रीमद्देवेन्द्रसूरिणा ।
षडशीतिकटीकेय, सुखबोधा विनिर्ममे ॥ ६ ॥
विबुधवरधर्मकीर्त्तिश्रीविद्यानन्दसूरिमुख्यबुधैः ।
स्वपरसमयैककुशलैस्तदैव सशोधिता चेयम् ॥ ७ ॥
यदुदितमल्पमतिना, सिद्धान्तविरुद्धमिह किमपि शास्त्रे ।
विद्वद्भिस्तत्त्वज्ञैः, प्रसादमाधाय तच्छोध्यम् ॥ ८ ॥
षडशीतिकशास्त्रमिद, विवृण्वता यन्मयाऽर्जितं सुकृतम् ।
तेनास्तु भव्यलोकः, सूक्ष्मार्थविचारणाचतुरः ॥ ९ ॥

ग्रन्थाग्रम् २८०० । सर्वग्रन्थाग्रम् ५९१८ अ २८ ॥

इति कर्मग्रन्थचतुष्टयात्मकः प्रथमो विभागः ।

परिशिष्टं प्रथमम् ।

कर्मग्रन्थटीकान्तः प्रमाणतयोद्धृताना शास्त्रीयावतरणानामकारादि-क्रमेणानुक्रमणिका ।



द्वितीयं परिशिष्टम् ।

कर्मग्रन्थटीकान्तरुद्धृतानां ग्रन्थनाम्नां सूची ।

तृतीयं परिशिष्टम् ।

कर्मग्रन्थटीकान्तर्गतानां ग्रन्थकृन्नाम्ना सूची ।

चतुर्थं परिशिष्टम् ।

कर्मग्रन्थटीकान्तर्गतानां पारिभाषिकशब्दानां स्थानदर्शकः कोशः ।

पञ्चमं परिशिष्टम् ।

कर्मग्रन्थान्तर्वर्त्तिनां पिण्डप्रकृतिसूचकानां शब्दानां कोशः ।

शब्द	पत्र	शब्द	पत्र	शब्द	पत्र
अगुरुलघुचतुष्क	५२-८२	तुर्यक्रोध	९४	मध्यसंहननचतुष्क	८०
अज्ञानत्रिक	१४७	तुर्यमद	९४	मनुष्यत्रिक	५२-९५
अनन्तानुबन्धिचतुर्विंशति	१०१	तुर्यमान	९४	मनुष्यद्विक	५२
अनन्तानुबन्धिचतुष्क	८०	तुर्यमाया	९४	मिथ्यात्वद्विक	१६५
अनन्तानुबन्ध्येकत्रिंशत्	१०१	तुर्यलोभ	८८	वर्णचतुष्क	८१
अनादेयद्विक	८६	तृतीयकषाया	८६-९३	विकलत्रिक	५२
अपर्याप्तषट्क	१२१	त्रसचतुष्क	४१	विकलत्रिक	९९
अवधिद्विक	१४२-१४८	त्रसत्रिक	७९-९५	विहायोगतिद्विक	८९-९४
अस्थिरद्विक	८१	त्रसदशक	४१-७८	वेदत्रिक	३८-७८-८७
अस्थिरषट्क	४१-९५	त्रसनवक	८२	वैक्रियद्विक	५२-९९-१५६
आतपद्विक	९३	दर्शनचतुष्क	२७-८८	वैक्रियषट्क	५२
आहारकद्विक	५२-८१-१५५	दर्शनत्रिक	३०-७८	वैक्रियाष्टक	५९-८३
आहारकषट्क	१०५	दर्शनत्रिक	१६६	षोडशकषाय	३४-७८
उद्योतचतुष्क	१०३	दर्शनद्विक	१६५	संस्थानषट्क	९५
उपाङ्गत्रिक	९५	दुर्भगत्रिक	८०	संहननषट्क	९५
एकेन्द्रियत्रिक	१०३	द्वितीयकषाया	८६-९३	संज्ञिद्विक	१२४
औदारिकद्विक	५२-८०-१५६	देवत्रिक	५२	संज्वलनचतुष्क	८३
कषायपञ्चविंशति	३४-७८	देवद्विक	९४-५२	संज्वलनत्रिक	८८
कषायषोडशक	३४-७८	नपुंसकचतुष्क	१००	सम्यक्त्वत्रिक	१४२
केवलद्विक	१४५-१५७	नरकत्रिक	५२-७९	सम्यक्त्वत्रिक	१५५
गन्धद्विक	९४	नरकद्विक	५२-९३	सुभगत्रिक	४१
चतुर्थक्रोध	९४	नरकषोडश	१०१	सुरत्रिक	५२
चतुर्थमद	९४	नरत्रिक	५२	सुरद्विक	५२
चतुर्थमान	९४	नरद्विक	५२-९९	सूक्ष्मत्रयोदशक	१०४
चतुर्थमाया	९४	नवनोकषाय	३०-७८	सूक्ष्मत्रिक	४१-८४
चतुर्थलोभ	८८	निद्राद्विक	८२	स्त्यानर्द्धित्रिक	८०
जातिचतुष्क	७९	निद्रापञ्चक	२७	स्थावरचतुष्क	४१-७९
जिनपञ्चक	१०५	निरयत्रिक	५२-७९	स्थावरदशक	४१-७८
जिनैकादशक	१०१	निरयद्विक	५२-९३	स्थावरद्विक	९३
ज्ञानत्रिक	१६६	नोकषायनवक	३७-७८	स्थावरषट्क	४१
तिर्यक्त्रिक	८०-५२	पञ्चविंशतिकषाय	३४-७८	हास्यषट्क	३०-७८-८७
तिर्यग्द्विक	९३-५२	मध्यसंस्थानचतुष्क	८०		

षष्ठं परिशिष्टम् ।

श्वेताम्बरीयकर्मतत्त्वविषयकशास्त्राणां सूची ।

नंबर	ग्रन्थनुं नाम	कर्त्ता	श्लोकप्रमाण	रचनाकाल वगेरे
१	कर्मप्रकृति⊛	शिवशर्मसूरि	गा० ४७५	विक्रमनी ५ मी सदीनो संभव छे
	,, चूर्णी		श्लो० ७०००	ग्रन्थकारे पोतानुं नाम आप्युं नथी पण विक्रमनी १२ मी सदीथी पहेलानो होवो जोइए
	,, चूर्णीटिप्पन×	मुनिचन्द्रसूरि	श्लो० १९२०	विक्रमनी १२ मी सदी
	,, वृत्ति⊛	मलयगिरि	श्लो० ८०००	विक्रमनी १२–१३ सदी
	,, वृत्ति⊛	यशोविजयोपाध्याय	श्लो० १३०००	विक्रमनी १८ मी सदी
२	पञ्चसङ्ग्रह⊛	चन्द्रर्षिमहत्तर	गा० ९६३	पोतानो समय ग्रन्थकारे आप्यो नथी तेम बीजे ठेकाणे पण जोयो नथी
	,, स्वोपज्ञवृत्ति⊛	,,	श्लो० ९०००	,,
	,, बृहद्वृत्ति⊛	मलयगिरि	श्लो० १८८५०	विक्रमनी १२–१३ मी सदी
	,, दीपक×	वामदेव	श्लो० २५००	विक्रमनी १२ मी सदीनो संभव छे
३	प्राचीन छ कर्मग्रन्थ⊛		गा० ५५१	आ ग्रन्थनी ५४७ अने ५६७ गाथाओ पण जोवामां आवे छे
	(१) कर्मविपाक⊛	गर्गर्षि	गा० १६८	विक्रमनी १० मी सदीनो संभव छे
	,, वृत्ति⊛	परमानन्दसूरि	श्लो० ९२२	विक्रमनी १२–१३ मी सदी
	,, व्याख्या⊛		श्लो० १०००	विक्र० १२–१३ मी सदीनो संभव छे कदाच् पोतानुं नाम आप्युं नथी
	,, टिप्पन×	उदयप्रभसूरि	श्लो० ४२०	विक्रमनी १३ मी सदीनो संभव छे
	(२) कर्मस्तव⊛		गा० ५७	रचनाकाल अने पोतानुं नाम ग्रन्थकारे आप्युं नथी
	,, भाष्य⊛		गा० २४	,,
	,, भाष्य⊛		गा० ३२	,,
	,, वृत्ति⊛	गोविन्दाचार्य	श्लो० १०९०	वृत्तिकारे पोतानो समय आप्यो नथी पण १२८८ पहेलानो होवो जोइए
	,, टिप्पन×	उदयप्रभसूरि	श्लो० २९२	विक्रमनी १३ मी सदीनो संभव छे
	(३) बन्धस्वामित्व⊛		गा० ५४	रचनानो काल अने पोतानुं नाम ग्रन्थकारे आप्युं नथी
	,, वृत्ति⊛	हरिभद्रसूरि	श्लो० ५६०	विक्रमसंवत् ११७२
	(४) षडशीति⊛	जिनवल्लभगणी	गा० ८६	विक्रमनी १२ मी सदी
	,, भाष्य		गा० २३	भाष्यकारे पोतानो समय अने नाम आप्युं नथी

⊛ आवा चिह्नवाला ग्रन्थो मुद्रित थइ गया छे × आवा चिह्नवाला ग्रन्थो हजु सुधी छपाया जोवामां आव्या नथी पण बृहट्टिप्पनिका अने ग्रन्थावलीना आधारे अहीं नोंध लीधी छे

नबर	ग्रन्थनु नाम	कर्त्ता	श्लोकप्रमाण	रचनाकाल वगेरे
	,, भाष्य®		गा० ३८	भाष्यकारे पोतानो काल अने नाम आप्यु नथी
	,, वृत्ति®	हरिभद्रसूरि	श्लो० ८५०	विक्रमनी १२ मी सदी
	,, वृत्ति®	मलयगिरि	श्लो० २१४०	विक्रमनी १२-१३ मी सदी
	,, वृत्ति	यशोभद्रसूरि	श्लो० १६३०	विक्रमनी १२ मी सदी
	,, प्रा०वृत्ति×	रामदेव	श्लो० ७५०	विक्रमनी १२ मी सदी
	,, विवरण×	मेरुवाचक	पत्र० ३२	विवरणकारनो समय विवरण जोया सिवाय थइ शके नहीं
	,, उद्धार×		श्लोक० १६००	रचनाकाल अने कर्त्तानु नाम ग्रन्थ जोवाथी कदाच मळी शके
	,, अवचूरि		श्लो० ७००	,,
	(५)शतक®	शिवशर्मसूरि	गा० १११	विक्रमनी ५ मी सदीनो समय छे
	,, भाष्य®		गा० २४	भाष्यकारे पोतानु नाम अने समय ग्रन्थमा आप्यो नथी
	,, भाष्य		गा० २४	,,
	,, बृहद्भाष्य®	चक्रेश्वरसूरि	श्लो० १४१३	विक्रमसवत् ११७९
	,, चूर्णी®		श्लो० २३२२	रचनाकाल अने पोतानु नाम चूर्णीकारे आप्यु नथी
	,, वृत्ति®	मलधारिहेमचन्द्रसूरि	श्लो० ३७४०	विक्रमनी १२ मी सदी
	,, टिप्पन×	उदयप्रभसूरि	श्लो० ९७४	विक्रमनी १३ मी सदीनो समय छे
	,, अवचूरि	गुणरत्नसूरि	पत्र० २५	विक्रमनी १५ मी सदी
	(६) सप्ततिका®	चन्द्रर्षिमहत्तर	गा० ७५	पोतानो समय ग्रन्थकारे आप्यो नथी
	,, भाष्य®	अभयदेवसूरि	गा० १९१	विक्रमनी ११-१२ मी सदी
	,, चूर्णी		पत्र० १३२	रचनाकाल अने कर्त्तानु नाम कदाच ग्रन्थ जोवाथी मळी शके
	,, प्रा०वृत्ति	चन्द्रर्षिमहत्तर	श्लो० २३००	ग्रन्थमांथी रचनाकाल मळी शक्यो नथी
	,, वृत्ति®	मलयगिरि	श्लो० ३७८०	विक्रमनी १२-१३ मी सदी
	,, भाष्यवृत्ति®	मेरुतुङ्गसूरि	श्लो० ४१५०	विक्रमसवत् १४४९
	,, टिप्पन×	रामदेव	श्लो० ५७४	विक्रमनी १२ मी सदी
	,, अवचूरि	गुणरत्नसूरि		विक्रमनी १५ मी सदी श्लोक प्रमाण नवीन कर्मग्रन्थनी अवचूरि साथे गणायेलु छे
४	सार्द्धशतक®	जिनवल्लभगणी	गा० १५५	विक्रमनी १२ मी सदी
	,, भाष्य		गा० ११०	भाष्यकारे पोतानु नाम अने रचनाकाल भाष्यमा आप्यो नथी
	,, चूर्णी	मुनिचन्द्रसूरि	श्लो० २२००	विक्रमसवत् ११७०
	,, वृत्ति®	धनेश्वरसूरि	श्लो० ३७००	विक्रमसवत् ११७१

नंबर	ग्रंथनु नाम	कर्ता	श्लोकप्रमाण	रचनाकाळ वगेरे
	,, प्रा० वृत्ति×	चक्रेश्वरसूरि	ताड०प० १५१	रचनाकाळ पुस्तक जोया सिवाय कही शकाय नहीं
	,, वृत्तिटिप्पन×		श्लो० १४००	रचनाकाळ अने कर्तानु नाम पुस्तक जोवाथी निश्चय करी शकाय
५	नव्य पांच कर्मग्रन्थ®	देवेन्द्रसूरि	गा० ३०४	विक्रमनी १३-१४ मी सदी
	,, स्वोपज्ञटीका® (बन्धस्वामित्व विना)	,,	श्लो० १०१३१	,,
	,, अवचूरि×	मुनिशेखरसूरि	श्लो० २९५८	रचनाकालनो निर्णय पुस्तक जोवाथी कदाच थाय
	,, अवचूरि	गुणरत्नसूरि	श्लो० ५४००	विक्रमनी १५ मी सदी
	(२) बन्धस्वामित्वअवचूरि®		श्लो० ४२६ अ० २८	अवचूरिकाकारे पोतानु नाम तथा समय आप्यो नथी
	(३) कर्मस्तवविवरण×	कमलसंयमोपाध्याय	श्लो० ३५०	विक्रमसंवत् १५५९
	(४) छकर्मग्रन्थबालावबोध®	जयसोम	श्लो० १७०००	विक्रमनी १७ मी सदी
	(५) ,, ,, ×	मतिचन्द्र	श्लो० १२०००	रचनाकालनो निर्णय पुस्तक जोया सिवाय थई शके नहीं
	(६) ,, ®	जीवविजय	श्लो० १००००	विक्रमसंवत् १८०३
६	मन स्थिरीकरणप्रकरण	महेन्द्रसूरि	गा० १६७	विक्रमसंवत् १२८४
	,, वृत्ति	,,	श्लो० २३००	,,
७	संस्कृत चार कर्मग्रन्थ	जयतिलकसूरि	श्लो० ५६९	विक्रमनी १५ मी सदीनो प्रारम्भ
८	कर्मप्रकृतिद्वात्रिंशिका		गा० ३२	ग्रन्थकारे रचनाकाळ अने पोतानु नाम आप्यु नथी
९	भावप्रकरण®	विमलविजयगणी	गा० ३०	विक्रमसंवत् १६२३
	स्वोपज्ञवृत्ति®	,,	श्लो० ३२५	विक्रमसंवत् १६२३
१०	बन्धहेतूदयत्रिभङ्गी®	हर्षकुलगणी	गा० ६५	विक्रमनी १६ मी सदी
	,, वृत्ति®	वानर्षिगणी	श्लो० ११५०	विक्रमसंवत् १६०२
११	बन्धोदयसत्ताप्रकरण®	विजयविमलगणी	गा० २४	विक्रमनी १७ मी सदीनो प्रारम्भ
	,, स्वोपज्ञावचूरि®	,,	श्लो० ३००	,,
१२	कर्मसंवेधभङ्गप्रकरण®	देवचन्द्र	श्लो० ४००	रचनाकाळ ग्रंथ जोवाथी कदाच मळी आवे
१३	भूयस्कारादिविचारप्रकरण	लक्ष्मीविजय	गा० ६०	विक्रमनी १७ मी सदी

दिगम्बरीयकर्मतत्त्वविषयकशास्त्राणां सूची ।

नंबर	ग्रन्थनाम	कर्ता	श्लोकप्रमाण	रचनाकाल
१	महाकर्मप्रकृतिप्राभृत (षट्खण्डशास्त्र)	पुष्पदन्त तथा भूतबली	श्लो० ३६०००	अनुमाने-विक्रमनी ४-५ मी सदी
	,, प्रा०टीका	कुन्दकुन्दाचार्य	श्लो० १२०००	अज्ञात छे
	,, टीका	शामकुण्डाचार्य	श्लो० ६०००	,,
	,, कर्णा०टीका	तुम्बुलूराचार्य	श्लो० ५४०००	,,
	,, सं०टीका	समन्तभद्राचार्य	श्लो० ४८०००	,,
	,, व्या०टीका	बप्पदेवगुरु	श्लो० १४०००	,,
	,, धव०टीका	वीरसेन	श्लो० ७२०००	लगभगविक्रमसंवत् ९०५
२	कषायप्राभृत	गुणधर	गा० २३३	अनुमाने विक्रमनी ५ मी सदी
	,, चू०वृत्ति	यतिवृषभाचार्य	श्लो० ६०००	अनुमा० विक्रमनी ६ ठ्ठी सदी
	,, उचा०वृत्ति	उच्चारणाचार्य	श्लो० १२०००	अज्ञात छे
	,, टीका	शामकुण्डाचार्य	श्लो० ६०००	,,
	,, चू०व्याख्या	तुम्बुलूराचार्य	श्लो० ८४०००	,,
	,, प्रा०टीका	बप्पदेवगुरु	श्लो० ६००००	,,
	,, ज०टीका	वीरसेन तथा जिनसेन	श्लो० ६००००	विक्रमनी ९-१० मी सदी
३	गोम्मटसार	नेमिचन्द्रसिद्धान्तचक्रवर्ति	गा० १७०५	विक्रमनी ११ मी सदी
	,, कर्णा०टीका	चामुण्डराय		विक्रमनी ११ मी सदी
	,, सं०टीका	केशववर्णी		
	,, सं०टीका	श्रीमदभयचन्द्र		
	,, हिं०टीका	टोडरमलजी		
४	लब्धिसार	नेमिचन्द्रसिद्धान्तचक्रवर्ति	गा० ६५०	विक्रमनी ११ मी सदी
	,, सं०टीका	केशववर्णी		
	,, हिं०टीका	टोडरमलजी		
५	सं० क्षपणासार सं०	माधवचन्द्र		विक्रमनी १०-११ मी सदी
६	सं० पञ्चसङ्ग्रह	अमितगति		विक्रमसंवत् १०७३

१ आ परिशिष्ट पं. सुखलालनी कृत कर्मविपाकना हिन्दी अनुवादमांथी लीधुं छे

२. आ सङ्ख्या कर्मप्राभृतनी सङ्ख्या साथे मेळवीने लखेली छे

इति समाप्तानि परिशिष्टानि ।

इति सटीकः कर्मग्रन्थचतुष्टयरूपः प्रथमो विभागः समाप्तः ।

॥ अर्हम् ॥

श्रीआत्मानन्दजैनग्रन्थरत्नमालायामद्यावधिमुद्रितानां ग्रन्थानां सूची ।

× १ समवसरणस्तवः—तपाआचार्यश्रीधर्मघोषसूरिप्रणीत सावचूरिक.
× २ क्षुल्लकभवावलिप्रकरणम्—श्रीधर्मशेखरगणिगुम्फित सावचूरिकम्
× ३ लोकनालिद्वात्रिंशिकाप्रकरणम्—तपाआचार्यश्रीधर्मघोषसूरिसूत्रित सावचूरिकम्
× ४ योनिस्तवः—तपाश्रीधर्मघोषसूरिविरचित सावचूरिक
× ५ कालसप्ततिकाप्रकरणम्—तपाश्रीमद्धर्मघोषाचार्यनिर्मित सटीकम्
× ६ देहस्थितिस्तवः—तपाश्रीधर्मघोषसूरिविहित सावचूरिकम्
लघ्वल्पबहुत्वप्रकरणम्—सटीक च
× ७ सिद्धदण्डिकाप्रकरणम्—तपाआचार्यश्रीमद्देवेन्द्रसूरिसदृब्ध सावचूरिकम्
× ८ कायस्थितिस्तोत्रम्—तपाश्रीकुलमण्डनसूरिससूत्रित सावचूरिकम्
× ९ भावप्रकरणम्—श्रीमद्विजयविमलगणिविनिर्मित स्वोपज्ञावचूर्ण्या समलङ्कृतम्
×१० नवतत्त्वप्रकरणम्—उपकेशगच्छीयाचार्यश्रीदेवगुप्तसूरिविहित नवाङ्गीवृत्तिकारश्रीमदभयदेवाचार्यप्रणीतेन भाष्येण श्रीमद्यशोदेवोपाध्यायसूत्रितेन विवरणेन च विभूषितम्
नवतत्त्वप्रकरणम्—मूलमात्र च
×११ विचारपञ्चाशिकाप्रकरणम्—श्रीमद्विजयविमलगणिगुम्फित स्वोपज्ञावचूर्या समेतम्
×१२ परमाणुखण्डषट्त्रिंशिका पुद्गलषट्त्रिंशिका निगोदषट्त्रिंशिका च—श्रीरत्नसिंहसूरिविहितयाऽवचूर्या सहिता
×१३ बन्धषट्त्रिंशिका—श्रीविजयविमलापरनाम्ना वानरर्षिगणिना प्रणीतयाऽवचूर्या समेता
×१४ श्रावकव्रतभङ्गप्रकरणम्—सावचूरिकम्
×१५ देववन्दन-गुरुवन्दन-प्रत्याख्यानभाष्यम्—तपाश्रीमद्देवेन्द्रसूरिविहित तपाश्रीसोमसुन्दरसूरिविनिर्मितयाऽवचूर्योपेतम्
×१६ सिद्धपञ्चाशिकाप्रकरणम्—तपाआचार्यश्रीमद्देवेन्द्रसूरिसूत्रित सावचूरिकम्
×१७ अन्नायउञ्छकुलकम्—श्रीआनन्दविजयगणिकृतयाऽवचूर्या सहितम्
×१८ विचारसप्ततिकाप्रकरणम्—श्रीमन्महेन्द्रसूरिसङ्कलित श्रीविनयकुशलप्रणीतया वृत्त्या समेतम्
×१९ अल्पबहुत्वविचारगर्भो महावीरस्तवः—श्रीसमयसुन्दरगणिगुम्फितया स्वोपज्ञवृत्त्योपेत महादण्डकस्तोत्र च—सावचूरिकम्
×२० पञ्चसूत्रम्—याकिनीमहत्तरासूनु-आचार्यश्रीहरिभद्रविनिर्मितया टीकया समेतम्
×२१ जम्बूस्वामिचरितम्—अञ्चलगच्छीयश्रीजयशेखरसूरिप्रणीत संस्कृतपद्यबन्धनम्
×२२ रत्नपालनृपकथानकम्—वाचनाचार्यसोममण्डनविनिर्मित संस्कृतपद्यबन्धनम्
२३ सूक्तरत्नावली—बृहत्तपागच्छीयश्रीमद्विजयसेनसूरिप्रणीता
२४ मेघदूतसमस्यालेखः—श्रीमन्मेघविजयोपाध्यायविनिर्मितो मेघदूतमहाकाव्यचतुर्थचरणसमस्यापूर्तिरूप

२५ चेतोदूतम्—मेघदूतमहाकाव्यचतुर्थचरणसमस्यापूर्तिरूपम्

×२६ पर्युषणाष्टाह्निकाद्यदिनत्रयव्याख्यानम्—श्रीमद्विजयलक्ष्मीसूरिप्रणीतम्

×२७ चम्पकमालाकथा—श्रीमद्भावविजयगणिगुम्फिता संस्कृतपद्यमयी

×२८ सम्यक्त्वकौमुदी—श्रीमज्जिनहर्षगणिग्रथिता संस्कृतगद्यात्मका

×२९ श्राद्धगुणविवरणम्—श्रीजिनमण्डनगणिप्रणीतम्

×३० धर्मरत्नप्रकरणम्—पिप्पलगच्छीयश्रीशान्त्याचार्यप्रणीत स्वोपज्ञटीकोपेतम्

×३१ कल्पसूत्रम्—दशाश्रुतस्कन्धस्याष्टममध्ययनं श्रीमद्विनयविजयोपाध्यायविरचितया सुबोधिकाख्यया टीकया समेतम्

×३२ उत्तराध्ययनसूत्रम्—श्रीभावविजयगणिसङ्कलितया वृत्त्योपेतम्

×३३ उपदेशसप्ततिका—बृहत्तपागच्छीयश्रीसोमधर्मगणिप्रणीता

×३४ कुमारपालप्रबन्धः—श्रीमज्जिनमण्डनगणिप्रणीतो गद्यपद्यमय

×३५ आचारोपदेशः—श्रीमच्चारित्रसुन्दरगणिविनिर्मित

×३६ रोहिण्यशोकचन्द्रकथा—

×३७ गुरुगुणषट्त्रिंशत्षट्त्रिंशिकाकुलकम्—श्रीरत्नशेखरसूरिप्रणीत स्वोपज्ञदीपिकाख्यया व्याख्यया युतम्

×३८ ज्ञानसाराष्टकानि—न्यायविशारद-न्यायाचार्यश्रीमद्यशोविजयोपाध्यायविहितानि श्रीमद्देवचन्द्रजिद्विनिर्मितया ज्ञानमञ्जर्याख्यया व्याख्ययोपेतानि

×३९ समयसारप्रकरणम्—श्रीमद्देवानन्दाचार्यप्रणीत स्वोपज्ञटीकासमलङ्कृतम् नवतत्त्वस्वरूपवर्णनात्मकम् **समयसारप्रकरणमूलं च**

×४० सुकृतसागरमहाकाव्य—श्रीरत्नमण्डनविनिर्मित संस्कृतपद्यमय पेथडझाञ्झणचरितात्मक

×४१ धम्मिल्लकथा—

×४२ प्रतिमाशतकम्—न्यायविशारद-न्यायाचार्य-श्रीमद्यशोविजयोपाध्यायविहित श्रीभावप्रभसूरिविरचितया लघुटीकया सहितम्

×४३ धन्यकथानकम्—श्रीदयावर्धनप्रणीत संस्कृतपद्यात्मकम्

×४४ चतुर्विंशतिजिनस्तुतिसङ्ग्रहः—श्रीशीलरत्नसूरिविनिर्मित

×४५ रौहिणेयकथानकम्—

×४६ लघुक्षेत्रसमासप्रकरणम्—श्रीरत्नशेखरसूरिप्रणीत स्वोपज्ञटीकोपेतम्

×४७ बृहत्सङ्ग्रहणी—श्रीमज्जिनभद्रगणिक्षमाश्रमणप्रणीता आचार्यश्रीमलयगिरिपूज्यविहितया टीकया समेता **बृहत्सङ्ग्रहणीमूलं च**

×४८ श्राद्धविधिः—बृहत्तपागच्छीयश्रीरत्नशेखरसूरिसूत्रित स्वोपज्ञवृत्तियुत

×४९ षड्दर्शनसमुच्चयः—आचार्यश्रीहरिभद्रसूरिप्रणीत श्रीगुणरत्नसूरिनिर्मितया टीकयोपेत

×५० पञ्चसङ्ग्रह—श्रीचन्द्रर्षिमहत्तरसूत्रित श्रीमन्मलयगिरिपादप्रणीतया टीकया सहित

×५१ सुकृतसङ्कीर्तनकाव्यम्—पण्डितश्रीअरिसिंहविरचितं प्रतिसर्गं श्रीअमरचन्द्रकविविनिर्मितश्लोकचतुष्कयुत महामात्यश्रीवस्तुपालतेजःपालचरितात्मकम्

×५२ चत्वारः प्राचीनाः कर्मग्रन्थाः—

१ कर्मविपाकः—गर्गर्षिमहर्षिप्रणीत पूर्वाचार्यप्रणीतया व्याख्यया श्रीपरमानन्दसूरिसूत्रितया टीकया चोपेत

२ कर्मस्तवः—श्रीगोविन्दाचार्यविरचितया टीकयोपेत

३ बन्धस्वामित्वम्—बृहद्गच्छीयाचार्यहरिभद्रकृतया टीकया समेतम्

४ आगमिकवस्तुविचारसारप्रकरणम्—षडशीतिरित्यपर नाम श्रीमज्जिनवल्लभगणिप्रणीतम् आचार्यश्रीमलयगिरिपादविहितया बृहद्गच्छीयाचार्यहरिभद्रकृतया च टीकया सहितम् चत्वारः कर्मग्रन्था मूलमात्राः कर्मस्तवभाष्यद्वयं षडशीतिभाष्यं च

×५३ सम्बोधसप्ततिका—नागपुरीयतपागच्छीयश्रीरत्नशेखरसूरिसङ्कलिता श्रीगुणविनयवाचकप्रणीतया व्याख्यया समलङ्कृता

×५४ कुवलयमालाकथा—श्रीरत्नप्रभसूरिप्रणीता आचार्यदाक्षिण्याङ्कसूत्रितप्राकृतकथानुसारिणी संस्कृतभाषात्मका गद्यपद्यमयी

×५५ सामाचारीप्रकरणम् आराधकविराधकचतुर्भङ्गीप्रकरणं च—एतद्द्वयमपि न्यायविशारदन्यायाचार्यमहोपाध्यायश्रीमद्यशोविजयोपाध्यायविनिर्मितं स्वोपज्ञटीकोपेतम्

×५६ करुणावज्रायुध नाटकम्—श्रीबालचन्द्रसूरिप्रणीतम्

×५७ कुमारपालचरित्रमहाकाव्यम्—श्रीमच्चारित्रसुन्दरगणिप्रणीत संस्कृतपद्यमयम्

×५८ महावीरचरियं—श्रीनेमिचन्द्रसूरिविनिर्मित प्राकृत पद्यबन्ध च

×५९ कौमुदीमित्राणन्दरूपकम्—प्रबन्धशतकर्तृश्रीरामचन्द्रसूरिप्रणीतम्

×६० प्रबुद्धरौहिणेय नाटकम्—श्रीरामभद्रसूरिसूत्रित प्रकरणम्

×६१ धर्माभ्युदय छायानाटक सूक्तावली च—एतद्द्वितयमपि श्रीमन्मेघप्रभाचार्यविनिर्मितम्

×६२ पञ्चनिर्ग्रन्थीप्रकरणं प्रज्ञापनोपाङ्गतृतीयपदसङ्ग्रहणी च—एतद्द्वितयमपि नवाङ्गीवृत्तिकारश्रीमदभयदेवाचार्यसूत्रित सावचूरिकम्

×६३ रयणसेहरीकहा—श्रीजिनहर्षगणिप्रणीता प्राकृतभाषामयी गद्यपद्यात्मका

६४ सिद्धप्राभृतम्—पूर्वाचार्यप्रणीतटीकया समलङ्कृतम्

×६५ दानप्रदीपः—महोपाध्यायश्रीचारित्ररत्नगणिगुम्फित संस्कृतपद्यात्मक

×६६ बन्धहेतूदयत्रिभङ्ग्यादीनि प्रकरणानि सटीकानि

१ बन्धहेतूदयत्रिभङ्गीप्रकरणम्—श्रीहर्षकुलगणिप्रणीत श्रीविजयविमलगणिविरचितविवरणोपेतम्

२ जघन्योत्कृष्टपदे एककाले गुणस्थानकेषु बन्धहेतुप्रकरणं सटीकम्

३ चतुर्दशजीवस्थानेषु जघन्योत्कृष्टपदे युगपद्बन्धहेतुकप्रकरणं सटीकम्

४ बन्धोदयसत्ताप्रकरणम्—श्रीमद्विजयविमलगणिविहित सावचूरिकम्

६७ धर्मपरीक्षा—श्रीजिनमण्डनगणिप्रणीता

×६८ सप्ततिशतस्थानकप्रकरणम्—बृहत्तपागच्छीयश्रीसोमतिलकसूरिनिर्मितं राजसूरिगच्छीयश्रीदेवविजयविरचितया वृत्त्या समेतम्

६९ चेइयवदणमहाभास—श्रीशान्त्याचार्यप्रणीत संस्कृतछाययाविभूषितम्
७० प्रश्नपद्धतिः—नवाङ्गवृत्तिकारश्रीमदभयदेवाचार्यशिष्यश्रीहरिचन्द्रगणिविरचिता
×७१ कल्पसूत्रम्—दशाश्रुतस्कन्धस्याष्टममध्ययन श्रीधर्मसागरोपाध्यायसूत्रितया किरणावल्याख्यया टीकया सहितम्
७२ योगदर्शनम्—महर्षिपतञ्जलिप्रणीत न्यायाचार्यश्रीमद्यशोविजयोपाध्यायकृतयावृत्त्योपेत योगविंशिका च—आचार्यहरिभद्रविनिर्मिता न्यायविशारदोपाध्यायश्रीमद्यशोविजयगणिगुम्फितया टीकया युता
७३ मण्डलप्रकरणम्—विनयकुशलप्रणीत स्वोपज्ञवृत्तिसहितम्
७४ देवेन्द्रप्रकरण नरकेन्द्रकप्रकरण च—एतत्प्रकरणयुग्म पूर्वाचार्यप्रणीत मुनिचन्द्र सूरिसूत्रितया वृत्त्या च समेतम्
७५ चन्द्रवीरशुभा-धनधर्म-सिद्धदत्तकपिल-सुमुखनृपादिमित्रचतुष्केति कथाचतुष्टयम्—तपागच्छालङ्कारश्रीमुनिसुन्दरसूरिप्रणीत संस्कृतपद्यात्मकम्
७६ जैनमेघदूतकाव्यम्—
७७ श्रावकधर्मविधिप्रकरणम्—आचार्यहरिभद्रप्रणीत श्रीमानदेवसूरिविरचितया वृत्त्यासहित
७८ गुरुतत्त्वविनिश्चयः—न्यायविशारद-न्यायाचार्य-श्रीमद्यशोविजयोपाध्यायविनिर्मित स्वोपज्ञटीकोपेत
७९ ऐन्द्रस्तुतिचतुर्विंशतिका—न्यायाचार्यश्रीयशोविजयोपाध्यायविरचिता स्वोपज्ञविवरणयुता परमज्योतिःपञ्चविंशतिका परमात्मपञ्चविंशतिका श्रीविजयप्रभस्वाध्याय ऋषभदेवस्तवन च
८० वसुदेवहिण्डिप्रथमखण्डम्—श्रीसङ्घदासगणिवाचकविरचित प्राकृतसाहित्यस्यापूर्वं प्राचीनतरोऽय ग्रन्थ वसुदेवपरिभ्रमणेतिवृत्तगर्भित प्रथमोंऽश
८१ वसुदेवहिण्डिप्रथमखण्डम्—श्रीसङ्घदासगणिवाचकविरचित द्वितीयोंऽश
८२ बृहत्कल्पसूत्रम्—श्रुतकेवलिस्थविरार्यभद्रबाहुस्वामिप्रणीत स्वोपज्ञनिर्युक्त्युपेत श्रीसङ्घदासगणिविनिर्मितेन भाष्येण युत आचार्यश्रीमलयगिरिपादविहितयाऽर्धपीठिकावृत्त्या तपाश्रीक्षेमकीर्त्तिसूरिसूत्रितया शेषसमग्रवृत्त्या समेतम् तस्याय पीठिकारूप प्रथमोंऽश
८३ बृहत्कल्पसूत्रम्—सनिर्युक्तिभाष्यवृत्तिकम् तस्याय प्रथमोद्देशकगतप्रलम्बप्रकृत-मास कल्पप्रकृतात्मको द्वितीयोंऽश
८४ बृहत्कल्पसूत्रम्—सनिर्युक्तिभाष्यवृत्तिकम् तस्याय प्रथमोद्देशकान्तस्तृतीयोंऽश
८५ नव्यकर्मग्रन्थचतुष्टयम्—श्रीमद्देवेन्द्रसूरिप्रणीत स्वोपज्ञटीकोपेतम्





बृहत्तपागच्छाधिप-श्रीमद्देवेन्द्रसूरिविरचितस्वोपज्ञटीकोपेतः

शतकनामा पञ्चमः कर्मग्रन्थः ।

द्वितीय खं

तथा

सकलस्वपरसिद्धान्तनिष्णात-श्रीमलयगिरिसूरिप्रणीतविवरणोपेतः

चिरत्नपरमर्षिप्रणीतः

सप्ततिकाभिधानः षष्ठः कर्मग्रन्थः ।



एतयोः सम्पादकः—

अनेकान्तदर्शनसुनिष्णातप्रज्ञ-बृहत्तपागच्छान्तर्गतसंविग्नशाखीय-

आद्याचार्य-न्यायाम्भोनिधि-श्रीमद्विजयानन्दसूरीश-

(प्रसिद्धनाम श्रीआत्मारामजी महाराज)

शिष्यरत्न-प्रवर्तक-श्रीमत्कान्तिविजय—

मुनिप्रवरपादपङ्कजचञ्चरीकः

चतुरविजयो मुनिः



प्रकाश प्रापयिता च—

भावनगरस्थ-श्रीजैन-आत्मानन्दसभाया' कार्याधिकारी गान्धी इत्युपाधिधारकः

श्रेष्ठि-त्रिभुवनदासाङ्गजो वल्लभदासः ।

विक्रम संवत् १९९६ | प्रतय ५०० | वीर संवत् २४६६

ईस्वीसन्— १९४० | मूल्य रूप्यकचतुष्टयम् | आत्मसंवत् ४४

इद पुस्तक भावनगरे श्रीमहोदयप्रोन्टींगप्रेस-
मुद्रालये श्रेष्ठि-लल्लुभाइ-तनूज-गुलाबचन्द्रद्वारा
मुद्रितम् ।



प्रकाशित चेद " वल्लभदास त्रिभुवनदास गांधी
सेक्रेटरी श्रीआत्मानन्द जैन सभा भावनगर' इत्यनेन

अर्हम्

प्रातःस्मरणीय
गुणगुरु पुण्यधाम पूज्य गुरुदेवनुं
हार्दिक पूजन

पूज्यपाद प्रातःस्मरणीय गुणभंडार पुण्यनाम अने पुण्यधाम तथा श्रीआत्मानन्द जैन ग्रन्थरत्नमालाना उत्पादक संशोधक अने सम्पादक गुरुदेव श्री १००८ श्रीचतुरविजयजी महाराज वि. सं. १९९६ ना कार्तिक वदि ५ नी पाछली राते परलोकवासी थया छे, ए समाचार जाणी प्रत्येक गुणग्राही साहित्यरसिक विद्वानने दुःख थया सिवाय नहि ज रहे। ते छतां ए वात निर्विवाद छे के जगतना ए अटल नियमना अपवादरूप कोई पण प्राणधारी नथी। आ स्थितिमां विज्ञानवान् सत्पुरुषो पोताना अनित्य जीवनमां तेमनाथी बने तेटलां सत्कार्यो करवामां परायण रही पोतानी आसपास वसनार महानुभाव अनुयायी वर्गने विशिष्ट मार्ग चिंधता जाय छे।

पूज्यपाद गुरुदेवना जीवन साथे स्वगुरुचरणवास, शास्त्रसंशोधन अने ज्ञानोद्धार ए वस्तुओ एकरूपे वणाई गई हती। पोताना लगभग पचास वर्ष जेटला चिर प्रव्रज्यापर्यायमां अपवादरूप,–अने ते पण सकारण,–वर्षो बाद करीए तो आखी जिंदगी तेओश्रीए गुरुचरणसेवामां ज गाळी छे। प्रथमुद्रणना युग पहेलां तेमणे सख्याबंध शास्त्रोना लखवा–लखाववामां अने संशोधनमां वर्षो गाळ्यां छे। पाटण, वडोदरा, लींबडी आदिना विशाळ ज्ञानभंडारोना उद्धार अने तेने सुरक्षित तेमज सुव्यवस्थित करवा पाछळ वर्षो सुधी श्रम उठाव्यो छे। श्रीआत्मानन्द जैन ग्रन्थरत्नमाळानी तेमणे बराबर त्रीस वर्ष पर्यंत अप्रमत्त भावे सेवा करी छे। आ जै. ग्र. र. मा. ना तो तेओश्री आत्मस्वरूप ज हता।

पूज्यपाद गुरुदेवना जीवन साथे छगडानो खूब ज मेळ रह्यो छे। अने ए अंकथी अंकित वर्षोमां तेमणे विशिष्ट कार्यो साध्यां छे। तेओश्रीनो जन्म वि. सं. १९२६ मां थयो छे, दीक्षा १९४६ मां लीधी छे, (हुं जो भूलतो न होउं तो) पाटणना जैन भंडारोनी सुव्यवस्थानुं कार्य १९५६ मां हाथ धर्युं हतुं, "श्रीआत्मानन्द जैन ग्रन्थरत्नमाला" नां प्रकाशननी शरुआत १९६६ मां करी हती अने सतत कर्त्तव्यपरायण अप्रमत्त आदर्शभूत संयमी जीवन वीतावी १९९६ मां तेओश्रीए परलोकवास साध्यो छे।

अस्तु, हवे पूज्यपाद गुरुदेव श्रीमान् चतुरविजयजी महाराजनी टूंक जीवनरेखा ... जरूर रसप्रद थशे, एम मानी कोई पण जातनी अतिशयोक्तिनो ओप आप्या ... ए अहीं तद्दन सादी भाषामां दोरवामां आवे छे।

—पूज्यपाद गुरुदेवनो जन्म वडोदरा पासे आवेल छाणी गाममां वि. सं. १९२६

आत्मानन्द जैन ग्रन्थ रत्नमालाना

सम्पादक अने संशोधक

जन्म वि स १९२६ छाणी दीक्षा वि स १९४६ डभोई



आत्मानन्द जैन ग्रन्थ रत्नमाला सम्पादन वि स १९६६ सुरत

परमपूज्य महाराज श्री १००८ श्रीचतुरविजयजी

स्वर्गवास वि स १९९६ पाटण

श्री महोदय प्रेस–भावनगर

अर्हम्

प्रातःस्मरणीय
गुणगुरु पुण्यधाम पूज्य गुरुदेवनु
हार्दिक पूजन

पूज्यपाद प्रात स्मरणीय गुणभडार पुण्यनाम अने पुण्यधाम तथा **श्रीआत्मानन्द जैन ग्रन्थरत्नमाला**ना उत्पादक सशोधक अने सम्पादक गुरुदेव श्री १००८ **श्रीचतुरविजयजी** महाराज वि. स १९९६ ना कार्तिक वदि ५ नी पाछली रात्रे परलोकवासी थया छे, ए समाचार जाणी प्रत्येक गुणग्राही साहित्यरसिक विद्वानने दु ख थया सिवाय नहि ज रहे। ते छता ए वात निर्विवाद छे के जगतना ए अटल नियमना अपवादरूप कोई पण प्राणधारी नथी। आ स्थितिमा विज्ञानवान् सत्पुरुषो पोताना अनित्य जीवनमा तेमनाथी बने तेटला सत्कार्यो करवामा परायण रही पोतानी आसपास वसनार महानुभाव अनुयायी वर्गने विशिष्ट मार्ग चिंधता जाय छे।

पूज्यपाद गुरुदेवना जीवन साथे स्वगुरुचरणवास, शास्त्रसशोधन अने ज्ञानोद्धार ए वस्तुओ एकरूपे वणाइ गइ हती। पोताना लगभग पचास वर्ष जेटला चिर प्रव्रज्यापर्यायमा अपवादरूप,–अने ते पण सकारण,–वर्षो बाद करीए तो आखी जिंदगी तेओश्रीए गुरुचरणसेवामा ज गाळी छे। ग्रथमुद्रणना युग पहेला तेमणे सख्यानध शास्त्रोना लखवा–लखाववामा अने सशोधनमा वर्षो गाळ्या छे। पाटण, वडोदरा, लींबडी आदिना विशाळ ज्ञानभडारोना उद्धार अने तेने सुरक्षित तेमज सुव्यवस्थित करवा पाछळ वर्षो सुधी श्रम उठाव्यो छे। श्रीआत्मानन्द जैन ग्रन्थरत्नमाळानी तेमणे बराबर त्रीस वर्ष पर्यंत अप्रमत्त भावे सेवा करी छे। आ जै ग्र र मा ना तो तेओश्री आत्मस्वरूप ज हता।

पूज्यपाद गुरुदेवना जीवन साथे छगडानो खूब ज मेळ रह्यो छे। अने ए अंकथी अंकित वर्षोमा तेमणे विशिष्ट कार्यो साध्या छे। तेओश्रीनो जन्म वि स, १९२६ मा थयो छे, दीक्षा १९४६ मा लीधी छे, (हु जो भूलतो न होउ तो) पाटणना जैन भडारोनी सुव्यवस्थानु कार्य १९५६ मा हाथ धर्युं हतु, "श्रीआत्मानन्द जैन ग्रन्थरत्नमाला" ना प्रकाशननी शरुआत १९६६ मा करी हती अने सतत कर्त्तव्यपरायण अप्रमत्त आदर्शभूत सयमी जीवन वीतावी १९९६ मा तेओश्रीए परलोकवास साध्यो छे।

अस्तु, हवे पूज्यपाद गुरुदेव श्रीमान् चतुरविजयजी महाराजनी टूक जीवनरेखा विद्वानोने जरूर रसप्रद थशे, एम मानी कोई पण जातनी अतिशयोक्तिनो ओप आप्या सिवाय ए अहीं तद्दन सादी भाषामा दोरवामा आवे छे।

जन्म—पूज्यपाद गुरुदेवनो जन्म वडोदरा पासे आवेल छाणी गाममा वि स १९२६

ना चैत्र शुदि १ ने दिवसे थयो हतो। तेमनु पोतानु धन्य नाम भाई चुनीलाल राखवामा आव्यु हतु। तेमना पितानु नाम मलुकचद अने मातानु नाम जमनाबाई हतु। तेमनी ज्ञाति वीशापोरवाड हती। तेओ पोता साथे चार भाई हता अने त्रण बहेनो हती। तेमनु कुटुब घणु ज खानदान हतु। गृहस्थपणानो तेमनो अभ्यास ते जमाना प्रमाणे गूजराती सात चोपडीओ जेटलो हतो। व्यापारादिमा उपयोगी हिसाब आदि बाबतोमा तेओश्री हुशियार गणाता हता।

धर्मसस्कार अने प्रव्रज्या—छाणी गाम स्वाभाविक रीते ज धार्मिकसस्कारप्रधान क्षेत्र होई भाई श्रीचुनीलालमा धार्मिक सस्कार प्रथमथी ज हता अने तेथी तेमणे प्रतिक्रमण सूत्रादिने लगतो योग्य अभ्यास पण प्रथमथी ज कर्यो हतो। छाणी क्षेत्रनी जैन जनता अतिभावुक होई त्या साधु-साध्वीओनु आगमन अने तेमना उपदेशादिने लीधे लोकोमा धार्मिक सस्कार हम्मेशा पोषाता ज रहेता। ए रीते भाई श्रीचुनीलालमा पण धर्मना दृढ सस्कारो पड्या हता। जेने परिणामे पूज्यपाद प्रात स्मरणीय अनेकगुणगणनिवास शान्तजीवी परमगुरुदेव श्री १००८ श्रीप्रवर्त्तकजी महाराज श्रीकान्तिविजयजी महाराजनो सयोग थता तेमना प्रभावसम्पन्न प्रतापी वरद शुभ हस्ते तेमणे डभोई गाममा वि सं १९४६ ना जेठ वदि १० ने दिवसे शिष्य तरीके प्रव्रज्या अगीकार करी अने तेमनु शुभ नाम मुनि श्रीचतुरविजयजी राखवामा आव्यु।

विहार अने अभ्यास—दीक्षा लीधा पछी तेमनो विहार पूज्यपाद गुरुदेव श्रीप्रवर्त्तकजी महाराज साथे पजाब तरफ थतो रह्यो अने ते साथे क्रमे क्रमे अभ्यास पण आगळ वधतो रह्यो। शरुआतमा साधुयोग्य आवश्यकक्रियासूत्रो अने जीवविचार आदि प्रकरणोनो अभ्यास कर्यो। ते वखते पजाबमा अने खास करी ते जमानाना साधुवर्गमा व्याकरणमा मुख्यत्वे सारस्वत पूर्वार्ध अने चन्द्रिका उत्तरार्धनो प्रचार हतो ते मुजब तेओश्रीए तेनो अभ्यास कर्यो अने ते साथे काव्य, वाग्भटालकार, श्रुतबोध आदिनो पण अभ्यास करी लीधो। आ रीते अभ्यासमा ठीक ठीक प्रगति अने प्रवेश थया बाद पूर्वाचार्यकृत सत्यावन्ध शास्त्रीय प्रकरणो,—जे जैन आगमना प्रवेशद्वार समान छे,—नो अभ्यास कर्यो। अने तर्कसग्रह तथा मुक्तावलीनु पण आ दरमियान अध्ययन कर्यु। आ रीते क्रमिक सजीव अभ्यास अने विहार बन्ने य कार्य एकी साथे चालता रह्या।

उपर जणाववामा आव्यु तेम पूज्यपाद गुरुदेव श्रीचतुरविजयजी महाराज क्रमे क्रमे सजीव अभ्यास थया पछी ज्या ज्या प्रसग मळ्यो त्या त्या ते ते विद्वान् मुनिवरादि पासे तेम ज पोतानी मेळे पण शास्त्रोनु अध्ययन वाचन करता रह्या। भगवान् श्रीहेमचन्द्राचार्ये कह्यु छे के " अभ्यासो हि कर्मसु कौशलमावहति " ए मुजब पूज्यवर श्रीगुरुदेव शास्त्रीय वगेरे विषयमा आगळ वधता गया अने अनुक्रमे कोइनीये मदद सिवाय स्वतन्त्र रीते महान् शास्त्रोनो स्वाध्याय प्रवर्चवा लाग्यो। जेना फळरूपे आपणे " आत्मानन्द जैन ग्रन्थरत्नमाळा " ने आजे जोइ शकीए छीए।

शास्त्रलेखन अने संग्रह—विश्वविख्यातकीर्त्ति पुनीतनामधेय पंजाबदेशोद्धारक न्यायाम्भोनिधि जैनाचार्य श्रीविजयानन्दसूरिवरनी अवर्णनीय अने अखूट ज्ञानगंगाना प्रवाहनो वारसो एमनी विशाळ शिष्यसंततिमा निराबाध रीते वहेतो रह्यो छे। ए कारणसर पूज्यप्रवर प्रात स्मरणीय प्रभावपूर्ण परमगुरुदेव प्रवर्त्तकजी महाराज श्री १००८ श्रीकान्तिविजयजी महाराजश्रीमा पण ए ज्ञानगंगानो निर्मळ प्रवाह सतत जीवतो वहेतो रह्यो छे। जेना प्रतापे स्थान स्थानना ज्ञानभंडारोमाथी श्रेष्ठ श्रेष्ठतम शास्त्रोनु लेखन, तेनो संग्रह अने अध्ययन आदि चिरकाळथी चालु हता अने आज पर्यंत पण ए प्रवाह अविच्छिन्नपणे चालु ज छे।

उपर जणावेल शास्त्रलेखन अने संग्रहविषयक सम्पूर्ण प्रवृत्ति पूज्यपाद गुरुवर श्रीचतुरविजयजी महाराजना सूक्ष्म परीक्षण अने अभिप्रायने अनुसरीने ज हम्मेशा चालु रह्या हता। पुण्यनामधेय पूज्यपाद श्री १००८ श्रीप्रवर्त्तकजी महाराजे स्थापन करेला वडोदरा अने छाणीना जैन ज्ञानमंदिरोमाना तेओश्रीना विशाळ ज्ञानभंडारोनु बारीकाइथी अवलोकन करनार एटलु समजी शकशे के ए शास्त्रलेखन अने संग्रह केटली सूक्ष्म परीक्षापूर्वक करवामा आव्या छे अने ते केवा अने केटला वैविध्यथी भरपूर छे।

शास्त्रलेखन ए शी वस्तु छे ए बाबतनो वास्तविक ख्याल एकाएक कोइने य नहि आवे। ए बाबतमा भलभला विद्वान् गणाता माणसो पण केवा गोथा खाइ बेसे छे एनो ख्याल प्राचीन अर्वाचीन ज्ञानभंडारोमाना अमुक अमुक पुस्तको तेम ज गायकवाड ओरिएन्टल इन्स्टीट्युट आदिमाना नवा लखाएल पुस्तको जोवाथी ज आवी शके छे।

खरु जोता शास्त्रलेखन ए वस्तु छे के–तेने माटे जेम महत्त्वना उपयोगी ग्रंथोनु पृथकरण अति झीणवट पूर्वक करवामा आवे एटली ज बारीकाइथी पुस्तकने लखनार लहियाओ, तेमनी लिपि, ग्रंथ लखवा माटेना कागळो, शाही, कलम वगेरे दरेके दरेक वस्तु केवी होवी जोइए एनी परीक्षा अने तपासने पण ए मागी ले छे।

ज्यारे उपरोक्त बाबतोनी खरेखरी जाणकारी नथी होती त्यारे घणी वार एवु बने छे के–लेखको ग्रंथनी लिपिने बराबर उकेली शके छे के नहि? तेओ शुद्ध लखनारा छे के भूलो करनारा–वधारनारा छे? तेओ लखवा लखता वचमाथी पाठो छूटी जाय तेम लखनारा छे के केवा छे? इरादा पूर्वक गोटाळो करनारा छे के केम? तेमनी लिपि सुंदर छे के नहि? एक सरखी रीते पुस्तक लखनारा छे के लिपिमा गोटाळो करनारा छे? इत्यादि परीक्षा कर्या सिवाय पुस्तको लखाववाथी पुस्तको अशुद्ध भ्रमपूर्ण अने खराब लखाय छे। आ उपरात पुस्तको लखाववा माटेना कागळो, शाही, कलम वगेरे लेखनना विविध साधनो केवा होवा जोइए एनी माहिती न होय तो परिणाम ए आवे छे के सारामा सारी पद्धतिए

लखाएला शास्त्रो–पुस्तको अल्प काळमा ज नाश पामी जाय छे। केटलीक वार तो पाच पचीस वर्षमा ज ए ग्रथो मृत्युना मोमा जइ पडे छे।

पूज्यपाद गुरुवरश्री उपरोक्त शास्त्रलेखनविषयक प्रत्येक बाबतनी झीणवटने पूर्णपणे समजी शकता हता एटलु ज नहि, पण तेओश्रीना हस्ताक्षरो एटला सुदर हता अने एवी सुदर अने स्वच्छ पद्धतिए तेओ पुस्तको लखी शकता हता के भलभला लेखकोने पण आटी नाखे। ए ज कारण हतु के गमे तेवा लेखक उपर तेमनो प्रभाव पडतो हतो अने गमे तेवा लेखकनी लिपिमाथी तेओश्री काइ ने काइ वास्तविक खाधखुच काढता ज।

पूज्यपाद गुरुदेवनी पवित्र अने प्रभावयुक्त छाया तळे एकी साथे त्रीस त्रीस, चालीस चालीस लहियाओ पुस्तको लखवानु काम करता हता। तेओश्रीना हाथ नीचे काम करनार लेखकोनी सर्वत्र साधुसमुदायमा किम्मत अकाती हती।

टूकमा एम कहेवु जोइए के जेम तेओश्री शास्त्रलेखन अने सग्रह माटेना महत्त्वना ग्रथोनो विभाग करवामा निष्णात हता, ए ज रीते तेओश्री लेखनकळाना सकलस्पर्शी हार्दने समजवामा अने पारखवामा पण हता।

पुज्यपाद गुरुवरनी पवित्र चरणछायामा रही तेमना चिरकालीन लेखनकळाविषयक अनुभवोने जाणीने अने समझीने ज हु मारो "भारतीय जैन श्रमणसस्कृति अने लेखनकळा" नामनो ग्रथ लखी शक्यो छु। खरु जोता ए ग्रथलेखननो पूर्ण यश पूज्य गुरुदेवश्रीने ज घटे छे।

शास्त्रसशोधन—पूज्यपाद गुरुवरश्रीए श्रीप्रवर्तकजी महाराजश्रीना शास्त्रसग्रहमाना नवा लखावेल अने प्राचीन ग्रन्थो पैकी सख्याबध महत्त्वना ग्रथो अनेकानेक प्राचीन प्रत्यन्तरो साथे मरखावीने सुधार्या छे। जेम पूज्य गुरुदेव लेखनकळाना रहस्यने बराबर समजता हता ए ज रीते सशोधनकळामा पण तेओश्री पारगत हता। सशोधनकळा, तेने माटेना साधनो, सकेतो वगेरे प्रत्येक वस्तुने तेओश्री पूर्ण रीते जाणता हता। एमना सशोधनकळाने लगता पाडित्य अने अनुभवना परिपाकने आपणे तेओश्रीए सपादित करेल श्रीआत्मानन्द–जैन–ग्रन्थरत्नमाळामा प्रत्यक्षपणे जोइ शकीए छीए।

जैन ज्ञानभडारोनो उद्धार—पाटणना विशाळ जैन ज्ञानभडारो एक काळे अति अव्यवस्थित दशामा पड्या हता। ए भडारोनु दर्शन पण एकदर दुर्लभ ज हतु, एमाथी वाचन, अध्ययन, सशोधन आदि माटे पुस्तको मेळववा अति दुष्कर हता, एनी टीपो–लीस्टो पण बराबर जोइए तेवी माहिती आपनारा न हता अने ए भडारो लगभग जोइए तेवी सुरक्षित अने सुव्यवस्थित दशामा न हता। ए समये पूज्यपाद प्रवर्तकजी महाराज श्रीकान्तिविजयजी (मारा पूज्य गुरुदेव) श्रीचतुरविजयजी महाराजादि शिष्यपरिवार साथे पाटण पधार्या अने पाटणना ज्ञानभडारोनी व्यवस्था करवा माटे कार्यवाहकोनो

विश्वास संपादन करी ए ज्ञानभंडारोना सार्वत्रिक उद्धारनु काम हाथ धर्यु अने ए कार्यने सर्वांगपूर्ण बनाववा शक्य सर्व प्रयत्नो पूज्यपाद श्रीप्रवर्त्तकजी महाराजश्रीए अने पूज्य गुरुदेव श्रीचतुरविजयजी महाराजश्रीए कर्या । आ व्यवस्थामा बौद्धिक अने श्रमजन्य कार्य करवामा पूज्यपाद गुरुदेवनो अकल्प्य फाळो होवा छता पोते गुप्त रही ज्ञानभंडारोना उद्धारनो संपूर्ण यश तेओश्रीए श्रीगुरुचरणे ज समर्पित कर्यो छे ।

लींम्बडी श्रीसंघना विशाळ ज्ञानभंडारनी तथा वडोदरा-छाणीमा स्थापन करेला पूज्यपाद श्रीप्रवर्त्तकजी महाराजश्रीना अतिविशाळ ज्ञानभंडारोनी सर्वांगपूर्ण सुव्यवस्था पूज्य गुरुवरे एकले हाथे ज करी छे । आ उपरांत पूज्यप्रवर शान्तमूर्ति महाराजश्री १००८ श्रीहंसविजयजी महाराजश्रीना वडोदरामाना विशाळ ज्ञानभंडारनी व्यवस्थामा पण तेमनी महान् मदद हती ।

श्रीआत्मानन्द जैन ग्रन्थरत्नमाला—पूज्य श्रीगुरुश्रीए जेम पोताना जीवनमा जैन ज्ञानभंडारोनो उद्धार, शास्त्रलेखन अने शास्त्रसंशोधनने लगता महान् कार्यो कर्यां छे ए ज रीते तेमणे श्री आ. जै. ग्र. र. मा. ना सम्पादन अने संशोधननु महान् कार्य पण हाथ धर्यु हतु । आ ग्रंथमाळामा आज सुधीमा बधा मळीने विविध विषयने लगता नाना मोटा महत्त्वना नेवु ग्रंथो प्रकाशित थया छे, जेमाना घणा खरा पूज्य गुरुदेवे ज सम्पादित कर्या छे ।

आ ग्रंथमाळामा नानामा नाना अने मोटामा मोटा अजोड महत्त्वना ग्रन्थो प्रकाशित थया छे । नाना मोटा सख्याबंध शास्त्रीय प्रकरणोनो समूह आ ग्रन्थमाळामा प्रकाशित थयो छे ए आ ग्रन्थमाळानी खास विशेषता छे । आ प्रकरणो द्वारा जैन श्रमण अने श्रमणीओने खूब ज लाभ थयो छे । जे प्रकरणोना नाम मेळववा के सांभळवा पण एकाएक मुश्केल हता ए प्रकरणो प्रत्येक श्रमण-श्रमणीना हस्तगत थइ गया छे । आ ग्रन्थमाळामा एकंदर जैन आगमो, प्रकरणो, ऐतिहासिक अने औपदेशिक प्राकृत, संस्कृत कथासाहित्य, काव्य, नाटक आदि विषयक विविध साहित्य प्रकाश पाम्यु छे । ए उपरथी पूज्यपाद गुरुदेवमा केटलु विशाळ ज्ञान अने केटलो अनुभव हतो ए सहेजे समजी शकाय तेम छे । अने ए ज कारणसर आ ग्रन्थमाळा दिन प्रतिदिन दरेक दृष्टिए विकास पामती रही छे ।

छेल्लामा छेल्ली पद्धतिए ग्रन्थोनु संशोधन, संपादन अने प्रकाशन करता पूज्यपाद गुरुदेवे जीवनना अन्तकाळ पर्यंत अथाग परिश्रम उठाव्यो छे । निशीथसूत्रचूर्णि, कल्पचूर्णि, मलयगिरिव्याकरण, देवभद्रसूरिकृत कथारत्नकोश, वसुदेवहिंडी द्वितीयखंड आदि जेवा अनेक प्रासादभूत ग्रन्थोना संशोधन अने प्रकाशनना महान् मनोरथोने हृदयमा धारण करी स्वहस्ते एनी प्रेसकोपीओ अने एनुं अर्धसंशोधन करी तेओश्री परलोकवासी थया छे । अस्तु मृत्युदेवे कोना मनोरथ पूर्ण थवा दीधा छे !!!।

आम छता जो पूज्यपाद गुरुप्रवर श्रीप्रवर्त्तकजी महाराज, पूज्य गुरुदेव अने समस्त

मुनिगणनी आशीष वरसती हशे-छे ज तो पूज्य गुरुदेवना सत्सकल्पोने मूर्त्तस्वरूप आपवा अने तेमणे चालु करेली ग्रन्थमाळाने सविशेष उज्ज्वल बनाववा यथाशक्य अल्प स्वल्प प्रयत्न हु जरूर ज करीश ।

गुरुदेवनो प्रभाव—पूज्यपाद गुरुदेवमा दरेक बाबतने लगती कार्यदक्षता एटली बधी हती के कोई पण पासे आवनार तेमना प्रभावथी प्रभावित थया सिवाय रहेतो नहि । मारा जेवी साधारण व्यक्ति उपर पूज्य गुरुदेवनो प्रभाव पडे एमा कहेवापणु ज न होय, पण पडित-प्रवर श्रीयुत सुखलालजी, विद्वन्मान्य श्रीमान् जिनविजयजी आदि जेवी अनेकानेक समर्थ व्यक्तियो उपर पण तेओश्रीनो अपूर्व प्रभाव पडयो छे अने तेमनी विशिष्ट प्रवृत्तिनु सजीव बीजारोपण अने प्रेरणा पूज्यपाद गुरुदेवना सहवास अने ससर्गथी प्राप्त थया छे ।

जैन मदिर अने ज्ञानभडार वगेरेना कार्य माटे आवनार शिल्पीओ अने कारीगरो पण श्रीगुरुदेवनी कार्यदक्षता जोई तेमना आगळ बाळभावे वर्त्तता अने तेमना कामने लगती विशिष्ट कळा अने ज्ञानमा उमेरो करी जता ।

पूज्यपाद गुरुश्रीए पोताना विविध अनुभवोना पाठ भणावी पाटणनिवासी त्रिवेदी गोवर्धनदास लक्ष्मीशकर जेवा अजोड लेखकने तैयार करेल छे । जे आजना जमानामा पण सोना चादीनी शाही बनावी सुदरमा सुदर लिपिमा सोनेरी किम्मती पुस्तको लखवानी विशिष्ट कळा तेम ज लेखनकळाने अगे तलस्पर्शी अनुभव पण धरावे छे ।

पाटणनिवासी भोजक भाई अमृतलाल मोहनलाल अने नागोरनिवासी लहिया मूळचदजी व्यास वगेरेने सुदरमा सुदर प्रेसकोपीओ करवानु काम तेम ज लेखन-सशोधनने लगती विशिष्ट कळा पण पूज्य गुरुदेवे शीखवाड्या छे, जेना प्रतापे तेओ आजे पहेलानी कोटिमा खपे छे ।

एकदर आजे दरेक ठेकाणे एक एवी कायमी छाप छे के पूज्यपाद प्रवर्त्तकजी महाराज अने पूज्य गुरुदेवनी छायामा काम करनार लेखक, पडित के कारीगर हुशियार अने सुयोग्य ज होय ।

उपसहार—अंतमा हु कोई पण प्रकारनी अतिशयोक्ति सिवाय एम कही शकु छु के-पाटण, वडोदरा, लीम्बडीना ज्ञानभडारना पुस्तको अने ए ज्ञानभडारो, श्रीआत्मानन्द जैन ग्रन्थ रत्नमाळा अने एना विद्वान् वाचको, अने पाटण, वडोदरा, छाणी, भावनगर, लींबडी वगेरे गाम शहेरो अने त्याना श्रीसघो पूज्यपाद परमगुरुदेव श्रीचतुरविजयजी महाराजना पवित्र अने सुमगळ नामने क्दीय भूली नहि शके ।

लि० पूज्य गुरुदेव श्रीचतुरविजयजी महाराजना पवित्र चरणोनो अनुचर
अने तेओश्रीनी साहित्यसेवानो सदानो सहचर
मुनि पुण्यविजय

सङ्केतस्पष्टीकरणम् ।



अनुयो०	अनुयोगद्वार सूत्र
अनुयो हा० टी०	अनुयोगद्वार सूत्र हारिभद्री टीका
आव० नि० गा०	आवश्यक निर्युक्ति गाथा
कर्मप्र० कर्मप्र० गा०	कर्मप्रकृति गाथा
कर्मस्त० भा० गा०	कर्मस्तव भाष्य गाथा
जिनभ० सङ्ग्र० गा०	जिनभद्रीया सङ्ग्रहणी गाथा
जीवस० गा० जीवसमा० गा०	जीवसमासप्रकरण गाथा
तत्त्वा० अ० सू० भाष्यटी०	तत्त्वार्थ अध्याय सूत्र भाष्यटीका
नन्दी पत्र	नन्दीसूत्र पत्र
पञ्चव० गा०	पञ्चवस्तुक गाथा
पञ्चस० गा०	पञ्चसंग्रह गाथा
पञ्चाश० गा०	पञ्चाशक गाथा
प्रशम० गा०	प्रशमरतिप्रकरण आर्या
बृहत्कर्मवि० गा०	गर्गर्षिकृत बृहत्कर्मविपाक गाथा
बृ० कर्मस्तव गा०	बृहत्कर्मस्तव गाथा
बृहत्क० भा० गा० बृ० कल्प० गा०	बृहत्कल्पसूत्र भाष्य गाथा
बृ० शत० गा०	बृहत् शतक कर्मग्रन्थ गाथा
विशेषा० गा० विशेषा० भा० गा०	विशेषावश्यक भाष्य गाथा
शत० उ० शत० उद्दे०	शतक उद्देश
शत० गा०	शतक कर्मग्रन्थ गाथा
श० बृ० भा० गा० शत० बृ० भा० गा०	शतक बृहद्भाष्य गाथा
सिद्ध० सिद्धहे०	सिद्धहेमशब्दानुशासन
सिद्धहेम धा०	सिद्धहेम धातुपाठ

2

प्रस्तावना

कर्मग्रन्थ द्वितीय विभागनु नवीन संस्करण—आ विभागमा तपागच्छीय मान्य आचार्यप्रवर श्रीदेवेन्द्रसूरिकृत स्वोपज्ञ टीकायुक्त शतक नामना पाचमा कर्मग्रन्थनो अने आचार्य श्रीमलयगिरिकृत टीकायुक्त सित्तरि नामना छट्ठा कर्मग्रन्थनो समावेश करवामा आव्यो छे। आ बन्ने य सटीक कर्मग्रन्थोने बीजा विभाग तरीके प्रसिद्धिमा लाववा माटेनो यश वर्षो अगाउ श्रीजैनधर्मप्रसारक सभा-भावनगरे प्राप्त कर्यो छे। आजे ए प्रकाशन अलभ्य होवाथी अमे एने बीजी वार प्रकाशमा लाववा प्रयत्न करीए छीए। आ वखतना प्रकाशनमा सशोधनकार्यमाटे प्राचीनतम ताडपत्रीय अने कागळनी प्रतोनो उपयोग करवा उपरात टीकाकारोए टीकामा उद्धृत करेला प्रमाणोना स्थळोनी नोंध अने प्राकृत पाठोनी छाया पण आपवामा आवी छे। आदिमा अने अतमा कर्मग्रन्थना अभ्यासीओने अतिउपयोगी विषयानुक्रम, परिशिष्ट वगेरे पण आपवामा आव्या छे, जेनो परिचय आ नीचे कराववामा आवे छे।

कर्मग्रन्थना परिशिष्ट आदि—आ विभागना अतमा अमे चार परिशिष्ट आप्या छे। पहेला परिशिष्टमा टीकाकारोए टीकामा उद्धृत करेला आगमिक तेमज शास्त्रीय गद्य-पद्य प्रमाणोनी अकारादि क्रमथी अनुक्रमणिका आपी छे, बीजा त्रीजा परिशिष्टमा टीकामा आवता ग्रन्थो अने ग्रन्थकारोना नामोनी सूची छे अने चोथा परिशिष्टमा पाचमा-छट्ठा कर्मग्रन्थमा तेमज तेनी टीकामा आवता पारिभाषिक शब्दोनो कोष (जेनी व्याख्या आदि मूळ के टीकामा होय) स्थळनिर्देशपूर्वक आपवामा आव्यो छे।

आ उपरात आ विभागनी शरुआतमा विषयानुक्रमणिका पछी अमे "**पद्कर्मग्रन्थान्तर्गतविषयतुल्यतानिर्देशकाना दिगम्बरीयशास्त्रमध्यवर्तिना स्थलाना निर्देशः**" ए मथाळा नीचे छए कर्मग्रन्थमा गाथावार आवता विविध विषयो समानपणे के विषमपणे दिगम्बरीय शास्त्रोमा क्या क्या आवे छे तेने लगती एक अतिमहत्त्वनी नोंध आपी छे। आ विद्वत्तापूर्ण नोंध दिगम्बर जैन विद्वान् न्यायतीर्थ न्यायशास्त्री प० श्रीमहेन्द्रकुमार महाशये तैयार करी छे। आ नोंध कर्मग्रन्थना विशिष्ट अभ्यासीओने एक नवीन मार्गनु सूचन करे छे। अमे इच्छीए छीए के आ गौरवभर्या सग्रहनु कर्मविषयक साहित्यना विशिष्ट अभ्यासीओ ध्यानपूर्वक अवलोकन करे।

कर्मग्रन्थने अगे अमारु वक्तव्य—श्रीआत्मानन्द-जैनग्रन्थ-रत्नमालाना मुख्य सचालक अने एना प्राणस्वरूप पूज्य गुरुवर श्रीचतुरविजयजी महाराजे स्वसम्पादित कर्मग्रन्थना प्रथम विभागनी प्रस्तावनामा आचार्य श्रीदेवेन्द्रसूरि अने तेमना नव्य पाचे

कर्मग्रन्थोनो विस्तृत परिचय आप्यो छे एटले आ विभागनी प्रस्तावनामा मारे जे काइ कहेवानु छे ए मुख्यत्वे करीने छट्ठा कर्मग्रन्थ अने तेना कर्त्ता आदिने अगे ज कहेवानु छे।

छट्ठा कर्मग्रन्थनु नाम—आ विभागमा छपाएल छट्ठा कर्मग्रन्थनु नाम सित्तरि छे। आ प्रकरणनी गाथा सित्तेर होवाथी आने सित्तरि ए नामथी ओळखवामा आवे छे। एक जमानो एवो पण हतो ज्यारे ग्रन्थोने एना विषय आदि उपरथी न ओळखता मात्र तेनी पद्यसख्याने आधारे ज ओळखवा-ओळखाववामा आवता हता। आना उदाहरण तरीके आचार्य शिवशर्मकृत शतक, आचार्य सिद्धसेनकृत द्वात्रिंशिका प्रकरण, आचार्य हरिभद्रकृत पञ्चाशकप्रकरण विंशतिविंशतिकाप्रकरण षोडशकप्रकरण अष्टकप्रकरण, आचार्य जिनवल्लभकृत षडशीतिप्रकरण आदि अनेकानेक प्राचीनतम जैनाचार्यकृत ग्रन्थोना नामोनो निर्देश करी शकाय तेम छे। आपणु चालु प्रकरण पण ए कोटिनु होई एनी गाथा-सख्याने आधारे एने सित्तरि ए नामथी ओळखवामा आवे छे।

गाथासख्या—अमारा प्रस्तुत प्रकाशनमा सित्तरि कर्मग्रन्थनी ७२ गाथाओ छे। अतनी बे गाथाओ मूळ प्रकरणना विषयनी समाप्ति उपरातनी होई तेने गणतरीमा न लइए–अने न लेवी जोइए–तो आ प्रकरणनु आचार्ये आपेलु सित्तरि ए नाम सुसगत अने सार्थक ज छे। श्रीजैनधर्मप्रसारक सभा तरफथी प्रसिद्ध थएल द्वितीय विभागमा, आ प्रकरणनी अमारा प्रकाशनमा आवती ७२ गाथा उपरात "पच नव दुन्नि अट्ठा०" गा० ६ "बारसपणसट्ठसया०" गा० ४८ अने "मणुयगइ जाइ तस०" गा० ५८ आ त्रण गाथाओ वधारे छे।

आ त्रण गाथा पैकी "पच नव दुन्नि०" गाथा ६ टीकाकारे वर्णवेला आठ कर्मनी उत्तर-प्रकृतिओना स्वरूपना अनुसधानमा कोई विद्वाने टिप्पणरूपे नोंधेली अदर पेसी गइ छे।

५८ मी गाथा तरीके मूकायली "मणुयगइ जाइ०" गाथा सित्तेरमी गाथा तरीके बीजी वार आवती होवाथी बे पैकी गमे ते एक ठेकाणे ए गाथा पुनरुक्त अने निरुपयोगी छे। अहीं जोवानु एटलु ज रहे छे के बे स्थान पैकी कया स्थाननी गाथा वधारानी छे? आनो उत्तर आपणने "नाणतरायदसग०"[1] गाथा ५७नी टीका जोता सहेजे मळी रहे छे के–एकधारा चालती ५७ मी गाथानी टीकामा गाथानी अधूरी टीकाए एकाएक वचमा आवी पडती "मणुयगइ जाइ०" गाथा ५८ तद्दन असगत छे, एटलु ज नहि पण जे टीकापक्तिओने "मणुयगइ०" गाथानी टीका तरीके मानी लेवामा आवी छे ए पण एक भूल थइ छे। अस्तु, खरु जोता गाथा[2] ५७ मा "नवनाम उच्च च" अने गाथा[3] ६९ मा "उच्चगोय नवनामा" आ प्रमाणे बे गाथामा 'नवनाम' पदनो निर्देश आवतो होवाथी

१ अमारा प्रकाशनमां आ गाथा ६७ मी छे॥ २ अमारा प्रकाशनमां आ गाथा ५५ मी छे॥

३ अमारा सपादन प्रमाणे गाथा ५५॥ ४ अमारा सपादनने आधारे गाथा ६६॥

तेना स्पष्टीकरणमाटे टीकाकारे " नवनामेत्युक्तम् ततस्ता एव नव प्रकृतीर्दर्शयति " ए प्रमाणेनु अवतरण मूकी ७० गाथा तरीके जे " मणुयगइ जाइ० " गाथा स्वीकारी छे ए ज सुसगत अने सूत्रकारसम्मत गाथा छे ।

सशोधनमाटे एकठी करेली ताडपत्रीय वगेरे प्राचीन प्रतोमा पण उपरोक्त बन्ने य गाथाओ नथी । चूर्णिकारभगवाने चूर्णिमा " पच नव० " गाथा लीधी छे खरी, पण ते मात्र उत्तरप्रकृतिओना व्याख्याननी सूचना पूरती ज, नहि के सूत्रकारनी गाथा तरीके । " मणुयगइ जाइ० " गाथानो तो चूर्णिकारे ५८ मी गाथाना स्थानमा निर्देश सरखो य कर्यो नथी, तेम टबाकारे पण आ गाथानो निर्देश कर्यो नथी । आ रीते आ बन्ने य गाथाओ सूत्रकारसम्मत नथी ।

हवे रही " बारसपणसट्ठसया० " गाथानी वात । आ गाथा उपर अवतरण तेम ज टीका होवा छता, अमे एने चूर्णिकारना " एएसिं उदयविगप्पपयवदनिरूवणत्थमन्तर्भाष्य-गाथा—बारसपणसट्ठसया० " आ कथनानुसार बीजी अन्तर्भाष्यगाथाओनी माफक मूळप्रकरणनी गाथा तरीके गणतरीमा लीधी नथी ।

आ रीते प्रमारक सभानी आवृत्तिमा मूळप्रकरणगाथा तरीके प्रकाशन पामेली त्रणे गाथाओ सित्तरिप्रकरणकारनी नथी । सित्तरिप्रकरणनी तो ७२ गाथाओ ज छे ।

मुद्रित प्रकरणमाला तेमज टबा वगेरेमा आ प्रकरणनी ९२ गाथाओ जोवामा आवे छे, ए बधी ये वधारानी गाथाओ मोटे भागे अर्थनी पूर्ति अने तेना स्पष्टीकरण माटे चूर्णिकार-टीकाकारोए चूर्णि–टीकामा आपेली अन्तर्भाष्य आदिनी ज गाथाओ छे । आ वस्तु एना अन्तमा आवती गाथा उपरथी स्पष्ट रीते समजी शकाय छे—

गाहग्ग सयरीए, चदमहत्तरमयाणुसारीए ।
टीगाइ नियमियाण, एगूणा होइ नउई उ ॥[1]

भाषा अने छंद—जनकल्याणना इच्छुक जैनाचार्योए लोकजिह्वाने अनुकूळ प्राकृत-भाषा अने ग्रन्थरचनाने अनुकूळ आर्याछदने ज मुख्यपणे पसद करेल होई तेमनी मौलिक दरेक रचनाओ प्राकृतभाषा अने आर्याछदमा ज थई छे । ए रीते सित्तरी कर्मग्रन्थनी रचना पण प्राकृतभाषा अने आर्याछदमा ज थइ छे ।

विषय—पाचमा छट्ठा कर्मग्रन्थना विषयनो परिचय आ विभागमा आपेली विस्तृत विषयानुक्रमणिका जोवाथी वाचकोने मळी रहेशे ।

ग्रन्थकारो

नव्य पाच कर्मग्रन्थ अने तेनी स्वोपज्ञ टीकाना प्रणेता आचार्य श्रीदेवेन्द्रसूरिवरनो

---

१ अमारा सपादन मुजब गाथा ६७ ॥

विस्तृत परिचय पूज्यपाद गुरुदेव श्रीचतुरविजयजी महाराजे प्रथम विभागनी प्रस्तावनामा आपेलो होई अहीं मात्र सप्ततिकाप्रकरण अने तेनी टीकाना प्रणेताओ विषे ज विचार करवामा आवे छे ।

सप्ततिकाना प्रणेता

सप्ततिकाप्रकरणकारने लगतो प्रश्न विवादग्रस्त छे । सामान्य प्रचलित मान्यता एवी छे के एना प्रणेता श्रीचन्द्रर्षि महत्तर छे, अने मात्र आ रूढ मान्यताने अनुसरवा खातर पूज्य गुरुवर श्रीचतुरविजयजी महाराजश्रीए पण कर्मग्रन्थना प्रथम विभागनी प्रस्तावनामा अने आ विभागमा सप्ततिकाना शीर्षकमा " श्रीचन्द्रर्षिमहत्तरविरचित " एम जणाव्युं छे । परन्तु विचार करता आ रूढ मान्यताना मूळमा कोई पण आधार जडतो नथी ।

सप्ततिका प्रकरण मूलनी प्राचीन ताडपत्रीय प्रतोमा चन्द्रर्षिमहत्तरनामगर्भित जे "*गाहग्ग सयरीए०*" गाथा (*आ गाथा अमे उपर टरी आव्या छीए*) जोवाना आवे छे ए पण आपणने सत्तरिना प्रणेता चन्द्रर्षि महत्तर होवा माटेनी साक्षी आपती नथी । ए गाथा तो एटलु ज जणावे छे के–" चन्द्रर्षि महत्तरना मतने अनुसरती टीकाना आधारे सत्तरिनी गाथा (७० ने बदले वधीने) नव्यासी थई छे " । *आ उल्लेखमा* सित्तरि *प्रकरणनी गाथामा वधारो* केम थयो एनु कारण ज मात्र सूचववामा आव्यु छे, पण एना कर्त्ता विषे एथी कशो य प्रकाश पडतो नथी । आचार्य श्रीमलयगिरि पण टीकानी शरुआतमा के अंतमा ए माटे कशु य जणावता नथी । एटले आ रीते सित्तरिना प्रणेता अंगेनो प्रश्न अणउकल्यो ज रहे छे ।

सित्तरि प्रकरण चन्द्रर्षिमहत्तरप्रणीत होवानी मान्यता अमने तो भ्रममूलक ज लागे छे, अने ए तेना अंतनी "गाहग्ग सयरीए०" गाथामा आवता चन्द्रर्षिमहत्तर ए नामश्रवण मात्र माथी ज जन्म पामेल छे अने टबाकारे करेला असम्बद्ध अर्थथी आ भ्रममा उमेरो थयो छे ।

खरु जोता चन्द्रर्षि महत्तराचार्ये पचसग्रह ग्रन्थनी रचना करी छे तेमा सग्रह करेला अथवा समावेला शतक, सप्ततिका, कषायप्राभृत, सत्कर्म अने कर्मप्रकृति ए पाचे ग्रन्थो चन्द्रर्षि महत्तरना पहेला थई गएल आचार्योनी कृतिरूप होई प्राचीन ज छे । अत्यारनी रूढ मान्यता मुजब खरेखर जो सप्ततिकाकार अने पचसग्रहकार आचार्य एक

१ " गाहग्ग सयरीए० ' गाथानो अर्थ टबाकारे आ प्रमाणे कर्यो छे— चद्रमहत्तराचार्यना मतने अनुसरवावाळी सित्तेर गाथावडे आ ग्रथ रचायेल छे तेमा टीकाकारे रचेली नवी गाथाओ उमेरतां नेव्याशी थाय छे ॥ ८१ ॥ विवेचन—" सप्ततिका ग्रथकर्त्ता चद्रमहत्तर आचार्ये तो पूर्वे सित्तेर ज गाथा करी हती " इत्यादि । (श्रेयस्करमडळनी आवृत्ति) ॥

२ " सयगाइ पच गथा, जहारिह जेण एत्थ सखित्ता । दाराणि पच अहवा, तेण जहत्थाभिहाणमिण ॥ २ ॥ " पचसग्रह । पचाना शतक-सप्ततिका कषायप्राभृत सत्कर्म-कर्मप्रकृतिलक्षणाना ग्रन्थानाम्, अथवा पचानामर्थाधिकाराणा योगोपयोगमार्गणा-बन्धक बद्धव्य-बन्धहेतु–बन्धविधिलक्षणानां सग्रह पचसग्रह । ' (पचसग्रह गाथा १ मलयगिरिटीका) ॥

ज होत तो भाष्यकार चूर्णिकार आदि प्राचीन ग्रन्थकारोना ग्रन्थोमा जेम शतक सप्ततिका कर्मप्रकृति आदि ग्रन्थोना नामनो साक्षी तरीके उल्लेख मळे छे तेम पंचसंग्रह जेवा प्रासादभूत ग्रन्थना नामनो उल्लेख पण जरूर मळवो जोइतो हतो । परन्तु एवो उल्लेख क्याय जोवामा नथी आवतो ए एक सूचक वस्तु छे, अने आ उपरथी आपणे ए अनुमान करी शकीए छीए के ' सप्ततिकाना प्रणेता पंचसंग्रहकार करता कोई जुदा ज आचार्य छे के जेमनु नाम आपणे जाणता नथी, अने ते प्राचीनतम आचार्य छे ' ।

सप्ततिकानो रचनाकाळ—भगवान् श्रीजिनभद्रगणि क्षमाश्रमणे तेमना विशेषणवती ग्रन्थमा सित्तरि कर्मग्रन्थमा आवता विषयने अंगे चर्चा करी छे त्या सित्तरि प्रकरणना नामनो उल्लेख कर्यो छे एटले आ प्रकरण महाभाष्यकार श्रीजिनभद्रगणि क्षमाश्रमणना काळ पहेला रचाई चूक्यु हतु ए निर्विवाद हकीकत छे । भगवान् श्रीजिनभद्रगणिनो समय विक्रमनी सातमी सदीनो गणाय छे एटले ए पूर्वे आ प्रकरण रचायु हतु एम मानवामा कशी हरकत नथी ।

अही साथे साथे ए वात ध्यानमा रहे के महत्तर पद अने गर्गर्षि सिद्धर्षि पार्श्वर्षि चन्द्रर्षि आदि जेवा ऋषिपदान्त नामो सामान्य रीते पाछला जमानाना होई सित्तरि प्रकरणनी रचनानो समय अने चन्द्रर्षिमहत्तर ए नामनो सम्बन्ध पण विषमता भर्यो छे । ए कारणसर पण सित्तरिना प्रणेता चन्द्रर्षि महत्तर ठरता नथी ।

सित्तरिप्रकरणकारविषे आ करता विशेष अमे अत्यारे कशु ज कही शकता नथी ।

टीकाकार आचार्य श्रीमलयगिरि

सित्तरिटीकाना प्रणेता आचार्य श्रीमलयगिरि छे ए आपणे टीकाना अंतमा आवता नामोल्लेख परथी जाणी शकीए छीए । एमनो शक्य परिचय अहीं कराववामा आवे छे ।

गुणवती गूजरातनी गौरववती विभूतिसमा, समग्र जैन परम्पराने मान्य, गूर्जरेश्वर महाराज श्रीकुमारपालदेवप्रतिबोधक महान् आचार्य श्रीहेमचन्द्रना विद्यासाधनाना सहचर, भारतीय समग्र साहित्यना उपासक, जैनागमज्ञशिरोमणि, समर्थ टीकाकार, गूजरातनी भूमीमा अशान्तपणे लाखो श्लोकप्रमाण साहित्यगंगाने रेलावनार आचार्य श्रीमलयगिरि कोण हता ? तेमनी जन्मभूमी, ज्ञाति, माता-पिता, गच्छ, दीक्षागुरु, विद्यागुरु वगेरे कोण हता ? तेमना विद्याभ्यास, ग्रन्थरचना अने विहारभूमीना केन्द्रस्थान कया हता ? तेमनो शिष्यपरिवार हतो के नहि ? इत्यादि दरेक बाबत आजे लगभग अंधारामा ज छे ।

---

१ " सयरीए मोहबंधट्ठाणा पंचादओ कया पर । अनियट्टिणो छलुत्ता, पंचादओदीरणापगए ॥१०॥ सदीयए दो मिगणा, सम्मामिच्छ समोहबंभम्मि । भणिया वईरणाए, चत्तारि कहणु होज्जाहि ? ॥११॥
इत्यादिका गाथा ॥

ते छता शोध अने अवलोकनने अते जे काइ अल्प-स्वल्प सामग्री प्राप्त थई छे तेने आधारे ए महापुरुषनो अहीं परिचय करावबामा आवे छे ।

आचार्य श्रीमलयगिरिए पोते पोताना ग्रन्थोना अतनी प्रशस्तिमा " यदवापि मलयगिरिणा, सिद्धिं तेनाश्नुतां लोक ॥ " एटला सामान्य नामोल्लेख सिवाय पोता अगेनी बीजी कोई पण खास हकीकतनी नोंध करी नथी। तेम ज तेमना समसमयभावी के पाछळ थनार लगभग बधा य ऐतिहासिक ग्रन्थकारोए सुद्धा आ जैनशासनप्रभावक आगमज्ञ धुरन्धर सैद्धान्तिक समर्थ महापुरुषमाटे मौन अने उदासीनता ज धारण कर्यां छे। फक्त पदरमी सदीमा थएला श्रीमान् जिनमण्डनगणिए तेमना कुमारपालप्रबन्धमा 'आचार्य श्रीहेमचन्द्र विद्यासाधनमाटे जाय छे' ए प्रसगमा आचार्य श्रीमलयगिरिने लगती विशिष्ट वातनो उल्लेख कर्यो छे, जेनो उतारो अहीं आपवामा आवे छे—

" एकदा श्रीगुरूनापृच्छ्यान्यगच्छीयदेवेन्द्रसूरि-मलयगिरिभ्यां सह कलाकलापकौशलाद्यथ गौडदेश प्रति प्रस्थिता खिल्लूरग्रामे च त्रयो जना गता । तत्र ग्लानो मुनि वैयावृत्यादिना प्रतिचरित । स श्रीरैवतकतीर्थे देवनमस्करणकृतार्त्ति । यावद् ग्रामाध्यक्षश्राद्धेभ्य सुखासन प्रगुणीकृत्य ते रात्रौ सुप्तास्तावत् प्रत्यूषे प्रबुद्धा स्व रैवतके पश्यन्ति । शासनदेवता प्रत्यक्षीभूय कृतगुणस्तुति ' भाग्यवता भवतामत्र स्थिताना सर्वं भावि ' इति गौडदेशे गमन निषिध्य महौषधीरनेकान् मन्त्रान् नाम प्रभावाद्याख्यानपूर्वमाख्याय स्वस्थान जगाम ।

एकदा श्रीगुरुभि सुमुहूर्ते दीपोत्सवचतुर्दशीरात्रौ श्रीसिद्धचक्रमन्त्रः साम्नाय समुपदिष्ट । स च पद्मिनीस्त्रीकृतोत्तरसाधकत्वेन साध्यते तत सिध्यति, याचित वर दत्ते, नान्यथा। × × × × × ते च त्रय कृतपूर्वकृत्या श्रीअम्बिकाकृतसान्निध्या शुभध्यानधीरधिय श्रीरैवतकदैवतदृष्टौ त्रियामिन्यामाह्वाना ऽवगुण्ठन मुद्राकरण मन्त्रन्यास-विसर्जनादिभिरुपचारैर्गुरूक्तविधिना समीपस्थपद्मिनीस्त्रीकृतोत्तरसाधकक्रिया श्रीसिद्धचक्रमन्त्रमसाधयन् । तत इन्द्रसामानिकदेवोऽस्याधिष्ठाता श्रीविमलेश्वरनामा प्रत्यक्षीभूय पुष्पवृष्टिं विधाय 'स्वेप्सित वर वृणुत' इत्युवाच । तत' श्रीहेमसूरिणा राजप्रतिबोध', देवेन्द्रसूरिणा निजावदातकरणाय कान्तीनगर्या' प्रासाद एकरात्रौ ध्यानबलेन सेरीसकग्रामे समानीत इति जनप्रसिद्धि:, मलयगिरिसूरिणा सिद्धान्तवृत्तिकरणवर इति । त्रयाणा वर दत्त्वा देवः स्वस्थानमगात् । "

जिनमण्डनीय कुमारपालप्रबन्ध पत्र १२–१३ ॥

भावार्थ—आचार्य श्रीहेमचन्द्रे गुरुनी आज्ञा लई अन्यगच्छीय श्रीदेवेन्द्रसूरि अने श्रीमलयगिरि साथे कळाओमा कुशळता मेळववा माटे गौडदेश तरफ विहार कर्यो। रस्तामा आवता खिलूर गाममा एक साधु मांदा हता तेमनी त्रणे जणाए सारी रीते

सेवा करी । ते साधु गिरनार तीर्थनी यात्रा माटे खूब झरता हता । तेमनी अतसमयनी भावना पूरी करवामाटे गामना लोकोने समजावी पालखी वगेरे साधननो बदोबस्त करी रात्रे सूइ गया । सवारे उठीने जुए छे तो त्रणे जणा पोतानी जातने गिरनारमा जुए छे । आ वखते शासनदेवताए आवी तेमने कह्यु के—आप सौनुं धारेलु बधु य काम अहीं ज पार पडी जशे, हवे आपने आ माटे गौडदेशमा जवानी जरूरत नथी । अने विधि नाम माहात्म्य कहेवा पूर्वक अनेक मन्त्र औषधी वगेरे आपी देवी पोताने ठेकाणे चाली गई ।

"एक वखत गुरुमहाराजे तेमने सिद्धचक्रनो मत्र आम्नाय साथे आप्यो, जे काळी चौदशनी राते पद्मिनी स्त्रीना उत्तरसाधकपणाथी सिद्ध करी शकाय । × × × × × त्रणे जणाए विद्यासाधनना पुरश्चरणने सिद्ध करी, अम्बिकादेवीनी सहायथी भगवान् श्रीनेमिनाथ सामे बेसी सिद्धचक्रमत्रनी आराधना करी । मन्त्रना अधिष्ठायक श्रीविमलेश्वरदेवे प्रसन्न थई त्रणे जणाने कह्यु के—तमने गमतु वरदान मागो । त्यारे श्रीहेमचन्द्रे राजाने प्रतिबोध करवानु, श्रीदेवेन्द्रसूरिए एक रातमा कान्तीनगरीथी सेरीसामा मदिर लाववानु अने श्रीमलयगिरिसूरिए जैन सिद्धान्तोनी वृत्तिओ रचवानु वर माग्यु । त्रणेने तेमनी इच्छा प्रमाणेनु वर आपी देव पोताने स्थाने चाल्यो गयो । "

उपर कुमारपालप्रबन्धमाथी जे उतारो आपवामा आव्यो छे एमा मलयगिरि नामनो जे उल्लेख छे ए बीजा कोई नहि, पण जैन आगमोनी वृत्तिओ रचवानु वर मागनार होई प्रस्तुत मलयगिरि ज छे । आ उल्लेख टूको होवा छता एमा नीचेनी महत्त्वनी बाबतोनो उल्लेख थएलो आपणे जोइ शकीए छीए—१ पूज्य श्रीमलयगिरि भगवान् श्रीहेमचन्द्र साथे विद्यासाधनमाटे गया हता । २ तेमणे जैन आगमोनी टीकाओ रचवा माटे वरदान मेळव्यु हतु अथवा ए माटे पोते उत्सुक होई योग्य साहाय्यनी मागणी करी हती । ३ 'मलयगिरिसूरिणा' ए उल्लेखथी श्रीमलयगिरि आचार्यपदविभूषित हता ।

श्रीमलयगिरि अने तेमनु सूरिपद—पूज्य श्रीमलयगिरि महाराज आचार्यपदविभूषित हता के नहि ? ए प्रश्नने विचार आवता, जो आपणे सामान्य रीते तेमना रचेला ग्रन्थोना अतनी प्रशस्तिओ तरफ नजर करीशु तो आपणे तेमा तेओश्रीमाटे " यदवापि मलयगिरिणा " एटला सामान्य नामनिर्देश सिवाय बीजो कशो य खास विशेष उल्लेख जोइ शकीशु नहि । तेमज तेमना पछी लगभग एक सैका बाद एटले के चौदमी सदीनी शरुआतमा थनार तपागच्छीय आचार्य श्रीक्षेमकीर्तिसूरिए श्रीमलयगिरिविरचित

बृहत्कल्पसूत्रनी अपूर्ण टीकाना अनुसन्धानना मंगलाचरण अने उत्थानिकामा पण एमने माटे आचार्य तरीकेनो स्पष्ट निर्देश कर्यो नथी । ए विषेनो स्पष्ट उल्लेख तो आपणने पदरमी सदीमा थनार श्रीजिनमण्डनगणिना कुमारपालप्रबन्धमा ज मळे छे । एटले सौ कोइने एम लागशे के तेओश्री माटे आचार्य तरीकेनो निर्देश करवा माटे आचार्य श्रीक्षेमकीर्त्ति जेवाए ज्यारे उपेक्षा करी छे तो तेओश्री वास्तविक रीते आचार्यपदविभूषित हशे के केम ? अने अमने पण ए माटे तर्क–वितर्क थता हता । परतु तपास करता अमने एक एवु प्रमाण जडी गयु के जेथी तेओश्रीना आचार्यपदविभूषित होवा माटे बीजा कोई प्रमाणनी आवश्यकता रहे ज नहि । ए प्रमाण खुद श्रीमलयगिरिविरचित स्वोपज्ञशब्दानुशासनमा छे, जेनो उल्लेख अहीं करवामा आवे छे—

" एवं कृतमङ्गलरक्षाविधानः परिपूर्णमल्पग्रन्थं लघूपायं आचार्यो मलयगिरिः शब्दानुशासनमारभते । "

आ उल्लेख जोया पछी कोइने पण तेओश्रीना आचार्यपणाविषे शका रहेशे नहि ।

श्रीमलयगिरिसूरि अने आचार्य श्रीहेमचन्द्रनो सम्बन्ध—उपर आपणे जोइ आव्या छीए के श्रीमलयगिरिसूरि अने भगवान् श्रीहेमचन्द्राचार्य विद्याभ्यासने विकसावबामाटे तेम ज मन्त्रविद्यानी साधनामाटे साथे रहेवा हता अने साथे विहारादि पण करता हता । आ उपरथी तेओ परस्पर अतिनिकट सम्बन्ध धरावता हता, ते छता ए सबध केटली हद सुधीनो हतो अने तेणे केवु रूप लीधु हतु ए जाणवा माटे आचार्य श्रीमलयगिरिए पोतानी आवश्यकवृत्तिमा भगवान् श्रीहेमचन्द्रनी कृतिमानु एक प्रमाण टाकता तेओश्री माटे जे प्रकारनो बहुमानभर्यो उल्लेख कर्यो छे ते आपणे जोइए । आचार्य श्रीमलयगिरिनो ए उल्लेख आ प्रमाणे छे—

" तथा चाहु स्तुतिषु गुरवः—

अन्योन्यपक्षप्रतिपक्षभावाद्, यथा परे मत्सरिणः प्रवादाः ।
नयानशेषानविशेषमिच्छन्, न पक्षपाती समयस्तथा ते ॥ "

हेमचन्द्रकृत अन्ययोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिका श्लोक ३० ॥

आ उल्लेखमा श्रीमलयगिरिए भगवान् श्रीहेमचन्द्रनो निर्देश " गुरव " एवा अति बहुमानभर्या शब्दथी कर्यो छे । आ उपरथी भगवान् श्रीहेमचन्द्रना पाण्डित्य, प्रभाव अने

---

१ आगमदुर्गमपदसंशयादितापो विलीयते विदुषाम् । यद्वचनचन्दनरसैर्मलयगिरिः स जयति यथार्थः ॥५॥ श्रीमलयगिरिप्रभवो, या कल्पसुपाक्रमत मतिमन्थः । सा कल्पशास्त्रटीका मयाऽनुसन्धीयतेऽल्पधिया ॥८॥

२ "–चूर्णिकृता चूर्णिरासूत्रिता तथापि सा निबिडजडिमजम्बालजगलानामस्मादृशां जन्तूनां न तथाविधमवबोधनिबन्धनमुपजायत इति परिभाव्य शब्दानुशासनादिविश्वविद्यामयज्योतिःपुञ्जपरमाणुघटितमूर्तिभिः श्रीमलयगिरिमुनीन्द्रपादैः विवरणमुपचक्रमे । "

गुणोनी छाप श्रीमलयगिरि जेवा समर्थ महापुरुष पर केटली उंडी पडी हती एनी कल्पना आपणे सहेजे करी शकीए छीए। साथे साथे आपणे ए पण अनुमान करी शकीए के-श्रीमलयगिरि श्रीहेमचन्द्रसूरि करता वयमा भले नाना मोटा होय, परतु व्रतपर्यायमा तो तेओ श्रीहेमचन्द्र करता नाना ज हता। नहि तो तेओ श्रीहेमचन्द्राचार्य माटे गमे तेटला गौरवतासूचक विशेषणो लखे पण "गुरव" एम तो न ज लखे।

मलयगिरिनी ग्रन्थरचना—आचार्य श्रीमलयगिरिए केटला ग्रन्थो रच्या हता ए विषेनो स्पष्ट उल्लेख क्याय जोवामा नथी आवतो। तेम छता तेमना जे ग्रन्थो अत्यारे मळे छे, तेम ज जे ग्रन्थोना नामोनो उल्लेख तेमनी कृतिमा मळवा छता अत्यारे ए मळता नथी, ए बधायनी यथाप्राप्त नोंध आ नीचे आपवामा आवे छे।

मळता ग्रन्थो

नाम	[1]ग्रन्थश्लोकप्रमाण	
१ भगवतीसूत्र द्वितीयशतकवृत्ति	३७५०	
२ राजप्रश्नीयोपाङ्गटीका	३७००	मुद्रित
३ जीवाभिगमोपाङ्गटीका	१६०००	मुद्रित
४ प्रज्ञापनोपाङ्गटीका	१६०००	मुद्रित
५ चन्द्रप्रज्ञप्त्युपाङ्गटीका	९५००	
६ सूर्यप्रज्ञप्त्युपाङ्गटीका	९५००	मुद्रित
७ नन्दीसूत्रटीका	७७३२	मुद्रित
८ व्यवहारसूत्रवृत्ति	३४०००	मुद्रित
९ बृहत्कल्पपीठिकावृत्ति—अपूर्ण	४६००	मुद्रित
१० आवश्यकवृत्ति—अपूर्ण	१८०००	मुद्रित
११ पिण्डनिर्युक्तिटीका	६७००	मुद्रित
१२ ज्योतिष्करण्डकटीका	५०००	मुद्रित
१३ धर्मसंग्रहणीवृत्ति	१००००	मुद्रित
१४ कर्मप्रकृतिवृत्ति	८०००	मुद्रित
१५ पंचसंग्रहवृत्ति	१८८५०	मुद्रित
१६ षडशीतिवृत्ति	२०००	मुद्रित
१७ सप्ततिकावृत्ति	३७८०	मुद्रित
१८ बृहत्संग्रहणीवृत्ति	५०००	मुद्रित
१९ बृहत्क्षेत्रसमासवृत्ति	९५००	मुद्रित
२० मलयगिरिशब्दानुशासन	५००० (?)	

१ अहीं आपवामां आवेली श्लोकसंख्या केटलाकनी मूळग्रन्थसहितनी छे॥

अलभ्य ग्रन्थो

१ जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति टीका	२ ओघनिर्युक्ति टीका
३ विशेषावश्यक टीका	४ तत्त्वार्थाधिगमसूत्रटीका[1]
५ धर्मसारप्रकरण टीका[2]	६ देवेन्द्रनरकेन्द्रकप्रकरण टीका[3]

अहीं जे ग्रन्थोना नामोनी नोंध आपवामा आवी छे तेमाथी श्रीमलयगिरिशब्दानुशासन सिवायना बधा य ग्रन्थो टीकात्मक ज छे। एटले आपणे आचार्य मलयगिरिने ग्रन्थकार तरीके ओळखीए ते करता तेमने टीकाकार तरीके ओळखवा ए ज सुसंगत छे

आचार्य श्रीमलयगिरिनी टीकारचना—आज सुधीमा आचार्य श्रीहरिभद्र, गधहस्ती सिद्धसेनाचार्य, श्रीमान् कोट्याचार्य, आचार्य श्रीशीलाङ्क, नवाङ्गीवृत्तिकार श्रीअभयदेवसूरि, मलधारी आचार्य श्रीहेमचन्द्र, तथा श्रीदेवेन्द्रसूरि आदि अनेक समर्थ टीकाकार आचार्यो थइ गया छे ते छता आचार्य श्रीमलयगिरिए टीकानिर्माणना क्षेत्रमां एक जुदी ज भात पाडी छे। श्रीमलयगिरिनी टीका एटले तेमना पूर्ववर्ती ते ते विषयना प्राचीन ग्रन्थो, चूर्णी, टीका, टिप्पण आदि अनेक शास्त्रोना दोहन उपरात पोता तरफना ते ते विषयने लगता विचारोनी परिपूर्णता समजवी जोइए। गभीरमां गभीर विषयोने चर्चती वखते पण भाषानी प्रासादिकता, प्रौढता अने स्पष्टतामा जरा सरखी पण उणप नजरे पडती नथी अने विषयनी विशदता एटली ज कायम रहे छे।

आचार्य मलयगिरिनी टीका रचवानी पद्धति टूकमा आ प्रमाणेनी छे—तेओश्री सौ पहेला मूळसूत्र, गाथा के श्लोकना शब्दार्थनी व्याख्या करता जे स्पष्ट करवानु होय ते साथे कही दे छे। त्यार पछी जे विषयो परत्वे विशेष स्पष्टीकरणनी आवश्यकता होय तेमने "अय भाव, किमुक्त भवति, अयमाशय, इदमत्र हृदयम्" इत्यादि लखी आखा य वक्तव्यनो सार कही दे छे। आ रीते प्रत्येक विषयने स्पष्ट कर्या पछी तेने लगता प्रासगिक अने अनुप्रासगिक विषयोने चर्चवानु तेमज तद्विषयक अनेक प्राचीन प्रमाणोनो उल्लेख करवानु पण तेओश्री चूकता नथी। एटलु ज नहि पण जे प्रमाणोनो पोते उल्लेख कर्यो होय तेने अंगे जरूरत जणाय त्या विषम शब्दोना अर्थो, व्याख्या के भावार्थ लखवानु पण तेओ भूलता नथी, जेथी कोई पण अभ्यासीने तेना अर्थ माटे मुझावु न पडे के फाफा मारवा न पडे। आ कारणसर तेमज उपर जणाववामा आव्यु तेम भाषानी प्रासादिकता अने अर्थ तेमज विषयप्रतिपादन करवानी विशद पद्धतिने लीधे आचार्य श्रीमलयगिरिनी टीकाओ अने तेमनु टीकाकारपणु समग्र जैन समाजमा खूब ज प्रतिष्ठा पाम्या छे।

---

१ "यथा च प्रमाणबाधितत्व तथा तत्त्वार्थटीकाया भावितमिति ततोऽवधार्यम्" प्रज्ञापनासूत्र टीका ॥ २ यथा चापुरुषार्थता अर्थकामयोस्तथा धर्मसारटीकायामभिहितमिति नेह प्रतायते।" धर्मसग्रहणीटीका ॥ ३ 'इत्यादीनां च प्रतिष्ठविधि परिमाण देवेन्द्रनरकेन्द्रे प्रपञ्चितमिति नेह भूय प्रपञ्च्यते" सग्रहणीवृत्ति पत्र १०६ ॥

आचार्य मलयगिरिनुं बहुश्रुतपणु—आचार्य मलयगिरिकृत महान ग्रन्थराशिनु अवगाहन करता तेमा जे अनेक आगमिक अने दार्शनिक विषयोनी चर्चा छे, तेमज प्रसगे प्रसगे ते ते विषयने लगता जे अनेकानेक कल्पनातीत शास्त्रीय प्रमाणो टाकेला छे, ए जोता आपणे समजी शकीशु के—तेओश्री मात्र जैन वाङ्मयनु ज ज्ञान धरावता हता एम न होतु, परतु उचमा उच्च कक्षाना भारतीय जैन–जैनेतर दार्शनिक साहित्य, ज्योतिर्विद्या, गणितशास्त्र, लक्षणशास्त्र आदिने लगता विविध अने विशिष्ट शास्त्रीय ज्ञाननो विशाळ वारसो धरावनार महापुरुष हता । तेओश्रीए पोताना ग्रन्थोमा जे रीते पदार्थोनु निरूपण कर्यु छे ए तरफ आपणे सूक्ष्म रीते ध्यान आपीशु तो आपणने लागशे के ए महापुरुष विपुल वाङ्मयवारिधिने घुटीने पी ज गया हता, अने आम कहेवामा आपणे जरा पण अतिशयोक्ति नथी ज करता । पूज्य आचार्य श्रीमलयगिरिसूरिवरमा भले गमे तेटलु विश्वविद्याविषयक पाडित्य हो, ते छता तेओश्री एकान्त निर्वृतिमार्गना धोरी अने निर्वृतिमार्गपरायण होई तेमने आपणे निर्वृतिमार्गपरायण जैनधर्मनी परिभाषामा **आगमिक के सैद्धान्तिक युगप्रधान** आचार्य तरीके ओळखीए ए ज वधारे घटमान वस्तु छे ।

आचार्य मलयगिरिनु आन्तर जीवन—वीरवर्द्धमान–जैन–प्रवचनना अलकारस्वरूप, युगप्रधान, आचार्यप्रवर श्रीमलयगिरि महाराजनी जीवनरेखा विषे एकापक काइ पण बोलवु के लखवु ए खरे ज एक अघरु काम छे ते छता ए महापुरुष माटे टूकमा पण लख्या सिवाय रही शकाय तेम नथी ।

आचार्य श्रीमलयगिरिविरचित जे विशाळ ग्रन्थराशि आजे आपणी नजर सामे विद्यमान छे ए पोते ज ए प्रभावक पुरुषना आन्तर जीवननी रेखा दोरी रहेल छे । ए ग्रन्थराशि अने तेमा वर्णवायला पदार्थो आपणने कही रह्या छे के—ए प्रज्ञाप्रधान पुरुष महान् ज्ञानयोगी, कर्मयोगी, आत्मयोगी अगर जे मानो ते हता । ए गुणधाम अने पुण्यनाम महापुरुषे पोतानी जातने एटली छुपावी छे के एमना विशाळ साहित्यराशिमा कोइ पण ठेकाणे एमणे पोताने माटे " वदवामि मलयगिरिणा " एटला सामान्य नामनिर्देश सिवाय कशु य लख्यु नथी । वार वार वन्दन हो ए मान-मदविरहित महापुरुषना पादपद्मने !!! ।

संशोधनमाटे एकत्र करेली हस्तलिखित प्रतिओ

प्रस्तुत विभागमा प्रकाशन पामता पाचमा–छट्टा कर्मग्रन्थना सशोधनमाटे प्राचीन ताडपत्रीय अने कागळ उपर लखाएल सात प्रतिओ एकठी करवामा आवी हती । जेना सकेत वगेरेनो परिचय अहीं आपवामा आवे छे ।

१–२ स० १ अने स० २ सज्ञक प्रतिओ—आ बन्ने य प्रतिओ पाटण–सघवीना पाडाना ताडपत्रीय ज्ञानभडारनी छे । ए भडार अत्यारे शा० सेवतीलाल छोटालाल पटणनी समाज नीचे छे ।

सं० १ संज्ञक प्रति ताडपत्रीय छे अने ते सटीक छए कर्मग्रन्थनी छे। तेना पाना ३५१ छे अने तेनी लंबाई–पहोळाई ३५॥×२॥ इंचनी छे। प्रतिनी दरेक पुठीमां वधारेमां वधारे छ अने ओछामां ओछी चार पंक्तिओ लखाएली छे। एनी लिपि तेम ज स्थिति घणी ज सारी छे अने तेना अंतमां नीचे प्रमाणे उल्लेख छे—

" इति श्रीमलयगिरिविरचिता सप्ततिटीका समाप्ता ॥छ॥ ग्रन्थाग्रम् ३८८० ॥छ॥ संवत् १४६२ वर्षे माघ शुदि ६ भोमे अद्येह श्रीपत्तने लिखितम् ॥ छ ॥ शुभं भवतु ॥

ऊकेशवंशसम्भूत, प्रभूतसुकृतादरः ।
आसीत् साण्डउसीग्रामे, सुश्रेष्ठी महुणाभिधः ॥ १ ॥

मोघीकृतापमज्ञाता, मोघीरप्रतिघोदया ।
नानापुण्यक्रियानिष्ठा, जाता तस्य सधर्मिणी ॥ २ ॥

तयो पुत्री पवित्राशा, प्रशस्या गुणसम्पदा ।
हादूर्दूरीकृता दोषैर्धर्मकर्मैककर्मठा ॥ ३ ॥

शुद्धसम्यक्त्वमाणिक्यालङ्कृत सुष्टसोदय ।
एतस्या भागिनेयोऽभूद्राकाकः श्रावकोत्तमः ॥ ४ ॥

श्रीजैनशासननभोऽङ्गणभास्कराणां, श्रीमत्तपागणपयोधिसुधाकराणाम् ।
विश्वाद्भुतातिशयराशियुगोत्तमानां, श्रीदेवसुन्दरगुरुप्रथिताभिधानाम् ॥ ५ ॥

पुण्योपदेशमथ पेशलसन्निवेशं, तत्त्वप्रकाशविशदं विनिशम्य सम्यक् ।
एतत् सुपुस्तकमलेखयदुत्तमाशा, सा श्राविका विपुलबोधसमृद्धिहेतो ॥ ६ ॥

बाणाङ्गवेदेन्दुमिते १४६५ प्रवृत्ते, संवत्सरे विक्रमभूपतीये ।
श्रीपत्तनाह्वानपुरे वरेण्ये, श्रीज्ञानकोशे निहितं तयेदम् ॥ ७ ॥

यावद् व्योमारविन्दे कनकगिरिमहाकर्णिकाकीर्णमध्ये,
विस्तीर्णोदीर्णकाष्ठातुलदलकलिते सर्वदोज्जृम्भमाणे ।
पक्षद्वन्द्वावदातौ वरतरगतिकं खेलतो राजहंसौ,
तावज्जीयादजस्रं कृतियतिभिरिदं पुस्तकं वाच्यमानम् ॥ ८ ॥ शुभं भवतु ॥ "

सं० २ प्रति पण ताडपत्रीय छे अने ते सटीक पांच कर्मग्रन्थ सुधीनी छे। तेना पाना २ थी ३०६ छे अने पांचमा कर्मग्रन्थनो अंतनो थोडो भाग खूटे छे। प्रतिनी लंबाई–पहोळाई २२।×२। इंचनी छे। दरेक पुठीमां छ के सात लिटिओ छे। प्रतिना देखाव अने लिपिने ध्यानमां लेतां ए चौदमी सदीमां लखाएली लागे छे। एनी स्थिति साधारण छे।

उपरोक्त बन्ने य प्रतिओनी पंक्तिओ अव्यवस्थित होवाने लीधे तेनी अक्षरसंख्या

जणावी नथी। आ बन्ने य प्रतिओ त्रणी होई त्रण विभागमा लखाएली छे अने एना पानाने दोराथी व्यवस्थित राखवा माटे वचला बे विभागमा काणा पाडेला छे।

३ स० २ संज्ञक प्रति—आ प्रति पण उपरोक्त सघवीना पाडाना ताडपत्रीय भडारनी ज छे अने ताडपत्र उपर लखाएल छे। आ प्रति फक्त आचार्य मलयगिरिकृत टीका युक्त सप्ततिका कर्मग्रन्थनी छे। एनी पत्रसख्या १२७ छे, ते पैकी ४५–६१–१०१–१०८ ए चार पाना खोवाइ गया छे। प्रतिनी लबाई-पहोळाई १४×२॥ इचनी छे। अने पुठीदीठ पाचथी सात लीटीओ छे। प्रति जीर्ण स्थितिमा छे। प्रति बे विभागमा लखाएली छे अने तेना पानाने व्यवस्थित राखी शकाय ए माटे वचला विभागमा दोरो परोववा माटे एक काणु पाडवामा आव्यु छे। प्रतिना अन्तमा नीचे मुजबनी ग्रन्थना नाम अने लेखनसमयने दर्शावती पुष्पिका छे—

" ॥ इति मलयगिरिविरचिता सप्ततिकाटीका समाप्ता ॥ छ ॥ छ ॥ ६०३ ॥ छ ॥ छ ॥ सवत् १२७१ वर्षे शुद ६ बुधे ॥ ग्रथाग्र ॥ ३७८० ॥ "

उपर एकवार स० २ सज्ञक प्रतिनो परिचय आपी देवा छता अहीं बीजीवार स०२ सज्ञक प्रतिनो परिचय आपवामा आव्यो छे एनो आशय ए छे के—उपरोक्त स०२ सज्ञक प्रति पाच कर्मग्रन्थ सुधीनी छे अने आ स० २ सज्ञक प्रति मात्र सप्ततिका कर्मग्रन्थनी छे। बन्ने य प्रतिओ एक ज भडारनी छे एटले आ प्रतिने अमे उपरोक्त प्रतिना अनुसन्धान तरीके स०२ ए सज्ञाथी ज ओळखावी छे।

आ प्रतिनी शरुआत पत्र १ थी थवा छता एमा सप्ततिकाटीकानी शरुआत गाथा ३१ नी टीकाना अत भागथी थाय छे ए एक विचित्रता छे।

४ स०सज्ञक प्रति—आ प्रति पाटण-श्रीसघना विशाळ ज्ञानभडारनी छे, जे अत्यारे शेठ धर्मचन्द अभयचन्दनी पेढीना कार्यवाहकोनी देखरेख नीचे छे। आ प्रति ताडपत्र उपर लखाएली छे अने ते फक्त सटीक सप्ततिका कर्मग्रन्थनी छे। एना पाना २८० छे। एनी लबाई-पहोळाई १५॥।×२ इचनी छे। पानानी पुठीदीठ चारथी छ पक्तिओ छे। प्रतिनी स्थिति सारी छे। अतमा नीचे प्रमाणेनी सादी पुष्पिका छे—

इति श्री मलय सप्ततिकाटीका समाप्ता ॥ छ॥ ग्रन्थाग्र ३८८० ॥ छ॥ मगल महाश्री ॥ शुभ भवतु श्रीसघस्य ॥

प्रतिना अतमा सवतनो उल्लेख नथी ते छता तेनी स्थिति जोता ए चौदमी सदीनी शरुआतमा लखाई होय एम लागे छे।

५ म० सज्ञक प्रति—आ प्रति पाटणनिवासी शा० मलुकचन्द दोलाचन्द हस्तकनी छे अने ते कागळ उपर लखाएली छे। प्रति सटीक छ ये कर्मग्रथनी अने त्रिपाठ लखायेल छे। एना पत्र २९२ छे। प्रतिनी लबाई-पहोळाई १०॥×४॥ इचनी छे।

दरेक पृष्ठमा चौदथी सोळ पंक्तिओ छे अने पंक्तिदीठ ५० थी ६२ अक्षरो छे। प्रतिनी स्थिति घणी ज सारी छे । अंतमा नीचे प्रमाणे पुष्पिका छे—

"इति श्रीमलयगिरिसूरिविरचिता सप्ततिकाटीका समाप्ता॥ ॥छ॥ ॥संवत् १७०४ वर्षे कार्त्तिक शुदि ८ सोमे लिखित ॥ छ ॥ ॥ ग्रंथाग्र ३८८० ॥ सर्वग्रंथाग्र १४०५२ ॥ ॥ छ ॥ ॥ छ ॥ ॥ श्री ॥ ॥ श्रीरस्तु ॥ ॥ छ ॥ ॥ छ ॥

चतुर्दश सहस्राणि, सार्धं शतसमन्वितम् ।
ग्रन्थ कर्मविपाकाना, षण्णामत्र निरूपितम् ॥ १ ॥

तच वाच्यमानाश्चोवसीयमाना भवतु ॥ श्रीराजनगरे लिखिता ॥
एतस्या शुचिसम्प्रदायविगमात् सादक्सुशास्त्रेक्षणा
भावाद् ग्रन्थगतार्थबोधविरहाद् बुद्धेश्च मान्द्यान्मया ।
दुष्ट क्लिष्टमशिष्ट[मत्र] समयातीत च यत्किञ्चन,
प्राज्ञैः शास्त्रविचारचारुहृदयै क्षम्य च शोध्य च तत् ॥ १ ॥
श्रीमज्जैनमत यावज्जयवज्जगतीहितम् ।
अस्तु वृत्तिरिय तावद्, भुवि भव्योपकारिणी ॥ २ ॥ इति भद्रम् ॥

६ त० सङ्गक प्रति—आ प्रति पाटण—फोफळीयावाडानी आगली सेरीमाना तपागच्छीय पुस्तकभडारनी छे । आ भडार अत्यारे शा मलुकचद दोलाचदनी देख-रेखमा छे । प्रति कागळ उपर त्रिपाट लखाएली छे अने सटीक छ ये कर्मग्रन्थनी छे। तेना पाना ११९ छे। प्रतिनी लबाई—पहोळाई १०॥×४॥ इच छे। पानानी दरेक पुठीमा २४ थी २७ लीटीओ छे अने लीटीदीठ ६३ थी ८१ अक्षरो छे। प्रति घणी ज सारी स्थितिमा छे अने अतमा आ प्रमाणे पुष्पिका छे—

" सवत् १६०६ वर्षे कार्तिक शुद ४ गुरौ दिने लिखितम् । छ । शुभ भवतु ॥ "

७ छा० सङ्गक प्रति—आ प्रति, वडोदरा नजीक आवेला छायापुरी (छाणी) गामना ज्ञानमदिरमा रहेला पूज्यपाद परम गुरुदेव प्रवर्त्तक श्री १००८ श्रीकान्तिविजयजी महाराजश्रीना पुस्तकभडारनी छे । आ ज्ञानभडार हमणा त्याना श्रीसघनी देखरेख नीचे छे । आ प्रति कागळ उपर शुद्ध लखाएली छे अने ते सटीक छ कर्मग्रन्थनी छे । एना पाना २५६ छे अने लबाई—पहोळाई १०।×४।। इच छे । दरेक पानामा १५ पंक्तिओ छे अने पंक्तिदीठ ५३ थी ६० अक्षरो लखाएला छे । प्रति घणी सारी स्थितिमा छे । अतमा खास पुष्पिका जेवु कशु य नथी ।

प्रतिओनी शुद्धाशुद्धि अने सशोधन—उपर अमे जे सात प्रतिओनो परिचय आप्यो छे ते पैकी वधारे सारी अने शुद्ध प्रतिओ ताडपत्रीय ज गणाय । कागळ उपर लखाएली प्रतिओ ताडपत्रीय प्रतोथी साधारण रीते बीजे नबरे ज गणाय । ते छता ए प्रतोए

सशोधनकार्यमा पूरेपूरी मदद आपी छे। आ सातं प्राचीन-प्राचीनतम प्रतिओने सामे राखी पूज्य गुरुप्रवर श्री १००८ श्री चतुरविजयजी महाराजे प्रस्तुत कर्मग्रन्थना द्वितीय विभागनु अति गौरवताभर्युं सशोधन अने सपादनकार्य कर्यु छे अने एने पाठान्तर विगेरेथी विभूषित कर्यो छे। कर्मग्रन्थना प्रथम विभागनी माफक आ विभागना प्रत्येक फॉर्मना प्रुफपत्रोने एक एक वार आदिथी अत सुधी मे अति काळजीपूर्वक तपास्या छे तेम ज पाठान्तरादिनो निर्णय करवामा यथाशक्य स्वल्प सहकार पण आप्यो छे। ते छता आ समग्र ग्रन्थना सशोधन अने सम्पादनने लगतो बधो य भार पूज्य गुरुवरे ज उपाड्यो छे ए मारे स्पष्ट रीते कही देवुं ज जोइए।

आभार

आ विभागना सशोधनमा उपयोगी हस्तलिखित प्राचीन प्रतिओ, भडारना जे जे कार्यवाहकोए अमने आपवा मारे उदारता दर्शावी छे,—जेमना नामो अमे उपर प्रतिओना परिचयमा लखी आव्या छीए,—ते सौनो आभार मानीए छीए।

आ पछी अमे स्याद्वाद महाविद्यालय-बनारसना जैनदर्शनाध्यापक दिगम्बर विद्वान् श्रीयुक्त महेन्द्रकुमार जैन न्यायतीर्थ-न्यायशास्त्रीनो सविशेष आभार मानीए छीए, जेमणे छए कर्मग्रन्थमा आवता विषयो सम के विषम रीते दिगम्बराचार्यविरचित ग्रन्थोमा कये कये ठेकाणे आवे छे तेने लगतो गाथावार स्थलनिर्देशरूप सग्रह तैयार करी आप्यो छे। आ सग्रहने अमे प्रस्तुत विभागना प्रारभमा प्रकाशित कर्यो छे।

आ उपरात अमे पडितवर्य श्रीयुत भगवानदास हर्षचन्द्रना नामने पण भूली शकीए तेम नथी। कारण के प० श्रीमहेन्द्रकुमार महाशये तैयार करेल उपर जणावेल नोंधनी नकल एटली भ्रामक हती के ए नकल प्रेसमा चाली शके ज नहि। आ स्थितिमा आ गौरवभर्यो सग्रह मुद्रणथी वचित ज रही जात, परतु प० श्रीयुक्त भगवानभाईए ते ते दिगबरीय ग्रथो जोइने आ सग्रहनी सुवाच्य अने प्रेसने लायक पाडित्यभरी कॉपी पोताने हाथे नवेसर करी आपी, जेने लीधे आ सग्रह प्रकाशमा आव्यो अने अमारु कर्मग्रन्थोनु नवीन सस्करण वधारे गौरववतु बन्यु। आ गौरवमाटेनो खरो यश प० श्रीभगवान-दासभाईने ज छे एम अमे मानीए छीए।

क्षमाप्रार्थना—अतमा विद्वानो समक्ष एटलु ज निवेदन छे के-प्रस्तुत सस्करणना सम्पादन अने सशोधनने निर्दोष बनाववा तेमज गौरवयुक्त करवा अमे गुरु-शिष्ये दरेक शक्य प्रयत्नो कर्या छे। ते छता आमा जे स्खलना के त्रुटि जणाय ते बदल विद्वानो क्षमा करे एटलु इच्छी विरमु छु।

निवेदक—

गुरुवर श्रीचतुरविजयजी महाराज चरण सेवक
मुनि पुण्यविजय

पांचमा कर्मग्रन्थनो विषयानुक्रम



छट्ठा कर्मग्रन्थनो विषयानुक्रम ।

बृहत्तपागच्छाधिप-श्रीमद्देवेन्द्रसूरिरचितस्वोपज्ञटीकोपेत.

शतकनामा पञ्चमः कर्मग्रन्थः।

तथा

सकलस्वपरसिद्धान्तनिष्णात-श्रीमलयगिरिसूरिप्रणीतविवरणोपेतः

चिरन्तनपरमर्षिप्रणीतः

सप्ततिकाभिधानः षष्ठः कर्मग्रन्थः।

॥ अर्हम् ॥

षट्कर्मग्रन्थान्तर्गतविषयतुल्यतानिर्देशकानां दिगम्बरीयशास्त्रमध्यवर्त्तिनां स्थलानां निर्देशः ।

प्रथमः कर्मग्रन्थः

गाथा. २. पयइठिइरसपएसा तं चउहा

पयडिट्ठिदिअणुभागप्पदेसबंधो य चदुविहो होइ ।

मूलाचार पर्या० गा० १८४ कर्मकाण्ड गा० ८९

२. मूलपगइऽट्ठ उत्तरपगई अडवन्नसयभेयं ॥

तं पुण अट्ठविहं वा अडदालसयं असंखलोगं वा ।

कर्मकाण्ड गा० ७

३. इह नाणदंसणावरणवेयमोहाउनामगोयाणि ।
विग्घं च पणनवदुअट्ठवीसचउतिसयदुपणविहं ॥

णाणस्स दंसणस्स य आवरणं वेदणीय मोहणीयं ।
आउगणामा गोदं तहंतरायं च मूलाओ ॥
पंच णव दोण्णि अट्ठावीसं चदुरो तहेव बादालं ।
दोण्णि य पंच य भणिया पयडीओ उत्तरा चेव ॥

मूलाचार पर्या० गा० १८५-८६ कर्मकाण्ड गा० ८ तथा २२

४. मइसुयओहीमणकेवलाणि नाणाणि

आभिणिबोहियसुदओहीमणपज्जवकेवलाणं च ।
आवरणं णाणाणं णादव्वं सव्वभेदाणं ॥

मूलाचार पर्या० गा० १८७ जीवकाण्ड गा० ३००

४-५. तत्थ मइनाणं ।
वंजणवग्गहु चउहा मणनयण विणिंदियचउक्का ॥ ४ ॥
अत्थुग्गहईहावायधारणा करणमाणसेहिं छहा ।
इअ अट्ठवीसभेअं

अभिमुहणियमियबोहणमाभिणिबोहियमणिंदिइंदियजं ।
अवग्गहईहावाया धारणगा होंति पत्तेयं ॥

वेंजणअत्थअवग्गहभेदा हु हवंति पत्तपत्तत्थे ।
कमसो ते वावरिदा पढमं णहि चक्खुमणसाणं ॥

जीवकाण्ड गा० ३०६–७

७. पज्जयअक्खरपयसंघाया पडिवत्ति तह य अणुओगो ।
पाहुडपाहुडपाहुडवत्थू पुव्वा य ससमासा ॥

अत्थक्खरं च पदसंघातं पडिवत्तियाणिजोगं च ।
दुगवारपाहुडं चिय पाहुडयं वत्थु पुव्वं च ॥
कमवण्णुत्तरवड्ढिय ताण समासा य अक्खरगदाणि ।
णाणवियप्पे वीसं गंथे बारस य चोद्दसयं ॥

जीवकाण्ड गा० ३४८–४९

८. अणुगामिवड्ढमाणयपडिवाईयरविहा छहा ओही ।
गुणपच्चइगो छद्धा अणुगावट्ठिदपवड्ढमाणिदरा ।

जीवकाण्ड गा० ३७२

८. रिउमइ विउलमई मणनाणं
मणपज्जवं च दुविहं उजुविउलमदि त्ति

जीवकाण्ड गा० ४३९

८. केवलमिगविहाणं ॥
संपुण्णं तु समग्गं केवलमसवत्तसव्वभावगयं ।
लोयालोयवितिमिरं केवलणाणं मुणेदव्वं ॥

जीवकाण्ड गा० ४६०

९ दंसणचउ पणनिद्दा वित्तिसमं दंसणावरणं ।
णिद्दाणिद्दा पयलापयला तह थीणगिद्धि णिद्दा य ।
पयला चक्खु अचक्खू ओहीणं केवलस्सेदं ॥
मूलाचार पर्या० गा० १८८

१० चक्खू दिट्ठि अचक्खू सेसिंदिय ओहिकेवलेहिं च ।
दंसणमिह सामन्नं
चक्खु अचक्खू ओही दंसणमध केवलं णेयं ॥
द्रव्यसङ्ग्रह गा० ४

११–१२ सुहपडिबोहा निद्दा निद्दानिद्दा य दुक्खपडिबोहा ।
पयला ठिओवविट्ठस्स पयलपयला उ चंकमओ ॥
दिणचिंतियत्थकरणी थीणद्धी अद्धचक्किअद्धबला ।

थीणुदयेणुट्टविदे सोवदि कम्म करेदि जप्पदि य ।
णिद्दाणिद्दुदयेण य ण दिट्ठिमुग्घादिदु मको ॥
पयलापयलुदयेण य वहेदि लाला चलति अगाई ।
णिद्दुदये गच्छतो ठाइ पुणो वइसइ पडेई ॥
पयलुदयेण य जीवो ईसुम्मीलिय सुवेइ सुत्तो वि ।
ईसं ईसं जाणदि मुहु मुहु सोवदे मद ॥

कर्मकाण्ड गा० २३–२५

१२. महुलित्तखग्गधारालिहण व दुहा उ वेयणिय ॥

सादमसाद दुविह वेदणिय ॥

मूलाचार पर्या० गा० १८९ कर्मकाण्ड गा० १४

१४. दसणमोह तिविह सम्म मीस तहेव मिच्छत्त

मिच्छत्त सम्मत्त सम्मामिच्छत्तमिदि तिण्णि ॥

मूलाचार पर्या० गा० १९०

मिच्छ दव्व तु तिधा

कर्मकाण्ड गा० २६

१५. जियअजियपुण्णपावासवसवरबधमुक्खनिज्जरणा ।
जेण सद्दहइ तय सम्म खइआइबहुभेय ॥

छप्पचणवविहाण अत्थाण जिणवरोवइट्ठाण ।
आणाए अहिगमेण य सद्दहण होइ सम्मत्त ॥

जीवकाण्ड गा० ५६१

१६. मीसा न रागदोसो

एतस्या विषयो मिश्रगुणस्थानीयो जीवकाण्डस्य २१, २२, ६५५ गाथास्ववलोकनीय । मिथ्यात्वगुणस्थानीयश्च ६५६ गाथायाम् ।

१७. सोलसकसाय नवनोकसाय दुविह चरित्तमोहणिय ।

चरित्तमोह कसाय तह णोकसाय च ॥

मूलाचार पर्या० गा० १८९

१७. अण अप्पचक्खाणा पचक्खाणा य सजलणा ।

कोहो माणो माया लोहोऽणताणुबंधिसण्णा य ।
अप्पच्चक्खाण तहा पच्चक्खाणो य संजलणो ॥

मूलाचार पर्या० गा० १९१

१८. जाजीवचरिसचउमासपक्खगा नरयतिरियनरअमरा।
सम्माणुसव्वविरईअहखायचरित्तघायकरा ॥

पढमादिया कसाया सम्मत्त देससयलचारित्त।
जहखाद घादति य गुणणामा होंति सेसा वि ॥
अतोमुहुत्त पक्ख छम्मासं संखसंखणतमव।
संजलणमादियाण वासणकालो दु नियमेण ॥

कर्मकाण्ड गा० ४५–४६ जीवकाण्ड गा० २८३

१९–२०. जलरेणुपुढविपव्वयराईसरिसो चउविहो कोहो।
तिणिसलयाकट्ठट्ठियसेलत्थमोवमो माणो ॥
मायावलेहिगोमुत्तिमिंढसिंगघणवसिमूलसमा।
लोहो हलिद्दखजणकद्दमकिमिरागसामाणो ॥

सिलपुढविभेदधूलीजलराइसमाणओ हवे कोहो।
णारयतिरियणरामरगईसु उप्पायओ कमसो ॥
सेलट्ठिकट्ठवेत्ते णियमेयेणऽणुहरतओ माणो।

वेणूवमूलोरब्भयसिंगे गोमुत्तए य खोरप्पे।
सरिसी माया
किमिरायचक्कतणुमलहरिद्दराण्ण सरिसओ लोहो।

जीवकाण्ड गा० २८४–८७

२१ पुरिसित्थितदुभय पइ अहिलासो जव्वसा हवइ सो उ।
थीनरनपुवेउदओ

पुरसिच्छिसंढवेदोदयेण पुरसिच्छिसंढओ भावे।

जीवकाण्ड गा० २७१

२२. फुफुमतणनगरदाहसमो ॥

तिणकारिसिट्ठपागग्गिसरिसपरिणामवेयणु

जीवकाण्ड गा० २७६

२३. सुरनरतिरिनरयाउ हडिसरिस

पडपडिहारसिमज्जाहलि

कर्मकाण्ड गा० २१

णिरियाऊ तिरियाऊ माणुसदेवाण होंति आऊणि ॥

मूलाचार पर्या० गा० १९३

२३. नामकम्म चित्तिसम ॥

चित्त

कर्मकाण्ड गा० २१

२३. बायालतिणउइविह तिउत्तरसय च सत्तट्ठी ।

तेणउदी ।

तेउत्तरसय वा ।

कर्मकाण्ड गा० २२

२४–२९. गाथाः ॥

आसा विषयो मूलाचारपर्याप्त्यधिकारीयासु १९३–९६ गाथासु द्रष्टव्य ।

३३ बाहूरु पिट्ठि सिर उर उयरग उवग अगुलीपमुहा ।
सेसा अगोवगा पढमतणुतिगस्सुवंगाणि ॥

णलया बाहू य तहा णियब पुट्ठी उरो य सीसो य ।
अट्ठेव दु अगाइ देहे सेसा उवगाइ ॥

कर्मकाण्ड गा० २८

४४-४५. रविबिंबे उ जियंग तावजुय आयवाउ न उ जलणे ।
जमुसिणफासस्स तहिं लोहियवण्णस्स उदउ त्ति ॥
अणुसिणपयासरूव जियंगमुज्जोयए इहुज्जोया ।
जइदेवुत्तरविक्किय जोइसखज्जोयमाइ व्व ॥

मूलुण्हपहा अग्गी आदावो होदि उण्हसहियपहा ।
आइच्चे तेरिच्छे उण्हूणपहा हु उज्जोओ ॥

कर्मकाण्ड गा० ३३

५१. गोय दुहुच्चनीय कुलाल इव सुघडभुभलाईय ।
विग्घ दाणे लाभे भोगुवभोगेसु विरिए य ॥

उच्चा णिच्चा गोद दाण लाभतराय भोगो य ।
परिभोगो विरिय चेव अतराय च पचविह ॥

मूलाचार पर्या० गा० १९७ कर्मकाण्ड गा० १३

५३. पडिणीयत्तणनिन्हवउवघायपओसअतराएण ।
अच्चासायणयाए आवरणदुग जिओ जयइ ॥

पडिणीगमतराए उवघादो तप्पदोसणिण्हवणे ।
आवरणदुग भूयो बधदि अच्चासणाए वि ॥

कर्मकाण्ड गा० ८००

५४. गुरुभत्तिखतिकरुणावयजोगकसायविजयदाणजुओ ।
दढधम्माई अज्जइ सायममाय विवज्जयओ ॥

भूदाणुकपवदजोगजुजिदो खतिदाणगुरुभत्तो ।
बंधदि भूयो साद विवरीयो बंधदे इदर ॥

कर्मकाण्ड गा० ८०१

५५. उम्मग्गदेसणामग्गनासणादेवदव्वहरणेहिं ।
दसणमोहं जिणमुणिचेइयसघाइपडिणीओ ॥

अरिहतसिद्धचेदियतवसुदगुरुधम्मसंघपडिणीगो ।
बंधदि दसणमोहं अणतसंसारिओ जेण ॥

कर्मकाण्ड गा० ८०२

५६. दुविह पि चरणमोहं कसायहासाइविसयविवसमणो ।
बंधइ नरयाउ महारंभपरिग्गहरओ रुद्दो ॥

तिव्वकसाओ बहुमोहपरिणदो रागदोससंतत्तो ।
बंधदि चरित्तमोह दुविहं पि चरित्तगुणघादी ॥
मिच्छो हु महारंभो णिस्सीलो तिव्वलोहसंजुत्तो ।
णिरयाउग णिबंधइ पावमई रुद्दपरिणामी ॥

कर्मकाण्ड गा० ८०३–४

५७–५८. तिरियाउ गूढहियओ सढो ससल्लो तहा मणुस्साउ ।
पयईअ तणुकसाओ दाणरुई मज्झिमगुणो य ॥
अविरयमाइ सुराउ बालतवोऽकामनिज्जरो जयइ ।

उम्मग्गदेसगो मग्गणासगो गूढहियय माइल्लो ।
सढसीलो य ससल्लो तिरियाउ बंधदे जीवो ॥
पयडीए तणुकसाओ दाणरदी सीलसंजमविहीणो ।
मज्झिमगुणेहिं जुत्तो मणुआउ बंधदे जीवो ॥
अणुवदमहव्वदेहिं बालतवाकामणिज्जराए य ।
देवाउग णिबंधइ सम्माइट्ठी य जो जीवो ॥

कर्मकाण्ड गा० ८०५–७

५८–६० सरलो अगारविल्लो सुहनाम अन्नहा असुह ॥
गुणपेही मयरहिओ अज्झयणऽज्झावणारुई निच्च ।
पकुणइ जिणाइभत्तो उच्च नीय इयरहा उ ॥
जिणपूयाविग्घकरो हिंसाइपरायणो जयइ विग्घं ।

मणवयणकायवक्को माइल्लो गारवेहिं पडिबद्धो ।
असुहं बधदि णामं तप्पडिवक्खेहिं सुहणामं ॥
अरहंतादिसु भत्तो सुत्तरुची पढणुमाणगुणपेही ।
बधदि उच्चागोदं विवरीओ बधदे इदरं ॥
पाणवधादीसु रदो जिणपूजामोक्खमग्गविग्घयरो ।
अज्जेइ अंतरायं ण लहइ जं इच्छियं जेण ॥

कर्मकाण्ड गा० ८०८–१०

द्वितीयः कर्मग्रन्थः

२. मिच्छे सासण मीसे अविरय देसे पमत्त अपमत्ते ।
नियट्टि अनियट्टि सुहुमुवसम खीण सजोगि अजोगि गुणा ।

मिच्छादिट्ठी सासादणो य मिस्सो असंजदो चेव ।
देसविरदो पमत्तो अपमत्तो तह य णायव्वो ॥
एत्तो अपुव्वकरणो अणियट्टी सुहुमसंपराओ य ।
उवसंत खीणमोहो सजोगिकेवलिजिणो अजोगी य ॥

मूलाचार पर्या० गा० १५४–१५५ जीवकाण्ड गा० ९–१०

३–१२ गाथाः ॥

आसां विषयं प्रकारान्तरेण कर्मकाण्डस्य ९२ गाथातः १०४ गाथा यावद् द्रष्टव्यः ।

सयअडयालपईणं बधं गच्छंति वीसअहियसयं ।
सव्वे मिच्छादिट्ठी बधदि णाहारतित्थयरा ॥
वज्जिय तेदालीसं तेवन्नं चेव पचवण्णं च ।
बधइ सम्मादिट्ठी दु सावओ संजदो तहा चेव ॥

मूलाचार पया० गा० १९८–९९

१३–२२ गाथाः ॥

आसां विषयं प्रकारान्तरेण कर्मकाण्डस्य २६१–७७ गाथासु द्रष्टव्यः ।

२३–२४ गाथे ॥

अनयोर्विषयं कर्मकाण्डस्य २७८–८३ गाथासु द्रष्टव्यः ।

२५–३४ गाथाः ॥

आसां विषयं कर्मकाण्डस्य, ३३३–४३ गाथासु, द्रष्टव्यः ।

तृतीयः कर्मग्रन्थः

४–७. सुरइगुणवीसवज्ज इगसउ ओहेण बंधहिं निरया ।
तित्थ विणा मिच्छि सय सासणि नपुचउ विणा छनुई ॥
विणु अणछवीस मीसे बिसयरि सम्मम्मि जिणनराउजुआ ।
इय रयणाइसु भंगो पंकाइसु तित्थयरहीणो ॥
अजिणमणुआउ ओहे सत्तमिए नरदुगुच्च विणु मिच्छे ।
इगनवई सासाणे तिरिआउ नपुंसचउवज्ज ॥
अणचउवीसविरहिया सनरदुगुच्चा य सयरि मीसदुगे ।

ओघे वा आदेसे णारयमिच्छम्हि चारि वोच्छिण्णा ।
उवरिम बारस सुरचउ सुराउआहारयमबंधा ॥
घम्मे तित्थं बंधदि वंसामेघाण पुण्णगो चेव ।
छट्ठो त्ति य मणुवाऊ चरिमे मिच्छेव तिरियाऊ ॥
मिस्साविरदे उच्चं मणुवदुगं सत्तमे हवे बंधो ।
मिच्छा सासणसम्मा मणुवदुगुच्चं ण बंधंति ॥

कर्मकाण्ड गा० १०५–७

७–८. सतरसउ ओहि मिच्छे पजतिरिया विणु जिणाहारं ॥
विणु नरयसोल सासणि सुराउ अणएगतीस विणु मीसे ।
ससुराउ सयरि सम्मे बीयकसाए विणा देसे ॥

तिरिये ओघो तित्थाहारूणो अविरदे छिदी चउरो ।
उवरिमछण्हं च छिदी सासणसम्मे हवे नियमा ॥
सामण्णतिरियपंचिंदियपुण्णगजोणिणीसु एमेव ।
सुरणिरयाउ अपुण्णे वेगुव्वियछक्कमवि णत्थि ॥

कर्मकाण्ड गा० १०८–९

९ इय चउगुणेसु वि नरा परमजया सजिण ओहु देसाई ।
जिणइक्कारसहीणं नवसउ अपजत्ततिरियनरा ॥

तिरिये व णरे णवरि हु तित्थाहारं च अत्थि एमेव ।
सामण्णपुण्णमणुसिणि णरे अपुण्णे अपुण्णेव ॥

कर्मकाण्ड गा० ११०.

१०–११. *निरय व्व सुरा नवरं ओहे मिच्छे इगिंदितिगसहिया ।*
कप्पदुगे वि य एवं जिणहीणो जोइभवणवणे ॥
रयण व्व सणकुमाराइ आणयाई उजोयचउरहिया ।

णिरये व होदि देवे आईसाणो त्ति सत्त वाम छिदी ।
सोलस चेव अबधा भवणतिए णत्थि तित्थयर ॥
कप्पित्थीसु ण तित्थ सदरसहस्सारगो त्ति तिरियदुग ।
तिरियाऊ उज्जोवो अत्थि तदो णत्थि सदरचऊ ॥

कर्मकाण्ड गा० १११–१२

११–१२. अपजत्तिरिय व्व नरसयमिगिंदिपुढविजलतरुविगले ॥
छनवइ सासणि विणु सुहुमतेर केइ पुण बिंति चउनवइ ।
तिरियनराऊहिं विणा तणुपज्जत्तिं न ते जंति ॥

पुण्णिदर विगिविगले तत्थुप्पण्णो हु सासणा देहे ।
पज्जत्तिं णवि पावदि इदि णरतिरियाउग णत्थि ॥

कर्मकाण्ड गा० ११३

१३. ओहु पर्णिदितसे गइतसे जिणिक्कार नरतिगुच्च विणा ।

पंचिंदियेसु ओघ एयक्खेवा वणप्फदीयते ।
मणुवदुग मणुवाऊ उच्च णहि तेउवाउम्हि ॥
णहि सासणे अपुण्णे साहारणसुहुमगे य तेउदुगे ।

कर्मकाण्ड गा० ११४–१५

१३–१६. मणवयजोगे ओहो उरले नरभगु तम्मिस्से ॥
आहारछग विणोहे चउदससउ मिच्छि जिणपणगहीण ।
सासणि चउनवइ विणा नरतिरियाऊ सुहुमतेर ॥
अणचउवीसाइ विणा जिणपणजुय सम्मि जोगिणो साय।
विणु तिरिनराउ कम्मे वि एवमाहारदुगि ओहो ॥
सुरओहो वेउव्वे तिरियनराउरहिओ य तम्मिस्से ।

ओघ तस मणवयणे ओराले मणुवगइभंगो ॥
ओराले वा मिस्से णहि सुरणिरयाउहारणिरयदुग ।
मिच्छदुगे देवचओ तित्थ णहि अविरदे अत्थि ॥
पण्णारसमुणतीसं मिच्छदुगे अविरदे छिदी चउरो ।
उवरिमपणसट्ठी वि य एक्क साद सजोगिम्हि ॥
देवे वा वेउव्वे मिस्से णरतिरियआउग णत्थि ।
छट्ठगुण वाहारे तम्मिस्से णत्थि देवाऊ ॥
कम्मे उरालमिस्स वा णाउदुग पि णव छिण्णी अयदे ।

कर्मकाण्ड गा० ११५–१९

१६–२४ गाथाः ॥

आसा गाथाना विषय कर्मकाण्डस्य ११९–२१ गाथासु द्रष्टव्य । ताश्च गाथा —

वेदादाहारो त्ति य सगुणट्ठाणाणमोघ तु ॥
णवरि य सव्वुवसम्मे णरसुरआऊणि णत्थि णियमेण ।
मिच्छस्संतिम णवय वार णहि तेउपम्मेसु ॥
सुक्के सदरचउक्क वामन्तिम बारसं च ण व अत्थि ।
कम्मेव अणाहारे बधस्संतो अणतो य ॥

कर्मकाण्ड गा० ११९–२१

चतुर्थ• कर्मग्रन्थ• ।

२ इह सुहुमबायरेगिंदि बि ति चउ अस्सन्निसन्निपचिंदी ।
अपजत्ता पजत्ता कमेण चउदस जियट्ठाणा ॥

सुहुमा बादरकाया ते खलु पज्जत्तया अपज्जत्ता ।
एइदिया दु जीवा जिणेहिं कहिया चदुवियप्पा ॥
पज्जत्तापज्जत्ता वि होंति विगिलिंदिया दु छब्भेया ।
पज्जत्तापज्जत्ता सण्णिअसण्णी य सेसा दु ॥

मूलाचार पर्या० गा० १५२–५३ जीवकाण्ड गा० ७२

९. गइ इदिये य काए जोए वेए कसायनाणेसु ।
सजम दसण लेसा भव सम्मे सन्नि आहारे ॥

गइ इदिये च काये जोगे वेदे कसाय णाणे य ।
संजम दसण लेस्सा भविया सम्मत्त सण्णि आहारे ॥

मूलाचार पर्या० गा० १५६ जीवकाण्ड गा० १४२

१० इगबियतियचउपणिंदि

इगबितिचदुपंचिंदियजीवा

जीवकाण्ड गा० १६६

१० छकाया ।

भूजलजलणाऽनिलवणतमा य
पुढवीकायादिछब्भेयो

जीवकाण्ड गा० १८१

१० मणवयणतणुजोगा ॥

मणवयणकायजुत्तस्स

जीवकाण्ड गा० २१६

११ वेय नरित्थिनपुसा -

पुरिसिच्छिसढवेदोन्येण पुरिसिच्छिसढओ भावे ।

जीवकाण्ड गा० २७१

११. मइसुयऽवहिमणकेवलविभंगमइसुयअनाण सागारा ।

पचेव होंति णाणा मदिसुदओहिसमण च केवलय ।

खयउवसमिया चउरो केवलणाण हवे खइय ॥

अण्णाणतिय होदि हु सण्णाणतिय खु मिच्छअणउदये ।

जीवकाण्ड गा० ३००–१

१२ गाथा ॥

सयमस्य सप्रभेदस्य स्वरूप जीवकाण्डस्य ४६६–६८ गाथासु द्रष्टव्यम् ।

१३. गाथा ॥

दर्शनस्य चतुर्णां भेदाना स्वरूप जीवकाण्डस्य ४८३–८६ गाथासु द्रष्टव्यम् ।

१३. किण्हा नीला काऊ तेऊ पम्हा य सुक्लेसा य ।

किण्हा नीला काऊ तेऊ पम्मा य सुक्कलेस्सा य ।

जीवकाण्ड गा० ४९२

१३ भवियरा

भविया सिद्धी जेसिं जीवाण ते हवंति भवसिद्धा ।

तव्विवरीयाऽभव्वा ससारादो ण सिज्झति ॥

जीवकाण्ड गा० ५५७

सम्यक्त्वमार्गणाया षड्भेदाना स्वरूप जीवकाण्डस्य ६४६–६४८ ६४९–६५३–६५४–६५५ गाथासु द्रष्टव्यम् ।

१९. पण तिरि चउ सुरनरये नर सन्नि पणिंदि भव तसि सव्वे ।

सुरणारयेसु चत्तारि होंति तिरियेसु जाण पचेव ।

मणुसगदीए वि तहा चोद्दस गुणणामधेयाणि ॥

मूलाचार पर्या० गा० १५९

१४–२३ गाथा ॥

१४–२३ गाथाना विषय —

तिरियगदीए चोद्दस हवंति सेसासु जाण दो दो दु ।

मग्गणठाणस्सेद णेयाणि समासठाणाणि ॥

मूलाचार पर्या० गा० १५८

१४–२३ गाथाना विपय किञ्चिद् व्युत्क्रमेण जीवकाण्डस्य ६७७–९५ गाथासु द्रष्टव्य ।

२४. गाथा ॥

पञ्चदशयोगाना नामनिर्देशो लक्षणानि च जीवकाण्डस्य २१६–४० गाथासु द्रष्टव्यानि ।

३७–३८. नर निरय देव तिरिया थोवा दु असख णतगुणा ॥
पण चउ ति दु एगिंदी थोवा तिन्नि अहिया अणतगुणा ।
तस थोव असखऽग्गी भू जलऽनिल अहिय वणऽणता ॥

एतयोगाथयोर्विपय मूलाचारपर्योप्त्यधिकारस्य १७०–८० गाथासु किञ्चित्प्रकारान्तरेण प्रतिपादित ।

४५. सवजियठाण मिच्छे सग सासणि पण अपज्ज सन्निदुग ।
सम्मे सन्नी दुविहो सेसेसु सन्निपज्जत्तो ॥

मिच्छे चोद्दस जीवा सासण अयदे पमत्तविरदे य ।
सण्णिदुग सेसगुणे सण्णी पुण्णो दु खीणो त्ति ॥

जीवकाण्ड गा० ६९९

४६–४७ मिच्छदुग अजइ जोगाऽऽहारदुगूणा अपुव्वपणगे उ ।
मणवइउरल सविउव्व मीसि सविउव्वदुग देसे ॥
साहारदुग पमत्ते ते विउवाहारमीस विणु इयरे ।
कम्मुरलदुगताइमम्मणवयण सजोगी न अजोगी ॥

तिसु तेर दस मिस्से सत्तसु नव छट्ठयम्मि एगारा ।
जोगिम्मि सत्त जोगा अजोगिठाण हवे सुण्ण ॥

जीवकाण्ड गा० ७०४ कर्मकाण्ड गा० ४९४

४८ तिअनाण दुदसाइमदुगे अजइ देसि नाणदसतिग ।
ते मीसि मीस समणा जयाइ केवलदुगतदुगे ॥

दोण्ह पच य छ चेव दोसु मिस्सम्हि होंति वा मिस्सा ।
सत्तुवजोगा सत्तसु दो चेव जिणे य सिद्धे य ॥

जीवकाण्ड गा० ७०५ कर्मकाण्ड गा० ४९१

४९ नेगिंदिसु सासाणो

नहि सासणो अपुण्णे साहारणसुहुमगे य तेउदुगे ।

कर्मकाण्ड गा० ११५

५० छसु सवा तेउतिग इगि छसु सुक्का अजोगि अल्लेसा ।

अयदो त्ति छ लेस्साओ सुहतियलेस्सा हु देसविरदतिये ।
तत्तो सुक्का लेस्सा अजोगिठाणं अलेस्सं तु ॥

जीवकाण्ड गा० ५३२ कर्मकाण्ड गा० ५०२

५०-५२. बंधस्स मिच्छअविरइकसायजोग त्ति चउ हेऊ ॥
अभिगहियमणभिगहियाऽभिनिवेसियसंसइयमणाभोगं ।
पण मिच्छ बार अविरइ मणकरणानियमु छ जियवहो ॥
नव सोल कसाया पनर जोग इय उत्तरा उ सगवन्ना ।
इगचउपणतिगुणेसुं चउतिदुइगपच्चओ बंधो ॥

मिच्छत्त अविरमण कसायजोगा य आसवा होंति ।
पण बारस पणुवीसं पण्णरसा होंति तब्भेया ॥
चदुपच्चइगो बंधो पढमे णंतरतिगे तिपच्चइगो ।
मिस्सगबिदियं उवरिमदुगं च देसेक्कदेसम्मि ॥
उवरिल्लपंचये पुण दुपच्चया जोगपच्चओ तिण्हं ।
सामण्णपच्चया खलु अट्ठण्हं होंति कम्माणं ॥

कर्मकाण्ड गा० ७८६-८८

५४-५८. पणपन्न पन्न तियछहिय चत्त गुणचत्त छचउदुगवीसा ।
सोलस दस नव नव सत्त हेउणो न उ अजोगिम्मि ॥
पणपन्न मिच्छि हारगदुगूण सासाणि पन्न मिच्छ विणा ।
मिस्सदुगकम्मअण विणु तिचत्त मीसे अह छचत्ता ॥
सदुमिस्सकम्म अजए अविरइकम्मुरलमीसबिकसाए ।
मुत्तु गुणचत्त देसे छवीस साहारदु पमत्ते ॥
अविरइ इगार तिकसायवज्ज अपमत्ति मीसदुगरहिया ।
चउवीस अपुव्वे पुण दुवीस अविउव्वियाहारा ॥
अछहास सोल बायरि सुहुमे दस वेयसंजलणति विणा ।
खीणुवसंति अलोभा सजोगि पुव्वुत्त सग जोगा ॥

पणवण्णा पण्णासा तिदाल छादाल सत्ततीसा य ।
चदुवीसा बावीसा बावीसमपुव्वकरणो त्ति ॥
थूले सोलस पहुदी एगूणं जाव होदि दसठाणं ।
सुहुमादिसु दस णवयं णवयं जोगिम्मि सत्तेव ॥

कर्मकाण्ड गा० ७८९-९०

एतेषां विशेषविचारार्थं कर्मकाण्ड (पृ २४०) केशववर्णिकृता सब गाथा अपि द्रष्टव्या ।

५९. अपमत्तता सत्तट्ठ मीसअप्पुव्वबायरा सत्त ।
बंधइ छ स्सुहुमो एगमुवरिमाऽबंधगाऽजोगी ॥

छसु सगविहमट्ठविहं कम्मं बंधंति तिसु य सत्तविहं ।
छव्विहमेकट्ठाणे तिसु एक्कमबंधगो एक्को ॥

कर्मकाण्ड गा० ४५२

६०. आसुहुमं संतुदए अट्ठ वि मोह विणु सत्त खीणम्मि ।
चउ चरिमदुगे अट्ठ उ संते उवसंति सत्तुदए ॥

अट्ठुदओ सुहुमो त्ति य मोहेण विणा हु संतखीणेसु ।
घादिदराण चउक्कस्सुदओ केवलिदुगे णियमा ॥
संतो त्ति अट्ठसत्ता खीणे सत्तेव होंति सत्ताणि ।
जोगिम्मि अजोगिम्मि य चत्तारि हवंति सत्ताणि

कर्मकाण्ड गा० ४५४, ४५७

६१. उइरंति पमत्तंता सगट्ठ मीसट्ठ वेयआउ विणा ।
छग अपमत्ताइ तओ छ पंच सुहुमो पणुवसंतो ॥
पण दो खीण दु जोगीऽणुदीरगु अजोगि थोव उवसंता ।
संखगुण खीण सुहुमा नियट्टिअप्पुव्व सम अहिया ॥

घादीणं छदुमट्ठा उदीरगा रागिणो हि मोहस्स ।
तदियाऊण पमत्ता जोगंता होंति दोण्हं पि ॥
मिस्सूणपमत्तंते आउस्सद्धा हु सुहुमखीणाणं ।
आवलिसिट्ठे कमसो सग पण दो चेवुदीरणा होंति ॥

कर्मकाण्ड गा० ४५५-५६

६३. गाथा ॥

अस्या गाथाया विषयः किञ्चित्प्रकारान्तरेण जीवकाण्डस्य ६२२-२८ गाथासु द्रष्टव्यः ।

६४-६६ गाथाः ॥

६४-६६ गाथानां विषयः कर्मकाण्डस्य ८१३-१९ गाथासु द्रष्टव्यः ।

६७-६८ गाथे ॥

सान्निपातिकभावानां वर्णनं राजवार्तिके (पृ ७९ तमे) द्रष्टव्यम् ।

७०. सम्माइचउसु तिग चउ भावा चउ पणुवसामगुवसंते ।
चउ खीणापुव्वि तिन्नि सेसगुणट्ठाणगेगजिए ॥

मिच्छतिये तिचउक्के दोसु वि सिद्धे वि मूलभावा हु ।
तिग पण पणगं चउरो तिग दोण्णि य संभवा होंति ॥

कर्मकाण्ड गा० ८२१ जीवकाण्ड गा० ११-१४

७१–८६ गाथाः ॥

संख्याविषयको विचार किञ्चित्प्रकारान्तरेण त्रिलोकसारस्य १३–५१ गाथासु द्रष्टव्य ।

पञ्चमः कर्मग्रन्थः ।

२–४. वन्नचउतेयकम्माऽगुरुलहुनिमिणोवघायभयकुच्छा ।
मिच्छकसायावरणा विग्घं धुवबन्धि सगचत्ता ॥
तणुवगागिइसंघयणजाइगइखगइपुव्विजिणसास ।
उज्जोयायवपरघाततसवीसा गोय वेयणिय ॥
हासाइजुयलदुगवेयआउ तेवुत्तरी अधुवबंधा ।
भंगा अणाइसाई अणंतसंततुत्तरा चउरो ॥

घादितिमिच्छकसाया भयतेजगुरुदुगनिमिणवण्णचओ ।
सत्तेताल धुवाणं चदुधा सेसाणयं तु दुधा ॥

कर्मकाण्ड गा० १२४

६ निमिण थिर अथिर अगुरुय सुह असुहं तेय कम्म चउवन्ना ।
नाणंतराय दंसण मिच्छं धुवउदय सगवीसा ॥

मिच्छं सुहुमस्स घादीओ ॥
तेजदुगं वण्णचऊ थिरसुहजुगलगुरुणिमिण धुवउदया ।

कर्मकाण्ड गा० ४०२–३.

१३. केवलजुयलावरणा पण निद्दा बारसाइमकसाया ।
मिच्छं ति सव्वघाई

केवलणाणावरणं दंसण छक्कं कसायबारसयं ।
मिच्छं च सव्वघादी सम्मामिच्छं अबंधम्हि ॥

कर्मकाण्ड गा० ३९

१३–१४. चउनाणतिदंसणावरणा ॥
संजलण नोकसाया विग्घं इय देसघाइओ अघाई ।
पत्तेयतणुट्ठाऽऽऊ तसवीसा गोयदुग वन्ना ॥

णाणावरणचउक्कं तिदंसणं सम्मगं च संजलणं ।
णव णोकसाय विग्घं छब्बीसा देसघादीओ ॥

कर्मकाण्ड गा० ४०

आउगणामं गोदं वेयणीयं तहं अघादि त्ति ॥

कर्मकाण्ड गा० ९.

१५–१७. सुरनरतिगुच्च साय तसदस तणुवंग वइर चउरस ।
परघासग तिरिआउ वन्नचउ पणिंदि सुभखगई ॥
बायाल पुण्णपगई अपढमसठाणखगइसघयणा ।
तिरिदुग असाय नीयोवघाय इग विगल निरयतिग ॥
थावरदस वन्नचउक्क घाइपणयालसहिय बासीई ।
पावपयडि त्ति दोसु वि वन्नाइगहा सुहा असुहा ॥

सादं तिण्णेवाऊ उच्च नरसुरदुग च पंचिंदी ।
देहा बधणसंघादंगोवगाइ वण्णचओ ।
समचउर वज्जरिसह उवघादूणगुरुछक्क सग्गमण ।
तस बारसट्ठसट्ठी बादालममेददो सत्था ॥
घादी णीचमसाद णिरयाऊ णिरयतिरियदुग जादी ।
संठाणसंहदीण चदुपणपणग च वण्णचओ ॥
उवघादमसग्गमण थावरदसय च अप्पसत्था हु ।
बधुदय पडि भेदे अडणउदि सय दुचदुरसीदिदरे ॥

कर्मकाण्ड गा० ४१–४४

१९. खित्तविवागाऽऽणुपुव्वीओ ॥

खेत्तविवाई य आणुपुव्वीओ ।

कर्मकाण्ड गा० ४

२०. घणघाइ दुगोय जिणा तसियरतिग सुभगदुभगचउ सास ।
जाइतिग जियविवागा

वेदणियगोदघादीणेकावण्ण तु णामपयडीण ।
सत्तावीसं चेदे अट्ठत्तरि जीवविवाई ॥

कर्मकाण्ड गा० ४९

२० आऊ चउरो भवविवागा ॥

आऊणि भवविवाई ।

कर्मकाण्ड गा० ४८

२१. नामधुवोदय चउतणुवघायसाहारणियर जोयतिग ।
पुग्गलविवागि

देहादी फासता पण्णासा णिमिणतावजुगलं च ।
थिरसुहपत्तेयदुग अगुरुतिय पोग्गलविवाई ॥

कर्मकाण्ड गा ४७

२२. मूलपयडीण अडसत्तछेगबधेसु तिन्नि भूगारा।
अप्पतरा तिय चउरो अवट्ठिया न हु अवत्तव्वो॥

चत्तारि तिण्णि तिय चउ पयडिट्ठाणाणि मूलपयडीण।
भुजगारप्पदराणि य अवट्ठिदाणि वि कमे होंति॥

कर्मकाण्ड गा० ४५३

२३. एगादहिगे भूओ एगाईऊणगम्मि अप्पतरो।
तम्मत्तोऽवट्ठियओ पढमे समए अवत्तव्वो॥

अप्प बधतो बहुबधे बहुगादु अप्पबधे वि।
उभयत्थ समे बधे भुजगारादी कमे होन्ति॥

कर्मकाण्ड गा० ४६९

२४ नव छ चउ दसे दु दु ति दु मोहे दु इगवीस सत्तरस।
तेरस नव पण चउ ति दु इक्को नव अट्ठ दस दुन्नि॥

एतद्गाथोक्ताना दर्शनावरणमोहनीययोर्भूयस्कारादीना भङ्गाना वर्णन कर्मकाण्डस्य ४५९–४६०–४६३–४६८ गाथासु विस्तरतो द्रष्टव्यम्।

२५. तिपणछअट्ठनवहिया वीसा तीसेगतीस इग नामे।
छस्सगअट्ठतिबधा

तेवीसं पणवीस छव्वीस अट्ठवीसमुगतीस।
तीसेकतीसमेव एक्को बधो दुसेढिम्हि॥

कर्मकाण्ड गा० ५२१

२५. सेसेसु य ठाणमिक्कि॥

सेसेसेय हवे ठाण॥

कर्मकाण्ड गा० ४५८.

२६–२७. वीसऽयरकोडिकोडी नामे गोए य सत्तरी मोहे।
तीसयर चउसु उदही निरयसुराउम्मि तित्तीसा॥
मुत्तुं अकसायठिइ बारह मुहुत्ता जहण्ण वेयणिए।
अट्ठट्ठ नामगोएसु सेसएसुं मुहुत्तंतो॥

तीस कोडाकोडी तिघादितदियेसु वीस णामदुगे।
सत्तरि मोहे सुद्ध उवही आउस्स तेत्तीसं ॥ १२७॥
बारस य वेयणीये णामागोदे य अट्ठ य मुहुत्ता।
भिण्णमुहुत्त तु ठिदी जहण्णय सेसपचण्ह ॥ १३९॥

कर्मकाण्ड गा० १२७, १३९ मूलाचार पया० गा० २००, २०२

२८–३२ गाथाः ॥

२८–३२ गाथानामुत्तरप्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितिबन्धनिरूपणं कर्मकाण्डस्य १२८–३२ गाथासु समवलोकनीयम् ।

३२. एवइयाबाह वाससया ।

उदय पडि सत्तण्ह आबाहा कोडिकोडि उवहीण ।
वाससय तप्पडिभागेण य सेसट्ठिदीण च ॥

कर्मकाण्ड गा० १५६.

३३. गुरु कोडिकोडिअंतो तित्थाऽऽहाराण भिन्नमुहु बाहा
लहु ठिइ संखगुणूणा ॥

अंतोकोडाकोडिट्ठिदिस्स अंतोमुहुत्तमाबाहा ।
संखेज्जगुणविहीण सव्वजहण्णट्ठिदिस्स हवे ॥
पुव्वाण कोडितिभागादासंखेयअद्धवोत्ति हवे ।
आउस्स य आबाहा ण ट्ठिदिपडिभागमाउस्स ॥

कर्मकाण्ड गा० १५७–५८

३३. नरतिरियाणाउ पल्लतिग ॥

नरतिरियाऊण तिण्णि पल्लाणि ।

कर्मकाण्ड गा० १३३

३५–३६ गाथे ॥

३५–३६ उत्तरप्रकृतीना जघन्यस्थितिबन्धस्य निरूपण कर्मकाण्डस्य १४०–४३ गाथासु प्रेक्षणीयम् ।

३७–३८ गाथे ॥

३७–३८ गाथयोर्विषय कर्मकाण्डस्य १४४–१४५–१४२ गाथासु द्रष्टव्य ।

४०–४१. सत्तरस समहिया किर इगाणुपाणुम्मि हुति खुड्डभवा ।
सगतीससयतिहुत्तर पाणू पुण इगमुहुत्तम्मि ॥
पणसट्ठिसहस्स पणसय छत्तीसा इगमुहुत्त खुड्डभवा ।
आवलियाण दो सय छप्पन्ना एगखुड्डभवे ॥

तिण्णि सया छत्तीसा छावट्ठि सहस्सगाणि मरणाणि ।
अंतोमुहुत्तकाले तावदिया चेव खुद्दभवा ॥

जीवकाण्ड गा० १२३

४२. अविरयसम्मो तित्थं आहारदुगामराउ य पमत्तो ।
मिच्छदिट्ठी बंधइ जिट्ठठिइं सेमपयडीण ॥

सव्वुक्कस्सठिदीण मिच्छाइट्ठी दु बंधगो भणिदो ।
आहार तित्थयर देवाउ वा विमोत्तूण ॥
देवाउग पमत्तो आहारयमप्पमत्तविरदो दु ।
तित्थयरं च मणुस्सो अविरदसम्मो समज्जेइ ॥

कर्मकाण्ड गा० १३५–३६

४३–४५. विगलसुहुमाउगतिग तिरिमणुया सुरविउव्विनिरयदुगं ।
एगिंदिथावरायव आ ईसाणा सुरुक्कोस ॥
तिरिउरलदुगुज्जोय छिवट्ठ सुरनिरय सेस चउगइया ।
आहार जिणमपुव्वोऽनियट्टि संजलण पुरिस लहु ॥
सायजसुच्चावरणा विग्घं सुहुमो विउव्विछ असन्नी ।
सन्नी वि आउबायरपज्जेगिंदी उ सेसाण ॥

णरतिरिया सेसाउ वेउव्वियछक्क वियलसुहुमतियं ।
सुरणिरया ओरालियतिरियदुगुज्जोव संपत्त ॥
देवा पुण एइंदिय आदाव थावरं च सेसाण ।
उक्कस्स संकिलिट्ठा चदुगदिया ईसिमज्झिमया ॥

कर्मकाण्ड गा० १३७–३८

४६. उक्कोसजहन्नेयर भंगा साई अणाइ धुव अधुवा ।
चउहा सग अजहन्नो सेसतिगे आउचउसु दुहा ॥

अजहण्णट्ठिदिबंधो चउव्विहो सत्तमूलपयडीण ।
सेसतिये दुवियप्पा आउचउक्के वि दुवियप्पो ॥

कर्मकाण्ड गा० १५२

४७ चउभेओ अजहन्नो संजलणावरणनवगविग्घाण ।
सेसतिगि साइअधुवो तह चउहा सेसपयडीण ॥

संजलणसुहुमचोदसघादीण चदुविधो दु अजहण्णो ।
सेसतिया पुण दुविहा सेसाण चदुविधा वि दुधा ॥

कर्मकाण्ड गा० १५३

४९–५१ गाथाः ॥

४९–५१ गाथाना विषय कर्मकाण्डस्य १४८–५० गाथासु द्रष्टव्य ।

५२. सव्वाण वि जिट्ठठिई असुमा ज साइसकिलेसेण ।
इयरा विसोहिओ पुण मुत्तु नरअमरतिरियाउ ॥

सव्वाओ दु ठिदीओ सुहासुहाण पि होंति असुहाओ ।
माणुसतिरिक्खदेवाउग च मोचूण सेसाण ॥

कर्मकाण्ड गा० १५४

५३–५४ गाथे ॥

योगस्थानाना निरूपण कर्मकाण्डस्य २३३–४० गाथासु द्रष्टव्यम् ।

६६. विषमिगथावरायव सुरमिच्छा विगलसुहुमनिरयतिग ।
तिरिमणुयाउ तिरिनरा तिरिदुगछेवट्ठ सुरनिरया ॥

मिच्छस्सतिममणवयणरतिरियाऊणि वामणरतिरिये ।
एइंदिय आदाव थावरणाम च सुरमिच्छे ॥

सुरणारयमिच्छगे असंपत्त ।

तिरियदुग

कर्मकाण्ड गा० १६८–६९

६७. विउविसुराहारदुग सुखगइवन्नचउतेयजिणसाय ।
समचउपरघातसदसपणिंदिसासुच्च खवगाउ ॥

उवघादहीणतीसे अपुव्वकरणस्स उच्चजससादे ।
समेलिदे हवति हु खवगस्स य सेस बत्तीसा ॥

कर्मकाण्ड गा० १६७

६८. तमतमगा उज्जोय

उज्जोवो तमतमगे

कर्मकाण्ड गा० १६९.

६८ सम्मसुरा मणुयउरलदुगवइर ।
अपमत्तो अमराउ चउगइमिच्छा हु सेसाण ॥

मणुओरालदुवज्ज विसुद्धसुरनिरय अविरदे तिव्वा ।
देवाउ अप्पमत्ते खवगे अवसेस बत्तीसा ॥

सेसा पुण चदुगदिमिच्छे किलिट्ठे य ॥

कर्मकाण्ड गा० १६६, १६९

६९–७३. थीणतिग अण मिच्छ मदरस सजमुम्मुहो मिच्छो ।
बियतियकसाय अविरय देस पमत्तो अरइसोए ॥

अपमाइ हारगदुग दुनिद्दअसुवन्नहासरइकुच्छा ।
भयमुवघायमपुव्वो अनियट्टी पुरिससजलणे ॥
विग्घावरणे सुहुमो मणुतिरिया सुहुमनिगलतिगआऊ ।
वेउव्विछक्कममरा निरया उज्जोयउरलदुगं ॥
तिरिदुगनिअ तमतमा जिणमविरय निरय विणिगथावरय ।
आसुहुमायव सम्मो व सायथिरसुभजसा सिअरा ॥
तसवन्नतेयचउमणुखगइदुगपणिंदिसासपरघुच्चं ।
संघयणागिइनपुथीसुभगियरति मिच्छ चउगइया ॥

वण्णचउक्कमसत्थ उवघादो ग्ववगघादि पणवीस ।
तीसाणमवरबधो सगसगवोच्छेदठाणम्हि ॥
अणथीणतिय मिच्छ मिच्छे अयदे हु बिदियकोधादी ।
देसे तदियकसाया सजमगुणपच्छिदे सोल ॥
आहारमप्पमत्ते पमत्तसुद्धे य अरदिसोगाण ।
णरतिरये सुहुमतिय वियल वेगुव्व छक्काओ ॥
सुरणिरये उज्जोवोरालदुग तमतमम्हि तिरियदुग ।
णीच च तिगदिमज्झिमपरिणामे थावरे यक्ख ॥
सोहम्मो त्ति य ताव तित्थयर अविरदे मणुस्सम्हि ।
चदुगदियासकिलिट्ठे पण्णरम दुवे विसोहीये ॥
परघाददुग तेजदु तसवण्णचउक्क णिमिणपचिंदी ।
अगुरुलहु च किलिट्ठे इत्थिणउस विसोहीए ॥
सम्मो वा मिच्छो वा अट्ठ अपरियत्तमज्झिमो य जदि ।
परियत्तमाणमज्झिममिच्छाइट्ठी दु तेवीस ॥

कर्मकाण्ड गा० १७०–७६

७४. चउतेयवन्न वेयणियनामणुकोसु सेसधुवबंधी ।
घाईण अजहन्नो गोए दुविहो इमो चउहा ॥

घादीण अजहण्णोऽणुक्कस्सो वेयणीयणामाण ।
अजहण्णमणुक्कस्सो गोदे चदुधा दुधा सेसा ॥
सत्थाण धुवियाणमणुक्कस्समसत्थगाण धुवियाण ।
अजहण्ण च य चदुधा सेसा सेसाणय च दुधा ॥

कर्मकाण्ड गा० १७८–७९

७५–७६ गाथे ॥

७५–७६ गाथोक्ताना वर्गणाना निर्देशो जीवकाण्डस्य ५९३–९४ गाथयोर्द्रष्टव्य ।

७८, अतिमचउफासदुगधपचवन्नरसकम्मखधदल ।
सव्वजियणतगुणरसमणुजुत्तमणतयपएस ॥

सयलरसरूवगंधेहिं परिणद चरमचदुहिं फासेहिं ।
सिद्धादोऽभव्वादोऽणतिमभाग गुण दव्व ॥

कर्मकाण्ड गा० १९१

७९, एगपएसोगाढ नियसव्वपएसओ गहेइ जिओ ।

एयक्खेत्तोगाढ सव्वपदेसेहिं कम्मणो जोग ।
बधदि सगहेदूहिं य अणादिय सादिय उभय ॥

कर्मकाण्ड गा० १८५

७९–८०, थेवो आउ तदसो नामे गोए समो अहिओ ॥
विग्घावरणे मोहे सव्वोवरि वेयणीये जेणप्पे ।
तस्स फुडत्त न हवइ ठिईविसेसेण सेसाण ॥

आउगभागो थोवो णामागोदे समो तदो अहियो ।
घादितिये वि य तत्तो मोहे तत्तो तदो तदिये ॥
सुहदुक्खणिमित्तादो बहुणिज्जरगो त्ति वेयणीयस्स ।
सव्वेहिंतो बहुग दव्व होदि त्ति णिद्दिट्ठ ॥

कर्मकाण्ड गा० १९२–९३

८१ गाथा ॥

८१ गाथोक्ताया उत्तरप्रकृतीना भागप्ररूपणाया विस्तरतो वर्णन कर्मकाण्डस्य १९४–२०६ गाथासु द्रष्टव्यम् ।

८२–८३, सम्मदरसव्वविरई उ अणविसजोयदसखवगे य ।
मोहसमसतखवगे खीणसजोगियर गुणसेढी ॥
गुणसेढी दलरयणाऽणुसमयमुदयादसखगुणणाए ।
एयगुणा पुण कमसो असखगुणनिज्जरा जीवा ॥

सम्मत्तुप्पत्तीये सावयविरदे अणतकम्मसे ।
दसणमोहक्खवगे कसायउवसामगे य उवसते ॥
खवगे य खीणमोहे जिणेसु दव्वा असखगुणिदकमा ।
तव्विवरीया काला सखेज्जगुणक्कमा होंति ॥

जीवकाण्ड गा० ६६–६७

८५ गाथा ॥

८५ गाथोक्तस्य पल्यस्य सविस्तर स्वरूपं त्रिलोकसारस्य ९३–१०१ गाथासु द्रष्टव्यम् ।

८९. अप्पयरपयडिबंधी उक्कडजोगी य सन्निपज्जत्तो ।
कुणइ पएसुक्कोसं जहन्नय तस्स वच्चासे ॥

उक्कडजोगो सण्णी पज्जत्तो पयडिबंधमप्पदरो ।
कुणदि पदेसुक्कस्सं जहण्णये जाण विवरीयं ॥

कर्मकाण्ड गा० २१०

९०–९२. मिच्छ अजयचउ आऊ वितिगुण विणु मोहि सत्त मिच्छाई ।
छण्हं सत्तरस सुहुमो अजया देसा वितिकसाए ॥
पण अनियट्टी सुखगइनराउसुरसुभगतिगविउव्विदुगं ।
समचउरसमसाय वइर मिच्छो व सम्मो वा ॥
निद्दापयलादुजुयलभयकुच्छातित्थ सम्मगो सुजई ।
आहारदुगं सेसा उक्कोसपएसगा मिच्छो ॥

आउक्कस्स पदेस छक्क मोहस्स णव दु ठाणाणि ।
सेसाण तणुकसाओ बंधदि उक्कस्सजोगेण ॥
सत्तर सुहुमसरागे पचऽणियट्टिम्हि देसगे तदियं ।
अयदे बिदियकसाय होदि हु उक्कस्सदव्वं तु ॥
छण्णोकसायणिद्दापयलातित्थं च सम्मगो य जदी ।
सम्मो वामो तेरं णरसुरआऊ असादं तु ॥
देवचउक्कं वज्जं समचउरं सत्थगमणसुभगतियं ।
आहारमप्पमत्तो सेसपदेसुक्कडो मिच्छो ॥

कर्मकाण्ड गा० २११–१४

९३ सुमुणी दुन्नि असन्नी नरयतिग सुराउ सुरविउव्विदुग ।
सम्मो जिण जहन्न सुहुमनिगोयाइखणि सेसा ॥

घोडणजोगोऽसण्णी णिरयदुसुरणिरय आउगजहण्णं ।
अपमत्तो आहारं अयदो तित्थं च देवचऊ ॥
चरिमं अपुण्णभवत्थो तिविग्गहे पढमविग्गहम्हि ठिओ ।
सुहुमणिगोदो बंधदि सेसाणं अवरबंधं तु ॥

कर्मकाण्ड गा० २१६–१७

९४. दसणछगभयकुच्छाबितितुरियकसायविग्घनाणाणं ।
मूलछगेऽणुक्कोसो चउह दुहा सेसि सव्वत्थ ॥

छण्हं पि अणुक्कस्सो पदेसबंधो दु चदुवियप्पो दु ।
सेसतिये दुवियप्पो मोहाऊण च दुवियप्पो ॥
तीसण्हमणुक्कस्सो उत्तरपयडीसु चउविहो बंधो ।
सेसतिये दुवियप्पो सेसचउक्के वि दुवियप्पो ॥
णाणंतरायदसयं दसणछक्कं च मोहचोद्दसयं ।
तीसण्हमणुक्कस्सो पदेसबंधो चदुवियप्पो ॥

कर्मकाण्ड गा० २०७–९.

९५–९६. सेढिअसंखिज्जंसे जोगट्ठाणाणि पयडिठिइभेआ ।
ठिइबंधज्झवसायाणुभागठाणा असंखगुणा ॥
तत्तो कम्मपएसा अणंतगुणिया तओ रसच्छेया ।
जोगा पयडिपएसं ठिइअणुभागं कसायाओ ॥

जोगा पयडिपदेसा ठिदिअणुभागा कसायदो होंति ।
॥

सेढिअसंखेज्जदिमा जोगट्ठाणाणि होंति सव्वाणि ।
तेहिं असंखेज्जगुणो पयडीणं संगहो सव्वो ॥
तेहिं असंखेज्जगुणा ठिदिअवसेसा हवंति पयडीणं ।
ठिदिबंधज्झवसाणट्ठाणा तत्तो असंखगुणा ॥
अणुभागाणं बंधज्झवसाणमसंखलोगगुणिदमदो ।
एत्तो अणंतगुणिदा कम्मपदेसा मुणेयव्वा ॥

कर्मकाण्ड गा० २५७–६०

९७. चउदसरज्जू लोओ बुद्धिकओ होइ सत्तरज्जुघणो ।
तद्दीहेगपएसा सेढी पयरो य तव्वग्गो ॥

उब्भियदलेक्कमुरवद्धयसंचयसण्णिहो हवे लोगो ।
अद्धुदयो मुरवसमो चोद्दसरज्जूदओ सव्वो ॥
जगसेढिसत्तभागो रज्जू सेढी वि पल्लछेदाणं ।
होदि असंखेज्जदिमप्पमाणविंन्दंगुलाण हदी ॥
जगसेढीए वग्गो जगपदरं होदि तग्घणो लोगो ।

त्रिलोकसार गा० ६–७, ११२

९८. अण दंस नपुसित्थी वेय च्छक्क च पुरिसवेयं च।
दो दो एगंतरिए सरिसे सरिस उवसमेइ ॥

खवण वा उवसमणे णवरि य संजलणपुरिसमज्झम्हि।
मज्झिम दो दो कोहादीया कमसोवसता हु ॥

कर्मकाण्ड गा० ३४३

९९–१०० अण मिच्छ मीस सम्मं तिआउइगविगलथीणतिगुज्जोय।
तिरिनरयथावरदुगं साहारायवअडनपु त्थी ॥
छग पु संजलणा दो निद्दा विग्घवरणक्खए नाणी।

णिरयतिरिक्खसुराउगसत्ते णहि देससयलवदखवगा।
अयदचउक्कं तु अण अणियट्टीकरणचरिमम्हि ॥
जुगवं संजोगित्ता पुणो वि अणियट्टिकरणबहुभाग।
वोलिय कमसो मिच्छं मिस्स सम्मं ख्वेदि कमे ॥
सोलट्ठेक्किगिछक्कं चदुसेक्कं बादरे अदो एक्क।
खीणे सोलसऽजोगे बावत्तरि तेरुवत्ते ॥
णिरयतिरिक्खदु वियल थीणतिगुज्जोवतावएइंदी।
साहरणसुहुमथावर सोल मज्झिमकसायट्ठ ॥
संढित्थि छक्कसाया पुरिसो कोहो य माण माय च।
थूले सुहुमे लोहो उदय वा होदि खीणम्हि ॥

कर्मकाण्ड गा० ३३५–३९

कनकनन्द्याचार्यस्य मतेन श्रेणिद्वयस्य स्वरूप कर्मकाण्डस्य ३९१–९२ गाथयोर्द्रष्टव्यम्।

षष्ठः कर्मग्रन्थः।

३. अट्ठविहसत्तछब्बन्धगेसु अट्ठेव उदयसताइ।
एगविहे तिविगप्पो एगविगप्पो अबंधम्मि ॥

अट्ठविहसत्तछब्बन्धगेसु अट्ठेव उदयकम्मंसा।
एयविहे तिवियप्पो एयवियप्पो अबंधम्मि ॥

कर्मकाण्ड गा० ६२८

५. अट्ठसु एगविगप्पो छस्सु वि गुणसन्निएसु दुविगप्पो।
पत्तेय पत्तेय बंधोदयसतकम्माण ॥

/ मिस्से अपुव्वजुगले विदिय अपमत्तओ त्ति पढमदुग ।
सुहुमादिसु तदियादी बधोदयसत्तभगेसु ॥

कर्मकाण्ड गा० ६२९

[पच नव दुन्नि अट्ठावीसा चउरो तहेव बायाला ।
दुन्नि य पच य भणिया पयडीओ आणुपुव्वीए ॥]

पच नव दोण्णि अट्ठावीस चउरो कमेण तेणउदी ।
तेउत्तर सय वा दुगपणग उत्तरा होंति ॥

कर्मकाण्ड गा० २२

६ बधोदयसतसा नाणावरणतराइए पच ।
बधोवरमे वि तहा उदसता हुति पचेव ॥

बधोदयकम्मसा णाणावरणतराइए पच ।
बधोपरमे वि तहा उदयसा होंति पचेव ॥

कर्मकाण्ड गा० ६३०

७ बधस्स य सतस्स य पगइट्ठाणाइ तिन्नि तुल्लाइ ।
उदयट्ठाणाणि दुवे चउपणग दसणावरणे ॥

णव छक्क चदुक्क च य विदियावरणस्स बधठाणाणि ।
भुजगारप्पदराणि य अवट्ठिदाणि वि य जाणाहि ॥ ४५९ ॥
खीणो त्ति चारि उदया पचसु णिद्दासु दोसु णिद्दासु ।
एक्के उदय पत्ते खीणदुचरिमो त्ति पचुदया ॥ ४६१ ॥
मिच्छादुवसंतो त्ति य अणियट्टीखवगपढमभागो त्ति ।
णवसत्ता खीणस्स दुचरिमो त्ति य छच्चदूचरिमे ॥ ४६२ ॥

कर्मकाण्ड गा० ४५९, ४६१, ४६२

८-९. बीयावरणे नवबधगेसु चउ पच उदय नव सता ।
छच्चउबधे चेव चउबधुदए छलसा य ॥
उवरयबधे चउ पण नवस चउरुदय छच्च चउ सता ।
वेयणियाउयगोए विभज्ज मोह पर वोच्छ ॥

विदियावरणे णवबधगेसु चदु पच उदय णव सत्ता ।
छब्बधगेसु एव तह चदुबधे छडसा य ॥
उवरदबधे चदु पच उदय णव छच्च सत्त चदु जुगल ।
तदिय गोद आउ विभज्ज मोह पर वोच्छ ॥

कर्मकाण्ड गा० ६३१-३२

१०. बावीस एक्कवीसा सत्तरसा तेरसेव नव पंच ।
चउ तिग दुग च एक्कं बंधट्ठाणाणि मोहस्स ॥
बावीसमेक्कवीसं सत्तारस तेरसेव णव पंच ।
चदु तिय दुगं च एक्कं बंधट्ठाणाणि मोहस्स ॥
कर्मकाण्ड गा० ४६३

११. एक्क व दो व चउरो एत्तो एक्काहिया दसुक्कोसा ।
ओहेण मोहणिज्जे उदयट्ठाणा नव हवंति ॥
दस नव अट्ठ य सत्त य छ प्पण चत्तारि दोण्णि एक्कं च ।
उदयट्ठाणा मोहे णव चेव य होंति णियमेण ॥
कर्मकाण्ड गा० ४७५

१२-१३. अट्ठगसत्तगछच्चउतिगदुगएगाहिया भवे वीसा ।
तेरस बारिक्कारस एत्तो पंचाइ एक्कूणा ॥
सतस्स पगइठाणाइ ताणि मोहस्स हुंति पन्नरस ।
बंधोदयसते पुण भंगवियप्पा बहू जाण ॥
अट्ठयसत्तयछक्कयचदुतिदुगेगाधिगाणि वीसाणि ।
तेरस बारेयारं पणादि एगूणयं सत्त ॥
कर्मकाण्ड गा० ५०८.

१४. छ ब्बावीसे चउ इगवीसे सत्तरस तेरसे दो दो ।
नवबंधगे वि दोन्नि उ एक्केक्कमओ परं भंगा ॥
छ ब्बावीसे चदु इगवीसे दो दो हवंति छट्ठो त्ति ।
एक्केक्कमदो भंगो बंधट्ठाणेसु मोहस्स ॥
कर्मकाण्ड गा० ४६७.

१५-१७. दस बावीसे नव इक्कवीस सत्ताइ उदयठाणाइं ।
छाई नव सत्तरसे तेरे पंचाइ अट्ठेव ॥
चत्तारिमाइ नवबंधगेसु उक्कोस सत्त उदयंसा ।
पंचविहबंधगे पुण उदओ दोण्ह मुणेयव्वो ॥
इत्तो चउबंधाई इक्केक्कुदया हवंति सव्वे वि ।
बंधोवरमे वि तहा उदयाभावे वि वा होज्जा ॥
बावीसयादिबंधेसुदयंसा चदुति तिगि चऊ पंच ।
तिय दुगि छ दो अट य एक्क पत्तेय तियाणे ॥

दसयचऊ पढमतिय णवतियमडवीसय णवादिचऊ।
अडचदुतिदुइगिवीस अडचदु पुव्व व सत्त दु ॥
सग चउ पुव्व वसा दुगमडचउरेकवीस तेर तिय।
दुगमेक च य सत्त पुव्व वा अत्थि पणगदुग ॥
तिसु एक्केक्क उदओ अडचउरिगिवीससत्तसजुत्त।
चदुतिदय तिदयदुग दो एक्क मोहणीयस्स ॥

कर्मकाण्ड गा० ६६१–६४

१८–२० एक्कग छक्केकारस दस सत्त चउक्क एक्कगा चेव।
एए चउवीसगया चउवीस दुगेक्कमिक्कारा ॥
नवपचाणउइसएहुदयविगप्पेहिं मोहिया जीवा।
अउणत्तरि एगुत्तरि पयविंदसएहिं विन्नेया ॥
नवतेसीयसएहिं उदयविगप्पेहिं मोहिया जीवा।
अउणत्तरिसीयाला पयविंदसएहिं विन्नेया ॥

एक्कय छक्केयार दससगचदुरेक्कय अपुणरुत्ता।
एदे चदुवीसगदा बार दुगे पच एक्कम्मि ॥
णवसयसत्तत्तरिहिं ठाणवियप्पेहिं मोहिदा जीवा।
इगिदाळुणत्तरिसयपयटिवियप्पेहिं णायव्वा ॥

कर्मकाण्ड गा० ४८८–८९.

२१–२२ तिन्नेव य बावीसे इगवीसे अट्ठवीस सत्तरसे।
छ च्चेव तेरनवबधगेसु पचेव ठाणाइ ॥
पचविहचउविहेसु छ छक्क सेसेसु जाण पचेव
पत्तेय पत्तेय चत्तारि य बधवोच्छेए ॥

बावीसयादिबधेसुदयसा चदुतितिगिचऊपच।
तिसु इगि छ द्दो अट्ठ य एक्क पचेव तिट्ठाणे ॥

कर्मकाण्ड गा० ६६१.

२३. दसनवपन्नरसाइ बधोदयसतपयडिठाणाइ।
भणियाइ मोहणिज्जे इत्तो नाम पर वोच्छ ॥

दसणवपण्णरसाइ बधोदयसत्तपयडिठाणाणि।
भणिदाणि मोहणिज्जे एत्तो नाम पर वोच्छ ॥

कर्मकाण्ड गा० ५१८

२४. तेवीस पण्णवीसा छवीसा अट्ठवीस गुणतीसा ।
तीसेगतीसमेक्क नवट्ठाणाणि नामस्स ॥

तेवीसं पणवीसं छव्वीसं अट्ठवीसमुगतीसं
तीसेक्कतीसमेव एक्को बंधो दुसेढिम्हि ॥

कर्मकाण्ड गा० ५२१

२५. चउ पणवीसा सोलस नव बाणउईसया य अडयाला ।
एयालुत्तर छायालसया एक्केक्क बंधविही ॥

अस्या गाथाया विषय कर्मकाण्डस्य ५६५–६७ गाथासु द्रष्टव्य ।

२६. वीसिगवीसा चउवीसगाइ एगाहिया उ इगतीसा ।
उदयट्ठाणाणि भवे नव अट्ठ य हुंति नामस्स ॥

वीसं इगिचउवीसं तत्तो इगितीसओ त्ति एयधियं ।
उदयट्ठाणा एव णव अट्ठ य होंति णामस्स ॥

कर्मकाण्ड गा० ५९२

२७–२८. एग बियालेक्कारस, तेत्तीसा छस्सयाणि तेत्तीसा ।
बारससत्तरससयाणहिगाणि बिपचसीईहिं ॥
अउणत्तीसेक्कारससयाहिगा सतरसपंचसट्ठीहिं ।
इक्केक्कग च वीसादट्ठुदयंतेसु उदयविही ॥

अनयोर्विषय कर्मकाण्डस्य ६०३–६०५ गाथासु द्रष्टव्य ।

२९. तिदुनउई इगुनउई अट्ठच्छलसी असीई उगुसीई ।
अट्ठय छप्पण्णत्तरि नव अट्ठ य नामसंताणि ॥

तिदुइगिणउदी णउदी अडचउदोअहियसीदि सीदी य ।
ऊणासीदट्ठत्तरि सत्तत्तरि दस य णव सत्ता ॥

कर्मकाण्ड गा० ६०९.

३१–३२. नव पंचोदयसंता तेवीसे पण्णवीस छव्वीसे ।
अट्ठ चऊरट्ठवीसे नव सत्तुगतीस तीसम्मि ॥
एगेगमेगतीसे एगे एगुदय अट्ठ संतम्मि ।
उवरयबंधे दस दस, वेयगसतम्मि ठाणाणि ॥

अनयोर्विषय कर्मकाण्डस्य ७४२–७४५ गाथासु द्रष्टव्य ।

३७–३८. पण दुग पणग पण चउ पणग पणगा हवति तिन्नेव ।
पण छ प्पणग छ च्छ प्पणग अट्ठऽट्ठ दसगं ति ॥

एगे वियले सयले पण पण अड पण छक्केगार पण ।
पण तेर बणादी सेसादेसे वि इदि णेयं ॥

कर्मकाण्ड गा० ७११

५९-६४ गाथानां विषय: कर्मकाण्डस्य ९२-१०३ गाथासु द्रष्टव्य: । उपशमश्रेण्या: सविस्तरं स्वरूपं लब्धिसारस्य २०१-३४९ गाथासु द्रष्टव्यम् ।

क्षपकश्रेण्या: स्वरूपं लब्धिसारस्य ३८९-५९९ गाथासु द्रष्टव्यम् ॥

सङ्कलयिता—
पं० महेन्द्रकुमारो जैन:
स्याद्वाद-जैन-महाविद्यालयाध्यापक:
काशी (बनारस)



॥ अर्हम् ॥

नमः कर्मतत्त्वरहस्यवेदिभ्यः ।

पूज्यश्रीमद्देवेन्द्रसूरिविरचितः स्वोपज्ञटीकोपेतः

शतकनामा पञ्चमः कर्मग्रन्थः ।



॥ ॐ नमः श्रीप्रवचनाय ॥

यो विश्वविश्वमविना भवबीजभूतं, कर्मप्रपञ्चमवलोक्य कृपापरीतः ।
तस्य क्षयाय निजगाद सुदर्शनादिरत्नत्रयं स जयतु प्रभुवर्धमानः ॥ १ ॥
अग्रायणीयपूर्वादुद्धृत्य परोपकारसारधिया ।
येनाभ्यधायि शतकः, स जयतु शिवशर्मसूरिवरः ॥ २ ॥
अनुयोगधरान् सर्वान्, धर्माचार्यान् मुनींस्तथा नत्वा ।
स्वोपज्ञशतकसूत्रं विवृणोमि यथाश्रुतं किञ्चित् ॥ ३ ॥

तत्रादावेवाभीष्टदेवतास्तुत्यादिप्रतिपादिकामिमां गाथामाह—

नमिय जिणं धुवबंधो १ दय २ सत्ता ३ घाइ ४ पुन्न ५ परियत्ता ६ ।
सेयर १२ चउहविवागा १६, वुच्छं बंधविह २० सामी २४ य ॥ १ ॥

जिनं नत्वा ध्रुवबन्धिन्यादि वक्ष्ये इति सम्बन्धः । तत्र 'नत्वा' नमस्कृत्य, कम् ? इत्याह— 'जिनं' राग-द्वेष-मोहादिदुर्वारवैरिवारजेतारं वीतरागम्, परमार्हन्त्यमहिमालङ्कृतं तीर्थकरमित्यर्थः । *अनेन परमाभीष्टदेवतानमस्कारेण ऐकान्तिकमात्यन्तिकं भावमङ्गलमाह, अनेन चाऽऽशास्त्रपरिस*-माप्तेर्निष्प्रत्यूहता भवतीति । क्त्वाप्रत्ययस्य चोत्तरक्रियासापेक्षत्वाद् उत्तरक्रियामाह—ध्रुवबन्धोदयादि वक्ष्ये । तत्र मिथ्यात्वादिभिर्बन्धहेतुभिरञ्जनचूर्णपूर्णसमुद्गकवद् निरन्तरं पुद्गलनिचिते लोके कर्मयोग्यवर्गणापुद्गलैरात्मनः क्षीर-नीरवद् वह्नि-अयःपिण्डवद्वाऽन्योऽन्यानुगमाभेदात्मकः सम्बन्धो बन्धः १ । तेषामेव कर्मपुद्गलानामपवर्तनादिकरणकृते स्वाभाविके वा स्थित्यपचये सति उदयसमयप्राप्तानां विपाकवेदनमुदयः २ । तेषामेव कर्मपुद्गलानां बन्ध-सङ्क्रमाभ्यां लब्धात्मलाभानां निर्जरण-सङ्क्रमकृतस्वरूपप्रच्युत्यभावे सति सद्भावः सत्ता ३ । बन्धश्च उदयश्च सच्च बन्धोदयसन्ति, ततो ध्रुवशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धाद् ध्रुवाणि बन्धोदयसन्ति यासां ता ध्रुवबन्धोदयसत्त्याः । "घाइ" त्ति 'घातिन्यः' देशघातिन्यः सर्वघातिन्यश्चेत्यर्थः ४ । "पुन्न" त्ति पुण्यप्रकृतयः ५ ।

१ सं० २ °ति सर्वघातिन्यो देशघातिन्यश्चेत्यर्थः । छा० °त्ति घातिन्यो देश-सर्वघातिन्यः, सर्वघातिन्यो देशघातिन्यश्चेत्यर्थः ॥

"परियत्त" त्ति 'परिवृत्ता' परावर्तमाना ६। "सेयर" त्ति 'सेतरा' सप्रतिपक्षा—विपक्षयुक्ता इत्य क्षरार्थ । भावार्थोऽयम्—ध्रुवबन्धिन्य १ अध्रुवबन्धिन्य २ ध्रुवोदया ३ अध्रुवोदया ४ ध्रुवसत्ताका ५ अध्रुवसत्ताका ६ सर्व-देशघातिन्य ७ अघातिन्य ८ पुण्यप्रकृतय ९ पापप्रकृतय १० परावर्तमाना ११ अपरावर्तमाना १२ चेति द्वादश द्वाराणि वक्ष्ये ।

तत्र निजहेतुसद्भावे यासां प्रकृतीनां ध्रुव—अवश्यम्भावी बन्धो भवति ता ध्रुवबन्धिन्य १ । यासा च निजहेतुसद्भावेऽपि नावश्यम्भावी बन्धस्ता अध्रुवबन्धिन्य २ । यदवादि—

[1]नियहेउसभवे वि हु, भयणिज्जो जाण होइ पयडीण ।
बंधो ता अधुवाओ, धुवा अभयणिज्जबधाओ ॥ (पञ्चसं० गा० १५३)

निजहेतवश्चेह मिथ्यात्वादयो मन्तव्या । यासामव्यवच्छिन्नोऽनुसन्तत स्वोदयव्यवच्छेदकाल यावदुदयस्ता ध्रुवोदया ३ । यासा तु व्यवच्छिन्नोऽप्युदयो भूयोऽपि प्रादुर्भवति तथाविध द्रव्य-क्षेत्र-काल-भव भावस्वरूप पञ्चविध हेतुसम्बन्ध प्राप्य ता अध्रुवोदया ४ । यदभाणि—

[2]अव्वुच्छिन्नो उदओ, जाण पयडीण ता धुवोदइया ।
वुच्छिन्नो वि हु सभवइ, जाण अधुवोदया ताओ ॥ (पञ्चसं० गा० १५५)

या सर्वसंसारिणामप्राप्तसम्यक्त्वाद्युत्तरगुणाना सातत्येन भवन्ति ता ध्रुवसत्ताका ५ । यास्तु कादाचित्कभाविन्यस्ता अध्रुवसत्ताका ६ । सर्वेतरघातित्व च प्रकृतीना स्वविषयघातन भेदतो भवति । तत्र सर्वस्वविषयघातिन्य सर्वघातिन्य, स्वविषयदेशघातिन्यश्च देशघातिन्य । स्वविषय चासामुत्तरत्र व्याख्यास्याम । तत सर्व—समस्त देश च—कञ्चन स्वार्थ गुण प्रतीत्ये वशीला सर्व-देशघातिन्य ७ । ज्ञान-दर्शनादिगुणाना मध्ये न कञ्चिद् गुण प्रतीत्येनशीला अघातिन्य । केवल यथा स्वयमतस्करस्वभावोऽपि तस्करै सह वर्तमानस्तस्कर इव दृश्यते, एवमेता अपि घातिनीभि सह वेद्यमानास्तद्दोषा इव भवन्ति । यदाहु श्रीशिवशर्मसूरिप्रवरा —

[3]अवसेसा पयडीओ, अघाइया घाइयाहिं पलिभागो । (बृ० शत० गा० ८२)

"पालिभागु" त्ति सादृश्यम् । घातित्व च प्रकृतीना रसविशेषाद् विज्ञेयम् ८ । पुण्यप्रकृतयो जीवाह्लादजनिका शुभा उच्यन्ते ९ । पापप्रकृतय कटुकरसा अशुभा उच्यन्ते १० । या प्रकृतयोऽन्यस्या प्रकृतेर्बन्धमुदयमुभय वा विनिवार्य स्वकीय बन्धमुदयमुभय वा दर्शयन्ति ता परावर्तमाना ११ । यास्त्वन्यस्या प्रकृतेर्बन्धमुदयमुभय वाऽनिवार्य स्वकीय बन्धमुदयमुभय वा दर्शयन्ति ता न परावर्तन्त इति कृत्वाऽपरावर्तमाना उच्यन्ते १२ । यत् प्रत्यपादि—

[4]विणिवारिय जा गच्छइ, बध उदय व अन्नपगईए ।
सा हु परियत्तमाणी, अणिवारती अपरियत्ता ॥ (पञ्चसं० गा० १६१)

"चउहविवाग" त्ति चतुधा—क्षेत्र-जीव-भव पुद्गलाश्रितत्वेनचतु प्रकारो विपाक—विपचन

१ निजहेतुसम्भवेऽपि हि भजनीयो यासा भवति प्रकृतीनाम् । बन्धस्ता अध्रुवा ध्रुवा अभजनीयबन्धा ॥

२ अव्युच्छिन्न उदयो यासा प्रकृतीना ता ध्रुवोदया । व्युच्छिन्नोऽपि हि सम्भवति यासा अध्रुवोदयास्ता ॥

३ अवशेषा प्रकृतयोऽघातिन्यो घातिनीभि परिभाग ॥

४ विनिवार्य या गच्छन्ति बन्धमुदयं वा अन्यप्रकृते । सा हि परावर्तमाना अनिवारयन्ती अपरिवृत्ता ॥

स्वशक्तिप्रदर्शनं यासां ताश्चतुर्धा विपाका –क्षेत्रविपाका १ जीवविपाका २ भवविपाका ३ पुद्गलविपाका ४ प्रकृतीर्वक्ष्ये । तथा "चउविह" त्ति विधानानि विधा –भेदा, बन्धस्य विधा बन्धविधा –प्रकृतिबन्ध १ स्थितिबन्ध २ रसबन्ध ३ प्रदेशबन्ध ४ लक्षणास्तान् वक्ष्ये । अत्र च मोदकदृष्टान्तं पूर्वसूरयो व्यावर्णयन्ति, यथा —वातापहारिद्रव्यनिचयनिष्पन्नो मोदक प्रकृत्या वातमपहरति, पित्तापहद्रव्यनिर्वृत्त पित्तम, श्लेष्मापहद्रव्यसंजनित श्लेष्माणम् १ इत्यादि, स्थित्या तु स एव कश्चिद् दिनमेकमवतिष्ठते, अपरस्तु दिनद्वयम, अन्यस्तु दिनत्रयम्, यावद् मासादिकमपि काल कश्चिदवतिष्ठते, तत परं विनश्यति २, स एवानुभावेन–रसपर्यायेण स्निग्ध-मधुरत्वादिलक्षणेन कश्चिदेकगुणानुभाव, अपरस्तु द्विगुणानुभाव, अन्यस्तु त्रिगुणानुभाव ३ इत्यादि, प्रदेशा कणिकादिद्रव्यप्रमाणरूपास्तै प्रदेशै स एव कश्चिदेकप्रसृतिप्रमाण, अपरस्तु प्रसृतिद्वयमान, अन्य पुन प्रसृतित्रयप्रमाण ४ इत्यादि । एव कर्मापि ज्ञानावरणादिपुद्गलैर्निर्वृत्त प्रकृत्या किञ्चिद् ज्ञानमावृणोति, किञ्चिद्दर्शन किञ्चित्तु सुख-दु खे जनयति १ इत्यादि, स्थित्या तु तदेव त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोट्यादिकालावस्थायि भवति २, अनुभावतस्तु तदेव एकस्थानिक-द्विस्थानिक-तीव्र-मन्दादिकरसयुक्तम् ३, प्रदेशतस्तु तदेवाल्प-बहुप्रदेशनिष्पन्न स्याद् ४ इति । एष च प्रकृत्यादिस्वभावश्चतुर्विधोऽपि कर्मण उपादानकाल एव बध्यत इति बन्धश्चतुर्विध सिद्धो भवति । तथा डमरुकमणिन्यायेन बन्धशब्द इहापि योज्यते, ततो बन्धस्वामिनो वक्ष्ये, क कस्या प्रकृते स्थितेर्वा क कस्य रसस्य तीव्र-मन्दादिरूपस्य कश्च कस्य प्रदेशाग्रस्य जघन्यादिलक्षणस्य बन्धक इत्यादि स्वामित्वेन वक्ष्ये । चशब्दाद् उपशमश्रेणि-क्षपकश्रेण्यादिकं [च] तस्य इत्यनेनाभिधेयमाह । सम्बन्ध-प्रयोजने तु सामर्थ्यगम्ये । तत्र सम्बन्ध साध्य-साधनलक्षण उपाय-उपेयलक्षणो गुरुपर्वक्रमलक्षणो वा वेदितव्य । प्रयोजन तु प्रकरणकर्तृ-श्रोत्रोरनन्तर-परम्परभेदेन द्वेधा। तत्र प्रकरणकर्तुरनन्तरं सत्त्वानुग्रह प्रयोजनम्, श्रोतुश्चानन्तर प्रयोजन प्रकरणार्थपरिज्ञानम् । परम्परप्रयोजन तु द्वयोरपि परमपदप्राप्तिरिति । तथा चोक्तम्—

सम्यक्शास्त्रपरिज्ञानाद्विरक्ता भवतो जना ।
लब्ध्वा दर्शनसंशुद्धिं, ते यान्ति परमा गतिम् ॥

तदेतत् सम्बन्धाभिधानेन प्रेक्षावतां प्रवृत्तिरनुगुणा भवति । तथा च तैः भणितमिदे—

प्रेक्षावतां प्रवृत्त्यर्थमभिधेय प्रयोजने ।
मङ्गलं चैव शास्त्रादौ, वाच्यमिष्टार्थसिद्धये ॥ इति ।   ॥ १ ॥

अथ "यथोद्देशं निर्देश" इति न्यायेन तावद्यतो ध्रुवबन्धिनी प्रकृतीर्व्याचिख्यासुराह—

वन्नचउतेयकम्मागुरुलहुनिमिणोवघायभयकुच्छा ।
मिच्छकसायावरणा, विग्घं धुवबंधि सगचत्ता ॥ २ ॥

प्राकृतत्वाद् लिङ्गव्यत्ययेन सूत्रे वर्णस्य प्रकृतय "वन्नचउ" त्ति वर्णचतुष्कं गन्धा भवन्ति । तथाहि—वर्णोपलक्षितं चतुष्कं वर्णचतुष्क –वर्ण गन्ध-रस-स्पर्शलक्षणम्, ततो वर्णचतुष्कं च तैजसं च कार्मणं च अगुरुलघु च निर्माणं चोपघातश्च भयं च कुत्सा च वर्णचतुष्क-तैजस-कार्मण-अगुरुलघु-निर्माणोप

१ [illegible]

घात-भय-कुत्सा । कुत्सा—जुगुप्सा । तथा मिथ्यात्वं च कषायाश्चावरणानि च मिथ्यात्व-कषाया-ऽऽवरणानि । तत्र वर्णचतुष्क-तैजस-कार्मणा ऽगुरुलघु-निर्माण-उपघातानि इत्येता नव नामप्रकृतयः, भयं कुत्सा मिथ्यात्वं कषायाः षोडश इत्येता एकोनविंशतिर्मोहनीयप्रकृतयः, आवरणानि—ज्ञानावरणपञ्चक-दर्शनावरणनवकस्वरूपाणि चतुर्दश, विघ्नम्—अन्तरायं दान-लाभ भोग-उपभोग वीर्यान्तरायभेदात् पञ्चविधमिति । एवं सप्तचत्वारिंशदप्येता ध्रुवबन्धिन्यः, निजहेतुसद्भावेऽवश्य बन्धसद्भावादिति ॥ २ ॥

उक्ता ध्रुवबन्धिन्यः प्रकृतयः । साम्प्रतमध्रुवबन्धिनी प्रकृतीरभिधित्सुराह—

तणुवंगाऽऽगिइसंघयणजाइगइखगइपुव्विजिणसासं ।
उज्जोयाऽऽयवपरघातसवीसा गोय वेयणियं ॥ ३ ॥
हासाइजुयलदुगवेयआउ तेवुत्तरी अधुवबंधा ।
भंगा अणाइसाई, अणंतसंतुत्तरा चउरो ॥ ४ ॥

तनवः—शरीराणि औदारिक-वैक्रिया-ऽऽहारकलक्षणास्तिस्रः, तैजस-कार्मणयोर्ध्रुवबन्धित्वेनाभिहितत्वात्, उपाङ्गानि—औदारिकाङ्गोपाङ्ग-वैक्रियाङ्गोपाङ्गा ऽऽहारकाङ्गोपाङ्गरूपाणि त्रीणि, आकृतयः—संस्थानानि समचतुरस्र-न्यग्रोधपरिमण्डल-सादि-कुब्ज-वामन-हुण्डाख्या षट्, संहननानि—अस्थिनिचयात्मकानि वज्रऋषभनाराच-ऋषभनाराच-नाराचा ऽर्धनाराच कीलिका-सेवार्तलक्षणानि षट्, जातयः—एकेन्द्रिय-द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रिय पञ्चेन्द्रियरूपाः पञ्च, गतयः—देव-मनुष्य तिर्यङ्-नारकगतिलक्षणाश्चतस्रः, खगतिः—विहायोगतिः प्रशस्ता ऽप्रशस्तभेदाद् द्वेधा, "पुव्वि" त्ति पदैकदेशे पदसमुदायोपचाराद् आनुपूर्व्यः—देवानुपूर्वी-मनुजानुपूर्वी तिर्यगानुपूर्वी-नरकानुपूर्वीरूपाश्चतस्रः, जिननाम—तीर्थकरनाम, श्वासनाम—उच्छ्वासनामेत्यर्थः, उद्योतनाम आतपनाम पराघातनाम "तसवीस" त्ति त्रसेनोपलक्षिता विंशतिस्त्रसविंशतिः त्रसदशकं स्थावरदशकमित्यर्थः, गोत्रम्—उच्चैर्गोत्र-नीचैर्गोत्रभेदेन द्विधा, वेदनीयं—सातवेदनीयमसातवेदनीयमिति द्विधा, हास्यादियुगलद्विकं—हास्य-रति अरति शोकाभिधम्, वेदाः—स्त्री पुं-नपुंसकरूपास्त्रयः, आयूंषि—देवायुर्मनुजायुस्तिर्यगायुर्नरकायुरिति चत्वारि इति । एतास्त्रिसप्ततिप्रकृतयः 'अध्रुवबन्धाः' अध्रुवबन्धिन्यो भवन्तीति शेषः । एतासां निजहेतुसद्भावेऽप्यवश्यं बन्धाभावादध्रुवबन्धित्वम्[1] । तथाहि—पराघात उच्छ्वासनाम्नो पर्याप्तनाम्नैव सह बन्धो नापर्याप्तनाम्ना अतोऽध्रुवत्वम् । आतपं पुनरेकेन्द्रिय प्रायोग्यप्रकृतिसहचरितमेव नान्यदा । उद्योतं तु तिर्यग्गतिप्रायोग्यबन्धेनैव सह बध्यते । आहारकद्विकं जिननाम्नी अपि यथाक्रमं संयम-सम्यक्त्वप्रत्ययेनैव बध्येते नान्यथेत्यध्रुवबन्धित्वम् । शेषशरीरोपाङ्गत्रिकादीनां पट्पष्टिप्रकृतीनां सविपक्षत्वाद् निजहेतुसद्भावेऽपि नावश्यं बन्ध इत्यध्रुवबन्धित्वं सुप्रतीतमेव । उक्ता अध्रुवबन्धिन्यः प्रकृतयः । साम्प्रतं ध्रुवबन्धिन्यध्रुवबन्धिनीनां भङ्गकान् प्रस्थलाघवार्थं च वक्ष्यमाणध्रुवोदया-ऽध्रुवोदयप्रकृतीनां च भङ्गकान् बन्धमाश्रित्य उदयमाश्रित्य च चिन्तयन्नाह—"भंगा अणाइसाई" इत्यादि । 'भङ्गाः' भङ्गकाश्चत्वारो भवन्ति । कथम्? इत्याह—अनादि-सादयोऽनन्त-सान्तोत्तराः । इदमुक्तं भवति—अनादि-सादिशब्दौ आदौ

१ छा० °बन्धित्वम् ॥

येषा ते अनादिसादय , प्राकृतत्वाद् आदिशब्दस्य लोप । अनन्त-सान्तशब्दावुत्तरे–उत्तरपदे येषा ते अनन्त-सान्तोत्तरा , "ते लुग्वा" (सिद्ध० ३–२–१०८) इति सूत्रेण पदशब्दस्य लोप । यदि वा भङ्गा अनादि-सादयोऽनन्त-सान्तोत्तरा सन्तश्चत्वारो भवन्ति। तद्यथा—अनाद्यनन्त १ अनादिसान्त २ साद्यनन्त ३ सादिसान्त ४ चेति ॥ ३ ॥ ४ ॥

उक्ता भङ्गा । अथ यत्रोदये बन्धे वा ये भङ्गका घटन्ते तानाह—

पढमबिया धुवउदइसु, धुवबंधिसु तइयवज्ज भंगतिगं ।
मिच्छम्मि तिन्नि भंगा, दुहा वि अधुवा तुरियभंगा ॥ ५ ॥

'प्रथमद्वितीयौ' अनाद्यनन्ता-ऽनादिसान्तलक्षणौ ध्रुवोदयासु प्रकृतिषु भङ्गकौ भवत । तथाहि—न विद्यत आदिर्यस्याऽनादिकालात् सन्तानभावेन सततप्रवृत्ते सोऽनादि , अनादिश्चासौ अनन्तश्च कदाचिदप्यनुदयाभावादनाद्यनन्त , अय च भङ्गको निर्माण-स्थिरा-ऽस्थिरा-ऽगुरुलघु-शुभा-ऽशुभ-तैजस-कार्मण-वर्णचतुष्क-ज्ञानपञ्चका-ऽन्तरायपञ्चक-दर्शनचतुष्कलक्षणाना षड्विंशतिप्रकृतीना ध्रुवोदयानामभव्यानाश्रित्य वेदितव्य , यतोऽभव्याना ध्रुवोदयप्रकृत्यनुदयो न कदाचिद् भविष्यतीति १ । तथा अनादिश्चासौ सान्तश्चानादिसान्त , तत्र ज्ञानपञ्चका-ऽन्तरायपञ्चक-दर्शनचतुष्करूपाणा चतुर्दशप्रकृतीनामनादिकालात् सन्तानभावेनाऽनादि सन् यदा क्षीणमोहचरमसमये उदयो व्यवच्छिद्यते तदा अयमनादिसान्तभङ्गक , निर्माण-स्थिरा-ऽस्थिरा-ऽगुरुलघु-शुभा-ऽशुभ-तैजस-कार्मण-वर्णचतुष्कलक्षणाना द्वादशानामपि नामध्रुवोदयप्रकृतीना सततोदयेनाऽनादिरुदयो भूत्वा सयोगिकेवलिचरमसमये यदोदयव्यवच्छेदमनुभवति तदाऽनादिसान्तभङ्गक २ इति । ध्रुवबन्धिनीषु पूर्वोक्तस्वरूपासु सप्तचत्वारिंशत्सङ्ख्यासु तृतीयवर्जं भङ्गत्रिक १–२–४ भवति । तथाहि—यो बन्धोऽनादिकालादारभ्य सन्तानभावेन सतत प्रवृत्तो न कदाचन व्यवच्छेदमापन्नो न चोत्तरकाल कदाचिद् व्यवच्छेद[1]माप्स्यति सोऽनाद्यनन्तोऽभव्यानामेव भवति १, यस्त्वनादिकालात् सततप्रवृत्तोऽपि पुनर्बन्धव्यवच्छेद प्राप्स्यति असावनादिसान्त , अय भव्यानाम् २, साद्यनन्तलक्षणस्तु तृतीयभङ्गक शून्य एव, न हि यो बन्ध सादिर्भवति स कदाचिदनन्त सम्भवतीति तृतीयभङ्गवर्जनम् ३, य पुन पूर्वं व्यवच्छिन्न पुनर्बन्धनेन सादित्वमासाद्य कालान्तरे भूयोऽपि व्यवच्छेद प्राप्स्यति सोऽय सादिसान्त ४ इत्येवस्वरूप साद्यनन्तलक्षणतृतीयशून्यभङ्गकवर्जित भङ्गकत्रय ध्रुवबन्धिनीषु भवति। सूत्रे च पुम्स्त्व प्राकृतत्वात्, प्राकृते हि लिङ्ग व्यभिचार्यपि, यदाह **पाणिनिः** स्वप्राकृतलक्षणे—"लिङ्ग व्यभिचार्यपि" इति । तत्र प्रथमभङ्गस्ता(स्त्वा)सा सर्वासामप्यभव्याश्रित सुप्रतीत एव, ध्रुवबन्धिनी प्रति तद्बन्धस्यानाद्यनन्तत्वाद् १ इति । द्वितीयभङ्गकस्तु ज्ञानावरणपञ्चक-दर्शनावरणचतुष्का-ऽन्तरायपञ्चकलक्षणाना चतुर्दशप्रकृतीनामनादिकालात् सन्तानभावेनानादि सन् सूक्ष्मसम्परायचरमसमये यदा बन्धो व्यवच्छिद्यते तदा भवति २ । आसामेव चतुर्दशप्रकृतीनामुपशान्तमोहे यदा अबन्धकत्वमासाद्य आयु क्षयेणाऽद्धाक्षयेण वा प्रतिपतित सन् पुनर्बन्धेन सादिबन्ध विधाय भूयोऽपि सूक्ष्मसम्परायचरमसमये बन्धविच्छेद विधत्ते तदा सादि-

[1] स० १–२ °माप्स्या ॥

सान्तलक्षण [चतुर्थो भङ्गक] । चतुर्दशाना च प्रकृतीना तृतीयो भङ्गको न लभ्यते ३ इति । संज्वलनकषायचतुष्कस्य तु सदैवावाप्तानादिबन्धभावो यदा तत्प्रथमतयाऽनिवृत्तिबादरादिर्बन्ध व्यवच्छेद विधत्ते तदाऽनादिसान्तस्वभावस्तस्य द्वितीयभङ्ग । यदा तु तत प्रतिपतित पुनर्बन्धेन संज्वलनबन्ध सादि कृत्वा पुनरपि कालान्तरेऽनिवृत्तिबादरादिभाव प्राप्त सन् तान् न भन्त्स्यति तदा सादिसान्तस्वरूप सज्वलनचतुष्कस्य चतुर्थ इति । निद्रा प्रचला-तैजस-कार्मण वर्णचतुष्का ऽगुरुलघु-उपघात निर्माण-भय-जुगुप्सास्वरूपाणा त्रयोदशप्रकृतीनामनादिकालादना दिबन्ध विधाय यदा अपूर्वकरणाद्धाया यथास्थान बन्धोपरम करोति तदा द्वितीयो भङ्गक । यदा तु तत प्रतिपतित पुनर्बन्धविधानेन सादित्वमासाद्य भूयोऽपि कालान्तरेऽपूर्वकरणमारूढस्य बन्धाभावस्तदा चतुर्थ इति । चतुर्णा प्रत्याख्यानावरणाना बन्धो देशविरतगुणस्थानक यावद् अनादि तत प्रमत्तादौ बन्धोपरमात् सान्त इति द्वितीयभङ्ग । तत प्रतिपतितो भूयोऽपि बन्धनेन सादित्वमासाद्य यदा पुन प्रमत्तादावबन्धको भवति तदा चतुर्थो भङ्गक । अप्रत्याख्यानाव रणाना त्वविरतसम्यग्दृष्टि यावद् अनादिबन्ध कृत्वा यदा देशविरतादावबन्धको भवति तदा द्वितीय । तत प्रतिपतितो भूयोऽपि तानेव बद्ध्वा पुनस्तेषा यदा देशविरतेऽप्यबन्धको भवति तदा चतुर्थ इति । मिथ्यात्व-स्त्यानर्द्धित्रिका-ऽनन्तानुबन्धिना तु मिथ्यादृष्टिरनादिबन्धको यदा सम्यक्त्वावाप्तौ बन्धोपरम करोति तदा द्वितीय । पुनर्मिथ्यात्वगमनेन तान् बद्ध्वा यदा भूयोऽपि सम्यक्त्वलाभे सति बन्ध न विधत्ते तदा चतुर्थ इति । एव ध्रुवबन्धिनीना भङ्गकत्रय निरूपितमिति । तथा मिथ्यात्वस्य ध्रुवोदयस्य भङ्गा अनाद्यनन्त १ अनादिसान्त २ सादिसान्त-३ स्वभावास्त्रयो भवन्ति । तत्रानाद्यनन्तोऽभव्यानाम्, यतस्तेषा न कदाचिद् मिथ्यात्वोदय-विच्छेद समपादि सम्पत्स्यते चेति १ । अनादिसान्तस्त्वनादिमिथ्यादृष्टे, तत्प्रथमतया सम्यक्त्वलाभे मिथ्यात्वस्याभावात् २ । सादिसान्त पुन प्रतिपतितसम्यक्त्वस्य सादिके मिथ्यात्वोदये सम्पन्ने पुनरपि सम्यक्त्वलाभाद् मिथ्यात्वोदयाभावे सम्भवति ३ इति । "दुहा वि अधुवा तुरियभंग" त्ति 'द्विधापि' द्विभेदा अपि बन्धमाश्रित्योदयमाश्रित्य च 'अध्रुवा' अध्रुवब न्धिन्योऽध्रुवोदयाश्चेत्यर्थ तुरीय —चतुर्थो भङ्ग सादिसान्तलक्षणो यासा तास्तुरीयभङ्गा भवन्ति । तत्राध्रुवबन्धिनीना पूर्वोक्तत्रिसप्ततिसङ्ख्यप्रकृतीनामध्रुवबन्धित्वादेव सादिसान्तलक्षण एक एव भङ्गको भवति । तथा अध्रुवोदयानामुदय सह आदिना—उदयविच्छेदे सति तत्प्रथमतयोदयभव-नस्वभावेन वर्तत इति सादि, स चासौ सान्तश्च—पुनरुदयव्यवच्छेदात् सपर्यवसानश्च सादिसान्त । ततश्चाध्रुवोदयानामयमेवैको भङ्गको भवति नान्य, अध्रुवत्वादेवेति भाव ॥ ५ ॥

उक्ता सभावार्था ध्रुवबन्धिन्योऽध्रुवबन्धिन्यश्च प्रकृतय । प्रसङ्गतो ध्रुवा ऽध्रुवोदयाना प्रकृतीना भङ्गकाश्च । सम्प्रति ध्रुवा-ऽध्रुवोदयप्रकृतिद्वारनिरूपणायाह—

निमिण थिरअथिर अगुरुय, सुहअसुह तेय कम्म चउवन्ना ।
नाणतराय दसण, मिच्छ धुवउदय सगवीसा ॥ ६ ॥

"निमिण" त्ति प्राकृतत्वाद् निर्माण स्थिरा-ऽस्थिरम् "अगुरुय" त्ति अगुरुलघु शुभा ऽशुभ तैजस कार्मण 'चतुर्वर्ण' वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्शलक्षणमित्येता द्वादश नाम्नो ध्रुवोदया ज्ञानावरण-

पञ्चकम् अन्तरायपञ्चक दर्शनचतुष्क मिथ्यात्वमिति सप्तविंशतिप्रकृतय 'ध्रुवोदया' नित्योदया, सर्वासामपि स्वोदयव्यवच्छेदकाल यावदव्यवच्छिन्नोदयत्वादिति ॥ ६ ॥

अभिहिता ध्रुवोदया प्रकृतय । इदानीमध्रुवोदया प्रकृतीराह—

थिरसुभियर विणु अद्धुवबंधी मिच्छ विणु मोहधुवबधी ।

निद्दोवघाय मीस, सम्म पणनवइ अधुवुदया ॥ ७ ॥

इतरशब्दस्य प्रत्येक सम्बन्धात् 'स्थिरेतर-शुभेतर-प्रकृतिचतुष्क विना' स्थिरमस्थिर शुभ-मशुभ विना शेषा एकोनसप्ततिसङ्ख्या अध्रुवबन्धिन्य प्रकृतय । तथाहि—तैजस-कार्मणवर्जं शरीरत्रिकम् अङ्गोपाङ्गत्रय सस्थानषट्क सहननषट्क जातिपञ्चक गतिचतुष्क विहायोगतिद्विकम् आनुपूर्वीचतुष्क जिननाम उच्छ्वासनाम उद्योतम् आतप पराघात त्रस-बादर-पर्याप्तक-प्रत्येक-सुभग-सुस्वरा-ऽऽदेय-यश कीर्ति-स्थावर-सूक्ष्मा-ऽपर्याप्तक-साधारण-दुर्भग-दु स्वरा-ऽनादेया--ऽयश कीर्ति उच्चैर्गोत्र नीचैर्गोत्र साता-ऽसातवेदनीय हास्य-रती अरति-शोकौ स्त्री-पु-नपुसक-रूप वेदत्रयम् आयुश्चतुष्कमिति । तथा मिथ्यात्व विना मोहध्रुवबन्धिन्योऽष्टादश । तद्यथा—षोडश कषाया भय जुगुप्सा । निद्रा पञ्च उपघातनाम मिश्र सम्यक्त्वमिति पञ्चनवतिरध्रुवोदया, व्यवच्छिन्नस्याप्युदयस्य पुनरुदयसद्भावादिति । यद्येव मिथ्यात्वस्याप्यध्रुवोदयत्वैव युज्यते, सम्यक्त्वप्राप्तौ व्यवच्छिन्नस्यापि तदुदयस्य मिथ्यात्वगमने पुन सद्भावात्' इति, अत्रोच्यते—यासा प्रकृतीना येषु गुणस्थानकेषु गुणप्रत्ययतोऽप्युदयव्यवच्छेदो न विद्यते, अथ [च] द्रव्य-क्षेत्र-कालाद्यपेक्षया तेष्वेव गुणस्थानकेषु कदाचिदसौ भवति कदाचिद् नेति ता एवाध्रुवोदया, यथा निद्राया मिथ्यादृष्टेरारभ्य क्षीणमोह यावदुदयोऽव्यवच्छिन्नो वर्तते, अथ च न सततमसौ भवतीति । मिथ्यात्वस्य तु नेद लक्षणम्, यतस्तस्य यत्र प्रथमगुणस्थानके नाद्याप्युदयव्यवच्छेदस्तत्र सततोदय एव न कादाचित्क इति ध्रुवोदयत्वैव तस्येति ॥ ७ ॥

उक्तमध्रुवोदयमद्वारम् । सम्प्रति ध्रुवसत्ताका-ऽध्रुवसत्ताकप्रकृतिद्वारद्वय निरूपयन्नाह—

तसवन्नवीस सगतेयकम्म धुवबंधि सेस वेयतिग ।

आगिइतिग वेयणिय, दुजुयल सग उरल सास चऊ ॥ ८ ॥

खगईतिरिदुग नीय, धुवसंता सम्म मीस मणुयदुग ।

विउविक्कार जिणाऊ, हारसगुच्चा अधुवसंता ॥ ९ ॥

इह विंशतिशब्दस्य प्रत्येक योगात् त्रसविंशतिर्वर्णविंशतिश्च । तत्र त्रसेनोपलक्षिता विंशति-स्त्रसविंशति । तथाहि—त्रस-बादर-पर्याप्तक-प्रत्येक-स्थिर शुभ-सुभग-सुस्वरा-ऽऽदेय-यश कीर्ति-नामेति त्रसदशकम्, स्थावर-सूक्ष्मा-ऽपर्याप्तक-साधारणा-ऽस्थिरा-ऽशुभ-दुर्भग-दु स्वरा-ऽनादेया-ऽयश कीर्तिनामेति स्थावरदशकम्, उभयमीलने त्रसविंशतिरियमुच्यते । वर्णविंशतिरियम्—कृष्ण-नील-लोहित-हारिद्र सितवर्णभेदात् पञ्च वर्णा, सुरभिगन्धा ऽसुरभिगन्धभेदेन द्वौ गन्धौ, तिक्त-कटु-कषाया-ऽम्ल-मधुरभेदात् पञ्च रसा, गुरु-लघु-मृदु-खर-शीत-उष्ण-स्निग्ध-रूक्षस्पर्शभेदादष्टौ स्पर्शा, सर्वमीलने च वर्णविंशतिरियमुच्यते, वर्णेनोपलक्षिता विंशतिर्वर्णविंशतिरिति कृत्वा । "सगतेय-कम्म" त्ति 'तैजस-कार्मणसप्तक' तैजसशरीर १ कार्मणशरीर २ तैजसतैजसबन्धन ३ तैजसकार्मण-

बन्धन ४ कार्मणकार्मणबन्धन ५ तैजससङ्घातन ६ कार्मणसङ्घातन ७ लक्षणम्। "धुवबंधि सेस" त्ति वर्णचतुष्क-तैजस-कार्मणस्योक्तत्वात् शेषा एकचत्वारिंशद् ध्रुवबन्धिन्य । तथाहि—अगुरुलघु निर्माण-उपघात-भय-जुगुप्सा-मिथ्यात्व-कषायषोडशक ज्ञानावरणपञ्चक-दर्शनावरणनवका-ऽन्तरायपञ्चकमिति । 'वेदत्रिक' स्त्री पु-नपुसकलक्षणम् । "आगिइतिग" त्ति "तणुवगागिइसंघयणजाइगइखगइ" (गा० ३) इत्यादिसञ्ज्ञागाथोक्तमाकृतित्रिक गृह्यते, तत आकृतय —संस्थानानि षट्, सहननानि षड्, जातय पञ्च इत्येवमाकृतित्रिकशब्देन सप्तदश भेदा गृह्यन्ते। 'वेदनीय' साता ऽसातभेदाद्द्विधा । द्वयोर्युगलयो समाहारो द्वियुगल हास्य-रति-अरति-शोकरूपम् । "खग उरल" त्ति औदारिकसप्तकम्—औदारिकशरीर १ औदारिकाङ्गोपाङ्ग २ औदारिकसङ्घातन ३ औदारिकौदारिकबन्धन ४ औदारिकतैजसबन्धन ५ औदारिककार्मणबन्धन ६ औदारिकतैजसकार्मणबन्धन ७ रूपम् । "सासचउ" त्ति 'उच्छ्वासचतुष्क' उच्छ्वास-उद्योता ऽऽतप पराघाताख्यम् । "खगईतिरिदुग" त्ति द्विकशब्दस्य प्रत्येक सम्बन्धात् खगतिद्विक—प्रशस्तविहायोगति-अप्रशस्तविहायोगतिलक्षणम्, तिर्यग्द्विक—तिर्यग्गति-तिर्यगानुपूर्वीरूपम्। "नीय" त्ति नीचैर्गोत्रमिति। एतास्त्रिंशदुत्तरशतसङ्ख्या प्रकृतयो ध्रुवसत्ताका अभिधीयन्ते, ध्रुवसत्ताकत्व चासा सम्यक्त्वलाभादर्वाक् सर्वजीवेषु सदैव सद्भावात् । अथानन्तानुबन्धिना कषायाणामुद्वलनसम्भवादध्रुवसत्ताकतेव युज्यते अत कथ ध्रुवसत्ताकप्रकृतीना त्रिंशदधिकशतसङ्ख्या सङ्गच्छते ? मेव वोच, यतोऽवाप्तसम्यक्त्वाद्युत्तरगुणानामेव जीवानामेतद्विसंयोगो न सर्वजीवानाम्, अध्रुवसत्ताकता चानवाप्तोत्तरगुणजीवापेक्षयैव चिन्त्यते अतोऽनन्तानुबन्धिना ध्रुवसत्ताकतैव, यदि चोत्तरगुणप्राप्त्यपेक्षया अध्रुवसत्ताकता कक्षीक्रियते तदा सर्वासामपि प्रकृतीना स्यात्, नानन्तानुबन्धिनामेव, यत्त सर्वा अपि प्रकृतयो यथास्थानमुत्तरगुणेषु सत्सु सत्ताव्यवच्छेदमनुभवन्त्येवेति । तथा "सम्म" त्ति सम्यक्त्व मिश्रम्, 'मनुजद्विक' मनुजगति-मनुजानुपूर्वीरूपम्, "विउविक्कार" त्ति 'वैक्रियैकादशकम्' देवगति १ देवानुपूर्वी २ नरकगति ३ नरकानुपूर्वी ४ वैक्रियशरीर ५ वैक्रियाङ्गोपाङ्ग ६ वैक्रियसङ्घातन ७ वैक्रियवैक्रियबन्धन ८ वैक्रियतैजसबन्धन ९ वैक्रियकार्मणबन्धन १० वैक्रियतैजसकार्मणबन्धन ११ लक्षणम्, जिननाम, आयुश्चतुष्कम्, "हारसग" त्ति प्राकृतत्वाद् आकारलोपे 'आहारकसप्तकम्' आहारकशरीर १ आहारकाङ्गोपाङ्ग २ आहारकसङ्घातन ३ आहारकाहारकबन्धन ४ आहारकतैजसबन्धन ५ आहारककार्मणबन्धन ६ आहारकतैजसकार्मणबन्धनाख्यम् ७, उच्चैर्गोत्रम् इत्येता अष्टाविंशतिसङ्ख्या प्रकृतयोऽध्रुवसत्ताका उच्यन्ते । अयमिह भावार्थ —सम्यक्त्व मिश्र चाऽभव्याना प्रभूतभव्याना च सत्ताया नास्ति, केषाञ्चिदस्तीति । तथा मनुष्यद्विक वैक्रियैकादशकम् इत्येतास्त्रयोदश प्रकृतयस्तेजो-वायुकायिकजीवमध्यगतस्योद्वर्तनाप्रयोगेण सत्ताया न लभ्यन्ते, इतरस्य तु भवन्ति । तथा वैक्रियैकादशकमसम्प्राप्तत्रसत्वस्य बन्धाभावाद् विहितैतद्बन्धस्य स्थावरभाव गतस्य स्थितिक्षयेण वा सत्ताया न लभ्यते, तदन्यस्य सम्भवत्यपि । तथा सम्यक्त्वहेतौ सत्यपि जिननाम कस्यचिद् भवति कस्यचिद् नेति । तथा देव-नारकायुषी स्थावराणाम्, तिर्यगायुष्क त्वहमिन्द्राणा देवानाम्, मनुजायुष्क पुनस्तेजो-वायु सप्तमपृथिवीनारकाणा सर्वथैव तद्बन्धाभावात् सत्ताया न लभ्यते, अन्येषा तु

सम्भवत्यपि । तथा सयमे सत्यपि आहारकसप्तक कस्यचिद् बन्धसद्भावे सत्ताया स्यात् तदभावे कस्यचित् नेति । तथोच्चैर्गोत्रमसम्प्राप्तत्रसत्वस्य बन्धाभावाद् विहितैतद्बन्धस्य स्थावरभाव गतस्य स्थितिक्षयेण वा सत्ताया न लभ्यते तेजो-वायुकायिकजीवमध्यगतस्य उद्वर्तनप्रयोगेण वा सत्ताया न लभ्यते, इतरस्य तु भवतीत्यासामध्रुवसत्ताकता ॥ ८-९ ॥

उक्तं ध्रुवसत्ताका-ऽध्रुवसत्ताकप्रकृतिद्वारद्वयम् । सम्प्रति गुणस्थानकेषु कासाञ्चित् प्रकृतीना ध्रुवा-ऽध्रुवसत्ता गाथात्रयेण निरूपयन्नाह—

पढमतिगुणेसु मिच्छं, नियमा अजयाइअट्ठगे भज्जं ।
सासाणे खलु सम्मं, संत मिच्छाइदसगे वा ॥ १० ॥

प्रथमा —आद्यास्त्रय —त्रिसङ्ख्या गुणा —गुणस्थानकानि प्रथमत्रिगुणा तेषु प्रथमत्रिगुणेषु—मिथ्यादृष्टि-सास्वादन-सम्यग्मिथ्यादृष्टिलक्षणेषु 'मिथ्यात्व' मिथ्यात्वलक्षणा प्रकृति 'नियमात्' निश्चयेन 'सद्' विद्यमानम्, सत्ताया प्राप्यत इत्यर्थ । 'अयताद्यष्टके' अविरतसम्यग्दृष्टि १ देशविरत-२ प्रमत्तसंयत ३ अप्रमत्तसयत ४ अपूर्वकरण ५ अनिवृत्तिबादर ६ सूक्ष्मसम्पराय ७ उपशान्तमोह-८ लक्षणेष्वष्टसु गुणस्थानकेषु 'भाज्य' विकल्पनीयम्, कदाचिद् मिथ्यात्व सत्तायामस्ति कदाचिन्नास्ति । तथाहि—अविरतसम्यग्दृष्ट्यादिना क्षपिते नास्ति, उपशमिते त्वस्ति । सास्वादने 'खलु' नियमेन "सम्म" 'सम्यक्त्व' सम्यग्दर्शनमोहनीयलक्षणा प्रकृति 'सद्' विद्यमानम्, सर्वदैव लभ्यत इत्यर्थ , यत औपशमिकसम्यक्त्वाद्धाया जघन्यत समयावशेषायामुत्कृष्टत षडावलिकावशिष्टाया सास्वादनो लभ्यते, तत्र च नियमादष्टाविंशतिसत्कर्मैवासाविति भाव । 'मिथ्यात्वादिदशके' मिथ्यादृष्ट्यादिषु सास्वादनवर्जितोपशान्तमोहपर्यवसानगुणस्थानकेषु दशसङ्ख्येषु 'वा' विकल्पेन—भजनया सम्यक्त्व सत्ताया स्याद् लभ्यते स्यान्नेति । तथाहि—मिथ्यादृष्टौ जीवेऽनादि-षड्विंशतिसत्कर्मणि उद्वलितसम्यक्त्वपुञ्जे वा, मिश्रेऽप्युद्वलितसम्यग्दर्शने, अविरतादौ चोपशान्त-मोहान्ते क्षीणसप्तके सम्यग्दर्शनमोहनीय सत्ताया न प्राप्यते अन्यत्र सर्वत्र लभ्यत इति ॥१०॥

सासणमीसेसु धुवं, मीसं मिच्छाइनवसु भयणाए ।
आइदुगे अण नियया, भइया मीसाइनवगम्मि ॥ ११ ॥

सास्वादन च मिश्र च सास्वादन-मिश्रे तयो सास्वादन—मिश्रयो , बहुत्व च प्राकृतत्वशात्, यदाहु प्रभुश्रीहेमचन्द्रसूरिपादाः—"द्विवचनस्य बहुवचनम्" (सिद्ध० ८-३-१३०) यथा—'हत्था पाया' इत्यादौ, सास्वादनगुणस्थाने सम्यग्मिथ्यादृष्टिगुणस्थाने चेत्यर्थ , 'ध्रुवम्' अवश्यम्भावेन 'मिश्र' सम्यग्मिथ्यादर्शनमोहनीय 'सद्' इति पूर्वोक्तगाथातो डमरुकमणिन्यायादिहापि सम्बध्यते । इदमत्र हृदयम्—सासादनो नियमादष्टाविंशतिसत्कर्मैव भवति, मिश्रश्चाष्टाविंशतिसत्कर्मा विसयोजितसम्यक्त्व सप्तविंशतिसत्कर्मा उद्वलितानन्तानुबन्धिचतुष्कश्चतुर्विंशतिसत्कर्मा वा, तत एतेषु सत्तास्थानकेषु मिश्रसत्ताऽवश्य लभ्यते, षड्विंशतिसत्कर्मा तु मिश्रो न सम्भवत्येव, मिश्रपुञ्जस्य सत्तोदयाभ्या व्यतिरेकेण मिश्रगुणस्थानकाप्राप्तेरिति । 'मिथ्यात्वादिनवसु'

१ छा० °त्ता ऽप्रमत्तसयता ऽ° ॥

सास्वादन-सम्यग्मिथ्यात्वरहितेषु मिथ्यादृष्ट्याद्युपशान्तमोहपर्यवसानगुणस्थानकेष्वित्यर्थ 'भजनया' विकल्पेन मिश्रम्, स्यात सत्तायामस्ति स्यान्नेति । किमुक्त भवति [1]—यो मिथ्यादृष्टि षड्विंशतिसत्कर्मा, ये वोऽविरतसम्यग्दृष्ट्यादय उपशान्तमोहान्ता क्षायिकसम्यग्दृष्टय तेषु मिश्र सत्ताया नावाप्यते अन्यत्र प्राप्यत इति । तथा 'आद्यद्विके' प्रथमगुणस्थानकयुगले-मिथ्यादृष्टि-सास्वादनगुणस्थानकद्वय इत्यर्थ "अण" त्ति अनन्तानुबन्धिन प्रथमकषाया क्रोध-मान-माया लोभाख्या 'नियता' अवश्यम्भावेन सत्तायामवाप्यन्ते, यतो मिथ्यादृष्टि-सास्वादनसम्यग्दृष्टी नियमेनानन्तानुबन्धिनो बध्नीत इति भाव । तथा 'भाज्या' भक्तव्या-विकल्पनीया 'मिश्रादिनवके' सम्यग्मिथ्यादृष्टिप्रभृत्युपशान्तमोहपर्यवसाननवगुणस्थानकेष्वनन्तानुबन्धिन, सत्तामाश्रित्य भक्तव्या इत्यर्थ । इयमत्र भावना—विसंयोजितानन्तानुबन्धिनश्चतुर्विंशतिसत्कर्मण सम्यग्मिथ्यादृष्टे क्षीणसप्तकस्यैकविंशतिसत्कर्मणोऽनन्तानुबन्धिरहितचतुर्विंशतिसत्कर्मणो वाऽविरत सम्यग्दृष्ट्यादेरनन्तानुबन्धिन सत्ताया न सन्ति तदितरस्य तु सन्तीति । एतच्च शेषकर्मग्रन्थाभिप्रायेणोक्तम् । कर्मप्रकृतौ पुन श्रीशिवशर्मसूरिपादा एवमाहु —

बीयतइएसु मीसं, नियमा ठाणनवगम्मि भइयव्व ।

सजोयणा उ नियमा, दुसु पचसु हुति भइयव्वा ॥ (गा० ४२३)

पूर्वार्धं सुगममेव । उत्तरार्धस्येयमक्षरगमनिका—सयोजयन्त्यात्मनोऽनन्तकालमिति "रम्यादिभ्य कर्तरि" (सिद्ध०५-३-१२६) इत्यनटि प्रत्यये सयोजना —अनन्तानुबन्धिकषाया, 'तु' पुनरर्थे, 'नियमात्' नियमेन 'द्वयो' मिथ्यादृष्टि-सास्वादनयो सत्तामाश्रित्य भवन्ति, यत एताववश्यमनन्तानुबन्धिनो बध्नीत इति । पञ्चसु पुनर्गुणस्थानकेषु सम्यग्मिथ्यादृष्टिप्रभृतिष्व प्रमत्तसयतपर्यन्तेषु सत्ता प्रतीत्य भक्तव्या, यद्युद्वलितास्ततो न सन्ति इतरथा तु सन्तीत्यर्थं ॥ तदुपरितनेषु पुनरपूर्वकरणादिषु सर्वथैव तत्सत्ता नास्ति, यतस्तदभिप्रायेण विसंयोजितानन्तानुबन्धिकषाय एवोपशमश्रेणिमपि प्रतिपद्यत इति ॥ ११ ॥

आहारसत्तग वा, सव्वगुणे बितिगुणे विणा तित्थ ।

नोभयसते मिच्छो, अतमुहुत्त भवे तित्थे ॥ १२ ॥

'आहारकसप्तक' आहारकशरीर १ तदङ्गोपाङ्ग २ आहारकसङ्घात ३ आहारकाहारकबन्धन ४ आहारकतैजसबन्धन ५ आहारककार्मणबन्धन ६ आहारकतैजसकार्मणबन्धन ७ लक्षण 'वा' विकल्पेन-भजनया 'सव्वगुणे' सर्वगुणस्थानकेषु मिथ्यादृष्टिप्रभृत्ययोगिकेवलिपर्यवसानेषु, सूत्रे चैकवचन प्राकृतत्वात्, ततश्च सर्वगुणस्थानकेषु विकल्पनया सत्ता प्रतीत्य आहारकसप्तक प्राप्यते । इदमत्र हृदयम्—योऽप्रमत्तसयतादि सयमप्रत्ययादाहारकसप्तकबन्ध विधाय विशुद्धिवशादुपरितनगुणस्थानकेषु समारोहति, यश्च कश्चिदविशुद्धाध्यवसायवशादुपरितनगुणस्थानकेभ्योऽधस्तनगुणस्थानकेषु प्रनिपतति तस्याहारकसप्तक सर्वगुणस्थानकेषु सत्ताया प्राप्यते, य पुनराहारकसप्तक न बध्नात्येव तद्बन्ध विनैवोपरितनगुणस्थानकेष्वध्यारोहति तस्य

१ छा० °त्वाविर° ॥ २ द्वितीयतृतीययोर्मिश्र नियमात्स्थाननवके भक्तव्यम् । सयोजनास्तु नियमाद् द्वयो पञ्चसु भवन्ति भक्तव्या ॥

जन्तोस्तत् तेषु सत्ताया नावाप्यत इति। तथा "तितिगुणे विणा तित्थ" ति कोलिकंनलिकन्यायेन 'सर्वगुणेषु वा' इत्यत्रापि सम्बन्धनीयम्। सर्वगुणस्थानकेषु द्वितीय-तृतीयगुणस्थानके विना, साम्वादन-मिश्रगुणस्थानकरहितेषु द्वादशस्वित्यर्थ, 'वा' विभाषया—भजनया तीर्थकरनाम सत्ताया प्राप्यत इति। इदमत्र तात्पर्यम्—यदा कश्चिदविरतसम्यग्दृष्ट्यादिरपूर्वकरणभागपट्क यावत् सम्यक्त्वप्रत्ययात् तीर्थकरनामकर्म बद्धा उपरितनगुणस्थानकान्यधिरोहति, कश्चिच्च बद्धतीर्थकरनामकर्मा अविशुद्धिवशात् मिथ्यात्वमपि गच्छति तदा सास्वादन-मिश्ररहितेषु द्वादशगुणस्थानकेषु तीर्थकरनामकर्म सत्तायामवाप्यते, तीर्थकरनामसत्ताको हि मिश्र-साम्वादनभाव न प्रतिपद्यते स्वभावादेवेति तद्वर्जनम्। यदुक्त बृहत्कर्मस्तवभाष्ये—

तित्थयरेण विहीण, सीयालसय तु संतए होइ।
सासायणम्मि उ गुणे, सम्मामीसे य पयडीण ॥ (गा० २५)

य पुनर्विशुद्धसम्यक्त्वेऽपि सति तद् न बध्नाति तस्य सर्वगुणस्थानकेषु तत्सत्ता न लभ्यते, यतोऽनयो सयम-सम्यक्त्वलक्षणस्वप्रत्ययसद्भावेऽपि बन्धाभावाद् नावश्य सत्तासम्भव ।

यदुक्त कर्मप्रकृतिसङ्ग्रहण्याम्—

आहारग तित्थगरा भज्ज त्ति ।

आहारकसप्तक-तीर्थकरनाम्नी सत्ता प्रति भाज्ये इति भाव । एवमाहारकसप्तके तीर्थकरनामनि च प्रत्येक सत्तारूपेणाऽवतिष्ठमाने मिथ्यादृष्टिरपि जन्तुर्भवतीति निश्चितम्। उभयसत्तायामसौ भवति न वेति विनेयाऽऽशङ्कायामाह—"नोभयसते मिच्छो" त्ति। 'न' नैव उभयस्य—आहारकसप्तक-तीर्थकरलक्षणद्विकस्य सत्त्वे—सत्तासद्भावे सति मिथ्यादृष्टिर्भवेत्। कोऽर्थ ? उभयसत्ताया मिथ्यात्व न गच्छतीति भाव । तर्हि केवलतीर्थकरनामकर्मसत्ताया कियन्त काल मिथ्यादृष्टिर्भवति ? इत्याह—"अतमुहुत्त भवे तित्थे" त्ति 'अन्तर्मुहूर्तम्' अन्तर्मुहूर्तमात्र काल 'भवेत्' जायेत "मिच्छो" त्ति इत्यस्यात्रापि सम्बन्धाद् मिथ्यादृष्टि। क सति ? इत्याह—"तित्थे" त्ति तीर्थकरनामकर्मणि सत्ताया वर्तमान इति गम्यते। इदमुक्त भवति—यो नरके बद्धायुष्को वेदकसम्यग्दृष्टिर्बद्धतीर्थकरनामकर्मा सन् तत्रोत्पित्सुरवश्य सम्यक्त्व परित्यज्य तत्रोत्पद्यते, उत्पत्तिसमनन्तरमन्तर्मुहूर्तादूर्ध्वमवश्य सम्यक्त्व प्रतिपद्यते, तस्यायमुक्तप्रमाण कालो लभ्यत इति ॥ १२ ॥

उक्त सप्रतिपक्ष ध्रुवसत्ताकप्रकृतिद्वारम्। अधुना सप्रतिपक्ष सर्व-देशघातिप्रकृतिद्वार प्रतिपादयन्नाह—

केवलजुयलावरणा, पण निद्दा बारसाइमकसाया।
मिच्छ ति सव्वघाई, चउनाणतिदंसणावरणा ॥ १३ ॥
सजलण नोकसाया, विग्घं इय देसघाईओ अघाई।
पत्तेयतणुट्ठाऽऽऊ, तसवीसा गोयदुग वन्ना ॥ १४ ॥

१ स० १-२ °वनल्कन्या° ॥ २ तीर्थकरेण विहीन सप्तचत्वारिंश शत तु सत्ताया भवति। सास्वादने गुणे सम्यग्मिश्रे च प्रकृतीनाम् ॥ ३ स० १-२ °रक्तीर्थ° ॥ ४ छा० °स्य सत्ता° ॥ ५ छा० म० °इय ॥

केवलयुगल—केवलज्ञान-केवलदर्शनरूप तस्यावरणे—आच्छादके कर्मणी केवलयुगलावरणे, केवलज्ञानावरण केवलदर्शनावरण चेत्यर्थ । 'पञ्च निद्रा' निद्रा १ निद्रानिद्रा २ प्रचला ३ प्रचलाप्रचला ४ स्त्यानर्द्धि ५ रूपा । द्वादशेति सङ्ख्या 'आदिमकषाया' सञ्ज्वलनापेक्षया प्रथम कषाया —क्रोध-मान माया-लोभानामेकैकशोऽनन्तानुबन्धि १ अप्रत्याख्यानावरण २ प्रत्याख्यानावरण ३ लक्षणनामत्रयेण द्वादशधात्वम् । मिथ्यात्वमिति । अनेन प्रदर्शितप्रकारेण सर्वमपि स्वावार्यं गुण घातयन्तीत्येवशीला सर्वघातिन्यो विंशतिसङ्ख्या भवन्तीत्यक्षरार्थ । भावार्थ पुनरयम्— इह केवलज्ञानावरणस्य स्वावार्य केवलज्ञानलक्षणो गुण, स च यद्यपि सर्वात्मनाऽऽव्रियते तथापि सर्वजीवाना केवलज्ञानस्यानन्तभागोऽनावृत एवावतिष्ठते, तदावरणे तस्य सामर्थ्याभावात् । यदाहु श्रीदेवर्द्धिवाचकवराः—

सव्वजीवाण पि य ण अक्खरस्स अणतभागो निच्चुग्घाडिओ चिट्ठइ । (नन्दीप० १९५) इति ।

कथ तर्हि सर्वघातित्वम् ? इति चेद् अभिधीयते—यथाऽतिनिबिडे जलदपटले समुन्नते बहुतराया आवृतत्वात् सर्वाऽपि सूर्याचन्द्रमसो प्रभाऽनेनावृतेति वचनरचना प्रवर्तते, अथवाऽद्यापि काचित् तत्प्रभा प्रसरति—"सुट्ठु वि मेहसमुदए, होइ पहा चदसूराण ॥" (नन्दीपत्र १९५) इति वचनादनुभवसिद्धत्वाच्च, तथाऽत्रापि प्रबलकेवलज्ञानावरणावृतस्यापि केवलज्ञानस्यानन्तभागोऽनावृत एवास्ते । यदि पुनस्तमप्यावृणुयात् तदा जीवोऽजीवत्वमेव प्राप्नुयात् ।

यदुक्त नन्द्यध्ययने—

जइ पुण सो वि आवरिज्जा ता ण जीवो अजीवत्तण पाविज्जा । (पत्र १९५)

सोऽपि चावशिष्टोऽनन्तभागो जलधरानावृतदिनकरकरप्रसर इव कट-कुड्यादिभिर्मति श्रुता ऽवधि-मन पर्यायज्ञानावरणैराव्रियते, तथापि काचिद् निगोदावस्थायामपि ज्ञानमात्राऽवतिष्ठते, अन्यथा अजीवत्वप्रसङ्गात् । मतिज्ञानादिविषयभूतांश्चार्थान् यन्न जानीते स केवलज्ञानावरणोदयो न भवति, किं तर्हि ? मतिज्ञानावरणाद्युदय एवेति । केवलदर्शनावरणस्य समस्तवस्तुस्तोमसामान्यावबोध आवार्य, स सर्व हन्तीति सर्वघाति अभिधीयते, तदनन्तभाग त्विदमपि सामर्थ्याभावाद् नावृणोति, सोऽपि चानावृतोऽनन्तभागश्चक्षु-अचक्षु अवधिदर्शनावरणैराव्रियते; शेषो जलधरदृष्टान्तादिचर्चस्तथैव । यच्च चक्षुर्दर्शनादिविषयानर्थान् न पश्यति, स केवलदर्शनावरणोदयो न भवति, किं तर्हि ? चक्षुर्दर्शनावरणाद्युदय एवेति । यद्येव तर्हि केवलज्ञानावरण-केवलदर्शनावरणक्षये सत्यपि मतिज्ञानादिविषयाणामर्थानामवबोधो न प्राप्नोति भिन्नज्ञान विषयत्वाद्, इति चेद् उच्यते—केवलालोकलाभे शेषबोधलाभान्तर्भावात्, ग्रामलाभे क्षेत्रलाभान्तर्भाववदिति । निद्रापञ्चकमपि सर्वं वस्त्ववबोधमावृणोतीति सर्वघाति, यत् पुन स्वापावस्थायामपि किञ्चित् चेतयति तत्र धाराधरनिदर्शन वाच्यम् । तथाऽनन्तानुबन्धिनोऽप्रत्याख्यानावरणा प्रत्याख्यानावरणाश्च प्रत्येक चत्वारो यथाक्रम सम्यक्त्व देशविरतिचारित्र सर्वविरतिचारित्र च

१ सर्वजीवानामपि चाक्षरस्यानन्तभागो नित्योद्घाटितस्तिष्ठति ॥ २ स० १–२ °य चा° ॥ ३ सुष्ठ्वपि मेघसमुदये भवति प्रभा चन्द्रसूर्ययो ॥ ४ यदि पुन सोऽपि आव्रियेत तदा जीवोऽजीवत्व प्राप्नुयात् ॥ ५ स० १–२ छा° °यावर° ॥ ६ छा० °द् तदयुक्तम् ॥ ७ स० १ छा० °द् विकृति ॥

सर्वमेव घ्नन्तीति सर्वघातिनो द्वादशापि कषाया', यत् पुनस्तेषा प्रबलोदयेऽप्ययोग्याहारादिविरमणमुपलभ्यते तत्र वारिवाहदृष्टान्तो वाच्य । तथा मिथ्यात्व तु जिनप्रणीततत्त्वश्रद्धानरूपसम्यक्त्व सर्वमपि हन्तीति सर्वघाति, यत्तु तस्य प्रबलोदयेऽपि मनुष्य-पश्वादिवस्तुश्रद्धान तदपि जलधरोदाहरणादवसेयमिति ।

भाविता सर्वघातिन्य । सम्प्रति देशघातिन्यो भाव्यन्ते—"चउनाणतिदसणावरण" त्ति आवरणशब्दस्य प्रत्येक सम्बन्धाद् ज्ञानावरणचतुष्कम्—मतिज्ञानावरण १ श्रुतज्ञानावरण २-अवधिज्ञानावरण ३ मन पर्यायज्ञानावरण ४ लक्षणम्, दर्शनावरणत्रिक—चक्षुर्दर्शनावरण १-अचक्षुर्दर्शनावरण २ अवधिदर्शनावरण ३ रूपमिति । सञ्ज्वलनाश्चत्वार —क्रोध-मान-माया-लोभा । 'नोकषाया' हास्य १ रति २ अरति ३ शोक ४ भय ५ जुगुप्सा ६ स्त्रीवेद ७ पुवेद-८ नपुसकवेद ९ स्वरूपा नव । 'विग्घम्' अन्तराय-दान-लाभ-भोग-उपभोग-वीर्यान्तरायलक्षणम् । 'इति' अमुना दर्शितप्रकारेण देशघातिन्य' पञ्चविंशतिसङ्ख्या' प्रकृतयो भवन्तीत्यक्षरार्थ । भावार्थस्त्वयम्—मतिज्ञानावरणादिचतुष्क केवलज्ञानावरणानावृत ज्ञानदेश हन्तीति देशघातीदमुच्यते, मत्यादिज्ञानचतुष्टयविषयभूतानर्थान् यद् नावबुध्यते स हि मत्यावरणाद्युदय एव, तदविषयभूतास्त्वनन्तगुणान् यन्न जानीते स केवलज्ञानावरणस्यैवोदय इति । चक्षु -अचक्षु -अवधिदर्शनावरणान्यपि केवलदर्शनावरणानावृतकेवलदर्शनैकदेशमावृण्वन्तीति देशघातीनि । तथाहि—चक्षु -अचक्षु -अवधिदर्शनविषयभूतानेवाऽर्थान् एतदुदयाद् न पश्यति, तदविषयभूतास्त्वनन्तगुणान् केवलदर्शनावरणोदयादेव न समीक्षते । तथा सञ्ज्वलना नव नोकषायाश्च लब्धस्य चारित्रस्य देशमेव घ्नन्तीति देशघातिन , तेषा मूल-उत्तरगुणानामतीचारजनकत्वात् । यदवादि श्रीमदाराध्यपादैः—

> सव्वे वि य अइयारा, सजलणाण तु उदयओ हुति ।
> मूलच्छिज्ज पुण होइ, बारसण्ह कसायाण ॥ (आव० नि० गा० ११२) इति ।

दानान्तरायादीनि पञ्च अन्तरायाण्यपि देशघातीन्येव । तथाहि—दान-लाभ-भोग-उपभोगाना तावद् ग्रहण-धारणायोग्यान्येव द्रव्याणि विषय , तानि च समस्तपुद्गलास्तिकायस्यानन्तभागरूपे देश एव वर्तन्ते, अतो यदुदयात् तानि पुद्गलास्तिकायदेशवर्तीनि द्रव्याणि यद् दातु लब्धु भोक्तुमुपभोक्तु च न शक्नोति तानि दान-लाभ-भोग-उपभोगान्तरायाणि तावद् देशघातीन्येव । यत्तु सर्वलोकवर्तीनि द्रव्याणि न ददाति न लभते न भुङ्क्ते नाप्युपभुङ्क्ते तत्र दानान्तरायाद्युदयात्, किन्तु तेषामेव ग्रहण-धारणाविषयत्वेनाशक्यानुष्ठानत्वादिति मन्तव्यम् । वीर्यान्तरायमपि देशघात्येव, सर्ववीर्यं न घातयतीति कृत्वा । तथाहि—सूक्ष्मनिगोदस्य वीर्यान्तरायकर्मणोऽभ्युदये वर्तमानस्याप्याहारपरिणमन-कर्मदलिकग्रहण-गत्यन्तरगमनादिविषय एतावान् वीर्यान्तरायकर्मक्षयोपशमो विद्यते, तत्क्षयोपशमविशेषतश्च निगोदजीवानादौ कृत्वा यावत् क्षीणमोहस्तावद् वीर्यमल्प बहु बहुतर बहुतम च तारतम्याद् भवतीति, केवलिनश्च तत्कर्मक्षयसम्भूत सर्व-

१ सर्वेऽपि चातिचारा सञ्ज्वलनाना तूदयतो भवन्ति । मूलच्छेद्य पुनर्भवति द्वादशाना कषायाणाम् ॥

वीर्यं भवतीति देशघातीदम्। यदि पुन सर्वघाति स्यात् तदा यथैव मिथ्यात्वस्य कषायद्वादशकस्य च उदये तदावार्यं सम्यक्त्वगुण देश-सर्वसंयमगुण च जघन्यमपि न लभते, तथैव च तदुदयेऽपि तदावार्यं जघन्यमपि वीर्यगुण न लभेत, न चैवमस्ति, तस्मादिदमपि देशघातीति स्थितमिति।

उक्ता सर्व-देशघातिन्य। सम्प्रति तत्प्रतिपक्षभूता अघातिनीर्व्याचिख्यासुराह—"अघाई" इत्यादि। अघातिन्य एता पञ्चसप्ततिसङ्ख्या प्रकृतयोऽभिधीयन्ते। तद्यथा—"पत्तेय" त्ति प्रत्येकप्रकृतय—पराघात-उच्छ्वासा-ऽऽतप-उद्योता-ऽगुरुलघु-तीर्थकर-निर्माण-उपघातरूपा अष्टौ। "तणुट्ठ" त्ति तन्वा(नु)शब्देनोपलक्षितमष्टक "तणुवगागिइसंघयणजाइगइखगइपुव्वि" (गा० ३) इति लक्षण तन्वष्टकम्, तत्र तनव—औदारिक-वैक्रिया ऽऽहारक-तैजस-कार्मणलक्षणा पञ्च, उपाङ्गानि त्रीणि, आकृतय—संस्थानानि षट्, संहननानि षट्, जातय पञ्च, गतयश्चतस्र, खगती द्वे, पूर्व्य—आनुपूर्व्यश्चतस्र, एव तन्वष्टके प्रकृतय पञ्चत्रिंशत्। आयूंषि चत्वारि। त्रसविंशति—त्रसदशक-स्थावरदशकमीलनात्। "गोयदुग" त्ति गोत्रशब्देनोपलक्षित द्विकम्—"गोयवेयणिय" (गा० ३) इतिगाथांशेन प्रतिपादितम्, गोत्रम्—उच्चैर्गोत्र नीचैर्गोत्रमिति, साता ऽसातभेदाद् वेदनीय द्विधा, तदेव गोत्रद्विकशब्देन प्रकृतिचतुष्टयमभिधीयते। "वन्न" त्ति वर्ण-गन्ध-रस स्पर्शाख्याश्चतस्र प्रकृतयो गृह्यन्ते इति। एता प्रकृतयोऽघातिन्य, न कञ्चन ज्ञानादिगुण घातयन्तीति कृत्वा, केवल सर्व देशघातिनीभि सह वेद्यमानास्तत्सदृशयोऽनुभूयन्ते। अयमर्थ—सर्वघातिनीभि सह वेद्यमाना एता अघातिन्योऽपि सर्वघातिरसविपाक दर्शयन्ति, देशघातिनीभि सह पुनर्वेद्यमाना देशघातिरसम्, यथा स्वयमचौरोऽपि चौरै सह वर्तमानश्चौर इवावभासते। यदभाणि—

> जोण न विसओ घाइत्तणम्मि ताण पि सव्वघाइरसो।
> जायइ घाइसंगासेण चोरया वेहऽचोराण ॥ (पञ्चसं० गा० १५०) ॥१४॥

उक्त सप्रतिपक्ष सर्व देशघातिद्वारम्। सम्प्रति पुण्य-पापप्रकृतीर्विवरीपुराह—

सुरनरतिगुच्च साय, तसदस तणुवग वइर चउरंसं।
परघासग तिरिआउं, वन्नचउ पणिंदि सुभखगई ॥ १५ ॥

त्रिकशब्दस्य प्रत्येक सम्बन्धात् सुरत्रिकम्—देवगति देवानुपूर्वी-देवायुर्लक्षणम्, नरत्रिकम्—नरगति-नरानुपूर्वी-नरायुर्लक्षणम्, "उच्च" त्ति उच्चैर्गोत्र सात 'त्रसदशक' त्रस-बादर-पर्याप्त प्रत्येक-स्थिर-शुभ-सुभग-सुस्वरा-ऽऽदेय-यश कीर्तिलक्षणम्, तनव—औदारिक-वैक्रिया-ऽऽहारक-तैजस-कार्मणरूपा पञ्च, उपाङ्गानि—औदारिकाङ्गोपाङ्ग-वैक्रियाङ्गोपाङ्गा-ऽऽहारकाङ्गोपाङ्गलक्षणानि त्रीणि, "वइर" त्ति वज्रऋषभनाराचसंहननम् 'चतुरस्र' समचतुरस्र "परघासग" त्ति पराघातसप्तकम्—पराघात-उच्छ्वासा-ऽऽतप-उद्योता-ऽगुरुलघु-तीर्थकरनाम-निर्माणरूपम्,

१ येषां न विषयो घातित्वे तासामपि सर्वघातिरस। जायते घातिसकाशेन चौरता इवेहाचौराणाम् ॥

२ पञ्चसङ्ग्रहस्वोपज्ञटीकागतगाथायां तु—°समासेण। बृहट्टीकागतगाथायां पुन—°सगासेण ॥

तिर्यगायु 'वर्णचतुष्क' वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्शाख्यम्, पञ्चेन्द्रियजाति 'शुभखगति' प्रशस्तविहायोगतिरिति ॥ १५ ॥

घायाल पुन्नपगई, अपढमसंठाणखगइसंघयणा ।
तिरिदुग असाय नीयोवघाय इग विगल निरयतिगं ॥ १६ ॥
थावरदस वन्नचउक्क घाइपणयालसहिय बासीई ।
पावपयडि त्ति दोसु वि, वन्नाइगहा सुहा असुहा ॥ १७ ॥

सुरत्रिकप्रभृतय शुभखगतिपर्यन्ता एता द्विचत्वारिंशत्सङ्ख्या पुण्या –शुभा प्रकृतय पुण्यप्रकृतय उच्यन्ते ।

उक्ता पुण्यप्रकृतय इदानी पापप्रकृतीराह—"अपढमसठाण" इत्यादि । सस्थानानि च खगतिश्च सहननानि च सस्थान-खगति-सहननानि, अप्रथमानि च–प्रथमवर्जानि तानि सस्थान-खगति-सहननानि च अप्रथमसस्थान खगति-सहननानि । तत्राप्रथमसस्थानानि "न्यग्रोधपरिमण्डल-सादि-कुब्ज-वामन हुण्डाख्यानि पञ्च, अप्रथमखगति –अप्रशस्तविहायोगति , अप्रथमसहननानि–ऋषभनाराच-नाराच-ऽर्धनाराच कीलिका-स्छेदवृत्तरूपाणि पञ्च, 'तिर्यग्द्विक' तिर्यगति-तिर्यगानुपूर्वीरूपम् असात नीचैर्गोत्रम् उपघातम् "इग" त्ति एकेन्द्रियजाति "विगल" त्ति द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रियजातय 'नरकत्रिक' नरकगति-नरकानुपूर्वी-नरकायुर्लक्षण 'स्थावरदशक' स्थावर-सूक्ष्मा-ऽपर्याप्तक-साधारणा-ऽस्थिरा-ऽशुभ-दुर्भग-दु स्वरा-ऽनादेया-ऽयश कीर्तिरूप, 'वर्णचतुष्क' वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्शाख्य "घाइपणयाल" त्ति सर्वघातिन्यो विंशति देशघातिन्य पञ्चविंशति , उभया अपि मिलिता सामान्येन घातिन्य पञ्चचत्वारिंशद् भवन्ति, ताभि सहिता –युक्ता पूर्वोक्ता अप्रथमसस्थानादिका वर्णचतुष्कपर्यवसाना सप्तत्रिंशत्सङ्ख्या द्व्यशीतय पापप्रकृतयो भवन्ति । इतिशब्द परिसमाप्तौ द्व्यशीतय एव पापप्रकृतयो न ऊनाधिका इत्यर्थ ।

ननु द्विचत्वारिंशत्पुण्यप्रकृतयो भवन्ति द्व्यशीतिश्च पापप्रकृतयो मिलिताश्चतुर्विंशत्युत्तर प्रकृतिशत जात, बन्धे तु विंशत्युत्तरमेव शतमधिक्रियते "बधे विसुत्तरसय" (कर्मस्त० भा० गा० १) इति वचनात्, तत् कथ न विरोध ? इत्याह—"दोसु वि वन्नाइगह" त्ति 'द्वयोरपि' पुण्य-पापप्रकृतिराश्यो 'वर्णादिग्रहात्' वर्ण-रस-गन्ध-स्पर्शग्रहणान्न कश्चनापि विरोध । अयमभिप्राय —वर्णादयो हि पुण्यस्वभावा पापस्वभावाश्च वर्तन्ते, तत पुण्यवर्णचतुष्टय पुण्यप्रकृतिषु मध्ये गृह्यते, पापवर्णचतुष्टय पुन पापप्रकृतिषु । तत पुण्य-पापप्रकृतिराश्योर्वर्णादिचतुष्क यत् तदेकमेव सत प्रशस्ता-ऽप्रशस्तभेदेनोभयत्रापि विवक्ष्यत इत्यदोष । तथा एता एव पुण्यप्रकृतय शुभकारणजन्यत्वात् शुभा उच्यन्ते, पापप्रकृतयस्त्वशुभकारणजन्यत्वादशुभा अभिधीयन्त इति ॥ १६–१७ ॥

उक्त पुण्यप्रकृति-पापप्रकृतिद्वारद्वयम् । सम्प्रति परावर्तमाना-ऽपरावर्तमानप्रकृतिद्वारद्वय व्याचिख्यासुर्द्वारगाथाया परावर्तमानप्रकृतीना पूर्वं निर्देशेऽपि इह अल्पसङ्ख्याकत्वेन प्रथममपरावर्तमाना प्रकृतीराह—

नामधुवबंधिनवगं, दंसण पण नाण विग्घ परघायं ।
भय कुच्छ मिच्छ सासं, जिण गुणतीसा अपरियत्ता ॥ १८ ॥

नाम्नो ध्रुवबन्धिनवकं नामध्रुवबन्धिनवक—वर्णचतुष्क-तैजस-कार्मणा ऽगुरुलघु-निर्माण-उपघातलक्षणम्, दर्शनचतुष्क—चक्षु अचक्षु-अवधि केवलदर्शनरूपम्, 'पञ्च ज्ञानानि' मति श्रुताऽवधि-मनःपर्याय-केवलज्ञानाभिधानि, काकाक्षिगोलकन्यायादत्रापि पञ्चशब्दस्य सम्बन्धात् पञ्च 'विग्घा' अन्तरायाणि—दान-लाभ भोग-उपभोग-वीर्यान्तरायाख्यानि पराघात भय 'कुत्सा' जुगुप्सा मिथ्यात्व "सास" त्ति उच्छ्वासं जिननाम इत्येता एकोनत्रिंशत्प्रकृतय 'अपरिवृत्ता' अपरावर्तमाना भवन्ति। अयमत्र भाव —या नामध्रुवबन्धिनवकप्रभृतय एकोनत्रिंशत्प्रकृतयस्ता स्वबन्धोदयोभयकालेषु नान्यस्या प्रकृतेर्बन्धमुदयमुभय वा निरुध्य भवर्तन्तेऽतोऽपरावर्तमाना इति ॥ १८ ॥

उक्ता अपरावर्तमाना प्रकृतय । साम्प्रत परावर्तमानप्रकृतीराह—

तणुअट्ठ वेय दुजुयल, कसाय उज्जोयगोयदुग निद्दा ।
तसवीसाऽऽउ परित्ता, खित्तविवागाणुपुव्वीओ ॥ १९ ॥

तनुशब्देनोपलक्षितमष्टक "तणुवगागिइसंघयणजाइगइखगइपुव्वि" (गा ३) इति गाथावयवेन प्रतिपादित तन्वष्टकम्। तत्र तनवस्तैजस-कार्मणयोरपरावर्तमानासु प्रतिपादितत्वात् शेषा औदारिक-वैक्रिया ऽऽहारकरूपास्तिस्र, उपाङ्गानि त्रीणि, आकृतय षट्, संहननानि षट्, जातय पञ्च, चतस्रो गतय, खगतिद्वयम्, आनुपूर्वीचतुष्कमिति तन्वष्टकशब्देन त्रयस्त्रिंशत्प्रकृतयो गृह्यन्ते। 'वेय' स्त्री-पु-नपुंसकरूपास्त्रय 'द्वियुगल' हास्य-रति अरति शोकरूप, कषाया षोडश, "उज्जोयगोयदुग" त्ति द्विकशब्दस्य प्रत्येक सम्बन्धात् उद्योतद्विकम्—"उज्जोयायव" (गा ३) इति वचनाद् उद्योता ऽऽतपाख्यम्, गोत्रद्विकम्—"गोयवेयणिय" (गा ३) इति वचनाद् गोत्र-वेदनीयस्वरूपम्। तत्र गोत्रम् उच्चैर्गोत्र-नीचैर्गोत्रभेदाद् द्विधा, साता-ऽसातभेदाद् वेदनीयमपि द्विधा इत्येताश्चतस्र प्रकृतयो गोत्रद्विकशब्देन गृह्यन्ते, निद्रापञ्चक त्रसविंशति—त्रसदशक-स्थावरदशकरूपा, आयूंषि चत्वारि इति। एता एकनवतिप्रकृतय "परित्त" त्ति प्राकृतत्वात् 'परिवृत्ता' परावर्तमाना भवन्तीति शेष। तत्र षोडश कषाया निद्रापञ्चक च यद्यप्येता एकविंशतिप्रकृतयो ध्रुवबन्धित्वाद् बन्ध प्रति परोपरोध न कुर्वन्ति तथापि स्वोदये स्वजातीयप्रकृत्युदयनिरोधात् परावर्तमाना भवन्ति। स्थिर शुभा ऽस्थिरा ऽशुभप्रकृतयश्चतस्रश्च यद्यप्युदय प्रति न विरुद्धास्तथापि बन्ध प्रति परावर्तमाना, शेषाश्च गतिचतुष्क-जातिपञ्चक शरीरत्रिक-अङ्गोपाङ्गत्रिक-संस्थानषट्क-संहननषट्का ऽऽनुपूर्वीचतुष्का ऽऽतप-उद्योत विहायोगतिद्विक त्रसादिषोडशक-वेदत्रिक-हास्य-रति अरति शोकयुगलद्वय साता ऽसात-उच्च-नीचा ऽऽयुश्चतुष्टयलक्षणा षट्षष्टि प्रकृतयो बन्धोदयाभ्यामपि परस्परं विरुद्धा अतं परावर्तमाना इति। उक्ता परावर्तमानप्रकृतय, तद्भणनेन च समर्थित परावर्तमाना ऽपरावर्तमानप्रकृतिद्वारद्वयम्। तदेव समर्थित "धुवबंधोदयसंताघाइपुन्नपरियत्ता सेयर" (गा० १) इति मूलद्वारगाथोपन्यस्त द्वारद्वादशकम्। सम्प्रति यदुक्त "चउह विवागा वुच्छं" (गा० १) इति तद् बिभणिषु प्रथम क्षेत्रविपाका प्रकृतीराह—"खित्तविवागाणुपुव्वीओ" त्ति क्षेत्रम्—आकाश तत्रैव विपाक —उदयो यासा ता

१ छा० विना °त -परावर्तमानप्रकृतय, तद्भण° ॥ २ स० १-२ छा० त० म० °संता° ॥

क्षेत्रविपाका, आनुपूर्व्यश्चतस्र नरक-तिर्यग्-नरा ऽमरानुपूर्वीलक्षणा, यतस्तासा चतसृणामपि विग्रहगतावेवोदयो भवतीति । उक्त च बृहत्कर्मविपाके—¹

निरयाउयस्स उदए, नरए वक्केण गच्छमाणस्स ।
निरयाणुपुव्वियाए, तहिँ उदओ अन्नहिं नत्थि ॥
एव तिरिमणुदेवे, तेसु वि वक्केण गच्छमाणस्स ।
तेसिमणुपुव्वियाण, तहिँ उदओ अन्नहिं नत्थि ॥ (गा० १२२-१२३)

ननु विग्रहगत्यभावेऽप्यानुपूर्वीणामुदय सङ्क्रमकरणेन विद्यते, अत कथ क्षेत्रविपाकिन्यस्ता न गतिवद् जीवविपाकिन्य ? इति अत्रोच्यते—विद्यमानेऽपि सङ्क्रमे यथा तासा क्षेत्रप्राधान्येन स्वकीयो विपाकोदयो न तथाऽन्यासामत क्षेत्रविपाकिन्य एवेति ॥ १९ ॥

उक्ता क्षेत्रविपाका प्रकृतय । साम्प्रत जीवविपाका भवविपाकाश्च प्रकृतीराह—

घणघाइ दुगोय जिणा, तसियरतिग सुभगदुभगचउ सासं ।
जाइतिग जियविवागा, आऊ चउरो भवविवागा ॥ २० ॥

घनघातिन्य प्रकृतय सप्तचत्वारिंशत्, तद्यथा—ज्ञानावरण पञ्चधा, दर्शनावरण नवधा, मोहनीयमष्टाविंशतिधा, अन्तराय पञ्चधेति । "दुगोय" त्ति "गोयवेयणिय" (गा० ३) इति वचनाद् 'गोत्रद्विक' गोत्र-वेदनीयरूपम् । तत्र गोत्रम् उच्चैर्गोत्र-नीचैर्गोत्रभेदाद् द्वेधा, वेदनीय साता-ऽसातभेदेन द्विभेदमिति दुगोयशब्देन प्रकृतिचतुष्टय गृह्यते । जिननाम, "तसियरतिग" त्ति त्रिकशब्दस्य प्रत्येक सम्बन्धात् त्रसत्रिक—त्रस-बादर-पर्याप्तकरूपम्, इतरत्रिक—स्थावरत्रिक स्थावर-सूक्ष्मा-ऽपर्याप्तकलक्षणम् । "सुभगदुभगचउ" त्ति चतु शब्दस्य प्रत्येक सम्बन्धात् सुभग-चतुष्क—सुभग-सुस्वरा-ऽऽदेय-यश कीर्तिरूपम्, दुर्भगचतुष्क—दुर्भग-दु स्वरा-ऽनादेया-ऽयश — कीर्तिलक्षणम् । "सास" ति उच्छ्वास "जाइतिग" त्ति जातिशब्देनोपलक्षित त्रिक "जाइगइखगइ" (गा० ३) इति गाथावयवोक्त जातित्रिकम् । तत्र जातय —एकेन्द्रिय-द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रिय पञ्चेन्द्रियाख्या पञ्च, गतय —सुर-नर-तिर्यग्-नरकरूपाश्चतस्र, खगति —प्रशस्ता-ऽप्रशस्तविहायोगतिभेदेन द्विधा, इत्येव जातित्रिकशब्देन एकादश प्रकृतयो गृह्यन्त इति । एता अष्टासप्ततिप्रकृतयो जीव एव विपाक —स्वशक्तिदर्शनलक्षणो विद्यते यासा ता जीवविपाका ज्ञातव्या । तथाहि—पञ्चविधज्ञानावरणोदयाद् जीव एवाऽज्ञानी स्याद् न पुन शरीर-पुद्गलादिषु तत्कृत कश्चिदुपघातोऽनुग्रहो वाऽस्तीति, एव नवविधदर्शनावरणोदयाद् जीव एव अदर्शनी भवति, साता-ऽसातोदयाद् जीव एव सुखी दु खी वा सम्पद्यते, अष्टाविंशतिविधमोहनीयोदयाद् जीव एव अदर्शनी अचारित्री वा जायते, पञ्चविधान्तरायोदयाद् जीव एव न दानादि कर्तुं पारयति, उच्चैर्गोत्र-नीचैर्गोत्र-गतिचतुष्क-जातिपञ्चक विहायोगतिद्विक-जिन-त्रस-बादर-पर्याप्तक-स्थावर-सूक्ष्मा-ऽपर्याप्तक-सुभगचतुष्क-दुर्भगचतुष्क-उच्छ्वासनामोदयाद् जीव एव त त

---

१ निरयायुष उदये नरके वक्रेण गच्छत । निरयानुपूर्व्यास्तत्रोदयोऽन्यत्र नास्ति ॥ एव तिर्यङ् मनुज देवेषु तेष्वपि वक्रेण गच्छत । तासामानुपूर्वीणा तत्रोदयोऽन्यत्र नास्ति ॥

भावमनुभवति न शरीरपुद्गला इति। एता सर्वा अपि जीवविपाकिन्य इति। या अपि क्षेत्रविपाका उक्ता, याश्च भवविपाका पुद्गलविपाकाश्च वक्ष्यन्ते, ता अपि परमार्थतो जीवविपाका एव, यतो जीवस्यैव पारम्पर्येणानुग्रहमुपघातं च कुर्वन्ति, केवलं मुख्यतया क्षेत्र भव-पुद्गलेषु तत्तद्विपाकस्य विवक्षितत्वात् तत्तद्विपाका उच्यन्त इति। 'आयूंषि चत्वारि' नारकायुष्कादीनि, पुंस्त्वं च प्राकृतवशात्, प्राकृते हि लिङ्गमतन्त्रमेव, यदवादि प्रवादिसर्पदर्पसौपर्णेयैः श्रीहेमचन्द्रसूरिपादैः स्वप्राकृतलक्षणे—"लिङ्गमतन्त्रम्" (सिद्ध० ८–४–४४५) इति। भवन्ति कर्मवशवर्तिनः प्राणिनोऽस्मिन्निति भवः—नारकादिपर्यायः, स च पूर्वायुर्विच्छेदे विग्रहगतेरप्यारभ्य वेदितव्यः, यदाह भगवान् श्रीसुधर्मस्वामी भगवत्याम्—

"नेरइए नेरइएसु उववज्जइ"[1] (शत० ४ उद्दे० ९) इति।

तस्मिन् भवे—नारकतिर्यग्नरामररूप एव विपाकः—उदयो विद्यते येषां तानि भवविपाकीनि। तथाहि—यथासम्भवं पूर्वभवे बद्धानि आगामिनि भवे विपच्यन्त इति भावः। ननु यथाऽऽयुषो देवादिभवेऽस्य विपाको भवति एवं गतीनामपि, अतस्ता अपि भवविपाकिन्यः प्राप्नुवन्ति, अत्रोच्यते—आयुर्यद् यस्य भवस्य योग्यं निबद्धं तत् तस्मिन्नेव भवे वेद्यत इत्यायुषो भवविपाकत्वानाद् भवविपाकित्वम्, गतयस्तु विभिन्नभवयोग्या निबद्धा अप्येकस्मिन्नपि भवे सर्वाः सङ्क्रमेण संवेद्यन्ते। तथाहि—मोक्षगामिनोऽशेषा गतयो मनुष्यभवे क्षयं यान्ति, अतो भवं प्रति गतीनां नैयत्याभावान्न भवविपाकिन्यः, किन्तु जीवविपाकिन्य एवेति ॥ २० ॥

उक्ता जीवविपाका भवविपाकाश्च प्रकृतयः। इदानीं पुद्गलविपाकिनीः प्रकृतीः प्रचिकटयिषुराह—

नामधुवोदय चउतणुवघायसाहारणियर जोयतिगं।
पुग्गलविवागि बंधो, पयइठिइरसपएस त्ति ॥ २१ ॥

नाम्नः—नामकर्मणो ध्रुवोदयाः—नित्योदया नामध्रुवोदया द्वादश प्रकृतयः, तद्यथा—निर्माण-स्थिरा ऽस्थिरा-ऽगुरुलघु शुभा ऽशुभ-तैजस कार्मण-वर्णचतुष्कमिति। "चउतणु" त्ति तनुशब्देनोपलक्षितं चतुष्कं "तणुवगागिइसंघयण" (गा० ३) इति गाथावयवेन प्रतिपादितं तनुचतुष्कम्। तत्र तैजस-कार्मणयोर्ध्रुवोदयमध्ये पठितत्वादिह तनवः—औदारिक-वैक्रिया-ऽऽहारकलक्षणास्तिस्रः परिगृह्यन्ते, उपाङ्गानि त्रीणि, आकृतयः—संस्थानानि षट्, संहननानि षट्, तदेवं तनुचतुष्कशब्देन एता अष्टादश प्रकृतयो गृह्यन्ते। उपघातं साधारणम् 'इतरच्च' तत्प्रतिपक्षभूतं प्रत्येकं "जोयतिग" ति "उज्जोयायवपरघा" (गा० ३) इति वचनाद् उद्योता ऽऽतप पराघातलक्षणमिति। एताः षट्त्रिंशत् प्रकृतयः "पुग्गलविवागि" त्ति पुद्गलेषु—शरीरतया परिणतेषु परमाणुषु विपाकः—उदयो यासां ताः पुद्गलविपाकिन्यः, शरीरपुद्गलेष्वेवात्मीयां शक्तिं दर्शयन्तीत्यर्थः। तथाहि—निर्माण-स्थिराद्युदयात् शरीरतया परिणतानां पुद्गलानामङ्गप्रत्यङ्गादिनियमनं दन्तास्थ्यादीनां स्थिरत्वं जिह्वादीनामस्थिरत्वं शिरःप्रभृतीनां शुभत्वं पादादीनामशुभत्वमित्यादि, तनूदयात् शरीरतया पुद्गला एव परिणमन्ति, अङ्गोपाङ्गोदयाच्च तेषां शिरः—ग्रीवाद्यवयवविभागो जायते, आकृतिनामोदयात् तेष्वेवाऽऽकारविशेषः सम्पनीपद्यते, संहननोदयात् तेष्वेव वज्रऋषभनारा-

---

[1] नैरयिको नैरयिकेषु उत्पद्यते ॥

चादितया विशिष्टा परिणतिर्भवति, उपघात-साधारण-प्रत्येक-उद्योता-ऽऽतपादीनामपि सर्वेषां शरीरपुद्गलेष्वेव सविपाकस्य दर्शनात् सुप्रतीतमेवासां पुद्गलविपाकित्वमिति ।

उक्ताश्चतुर्विधविपाका प्रकृतय । सम्प्रति यदुक्तम् "वुच्छं बंधविहं सामी य" (गा० १) इति तन्निर्वाहणार्थं बन्धविधा व्याचिख्यासुराह—"बंधो पयइठिइरसपएस" त्ति, बन्धशब्दस्य प्रत्येकमभिसम्बन्धात् प्रकृतिबन्ध स्थितिबन्ध रसबन्ध प्रदेशबन्ध, 'इति' अमुना प्रकारेण बन्धश्चतुर्धा भवति । तत्र स्थिति-अनुभाग-प्रदेशबन्धानां य समुदाय स प्रकृतिबन्ध । अध्यवसायविशेषगृहीतस्य कर्मदलिकस्य यत् स्थितिकालनियमन स स्थितिबन्ध । कर्मपुद्गलानामेव शुभोऽशुभो वा घात्यघाती वा यो रस सोऽनुभागबन्धो रसबन्ध इत्यर्थ । कर्मपुद्गलानामेव यद् ग्रहण स्थितिरसनिरपेक्ष दलिकसङ्ख्याप्राधान्येनैव करोति स प्रदेशबन्ध । उक्तं च—

ठिईबंधु दलस्स ठिई, पएसबंधो पएसगहणं जं ।
ताण रसो अणुभागो, तस्समुदाओ पगइबंधो ॥ (पञ्चसं० गा० ४३२)

अन्यत्राप्युक्तम्—

प्रकृति समुदाय स्यात्, स्थिति कालावधारणम् ।
अनुभागो रस प्रोक्त, प्रदेशो दलसञ्चय ॥ ( ) इति ॥ २१ ॥

उक्ता सामान्यतो बन्धभेदा । अथ मूलप्रकृतिबन्धस्थानानि तेषु च भूयस्कारा-ऽल्पतरा-ऽवस्थिता-ऽवक्तव्यलक्षणान् बन्धभेदविशेषान् निरूपयन्नाह—

मूलपयडीण अडसत्तछेगबंधेसु तिन्नि भूगारा ।
अप्पतरा तिय चउरो, अवट्ठिया न हु अवत्तव्वो ॥ २२ ॥

'मूलप्रकृतीनां' ज्ञानावरण-दर्शनावरण-वेदनीय-मोहनीया-ऽऽयु-नाम-गोत्रा-ऽन्तरायलक्षणानाम् अष्ट-सप्त-षड्-एकबन्धेषु त्रयो भूयस्कारा त्रयोऽल्पतरा चत्वारोऽवस्थितबन्धा भवन्ति, 'न हु' नैव 'अवक्तव्य' अवक्तव्यबन्धो भवतीत्यक्षरार्थ । भावार्थस्त्वयम्—इह मूलप्रकृतीनां चत्वारि बन्धस्थानानि भवन्ति । तद्यथा—अष्टविधबन्ध, सप्तविधबन्ध षड्विधबन्ध एकविधबन्धश्च । सर्वप्रकृतिसमुदायबन्धोऽष्टविधबन्ध । आयुर्वर्जसप्तप्रकृतिबन्ध सप्तविधबन्ध । आयुर्मोहनीयवर्जषट्प्रकृतिबन्ध षड्विधबन्ध । एकस्या सातवेदनीयलक्षणाया प्रकृतेर्बन्ध एकविधबन्ध । ततश्चाऽष्टविध-सप्तविध-षड्विध-एकविधबन्धेषु त्रयो भूयस्कारबन्धा त्रयोऽल्पतरबन्धा चत्वारोऽवस्थितबन्धा, अवक्तव्यबन्धो नास्ति ।

तत्र भूयस्कारादीनां स्वरूपमिदम्—तत्रैकविधाद्यल्पतरबन्धको भूत्वा यत्र पुनरपि षड्विधादिबहुबन्धको भवति स प्रथमसमये भूयस्कारबन्ध १ । यत्र त्वष्टविधादिबहुबन्धको भूत्वा पुनरपि सप्तविधाद्यल्पतरबन्धको भवति स प्रथमसमय एवाल्पतरबन्ध २ । यत्र तु प्रथमसमये एकविधादिबन्धको भूत्वा द्वितीयसमयादिष्वपि तावन्मात्रमेव बध्नाति सोऽवस्थितबन्ध ३ । यत्र तु सर्वथाऽबन्धको भूत्वा पुन प्रतिपत्य बन्धको भवति स आद्यसमयेऽ-

१ स्थितिबन्धो दलस्य स्थिति प्रदेशबन्ध प्रदेशग्रहणं यत् । तेषां रसोऽनुभाग तत्समुदाय प्रकृतिबन्ध ॥

वक्तव्यबन्ध, अयं पुनरुत्तरप्रकृतीनामेव भवति न मूलप्रकृतीनाम्, तासां सर्वथाऽबन्धकस्यायोगिकेवलिनः सिद्धस्य वा प्रतिपाताभावेन पुनर्बन्धाभावात् ।

अथ कथं त्रयो भूयस्कारबन्धा त्रयोऽल्पतरबन्धा चत्वारोऽवस्थितबन्धा भवन्ति ? इति चेद् उच्यते—इहैकविधं बद्ध्वा उपशान्तमोहावस्थातः प्रतिपत्य सूक्ष्मसम्पराये पुनः षड्विधं बध्नत आद्यसमये प्रथमो भूयस्कारबन्धः १ द्वितीयादिसमयेषु त्ववस्थितबन्धः, ततोऽप्यधस्तात् प्रतिपत्य सप्तविधं बध्नत आद्यसमये द्वितीयो भूयस्कारबन्धः २ द्वितीयादिसमयेषु त्ववस्थितबन्धः, आयुर्बन्धकाले त्वष्टविधबन्धं गतस्य प्रथमसमय एव तृतीयो भूयस्कारबन्धः ३ द्वितीयादिसमयेषु त्ववस्थितबन्धः इति त्रयो भूयस्काराः । तथाऽऽयुर्बन्धकालेऽष्टविधं बद्ध्वा पुनरप्यायुर्बन्धोपरमे सप्तविधं बध्नत आद्यसमये प्रथमोऽल्पतरबन्धः १ द्वितीयादिसमयेषु त्ववस्थितबन्धः, सप्तविधादपि सूक्ष्मसम्परायावस्थायां षड्विधबन्धं गतस्य प्रथमसमये द्वितीयोऽल्पतरबन्धः २ द्वितीयादिसमयेषु त्ववस्थितबन्धः, षड्विधबन्धादप्युपशान्तमोहावस्थायामेकविधबन्धं गतस्याद्यसमये तृतीयोऽल्पतरबन्धः ३ द्वितीयादिसमयेषु त्ववस्थितबन्धः इति त्रयोऽल्पतरबन्धाः । तथा मूलप्रकृतिविषयाण्येकविधबन्धादीनि चत्वारि बन्धस्थानानि, तेषु चतुर्ष्वपि बन्धस्थानेष्ववस्थितबन्धोऽस्त्येवेति चत्वारोऽवस्थितबन्धाः । अवक्तव्यबन्धस्तु मूलप्रकृतिषु न सम्भवतीत्युक्तमेवेति ॥ २२ ॥

अथैतदेव भूयस्कारादिस्वरूपं व्याचिख्यासुराह—

एगादहिगे भूओ, एगाईऊणगम्मि अप्पतरो ।
तम्मत्तोऽवट्ठियओ, पढमे समए अवत्तव्वो ॥ २३ ॥

एकादिभिः—एकद्वित्र्यादिभिः प्रकृतिभिरधिके बन्धे "भूय" त्ति भूयस्कारनाम बन्धो भवति । यथा—एकां बद्ध्वा षड् बध्नाति, षड् बद्ध्वा सप्त बध्नाति, सप्त वा बद्ध्वाऽष्टौ बध्नातीति । तथा एकादिभिः—एक द्वि त्र्यादिभिः प्रकृतिभिरूने—हीने बन्धे 'अल्पतर' अल्पतरनाम बन्धो भवति । यथा—अष्टौ बद्ध्वा सप्त बध्नाति, सप्त वा बद्ध्वा षड् बध्नाति, षड् वा बद्ध्वा एकां बध्नाति । तथा ॥ एव भूयस्कारोऽल्पतरो वा द्वितीयादिसमयेषु 'तन्मात्र' तावन्मात्रतया प्रवर्तमानोऽवस्थितबन्धो भवति । एते त्रयोऽपि प्रकारा मूलप्रकृतीनां सम्भवन्ति । तथा यः सर्वथाऽबन्धको भूत्वा भूयोऽपि बन्धकः सञ्जायते तदा तस्य प्रथमसमयेऽवक्तव्यः सम्भवतीति । एतदेवाह—"पढमे समए अवत्तव्वो" इति स्पष्टम् । न चायं मूलप्रकृतिषु सम्भवति, न हि मूलप्रकृतीनां सर्वासां बन्धव्यवच्छेदे सति अयोगिकेवलिनः सिद्धस्य वा भूयोऽपि बन्धः सम्भवतीति एषोऽवक्तव्यबन्ध उत्तरप्रकृतिष्वेव भवति, ॥ चोत्तरप्रकृतिषु यथास्थानं दर्शयिष्याम ॥ २३ ॥

उक्ता मूलप्रकृतीरधिकृत्य भूयस्कारादिबन्धाः । अधुनोत्तरप्रकृतीः प्रतीत्य तान् प्रचिकटयिषुराह—

नव छ चउ दंसे दु दु, ति दु मोहे दु इगवीस सत्तरस ।
तेरस नव पण चउ ति दु, इक्को नव अट्ठ दस दुन्नि ॥ २४ ॥

"दंसि" त्ति भामा सत्यभामेति न्यायात् पदैकदेशेऽपि पदसमुदायोपचार इति दर्शनावरणो-

वरप्रकृतीना त्रीणि बन्धस्थानानि । कथम् ? इत्याह—"नव छ च्चउ" त्ति नवविध बन्धस्थान षड्विध बन्धस्थान चतुर्विध बन्धस्थान चेति । तत्र निद्रा-निद्रानिद्रा प्रचला-प्रचलाप्रचला-स्त्यानर्द्धि-लक्षण निद्रापञ्चकम्, चक्षुर्दर्शनावरणा-ऽचक्षुर्दर्शनावरणा-ऽवधिदर्शनावरण-केवलदर्शनावरण-चतुष्टय चेत्येतन्नवविधम्, एतच्च मिथ्यादृष्टि-सास्वादनगुणस्थानक यावद् बध्यते । तत पर स्त्यानर्द्धित्रिक निद्रानिद्रा प्रचलाप्रचला-स्त्यानर्द्धिरूप व्यवच्छिद्यते, अत सम्यग्मिथ्यादृष्टिगुण-स्थानकादिषु षड्विध बध्नत प्रथमसमये प्रथमोऽल्पतरबन्ध, एतच्च षड्विधमपूर्वकरणप्रथम-सप्तमाग यावद् बध्नाति । तत पर निद्रा-प्रचलाबन्धव्यवच्छेदे सति शेष चतुर्विध बध्नत आद्यसमये द्वितीयोऽल्पतरबन्ध, एतच्चतुर्विध सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानक यावद् बध्यते । तत कस्यचित् पुनरपि प्रतिपत्य षड्विध बध्नत प्रथमसमये प्रथमो भूयस्कारबन्ध । ततोऽपि प्रतिपत्य नवविध बध्नत आद्यसमये द्वितीयो भूयस्कारबन्ध । अत्र च नवविधादिषु त्रिष्वपि बन्धस्था-नेषु द्वितीयादिषु समयेषु तदेव बध्नतोऽवस्थितबन्ध इति त्रयोऽवस्थितबन्धा । यदा तूपशान्त-मोहावस्थाया दर्शनावरणप्रकृतीना सर्वथाऽबन्धको भूत्वा पुनरद्धाक्षयेणैव प्रतिपत्य चतुर्विध बध्नाति तदा प्रथमसमयेऽवक्तव्यबन्धो भूयस्काराद्युचितलक्षणायोगाद् भूयस्कारादिभिर्विकल्पै-र्वक्तु न शक्यत इत्यवक्तव्य, द्वितीयादिसमयेषु त्वत्राप्यवस्थितबन्ध । यदा पुनरुपशान्तमो-हावस्थायामेवायु क्षयेणानुत्तरसुरेषूत्पद्यते तदा तत्र प्रथमसमय एव षड्विध बध्नतो द्वितीयो-ऽवक्तव्यबन्ध, द्वितीयादिसमयेषु त्ववस्थितबन्ध । तदेवमत्र द्वौ भूयस्कारबन्धौ द्वावल्पतरबन्धौ । अवस्थितबन्धास्तु गणनया षड् भवन्तोऽपि बन्धस्थानानि त्रीण्येवेति तद्भेदात्त्रय एव भवन्ति । अवक्तव्यबन्धौ द्वौ इति । एतदेवाह—"दु दु ति दु" त्ति द्वौ भूयस्कारबन्धौ द्वावल्पतरबन्धौ त्रयोऽवस्थितबन्धा द्वावक्तव्यबन्धाविति । भावार्थ पूर्वोक्त एवेति ।

उक्ता दर्शनावरणोत्तरप्रकृतिषु भूयस्कारादिबन्धा । इदानीमेतानेव मोहनीयोत्तरप्रकृतिषु निचिन्तयन्नाह—"मोहे दुइगवीस सत्तरस" इत्यादि । 'मोहे' मोहनीयकर्मणि दश बन्धस्था-नानि भवन्ति । तद्यथा—"दुइगवीस" त्ति विंशतिशब्दस्य प्रत्येक सम्बन्धाद् द्वाविंशति एक-विंशति सप्तदश त्रयोदश नव पञ्च चतस्र तिस्रो द्वे एका च । उक्त च सप्ततिकायाम्—

बावीस इक्कवीसा, सत्तरसा तेरसेव नव पच ।
चउ तिग दुग च एग, बधट्ठाणाणि मोहस्स ॥ (गा० ११)

तत्र सम्यक्त्व-सम्यग्मिथ्यात्वे बन्धे न भवत, "नै य बधे सम्ममीसाइ" (पञ्चसं० गा० १२८) इति वचनात् । न च त्रयाणा वेदाना युगपद् बन्ध किन्त्वेककालमेकस्यैव । हास्य-रतियुगला-ऽरति शोकयुगले अपि न युगपद् बन्धमायात किन्त्वेकतरमेव युगलम् । ततो मोह-नीयस्योत्कर्षत प्रभूतप्रकृतिबन्धो द्वाविंशति —मिथ्यात्व १ षोडश कषाया १६ एको वेद १ अन्यतरयुगल २ भय १ जुगुप्सा १ इति । सा च मिथ्यादृष्टिगुणस्थानके प्राप्यते । तत सास्वादनसम्यग्दृष्टिगुणस्थानके मिथ्यात्वबन्धाभावादेकविंशति । यद्यप्यत्र नपुसकवेदस्यापि

१ द्वाविंशति एकविंशति सप्तदश त्रयोदशैव नव पञ्च । चत्वारि त्रीणि द्वे चैक बन्धस्थानानि मोहस्य ॥
२ न च बन्धे सम्यक्त्व-मिश्रे ॥ ३ पञ्चसग्रहे तु—"बधे नो सम्ममीसाइ" इति पाठ ॥

बन्धो न भवति तथापि तत्स्थाने स्त्रीवेदः पुरुषवेदो वा प्रक्षिप्यत इत्येकविंशतेरेव बन्धः। ततो मिश्रा-ऽविरतसम्यग्दृष्टिगुणस्थानकयोरनन्तानुबन्धिनामपि बन्धाभावात् सप्तदश। ततोऽपि देशविरतिगुणस्थानकेऽप्रत्याख्यानावरणकषायाणां बन्धाभावात् त्रयोदश। ततोऽपि प्रमत्ता-ऽप्रमत्ता-ऽपूर्वकरणगुणस्थानकेषु प्रत्याख्यानावरणकषायाणां बन्धाभावाद् नव। यद्यप्यरति शोक-रूपं युगलं प्रमत्तगुणस्थानक एव व्यवच्छिन्नं तथापि तत्स्थाने हास्य-रतियुगलं प्रक्षिप्यत इत्य प्रमत्ता-ऽपूर्वकरणयोर्नवकबन्धो न विरुध्यते। ततो हास्य-रति भय-जुगुप्सा अपूर्वकरणचरमसमये न बन्धमाश्रित्य व्यवच्छिद्यन्त इत्यनिवृत्तिबादरसम्परायगुणस्थानके प्रथमभागे पञ्चानां बन्धः। द्वितीयभागे पुरुषवेदस्याऽभावात् चतसृणां बन्धः। तृतीयभागे सञ्ज्वलनक्रोधस्य बन्धाभावात् तिसृणां बन्धः। चतुर्थभागे सञ्ज्वलनमानस्य बन्धाभावाद् द्वयोर्बन्धः। पञ्चमभागे सञ्ज्वलन मायाया अपि बन्धाभावादेकस्याः संज्वलनलोभप्रकृतेर्बन्धः। ततः परं बादरसम्परायाभावात् तस्या अपि न बन्धः।

उक्तानि मोहनीयस्य दश बन्धस्थानानि। अथैतेषु दशसु बन्धस्थानेषु भूयस्कारादीनाह—"नव अट्ठ दस दुन्नि" त्ति नव भूयस्कारबन्धाः, अष्टावल्पतरबन्धाः, दशावस्थितबन्धाः, द्वाववक्तव्यबन्धौ। इयमत्र भावना—एकविधबन्धात् प्रतिपत्य उक्तस्वरूपं द्विविधं बध्नत आद्यसमये प्रथमो भूयस्कारबन्धः। द्विविधात् त्रिविधबन्धं गतस्य द्वितीयो भूयस्कारबन्धः। त्रिविधात् चतुर्विधबन्धं गतस्य तृतीयो भूयस्कारबन्धः। चतुर्विधात् पञ्चविधबन्धं गतस्य चतुर्थो भूयस्कारबन्धः। पञ्चविधाद् नवविधबन्धं गतस्य पञ्चमो भूयस्कारबन्धः। नवविधात् त्रयोदशविधबन्धं गतस्य षष्ठो भूयस्कारबन्धः। त्रयोदशविधात् सप्तदशविधबन्धं गतस्य सप्तमो भूयस्कारबन्धः। सप्तदशविधाद् एकविंशतिविधबन्धं गतस्याष्टमो भूयस्कारबन्धः। एकविंशतिविधाद् द्वाविंशतिविधबन्धं गतस्य नवमो भूयस्कारबन्धः। अल्पतराः पुनरेवमष्टौ भवन्ति। तथाहि—द्वाविंशतिविधबन्धात् सप्तदशविधबन्धं गतस्य प्रथमोऽल्पतरबन्धः। सप्तदशविधात् त्रयोदशविधबन्धं गतस्य द्वितीयोऽल्पतरबन्धः। त्रयोदशविधबन्धाद् नवविधबन्धं गतस्य तृतीयोऽल्पतरबन्धः। नवविधबन्धात् पञ्चविधबन्धं गतस्य चतुर्थोऽल्पतरबन्धः। पञ्चविध-बन्धाद् चतुर्विधबन्धं गतस्य पञ्चमोऽल्पतरबन्धः। चतुर्विधबन्धात् त्रिविधबन्धं गतस्य षष्ठोऽल्पतरबन्धः। त्रिविधबन्धाद् द्विविधबन्धं गतस्य सप्तमोऽल्पतरबन्धः। द्विविधबन्धाद् एकविधबन्धं गतस्याष्टमोऽल्पतरबन्धः। ननु द्वाविंशतिबन्धादेकविंशतिगमने नवमोऽल्पतरबन्धः कस्माद् नोक्तः? इति चेत् नैतम्, असम्भवादेव, तथाहि—द्वाविंशतिं मिथ्यादृष्टिरेव बध्नाति, एकविंशतिं तु सास्वादनसम्यग्दृष्टिरेवेत्युक्तम्, न च मिथ्यादृष्टिरनन्तरभावेन सास्वा-दनत्वं व्रजति येन द्वाविंशतेरेकविंशतिगमनं स्यात्, किन्तु उपशमसम्यग्दृष्टिरेव सास्वादनभावं प्रतिपद्यते, तस्माद् द्वाविंशतेः सप्तदशबन्धगमनमेव भवतीत्यष्टावेवाल्पतरबन्धाः। तथा दशस्वपि मोहनीयबन्धस्थानेषु द्वितीयादिसमयेष्ववस्थितबन्धो लभ्यत इति अवस्थितबन्धा दश। अव क्तव्यबन्धौ द्वौ पुनरेवम्—यदा हि उपशान्ते मोहनीयस्याऽबन्धको भूत्वा उपशान्ताद्धाक्षयेण प्रतिपत्य पुनरेकं सञ्ज्वलनलोभं बध्नाति तदाऽऽद्यसमये प्रथमोऽवक्तव्यबन्धः। यदि चोपशान्त-

मोहावस्थायामेवायु क्षयेण मृत्वाऽनुत्तरसुरेषु समुत्पद्यते तदा प्रथमसमय एव सप्तदशविधबन्ध बध्नतो द्वितीयोऽवक्तव्यबन्ध । तदेव मोहनीये नव भूयस्कारबन्धा अष्टावल्पतरबन्धा दशावस्थितबन्धा द्वाववक्तव्यबन्धाविति भावितम् । उक्त च—

नेव भूअगारबन्धा, अट्ठेव हवति अप्पतरबधा ।
दो अवत्तगबन्धा, अवट्ठिया दस उ मोहम्मि ॥
(बृहच्छतकबृहद्भाष्यगाथा २६१) इति ॥ २४ ॥

सम्प्रति नामकर्मप्रकृतिषु भूयस्कारादिबन्धान् प्रतिपिपादयिषुराह—

तिपणछअट्ठनवहिया, वीसा तीसेगतीस इग नामे ।
छस्सगअट्ठतिबंधा, सेसेसु य ठाणमिक्किक्कं ॥ २५ ॥

"नामे" त्ति नामकर्मणि बन्धस्थानान्यष्टौ भवन्ति । तद्यथा—विंशतिशब्दस्य प्रत्येक सम्बन्धात् त्रयोविंशति पञ्चविंशति षड्विंशति अष्टाविंशति एकोनत्रिंशत् त्रिंशद् एकत्रिंशद् एका चेति । उक्त च सप्ततिकायाम्—

तेवीसं पन्नवीसा, छव्वीसा अट्ठवीस गुणतीसा ।
तीसेगतीसमेग, बधट्ठाणाणि नामस्स ॥ (गा० २५)

तत्र वर्णचतुष्क-तैजस-कार्मणा-ऽगुरुलघु-निर्माण-उपघातम् इत्येता नव प्रकृतयो ध्रुवबन्धिन्य, सर्वैरपि चतुर्गतिकजीवैरप्राप्तविशिष्टगुणै प्रतिसमयमवश्य बध्यमानत्वात्, तथा तिर्यग्गति तिर्यगानुपूर्वी एकेन्द्रियजाति औदारिकशरीर हुण्डसस्थान स्थावर बादर-सूक्ष्मयोरन्यतरद् अपर्याप्तक प्रत्येक-साधारणयोरन्यतरद् अस्थिरनाम अशुभनाम दुर्भगनाम अनादेयनाम अयश कीर्तिनाम इत्येताश्चतुर्दश प्रकृतयो ध्रुवबन्धिनीभिर्नवभि सह त्रयोविंशतिरिति, एतासा त्रयोविंशतिप्रकृतीना समुदाय एकबन्धस्थानम्, एवमुत्तरत्रापि भावनीयम् । एता च त्रयोविंशतिमेकेन्द्रिय-द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रिय-पञ्चेन्द्रियाणामन्यतरो मिथ्यादृष्टिरेवापर्याप्तैकेन्द्रियप्रायोग्या बध्नाति । पञ्चविंशति पुन पर्याप्तैकेन्द्रियप्रायोग्या तत्रोत्पादयोग्या नानाजीवा बध्नन्ति । तत्र च त्रयोविंशति पूर्वोक्तैव पराघात-उच्छ्वासाभ्या सह पञ्चविंशतिर्भवति, नवरमपर्याप्तकस्थाने पर्याप्तक, स्थिरा-ऽस्थिर-शुभा-ऽशुभ-यश कीर्ति-अयश कीर्तीना परावृत्तिर्वाच्या, एवमेषा पञ्चविंशतिरन्येषामपि विकलेन्द्रियादिजीवाना प्रायोग्या नानाभङ्गै सम्भवति, केवल ग्रन्थविस्तरभयाद् नेहोच्यते, सप्ततिकाटीकाया तद्विस्तरोऽन्वेषणीय । एवमुत्तरेष्वपि बन्धस्थानेषु गमनिकामात्रमेवाभिधास्यत इति । एषैव पञ्चविंशतिरातप-उद्योतयोरेकतरप्रक्षेपे षड्विंशतिर्भवति, सा च पर्याप्तैकेन्द्रियप्रायोग्यैव बध्यते नान्यप्रायोग्या, बन्धकाश्च तत्रोत्पादयोग्या जीवा द्रष्टव्या । अष्टाविंशति तु देवगतिप्रायोग्या तिर्यङ्-मनुष्यास्तत्प्रायोग्यविशुद्धा बध्नन्ति । तद्यथा—देवगति देवानुपूर्वी पञ्चेन्द्रियजाति वैक्रियशरीर वैक्रियाङ्गोपाङ्ग समचतुरस्रसस्थानम् उच्छ्वासनाम पराघातनाम प्रशस्तविहायोगतिनाम त्रसनाम बादरनाम पर्याप्तकनाम प्रत्येकनाम स्थिरा-ऽस्थिरयो

१ नव भूयस्कारबन्धा अष्टव भवन्त्यल्पतरबन्धा । द्वावबक्तव्यबन्धौ अवस्थिता दश तु मोहे ॥
२ त्रयोविंशति पञ्चविंशति षड्विंशति अष्टाविंशति एकोनत्रिंशत् । त्रिंशदेकत्रिंशदेक बन्धस्थानानि नाम्न ॥

शुभा-ऽशुभयोर्यश कीर्ति अयश कीर्त्यो पृथगेकैकमन्यतरद्ग्राह्य सुभगनाम सुस्वरनाम आदेय नाम वर्णचतुष्क-तैजस-कार्मणा-ऽगुरुलघु-निर्माण-उपघातमित्यष्टाविंशतिर्भवति। एषा च मिथ्यादृष्टि-सास्वादन मिश्रा-ऽविरताना देवगतिप्रायोग्य बध्नतामवसेया। एषैवाष्टाविंशतिस्तीर्थकरनामकर्मणो बन्धे प्रक्षिप्ते एकोनत्रिंशद् भवति, ता च सम्यग्दर्शनिनो मनुष्या एव बद्धतीर्थकरनामानो देवगतिप्रायोग्या बध्नन्ति। यदि वा पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यक्प्रायोग्याऽपीयमेकोनत्रिंशद् बध्यते। तद्यथा—तिर्यग्गति तिर्यगानुपूर्वी पञ्चेन्द्रियजाति औदारिकशरीरम् औदारिकाङ्गोपाङ्ग तैजस कार्मणे षण्णा सस्थानानामेकतमत् सस्थान षण्णा सहननानामेकतमत् सहनन वर्णचतुष्टयम् अगुरुलघु उपघातम् पराघातम् उच्छ्वासनाम प्रशस्ता-ऽप्रशस्तविहायोगत्योरेकतरा त्रसनाम बादरनाम पर्याप्तकनाम प्रत्येकनाम स्थिरा-ऽस्थिरयोरेकतर शुभा-ऽशुभयोरेकतर सुभग दुर्भगयोरेकतर सुस्वर-दु स्वरयोरेकतरम् आदेया ऽनादेययोरेकतर यश कीर्ति-अयश कीर्त्योरेकतर निर्माणमिति। त्रिंशत् पुनरियम्—देवगति देवानुपूर्वी पञ्चेन्द्रियजाति वैक्रियशरीर वैक्रियाङ्गोपाङ्गम् आहारकशरीरम् आहारकाङ्गोपाङ्ग तैजस-कार्मणे समचतुरस्रसस्थान वर्णचतुष्कम् अगुरुलघु उपघात पराघातम् उच्छ्वास प्रशस्तविहायोगति त्रस बादर पर्याप्तक प्रत्येक स्थिर शुभ सुभग सुस्वरम् आदेय यश कीर्तिनाम निर्माणनामेति। इह च देवगतिप्रायोग्य बध्नतोऽप्रमत्तसयतस्यापूर्वकरणस्य वा वेदितव्यम्। अथवा कश्चिद् बद्धतीर्थकरनामकर्मा दिविसमुत्पन्न पुनरपि मनुष्येषु समुत्पत्स्यत इति मनुष्यगतिप्रायोग्या तीर्थकरनामसहिता त्रिंशत देवो बध्नाति। तद्यथा—मनुष्यगति मनुष्यानुपूर्वी पञ्चेन्द्रियजाति औदारिकशरीरम् औदारिकाङ्गोपाङ्ग समचतुरस्रसस्थान वज्रऋषभनाराचसहनन पराघातम् उच्छ्वास प्रशस्तविहायोगति त्रस बादर पर्याप्त प्रत्येक स्थिरा-ऽस्थिरयोरेकतर शुभा-ऽशुभयोरेकतर यश कीर्ति-अयश कीर्त्योरेकतर सुभग सुस्वरम् आदेय तीर्थकरनाम वर्णचतुष्क तैजस-कार्मणा ऽगुरुलघु निर्माण-उपघातनामेति। एकत्रिंशत् पुनरेवम्—देवगति-देवानुपूर्व्यौ पञ्चेन्द्रियजाति वैक्रियशरीर वैक्रियाङ्गोपाङ्गम् आहारकशरीरम् आहारकाङ्गोपाङ्ग तैजस कार्मणे च समचतुरस्रसस्थान वर्णचतुष्कम् अगुरुलघु उपघात पराघातम् उच्छ्वास प्रशस्तविहायोगति त्रस बादर पर्याप्त प्रत्येक स्थिर शुभ सुभग सुस्वरम् आदेय यश कीर्तिनाम निर्माण तीर्थकरनामेति। ता चाऽप्रमत्तयति कियन्तमपि च भाग यावद् अपूर्वकरणश्च देवगतिप्रायोग्यामेव बध्नाति। एककविधबन्ध तु यश कीर्तिस्वरूपम् अपूर्वकरणा ऽनिवृत्तिबादर-सूक्ष्मसपराया स्वरूपेणैव बध्नन्ति, न तु कस्यचित् प्रायोग्य, देवगतिप्रायोग्यस्यापि बन्धस्यापूर्वकरणमध्ये व्यवच्छिन्नत्वात्।

तदेव स्वरूपतोऽष्टावप्युक्तानि नामकर्मणो बन्धस्थानानि। साम्प्रतमेतेषु प्रकृता भूयस्कारादिबन्धा भाव्यन्ते—"छस्सगअट्ठतिबध" त्ति बन्धशब्दो भूयस्कारादिषु योजनीय, ततो भूयस्कारबन्धा षड्, अल्पतरबन्धा सप्त, अवस्थितबन्धा अष्टौ, अवक्तव्यबन्धास्त्रय इति। तत्र भूयस्कारबन्धा षडेवम्—कस्यचिद् अपर्याप्तैकेन्द्रियप्रायोग्या त्रयोविंशति बद्ध्वा तत्प्रायोग्यविशुद्धिवशात् पञ्चविंशतिविधबन्ध गतस्याद्यसमये प्रथमो भूयस्कारबन्ध। ततोऽपि पञ्चविंशतिबन्धात् तत्प्रायोग्यविशुद्धिवशात षड्विंशतिबन्ध गतस्य प्रथमसमये द्वितीयो

भूयस्कारबन्ध । षड्विंशतिविधबन्धाद् अष्टाविंशतिबन्ध गतस्य प्रथमसमये तृतीयो भूयस्कारबन्ध । अष्टाविंशतिबन्धाद् एकोनत्रिंशद्बन्ध गतस्य प्रथमसमये चतुर्थो भूयस्कारबन्ध । एकोनत्रिंशत बद्धा त्रिंशत बध्नत आद्यसमये पञ्चमो भूयस्कारबन्ध । आहारकद्विकसहिता त्रिंशत बद्धा एकत्रिंशद्बन्ध गतस्याद्यसमये षष्ठो भूयस्कारबन्ध , अथवा यश कीर्तिलक्षणमेकविध बद्धा श्रेणेनिपतत पुनरपूर्वकरणे एकत्रिंशदादि बध्नत आद्यसमये षष्ठ एव भूयस्कारबन्ध , न सप्तम , एकत्रिंशल्लक्षणस्थानकस्योभयथाऽप्येकत्वादिति । अल्पतरबन्धा सप्त पुनरेवम्—अपूर्वकरणे देवगतिप्रायोग्यामष्टाविंशतिमेकोनत्रिंशत वा त्रिंशत वा एकत्रिंशत वा बद्धा तद्बन्धव्यवच्छेदे एकविधबन्ध गतस्याद्यसमये प्रथमोऽल्पतरबन्ध । एकत्रिंशद्बन्धाच्च त्रिंशद्बन्ध गतस्याद्यसमये द्वितीयोऽल्पतरबन्ध । एतच्च कथ सम्भवति ? इत्युच्यते—इह कश्चिदाहारकद्विक-तीर्थकरनामसहिता पूर्वाभिहितामेकत्रिंशत बद्धा दिवि समुत्पन्न , तस्य प्रथमसमय एव मनुष्यगतिप्रायोग्या पूर्वोक्तामेव त्रिंशत बध्नत एकत्रिंशतस्त्रिंशति गमन सम्भवति । ततस्तस्यैव दिवश्च्युत्वा मनुष्येषु समुत्पन्नस्य पुनरपि देवप्रायोग्या तीर्थकरनामसहिता पूर्वाभिहितामेवैकोनत्रिंशत बध्नत प्रथमसमये तृतीयोऽल्पतरबन्ध । यदा तु तिर्यग्-मनुष्याणामन्यतरस्तिर्यक्प्रायोग्या पूर्वोक्तामेकोनत्रिंशत बद्धा तथाविधविशुद्धिवशाद् देवगतिप्रायोग्यामष्टाविंशतिं बध्नाति तदा प्रथमसमये चतुर्थोऽल्पतरबन्ध । अष्टाविंशतेश्च तथाविधसङ्क्लेशवशादेकेन्द्रियप्रायोग्यषड्विंशतिबन्ध गतस्याद्यसमये पञ्चमोऽल्पतरबन्ध । षड्विंशतिबन्धात् पञ्चविंशतिबन्ध गतस्याद्यसमये षष्ठोऽल्पतरबन्ध । पञ्चविंशतिबन्धादपि त्रयोविंशतिबन्ध गतस्याद्यसमये सप्तमोऽल्पतरबन्ध । एतेष्वष्टस्वपि बन्धस्थानेषु द्वितीयादिसमयेषु सर्वत्रावस्थितबन्धो लभ्यत इत्यवस्थितबन्धा अष्टौ । अथावक्तव्यकबन्धास्त्रय पुनरेवम्—उपशान्तमोहावस्थाया नामकर्मण सर्वथा अबन्धको भूत्वा इहैवोपशान्ताद्धाक्षयेण प्रतिपत्य यदा पुनरप्येकविध बध्नाति तदाद्यसमये प्रथमोऽवक्तव्यबन्ध । अथवोपशान्तमोहावस्थायामेवायु क्षयेणानुत्तरसुरेषु समुत्पद्यते उपात्ततीर्थकरनामा च भवति तदा तस्य प्रथमसमय एव मनुष्यगतिप्रायोग्या पूर्वोक्तरूपा तीर्थकरसहिता त्रिंशत बध्नतो द्वितीयोऽवक्तव्यबन्ध । अथवाऽनुपात्ततीर्थकरनामा यदा भवति तदा तस्य तीर्थकरनामरहिता तत्रैव मनुष्यगतिप्रायोग्यामेकोनत्रिंशत बध्नत प्रथमसमये तृतीयोऽवक्तव्यबन्ध । तदेव भाविता नामकर्मणि षड् भूयस्कारबन्धा सप्ताल्पतरबन्धा अष्टावस्थितबन्धा त्रयोऽवक्तव्यबन्धा । उक्त च—

> छ ब्भूयगारबधा, सत्तेव हवति अप्पतरबधा ।
> तिण्णऽव्वत्तगबधा, अवट्ठिया अट्ठ नामम्मि ॥ (श० चू० भा० गा० २९५)

उक्ता नामकर्माश्रित्य भूयस्कारादिबन्धा । साम्प्रत शेषकर्माण्याश्रित्य तानाह—"सेसेसु ठाणमिक्किक" ति , 'शेषेषु' भणितोद्धरितेषु-ज्ञानावरण-वेदनीया-ऽऽयु -गोत्रा-ऽन्तरायलक्षणेषु पञ्चसु कर्मसु 'स्थान' बन्धस्थानमेकैकमेव भवति । तत्राद्यकर्मणि मतिज्ञानावरणाद्युत्तरप्रकृतिपञ्च-

१ षड् भूयस्कारबन्धा सप्तैव भवन्त्यल्पतरबन्धा । त्रयोऽवक्तव्यकबन्धा अवस्थिता अष्ट नाम्नि ॥
२ बहुषु पुस्तकादर्शेषु "इरिसे°" इत्यपि पाठो दृश्यते, एवमग्रेऽपि ज्ञेयम् ॥

कस्य समुदितमेवैकं बन्धस्थानं मिथ्यादृष्टेरारभ्य सूक्ष्मसम्परायं यावद् भवति, एवमन्तरायपञ्चकस्यापि वाच्यम्। वेदनीयस्याप्येकमेव बन्धस्थानं सातमसातं वा। आयुषश्चतुर्णामायुषामन्यतरैकायुष्कलक्षणमेकमेव बन्धस्थानम्। गोत्रस्य तु नीचैर्गोत्रमुच्चैर्गोत्रं वा एकं बन्धस्थानम्। अत्र च सूचकत्वात् सूत्रस्यैतत् स्वयमेव द्रष्टव्यम्, यथा—अत्र कर्मपञ्चकेऽपि भूयस्कारा ऽल्पतरबन्धौ न सम्भवतः, तल्लक्षणायोगात्। अवक्तव्यबन्धावस्थितबन्धौ तु वेदनीयवर्जकर्मचतुष्टये सम्भवतः। तथाहि—ज्ञानावरणा ऽन्तराय-गोत्राणामुपशान्तमोहावस्थायां सर्वथाऽबन्धको भूत्वा प्रतिपत्य यदा पुनस्तान्येव बध्नाति तदा प्रथमसमयेऽवक्तव्यबन्धः। आयुषस्तु यदा त्रिभागादिसमयादौ बन्धकस्तदा प्रथमसमयेऽवक्तव्यबन्धः, द्वितीयादिसमयेषु त्ववस्थितबन्धः। वेदनीयस्य त्ववस्थितबन्धोऽस्ति, प्रभूतकालमवस्थितत्वेन बध्यमानत्वात्, अवक्तव्यबन्धस्तु न सम्भवति, स हि सर्वथाऽबन्धको भूत्वा यदा प्रतिपत्य पुनस्तदेव बध्नाति तदा सम्भवति, न चैतद् वेदनीयेऽस्ति, तस्य सर्वथाऽबन्धकत्वमयोगिकेवलिचरमसमय एव, न चायोगिकेवलिनो भगवतो भूयो बन्धोऽस्तीति। उक्तं च—

नाणावरणे तह आउयम्मि गोयम्मि अंतराए य।
ठियअव्वत्तगबंधा, अवट्ठिया वेयणिज्जम्मि॥ (श० चू० भा० गा० ३१७) इति॥२५॥

तदेवं भूयस्कारादिप्रकारैश्चिन्तितः प्रकृतिबन्धः। साम्प्रतं स एव स्वामित्वद्वारेण चिन्तनीयः, स च गुणस्थानकान्याश्रित्य लघुकर्मस्तवटीकायां मार्गणास्थानकान्याश्रित्य पुनः स्वोपज्ञबन्धस्वामित्वटीकायां विस्तरेण निरूपितस्ततः एवावधारणीय इति [प्रकृति]बन्धः समाप्तः। इदानीं स्थितिबन्धं व्याचिख्यासुः प्रथमं मूलप्रकृतीनामुत्कृष्टेतरं तं तावदाह—

वीसऽयरकोडिकोडी, नामे गोए य सत्तरी मोहे।
तीसियर चउसु उदही, निरयसुराउम्मि तित्तीसा॥ २६॥

अतिमहत्त्वादुदधिवत् तरीतुम्-अचिरात् पारं नेतुं न शक्यन्त इत्यतराणि-सागरोपमाणि तेषां कोटिकोटयोऽतरकोटिकोटयः। कियत्यः ? इत्याह—'विंशतिः' विंशतिसङ्ख्या भवन्ति। क ? इत्याह—"नामे" त्ति नामकर्मणि गोत्रे चोत्कृष्टा स्थितिः, उत्तरगाथायां जघन्यस्थितेर्भणिष्यमाणत्वादिहोत्कृष्टा स्थितिर्लभ्यते। ततोऽयमर्थः—नामकर्मणि गोत्रे च उत्कृष्टा स्थितिर्विंशतिकोटिकोटयः सागरोपमाणाम्। सप्ततिकोटीकोटयः सागरोपमाणां 'मोहे' मोहनीये। 'इतरेषु' आयुषो भणिष्यमाणत्वेन भणितोद्धरितेषु ज्ञानावरण-दर्शनावरण-वेदनीया ऽन्तरायलक्षणेषु चतुर्षु कर्मसु त्रिंशत्कोटीकोटयः सागरोपमाणां प्रत्येकमुत्कृष्टा स्थितिर्भवति। आयुःशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धात् 'निरय' त्ति निरयायुषि सुरायुषि चोत्कृष्टा स्थितिस्त्रयस्त्रिंशत् 'उदधयः' सागरोपमाणि भवन्तीति॥२६॥

---

१ ज्ञानावरणे तथाऽऽयुष्के गोत्रेऽन्तराये च। स्थिता ऽवक्तव्यबन्धौ अवस्थितो वेदनीये॥ २ अस्मत्पार्श्ववर्तिषु समग्रेषु पुस्तकादर्शेषु "°कर्मणि उत्कृष्टास्थितिर्विंशतिकोटिकोटयः सागरोपमाणाम्, तथा गोत्रेऽपि उत्कृष्टा स्थितिर्विंशतिकोटीकोटयः सागरोपमाणाम्" इत्येवरूपः पाठः॥ ३ अस्मत्पार्श्ववर्तिनीषु सप्तस्वपि प्रतिषु "°युषि उत्कृष्टा स्थितिस्त्रयस्त्रिंशद् 'उदधयः' सागरोपमाणि सुरायुषि चोत्कृष्टा स्थितिस्त्रयस्त्रिंशद् 'उदधयः' सागरोपमाणि भवन्तीति" इत्येवरूपः पाठः॥

सुत्तुं अकसायठिइं, बार मुहुत्ता जहण्ण वेयणिए।
अट्ठऽट्ठ नामगोएसु सेसएसुं मुहुत्तंतो ॥ २७ ॥

इह वेदनीयकर्मणो हि स्थितिर्द्विधा सम्भवति—अकषायिण प्रतीत्य सकषायिणश्च। तत्राकषायिणो वेदनीयस्य स्थितिर्द्विसमयस्थितिका, यतस्तत्कर्म प्रथमसमये बद्ध द्वितीयसमये वेदित तृतीयसमयेऽकर्मतामनुभवति सा चेह नाधिक्रियते, सकषायिस्थितिबन्धस्यैवेहाधिकृतत्वात्। अत उक्तम्—'मुक्त्वा' त्यक्त्वा अकषायिणाम् उपशान्तमोह-क्षीणमोह-सयोगिकेवलिना जघन्या वेदनीयस्थितिम्। तर्हि सकषायिणा जघन्या किंप्रमाणा[1] इत्याह—'द्वादश मुहूर्ता' चतुर्विंशतिघटिका 'जघन्या' लघीयसी 'वेदनीये' तृतीये कर्मणि स्थितिर्भवतीति। "अट्ठऽट्ठ नामगोएसु" त्ति मुहूर्तशब्दस्यात्रापि सम्बन्धात् प्रत्येकमष्टावष्टौ मुहूर्ता नाम-गोत्रयोर्जघन्या स्थितिर्भवति। 'शेषेषु' भणितोद्धरितेषु ज्ञानावरण-दर्शनावरण-मोहनीया-ऽऽयु-अन्तरायलक्षणेषु पञ्चसु कर्मसु "मुहुत्तंतो" त्ति मीयत इति मुहूर्त, मुहुरियर्तीति वा मुहूर्त, पृषोदरादित्वादिष्टरूपसिद्धि, घटिकाद्वयप्रमाण काल, मुहूर्तस्यान्तर्—मध्य मुहूर्तान्त, अन्तर्मुहूर्तप्रमाणा जघन्या स्थितिर्भवति। इह च "सेसएसु" इत्यत्र ककार स्वार्थिक इति। तथेहाबाधाकाल कर्मणोऽनुदयलक्षणो य उत्तरा प्रकृतीरुद्दिश्य "एवइयाबाह वाससया" (गा० ३२) इति गाथावयवेन वक्ष्यते स एव तदनुसारतो मूलप्रकृतिष्वपि द्रष्टव्य। तत्र ज्ञानावरण-दर्शनावरण-वेदनीया-ऽन्तरायाणा त्रीणि वर्षसहस्राणि अबाधा द्रष्टव्या, बद्धमपीत्थमेतत् कर्म वर्षसहस्रत्रय यावद् विपाकोदयलक्षणा बाधा न करोतीत्यर्थ। तया च वर्षसहस्रत्रयलक्षणयाऽबाधया ऊना—हीना कर्मस्थिति कर्मनिषेको द्रष्टव्य। निषेको नाम—प्रथमसमये बहु द्वितीयसमये हीन तृतीयसमये हीनतर ततो हीनतम कर्मदलिक रच्यते यत्र स एवम्भूत कर्मदलिकरचनाविशेष उच्यते। अबाधा विहाय तत ऊर्ध्वं वेदनार्थं कर्मनिषेको भवतीति भावना। स्थापना— । मोहनीयस्य सप्त वर्षसहस्राण्यबाधा, अबाधोना च कर्मस्थिति कर्मनिषेको निगदितलक्षणो द्रष्टव्य। नाम-गोत्रयोर्द्वे द्वे वर्षसहस्रे अबाधा, अबाधोना च कर्मस्थिति कर्मनिषेक। आयुष्कस्य तु नरकायु-सुरायुर्लक्षणस्योत्कृष्टा स्थितिस्त्रयस्त्रिंशदतराणि पूर्वकोटीत्रिभागोऽबाधा, अबाधोना च कर्मस्थिति कर्मनिषेक। अत्र च सूत्रेऽबाधा प्रपात्य "निरयसुराउम्मि तित्तीसा" (गा० २६) इति निषेककाल एवोक्त। अत एव श्रीशिवशर्मसूरिपादै शतके—

तिर्त्तीसुदही आउम्मि केवला होइ एवमुक्कोसा। (गा० ५३)

इत्यत्र केवलाऽबाधारहितेत्युक्तम्। तथा मूलप्रकृतिस्थितिबन्धप्रस्तावेऽपि "निरयसुराउम्मि तित्तीसा" (गा० २६) इति यदुत्तरप्रकृतिस्थितिप्रतिपादन तद् ग्रन्थलाघवार्थमिति परिभावनीयम्। जघन्या त्वबाधा सर्वासामप्यन्तर्मुहूर्तादिमिकेति ॥ २७ ॥

प्रत्यपिता मूलप्रकृतीनामुत्कृष्टेतरभेदा स्थिति। साम्प्रतमुत्तरप्रकृतीनामुत्कृष्टा स्थिति प्रतिपादयन्नाह—

---

१ स १-२ छा० त० म० °त्र ग° ॥ २ त्रयस्त्रिंशदुदधय आयुषि केवला भवत्येवमुत्कृष्टा ॥

विग्घावरणअसाए, तीसं अट्ठार सुहुमविगलतिगे।
पढमागिइसंघयणे, दस दसुवरिमेसु दुगवुड्ढी ॥ २८ ॥

"नपु कुखगइ सासचऊ" (गा० ३२) इति गाथोक्तकोटाकोटीशब्दस्य सर्वत्र सम्बन्धाद् एवं प्रयोजनीयम्—विघ्नानि च—दान लाभ-भोग-उपभोग-वीर्यान्तरायाख्यानि पञ्च, आवरणानि च—ज्ञानावरणपञ्चक-दर्शनावरणनवकलक्षणानि चतुर्दश, असातं च—असातवेदनीयं समाहारद्वन्द्वे विघ्नावरणासाते। विघ्नेषु पञ्चसु ज्ञानावरणेषु पञ्चसु दर्शनावरणेषु नवसु असातवेदनीये च त्रिंशत्कोटीकोट्य उत्कृष्टा स्थितिः सागरोपमाणामिति सर्वत्र योज्यम्। अष्टादश कोटीकोट्य उत्कृष्टा स्थितिर्भवति, क्व? इत्याह—त्रिकशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धात् 'सूक्ष्मत्रिके' सूक्ष्मा-ऽपर्याप्तक-साधारणरूपे 'विकलत्रिके' द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रियलक्षणे तथा प्रथमशब्दस्य प्रत्येकं योगात् 'प्रथमाकृतौ' प्रथमसंस्थाने समचतुरस्रनामनि 'प्रथमसंहनने' वज्रऋषभनाराचाभिधे दश दश कोटीकोट्य उत्कृष्टा स्थितिर्भवति। "उवरिमेसु दुगवुड्ढि" त्ति 'उपरितनेषु' न्यग्रोधपरिमण्डलादिसंस्थानेषु ऋषभनाराचादिसंहननेषु च 'द्विकवृद्धिः' सागरोपमकोटाकोटीदशकोपरि द्विकवृद्धिर्द्रष्टव्या। तद्यथा—न्यग्रोधपरिमण्डलसंस्थान-ऋषभनाराचसंहननयोर्द्वादश सागरोपमकोटीकोट्य उत्कृष्टा स्थितिः, सादिसंस्थान-नाराचसंहननयोश्चतुर्दश सागरोपमकोटीकोट्य उत्कृष्टा स्थितिः, कुब्जसंस्थाना-ऽर्धनाराचसंहननयोः षोडश सागरोपमकोटीकोट्य उत्कृष्टा स्थितिः, वामनसंस्थान-कीलिकासंहननयोरष्टादश सागरोपमकोटीकोट्य उत्कृष्टा स्थितिः, हुण्डसंस्थान-सेवार्तसंहननयोर्विंशतिः सागरोपमकोटीकोट्य उत्कृष्टा स्थितिरिति ॥ २८ ॥

चालीस कसाएसु, मिउलहुनिद्धुण्हसुरहिसियमहुरे।
दस दोसड्ढसमहिया, ते हालिद्दविलाईणं ॥ २९ ॥

चत्वारिंशत् सागरोपमकोटीकोट्यः 'कषायेषु' अनन्तानुबन्धिचतुष्का-ऽप्रत्याख्यानावरणचतुष्क-प्रत्याख्यानावरणचतुष्क-सञ्ज्वलनचतुष्कलक्षणेषु षोडशसु उत्कृष्टा स्थितिः। मृदु-लघु स्निग्धोष्णानां चतुर्णां शुभानां स्पर्शानां सुरभिगन्धस्य "सिय" त्ति सितवर्णस्य मधुररसस्य च "दस" त्ति दश सागरोपमकोटाकोट्य उत्कृष्टा स्थितिः। तथा त एव दश द्विसार्धसमधिकाः सन्तो हारिद्रा-ऽम्लादीनां पश्चानुपूर्व्या उत्कृष्टा स्थितिर्वेदितव्या। इयमत्र भावना—हारिद्रवर्णस्याऽम्लरसस्य चार्धत्रयोदश सागरोपमकोटाकोट्य उत्कृष्टा स्थितिः। लोहितवर्ण-कषायरसयोः पञ्चदश सागरोपमकोटाकोट्य उत्कृष्टा स्थितिः। नीलवर्ण-कटुकरसयोः सार्धसप्तदश सागरोपमकोटाकोट्य उत्कृष्टा स्थितिः। कृष्णवर्ण तिक्तरसयोर्विंशतिः सागरोपमकोटाकोट्य उत्कृष्टा स्थितिः। यद्यपि वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्शचतुष्कमेवाविवक्षितभेदं बन्धेऽधिक्रियते, भेदरहितस्यैव च तस्य कर्मप्रकृत्यादिषु विंशतिसागरोपमकोटाकोटीरूपा स्थितिर्निरूपिता, तथापि वर्णादिचतुष्कभेदानां विंशतेरपि पृथक् पृथक् स्थितिः पञ्चसङ्ग्रहे अभिहिता अतोऽस्माभिरपि तथैवाभिहिता, बन्धं तु प्रतीत्य वर्णादिचतुष्कमेवाविशेषितं गणनीयमिति ॥ २९ ॥

दस सुहविहगइउच्चे, सुरदुग थिरछक्क पुरिसरइहासे।
मिच्छे सत्तरि मणुदुग, इत्थी साएसु पन्नरस ॥ ३० ॥

दश सागरोपमकोटीकोट्य उत्कृष्टा स्थितिर्भवति । क १ इत्याह—'शुभविहायोगतौ' प्रशस्तविहायोगतौ उच्चैर्गोत्रे 'सुरद्विके' सुरगति-सुरानुपूर्वीलक्षणे 'स्थिरषट्के' स्थिर-शुभ-सुभग-सुस्वरा-ऽऽदेय-यशःकीर्तिसंज्ञिते 'पुरुषे' पुरुषवेदे रतौ हास्ये तथा मिथ्यात्वे सप्तति सागरोपमकोटीकोट्य उत्कृष्टा स्थितिः । तथा 'मनुजद्विके' मनुजगति-मनुजानुपूर्वीस्वरूपे स्त्रीवेदे 'साते' सातवेदनीये पञ्चदश सागरोपमकोटीकोट्य उत्कृष्टा स्थितिः ॥ ३० ॥

भय कुच्छ अरइसोए, विउव्वितिरिउरलनरयदुग नीए ।
तेयपण अथिरछक्के, तसचउ थावर इग पणिंदी ॥ ३१ ॥
नपु कुखगइ सासचऊ, गुरुकक्खडरुक्खसीय दुग्गंधे ।
वीसं कोडाकोडी, एवइयाबाह वाससया ॥ ३२ ॥

भये 'कुत्सायां' जुगुप्सायाम् अरति-शोके, द्विकशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धाद् वैक्रियद्विके—वैक्रियशरीर-वैक्रियाङ्गोपाङ्गरूपे, तिर्यग्द्विके—तिर्यग्गति-तिर्यगानुपूर्वीलक्षणे, औदारिकद्विके—औदारिकशरीर-औदारिकाङ्गोपाङ्गाख्ये, नरकद्विके—नरकगति-नरकानुपूर्वीस्वरूपे, नीचैर्गोत्रे 'तैजसपञ्चके' तैजस-कार्मणा-ऽगुरुलघु-निर्माण-उपघाताभिधे, अस्थिरषट्के—अस्थिरा-ऽशुभ-दुर्भग-दुःस्वरा-ऽनादेया ऽयशःकीर्तिलक्षणे, त्रसचतुष्के—त्रस-बादर-पर्याप्त-प्रत्येकरूपे, स्थावरे "इग" त्ति एकेन्द्रियजातौ पञ्चेन्द्रियजातौ "नपु" त्ति नपुंसकवेदे 'कुखगतौ' अप्रशस्तविहायोगतौ, "सासचउ" त्ति 'उच्छ्वासचतुष्के' उच्छ्वास-उद्योता-ऽऽतप-पराघातलक्षणे, गुरु-कर्कश-रूक्ष-शीतेषु अशुभस्पर्शेषु 'दुर्गन्धे' दुरभिगन्धे चेत्येतासु द्विचत्वारिंशत्संख्यासु प्रकृतिषु विंशतिसागरोपमकोटीकोट्य उत्कृष्टा स्थितिर्भवति । तथाऽऽहारकवर्जितानामौदारिकादिशरीराणां ये बन्धन-सङ्घातास्तेषामपि स्थितिः स्वशरीरस्थितितुल्यैव विज्ञेया, तेन बन्धनादीनामपि विंशतिः सागरोपमकोटीकोट्य उत्कृष्टा स्थितिरिति द्रष्टव्यम् । तथा चोक्तं पञ्चसङ्ग्रहटीकायाम्—

स्थिति-उदय-बन्धकाला सङ्घातन-बन्धनाना स्वशरीरतुल्या ज्ञेया । (　　　)

तदत्र स्थितितुल्यतया प्रयोजनमिति । सम्प्रत्युक्तोत्तरप्रकृतीनामेवोत्कृष्टाऽबाधामाह—"एवइयाबाह वाससय" त्ति लिङ्गव्यत्ययाद् एतावन्ति वर्षशतानि 'अबाधा' कर्मणः प्रदेश-विपाकाभ्यामनुपकार इत्यक्षरघटना । भावार्थस्त्वयम्—यासां प्रकृतीनां यावत्यः कोटीकोट्यः स्थितिरुक्ता तासां तावन्ति वर्षशतान्यबाधेति, तावन्मात्रेषु समयेषु न वेद्यदलिकनिक्षेपं करोतीति यावत् । तद्यथा—पञ्चानां विघ्नप्रकृतीनां पञ्चानां ज्ञानावरणप्रकृतीनां नवानां दर्शनावरणप्रकृतीनामसातवेदनीयस्य त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोट्य उत्कृष्टा स्थितिरुक्ता, तस्या अबाधाकालोऽप्युत्कृष्टस्त्रिंशद्वर्षशतानि वेदितव्य । यथा—दानान्तरायमुत्कृष्टस्थितिकं बद्धं सत् त्रिंशद्वर्षशतानि यावन्न काञ्चिदपि स्वोदयतो जीवस्य बाधामुत्पादयति, अबाधाहीनश्च कर्मदलिकनिषेकः । एवं सर्वप्रकृतिष्वपि वाच्यम् । यथा—सूक्ष्मत्रिके विकलत्रिके चाऽष्टादश वर्षशतान्यबाधा, अबाधाहीनश्च कर्मदलिकनिषेकः । समचतुरस्रसंस्थान-वज्रऋषभनाराचसंहननयोर्दश वर्षशतान्यबाधा, अबाधाहीनश्च कर्मदलिकनिषेकः । न्यग्रोधपरिमण्डलसंस्थान-ऋषभनाराचसंहननयोर्द्वादश वर्षशतान्यबाधा, अबाधाहीनश्च कर्मदलिकनिषेकः । सादिसंस्थान-नाराचसंहननयोश्चतुर्दश वर्षशतान्यबाधा, अबाधाहीनश्च

कर्मदलिकनिषेक । कुब्जसंस्थाना ऽर्धनाराचसंहननयो षोडश वर्षशतान्यबाधा, अबाधाहीनश्च कर्मदलिकनिषेक । वामनसंस्थान-कीलिकासंहननयोरष्टादश वर्षशतान्यबाधा, अबाधाहीनश्च कर्मदलिकनिषेक । हुण्डसंस्थान-सेवार्तसंहननयोर्विंशतिर्वर्षशतान्यबाधा, अबाधाहीनश्च कर्मदलिकनिषेक । षोडशसु कषायेषु चत्वारि वर्षसहस्राण्यबाधा, अबाधाहीनश्च कर्मदलिकनिषेक । मृदु-लघु स्निग्ध-उष्ण-सुरभिगन्ध-श्वेतवर्ण-मधुररसलक्षणाना सप्ताना प्रकृतीना वर्षसहस्रमेकम बाधा, अबाधाहीनश्च कर्मदलिकनिषेक । हारिद्रवर्णा ऽम्लरसयो सार्धद्वादश वर्षशतान्यबाधा, अबाधाहीनश्च कर्मदलिकनिषेक । लोहितवर्ण-कषायरसयो पञ्चदश वर्षशतान्यबाधा, अबाधाहीनश्च कर्मदलिकनिषेक । नीलवर्ण-कटुकरसयो सार्धसप्तदश वर्षशतान्यबाधा, अबाधाहीनश्च कर्मदलिकनिषेक । कृष्णवर्ण तिक्तरसयोर्वर्षसहस्रद्वयमबाधा, अबाधाहीनश्च कर्मदलिकनिषेक । तथा प्रशस्तविहायोगति-उच्चैर्गोत्र सुरगति-सुरानुपूर्वी-स्थिर-शुभ-सुभग-सुस्वरा ऽऽदेय-यश कीर्ति पुरुषवेद-हास्य-रतिलक्षणाना त्रयोदशप्रकृतीनामेक वर्षसहस्रमबाधा, अबाधाहीनश्च कर्मदलिकनिषेक । मिथ्यात्वस्य सप्त वर्षसहस्राण्यबाधा, अबाधाहीनश्च कर्मदलिकनिषेक । मनुष्यगति-मनुष्यानुपूर्वी-स्त्रीवेद सातवेदनीयलक्षणाना चतसृणा प्रकृतीना पञ्चदश वर्षशतान्यबाधा, अबाधाहीनश्च कर्मदलिकनिषेक । तथा भय-जुगुप्सा-ऽरति-शोक-वैक्रियशरीर-वैक्रियाङ्गोपाङ्ग तिर्यग्गति तिर्यगानुपूर्वी-औदारिकशरीर-औदारिकाङ्गोपाङ्ग-नरकगति-नरकानुपूर्वी-नीचैर्गोत्र तैजस कार्मणा-ऽगुरुलघु-निर्माण-उपघाता ऽस्थिरा ऽशुभ-दुर्भग दु स्वरा-ऽनादेया ऽयश कीर्ति-त्रस-बादर-पर्याप्त प्रत्येक-स्थावर-एकेन्द्रियजाति पञ्चेन्द्रियजाति-नपुसकवेदा ऽप्रशस्तविहायोगति-उच्छ्वास-उद्योता ऽऽतप-पराघात-गुरु-कर्कश-रूक्ष शीत-दुरभिगन्धलक्षणाना द्विचत्वारिंशत्प्रकृतीना द्वे वर्षसहस्रे अबाधा, अबाधाहीनश्च कर्मदलिकनिषेक इति ॥ ३२ ॥

गुरु कोडिकोडिअतो, तित्थाहाराण भिन्नमुहु बाहा ।
लहुठिइ सखगुणूणा, नरतिरियाणाउ पल्लतिग ॥ ३३ ॥

स्थितिशब्दस्योत्तरपदस्थस्येहापि सम्बन्धाद् 'गुरु' गरीयसी—उत्कृष्टा स्थिति सागरोपमाणां कोटीकोट्या अन्तर्-मध्ये "तित्थाहाराण" त्ति तीर्थकरनामा-ऽऽहारकशरीरा-ऽऽहारकाङ्गोपाङ्गलक्षणाना तिसृणा प्रकृतीना भवतीति शेष । किमुक्त भवति ?—तीर्थकरनाम्न आहारकद्विकस्य च सागरोपमाणामन्त कोटीकोटीप्रमाण एवोत्कृष्ट स्थितिबन्धकालो भवति नोपरिष्टादिति । "भिन्न मुहु बाह" त्ति प्राकृतत्वादकारलोपे भिन्नमुहूर्तम्—अन्तर्मुहूर्तमात्रमेव कालम् 'अबाधा' अनुदया यस्या उत्कृष्टा, जघन्याऽप्यन्तर्मुहूर्तमात्रैव, तत पर दलिकरचनाया सद्भावेनावश्य प्रदेशोदयस्य सम्भवादिति । केचित् "तीर्थकरनामकर्म अन्तर्मुहूर्तादूर्ध्वं कस्यचित् प्रदेशत उदेति, तदुदये चाज्ञैश्वर्यादय ऋद्धिविशेषा अन्यजीवेभ्यो विशिष्टतरास्तस्य सम्भवन्तीति सम्भावयाम " इति व्याचक्षते । उत्कृष्टा तीर्थकरा ऽऽहारकयो स्थितिरुक्ता । अथैतयोरेव जघन्या स्थितिमाह—"लहुठिइ संखगुणूण" त्ति लघुस्थितिस्तीर्थकरा ऽऽहारकयो सङ्ख्येन—सङ्ख्यातकाललक्षणेन गुणेन—गुणकारेण ऊना—हीना सङ्ख्यगुणोना, उत्कृष्टस्थितिबन्धकाल एव सागरोपमान्त कोटीकोटीरूप सङ्ख्येयगुणहीनो जघन्यस्थितिबन्ध , सागरोपमान्त कोटीकोटीप्रमाण इति तात्पर्यम् । तथेहाप्या-

हारकस्य ये बन्धनसङ्घातास्तेषामपि स्वशरीरस्थितिप्रमाणैव स्थितिर्विज्ञेयेति । ननु तीर्थकरनामकर्म तीर्थकरभवादर्वाक् तृतीयभव एव बध्यते । यदागमः—

बंज्झइ त तु भगवओ, तइयभवोसक्कइत्ताण । (आव० नि० गा० १८३) ।

तत् कथ जघन्यतोऽप्यन्त सागरोपमकोटीकोटीप्रमाणा तस्य स्थितिरुपपद्यते ? तदयुक्तम्, अभिप्रायापरिज्ञानात्, "बज्झइ त तु" इत्यादिक निकाचनापेक्षयोक्तम्, इतरथा तु तृतीयभवादर्वाक्तरामपि बध्यते । यदाहु संशयशतशाखिशातनानिशिताकुण्ठकुठारकल्पा श्रीजिनभद्रगणिक्षमाश्रमणपादा' विशेषणवत्याम्—

कोडाकोडी अयरोवमाण तित्थयरनामकम्मठिई ।
बज्झइ य त अणतर भवम्मि तइयम्मि निद्दिट्ठ ॥ (गा० ७८)

तत कथमेतत् परस्पर युज्यते ? अत्रोत्तरम्—

जं बज्झइ त्ति भणिय, निकाइय त तु तत्थ नियमोऽय ।
तदवञ्झफल नियमा, भयणा अनिकाइयावत्थे ॥ (गा० ८०)

आह यदि तीर्थकरनाम्नो जघन्याऽपि स्थितिरन्त सागरोपमकोटीकोटीप्रमाणा तर्हि तावत्या स्थितेस्तिर्यग्भवभ्रमणमन्तरेण पूरयितुमशक्यत्वात् तिर्यग्गतावपि तीर्थकरनामसत्कर्मा जन्तु कियन्त काल यावद् भवेत् ? तथा च सति आगमविरोध , आगमे तिर्यग्गतौ तीर्थकर नामसत्कर्मा सन् प्रतिषिध्यते । अत्रोच्यते—निकाचितस्यैव तीर्थकरनामकर्मणस्तिर्यग्गतौ सत प्रतिषेधात् । उक्त च—

जमिह निकाइयतित्थ, तिरियभवे त निसेहिय सत ।
इयरम्मि नत्थि दोसो, उवट्टणोवट्टणासज्झे ॥ (पञ्चस० गा० २५१)

अस्या अक्षरगमनिका—'इह' अस्मिन् प्रवचने यत् तीर्थकरनामकर्म 'निकाचितम्' अवश्यवेद्यतया व्यवस्थापित तदेव स्वरूपेण 'सद्' विद्यमान तिर्यग्गतौ निषिद्धम् । 'इतरस्मिन् पुन' अनिकाचिते उद्वर्तना-ऽपवर्तनासाध्ये तिर्यग्गतावपि विद्यमाने न कश्चिद्दोष , यतस्तत् प्रभूतस्थितिकमप्यपवर्तनाकरणेन लघुस्थितिक क्रियते, उद्वर्तनया वा तद् अन्यप्रकृतित्वेनासम्प्राप्यत इति ॥

"नरतिरियाणाउ पल्लतिग" ति नर-तिरश्चामायुषो 'पल्यत्रिक' पल्योपमत्रिकमुत्कृष्टा स्थितिरिति । यद्यपि मूलप्रकृत्युत्कृष्टस्थितिभणनप्रस्तावे देव-नारकायुषोस्त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमरूक्षणैव स्थितिरुक्ता, नरतिर्यगायुषोस्तु पल्योपमत्रयप्रमाणैव, तथापि पूर्वकोटित्रिभागाधिकैवामो सर्वा बध्यते इत्यवसेयम् । नन्वेव तर्हि सूत्रे पूर्वकोटित्रिभागाधिकत्व कस्मान्नोक्तम् ? सत्यम्, असौ पूर्वकोटित्रिभागोऽबाधारूपतयैवापयाति न पुनरुदयमायाति, अतो यावती स्थितिरायुषो वेद्यते तावत्प्रमाणैवाबाधारहिता सूत्रे उपात्तेत्यदोष इति ॥ ३३ ॥

१ बध्यते तत्तु भगवतस्तृतीयभवेऽवष्वष्कयित्वा ॥ २ कोटाकोटी अतरोपमाणां तीर्थकरनामकर्मस्थिति । बध्यते च तदनन्तरे भवे तृतीये निर्दिष्टम् ॥ ३ यद् बध्यत इति भणित निकाचित तत्तु तत्र नियमोऽयम् । तदवन्ध्यफलं नियमाद् भजनाऽनिकाचितावस्थे ॥ ४ सं० १–२ छा० त० म० उद्वलनया ॥

इगविगल पुव्वकोडिं, पलियासखस आउचउ अमणा ।
निरुवकमाण छमासा, अबाह सेसाण भवतसो ॥ ३४ ॥

एकेन्द्रिया विकलेन्द्रियाश्च पूर्वाणि—आगमप्रतीतानि, तद्यथा—

पुव्वस्स उ परिमाण, सयरिं खलु हुति कोडिलक्खाओ ।
छप्पन्न च सहस्सा, बोधव्वा वासकोडीण ॥ (जिनभ० सङ्ग० गा० ३०२)

तेषा पूर्वाणा कोटी पूर्वकोटी ता पूर्वकोटीं यावदायुष उत्कृष्टा स्थितिं बध्नन्ति, न पूर्वकोट्यभ्यधिकामपीति । आयु शब्दश्च "आउचउ अमणा" इति पदाद् योजनीय । इदमत्र हृदयम्—एकेन्द्रिया विकलेन्द्रियाश्चोत्कृष्टतोऽपि पूर्वकोट्यायुष्केष्वेव नर-तिर्यक्षु समुत्पद्यन्ते न, नारकदेवा ऽसङ्ख्येयवर्षायुष्कतिर्यङ्-मनुष्येषु, अत एकेन्द्रिय विकलेन्द्रियाणामुत्कृष्टायुर्बन्ध पूर्वकोटी स्वस्वभवत्रिभागाभ्यधिका वेदितव्या । एषा स्वस्वभवत्रिभागोऽबाधा, अबाधाहीनश्च कर्मदलिकनिषेक । यदुक्त कर्मप्रकृतौ—

सेसाण पुव्वकोडी, साउतिभागो अबाहा सिं ॥ (गा ७४)

अत्र टीका—'शेषाणा च' एकेन्द्रिय-द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रियाणा पर्याप्ता ऽपर्याप्तानाम् असज्ञिपञ्चेन्द्रिय-सज्ञिपञ्चेन्द्रियाणा चापर्याप्तानामायुष उत्कृष्टस्थितिबन्धकाना परभवायुष उत्कृष्टस्थितिबन्ध पूर्वकोटी स्वस्वभवत्रिभागाभ्यधिका वेदितव्या। आयुषं उत्कृष्टस्वभवत्रिभागोऽबाधा काल , अबाधाकालहीनश्च कर्मदलिकनिषेक इति ।

"पलियासखस आउचउ अमण" त्ति 'अमनस ' मनोयोगरहिता , असज्ञिन पर्याप्ता इत्यर्थ , 'पल्योपमासङ्ख्याश' पल्योपमासङ्ख्येयभाग आयुषा चतुष्क बध्नन्ति, विभक्तिलोपश्च प्राकृतत्वात् । किमुक्त भवति ?—असज्ञिपञ्चेन्द्रियेषु पर्याप्तेषु आयुरुत्कृष्टस्थितिबन्धकेषु चतुर्णा मप्यायुषा परभवसम्बन्धिनामुत्कृष्टा स्थिति पल्योपमासङ्ख्येयभागमात्रा पूर्वकोटित्रिभागाधिका भवति, पूर्वकोटित्रिभागश्चाबाधा, अबाधाहीनश्च कर्मदलिकनिषेक ।

यदवादि कर्मप्रकृतौ श्रीमदाराध्यपादे —

आउचउक्कुकोसं, पल्लासखिज्जभाग अमणेसु । (गा० ७४) इति ।

आयुषामुत्कृष्टा स्थितिमभिधाय तेषामेवोत्कृष्टामबाधामाह—"निरुवकमाण छमासा अबाह ' त्ति 'निरुपक्रमाणा' "सत्यभामा" इति न्यायात् निरुपक्रमायुषा देव-नारकाणामसङ्ख्येय वर्षायुषा नर तिरश्चा च भवान्तरप्रायोग्यायुर्बन्धकारिणा 'षण्मासा ' षण्मासप्रमाणा 'अबाधा' व्यावर्णितस्वभावा भवतीति शेष , यतस्ते षण्मासावशेषायुष एवोत्तरभवप्रायोग्यमायुर्बध्नन्ति ।

यदाह भाष्यपीयूषपयोधिः—

देवा नेरइया वा, असखवासाउया य तिरिमणुया ।
छम्मासऽवसेसाऊ, परभविय आउ बधति ॥ (जिनभ० सङ्ग० गा० ३०७)

---

१ पूर्वस्य तु प्रमाण सप्तति खलु भवन्ति कोटिलक्षाणि । षट्पञ्चाशच्च सहस्राणि बोद्धव्यानि वर्षकोटीनाम् ॥
२ स० १ °भ्यधिको वेदितव्य ॥ ३ म० छा० °षश्च उत्कृ° ॥ ४ आयुश्चतुष्कमुत्कृष्ट पल्यासङ्ख्येयभागोऽमनस्केषु ॥ ५ देवा नैरयिका वा असङ्ख्यवर्षायुष्काश्च तिर्यङ्-मनुजा । षण्मासावशेषायुष पारभविक आयुर्बध्नन्ति ॥

इति यथोक्त एवाबाधाकाल । केचित्तु मन्यन्ते—युगलधार्मिका पल्योपमासङ्ख्येयभागे निजायुषोऽवशिष्यमाणे परभवायुष्क बध्नन्ति, तन्मतेनाबाधाऽपि युगलधार्मिकान् उद्दिश्य पल्योपमासङ्ख्येयभागप्रमाणैवेति मन्तव्यम् । तदुक्तम्—

पलियासखिज्जस, जुगधम्मीण वयतऽन्ने । (पञ्चसं० गा० २४८) इति ।

"सेसाण भवतसो" त्ति 'शेषाणा' सङ्ख्येयवर्षायुषा सोपक्रम-निरुपक्रमायुषा नर-तिरश्चा भवस्य-स्वकीयजन्मनस्त्र्यश -त्रिभागो भवत्र्यशोऽबाधेत्यत्रापि सम्बन्धनीयम्, यतस्ते निजजन्मन त्रिभाग एवावशिष्टे "सेसा पुणो तिभाए" (जिनम० सम्र० गा० ३०९) इति वचनाद् उत्कृष्टत परभवप्रायोग्यमायुर्बन्ध विदधतीति ॥ ३४ ॥

प्रतिपादिता सर्वोत्तरप्रकृतीनामबाधान्विता उत्कृष्टा स्थिति । इदानीं तासामेव जघन्या स्थितिं निरूपयितुकाम आह—

लहुठिइबंधो संजलणलोह पणविग्घनाणदंसेसु ।
भिन्नमुहुत्त ते अट्ठ जसुच्चे बारस य साए ॥ ३५ ॥

'लघुस्थितिबन्ध' जघन्यस्थितिबन्धो भिन्नमुहूर्तं भवति, क? इत्याह—सज्वलनलोभे प्रतीते, पणशब्दस्य प्रत्येक सम्बन्धाद् विघ्नपञ्चके—दान-लाभ-भोग-उपभोग-वीर्यान्तरायरूपे, ज्ञानावरणपञ्चके—मति श्रुता-ऽवधि-मन पर्याय केवलज्ञानावरणलक्षणे, "दसेसु" त्ति दर्शनचतुष्के—चक्षु -अचक्षु -अवधि-केवलदर्शनावरणस्वभावे । कोऽर्थ ? ज्ञानावरणपञ्चका-ऽन्तरायपञ्चक-दर्शनचतुष्क-सज्वलनलोभलक्षणाना पञ्चदशप्रकृतीना जघन्यस्थितिबन्धोऽन्तर्मुहूर्तमात्र एव, यत सज्वलनलोभस्याऽनिवृत्तिबादरगुणस्थानके शेषचतुर्दशप्रकृतीना सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानकचरमसमये स्वबन्धव्यवच्छेदकालेऽन्तर्मुहूर्तमात्रैव स्थितिर्बध्यते । "ते अट्ठ" त्ति "व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्ति" इति न्यायात् 'ते' मुहूर्ता घटिकाद्वयप्रमाणा 'अष्टौ' अष्टसङ्ख्या यश कीर्तिनाम-उच्चैर्गोत्रयोर्जघन्यस्थितिर्भवति । "बारस य" त्ति द्वादश मुहूर्ता, 'च' पुनरर्थे स च भिन्नक्रम, तत 'साते' सातवेदनीये कर्मणीति । उक्त च कर्मप्रकृतौ—

भिन्नमुहुत्त आवरणविग्घदसणचउक्कलोहन्ते ।
बारस साइ मुहुत्ता, अट्ठ य जसकित्तिउच्चेसु ॥ (गा० ७६) इति ॥ ३५ ॥

दो इग मासो पक्खो, सजलणतिगे पुमट्ठवरिसाणि ।
सेसाणुक्कोसाओ, मिच्छत्तठिईइ ज लद्ध ॥ ३६ ॥

द्वौ मासौ एको मास पक्षश्च जघन्या स्थिति , क ? इत्याह—'सज्वलनत्रिके' क्रोध-मान-मायारूपे । एतदुक्त भवति—सज्वलनक्रोधे द्वौ मासौ जघन्या स्थिति , सज्वलनमाने एको मासो जघन्या स्थिति , सज्वलनमायाया पक्ष —पञ्चदशदिनात्मको जघन्या स्थिति । "पुमट्ठवरिसाणि" त्ति पुवेदेऽष्टौ वर्षाणि जघन्या स्थिति । यतश्चतसृणामप्येतासा प्रकृतीनामनिवृत्ति-

---

१ पल्यासङ्ख्येयांश युग्मधार्मिणा वदन्त्यन्ये ॥ २ शेषा पुनस्त्रिभागे ॥ ३ भिन्नमुहूर्त्तमावरणविघ्नदर्शनचतुष्कलोभान्ते । द्वादश साते मुहूर्त्ता अष्टौ च यश कीर्त्त्युच्चैर्गोत्रयो ॥ ४ सं० १-२ त० म० °त्मका ॥

बादरगुणस्थाने निजनिजबन्धव्यवच्छेदसमये प्रतिपादितप्रमाणैव स्थितिर्बध्यत इति। यासा द्वाविंशते प्रकृतीना स्वबन्धव्यवच्छेदसमये जघन्या स्थितिरन्तर्मुहूर्तादिका सम्भवति तासा तत्रैव सा प्रतिपादिता। आहारकद्विक-तीर्थकरलक्षणप्रकृतित्रयस्य तदुत्कृष्टस्थितिप्रतिपादनप्रस्ताव एव जघन्याऽप्यसावभिहिता। आयुश्चतुष्टयस्य स्वामित्वप्रस्तावे वैक्रियषट्कस्य च जघन्यस्थितिर्वक्ष्यते। शेषपञ्चाशीते प्रकृतीना बादरपर्याप्तैकेन्द्रियेष्वेव प्राप्यमाणजघन्यस्थितिबन्धाना जघन्यस्थितिनिरूपणार्थं करणमाह—"सेसाणुक्कोसाओ" इत्यादि गाथार्धम्। 'शेषाणा' भणितवक्ष्यमाणपञ्चत्रिंशत्प्रकृतिभ्योऽवशिष्टाना निद्रापञ्चकादीना पञ्चाशीतिप्रकृतीनाम् 'उत्कृष्टात्' सर्वप्रकृतीना निजनिजोत्कृष्टस्थितिबन्धाद् 'मिथ्यात्वस्थित्या' सप्ततिकोटीकोटीरूपया भागे हृते 'यद् लब्ध' यद् अवाप्त सा जघन्यस्थिति। एव च सति निद्रापञ्चकेऽसाते च [सागरोपमस्य] त्रय सप्तभागा $\frac{३}{७}$। मिथ्यात्वस्य सागरोपमम्। सञ्ज्वलनवर्जद्वादशकषायाणा चत्वार सप्तभागा $\frac{४}{७}$। स्त्रीवेद-मनुष्यद्विकयोस्त्रयश्चतुर्दशभागा $\frac{३}{१४}$, यत पञ्चदशाना पञ्चमे भागे त्रय, सप्ततेश्च पञ्चमे भागे चतुर्दश लभ्यन्ते। सूक्ष्मत्रिके विकलेन्द्रियजातित्रिके च नव पञ्चत्रिंशद्भागा $\frac{९}{३५}$, यत एतेषामष्टादशकोटीकोट्य उत्कृष्टा स्थितिरुक्ता तस्या सप्तत्या भागे हृते लब्धा अष्टादश सप्ततिभागा $\frac{१८}{७०}$, अनयोश्च भाज्य-भागहारकराश्योरुभयोरप्यर्धीकरणे सम्पन्ना $\frac{९}{३५}$। एवमन्यत्रापि निज निजमुत्कृष्टस्थितिक भाज्यराशि मिथ्यात्वस्थितिरूप भागहारकराशि चार्धीकृत्य जघन्या स्थितिर्वाच्या। तथा स्थिर शुभ सुभग सुस्वरा-ऽऽदेय-हास्य-रति शुभविहायोगति वज्रर्षभनाराच सहनन-समचतुरस्रसस्थान-सुरभिगन्ध-शुक्लवर्ण-मधुररस मृदु-लघु स्निग्ध-उष्णस्पर्शलक्षणस्य प्रकृतिसप्तदशकस्यैक सप्तभाग $\frac{१}{७}$। शेषस्य च शुभा-ऽशुभवर्णादिचतुष्कस्य द्वौ सप्तभागौ $\frac{२}{७}$, केवल वर्णादिचतुष्क बन्धेऽविशेषितमेवाधिक्रियते इति प्रागेवोक्तम्, तत सप्तभागद्वयमेव चतुर्णामपि सामान्येन द्रष्टव्यम्। द्वितीययो सस्थान-सहननयो षट् पञ्चत्रिंशद्भागा $\frac{६}{३५}$। तृतीययो सस्थान-सहननयो सप्त पञ्चत्रिंशद्भागा $\frac{७}{३५}$। चतुर्थयो सस्थान-सहननयोरष्टौ पञ्चत्रिंशद्भागा $\frac{८}{३५}$। पञ्चमयो संस्थान-सहननयोर्नव पञ्चत्रिंशद्भागा $\frac{९}{३५}$। शेषाणा त्रस-बादर-पर्याप्त प्रत्येका ऽगुरुलघु-उपघात पराघात-उच्छ्वासा-ऽस्थिरा ऽशुभ-दुर्भग-दु स्वरा-ऽनादेया ऽयश कीर्ति-औदारिकशरीर औदारिकाङ्गोपाङ्ग तिर्यग्गति-तिर्यगानुपूर्वी एकेन्द्रियजाति पञ्चेन्द्रियजाति निर्माणा ऽऽतप-उद्योता ऽप्रशस्तविहायोगति-स्थावर हुण्डसस्थान-सेवार्तसहनन तैजस-कार्मण-नीचैर्गोत्रा-ऽरति-शोक भय जुगुप्सा-नपुसकवेदलक्षणाना पञ्चत्रिंशत्प्रकृतीना सागरोपमस्य द्वौ सप्तभागौ $\frac{२}{७}$। इय चासा जघन्या स्थितिरेकेन्द्रियानेवोद्दिश्य प्राप्यते, न शेषजीवानिति। तथा जघन्यस्थितिप्रस्तावादेकेन्द्रियाणामुत्कृष्टोऽपि स्थितिबन्धो वाच्य, यथाऽयमेव जघन्यस्थितिबन्ध पल्योपमासङ्ख्येयभागमात्राभ्यधिक उत्कृष्टो भवतीति। तथा चोक्तम्—

जो एगिंदि जहन्ना, पलियासखसससजुया सा उ। तेसिं जिट्ठ त्ति (पञ्चसं० गा० २६१)।

इति पञ्चसङ्ग्रहाभिप्रायेण व्याख्यातम्। अथ चेदमेव गाथार्धं कर्मप्रकृत्यभिप्रायेणान्यथा व्याख्यायते—"सेमाण" इत्यादि। 'शेषाणाम्' अवशिष्टाना पञ्चाशीते प्रकृतीनामित्यर्थ।

१ या एकेन्द्रियाणा जघन्या पल्यासख्याशसयुता सा तु। तेषा ज्येष्ठेति॥

"उक्कोसाउ" त्ति "सूचनात् सूत्रम्" इति न्यायाद् 'उत्कृष्टाद्' इति सामान्योक्तावपि वर्गोत्कृष्टात् स्थितिबन्धादिति दृश्यम्। अथ कोऽय वर्गोत्कृष्ट स्थितिबन्ध ? उच्यते—सजातीयप्रकृतीना समुदायो वर्ग । यथा—मतिज्ञानावरणादिप्रकृतिसमुदायो ज्ञानावरणवर्ग, चक्षुर्दर्शनावरणादिप्रकृतिसमुदायो दर्शनावरणवर्ग, वेदनीयप्रकृतिसमुदायो वेदनीयवर्ग, दर्शनमोहनीयप्रकृतिसमुदायो दर्शनमोहनीयवर्ग, कषायमोहनीयप्रकृतिसमुदाय कषायमोहनीयवर्ग, नोकषायमोहनीयप्रकृतिसमुदायो नोकषायमोहनीयवर्ग, नामप्रकृतिसमुदायो नामवर्ग, गोत्रप्रकृतिसमुदायो गोत्रवर्ग, अन्तरायप्रकृतिसमुदायोऽन्तरायवर्ग इति। एवविधस्य वर्गस्य सम्बन्धी उत्कृष्टो वर्गोत्कृष्ट स्थितिबन्धोऽभिधीयते, तस्माद् वर्गोत्कृष्टात् स्थितिबन्धाद् मिथ्यात्वस्थित्या सागरोपमकोटीकोटीसप्ततिरूपया भागे हृते 'यद् लब्ध' यद् अवाप्त तत् पल्योपमासङ्ख्येयभागोन सद् जघन्यस्थितितया भवतीति गम्यते। अत्र च वर्गोत्कृष्टादिति व्याख्यानेनेतदवसीयते—वर्गान्तर्गतानामवमस्थितिकानामपि सातवेदनीयादीना प्रकृतीना जघन्यस्थित्यानयनाय निजनिजवर्गस्योत्कृष्टा त्रिंशत्कोटीकोट्यादिस्थितिर्विभजनीया, न तु स्वकीया पञ्चदशकोटीकोट्यादिकेति। तथा यद्यपि पल्योपमासङ्ख्येयभागोनमिति नोक्त तथापि "पलियासखसहीण लहुबधो" (गा०३७) इति अनन्तरगाथावयवेनैकेन्द्रियाणा लब्धसप्तभागा पल्योपमासङ्ख्येयभागोना एव जघन्यस्थितितयाऽभिधास्यन्ते, अतोऽत्रापि जघन्यस्थितिप्रस्तावात् पल्योपमासङ्ख्येयभागोनत्वमवसीयते।

यदवादि दुर्वादिदुन्तिकुम्भस्थलदलनकेसरिवरिष्ठै शिवशर्मसूरिपादै कर्मप्रकृतौ—

वग्गुक्कोसठिईण, मिच्छत्तुक्कोसगेण ज लद्ध ।
सेसाण तु जहन्ना, पल्लासखिज्जभागूणा ॥ (गा० ७९)

अस्या अक्षरगमनिका—इह ज्ञानावरणप्रकृतिसमुदायो ज्ञानावरणीयवर्ग, एव दर्शनावरणवर्ग, वेदनीयवर्ग, दर्शनमोहनीयवर्ग, कषायमोहनीयवर्ग, नोकषायमोहनीयवर्ग, नामवर्ग, गोत्रवर्ग, अन्तरायवर्ग । एतेषा वर्गाणा या आत्मीया आत्मीया स्थितिस्त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोट्यादिलक्षणा तस्या मिथ्यात्वस्योत्कृष्टया स्थित्या सागरोपमसप्ततिकोटीकोटीरूपया भागे हृते सति यद् लभ्यते तत् पल्योपमासङ्ख्येयभागोन सद् उक्तशेषाणा [पञ्चाशीते] प्रकृतीना जघन्यस्थिते परिमाणमवसेयम्। तथाहि—दर्शनावरण-वेदनीयवर्गयोरुत्कृष्टा स्थितिस्त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोटीप्रमाणा, तस्या मिथ्यात्वस्थित्या सप्ततिसागरोपमकोटीकोटीप्रमाणया भागे हृते सति "शून्य शून्येन पातयेद्" इति वचनाद् लब्धास्त्रय सागरोपमसप्तभागा $\frac{3}{7}$, ते पल्योपमासङ्ख्येयभागोना निद्रापञ्चक-ऽसातवेदनीययोर्जघन्यस्थितितया मन्तव्या । दर्शनमोहनीयवर्गस्य चोत्कृष्टा स्थिति सागरोपमकोटीकोटीसप्ततिरूपा, तस्या मिथ्यात्वस्थित्या तावत्यैव भागे हृते लब्धा सप्त सागरोपमसप्तभागा $\frac{7}{7}$, ते च पल्योपमासङ्ख्येयभागोना मिथ्यात्वस्य जघन्यस्थितितयाऽत्रमेया । कषायमोहनीयवर्गस्य चोत्कृष्टा स्थितिश्चत्वारिंशत्सागरोपमकोटीकोट्य, तस्या मिथ्यात्वस्थित्या भागे हृते लब्धाश्चत्वार सागरोपमसप्तभागा $\frac{4}{7}$, ते च पल्योपमासङ्ख्येयभागोना सज्वलनरहितकषायद्वादशकस्य जघन्यस्थितितया बोद्धव्या । नोकषायमोहनीयस्य तु वर्गो-

१ स० २ छा० "वर्ग, दर्शनमोहनीयसमुदायचारित्रमोहनीयवर्ग, कषा" ॥

त्कृष्टा स्थितिर्विंशतिसागरोपमकोटीकोट्य , तस्याश्च मिथ्यात्वस्थित्या भागे हृते लब्धौ द्वौ सागरोपमसप्तभागौ ३, तौ च पल्योपमासङ्ख्येयभागोनौ पुरुषवेदवर्जानामष्टाना नोकषायाणा जघन्य स्थितितयाऽवसेयौ । नाम-गोत्रयोश्च प्रत्येक विंशतिसागरोपमकोटीकोट्यो वर्गोत्कृष्टा स्थिति, तस्याश्च मिथ्यात्वस्थित्या भागे हृते लब्धौ द्वौ सागरोपमसप्तभागौ ३, तौ च पल्योपमासङ्ख्येय भागोनौ देवगति देवानुपूर्वी-नरकगति-नरकानुपूर्वी-वैक्रियशरीर-वैक्रियाङ्गोपाङ्गा ऽऽहारकशरीरा ऽऽहारकाङ्गोपाङ्ग तीर्थकर-यश कीर्तिवर्जानां नाम्न शेषसप्तपञ्चाशत्प्रकृतीना नीचैर्गोत्रस्य च जघन्यस्थितितया बोद्धव्याविति ॥ ॥ ३६ ॥

उक्ता सर्वप्रकृतीना जघन्या स्थिति । इदानीमेकेन्द्रियाणा सर्वस्वप्रायोग्योत्तरप्रकृतीरद्दिश्योत्कृष्टा जघन्या च स्थितिमाह—

अयमुक्कोसो गिंदिसु, पलियासंखंसहीण लहुबंधो ।
कमसो पणवीसाए, पन्ना-सय-सहससंगुणिओ ॥ ३७ ॥

'अयम्' इत्यनन्तरोद्दिष्टो वर्गोत्कृष्टस्थितिबन्धाद् मिथ्यात्वस्थित्या भागे हृते लब्धसप्तभागरूप उत्कृष्टस्थितिबन्ध एकेन्द्रियेषु ज्ञातव्य । तथाहि—ज्ञानावरणपञ्चक दर्शनावरणनवक वेदनीयद्विका-ऽन्तरायपञ्चकलक्षणानामेकविंशतिप्रकृतीना त्रय सागरोपमसप्तभागा ३, यत एतद्वर्गाणा त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोट्य उत्कृष्टा स्थिति, तस्या मिथ्यात्वस्थित्या भागे हृते त्रय एव सागरोपमसप्तभागा लभ्यन्ते इति । एवमन्यत्रापि भागभावना कार्या । ततश्च मिथ्यात्वस्य सप्त सागरोपमसप्तभागा ७, कषायषोडशकस्य चत्वार सागरोपमसप्तभागा ४, नोकषायनवकस्य द्वौ सागरोपमसप्तभागौ २, एकेन्द्रियबन्धयोग्यदेवगति देवानुपूर्वी-नरकगति-नरकानुपूर्वी-वैक्रियशरीर वैक्रियाङ्गोपाङ्गा-ऽऽहारकद्विक-तीर्थकरवर्जाना शेषाणा नाम्नोऽष्टपञ्चाशत्प्रकृतीना गोत्रद्वयस्य च प्रत्येक द्वौ द्वौ सागरोपमसप्तभागाविति । उक्त एकेन्द्रियाणामुत्कृष्टस्थितिबन्ध । इदानीं तेषामेव जघन्यस्थितिबन्धमाह—

"पल्लासंखस" इत्यादि । परयस्य—पल्योपमस्यासङ्ख्यभागेन—असङ्ख्येयभागेन हीन —न्यून' परयासङ्ख्यांशहीनोऽयमेवोत्कृष्टस्थितिबन्ध सप्तभागत्रयादिक, किम् ' इत्याह—'लघुबन्ध' जघन्यस्थितिबन्धो भवतीति । अयमभिप्राय —यासा प्रकृतीना यावत्प्रमाण सप्तभागरूप एकेन्द्रियाणामुत्कृष्ट स्थितिबन्ध उक्तस्तासा तावत्प्रमाण सप्तभागरूप एव पल्योपमासङ्ख्येयभागहीनस्तेषा जघन्यस्थितितया मन्तव्य इति । निरूपित एकेन्द्रियाणामुत्कृष्टो जघन्यश्च स्थिति बन्धो गाथापूर्वार्धेन । सम्प्रत्ययमेव एकेन्द्रियोत्कृष्टस्थितिबन्धो यैर्गुणकारै 'सङ्गुणित' ताडितो द्वीन्द्रियादीनामसंज्ञिपर्यन्ताना प्रायोग्यस्थितितया भवति तान् गुणकारानुत्तरार्धेनाह—

"कमसो पणवीसाए" इत्यादि । 'क्रमश ' क्रमेण यथासङ्ख्यमित्यर्थ पञ्चविंशत्या सङ्गुणित, प्राकृतत्वाद् विभक्तिलोपे पञ्चाशता सङ्गुणित, शतेन सङ्गुणित, सहस्रेण सङ्गुणित ॥ ३७ ॥

तत किम् ' इत्याह—

विगलि असन्निसु जिट्ठो, कणिट्ठओ पल्लसंखभागूणो ।
सुरनरयाउ समादससहस्स सेसाउ खुड्डभव ॥ ३८ ॥

'विकलेषु' विकलेन्द्रियेषु—द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रियेषु 'असज्ञिषु' सम्मूर्च्छजपञ्चेन्द्रिय-तिर्यङ्-मनुष्येषु 'ज्येष्ठ ' उत्कृष्ट स्थितिबन्धो भवति । इयमत्र भावना—एकेन्द्रियाणामुत्कृष्ट स्थितिबन्ध सागरोपमसप्तभागत्रयादिक पञ्चविंशत्या सगुणितो द्वीन्द्रियाणा ज्येष्ठ संभवत्सर्वप्रकृतीरुद्दिश्य स्थितिबन्धो भवति, स एवैकेन्द्रियाणामुत्कृष्ट स्थितिबन्ध पञ्चाशता सङ्गुणितस्त्रीन्द्रियाणा ज्येष्ठ स्थितिबन्धो भवति, स एवैकेन्द्रियाणामुत्कृष्ट स्थितिबन्ध शतेन सङ्गुणितश्चतुरिन्द्रियाणा ज्येष्ठ स्थितिबन्ध , सहस्रेण गुणितोऽसज्ञिपञ्चेन्द्रियाणा स्वप्रायोग्यसर्वप्रकृतीरधिकृत्य ज्येष्ठ स्थितिबन्धो भवतीति । द्वीन्द्रियादीनामेव जघन्यस्थितिबन्धमानमाह—"कणिट्ठओ पल्लसखभागूणु" त्ति पल्यस्य—पल्योपमस्य सख्यभागेन—सख्याततमभागेन ऊन —न्यून उत्कृष्ट एव स्थितिबन्ध 'कनिष्ठक ' जघन्यस्थितिबन्धो भवति । एतदुक्त भवति—द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रिया-ऽसज्ञिपञ्चेन्द्रियाणामात्मीय आत्मीय उत्कृष्ट स्थितिबन्ध पल्योपम-सख्येयभागहीन कनिष्ठबन्धो भवति । आयुश्चतुष्टयस्य जघन्यस्थितिमानमाह—'सुरनारकायुषो ' देव-नारकायुष्कयो समा —वर्षाणि तासा दश सहस्राणि समादशसहस्राणि दशवर्षसहस्राणीत्यर्थ जघन्या स्थितिर्भवतीति प्रक्रम । "सेसाउ खुड्डुभव" ति 'शेषायुषो ' तिर्यङ् मनुष्यायुष्कयो "खुड्डभव" ति क्षुल्लक —सर्वभवापेक्षया लघीयान् लिङ्गव्यत्ययाद् भव —जन्म क्षुल्लकभव स जघन्या स्थितिर्भवतीति ॥ ३८ ॥

प्ररूपिता जघन्यस्थिति । इदानीं सर्वोत्तरप्रकृती प्रतीत्य जघन्याबाधामाह—

सव्वाण वि लहुबंधे, भिन्नमुहु अबाह आउजिट्ठे वि ।
केइ सुराउसम जिणमतमुहू बिंति आहार ॥ ३९ ॥

'सर्वासामपि' सर्वप्रकृतीना—विंशत्युत्तरशतसङ्ख्यानामपि 'लघुबन्धे' जघन्यस्थितिबन्धे 'भिन्न-मुहूर्तम् ' अन्तर्मुहूर्तम् 'अबाधा' अनुदयकाल । किं सर्वप्रकृतीना जघन्यबन्ध एवेय जघन्याऽबाधा ? आहोश्चिदस्ति कासाञ्चिदियमुत्कृष्टेऽपि ? इत्याह—"आउजिट्ठे वि" आयुषा—ज्येष्ठेऽपि ज्येष्ठबन्धेऽपि, न केवल जघन्य एवेत्यपिशब्दार्थ , जघन्याऽबाधाऽन्तर्मुहूर्तप्रमाणा भवतीति योग । एतेनायुषश्चतुर्भङ्गकैरबाधेति सूचितम्, तद्यथा—ज्येष्ठे आयु स्थितिबन्धे ज्येष्ठाऽबाधा १ ज्येष्ठे आयु स्थितिबन्धे जघन्याऽबाधा २ जघन्ये आयु स्थितिबन्धे ज्येष्ठाऽबाधा ३ जघन्ये स्थितिबन्धे जघन्याऽबाधा ४ इति । अधुना तीर्थकरा-ऽऽहारकद्विकयो प्राङ्निरूपितामपि जघन्या स्थितिं पुनर्मतान्तरेणाह—"केइ सुराउसम" इत्यादि । केचिदाचार्या सुरायुषा—देवा-युष्केण दशवर्षसहस्रप्रमाणेन सम—तुल्य सुरायु सम—देवायुस्तुल्यस्थितिक जघन्यतो बध्यते । किं तद् ? इत्याह—"जिण" ति तीर्थकरनामकर्म ब्रुवते । तथा च तैरभ्यधायि—

सुरनारयाउयाण, दसवाससहस्स लहु सतित्थाण । (पञ्चस० गा० २५३)

"लहु" त्ति जघन्या स्थिति 'सतीर्थयो ' तीर्थकरनामयुक्तयोरित्यर्थ ।

तथा "आहार" ति आहारकद्विकम्—आहारकशरीरा-ऽऽहारकाङ्गोपाङ्गलक्षणमन्तर्मुहूर्तं जघन्यतो बध्यते, किञ्चिदूनमुहूर्तस्थितिक जघन्येन बध्यत इति ब्रुवते । तथा च तैरुक्तम्—

आहारकविग्घावरणाण किंचूण (पञ्चस० गा० २५४)

"किंचूण" ति किञ्चिदून मुहूर्त जघन्या स्थितिरिति ॥ ३९ ॥

तिर्यङ्-मनुष्यायुषोर्जघन्या स्थिति क्षुल्लकभवप्रमाणा भवतीति प्रागुक्तम्, ततस्त क्षुल्लकभव सप्रपञ्च निरूपयितुकामो गाथायुगलमाह—

सत्तरस समहिया किर, इगाणुपाणुम्मि हुति खुड्डभवा ।
सगतीससयतिहुत्तर, पाणू पुण इगमुहुत्तम्मि ॥ ४० ॥
पणसट्ठिसहस्स पणसय, छत्तीसा इगमुहुत्त खुड्डभवा ।
आवलियाणं दो सय, छप्पन्ना एगखुड्डभवे ॥ ४१ ॥

सप्तभिरधिका दश सप्तदश 'समधिका' किञ्चित्समर्गला 'किल' इत्याप्तोक्तानित्येव ब्रुवते । 'एकाऽऽनप्राणे' हृष्टानवकल्पादिगुणोपेतस्य जन्तोरेकस्मिन्नुच्छ्वासनि श्वासरूपे भवन्ति क्षुल्लका । सूत्रे च "आणुपाणुम्मि" त्ति उकार "स्वराणा स्वरा" (सिद्ध० ८–४–२३७) इति प्राकृतसूत्रेण । अयमर्थ —एकस्मिन् प्राणापाने क्षुल्लकभवा समधिका सप्तदश भवन्तीति किलाप्ता ब्रुवते । एते च साधिकसप्तदश क्षुल्लकभवा मुहूर्तगतक्षुल्लकभवग्रहणराशेर्वक्ष्यमाणगाथोपन्यस्तस्य भाज्यस्य मुहूर्तगतप्राणापानराशिनैव भागे हृते लभ्यन्ते, अत प्रथम मुहूर्तान्तर्गत प्राणापानराशेर्भागहारकल्पस्य प्रमाणनिरूपणार्थमाह—"सगतीससयतिहुत्तर" इत्यादि । सप्तत्रिंशच्छतानि त्रिसप्तत्यधिकानि, अङ्कतोऽपि ३७७३, "पाणु" त्ति प्राकृतत्वात् 'प्राणापाना' उच्छ्वासनि श्वासा पुन 'एकमुहूर्ते' घटिकाद्वयरूपे भवन्ति ॥ ४० ॥

उक्तो भागहारको राशि । अधुना भाज्यस्य मुहूर्तगतक्षुल्लकभवग्रहणराशे प्रमाणमाह—"पणसट्ठि" इत्यादि । विभक्तिलोपात् पञ्चषष्टिसहस्राणि पञ्चशतानि 'षट्त्रिंशानि' षट्त्रिंशदधिकानि, अङ्कतोऽपि ६५५३६, एकमुहूर्ते क्षुल्लकभवा, एकमुहूर्तक्षुल्लकभवग्रहणानि भवन्तीत्यर्थ । पञ्चषष्टिसहस्रपञ्चशतषट्त्रिंशदधिकलक्षणस्य मुहूर्तगतक्षुल्लकभवग्रहणराशेर्भाज्यस्य मुहूर्तगतप्राणापानराशिना त्रिसप्तत्यधिकसप्तत्रिंशच्छतप्रमाणेन भागे हृते सति यद् लभ्यते तद् एकत्र प्राणापाने क्षुल्लकभवग्रहणप्रमाण भवतीति । तानि तु सप्तदश १७ । तथा यैर्भागहाराङ्कमाने रशी क्षुल्लकभवग्रहण भवति ते त्वेकत्र प्राणापानेऽष्टादशस्यापि क्षुल्लकभवग्रहणस्यांशा पञ्चनवत्यधिकत्रयोदशशतप्रमाणा अवशिष्यन्ते, अष्टसप्तत्यधिकत्रयोविंशतिशतानि चाशाना न पूर्यन्ते इति । स्थापना—[१७, अंशा –१३९५ छेदाशा –२३७८] अतो यदुक्तम्—"सत्तरस समहिया किर, इगाणुपाणुम्मि हुति खुड्डभवा" इति तद् युक्तमिति । क्षुल्लकभवग्रहण च सर्वेषामप्यौदारिकशरीरिणा भवतीत्यवसेयम्, भगवत्यामेवमेवोक्तत्वात्, कर्मप्रकृत्यादिषु औदारिकशरीरिणा तिर्यङ्-मनुष्याणामायुषो जघन्यस्थिते क्षुल्लकभवग्रहणरूपाया प्रतिपादनाच्च । यत् पुनरावश्यकटीकाया क्षुल्लकभवग्रहण वनस्पतिष्वेव प्राप्यत इत्युक्त त मतान्तरमित्यवसीयत इति । साम्प्रतमेकस्मिन् क्षुल्लकभवग्रहणे आवलिकाद्वारेण कालमान निरूपयितुकामो यावत्य आवलिका एकस्मिन् क्षुल्लकभवग्रहणे भवन्त्येतदेवाह—"आवलियाण दो सय" इत्यादि । 'आवलिकाना' असंखिज्जाण समयाण समुदयसमिइसमागमेण सा एगा आवलिय त्ति वुच्चइ । (अनुयो० पत्र

१ असङ्ख्येयानां समयानां समुदयसमितिसमागमेन सा एका आवलिकेत्युच्यते ॥

१७८–२) इत्यागमप्रतिपादितस्वरूपाणा द्वे शते षट्पञ्चाशदधिके भवत 'एकक्षुल्लकभवे' एकक्षुल्लकभवग्रहण इति ॥ ४१ ॥

प्रतिपादित स्थितिबन्धप्रसङ्गागत क्षुल्लकभवग्रहणप्रमाणम्। उक्त उत्कृष्टस्थितिबन्धो वैक्रियषट्कवर्जो जघन्यस्थितिबन्धश्च सर्वा प्रकृतीराश्रित्य। सम्प्रत्येता एव प्रकृती प्रतीत्योत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामिनो निरूपयन्नाह—

अविरयसम्मो तित्थं, आहारदुगामराउ य पमत्तो।
मिच्छद्दिट्ठी बंधइ, जिट्ठठिइं सेसपयडीणं ॥ ४२ ॥

'अविरतसम्यक्त्व' अविरतसम्यग्दृष्टि "व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्ति" इति न्यायाद् मनुष्य पूर्व नरकबद्धायुष्को नरक जिगमिषुरवश्य मिथ्यात्व यत्र समये प्रतिपद्यते ततोऽनन्तरेऽर्वाक्स्थितिबन्धे "तित्थ" ति तीर्थकरनाम उत्कृष्टस्थितिक बध्नाति, "तित्थयर पि मणूसो, अविरयसम्मे समज्जेइ॥" (शत० गा० ६०) इति वचनात्। इयमत्र भावना—तीर्थकरनाम्नो ह्यविरतसम्यग्दृष्ट्यादयोऽपूर्वकरणावसाना बन्धका भवन्ति किन्तूत्कृष्टा स्थितिरुत्कृष्टसक्लेशेन बध्यते, स च तीर्थकरनामबन्धकेष्वविरतस्यैव यथोक्तविशेषणविशिष्टस्य लभ्यत इति शेषव्युदासेनास्यैवोपादानमिति भाव। तत्र तिर्यञ्चस्तीर्थकरनाम्न पूर्वप्रतिपन्ना प्रतिपद्यमानकाश्च भवप्रत्ययेनैव न भवन्तीति मनुष्यग्रहणम्। बद्धतीर्थकरनामकर्मा च पूर्वमबद्धनरकायुर्नरक न व्रजतीति पूर्व नरकबद्धायुष्कस्य ग्रहणम्, क्षायिकसम्यग्दृष्टिश्च श्रेणिकादिवत् ससम्यक्त्वोऽपि कश्चिन्नरक प्रयाति, किन्तु तस्य विशुद्धत्वेनोत्कृष्टस्थितिबन्धकत्वात् तस्या एव चेह प्रकृतत्वाद् नासौ गृह्यते, अतस्तीर्थकरनामकर्मोत्कृष्टस्थितिबन्धकत्वाद् मिथ्यात्वाभिमुखस्यैव ग्रहणमिति। तथा 'आहारकद्विकम्' आहारकशरीरा-ऽऽहारकाङ्गोपाङ्गलक्षण "पमत्तु" त्ति प्रमत्तसयतोऽप्रमत्तभावान्निवर्तमान इति विशेषो दृश्य, उत्कृष्टस्थितिक बध्नाति। अशुभा हीय स्थितिरित्युत्कृष्टसक्लेशेनोत्कृष्टा बध्यते, तद्बन्धकश्च प्रमत्तयतिरप्रमत्तभावान्निवर्तमान एवोत्कृष्टसक्लेशयुक्तो लभ्यत इतीत्थ विशिष्यते। तथा 'अमरायु' देवायुष्क प्रमत्तसयत पूर्वकोट्यायुरप्रमत्तभावाभिमुखो वेद्यमानपूर्वकोटीलक्षणायुषो भागद्वये गते सति तृतीयभागस्याद्यसमये उत्कृष्टस्थितिक पूर्वकोटित्रिभागाधिकत्रयस्त्रिंशत्सागरोपमकोटीलक्षण बध्नाति। पूर्वकोटीत्रिभागस्य द्वितीयादिसमयेषु बध्नतो नोत्कृष्ट लभ्यते, अबाधाया परिगलितत्वेन मध्यमत्वप्राप्तेरित्याद्यसमयग्रहणम्। अप्रमत्तभावाभिमुखताविशेषण तर्हि किमर्थम्? इति चेद् उच्यते—शुभेय स्थितिविशुद्धया बध्यते, सा चास्याऽप्रमत्तभावाभिमुखस्यैव लभ्यत इति। तर्ह्यप्रमत्त एव कस्माद् एतद्बन्धकत्वेन नोच्यते? इति चेद् उच्यते—अप्रमत्तस्यायुर्बन्धारम्भनिषेधात्, "देवाउय पमत्तो" (शत० गा० ६०) इति वचनात् प्रमत्तेनैवारब्धमायुर्बन्धमप्रमत्त कदाचित् समर्थयते, "देवाउय च इक्क, नायव्व अप्पमत्तम्मि" (बृ० कर्मस्तवगा० १९) इति वचनात्। शेषाणा षोडशोत्तरशतसङ्ख्यप्रकृतीना 'ज्येष्ठस्थितिम्' उत्कृष्टस्थिति मिथ्यादृष्टि सर्वपर्याप्तिपर्याप्त सर्वसक्लिष्टो बध्नाति, यत

---

१ तीर्थकरमपि मनुष्योऽविरतसम्यक्त्वे समर्जयति ॥ २ देवायुष्क प्रमत्त ॥ ३ देवायुष्क चैक ज्ञातव्य अप्रमत्ते ॥

स्थितिरशुभा सङ्क्लेशप्रत्यया च, सङ्क्लिष्टश्च बन्धकेषु मध्ये मिथ्यादृष्टिरेव भवतीति भाव । अत्र च प्रायोवृत्त्या सर्वसङ्क्लिष्टत्वमुच्यते, यावता तिर्यङ्-मनुष्यायुषी उत्कृष्टे तत्प्रायोग्यविशुद्धो बध्नातीति द्रष्टव्यम्, तयो शुभस्थितिकत्वेन विशुद्धिजन्यत्वात् । उक्त च—

सव्वठिईण उक्कोसओ उ उक्कोससकिलेसेण ।

विवरीए य जहन्नो, आउगतिगवज्ज सेसाण ॥ (शत० गा० ५८) इति ।

ननु यदि विशुद्धित इदमायुष्कद्वय बध्यते तर्हि मिथ्यादृष्टे सकाशात् सास्वादनो विशुद्धतर प्राप्यते, स कस्माद् एतद्बन्धकत्वेन नोक्त ? न च वक्तव्य तिर्यङ्-मनुष्यायुषी सासादनो न बध्नाति, तद्बन्धस्य सप्ततिकादिष्वनुज्ञानात्, तथा चोक्तमायु सवेधभङ्गकावसरे सप्ततिटीकायाम्—

तिर्यगायुषो बन्धो मनुष्यायुष उदयस्तिर्यङ्-मनुष्यायुषी सती, एष विकल्पो मिथ्यादृष्टे सास्वादनस्य वा । मनुष्यायुषो बन्धो मनुष्यायुष उदयो मनुष्य-मनुष्यायुषी सती, एषोऽपि विकल्पो मिथ्यादृष्टे सास्वादनस्य वा । (पत्र १३१–२)

तत् कथमुक्त "मिच्छद्दिट्ठी बधइ, जिट्ठठिइ सेसपयडीण ॥"? इति । अत्र प्रतिविधीयते— सत्यामपि हि सामान्यतो मनुष्य-तिर्यगायुर्बन्धानुज्ञायामसङ्ख्येयवर्षायुष्कयोग्यमुत्कृष्ट प्रस्तुतायुर्द्वय सास्वादनो न निर्वर्तयति, सास्वादनस्य गुणप्रतिपाताभिमुखत्वेन गुणाभिमुखविशुद्धमिथ्यादृष्टे सकाशाद् विशुद्ध्याधिक्यस्यानवगम्यमानत्वात्, शास्त्रान्तरेऽपि च मिथ्यादृष्टे सकाशादविरतादय एव यथोत्तरमनन्तगुणविशुद्धा पठ्यन्ते, न सास्वादन । न चैतन्निजमनीषिकाशिल्पिकल्पितम्, यदाहु शिवशर्मसूरिपूज्या —

सेसुक्कोसठिईण, मिच्छद्दिट्ठी उ बधओ भणिओ ।

आहारग तित्थयर, देवाउ वा वि मुत्तूण ॥ (शत० गा० ५९) ॥ ४२ ॥

इह पूर्वं सङ्क्लिष्टो मिथ्यादृष्टि षोडशोत्तरप्रकृतिशतस्योत्कृष्टस्थितिबन्धक सामान्येनोक्त । स च नारकादिभेदेन चिन्त्यमानश्चतुर्धा भवति, ततो नारकास्तिर्यञ्चो मनुष्या देवाश्च मिथ्यादृष्टय पृथक् केषा कर्मणा स्थितीरुत्कृष्टा बध्नन्ति ? इति भेदतश्चिन्तयन्नाह—

विगलसुहुमाउगतिग, तिरिमणुया सुरविउव्विनिरयदुग ।

एगिंदिथावरायव, आ ईसाणा सुरुक्कोस ॥ ४३ ॥

त्रिकशब्दस्य प्रत्येक सम्बन्धाद् विकलत्रिक–द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रियजातिलक्षणम्, सूक्ष्मत्रिक–सूक्ष्मा-ऽपर्याप्त-साधारणरूपम्, आयुस्त्रिक–देवायुर्वर्जं नारक तिर्यङ्-मनुष्यायुर्लक्षणम्, द्विकशब्दस्यापि प्रत्येक सम्बन्धात् सुरद्विक–सुरगति सुरानुपूर्वीस्वरूपम्, वैक्रियद्विक–वैक्रियशरीर-वैक्रियाङ्गोपाङ्गलक्षणम्, नरकद्विक–नरकगति-नरकानुपूर्वीलक्षणमित्येतासा पञ्चदशप्रकृतीनामुत्कृष्टा स्थितिं तिर्यङ्-मनुष्या एव मिथ्यादृष्टयो बध्नन्ति न देव-नारका । नारका ह्येतासा मध्ये तिर्यङ्-मनुष्यायुर्द्वय मुक्त्वा शेषास्त्रयोदशप्रकृतीर्भवप्रत्ययेनैव न

१ सर्वस्थितीनामुत्कृष्टकस्तु उत्कृष्टसङ्क्लेशेन । विपरीते च जघन्य आयुस्त्रिकवर्ज शेषाणाम् ॥

२ सर्वोत्कृष्टस्थितीनां मिथ्यादृष्टिस्तु बन्धको भणित । आहारक तीर्थंकर देवायु वाऽपि मुक्त्वा ॥

बध्नन्ति, तिर्यङ्-मनुष्यायुषोरपि देवकुर्वादिप्रायोग्य उत्कृष्टत्रिपल्योपमलक्षण स्थितिबन्ध प्रकृत, तत्र च देव-नारका भवप्रत्ययादेव नोत्पद्यन्ते इत्येतद्बन्धोऽप्यमीषा न सम्भवति, तस्मादेते तिर्यङ्-मनुष्यायुषी उत्कृष्टस्थितिके पूर्वकोट्यायुषस्तिर्यङ्-मनुष्या मिथ्यादृष्टयस्तत्प्रायोग्यविशुद्धा स्वायुस्त्रिभागाद्यसमये वर्तमाना बध्नन्ति, सम्यग्दृष्टेरतिविशुद्धमिथ्यादृष्टेश्च देवायुर्बन्ध स्यादिति मिथ्यादृष्टित्व-तत्प्रायोग्यविशुद्धत्वविशेषणद्वयम्। नारकायुष पुनरेत एव तत्प्रायोग्यसक्लिष्टा वाच्या, अत्यन्तशुद्धस्यात्यन्तसक्लिष्टस्य चायुर्बन्धस्य सर्वथा निषेधादिति । नरकद्विक-वैक्रियद्विकयोस्त्वेत एव सर्वसक्लिष्टा पूर्वोक्तोत्कृष्टस्थितेर्बन्धका वाच्या । विकलजातित्रिक-सूक्ष्मत्रिकयोस्तु तत्प्रायोग्यसक्लिष्टा द्रष्टव्या, अतिसक्लिष्टा हि प्रस्तुतप्रकृतिबन्धमुल्लङ्घ्य नरकप्रायोग्यमेव निर्वर्तयेयु, विशुद्धास्तु विशुद्धितारतम्यात् पञ्चेन्द्रियतिर्यक्प्रायोग्य वा मनुष्यप्रायोग्य वा देवप्रायोग्य वा रचयेयुरिति तत्प्रायोग्यसक्लेशग्रहणम् । देवद्विकस्यापि तत्प्रायोग्यसक्लिष्टा द्रष्टव्या, अतिसक्लिष्टानामधोवर्तिमनुष्यादिप्रायोग्यबन्धप्रसङ्गात्, विशुद्धौ पुनरुत्कृष्टबन्धाभावादिति भाविता पञ्चदशापि प्रकृतय । तथा एकेन्द्रियजाति-स्थावरनामा-ऽऽतपनामलक्षणस्य प्रकृतित्रिकस्य 'आ ईशानाद्' ईशानदेवलोकमभिव्याप्य 'सुरा' देवा, कोऽर्थ ? भवनपतयो व्यन्तरा ज्योतिष्का सौधर्मेशानदेवा "उक्कोस" ति उत्कृष्टा स्थितिं बध्नन्ति । तथाहि—ईशानादुपरितनदेवा नारकाश्च एकेन्द्रियेषु नोत्पद्यन्त इत्येकेन्द्रियप्रायोग्याण्येतानि न बध्नन्त्येवेति तन्निषेध, तिर्यङ्-मनुष्यास्त्वेतावति सक्लेशे वर्तमाना एतद्बन्धमतिक्रम्य नरकप्रायोग्यमेव बध्नन्तीति तेषामपि निषेध, ईशानान्तास्तु देवा सर्वसक्लिष्टा अप्येकेन्द्रियप्रायोग्यमेव बध्नन्ति, अतस्त एव स्थावर-एकेन्द्रिया-ऽऽतपलक्षणप्रकृतित्रयस्य विंशतिसागरोपमकोटीकोटीलक्षणामुत्कृष्टस्थितिं बध्नन्तीति ॥ ४३ ॥

तिरिउरलदुगुज्जोयं, छिवट्ठ सुरनिरय सेस चउगइया ।
आहारजिणमपुव्वोऽनियट्टि सजलण पुरिस लहुं ॥ ४४ ॥

द्विकशब्दस्य प्रत्येक सम्बन्धात तिर्यग्द्विक—तिर्यग्गति तिर्यगानुपूर्वीरूपम्, औदारिकद्विकम्—औदारिकशरीर-औदारिकाङ्गोपाङ्गलक्षणम्, उद्योतनाम सेवार्तसहननाम इत्येतासा षण्णा प्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितिं सुर-नारका बध्नन्ति, सर्वत्र विभक्तिलोप प्राकृतत्वात्, न मनुष्य-तिर्यञ्च, ते हि तद्बन्धार्हसक्लेशे वर्तमाना एतासा षट्प्रकृतीनामुत्कृष्टतोऽप्यष्टादशकोटीकोटिलक्षणामेव मध्यमा स्थितिमुपरचयन्ति, अथाऽप्यधिकसक्लेशे वर्तमाना गृह्यन्ते तर्हि प्रस्तुतप्रकृतिबन्धमतिक्रम्य नरकप्रायोग्यमुपरचयेयु, देव-नारकास्तु सर्वोत्कृष्टसक्लेशा अपि तिर्यग्गतिप्रायोग्यमेव बध्नन्ति न नरकगतिप्रायोग्यम्, तत्र तेषामुत्पत्त्यभावात्, तस्माद् देव-नारका एव सर्वसक्लिष्टा प्रस्तुतप्रकृतिषट्कस्य विंशतिसागरोपमकोटीकोटीलक्षणामुत्कृष्टा स्थितिं रचयन्ति । अत्र च सामान्योक्तावपि सेवार्तसहनन-औदारिकाङ्गोपाङ्गलक्षणप्रकृतिद्वयस्योत्कृष्टस्थितिबन्धका देवा ईशानादुपरितनसनत्कुमारादय एव द्रष्टव्या नेशानान्ता देवा, ते हि तत्प्रायोग्यसक्लेशे वर्तमाना प्रकृतप्रकृतिद्वयस्योत्कृष्टतोऽप्यष्टादशकोटीकोटीलक्षणा मध्यमामेव स्थितिं रचयन्ति । अथ

सर्वोत्कृष्टसंक्लेशा गृह्णन्तो तद्वेकेन्द्रियप्रायोग्यमेव निर्वर्तयेयु, न चैकेन्द्रियप्रायोग्यबन्धे एते प्रकृती बध्येते, तेषा संहननोपाङ्गाभावात्, "सुरनेरइया एगिंदिया य सव्वे असघयणा" (जिनभ० स० गा० १६४) इति वचनात्। सनत्कुमारादिदेवा पुन सर्वसक्लिष्टा अपि पञ्चेन्द्रियतिर्यक्प्रायोग्यमेव बध्नन्ति नैकेन्द्रियप्रायोग्यम्, तेषामेकेन्द्रियेषूत्पत्त्यभावात्। तस्मात् प्रस्तुतप्रकृतिद्विकस्य विंशतिसागरोपमकोटीकोटीलक्षणामुत्कृष्टस्थितिं सर्वसक्लिष्टा सनत्कुमारादय एव बध्नन्ति नाधस्तना देवा इति। तदेव जिननामा-ऽऽहारकद्विक-देवायु विकलत्रिक-सूक्ष्मत्रिका-ऽऽयुष्कत्रिक-देवद्विक-वैक्रियद्विक-नरकद्विक-एकेन्द्रियजाति-स्थावरनामा-ऽऽतपनाम तिर्यग्द्विक औदारिकद्विक-उद्योतनाम-सेवार्तसहननलक्षणानामष्टाविंशतिप्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामिन उक्ता, शेषप्रकृतीना तु का वार्ता ? इत्याशङ्क्याह—"सेस चउगइय" त्ति भणिताष्टाविंशति प्रकृतिभ्य 'शेषाणा' द्विनवतिसङ्ख्यप्रकृतीना मिथ्यादृष्टयश्चतुर्गतिका अप्युत्कृष्टा स्थितिं बध्नन्ति। तत्रैतासु मध्ये वर्णचतुष्क-तैजस-कार्मणा-ऽगुरुलघु निर्माण-उपघात भय-जुगुप्सा-मिथ्यात्व कषायषोडशक-ज्ञानावरणपञ्चक-दर्शनावरणनवका-ऽन्तरायपञ्चकलक्षणाना सप्तचत्वारिंशतो ध्रुवबन्धिप्रकृतीना पूर्वव्यावर्णितस्वरूपाणा तथाऽध्रुवबन्धिनीनामपि मध्येऽसाता ऽरति शोक-नपुसकवेद-पञ्चेन्द्रियजातिहुण्डसस्थान पराघात-उच्छ्वासा ऽशुभविहायोगति त्रस-बादरपर्याप्त प्रत्येका ऽस्थिरा ऽशुभ-दु स्वर-दुर्भगा ऽनादेया-ऽयश कीर्ति-नीचैर्गोत्रलक्षणाना च विंशते प्रकृतीना सर्वोत्कृष्टसक्लेशेनोत्कृष्टा स्थितिं चतुर्गतिका अपि मिथ्यादृष्टयो बध्नन्ति। शेषाणा त्वध्रुवबन्धिनीना सात-हास्य-रति-स्त्री-पुवेद-मनुष्यद्विक-सेवार्तवर्जसहननपञ्चक हुण्डवर्जसस्थान-पञ्चक-प्रशस्तविहायोगति स्थिर-शुभ-सुभग-सुस्वरा ऽऽदेय-यश कीर्ति-उच्चैर्गोत्रलक्षणाना पञ्चविंशतिप्रकृतीना तद्बन्धकेषु तत्प्रायोग्यसक्लिष्टाश्चतुर्गतिका अपि मिथ्यादृष्टय उत्कृष्टा स्थितिं बध्नन्तीति। उक्ता उत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामिन, अथ जघन्यस्थितिबन्धस्वामिन आह—"आहार-जिणमपुव्वो" इत्यादि। आहारकद्विक जिननाम "लहु" ति 'लघुस्थितिक' जघन्यस्थितिक करोतीति शेष। क ? इत्याह—"अपुव्वु" त्ति पदैकदेशे पदसमुदायोपचाराद् 'अपूर्व' अपूर्वकरणक्षपकस्तद्बन्धस्य चरमस्थितिबन्धे वर्तमान स्थितिमाश्रित्येत्यर्थ, तद्बन्धकेष्वस्यैवातिविशुद्धत्वात्, तिर्यङ्-मनुष्य-देवायुर्बन्धकर्मणा च जघन्यस्थितेर्विशुद्धिप्रत्ययत्वात्। तथा "अनियट्टि संजलण पुरिस लहु" ति सञ्ज्वलनाना-क्रोध-मान-माया लोभलक्षणाना चतुर्णां 'पुरुषस्य' पुरुषवेदस्य च "लहु" ति 'लघुस्थितिं' जघन्यस्थितिबन्धम् "अनियट्टि" त्ति अनिवृत्तिबादर क्षपकस्तद्बन्धस्य यथास्व चरमस्थितिबन्धे वर्तमान करोति, तद्बन्धकेष्वस्यैवातिविशुद्धत्वादिति ॥४४॥

सायजसुच्चावरणा, विग्घ सुहुमो विउव्विछ असन्नी।
सन्नी वि आउबायरपज्जेगिंदी उ सेसाणं ॥ ४५ ॥

'सात' सातवेदनीय "जस" त्ति यश कीर्तिनाम "उच्च" त्ति उच्चैर्गोत्रम् "आवरण" त्ति ज्ञानावरणपञ्चक दर्शनावरणचतुष्क 'विघ्नम्' अन्तरायपञ्चक "सुहुमो" त्ति सूक्ष्मसम्पराय क्षपकश्चरमस्थितिबन्धे वर्तमानो लघुस्थितिक करोति, तद्बन्धकेष्वस्यैवातिविशुद्धत्वात्। "विउव्विछ

१ सुरनैरयिका ऐकेन्द्रियाश्च सर्वेऽसहनना ॥

असन्नि" त्ति 'वैक्रियषट्कं' नरकद्विक-वैक्रियद्विक-देवद्विकलक्षणम्, असञ्ज्ञी तिर्यक्पञ्चेन्द्रिय सर्वपर्याप्तिभि पर्याप्तो लघुस्थितिकं करोति। किमुक्तं भवति ?—वैक्रियषट्कं हि नामप्रकृतय, नाम्नश्च द्वौ सप्तभागौ पल्योपमासङ्ख्येयभागोनौ एकेन्द्रियाणा जघन्या स्थिति प्रतिपादिता, सा च सहस्रगुणिता सागरोपमसप्तभागसहस्रद्वयप्रमाणा वैक्रियषट्कस्य जघन्या स्थितिर्भवति, वैक्रियषट्कस्य च जघन्यस्थितिबन्धका असञ्ज्ञिपञ्चेन्द्रिया एव नैकेन्द्रियादय, ते चासञ्ज्ञिपञ्चेन्द्रिया जघन्या स्थितिमेतावतीमेव बध्नन्ति न न्यूनामपि, यदुक्तम्—

वेउव्विछक्कि त सहसताडिय ज असण्णिणो तेसिं ।
पलियासखसूण, ठिई अबाहूणिय निसेगो ॥ (पञ्चस० गा० २५६)

अस्या अक्षरगमनिका—"वग्गुक्कोसठिईण मिच्छत्तुक्कोसियाइ" (कर्मप्रकृ० गा० ७९) इत्यनेन करणेन यद् लब्ध तत् 'सहस्रताडित' सहस्रगुणित तत पल्योपमासङ्ख्येयांशेन—भागेन न्यून सद् 'वैक्रियषट्के' देवगति-देवानुपूर्वी-नरकगति-नरकानुपूर्वी-वैक्रियशरीर-वैक्रियाङ्गोपाङ्गलक्षणे जघन्यस्थिते परिमाणमवसेयम्। कुत ? इत्याह—'यद्' यस्मात् कारणात् 'तेषा' वैक्रियषट्कलक्षणाना कर्मणामसञ्ज्ञिपञ्चेन्द्रिया एव जघन्यस्थितिबन्धका, ते च जघन्या स्थितिमेतावतीमेव बध्नन्ति न न्यूनाम्। अन्तर्मुहूर्तमबाधा, अबाधाहीना च कर्मस्थिति कर्मदलिकनिषेक इति ॥

नन्वेता षट् प्रकृतयो यथासम्भव नरक देवलोकप्रायोग्या बध्यन्ते। तत्र च देव-नारका ऽसञ्ज्ञिमनुष्य एकेन्द्रिय विकलेन्द्रिया नरकेषु देवलोकेषु [च] नोत्पद्यन्त एवेति तेषामेतद्बन्धासम्भव। तिर्यङ्-मनुष्यास्तु सञ्ज्ञिन स्वभावादेव प्रकृतप्रकृतिषट्कस्य स्थितिं मध्यमामुत्कृष्टा वा कुर्वन्तीति तेऽपीहोपेक्षिता। "सन्नी वि आउ" त्ति सञ्ज्ञी अपिशब्दाद् असञ्ज्ञी गृह्यते, तत सञ्ज्ञी असञ्ज्ञी वा आयुश्चतु प्रकारमपि जघन्यस्थितिकं करोति। तत्र देव-नारकायुषो पञ्चेन्द्रियतिर्यङ्-मनुष्या, मनुष्य तिर्यगायुषो पुनरेकेन्द्रियादयो जघन्यस्थितिकर्तारो द्रष्टव्या। उक्ता पञ्चविंशतिप्रकृतीना जघन्यस्थितिबन्धस्वामिन, शेषाणामाह—"बायरपज्जेगिंदी उ सेसाण" त्ति 'शेषाणा' भणितोद्धरिताना—निद्रापञ्चका ऽसातवेदनीया-ऽनन्तानुबन्धिचतुष्का ऽप्रत्याख्यानावरणचतुष्क प्रत्याख्यानावरणचतुष्क-नपुसकवेद-स्त्रीवेद-हास्यादिषट्क मिथ्यात्व मनुष्यगति तिर्यग्गति-जातिपञ्चक औदारिकशरीर-औदारिकाङ्गोपाङ्ग-तैजस कार्मण-सहननषट्क सस्थानषट्क-वर्णचतुष्क-मनुजानुपूर्वी तिर्यगानुपूर्वी प्रशस्ताऽप्रशस्तविहायोगति पराघात-उच्छ्वासा ऽऽतप-उद्योता-ऽगुरुलघु निर्माण-उपघात त्रसनवक-स्थावरदशक-नीचैर्गोत्रलक्षणाना पञ्चाशीते प्रकृतीना बादर पर्याप्तस्तद्बन्धकेषु सर्वविशुद्ध एकेन्द्रिय पल्योपमासङ्ख्येयभागहीनसागरोपमद्विसप्तभागादिका जघन्या स्थितिं करोति। अन्ये ह्येकेन्द्रियास्तथाविधविशुद्ध्यभावात् बृहत्तरा स्थितिमुपकल्पयन्ति। विकलेन्द्रिय पञ्चेन्द्रियेषु शुद्धिरधिकाऽपि लभ्यते केवल तेऽपि स्वभावादेव प्रस्तुतप्रकृतीना महतीं स्थितिमुपरचयन्तीति शेषपरिहारेण यथोक्तैकेन्द्रियस्यैव ग्रहणमिति ॥४५॥

प्रतिपादित जघन्यस्थितिबन्धमाश्रित्य स्वामित्वम्। अथ स्थितिबन्ध एवोत्कृष्टानुत्कृष्टादिभङ्गकान् विचारयितुमाह—

उक्कोसजहन्नेयर, भंगा साई अणाइ धुव अधुवा।
चउहा सग अजहन्नो, सेसतिगे आउचउसु दुहा ॥ ४६ ॥

बन्धशब्द प्रक्रमाद् लभ्यते, तत उत्कृष्टबन्ध १ जघन्यबन्ध २ "इयर" त्ति उत्कृष्टबन्धप्रतिपक्षोऽनुत्कृष्टबन्ध ३ जघन्यबन्धप्रतिपक्षोऽजघन्यबन्ध ४ इति चत्वारो भङ्गा । तत्र यतोऽन्यो वृहत्तरबन्धो नास्ति स उत्कृष्टबन्ध , ततोऽधस्तात् समयहानिमादौ कृत्वा यावद् जघन्यबन्धस्तावत् सर्वोऽप्यनुत्कृष्टबन्ध इत्युत्कृष्टा ऽनुत्कृष्टप्रकाराभ्यां सर्वे स्थितिविशेषा सङ्गृहीता । यस्मादन्यो हीनतरबन्धो नास्ति स जघन्यबन्ध , तत पर समयवृद्धिमादौ कृत्वा यावद् उत्कृष्टस्तावद् सर्वोऽप्यजघन्यबन्ध इति जघन्या ऽजघन्यप्रकाराभ्यां वा सर्वेऽपि स्थितिविशेषा सङ्गृहीता । अथवाऽन्यथा बन्धस्य चत्वारो भङ्गा , तद्यथा—सादिबन्ध १ अनादिबन्ध २ ध्रुवबन्ध' ३ अध्रुवबन्ध ४ चेति । तत्र य पूर्वं व्यवच्छिन्न पश्चात् पुनरपि भवति स सादिर्बन्ध । यस्त्वनादिकालात् सन्तानभावेन प्रवृत्तो न कदाचिद् व्यवच्छिन्न सोऽनादिबन्ध । य पुनरग्रेऽपि न कदाचिद् व्यवच्छेद प्राप्स्यति सोऽभव्यसम्बन्धी बन्धो ध्रुव । य पुनरायत्या कदाचिद् व्यवच्छेद प्राप्स्यति स भव्यसम्बन्धी बन्धोऽध्रुवबन्ध । एव "चउहा सग अजहन्नु" त्ति "सग" त्ति सप्तानां मूलप्रकृतीनां ज्ञानावरण-दर्शनावरण-वेदनीय-मोहनीय-नाम-गोत्रा ऽन्तरायलक्षणानां सम्बन्धिन्यो या स्थितयस्तासां य 'अजघन्य' अजघन्यबन्ध स 'चतुर्धा' चतुर्विकल्प सादिरनादिर्ध्रुवोऽध्रुवश्चेति । तथाहि—एतासां प्रकृतीनां मध्ये मोहनीयस्य क्षपकानिवृत्तिबादरचरमस्थितिबन्धे जघन्य स्थितिबन्ध प्राप्यते, शेषप्रकृतिषट्कस्य तु क्षपकसूक्ष्मसम्परायचरमस्थितिबन्धेऽसौ लभ्यते, ततोऽन्य सर्वोऽप्युपशमश्रेणावप्यजघन्यो भवति, उपशमकस्यापि क्षपकाद् द्विगुणबन्धकत्वादजघन्य एव भवतीति भाव । ततश्चोपशान्तमोहावस्थायामजघन्यबन्धस्याबन्धको भूत्वा यदा प्रतिपत्य पुनरपि प्रस्तुतप्रकृतिसप्तकस्याजघन्य बध्नाति तदाऽजघन्यबन्ध सादिर्भवति, बन्धव्यवच्छेदानन्तरं तत्प्रथमतया बध्यमानत्वात् । उपशान्तमोहाद्यवस्था चाऽप्राप्तपूर्वाणां बन्धव्यवच्छेदाभावेनाऽनादिकालान्निरन्तर बध्यमानत्वादनादि । अभव्यानां ध्रुवोऽभाविपर्यन्तत्वात् । भव्यानामध्रुवो भाविपर्यन्तत्वात् । "सेसतिगे आउचउसु दुहा" त्ति 'शेषत्रिके' जघन्योत्कृष्टा ऽनुत्कृष्टलक्षणे एतासां मूलप्रकृतीनां बन्ध "दुहा" त्ति सादिरध्रुवश्च भवति । तथाहि—एतासां प्रकृतीनां मध्ये मोहनीयस्य क्षपकानिवृत्तिबादरचरमस्थितिबन्धे, शेषाणां तु क्षपकसूक्ष्मसम्परायचरमस्थितिबन्धे जघन्यो बन्धोऽनन्तरमेवोक्त , स चाऽबद्धपूर्वोऽजघन्यबन्धादवतीर्य तत्प्रथमतया तस्मिन्नेव समये बध्यत इति सादि , तत पर क्षीणमोहाद्यवस्थायां सर्वथा न भवतीत्यध्रुव इति द्वावेव विकल्पौ सम्भवतो न शेषौ । उत्कृष्टस्तु त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोट्यादिक सर्वसङ्क्लिष्टमिथ्यादृष्टिपर्याप्तसञ्ज्ञिपञ्चेन्द्रिये लभ्यते, स चानुत्कृष्टबन्धादवतीर्य कदाचिदेव बध्यते न सर्वदेति सादि , अन्तर्मुहूर्ताच्च पर नियमादनुत्कृष्ट बध्नतोऽसौ निवर्तत इत्यध्रुव , उत्कृष्टाच्च प्रतिपत्य अनुत्कृष्ट बध्नातीत्यनुत्कृष्टोऽपि सादि , तत पर जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तेन उत्कृष्टतस्त्वनन्तोत्सर्पिण्यवसर्पिणीपर्यन्ते पुनरुत्कृष्ट बध्नतोऽनुत्कृष्टो निवर्तत इत्यध्रुव इति । एवमुत्कृष्टा ऽनुत्कृष्टेषु जीवा परिभ्रमन्तीति द्वयोरप्यनादिध्रुवत्वासम्भव । "आउचउसु दुहा" त्ति

आयुश्चतुष्टये 'द्वियकार' द्विविकल्पः सादिरध्रुवश्च बन्धो भवतीत्यर्थः । आयुषो हि उत्कृष्टादि-बन्धो वेद्यमानायुषस्त्रिभागादौ प्रतिनियतकाल एव बध्यमानत्वात् सादिः, अन्तर्मुहूर्ताच्च परम-वश्यमुपरमत इत्यध्रुव इति ॥ ४६ ॥

चउभेओ अजहन्नो, संजलणावरणनवगविग्घाणं ।
सेसतिगि साइअधुवो, तह चउहा सेसपयडीणं ॥ ४७ ॥

संज्वलनानां—क्रोध-मान-माया-लोभलक्षणानां चतुर्णाम् आवरणनवकस्य—ज्ञानावरणपञ्चक-दर्शनावरणचतुष्कलक्षणस्य विघ्नानां पञ्चानां—दान-लाभ-भोग-उपभोग-वीर्यान्तरायलक्षणानां सम्बन्धी अजघन्यो बन्धः 'चतुर्भेदः' सादि-अनादि-ध्रुवा-ऽध्रुवलक्षणश्चतुर्विकल्पो भवति । तथाहि—एतासामष्टादशप्रकृतीनां पूर्वोक्तयुक्तित उपशमश्रेणौ बन्धव्यवच्छेदं कृत्वा प्रतिपत्य पुनरजघन्यं बध्नतः सादिस्तद्बन्धः, तत्स्थानमप्राप्तपूर्वस्यानादिः, ध्रुवोऽभव्यानाम्, अध्रुवो भव्यानामिति सर्व-मिह पूर्ववदेव भावनीयम् । एतासामेव प्रकृतीनां "सेसतिगि साइअधुवु" त्ति 'शेषत्रिके' जघ-न्योत्कृष्टा-ऽनुत्कृष्टलक्षणे सादिरध्रुवश्च द्विविधो भवति । तथाहि—सञ्ज्वलनचतुष्टयस्य क्षपका-निवृत्तिबादरगुणस्थाने आत्मीयात्मीयबन्धव्यवच्छेदसमये जघन्यो बन्धो ज्ञानावरणपञ्चक-दर्श-नावरणचतुष्का-ऽन्तरायपञ्चकलक्षणानां चतुर्दशप्रकृतीनां सूक्ष्मसम्परायचरमस्थितिबन्धे जघन्यः । स च तत्प्रथमतया बध्यमानत्वात् सादिः, तत ऊर्ध्वं न भवतीत्यध्रुवः । उत्कृष्टा-ऽनुत्कृष्टेष्वप्यारो-हणावतरणे कुर्वतां जन्तूनां साद्यध्रुवत्वं तथैव भावनीयमिति । "तह चउहा सेसपयडीण" ति 'शेषप्रकृतीनां' भणिताष्टादशप्रकृतिभ्य उद्धरितानां द्व्युत्तरशतसङ्ख्यानां प्रकृतीनां चतुर्धा उत्कृ-ष्टा-ऽनुत्कृष्ट-जघन्या-ऽजघन्यलक्षणश्चतुर्विकल्पः "तह" त्ति सादिरध्रुवश्च भवति । तथाहि—निद्रापञ्चक-मिथ्यात्व-प्रथमद्वादशकषाय-भय-जुगुप्सा-तैजस-कार्मण-वर्णादिचतुष्का-ऽगुरुलघु-उ-पघात-निर्माणलक्षणानामेकोनत्रिंशतः प्रकृतीनां सर्वविशुद्धबादरपर्याप्तैकेन्द्रियो जघन्यस्थितिबन्धं विदधाति, ततोऽन्तर्मुहूर्तं सङ्क्लिष्टो भूत्वा अजघन्यबन्धं करोति, ततस्तत्रैव भवे भवान्तरे वा विशुद्धिमासाद्य पुनरपि स एव जघन्यबन्धं निर्मापयतीत्येवं जघन्या-ऽजघन्ययोः परावृत्तिर्भव-तीति द्वावप्येतौ जघन्या-ऽजघन्यौ सादि-अध्रुवौ भवतः । उत्कृष्टं बन्धं पुनरेतासां सर्वसङ्क्लिष्ट-पञ्चेन्द्रियो विदधाति, अन्तर्मुहूर्ताच्च पुनरपि अनुत्कृष्टबन्धं विरचयति, ततः पुनरपि कदाचि-दुत्कृष्टमित्येवं परावृत्तिवशात् एतावपि सादि-अध्रुवौ भवतः । शेषाणामध्रुवबन्धिनीनामौदारिकद्वि-क-वैक्रियद्विका-ऽऽहारकद्विक-संस्थानषट्क-संहननषट्क-जातिपञ्चक-गतिचतुष्क-विहायोगतिद्वि-का-ऽऽनुपूर्वीचतुष्टय-जिननाम-उच्छ्वासनाम-उद्योतनामा-ऽऽतपनाम-पराघात-त्रसदशक-स्थावर-दशक-उच्चैर्गोत्र-नीचैर्गोत्र-साता-ऽसातवेदनीय-हास्य-रति-अरति-शोक-वेदत्रिका-ऽऽयुश्चतुष्टयल-क्षणानां त्रिसप्ततिप्रकृतीनां जघन्यादिस्थितिबन्धः सर्वोऽप्यध्रुवबन्धित्वादेव सादिरध्रुवश्चेति ॥४७॥

निरूपिताः स्थितिबन्धे साद्यादिभङ्गाः । अधुना स्थितिमेव सामान्यतो गुणस्थानकेषु चिन्तयन्नाह—

साणाइअपुव्वंते, अयरंतोकोडिकोडिओ नऽहिगो ।
बंधो न हु हीणो न य, मिच्छे भव्वियरसन्निम्मि ॥ ४८ ॥

प्राकृतत्वान्निर्देशस्य साम्वादनमादौ यस्य तत् साम्वादनादि, अपूर्वकरणमन्ते यस्य गुणस्थानककदम्बकस्य तद् अपूर्वान्तम्, सास्वादनादि च तद् अपूर्वान्त च सास्वादनाद्यपूर्वान्त तस्मिन् सास्वादनाद्यपूर्वान्ते गुणस्थानककदम्बकेऽतराणा–सागरोपमाणाम् अन्तर्-मध्ये कोटीकोटी अतरान्त कोटीकोटी तस्या अतरान्त कोटीकोटीत, आद्यादेराकृतिगणत्वात् तस्प्रत्यय, 'न' नैवाऽधिको बन्धो भवति, किन्तु मिथ्यादृष्टेरेव भवतीति सामर्थ्याद् गम्यते। इदमुक्त भवति— सास्वादनादीनामपूर्वकरणान्ताना भिन्नग्रन्थिकत्वात् सागरोपमान्त कोटीकोटीरूपैव स्थितिर्युज्यते, न तु परतोऽपि। ननु भिन्नग्रन्थिकानप्याश्रित्य सप्ततिसागरोपमकोटीकोटीप्रमाणो मिथ्यात्वस्योत्कृष्ट स्थितिबन्ध कर्मप्रकृत्यादिषु निरूपित तत् कथमुच्यते भिन्नग्रन्थिकत्वादन्त कोटीकोटीरूपैव स्थितिर्युज्यते न परतोऽपि? सत्यम्, अस्ति भिन्नग्रन्थिकानामुत्कृष्टोऽपि स्थितिबन्ध, केवल परित्यज्य सम्यक्त्व मिथ्यादृष्टिगुणस्थानक प्राप्तानामेवासौ सम्भवति, अत्र तु भिन्नग्रन्थिकाना सास्वादनादीनामेवान्त सागरोपमकोटीकोटीपरत स्थितिबन्धो निषिध्यत इत्यदोष। यत् पुन "[1]बधेणं न वोलइ कयाई" ( ) इति वचनाद् आवश्यकादिषु भिन्नग्रन्थिकस्य मिथ्यादृष्टेरप्युत्कृष्ट स्थितिबन्ध प्रतिषिध्यते तत् सैद्धान्तिकमतमेव। कार्मग्रन्थिकाभिप्रायतस्तु, भिन्नग्रन्थिभिर्मिथ्यात्वस्योत्कृष्टाऽपि स्थितिर्बध्यते, केवल तथाविधतीव्रानुभागयुक्ताऽसौ न भवति। ननु सागरोपमान्त कोटीकोटीत समर्गलतर सास्वादनादीना बन्धो मा भूद् अधस्तात् ततो भवति वा न वा? इत्याह—'न हु' नैव 'हीन' न्यून सागरोपमान्त कोटीकोटीत सकाशात् स्थितिबन्धो भवति। एतदुक्त भवति—सास्वादनादिष्वपूर्वकरणपर्यवसानेषु गुणस्थानकेषु सागरोपमान्त कोटीकोटीप्रमाणैव स्थितिर्भवति, नाधिका नाप्यूनेत्यर्थ। ननु यदा एकेन्द्रियादि साम्वादनगुणस्थानी भवति तदा सागरोपमत्र्यादिसप्तभागरूपमेव स्थितिबन्ध विधत्ते, अत सास्वादनाद्यपूर्वान्तेषु न हु हीनो बन्ध इति कथ घटाकोटीमाटीकते? सत्यमेतत्, केवल कादाचित्कोऽसौ न सार्वदिक इति न तस्य विवक्षा कृतेति सम्भावयामि, अपूर्वकरणात् परतोऽनिवृत्तिकरणादौ सागरोपमान्त कोटीकोटीतोऽपि हीन स्थितिबन्धो भवतीति सामर्थ्याद् गम्यते। अथ किं साम्वादनादिष्वेवान्त सागरोपमकोटीकोटीतो हीन स्थितिबन्धो न लभ्यते? आहोश्विन्मिथ्यादृष्टेरपि प्रतिविशिष्टस्य कस्यचिज्जन्तो? इत्याह—"न य मिच्छे भवियरसन्निम्मि" त्ति 'न च' नैव "मिच्छे" त्ति मिथ्यादृष्टौ, सन्निशब्दस्य प्रत्येक सम्बन्धाद् भव्यश्चासौ सञ्ज्ञी च भव्यसञ्ज्ञी तस्मिन् भव्यसञ्ज्ञिनि, इतरश्च–अभव्य स चासौ सञ्ज्ञी चेतरसन्नी तस्मिन्नितरसञ्ज्ञिनि अभव्यसञ्ज्ञिनीत्यर्थ, आयुर्वर्जाना सप्ताना कर्मप्रकृतीना सागरोपमान्त कोटीकोटीतो हीनो भवति। भव्यसञ्ज्ञी मिथ्यादृष्टिरिति ग्रहणाद् भव्यसञ्ज्ञिन कस्मिंश्चिद् गुणस्थानकेऽनिवृत्तिबादरादौ हीनोऽपि बन्धो भवतीत्याचष्टे। सञ्ज्ञिग्रहणाच्चाऽभव्येऽप्यसञ्ज्ञिनि हीन एव, प्रतिनियतसप्तभागरूपाया एव [2]प्रागसञ्ज्ञिन प्रतीत्य स्थितेर्भणनात्। अभव्यसञ्ज्ञिनि तु सागरोपमान्त कोटीकोटीतो हीनो बन्धो न भवत्येव, यतो भिन्नग्रन्थिकस्यैव हीनो बन्ध स्यात्, अभव्यसञ्ज्ञी चोत्कृष्टतोऽपि ग्रन्थि-

१ बन्धेन न अतिकामति कदाचित् ॥ २ त० च भव्यऽस्य° ॥

प्रदेशमेवाभ्येति, तदनन्तर ग्रन्थि प्राप्य भूयोऽपि निवर्तते, निवर्त्य च प्रभूत स्थितिबन्ध करोतीति ॥ ४८ ॥

निरूपित सर्वगुणस्थानकेषु स्थितिबन्ध । साम्प्रतमेकेन्द्रियादिजीवानाश्रित्य स्थितिबन्धाना-मेवाल्पबहुत्व गाथात्रयेणाह—

जइलहुबंधो बायर, पज्ज असंखगुण सुहुमपज्जऽहिगो ।
एसिं अपज्जाण लहू, सुहुमेअरअपजपज्ज गुरू ॥ ४९ ॥

सर्वस्तोको यतिलघुबन्धो जघन्यस्थितिबन्ध इत्यर्थ, सूक्ष्मसम्पराये आन्तर्मोहूर्तिक एव भवतीति कृत्वा १। ततो यतिलघुस्थितिबन्धाद् बादरपर्याप्तैकेन्द्रियस्य जघन्यस्थितिबन्धोऽसङ्ख्यातगुण २। तत सूक्ष्मपर्याप्तैकेन्द्रियस्य जघन्यस्थितिबन्ध "अहिगु" त्ति विशेषाधिक ३। तत "एसिं" ति अनयोर्बादर-सूक्ष्मयोरपर्याप्तयो "लघु" त्ति जघन्यस्थितिबन्धोऽधिको वाच्य । अयमर्थ —तत सूक्ष्मपर्याप्तैकेन्द्रियस्य जघन्यस्थितिबन्धाद् बादरापर्याप्तैकेन्द्रियस्य जघन्यस्थितिबन्धो विशेषाधिक ४, तत सूक्ष्मापर्याप्तैकेन्द्रियस्य जघन्यस्थितिबन्धो विशेषाधिक ५। "सुहुमेयरअपजपज्ज गुरु" त्ति तत सूक्ष्मापर्याप्तकेन्द्रियस्य "गुरु" त्ति उत्कृष्ट स्थितिबन्धो विशेषाधिक ६, तत "इयर" त्ति बादरापर्याप्तैकेन्द्रियस्योत्कृष्ट स्थितिबन्धो विशेषाधिक ७, तत सूक्ष्मपर्याप्तैकेन्द्रियस्योत्कृष्ट स्थितिबन्धो विशेषाधिक ८, ततो बादरपर्याप्तैकेन्द्रियस्योत्कृष्ट स्थितिबन्धो विशेषाधिक ९ ॥ ४९ ॥

लहु बिय पज्जअपज्जे, अपजेयर बिय गुरू हिगो एवं ।
ति चउ असन्निसु नवर, संखगुणो बियअमणपज्जे ॥ ५० ॥

तत "लहु" त्ति 'लघु' जघन्य स्थितिबन्ध "बिय" त्ति द्वीन्द्रिये "पज्ज" त्ति पर्याप्ते वाच्य । कियत्प्रमाण ? इत्याह—"सखगुणो बियअमणपज्जे" इति वचनात् सङ्ख्यातगुण इत्यर्थ । ततस्तस्मिन्नेवापर्याप्तेऽधिको लघु स्थितिबन्ध, ततोऽपर्याप्तेतरद्वीन्द्रिये गुरु स्थितिबन्धोऽधिको वाच्य । एव द्वीन्द्रियोक्तप्रकारेण "ति" त्ति त्रीन्द्रियेऽपर्याप्त-पर्याप्ते लघुस्थितिबन्धौ द्वौ, त्रीन्द्रिये एवापर्याप्त-पर्याप्ते द्वौ गुरुस्थितिबन्धौ वाच्यौ । "चउ" त्ति चतुरिन्द्रियेऽपर्याप्त पर्याप्ते लघुस्थितिबन्धौ द्वौ, चतुरिन्द्रिये एवापर्याप्त-पर्याप्ते गुरुस्थितिबन्धौ द्वौ वाच्यौ । "असन्निसु" त्ति असञ्ज्ञिनि पर्याप्ता-ऽपर्याप्ते लघुस्थितिबन्धौ द्वौ, असञ्ज्ञिनि एवापर्याप्त-पर्याप्ते गुरुस्थितिबन्धौ द्वौ वाच्यौ । किंप्रमाणा पुनरेते स्थितिबन्धा वाच्या ? इत्याह—"अहिगु" त्ति 'अधिका' विशेषाधिका वाच्या । किं सर्वेऽपि स्थितिबन्धा विशेषाधिका एव वाच्या ? उताहो कुत्रचिदस्ति विशेषोऽपि ? इत्याह—"नवर सखगुणो बियअमणपज्जे" त्ति 'नवर' केवलमियान् विशेष, सङ्ख्यातगुणो वाच्य, पर्याप्तशब्दस्य प्रत्येक सम्बन्धाद् द्वीन्द्रिये पर्याप्ते असञ्ज्ञिनि पर्याप्ते, अन्यत्र सामर्थ्यात् सर्वत्र विशेषाधिक इति गाथाक्षरार्थ । भावार्थस्त्वयम्—बादरपर्याप्तैकेन्द्रियोत्कृष्टस्थितिबन्धाद् द्वीन्द्रियपर्याप्तस्य जघन्य स्थितिबन्ध सङ्ख्येयगुण १० ततोऽपर्याप्तद्वीन्द्रियस्य जघन्य स्थितिबन्धो विशेषाधिक ११ ततोऽपर्याप्तद्वीन्द्रियस्योत्कृष्ट स्थितिबन्धो विशेषाधिक १२ तत पर्याप्तद्वीन्द्रियस्योत्कृष्ट स्थितिबन्धो विशेषाधिक १३

ततः पर्याप्तत्रीन्द्रियस्य जघन्यः स्थितिबन्धो विशेषाधिकः १४ ततोऽपर्याप्तत्रीन्द्रियस्य जघन्य स्थितिबन्धो विशेषाधिक १५ ततोऽपर्याप्तत्रीन्द्रियस्योत्कृष्टः स्थितिबन्धो विशेषाधिकः १६ ततः पर्याप्तत्रीन्द्रियस्योत्कृष्टः स्थितिबन्धो विशेषाधिकः १७ ततः पर्याप्तचतुरिन्द्रियस्य जघन्य स्थितिबन्धो विशेषाधिक १८ ततोऽपर्याप्तचतुरिन्द्रियस्य जघन्यः स्थितिबन्धो विशेषाधिकः १९ ततोऽपर्याप्तचतुरिन्द्रियस्योत्कृष्टः स्थितिबन्धो विशेषाधिकः २० ततः पर्याप्तचतुरिन्द्रियस्योत्कृष्टः स्थितिबन्धो विशेषाधिकः २१ ततः पर्याप्तासंज्ञिपञ्चेन्द्रियस्य जघन्यः स्थितिबन्धः सङ्ख्यातगुणः २२ ततोऽपर्याप्तासंज्ञिपञ्चेन्द्रियस्य जघन्यः स्थितिबन्धो विशेषाधिकः २३ ततोऽपर्याप्तासंज्ञिपञ्चेन्द्रियस्योत्कृष्टः स्थितिबन्धो विशेषाधिकः २४ ततः पर्याप्तासंज्ञिपञ्चेन्द्रियस्योत्कृष्टः स्थितिबन्धो विशेषाधिकः २५ ॥ ५० ॥

तो जइजिट्ठो बंधो, संखगुणो देसविरय हस्सियरो।
सम्मचउ सन्निचउरो, ठिइबधाणुकम संखगुणा ॥ ५१ ॥

ततो यतेः—संयतस्य ज्येष्ठो बन्धः सङ्ख्यातगुणः, ततो देशविरतस्य 'ह्रस्वः' जघन्यः 'इतरः' उत्कृष्टः, ततः "सम्मचउ" त्ति सम्यग्दृष्टेश्चत्वारः स्थितिबन्धाः क्रमेण भवन्ति । तद्यथा—अविरतसम्यग्दृष्टेः पर्याप्तस्य जघन्यस्तस्यैव चोत्कृष्टः स्थितिबन्ध इति द्वौ, एवमपर्याप्तस्यापि द्वौ, मिलिताश्चत्वार इति । "सन्निचउर" त्ति संज्ञिनां—संज्ञिपञ्चेन्द्रियाणां मिथ्यादृष्टीनामिति सामर्थ्याद् गम्यते चत्वारः स्थितिबन्धाः, तद्यथा—संज्ञिपञ्चेन्द्रियस्य पर्याप्तस्य जघन्योत्कृष्टभेदाद् द्वौ, एवमपर्याप्तस्यापि जघन्योत्कृष्टभेदाद् द्वौ एव स्थितिबन्धाविति सर्वे चत्वारः । एते प्रदर्शितरूपाः सर्वेऽपि स्थितिबन्धा यथा यावद्गुणा भवन्ति तदाह—"ठिइबधाणुकम संखगुण" त्ति स्थितीनां बन्धाः स्थितिबन्धाः—प्रदर्शितरूपाः 'अनुक्रमेण' उत्तरोत्तरपरिपाट्या 'सङ्ख्यगुणाः' सङ्ख्येयगुणा भवन्तीत्यक्षरार्थः । भावार्थः पुनरयम्—पर्याप्तासंज्ञिपञ्चेन्द्रियोत्कृष्टस्थितिबन्धाद् यतेरुत्कृष्टः स्थितिबन्धः सङ्ख्येयगुणः २६ ततो देशविरतस्य जघन्यः स्थितिबन्धः सङ्ख्येयगुणः २७ ततो देशविरतस्योत्कृष्टः स्थितिबन्धः सङ्ख्येयगुणः २८ ततोऽविरतापर्याप्तस्य जघन्यः स्थितिबन्धः सङ्ख्येयगुणः २९ ततः पर्याप्ताविरतस्य जघन्यः स्थितिबन्धः सङ्ख्येयगुणः ३० ततोऽपर्याप्ताविरतस्य उत्कृष्टः स्थितिबन्धः सङ्ख्येयगुणः ३१ ततः पर्याप्ताविरतस्य उत्कृष्टः स्थितिबन्धः सङ्ख्येयगुणः ३२ ततोऽपर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रियस्य जघन्यः स्थितिबन्धः सङ्ख्येयगुणः ३३ ततः पर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रियस्य जघन्यः स्थितिबन्धः सङ्ख्येयगुणः ३४ ततः संज्ञिपञ्चेन्द्रियापर्याप्तस्योत्कृष्टः स्थितिबन्धः सङ्ख्येयगुणः ३५ ततः पर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रियस्योत्कृष्टः स्थितिबन्धः सङ्ख्येयगुणः ३६ ॥ अथैतद्गाथाद्वयोक्ताल्पबहुत्वपदानां सुखावबोधार्थं विनेयजनानुग्रहाय यन्त्रकमुपदर्श्यते, तच्चेदम्—

एकोनपञ्चाशत्तमगाथाया यन्त्रम्।

संयतस्य जघन्य स्थितिबन्ध सर्व स्तोक १	बादरप० एके० ज० स्थि०असंख्यातगुण २	सूक्ष्मप० एकें० ज० स्थि० विशेषाधिक ३	बादराप० एकें० ज० स्थि० विशेषाधिक ४	सूक्ष्माप० एकें० ज० स्थि० विशेषाधिक ५
	बादरप० एकें० उत्कृ० स्थि० विशेषाधिक ९	सूक्ष्मप० एकें० उत्कृ० स्थि० विशेषाधिक ८	बादराप० एकें०उत्कृ० स्थि० विशेषाधिक ७	सूक्ष्माप० एकें० उत्कृ० स्थि० विशेषाधिक ६

पञ्चाशत्तमगाथाया यन्त्रम्।

द्वीन्द्रियप० ज० स्थि० सङ्ख्येयगुण १०	अप० द्वीन्द्रि० उत्कृ० स्थि० विशेषाधिक १२	पर्या० त्रीन्द्रि० ज० स्थि० विशेषाधिक १४	अप० त्रीन्द्रि० उत्कृ० स्थि० विशेषाधिक १६
अप० द्वीन्द्रि० ज० स्थि० विशेषाधिक ११	पर्या० द्वीन्द्रि० उत्कृ० स्थि० विशेषाधिक १३	अप० त्रीन्द्रि० ज० स्थि० विशेषाधिक १५	पर्या० त्रीन्द्रि० उत्कृ० स्थि० विशेषाधिक १७
पर्या० चतुरिं० ज० स्थि० विशेषाधिक १८	अप० चतुरिं० उत्कृ० स्थि० विशेषाधिक २०	पर्याप्तासञ्ज्ञिपञ्चे० ज० स्थि० सङ्ख्यातगुण २२	अपर्याप्तासञ्ज्ञिपञ्च०उत्कृ० स्थि० विशेषाधिक २४
अप० चतुरिं० ज० स्थि० विशेषाधिक १९	पर्या० चतुरिं० उत्कृ० स्थि० विशेषाधिक २१	अपर्याप्तासञ्ज्ञिपञ्चे० ज० स्थि० विशेषाधिक २३	पर्याप्तासञ्ज्ञिपञ्चे० उत्कृ० स्थि० विशेषाधिक २५

एकपञ्चाशत्तमगाथाया यन्त्रम्।

संयतस्य उत्कृष्ट स्थितिबन्ध सङ्ख्येयगुण २६ [1]	देशवि० ज० स्थि० सङ्ख्येयगुण २७	अविरतापर्या० ज० स्थि० सङ्ख्येयगुण २९	अप० अविर० उत्कृ० स्थि० सङ्ख्येयगुण ३१	अप० सञ्ज्ञिपञ्चे० ज० स्थि० सङ्ख्येयगुण ३३	सञ्ज्ञिपञ्चे०अप० उत्कृ० स्थि० सङ्ख्येयगुण ३५
	देशवि० उत्कृ० स्थि० सङ्ख्येयगुण २८	पर्या० अवि० ज० स्थि० सङ्ख्येयगुण ३०	पर्या० अविर० उत्कृ० स्थि० सङ्ख्येयगुण ३२	पर्या० संज्ञिपञ्चे० ज० स्थि० सङ्ख्येयगुण ३४	पर्या० सञ्ज्ञिपञ्चे० उत्कृ० स्थि० संख्येयगुण ३६

अत्र च विशेषानिर्देशेऽपि संयतोत्कृष्टस्थितिबन्धादारभ्य सञ्ज्ञिपञ्चेन्द्रियापर्याप्तोत्कृष्टस्थितिबन्ध यावद् ये केचन स्थितिबन्धा निरूपितास्ते सर्वेऽपि सागरोपमान्त कोटीकोटीप्रमाणा एवावसेया, कर्मप्रकृत्यादिषु तथैवोक्तत्वात्। सर्वोत्कृष्टस्थितिबन्धस्तु सञ्ज्ञिपञ्चेन्द्रियमिथ्यादृष्टे पर्याप्तस्यैव भवति नान्यस्य, "सव्वाण वि पयडीण, उक्कोसं सन्निणो कुणति ठिइ" (पञ्चस० गा० २७०) इति वचनात्॥ ५१॥

तदेवं स्थितिबन्धस्याल्पबहुत्वद्वारेण स्वामित्वश्चिन्तिता। अधुना कर्मस्थितेरेव शुभा-ऽशुभप्ररूपणा प्रत्ययप्ररूपणागर्भामाह—

१ सर्वासामपि प्रकृतीनामुत्कृष्टां सञ्ज्ञिन कुर्वन्ति स्थितिम्॥

सव्वाण वि जिट्ठ ठिई, असुभा जं साऽइसकिलेसेण।
इयरा विसोहिओ पुण, मुत्तु नरअमरतिरियाउ ॥ ५२ ॥

'सर्वासामपि' शुभानामशुभानामपि कर्मप्रकृतीना 'ज्येष्ठा स्थिति' उत्कृष्टा स्थिति 'अशुभा' अप्रशस्ता, कुतो हेतो ? इत्याह—"ज साऽइसकिलेसेण" ति 'यद्' यस्मात् कारणात् 'सा' ज्येष्ठा स्थिति 'अतिसङ्क्लेशेन' अत्यन्ततीव्रकषायोदयेनोत्कृष्टस्थितिबन्धाध्यवसायस्थानकेन जन्तुभिर्बध्यत इति शेष । ननु कै स्थितिबन्धाध्यवसायस्थानैरियमुत्कृष्टा स्थितिर्निर्वर्त्यते ? इति चेद् उच्यते—इह ज्ञानावरणादिकर्मण सर्वजघन्याया अपि स्थितेर्निर्वर्तकानि यथोत्तर विशेषवृद्धानि असङ्ख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणानि स्थितिबन्धाध्यवसायस्थानानि भवन्ति। एतैश्च सर्वैरप्येकैव जघन्या स्थितिर्नानाजीवानाश्रित्य जन्यते, पृथगनेकशक्त्युपेतबहुपुरुषैर्वारकवारकेण निर्वर्त्यमानकटाद्येककार्यवत्। तत समयोत्तरा स्थितिं यानि निर्वर्तयन्ति तान्यपि यथोत्तर विशेषवृद्धानि असङ्ख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणान्यन्यानि स्थितिबन्धाध्यवसायस्थानानि भवन्ति, केवल पूर्वेभ्यो विशेषाधिकानि। ततो द्विसमयोत्तरा स्थितिं निर्वर्तयन्ति यानि तान्यनन्तरेभ्योऽपि विशेषाधिकानि, त्रिसमयाधिका तु ता यानि निर्वर्तयन्ति तान्यमीभ्योऽपि विशेषाधिकानि, तामेव चतु समयाधिका यानि निर्वर्तयन्ति तानि तेभ्योऽपि विशेषाधिकानि, एव तावन्नेय यावत् सर्वोत्कृष्टा स्थितिं यानि निर्वर्तयन्ति तान्यपि समयोनोत्कृष्टस्थितिजनकाध्यवसायस्थानेभ्योऽन्यानि विशेषाधिकानि असङ्ख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणानि यथोत्तर विशेषवृद्धानि स्थितिबन्धाध्यवसायस्थानानि भवन्ति। एतानि च स्थाप्यमानानि विषमचतुरस्र क्षेत्रमास्तृणन्ति । स्थापना— तत्र प्रथमपङ्क्तावप्यसङ्ख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणानि द्रष्टव्यानि, किन्त्वसत्कल्पनया चतु सङ्ख्यात्वेन दर्शितानि, द्वितीयादिपङ्क्तिषु तान्येव विशेषाधिकानीति पञ्चादित्वेन दर्शितानि। एताश्चैव पङ्क्तयो जघन्याया स्थितेरारभ्य यावदुत्कृष्टा स्थितिस्तावत्समया भवन्ति तावत्प्रमाणा असङ्ख्येया द्रष्टव्या, असत्कल्पनया च पञ्च दर्शिता । तत्रैतत् स्यात्—इहैकस्थितिजनकान्यप्यध्यवसायस्थानान्यसङ्ख्येयानि परस्पर विचित्राण्यभ्युपगम्यन्ते, तद्वैचित्र्याभ्युपगमे च स्थितेरपि वैचित्र्य प्राप्नोतीति, तदयुक्तम्, तानि ह्येकस्थितिजनकान्यपि सन्ति क्षेत्र-काला-ऽनुभाग-योगादिवैचित्र्याद् विचित्राण्युच्यन्ते, न स्थितिमाश्रित्य, तेषामेकस्थितिजनकाविशेषेण वैचित्र्यासिद्धेरित्यलमप्रस्तुतेन । प्रस्तुतमुच्यते—इह सर्वोत्कृष्टस्थितिजनकानि चरमपङ्क्तिनिदर्शितानि यानि स्थितिबन्धाध्यवसायस्थानानि तेषा मध्ये यच्चरममध्यवसायस्थान तदुत्कृष्टसक्लेश उच्यते, तेषामेवाधमीषदुच्यते, उभयान्तरालवर्तीनि तु मध्यमानि, ततश्चैतैरीषन्मध्यमोत्कृष्टै स्थितिबन्धाध्यवसायस्थानैरुत्कृष्टा स्थितिर्बध्यते । अथवा चरमस्थितिबन्धाध्यवसायस्थानमुत्कृष्टसक्लेश उच्यते, शेषाणि तु चरमपङ्क्तिनिदर्शितानि स्थितिबन्धाध्यवसायस्थानानि ईषन्मध्यमान्युच्यन्ते, तैश्चरमपङ्क्तिनिदर्शितै सर्वोत्कृष्टस्थितिजनकै सर्वैरपि स्थितिबन्धाध्यवसायस्थानैरुत्कृष्टा स्थितिर्जन्यत इति भाव । यदुक्त बृहच्छतके ज्येष्ठस्थितिबन्धप्रस्तावे—

उक्कोससकिलेसेण ईसिमह मज्झिमेणावि ॥ (गा० ६२)

---

१ उत्कृष्टसंक्लेशेन ईषदथ मध्यमेनापि ॥

ततश्चाय प्रस्तुतार्थ —सर्वासामपि प्रकृतीना ज्येष्ठा स्थितिरशुभा, यस्मात् साऽतिसङ्क्लेशेनात्यन्ततीव्रकपायोदयेन बध्यते । एतदुक्त भवति—सर्वासा शुभानामशुभाना च प्रकृतीना स्थितय सङ्क्लेशवृद्धौ वर्धन्ते तदपचये तु हीयन्त इत्यन्वय व्यतिरेकाभ्या सङ्क्लेशमेव स्थितयोऽनुवर्तन्ते इत्यशुभा, अशुभकारणनिष्पन्नत्वात्, अशुभवृक्षाशुभफलवत् । नन्वेव तर्हि "ठिइ अणुभाग कसायओ कुणइ" (शत० गा० ९९) इति वचनाद् अनुभागोऽपि कपायप्रत्यय एव, ततोऽयमप्यशुभकारणत्वाद् अशुभ एव प्राप्नोति, अथ च शुभप्रकृतीनामसौ शुभ एवेष्यत इति, नैवम्, अभिप्रायापरिज्ञानात्, यत सत्यपि हि कपायजन्यत्वे कपायवृद्धावनुभागोऽशुभप्रकृतीनामेव वर्धते शुभाना तु परिहीयत एव, कपायमन्दतया तु शुभप्रकृतीनामेवानुभागो वर्धतेऽशुभप्रकृतीना तु हीयत इति न कपायमनुवर्तते । स्थितयस्तु शुभानामशुभाना च प्रकृतीना कपायवृद्धौ नियमाद् वर्धन्ते तदपचये त्वपचीयन्त इत्येकान्तेन कपायान्वय-व्यतिरेकानुविधायित्वाद् अशुभा एवेति । यदि वा यथा यथा शुभप्रकृतीना स्थितिर्वर्द्धते तथा तथा शुभानुभागस्तत्सम्बन्धी हीयते, परिगालितरसेक्षुयष्टिकल्पानि शुभकर्माणि भवन्तीत्यर्थ, अशुभप्रकृतीना तु स्थितिवृद्धावशुभरसोऽपि तत्सम्बन्धी वर्धत एवेत्यतोऽपि कारणात् स्थितीनामेवाशुभत्वम्, तद्वृद्धे शुभानुभागक्षयहेतुत्वाद् अशुभानुभागवृद्धिहेतुत्वाच्चेति । ननु ज्येष्ठा स्थिति सङ्क्लेशेन बध्यते, जघन्या तु किंप्रत्यया ? इत्याह—"इयरा विसोहिओ पुण" त्ति 'इतरा' जघन्या पुन 'विशोधित' विशुद्ध्या कपायापचयरूपया बध्यते । इदमुक्त भवति—इह ये ये विवक्षितमूलोत्तरप्रकृतीना बन्धकास्तेषा मध्ये यो य सर्वोत्कृष्टविशुद्धियुक्त स तत्तद्विवक्षितकर्मस्थितिं जघन्या बध्नातीति भाव । किं सर्वप्रकृतीनामयमेव न्याय ? यदुतोत्कृष्टा स्थिति सङ्क्लेशेनैव बध्यते अशुभा च भवति, जघन्या पुनर्विशुद्ध्यैव ?, न, इत्याह—"मुत्तु नरअमरतिरियाउ" ति आयु शब्दस्य प्रत्येक सम्बन्धात् 'मुक्त्वा' त्यक्त्वा नरायुरमरायुस्तिर्यगायु । अयमर्थ —नरा-ऽमर-तिर्यगायुषा स्थितिं मुक्त्वा शेषस्थितीनामेवाऽशुभत्व द्रष्टव्यम्, एतत्स्थिति पुन शुभैव भवतीत्यर्थ, विशुद्धिलक्षणस्य तत्कारणस्य शुभत्वात् । मनुष्य-तिर्यगायुषोर्हि वृद्धिस्त्रिपल्योपमावसाना, देवायुषस्तु वृद्धिस्त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमावसानाऽपि शुभा, विशुद्धिलक्षणस्य तत्कारणस्य शुभत्वात्, विशुद्धितारतम्यादेव च भवति, अतो मनुष्यतिर्यग्-देवायु स्थिति शुभा, शुभकारणप्रभवत्वात्, शुभद्रव्यनिष्पन्नघृतपूर्णादिद्रव्यवदिति । अथवा प्रस्तुतायुष्कत्रयस्थितिवृद्धौ रसोऽपि वर्धते, स च शुभ, सुखजनकत्वाद् इत्यतोऽपि प्रस्तुतायुष्कस्थिते शुभत्वम्, तद्वृद्धे शुभरसवृद्धिहेतुत्वात् । किञ्च नरा-ऽमर-तिर्यगाऽऽयुर्लक्षण प्रकृतित्रय मुक्त्वा शेषप्रकृतीना प्रकृष्टसङ्क्लेशविशुद्धिभ्या स्थित्युपचया-ऽपचयौ द्रष्टव्यौ, प्रस्तुतायुस्त्रयस्य तु तद्बन्धकेषु सर्वोत्कृष्टविशुद्धिरुत्कृष्टस्थितिबन्ध करोति, सर्वजघन्यमिति विपरीत तद् द्रष्टव्यमिति ॥ ५२ ॥

सर्वप्रकृतीनामुत्कृष्टा स्थितिरुत्कृष्टसङ्क्लेशेन कपायरूपेण बध्यत इत्युक्तम्, न च केवलकपायेण स्थितिर्बध्यते, किं तर्हि ? योगसहचरितेन, अतस्त योग सर्वजीवेष्वल्पबहुत्वद्वारेण चिन्तयन्नाह—

१ स० १-२ त० °परीत द्र° ॥

सुहुमनिगोयाइखणऽप्पजोग बायरयविगलअमणमणा ।
अपज्ज लहु पढमदुगुरु, पज हस्सियरो असखगुणो ॥ ५३ ॥

इह योगो वीर्यं स्थाम इत्यादि पर्याया । तथा चाह—

जोगो विरिय थामो, उच्छाह परक्कमो तहा चिट्ठा ।
सत्ती सामत्थ चिय, जोगस्स हवति पज्जाया ॥ (पञ्चस० गा० ३९६)

स च योगस्त्रिधा—मनोयोगो वाग्योग काययोगश्चेति । उक्त च **कर्मप्रकृतौ**—

परिणामा ऽऽलबण-गहणसाहण तेण लद्धनामतिग ।
कज्जऽभासा ऽन्नुन्नप्पवेसविसमीकयपएस ॥ (गा० ४)

अस्या अक्षरगमनिका—परिणमन परिणाम , अन्तर्भूतणिगर्थाद् घञ्प्रत्यय , परिणामापादनमित्यर्थ , आलम्ब्यत इत्यालम्बन भावेऽनट्प्रत्यय , गृहीतिर्ग्रहणम् , तेषा साधन—साध्यतेऽनेनेति साधन-योगसज्ञ वीर्यं "करणाधारे" (सिद्ध० ५–३–१२९) इत्यनट्प्रत्यय । तथाहि—'तेन' वीर्यविशेषेण योगसज्ञितेनौदारिकादिशरीरप्रायोग्यान् पुद्गलान् प्रथमतो गृह्णाति, गृहीत्वा च प्राणा-ऽपानादिरूपतया परिणमयति, परिणमय्य च तन्निसर्गहेतुसामर्थ्यविशेषसिद्धये तानेव पुद्गलानवलम्बते, यथा मन्दशक्ति कश्चिन्नगरे परिभ्रमणाय यष्टिमवलम्बते, ततस्तदवष्टम्भतो जातसामर्थ्यविशेष सन् तान् प्राणा ऽपानादिपुद्गलान् विसृजतीति परिणामा ऽऽलम्बन-ग्रहण साधन वीर्यम् । तेन च वीर्येण योगसज्ञकेन मनोवाक्कायावष्टम्भतो जायमानेन "लद्धनामतिग" ति लब्ध नामत्रिक—मनोयोगो वाग्योग काययोग इति । तत्र मनसा करणभूतेन योगो मनोयोग , वाचा योगो वाग्योग , कायेन योग काययोग । स्यादेतत्—सर्वेषु जीवप्रदेशेषु तुल्यक्षायोपशमिक्यादिलब्धिभावेऽपि किमिति क्वचित् स्तोक क्वचित् प्रभूत क्वचित् स्तोकतरमित्येववैषम्येण वीर्यमुपलभ्यते[3] इत्यत आह—"कज्ज" इत्यादि । यदर्थं चेष्टते तत् कार्यं तस्याभ्याश —अभ्यशनमभ्याश "अशूट् व्याप्तौ" इत्यस्याभिपूर्वस्य घञन्तस्य प्रयोग , कार्याभ्याश —कार्यस्यासन्नता निकटीभवनमित्यर्थ , तथा जीवप्रदेशानामन्योऽन्य—परस्पर प्रवेश —शृङ्खलावयवानामिव परस्पर सम्बन्धविशेष , ताभ्या कृत्वा विषमीकृता —सुप्रभूता-ऽल्पा-ऽल्पतरसद्भावतो विसदृशीकृता प्रदेशा येन वीर्येण तत् कार्याभ्याशा-ऽन्योन्यप्रवेशविषमीकृतप्रदेशम् । तथाहि—येषामात्मप्रदेशाना हस्तादिगतानामुत्पाट्यमानघटादिलक्षणकार्यनैकट्य तेषा प्रभूततरा चेष्टा, दूरस्थानामसादिगताना स्वल्पा, दूरतरस्थाना तु पादादिगताना स्वल्पतरा, अनुभवसिद्ध चैतत्, अपि च लेष्ट्वादिना निर्घाते सति यद्यपि सर्वप्रदेशेषु युगपद् वेदनोपजायते तथापि येषामात्मप्रदेशानामभिघातकलोष्टादिद्रव्यनैकट्य तेषा तीव्रतरा वेदना, शेषाणा तु मन्दा मदन्तरा, तथेहापि जीवप्रदेशेषु परिस्पन्दात्मक वीर्यमुपजायमान कार्यद्रव्याभ्याशवशत केषुचित् प्रभूतमन्येषु मन्दमपरेषु मन्दतम

१ योगो वीर्य स्थाम उत्साह पराक्रमस्तथा चेष्टा । शक्ति सामर्थ्य चव योगस्य भवन्ति पर्याया ॥
२ कर्मप्रकृतिवृत्तौ तु—°ह्णाति गृहीत्वा चौदारिकादिरूपतया परिणमयति, तथा प्राणा ऽपान भाषा-मनोयोग्यान् पुद्गलान् प्रथमतो गृह्णाति गृ° इत्यवरूप पाठ ॥ ३ °क । तद्यथा—मनो° इति कर्मप्रकृतिवृत्तौ ॥
४ कर्मप्रकृतिवृत्तौ तु—°शा जीवप्रदेशा यने जीववी° इत्येवरूप पाठ ॥

भवति । एतच्चैव जीवप्रदेशाना परस्पर सम्बन्धविशेषे भवति नान्यथा, यथा श्रृङ्खलावयवानाम् । तथाहि—तेषा श्रृङ्खलावयवाना परस्पर सम्बन्धविशेषे सति एकस्मिन्नवयवे परिस्पन्दमानेऽपरेऽप्यवयवा परिस्पन्दन्ते, केवल केचित् स्तोकमपरे तु स्तोकतरमिति, सम्बन्धविशेषाभावे त्वेकस्मिंश्चलति नापरस्यावश्यम्भावि चलनम्, यथा गो-पुरुषयो । तस्मात् कार्यद्रव्याभ्यासवशतो जीवप्रदेशाना परस्पर सम्बन्धविशेषतश्च वीर्यं जीवप्रदेशेषु केषुचित् प्रभूतमन्येषु स्तोकमपरेषु तु स्तोकतरमित्येव वैषम्येणोपजायमान न विरुध्यत इत्यल विस्तरेण ॥

प्रकृत प्रस्तुम —तत्र सूक्ष्मनिगोदस्य—सूक्ष्मसाधारणस्य लब्ध्यपर्याप्तकस्य सर्वजघन्यवीर्यस्येति च सामर्थ्याद् द्रष्टव्यम्, तस्यैव सर्वजघन्ययोगस्य प्राप्यमाणत्वाद्, आदिक्षण —प्रथमोत्पत्तिसमय सूक्ष्मनिगोदादिक्षणस्तत्र, सप्तम्येकवचनलोपश्च प्राकृतत्वात् । किम्? इत्याह—"अप्पजोग" त्ति अल्प—सर्वस्तोको योग —वीर्यं व्यापार इति यावत् । ततो बादरस्य "विगल" त्ति विकलत्रिकस्य "अमण" त्ति असंज्ञिन "मण" त्ति संज्ञिन "अपज्ज" त्ति प्रत्येक सम्बन्धात् सूक्ष्मादीना सप्तानामप्यपर्याप्ताना "लहु" त्ति जघन्यो योगोऽसङ्ख्येयगुणो वाच्य, आदिक्षण इत्यपि सर्वत्र वाच्यम्, तत प्रथमद्विकस्य—अपर्याप्तसूक्ष्मनिगोद-बादरलक्षणस्य 'गुरु' उत्कृष्टो योगोऽसङ्ख्येयगुणो वाच्य । तत प्रथमद्विकस्य "पज्ज हस्सियरे असखगुणो" त्ति पर्याप्तस्य ह्रस्व —जघन्य इतर —उत्कृष्टयोगो यथाक्रममसङ्ख्येयगुणो वाच्य इति गाथाक्षरार्थ । भावार्थस्त्वयम्—सूक्ष्मनिगोदस्य लब्ध्यपर्याप्तकस्य प्रथमसमये वर्तमानस्य जघन्यो योग सर्वस्तोक १ ततो बादरैकेन्द्रियस्य लब्ध्यपर्याप्तकस्य प्रथमसमये वर्तमानस्य जघन्यो योगोऽसङ्ख्येयगुण २ ततो द्वीन्द्रियस्य लब्ध्यपर्याप्तकस्य प्रथमसमये वर्तमानस्य जघन्यो योगोऽसङ्ख्येयगुण ३ ततस्त्रीन्द्रियस्य लब्ध्यपर्याप्तकस्य प्रथमसमये वर्तमानस्य जघन्यो योगोऽसङ्ख्येयगुण ४ ततश्चतुरिन्द्रियस्य लब्ध्यपर्याप्तकस्य प्रथमसमये वर्तमानस्य जघन्यो योगोऽसङ्ख्येयगुण ५ ततोऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रियस्य लब्ध्यपर्याप्तकस्य प्रथमसमये वर्तमानस्य जघन्यो योगोऽसङ्ख्येयगुण ६ तत संज्ञिपञ्चेन्द्रियस्य लब्ध्यपर्याप्तकस्य प्रथमसमये वर्तमानस्य जघन्यो योगोऽसङ्ख्येयगुण ७ तत सूक्ष्मनिगोदस्य लब्ध्यपर्याप्तकस्योत्कृष्टो योगोऽसङ्ख्येयगुण ८ ततो बादरैकेन्द्रियस्य लब्ध्यपर्याप्तकस्योत्कृष्टो योगोऽसङ्ख्येयगुण ९ तत सूक्ष्मनिगोदस्य पर्याप्तकस्य जघन्यो योगोऽसङ्ख्येयगुण १० ततो बादरैकेन्द्रियस्य पर्याप्तकस्य जघन्यो योगोऽसङ्ख्येयगुण ११ तत सूक्ष्मनिगोदस्य पर्याप्तकस्योत्कृष्टो योगोऽसङ्ख्येयगुण १२ ततो बादरैकेन्द्रियस्य पर्याप्तकस्योत्कृष्टो योगोऽसङ्ख्येयगुण १३ ॥ ५३ ॥

असमत्ततसुक्कोसो, पज्ज जहन्नियरु एव ठिइठाणा ।
अपजेयर सखगुणा, परमपजबिए असखगुणा ॥ ५४ ॥

असमाप्ता —अपर्याप्तास्ते च ते त्रसाश्च—द्वीन्द्रियादयोऽसमाप्तत्रसा —अपर्याप्तद्वि-त्रि-चतुरिन्द्रिया-ऽसंज्ञि-संज्ञिपञ्चेन्द्रियास्तेषामुत्कृष्टोऽसमाप्तत्रसोत्कृष्टोऽसङ्ख्येयगुणो वाच्य । अयमर्थ —पर्याप्तबादरैकेन्द्रियोत्कृष्टयोगाद् द्वीन्द्रियस्य लब्ध्यपर्याप्तकस्योत्कृष्टो योगोऽसङ्ख्येयगुण १४

१ °सम्बन्धविशेषे सति भव° इति कर्मप्रकृतिवृत्तौ ॥

ततस्त्रीन्द्रियस्य लब्ध्यपर्याप्तकस्योत्कृष्टो योगोऽसङ्ख्येयगुण १५ ततश्चतुरिन्द्रियस्य लब्ध्यपर्याप्तकस्योत्कृष्टो योगोऽसङ्ख्येयगुण १६ ततोऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रियस्य लब्ध्यपर्याप्तकस्योत्कृष्टो योगोऽसङ्ख्येयगुण १७ तत संज्ञिपञ्चेन्द्रियस्य लब्ध्यपर्याप्तकस्योत्कृष्टो योगोऽसङ्ख्येयगुण १८। "पज्जजहन्नियरु" त्ति ततस्त्रसाणा पर्याप्ताना जघन्यो योगोऽसङ्ख्येयगुणो वाच्य, ततोऽपि "इयरु" त्ति त्रसाना पर्याप्तानामुत्कृष्टो योगोऽसङ्ख्येयगुणो वाच्य इत्यक्षरार्थ। भावार्थस्त्वयम्—तत संज्ञिपञ्चेन्द्रियलब्ध्यपर्याप्तकोत्कृष्टयोगात् पर्याप्तद्वीन्द्रियस्य जघन्यो योगोऽसङ्ख्येयगुण १९ ततस्त्रीन्द्रियस्य पर्याप्तकस्य जघन्यो योगोऽसङ्ख्येयगुण २० ततश्चतुरिन्द्रियस्य पर्याप्तकस्य जघन्यो योगोऽसङ्ख्येयगुण २१ ततोऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रियस्य पर्याप्तकस्य जघन्यो योगोऽसङ्ख्येयगुण २२ तत संज्ञिपञ्चेन्द्रियस्य पर्याप्तकस्य जघन्यो योगोऽसङ्ख्येयगुण २३ तत पर्याप्तद्वीन्द्रियस्योत्कृष्टो योगोऽसङ्ख्येयगुण २४ तत पर्याप्तत्रीन्द्रियस्योत्कृष्टो योगोऽसङ्ख्येयगुण २५ तत पर्याप्तचतुरिन्द्रियस्योत्कृष्टो योगोऽसङ्ख्येयगुण २६ तत पर्याप्तासंज्ञिपञ्चेन्द्रियस्योत्कृष्टो योगोऽसङ्ख्येयगुण २७ तत पर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रियस्योत्कृष्टो योगोऽसङ्ख्येयगुण २८ तत पर्याप्तसंज्ञ्युत्कृष्टयोगाद् अनुत्तरोपपातिनामुत्कृष्टो योगोऽसङ्ख्येयगुण २९ ततो ग्रैवेयकदेवानामुत्कृष्टो योगोऽसङ्ख्येयगुण ३० ततो भोगभूमिजाना तिर्यङ्-मनुष्याणामुत्कृष्टो योगोऽसङ्ख्येयगुण ३१ ततोऽप्याहारकशरीरिणामुत्कृष्टो योगोऽसङ्ख्येयगुण ३२ तत शेषदेव-नारक तिर्यङ्-मनुष्याणा यथोत्तरमुत्कृष्टयोगोऽसङ्ख्येयगुण ३३। अथ सुखावबोधाय अल्पबहुत्वपदाना यन्त्रकमुपदर्श्यते, तच्चेदम्—

सूक्ष्मनि० लब्ध्य प० ज० योग सर्वस्तोक १	बाद० एकें० लब्ध्यप० ज० यो गोऽसङ्ख्येयगुण २	द्वीन्द्रि० लब्ध्य प० ज० योगोऽसङ्ख्येयगुण ३	त्रीन्द्रि० लब्ध्यप ज० योगोऽस ङ्ख्येयगुण ४	चतुरिन्द्रि० ल ब्ध्यप० ज० योगोऽसङ्ख्ये यगुण ५	असंज्ञिपञ्चें० लब्ध्यप० ज० योगोऽसङ्ख्येय गुण ६	संज्ञिपञ्चें० ल ब्ध्यप० ज० योगोऽसङ्ख्येय गुण ७
सूक्ष्मनि० लब्ध्य प० उत्कृष्टयोगो ऽसङ्ख्येयगुण ८	बाद० एकें० लब्ध्यप० उ० योगो ऽसङ्ख्येयगुण ९	सूक्ष्मनि० पर्या० ज० योगोऽस ङ्ख्येगुण १०	बाद० एकें० पर्या० ज० योगोऽस ङ्ख्येयगुण ११	सूक्ष्मनि० पर्या० उत्कृ० योगोऽ सङ्ख्येयगुण १२	बाद० एकें० पर्या० उत्कृ० योगोऽसङ्ख्येय गुण १३	द्वीन्द्रि० लब्ध्य प० उत्कृ० योगोऽसङ्ख्येय गुण १४

त्रीन्द्रि० ल ब्ध्यप० उत्कृ योगोऽसङ्ख्ये यगुण १५	चतुरिं० ल ब्ध्यप० उ० योगोऽसङ्ख्ये यगुण १६	असंज्ञिपञ्चें लब्ध्यप० उ० योगोऽसङ्ख्ये यगुण १७	संज्ञिपञ्च० ल ब्ध्यप० उ० योगोऽसङ्ख्ये यगुण १८	पर्या० द्वी न्द्रि० ज० योगोऽसङ्ख्ये यगुण १९	त्रीन्द्रि० पर्या० ज० योगोऽसङ्ख्ये यगुण २०	चतुरि० पर्या० ज० योगोऽस ङ्ख्येयगुण २१	असंज्ञि पञ्चें० पर्या० ज० योगो- ऽसङ्ख्येय गुण २२	संज्ञिपञ्चें० पर्या० ज० योगोऽस ङ्ख्येयगुण २३
पर्या० द्वी न्द्रि० उ० योगोऽस ङ्ख्येयगुण २४	पर्या० त्री न्द्रि० उ योगोऽस ङ्ख्येयगुण २५	पर्या० चतु रिं० उ० यो गोऽसङ्ख्येय गुण २६	पर्याप्तासंज्ञि पञ्चें० उत्कृ० योगोऽसङ्ख्ये यगुण २७	पर्याप्तसंज्ञि पञ्चें० उत्कृ० योगोऽसङ्ख्ये यगुण २८	अनुत्तरोप० उत्कृ० योगो ऽसङ्ख्येयगुण २९	ग्रैवेयक० उत्कृ० यो गोऽसङ्ख्ये यगुण ३०	भोगभू० ति र्य० उ० यो गोऽसङ्ख्ये यगुण ३१	आहा० शरी० उत्कृ० यो गोऽसङ्ख्ये यगुण ३२

गुणकारश्चात्रापि सूक्ष्मक्षेत्रपल्योपमासङ्ख्येयभागरूप प्रत्येक आद्य। तदत्र जघन्ययोगी जघन्यकर्मप्रदेशग्रहण जघन्यस्थितिं च विदधाति, योगवृद्धौ च तद्वृद्धिरपीति स्थितमिति।

"एव ठिइठाणा" इत्यादि । 'एव' मकारस्य लोप प्राकृतत्वात् पूर्वोक्तयोगप्ररूपणान्यायेन सूक्ष्मैकेन्द्रियादिजीवक्रमेणैव स्थितीना स्थानानि स्थितिस्थानानि वाच्यानीति शेष । तत्र जघन्यस्थितेरारभ्य एकैकसमयवृद्धया सर्वोत्कृष्टनिजस्थितिपर्यवसाना ये स्थितिभेदास्ते स्थितिस्थानान्युच्यन्ते । कथ पुनरेतानि वाच्यानि ? इत्याह—"अपजेयर सखगुण" त्ति प्रथममपर्याप्तकान् सूक्ष्मबादरैकेन्द्रियादीनुद्दिश्य वाच्यानि, तत "इयर" त्ति पर्याप्तकान् सूक्ष्मबादरैकेन्द्रियादीनुद्दिश्य वाच्यानीति । कियद्गुणानि पुनरेतानि ? इत्याह—सङ्ख्यगुणानि, तत्र सङ्ख्यान सङ्ख्या तामर्ह(ती)ति सङ्ख्य, दण्डादिभ्यो य इति यप्रत्यय, तत सङ्ख्य —सङ्ख्येय सङ्ख्यात इत्यर्थ गुण —गुणकारो येषा तानि सङ्ख्यगुणानि, सङ्ख्यातगुणितानीत्यर्थ । किं सर्वपदेषु सङ्ख्यातगुणान्येव ? आहोश्विदस्ति कस्मिंश्चित् पदे विशेष ? इत्याह—"परमपजबिए असखगुण" त्ति 'पर' केवलम् 'अपर्याप्तद्वीन्द्रिये' अपर्याप्तद्वीन्द्रियपदे तानि स्थितिस्थानानि 'असङ्ख्यगुणानि' असङ्ख्यातगुणितानि वाच्यानि। एतदुक्त भवति—सूक्ष्मैकेन्द्रियस्यापर्याप्तकस्य स्थितिस्थानानि स्तोकानि १ ततो बादरैकेन्द्रियस्यापर्याप्तकस्य स्थितिस्थानानि सङ्ख्यातगुणानि २ तत सूक्ष्मैकेन्द्रियस्य पर्याप्तकस्य स्थितिस्थानानि सङ्ख्यातगुणानि ३ ततो बादरैकेन्द्रियस्य पर्याप्तकस्य स्थितिस्थानानि सङ्ख्यातगुणानि, एतानि च पल्योपमासङ्ख्येयभागसमयतुल्यानि स्थितिस्थानानि भवन्ति, यत एकेन्द्रियाणा जघन्योत्कृष्टस्थित्योरन्तरालमेतावन्मात्रमेवेति ४ ततोऽपर्याप्तस्य द्वीन्द्रियस्य स्थितिस्थानान्यसङ्ख्यातगुणितानि पल्योपमसङ्ख्येयभागमात्राणीति कृत्वा ५ ततस्तस्यैव द्वीन्द्रियस्य पर्याप्तस्य स्थितिस्थानानि सङ्ख्यातगुणितानि ६ ततस्त्रीन्द्रियस्यापर्याप्तस्य स्थितिस्थानानि सङ्ख्यातगुणितानि ७ ततस्त्रीन्द्रियस्य पर्याप्तस्य स्थितिस्थानानि सङ्ख्यातगुणितानि ८ ततश्चतुरिन्द्रियस्यापर्याप्तस्य स्थितिस्थानानि सङ्ख्यातगुणितानि ९ तत पर्याप्तचतुरिन्द्रियस्य स्थितिस्थानानि सङ्ख्यातगुणितानि १० ततोऽसज्ञिपञ्चेन्द्रियस्यापर्याप्तस्य स्थितिस्थानानि सङ्ख्यातगुणितानि ११ ततोऽसज्ञिपञ्चेन्द्रियस्य पर्याप्तस्य स्थितिस्थानानि सङ्ख्यातगुणानि १२ तत सज्ञिपञ्चेन्द्रियस्यापर्याप्तस्य स्थितिस्थानानि सङ्ख्यातगुणितानि १३ तत सज्ञिपञ्चेन्द्रियस्य पर्याप्तस्य स्थितिस्थानानि सङ्ख्यातगुणितानि भवन्ति १४ ॥ ५४ ॥ स्थापना—

सूक्ष्मैकें० अप० स्थितिस्थानानि स्तोकानि १	सूक्ष्मैकें० पर्या० स्थि० स्था० सख्यातगुणानि ३	अप० द्वीन्द्रि० स्थिति० असख्यातगुणानि ५	त्रीन्द्रि० अप० स्थिति० सख्यातगुणानि ७	चतुरिं० अप० स्थिति०सख्यातगुणानि ९	असज्ञिपञ्चें० अप० स्थिति० सख्यातगुणानि ११	सज्ञिपञ्चें० अप० स्थि० सख्यातगुणानि १३
बादरैकें० अप० स्थि० सख्यातगुणानि २	बादरैकें० पर्या० स्थि० सख्यातगुणानि० ४	द्वीन्द्रि० पर्या० स्थिति० सख्यातगुणानि ६	त्रीन्द्रि० पर्या० स्थिति० सख्यातगुणानि ८	पर्या० चतुरिं० स्थिति०सख्यातगुणानि १०	असज्ञिपञ्चें० पर्या० स्थि० सख्यातगुणानि १२	सज्ञिपञ्चें० पर्या० स्थि० सख्यातगुणानि १४

तदेव निरूपितानि योगप्रसङ्गेन स्थितिस्थानानि । सम्प्रति योगप्रक्रम एवापर्याप्तावस्थाया वर्तमाना जन्तव प्रतिसमय यावत्या योगवृद्धया वर्धन्ते तन्निरूपणार्थमाह—

पइखणमसंखगुणविरिय अपज पइठिइमसंखलोगसमा ।
अज्झवसाया अहिया, सत्तसु आउसु असंखगुणा ॥ ५५ ॥

'अपज' त्ति 'अपर्याप्ता' असमर्थितचतुर्थ्यादिपर्याप्तयो जीवा भवन्ति । किंभूता ? इत्याह— 'प्रतिक्षणं' प्रतिसमयं 'असङ्ख्यगुणवीर्याः' असङ्ख्यगुणयोगाः । यथोक्तम्—

सव्वो वि अपज्जत्तो पइखणं असंखगुणाए जोगवुड्ढीए वड्ढइ । ( )

अपर्याप्तानां योगवृद्धिमभिधाय साम्प्रतं प्राग्दर्शितानि स्थितिस्थानानि यैरध्यवसायैर्जन्यन्ते, ते एकैकस्मिन् स्थितिबन्धे जनकतया यावन्तो भवन्ति तदेतद् निरूपयन्नाह—"पइठिइमसंखलोगसमा" इत्यादि । स्थितिं स्थितिं प्रति प्रतिस्थिति, वीप्सायां "योग्यतावीप्सार्थानतिवृत्तिसादृश्ये" (सिद्ध॰ ३-१-४०) इत्यव्ययीभावः । ततः स्थितिबन्धे स्थितिबन्धेऽध्यवसायास्तीव्र-तीव्रतर-तीव्रतम-मन्द-मन्दतर-मन्दतमकषायोदयविशेषा भवन्ति । कियन्तो भवन्ति ? इत्याह—'असङ्ख्यलोकसमाः' असङ्ख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणाः । ननु किमेतेऽध्यवसायाः सर्वप्रकृतीनां सर्वस्थितिबन्धेष्वपि तुल्याः ? आहोश्विदस्ति कश्चिद् प्रतिनियतो विभागः ? इत्याह—"अहिया सत्तसु" त्ति 'अधिकाः' विशेषाधिकाः 'सप्तसु' आयुर्वर्जसप्तकर्मसु । इयमत्र भावना—ज्ञानावरणस्य जघन्यस्थितावसङ्ख्येयलोकाकाशप्रदेशतुल्याः स्थितिबन्धाध्यवसायाः सर्वस्तोकाः, ततो ज्ञानावरणस्यैव द्वितीयस्थितौ विशेषाधिकाः, ततो ज्ञानावरणस्य तृतीयस्थितौ विशेषाधिकाः, ततो ज्ञानावरणस्य चतुर्थस्थितौ विशेषाधिकाः, एवं यावदुत्कृष्टस्थितौ विशेषाधिकाः । एवमायुष्कवर्जानां दर्शनावरण-वेदनीय-मोहनीय-नाम-गोत्रा-ऽन्तरायकर्मणामपि द्वितीयादिस्थितिबन्धादारभ्य विशेषाधिकत्वमध्यवसायस्थानानां तावद् नेयं यावदुत्कृष्टः स्वकीयस्वकीयः स्थितिबन्ध इति । तर्ह्यायुष्केषु स्थितिबन्धे स्थितिबन्धेऽध्यवसायाः कियद्वृद्धया भवन्ति ? इत्याह—"आउसु असंखगुणा" त्ति आयुःषु चतुर्ष्वप्यसङ्ख्यातगुणिता अध्यवसाया भवन्ति । तद्यथा—आयुष्काणां चतुर्णामपि जघन्यस्थितावसङ्ख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणा अध्यवसायाः सर्वस्तोकाः, तेषामेव द्वितीयस्थितौ अध्यवसाया असङ्ख्यातगुणाः, तेषामेव तृतीयस्थितावध्यवसाया असङ्ख्यातगुणाः, तेषामेव चतुर्थस्थितावध्यवसाया असङ्ख्यातगुणाः, एवमसङ्ख्यातगुणत्वं तावद् नेयं यावदायुषश्चरमस्थितिरिति ॥ ५५ ॥

प्ररूपिताः स्थितिबन्धमाश्रित्य सर्वकर्मणामध्यवसायाः । सम्प्रति यासां प्रकृतीनामेकचत्वारिंशत्सङ्ख्यानां पञ्चेन्द्रियेषु यावन्तं कालमुत्कृष्टतो बन्धो न भवति तास्तत्कालमानप्रदर्शनद्वारेण गाथाद्वयेन प्रतिपादयन्नाह—

तिरिनरयतिजोयाणं, नरभवजुय सचउपल्ल तेसट्ठं ।
थावरचउइगविगलायवेसु पणसीइसयमयरा ॥ ५६ ॥

तिर्यञ्चश्च नरकाश्च तेषां "ति" त्ति त्रिकं तच्च "जोय" त्ति उद्योतं च तिर्यङ्-नरकत्रिक-उद्योतानि तेषां तिर्यङ्-नरकत्रिक-उद्योतानाम् । इह त्रिकशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते, ततस्तिर्यक्त्रिक—तिर्यग्गति तिर्यगानुपूर्वी तिर्यगायुर्लक्षणम्, नरकत्रिकं—नरकगति-नरकानुपूर्वी-

1 सर्वोऽपि अपर्याप्तः प्रतिक्षणमसङ्ख्यगुणया योगवृद्ध्या वर्धते ॥

नरकायु स्वल्पम्, उद्योतम् इत्येतासा सप्तप्रकृतीनाम् । किम् ? इत्याह—"नरभवजुय सचउपल्ल तेसट्ठ" ति नराणा–मनुष्याणा भवा –जन्मानि नरभवास्तैर्युत–सहित नरभवयुत, विभक्तिलोपश्च प्राकृतत्वात्, सह चतुर्भि पल्योपमैर्वर्तत इति सचतु पल्य "तेसट्ठ" ति त्रिषष्ठ्यधिक शततमतराणाम् कोऽर्थ ? नरभवयुत चतु पल्योपमाधिक त्रिषष्ठ्यधिक सागरोपमशत पञ्चेन्द्रियेषु परमाऽबन्धस्थितिरासा प्रस्तुतसप्तप्रकृतीना भवतीति द्वितीयगाथोत्तरार्धेन सम्बन्ध कार्य । अयमभिप्राय —यदा किल कश्चिद् जन्तुस्त्रिपल्योपमायुष्केषु देवकुर्वादिषु युगलधार्मिकेषु मनुष्यत्वेनोत्पन्नस्तत्र चैता सप्त प्रकृतीर्न बध्नाति, एता हि नारक-तिर्यक्प्रायोग्या एव बध्यन्ते, युगलधार्मिकाश्च देवप्रायोग्या एव बध्नन्ति, तत पर्यन्तान्तर्मुहूर्ते सम्यक्त्वमासाद्य पल्योपमस्थितिषु देवेषूत्पन्नस्तत्रापि सम्यक्त्वप्रत्ययादेता न बद्धवान्, ततोऽपरिपतितसम्यक्त्वो मनुष्येषूत्पद्य दीक्षामनुपाल्य नवमग्रैवेयके त्रिदश एकत्रिंशत्सागरोपमस्थितिक समुत्पन्न, ततोऽन्तर्मुहूर्तोर्ध्वं मिथ्यात्व जगाम, अग्रे षट्षष्टिद्वय सम्यक्त्वकालो वक्तव्य, स चात्र सम्यक्त्वावस्थाने सति न सङ्गच्छत इति मिथ्यात्वगमनमभिधीयते, तत्र च वर्तमानो मिथ्यादृष्टिरपि भवप्रत्ययादेवेता प्रकृतीर्न बध्नाति, तदनु पर्यन्तान्तर्मुहूर्ते सम्यग्दर्शनमवाप्याप्रतिपतितसम्यक्त्वो मनुष्येषूत्पद्य सर्वविरतिं परिपाल्य तथैव गृहीतसम्यक्त्वो वारद्वय विजयादिगमनेन षट्षष्टिसागरोपमाणि पूरयित्वा मनुष्येष्वन्तर्मुहूर्ते सम्यग्मिथ्यात्वमनुभूय तदन्तरित द्वितीयषट्षष्टिप्रमाण सम्यग्दर्शनकाल वारत्रयमच्युतगमनेन पूरयति । इह च सम्यक्त्वात् प्रच्युतस्य मिश्रगमन यद् उच्यते तत् **कार्मग्रन्थिका**भिप्रायेण सम्मतमेवेति, **सैद्धान्तिका**ना तु न सम्मतमिति । उक्त च—

मिच्छत्ता सकती, अविरुद्धा होइ सम्ममीसेसु ।
मीसाओ वा दोसु, सम्मा मिच्छ न उण मीसं ॥ (बृहत्क० भा० गा० ११४) इति ।

सर्वत्र च सम्यग्दर्शन मिश्रयोर्वर्तमान एता प्रकृतीर्न बध्नातीत्यनेन क्रमेणासा तिर्यक्त्रिक-नरकत्रिक-उद्योतलक्षणसप्तप्रकृतीना नरभवयुत चतु पल्योपमाधिक त्रिषष्ठ्यधिकसागरोपमशत परमा–प्रकृष्टा पञ्चेन्द्रियेष्वबन्धस्थिति –अबन्धकाल इति । उक्त च—

पलियाइ तिन्नि भोगावणिम्मि भवपच्चय पलियमेग ।
सोहम्मे सम्मत्तेण नरभवे सव्वविरईण ॥
मिच्छो भवपच्चयओ, गेविज्जे सागराइँ इगतीसं ।
अंतमुहुत्तूणाइ, सम्मत्त तम्मि लहिऊण ॥
विरयनरभवतरिओ, अणुत्तरसुरो उ अयर छावट्ठी ।
मिस्स मुहुत्तमेग, फासिय मणुओ पुणो विरओ ॥

१ मिथ्यात्वात् संक्रान्तिरविरुद्धा भवति सम्यक्त्वमिश्रयो । मिश्राद् द्वयो सम्यक्त्वाद् मिथ्यात्व न पुन मिश्रम् ॥ २ पल्यानि त्रीणि भोगावनौ भवप्रत्यय पल्यमेकम् । सौधर्मे सम्यक्त्वेन नरभव सर्वविरत्या ॥ मिथ्यात्वी भवप्रत्ययाद् ग्रैवेयके सागराणि एकत्रिंशत् । अन्तर्मुहूर्तोनानि सम्यक्त्व तस्मिँल्लब्ध्वा ॥ विरतिनरभवान्तरितोऽनुत्तरसुरस्त्वतराणि षट्षष्टिम् । मिश्र मुहूर्तमेक स्पृष्ट्वा मनुष्य पुनर्विरत ॥ षट्षष्टि वारत्रय अच्युते विरतिनरभवान्तरित । तिर्यग्नरकत्रिकोद्योताना एष कालोऽबन्ध ॥

छावट्ठी अयराण, अच्चुयए विरयनरभवतरिओ ।
तिरिनरयतिगुज्जोयाण एस कालो अबघम्मि ॥ ( )

स्थावरचतुष्क-स्थावर-सूक्ष्मा-ऽपर्याप्त-साधारणलक्षणम्, "इग" त्ति एकेन्द्रियजाति, विकला -द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रियजातय, आतपम् एतेषा द्वन्द्व, तेषु, एतासु नवसु प्रकृतिषु पञ्चाशीत्यधिक शत पञ्चाशीतिशतम् "अतर" त्ति न तीर्यन्ते बहुकालतरणीयत्वाद् 'अतराणि' सागरोपमाणि, षष्ठ्यर्थे चात्र प्रथमा, यत प्राकृते हि विभक्तीना व्यत्ययोऽपि भवति, यदाह **पाणिनिः स्वप्राकृतलक्षणे**—"व्यत्ययोऽप्यासाम्" इति, तेषामतराणा "नरभवयुत सचतु पल्यम्" इत्यत्रापि सम्बन्धनीयम्, ततश्चतु पल्योपमाधिक पञ्चाशीत्यधिक सागरोपमशत नरभवयुतमासामबन्धस्थिति परमा। अयमर्थ —यथा किल कश्चिद् जन्तुस्तमो ऽभिधानाया षष्ठपृथिव्या द्वाविंशतिसागरोपमाणि भवप्रत्ययादेता प्रकृतीरबद्ध्वा पर्यन्तान्तर्मुहूर्ते सम्यक्त्वमासाद्य मनुष्येषूत्पद्य देशविरतिमासाद्य चतु पल्योपमस्थितिषु देवेषु देवत्वमनुभूयाऽप्रतिपतितसम्यक्त्व एव मनुष्येषूत्पद्य सम्पूर्ण सयम परिपाल्य नवमग्रैवेयक एकत्रिंशत्सागरोपमस्थितिक सुरसद्मजन्मा समजनि, तत्र चान्तर्मुहूर्तोर्ध्वं मिथ्यात्व जगाम, पुनरेव तत्र च वर्तमानो मिथ्यादृष्टिरपि भवप्रत्ययादेवैता प्रकृतीर्न बध्नाति, तदनु पर्यन्तान्तर्मुहूर्ते सम्यक्त्वमवाप्याऽप्रतिपतितसम्यक्त्वो मनुष्येषूत्पद्य सर्वविरतिमनुपाल्य तथैव गृहीतसम्यक्त्वो वारद्वय विजयादि गमनेन षट्षष्टिसागरोपमाणि सम्यक्त्वकाल पूरयित्वा मनुष्येष्वन्तर्मुहूर्त सम्यग्मिथ्यात्वमनुभूय तदन्तरित द्वितीय षट्षष्टिप्रमाण सम्यक्त्वकाल वारत्रयमच्युतगमनेन पूरयति। तदेव नरजन्म सहित चतु पल्योपमाधिक पञ्चाशीत्यधिक सागरोपमशतमासा स्थावरचतुष्टय-एकेन्द्रिय विकलेन्द्रियजाति आतपलक्षणाना नवाना प्रकृतीना पञ्चेन्द्रियेष्वबन्धस्थिति परमा भवति।

तथा चावाचि—

छट्ठीए नेरइओ, भवपच्चयओ उ अयर बावीसं ।
देसविरओ उ भविउ, पलियचउक्क पढमकप्प ॥
पुव्वुत्तकालजोगो, पचासीय सय सचउपल्ल ।
आयवथावरचउविगलतियगएगिन्दिय अबघो ( ) ॥ इति ॥ ५६ ॥

अपढमसघयणागिइखगईअणमिच्छदुभगथीणतिगं ।
निय नपु इत्थि दुतीस, पर्णिदिसु अबधठिइ परमा ॥ ५७ ॥

अप्रथमशब्दस्य प्रत्येक सम्बन्धाद् अप्रथमसहननानि—ऋषभनाराच-नाराचा ऽर्धनाराच कीलिका सेवार्तसहननलक्षणानि पञ्च, अप्रथमा आकृतय -सस्थानानि न्यग्रोधपरिमण्डल-सादि-वामन-कुब्ज-हुण्डस्वरूपाणि, अप्रथमखगति —अप्रशस्तविहायोगति, "अण" त्ति अनन्तानुबन्धिन -क्रोध-मान-माया-लोभलक्षणाश्चत्वार, मिथ्यात्वम्, त्रिकशब्दस्य प्रत्येक सम्बन्धाद् दुर्भगत्रिक—दुर्भग-दु स्वरा ऽनादेयस्वभावम्, स्त्यानर्द्धित्रिक—निद्रानिद्रा प्रचलाप्रचला-स्त्यानर्द्धि

१ षष्ठ्यां नैरयिको भवप्रत्ययात् त्वतराणि द्वाविंशति । देशविरतस्तु भूत्वा पल्यचतुष्क प्रथमकल्पे ॥ पूर्वोक्तकालयोग पञ्चाशीत शत सचतुष्पल्यम् । आतपस्थावरचतुर्विकलत्रिकैकेन्द्रियाणामबन्ध ॥

रूपम्, "निय" त्ति नीचैर्गोत्र "नपु" त्ति नपुंसकवेद स्त्रीवेद इति, एतासा पञ्चविंशतिप्रकृतीना नरभवसहित "दुतीसं" ति द्वात्रिंश शतमतराणा भवतीति शेष । एतदुक्त भवति—कश्चिद् जन्तु. सर्वविरतिमनुपाल्य गृहीतसम्यक्त्वो वारद्वय विजयादिगमनेन षट्षष्टिसागरोपमाणि सम्यग्दर्शनकाल प्रपूर्य मनुष्येष्वन्तर्मुहूर्तं सम्यग्मिथ्यात्वमनुभूय तदन्तरित द्वितीय षट्षष्टिप्रमाण सम्यग्दर्शनकाल वारत्रयमच्युतगमनेन पूरयति । तदेवमेतासा पञ्चविंशतिप्रकृतीना सम्यक्त्वादियुक्तस्य विजयादिगमनक्रमेण द्वात्रिंश शत ज्ञेयम्। तदुक्तम्—

पणवीसाइ अबन्धो, उक्कोसो होइ सम्मगुणजुत्ते ।
बत्तीस सयमयराण हुंति अहिया मणुस्सभवा ॥ ( )

एवमेकचत्वारिंशत प्रकृतीना विचित्रोऽबन्धकाल प्रतिपादित । सम्प्रति स एव यथाभूतो येषु जीवेषु भवतीत्येतदाह—"पणिदिसु" इत्यादि । 'पञ्चेन्द्रियेषु' प्रदर्शितेष्वेव नर-नारकादिषु 'अबन्धस्थिति' अबन्धनाद्धा 'परमा' प्रकृष्टोत्कृष्टा, न तु सर्वजीवेषु । उक्त च—

एयासिं पयडीण, अबन्धकालो उ होइ सन्निस्स ।
उक्कोसो विन्नेओ, न उ सव्वजियाण एस विही ( ) ॥ इति ॥ ५७ ॥

साम्प्रत पूर्वोदितद्वात्रिंशदधिक-त्रिपष्ट्यधिक-पञ्चाशीत्यधिकाऽतरशतसङ्ख्यापूरणोपायमाह—

विजयाइसु गेविज्जे, तमाइ दहिसय दुतीस तेसट्ठं ।
पणसीइ सययबंधो, पल्लतिगं सुरविउव्विदुगे ॥ ५८ ॥

"दहिसय" त्ति उकारलोपाद् उदधिशत-सागरोपमशतम्, तत प्रत्येकमुदधिशतशब्दस्य सम्बन्ध कार्य । ततश्चायमर्थ —विजयादिषु गतस्य जीवस्येति शेष, द्वात्रिंशमुदधिशत भवति । तथा ग्रैवेयके विजयादिषु च गतस्य जीवस्य त्रिषष्ट्यधिकमुदधिशत भवति । तथा "तमाइ" त्ति तम प्रभाया षष्ठपृथिव्या ग्रैवेयके विजयादिषु च गतस्य जीवस्य पञ्चाशीत्यधिकमुदधिशत भवतीत्यक्षरार्थ । भावार्थ पुनरयम्—विजय-वैजयन्त-जयन्ता-ऽपराजितसञ्ज्ञितेषु चतुर्ष्वपि विमानेषु मध्येऽन्यतरस्मिन् कस्मिंश्चिद् विमाने वारद्वयगमनेन एका षट्षष्टि, तत सम्यग्मिथ्यात्वान्तर्मुहूर्तेनान्तरिता पुनरच्युतदेवलोके वारत्रयगमनेनान्या षट्षष्टि,

यदाह भाष्यसुधाम्भोधिः—

[१]दो वारे विजयाइसु, गयस्स तिनऽच्चुए अहव ताइ ।
अइरेग नरभविय, नाणाजीवाण सव्वद्धा ॥ (विशेषा० भा० गा० ४३६)

एवं च षट्षष्टिद्वयमीलने द्वात्रिंश शत सागरोपमाणा विजयादिषु पर्यटतो जन्तो सम्पन्न इति । तथा लोकपुरुषस्य ग्रीवाया भवानि विमानानि ग्रैवेयकाणि तेषु ग्रैवेयकेषु, जाताचेकवचनम् । कोऽर्थ ? यदा नवमग्रैवेयके एकत्रिंशत्सागरोपमरूपा स्थितिमनुभूय ततश्च्युत पुन

१ पञ्चविंशत्या अबन्ध उत्कृष्टो भवति सम्यक्त्वगुणयुक्ते । द्वात्रिंशं शतमतराणां भवन्त्यधिका मनुष्यभवाः ॥ २ एतासां प्रकृतीनामबन्धकालस्तु भवति सञ्ज्ञिनः । उत्कृष्टो विज्ञेयो न तु सर्वजीवानामेष विधिः ॥
३ द्वौ वारौ विजयादिषु गतस्य त्रयोऽच्युतेऽथवा तानि । अतिरिक्तं नरभविकं नानाजीवानां सर्वाद्धा ॥
१ भाष्ये तु—"गयस्स" ॥

मनुष्येपूत्पद्य इत्यादिप्रागुक्तन्यायेन पुनर्विजयादिगमनेन पट्षष्टिद्वय पूरयति तदा त्रिषष्ट्यधिकमुदधिशत भवतीति । तथा तम प्रभाया द्वात्रिंशतिसागरोपमाणि स्थितिमनुभूय ततो नव ग्रैवेयके एकत्रिंशत्सागरोपमाणि तदनु विजयादिषु पट्षष्टिद्वयमिति मिलित पञ्चाशीत्यधिकमुदधिशतमिति । सर्वत्र चान्तरालभाविनरभवाधिकत्व स्वत एव वाच्यमिति । एव यासा प्रकृतीना येषु जन्तुषु सर्वथैव बन्धो न भवति तासद्द्वारेण प्रदर्शिता । सम्प्रति त्रिसप्ततिसङ्ख्यानामप्यध्रुवबन्धिनीना जघन्यमुत्कृष्ट च सततबन्धकालप्रमाण प्रतिपादयन्नाह—"सयपन घो" इत्यादि । द्विकशब्दस्य प्रत्येक सम्बन्धाद् सुरद्विके–सुरगति-सुरानुपूर्वीलक्षणे वैक्रियद्विके–वैक्रियशरीर-वैक्रियाङ्गोपाङ्गस्वरूपे 'पल्यत्रिक' पल्योपमत्रय सतत बन्ध सततबन्ध "नाम नाम्नैकार्थ्ये समासो बहुलम्" (सिद्ध० ३-१-१८) इति समास, यथा विस्पष्ट पटु विस्पष्टपटुरित्यादौ इत्यक्षरार्थ । भावार्थस्त्वयम्—सुरद्विक-वैक्रियद्विकलक्षणप्रकृतिचतुष्टयस्य पल्योपमत्रिक सततबन्धकाल "तित्तीसयरा परमो" (गा० ६२) इति पदात् परमशब्दस्येहाकर्षणात् 'परम' उत्कृष्टो भवति, यतो युगलधार्मिकेषु वर्तमानो जन्मत आरभ्य देवप्रायोग्यमिद प्रकृतिचतुष्टय पल्योपमत्रय यावत् सततमेव–निरन्तरमेव बध्नातीति भाव, जघन्यतस्तु समय परावर्तमानत्वादासामपीति ॥ ५८ ॥

समयादसखकाल, तिरिदुगनीएसु आउ अतमुहू ।
उरलि असखपरहा, सायठिई पुव्वकोडूणा ॥ ५९ ॥

समय –अत्यन्तसूक्ष्म कालाश, स च समयप्रसिद्धात् पट्टशाटिकापाटनदृष्टान्तात् उत्पलपत्रशतभेदोदाहरणाद्वाऽवसेय, तस्मात् समयादारभ्य समयमादौ कृत्वा एकोत्तरसमयवृद्ध्या तावत्सतत बन्धकालो नेयो यावदसङ्ख्येयकाल इति । तत्रासङ्ख्य –सङ्ख्यातिक्रान्त समयपरिभाषित स चासौ कालश्चासङ्ख्यकाल तम्, सङ्ख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणसमयराशिरूप यावदित्यर्थ । इह च समयशब्देन जघन्यो बन्धकाल उक्त, स च सर्वत्र मन्तव्य, क्व ? इत्याह—तिर्यग्द्विके–तिर्यग्गति तिर्यगानुपूर्वीरूपे नीचैर्गोत्रे च द्वन्द्वे च तिर्यग्द्विकनीचैर्गोत्रयो । अयमाशय —तिर्यग्गति तिर्यगानुपूर्वी-नीचैर्गोत्रलक्षणप्रकृतित्रयमिद जघन्यत समयमेक बध्यते, द्वितीयसमये परावृत्त्या तद्विपक्षस्य बन्धसम्भवात् । यदा तु तेज -वायुषु जन्तुरुत्पद्यते तदा भवस्वभावादेवातिसक्लिष्टे नीचैर्गोत्र तिर्यग्द्विके एव बध्नाति, न तद्विपक्षमुच्चैर्गोत्र मनुजद्विक वा, अतस्तेज -वायूना कायस्थितिरूपमसङ्ख्येयकाल यावदासा तिसृणामपि प्रकृतीना परम सततबन्धकाल प्राप्यत इति । "आउ अन्तमुहु" त्ति आयु षु चतुर्ष्वपि अन्तर्मुहूर्तमेव काल यावत् परम सततबन्धकाल, जघन्योऽपि चैतावानेवेति वक्ष्याम इति । तथैकदेशे समुदायोपचाराद् 'औदारिके' औदारिकशरीरविषयेऽसङ्ख्या –सङ्ख्यातिक्रान्ता "परट्ट" त्ति परावर्ता –पुद्गलपरावर्ता वक्ष्यमाणस्वरूपा परम सततबन्धकाल इति । इहापि जघन्यत समयेक सततबन्ध सविपक्षत्वात्, उत्कृष्टतस्त्वसङ्ख्येयपुद्गलपरावर्ता । कथम् ? यतो व्यावहारिकसत्त्वा अपि स्थावरकायमुपगता कायस्थित्या इयन्त काल तिष्ठन्ति, न च तत्र वैक्रियाऽऽहारकयोस्तद्विपक्षयोर्बन्धोऽस्तीति तात्पर्यम् । तथा "सायठिई पुव्वकोडूण" त्ति सातस्य–सात

वेदनीयस्य स्थितिं -स्थितिरूप सततबन्धकाल परम पूर्वकोटिरूना-न्यूना भवति । इहा जघन्यत सातस्य समयमेक बन्ध सविपक्षत्वात्, उत्कृष्टतस्तु देशोना पूर्वकोटि सततबन्ध यतो य कश्चिन्मानव पूर्वकोट्यायुरष्टवार्षिक सर्वविरतिमादाय नवमवर्षे केवलज्ञानमासादये सोऽष्टाभिर्वर्षैरूना पूर्वकोटिं सातवेदनीय सतत बध्नाति, केवलिन सातस्यैव बन्धात् । उक्त च—

उवसतखीणमोहा, केवलिणो एगविहबन्धा ॥ (पञ्चसं० १६ गा० ४१) इति ॥५९॥

जलहिसयं पणसीयं, परघुस्सासे पणिंदि तसचउगे ।
बत्तीसं सुहविहगइपुमसुभगतिगुच्चचउरंसे ॥ ६० ॥

पराघात चोच्छ्वास च पराघातोच्छ्वास तस्मिन् पराघातोच्छ्वासे, "पणिंदि" त्ति सूचनात् सूत्रम्, इति कृत्वा पञ्चेन्द्रियजातौ, त्रसेनोपलक्षित चतुष्क त्रसचतुष्क तस्मिन् त्रसचतुष्के-त्रस बादर-पर्याप्तप्रत्येक लक्षणे प्रभूतकालनिस्तरणीयत्वाद् जलधय इव जलधय -सागरोपमाणि तेष शत जलधिशत "पणसीय" ति पञ्चाशीत्यधिक परम सततबन्धकालो भवति । इह च सचतु पल्यमित्यनिर्देशेऽपि सचतु पल्यमिति व्याख्यान कार्यम्, यतो यावानेसद्विपक्षस्यानबन्धकालस्तावा नेवासा बन्धकाल इति । **पञ्चसङ्ग्रहादौ** चोपलक्षणादिना केनचित्कारणेन यन्नोक्त तदभिप्राय न विद्म इति । तथा जघन्यत एता अपि समयमेक बध्यन्ते, सविपक्षत्वादध्रुवबन्धित्वाच्च । उत्कृ ष्टतस्तु सचतु पल्य पञ्चाशीत्यधिक जलधिशत बन्धकाल । कथम् ? षष्ठपृथिव्यामुत्कृष्टस्थि तिको द्वाविंशतिसागरोपमाण्यनुभवन्नासा विपक्षबन्धाभावादेता एव प्रस्तुतसप्तप्रकृतीर्बद्धवान्, तत पर्यन्तान्तर्मुहूर्ते सम्यक्त्वमासाद्य मनुष्यजन्म सम्प्राप्य देशविरतिरत्न लब्ध्वा चतु पल्यो पमस्थितिकेषु देवेषु सुपर्वत्वमनुभूय अप्रतिपतितसम्यक्त्व एव मनुष्येषु समुत्पद्य सम्पूर्णसयम च परिपाल्य नवमग्रैवेयकविमाने एकत्रिंशत्सागरोपमस्थितिको महर्द्धिकमरो भूत्वा उत्पादोत्तरकाल मिथ्यात्वोदयवान् भवति, च्यवनकाले च सम्यक्त्व प्रतिपद्य षट्षष्टिसागरोपमाण्यच्युतदेवलोके वारत्रयेणानुभवति, पुनरन्तर्मुहूर्त सम्यग्मिथ्यात्वमनुभूय भूयोऽपि सम्यग्दर्शनमवाप्य विजयादि वारद्वयेन पुन षट्षष्टिसागरोपमाणि समनुभवति । तस्मादेतेषु तम प्रभापृथिवीप्रभृतिस्थानेषु पर्यटन् जीव क्वचिद् भवप्रत्ययात् क्वचिच्च सम्यक्त्वप्रत्ययादेतावन्त कालमेता सप्तापि प्रकृती सतत बध्नातीति। "बत्तीस" ति द्वात्रिंशदधिक जलधिशतमिति गम्यते, परम सततबन्धकाल इति सम्बन्ध । क ? इत्याह—"सुहविहगइ" त्ति शुभविहायोगति "पुम" त्ति पुवेद 'सुभगतिक' सुभग-सुस्वरा-ऽऽदेयलक्षणम् उच्चैर्गोत्र "चउरस" त्ति 'चतुरस्र' समचतुरस्र प्रथमसस्थानम्, तत एतेषा समाहारद्वन्द्व, तत्र इहापि जघन्यत समयमेकमासा सप्ताना प्रकृतीना बन्ध सविपक्षत्वात्, उत्कृष्टतस्तु द्वात्रिंश जलधिशत सततबन्धकालो भवति । तथाहि—किल यदा कश्चिद् जन्तु सर्वविरतिमनुपाल्य गृहीतसम्यक्त्वो वारद्वय विजयादिगमनेन षट्षष्टिसागरोपमाणि सम्यक्त्वकाल प्रपूर्य मनुष्येष्वन्तर्मुहूर्त सम्यग्मिथ्यात्वमनुभूय तदनन्तरित द्वितीय षट्षष्टिप्रमाण सम्यग्दर्शनकाल वारत्रयमच्युतदेवलोकगमनेन परिपूरयति तदा सम्यग्दृष्टिर्जन्तुरेता एव बध्नाति न पुनरेतत्प्रतिपक्षा, तासा मिथ्यादृष्टि-सास्वादनगुणस्थानकयोर्बन्धव्यवच्छेदादिति ॥ ६० ॥

१ उपशान्तक्षीणमोहा केवलिन एकविधबन्धा ॥

असुखगइजाइआगिइसघयणाहारनरयजोयदुगं ।
थिरसुभजसथावरदसनपुइत्थीदुजुयलमसाय ॥ ६१ ॥

सुशब्द प्रशसायाम्, न सु असु –अप्रशस्त इत्यर्थ । ततोऽसुशब्द प्रत्येक सम्बध्यते, ततश्चासुखगति –अप्रशस्तविहायोगति, असुजातय –एक-द्वि त्रि-चतुरिन्द्रियजातिलक्षणाश्चतस्र, असुसहननानि–ऋषभनाराचादीनि पञ्च, असुआकृतय –आकारा सस्थानानि न्यग्रोधपरिमण्डलादय पञ्च, द्विकशब्दस्य प्रत्येक सम्बन्धाद् आहारकद्विकम्–आहारकशरीरा ऽऽहारकाङ्गोपाङ्गलक्षण नरकद्विक–नरकगति-नरकानुपूर्वीलक्षण "जोयदुग" ति उद्योतद्विकम्–उद्योता-ऽऽतपलक्षणम् "उज्जोयायवपरघा" (गा० ३) इति सज्ञागाथाया पठनात्, स्थिरनाम शुभनाम "जस" त्ति यश कीर्तिनाम स्थावरदशक प्रतीतमेव "नपु" त्ति नपुसकवेद स्त्रीवेद द्वयोर्युगलयो समाहारो द्वियुगल–हास्य-रति-अरति शोकलक्षणम् 'असातम्' असातवेदनीयमिति ॥ ६१ ॥

समयादंतमुहुत्तं, मणुदुगजिणवइरउरलवगेसु ।
तित्तीसयरा परमो, अतमुहु लहू वि आउजिणे ॥ ६२ ॥

एतासा पूर्वोक्तानामसुखगतिप्रभृत्येकचत्वारिंशत्प्रकृतीना किम् ? इत्याह—'समयात्' सूक्ष्मकालाशादारभ्य अन्तर्मुहूर्त यावदुत्कृष्टतोऽपि सततबन्धो न परतोऽपि । किमुक्त भवति ?—समयप्रमाणो जघन्यो बन्धकाल उत्कृष्टश्चान्तर्मुहूर्तप्रमाण, यत समयादन्तर्मुहूर्ताद् वा उत्तरकालमासामध्रुवबन्धित्वेनावश्य परावृत्ते सद्भावात् सञ्चच्छत एव यथोक्तकाल इति। तथा "मणुदुग" ति मनुजद्विक–मनुजगति-मनुजानुपूर्वीरूप जिननाम "वइर" त्ति वज्रऋषभनाराचसहननम् औदारिकाङ्गोपाङ्गम् ततो मनुजद्विकादीना द्वन्द्वस्तेषु, एतासु प्रकृतिषु विषये त्रयस्त्रिंशदतराणि 'परम' प्रकृष्ट सततबन्धो निरन्तर बन्धकाल इति योग । अत्रापि जिननामवर्जाना चतसृणा प्रकृतीना जघन्यत समयमेक बन्ध सविपक्षत्वात्, उत्कृष्टतस्त्रयस्त्रिंशदतराणि, यतो बद्धजिननामकर्माऽनुत्तरसुरेषु स्थित एतावन्त कालमेतदेव प्रस्तुतप्रकृतिपञ्चक सतत बध्नातीति । ननु किमध्रुवबन्धिनीना प्रकृतीना सर्वासामपि जघन्यबन्धकाल समयमात्र एव ? किमुत कासाञ्चिदन्यथाऽपि ? अत आह—"अतमुहु लहू वि आउजिणे" त्ति 'लघुरपि' जघन्यबन्धोऽपि ह्रस्वबन्धकालोऽपि न केवलमसुखगतिप्रभृतीनामुत्कृष्टोऽन्तर्मुहूर्तलक्षणो बन्धकाल इत्यपिशब्दार्थ, आयु षु चतुर्षु जिननामकर्मणि चेत्यर्थ, "अतमुहु" त्ति एकदेशे समुदायोपचाराद् अन्तर्मुहूर्तलक्षणो न तु समयरूप इति । अयमत्र भावार्थ —इह कश्चिज्जन्तुस्तीर्थकरनामबन्धक उपशमश्रेणिमारूढ, तत्र चानिवृत्तिबादर-सूक्ष्मसम्पराय-उपशान्तमोहलक्षणगुणस्थानकत्रये वर्तमानोऽबन्धक सम्पद्यते, तत श्रेणिं समाप्य प्रतिपतित पुनरप्यन्तर्मुहूर्त यावत् तदेव बद्ध्वा तदूर्ध्व द्वितीयवार श्रेण्यारोहणेऽबन्धको यदा भवति तदाऽसौ कालो लभ्यते । न च वाच्य कथमेकस्मिन्नेव भवे वारद्वयश्रेणिकरणम् ? यत शास्त्रे तस्याभिहितत्वात् । उक्त च—

एगभवे दुक्खुत्तो, चरित्तमोह उवसमिज्जा ॥ (कर्मप्र० ३७६) इति ।

---

१ मुद्रितशतके तु–"द्वय श्रेणिक" इत्येवरूप पाठ ॥ २ एकस्मिन् भवे द्विकृत्व चारित्रमोहमुपशमयेत् ॥ ३ कर्मप्रकृतौ तु–"समेइ ॥ इत्येवरूप पाठ ॥

आयूषि चत्वार्यपि यावदन्तर्मुहूर्तं तावद् जघन्यतोऽपि बध्यन्ते, ततस्तत्प्रति सुप्रतीत एव यथोक्तकाल इति ॥ ६२ ॥

प्ररूपित प्रसक्तानुप्रसक्तसहित स्थितिबन्ध । इदानीमनुभागबन्धस्यावसर —अनुभागो रसोऽनुभाव इति पर्याया । तत्रानुभागस्य किञ्चित् तावत् स्वरूपमुच्यते—इह गम्भीरापारससार-सरित्पतिमध्यविपरिवर्ती रागादिसचिवो जन्तु पृथक् सिद्धानामनन्तभागवर्तिभिरभव्येभ्योऽनन्त-गुणै परमाणुभिर्निष्पन्नान् कर्मस्कन्धान् प्रतिसमय गृह्णाति, तत्र च प्रतिपरमाणु कषायविशेषात् सर्वजीवानन्तगुणाननुभागस्याविभागपलिच्छेदान् करोति । केवलिप्रज्ञया छिद्यमानो य परम-निकृष्टोऽनुभागांऽशोऽतिसूक्ष्मतयाऽर्धं न ददाति सोऽविभागपलिच्छेद उच्यते । उक्त च—

बुद्धीइ छिज्जमाणो, अणुभागसो न देइ जो अद्ध ।
अविभागपलिच्छेओ, सो इह अणुभागबन्धम्मि ॥ (शत० चू० भा० गा० ४५९)

तत्र चैकैककर्मस्कन्धे य सर्वजघन्यरस परमाणु सोऽपि केवलिप्रज्ञया छिद्यमान किल सर्वजीवेभ्यो अनन्तगुणान् रसभागान् प्रयच्छति । अन्यस्तु परमाणुस्तानविभागपलिच्छेदा-नेकाधिकान् प्रयच्छति, अपरस्तु तानपि द्व्यधिकान्, अन्यस्तु तानपि त्र्यधिकान्, अन्यस्तु तानपि चतुरधिकानित्यादिवृद्ध्या तावन्नेय यावदन्त्य उत्कृष्टरस परमाणुर्मोलराशेरनन्तगुणानपि रसभागान् प्रयच्छति । अत्र च सर्वजघन्यरसा ये केचन परमाणवस्तेषु सर्वजीवानन्तगुणरस-भागयुक्तेष्वप्यसत्कल्पनया शत रसांशाना परिकल्प्यते, एतेषा च समुदाय समानजातीयत्वा-देका वर्गणेत्यभिधीयते, अन्येषा त्वेकोत्तरशतरसभागयुक्तानामणूना समुदायो द्वितीया वर्गणा, अपरेषा तु द्व्युत्तरशतरसांशयुक्तानामणूना समुदायस्तृतीया वर्गणा, अन्येषा तु त्र्युत्तरशतरस-भागयुक्तानामणूना समुदायश्चतुर्थी वर्गणा, एवमनया दिशा एकैकरसभागवृद्धानामणूना समुदा-यरूपा वर्गणा सिद्धानामनन्तभागेऽभव्येभ्योऽनन्तगुणा वाच्या । एतासा चैतावतीना वर्गणाना समुदाय स्पर्धकमित्यभिधीयते, स्पर्धन्त इवोत्तरोत्तररसवृद्ध्या परमाणुवर्गणा अत्रेति कृत्वा । एताश्चानन्तरोक्तानन्तकप्रमाणा अप्यसत्कल्पनया षट् स्थाप्यन्ते इदमेक स्पर्धकम् । इत ऊर्ध्वमेकोत्तरया निरन्तरवृद्ध्या वृद्धो रसो न लभ्यते, किं तर्हि[1] सर्वजीवानन्तगुणैरेव रस-भागैर्वृद्धो लभ्यत इति तेनैव क्रमेण द्वितीय रसस्पर्धकमारभ्यते, ततस्तेनैव क्रमेण तृतीयमित्यादि यावदनन्तानि रसस्पर्धकानि उत्तिष्ठन्ते ।

१०५
१०४
१०३
१०२
१०१
१००

अथ चानुभाग शुभा-ऽशुभभेदेन द्विविधानामपि प्रकृतीना तीव्र-मन्दरूपतया द्विविधो भवत्यतोऽशुभ-शुभप्रकृतीना येन प्रत्ययेनासौ तीव्रो बध्यते येन च मन्दस्तन्निरूपणार्थमाह—

तिव्वो असुहसुहाण, संकेसविसोहिओ विवज्जयओ ।
मंदरसो गिरिमहिरयजलरेहासरिकसाएहिं ॥ ६३ ॥

तत्र प्रथम तावत् तीव्र-मन्दस्वरूपमुच्यते पश्चादक्षरार्थ । इह घोषातकी-पिचुमन्दाद्यशुभ-वनस्पतीना सम्बन्धी सहजोऽर्धावर्तो द्विभागावर्तो भागत्रयावर्तश्च यथाक्रम कटुक कटुकतर कटुकतमोऽतिशयकटुकतमश्च, तथेक्षु-क्षीरादिद्रव्याणा सम्बन्धी सहजोऽर्धावर्तो द्विभागावर्तो भाग-

[1] बुद्ध्या छिद्यमानोऽनुभागांशो न ददाति योऽर्धम् । अविभागपरिच्छेदोऽसाविहानुभागबन्धे ॥

त्र्यावर्तश्च यथासङ्ख्य मधुरो मधुरतरो मधुरतमोऽतिमधुरतमश्च रसो जलादिसम्बन्धाद् यथा तीव्रो भवति, तथैतेषामेव पिचुमन्दादीना क्षीरादीना च द्रव्याणा सम्बन्धी सहजो रसो जललवबिन्दु-अर्धचुलुक चुलुक-प्रसृति अञ्जलि-करक-कुम्भ-द्रोणादिसम्बन्धाद् यथा बहुभेद मन्द-मन्दतरादित्व प्रतिपद्यते, तथाऽर्धावर्तादयोऽपि रसा यथा जललवादिसम्बन्धाद् मन्द-मन्दतर-मन्दतमादित्व प्रतिपद्यन्ते तथैवाशुभप्रकृतीना शुभप्रकृतीना च रसास्तादृगतादृशकषायवशात् तीव्रत्व मन्दत्व चानुविदधतीति। अक्षरार्थोऽधुना विवियते—तीव्रो रसो भवति। कासाम् ? इत्याह—"असुहसुहाण" ति अशुभाश्च शुभाश्चाशुभ-शुभास्तासामशुभशुभानाम्, अशुभप्रकृतीना शुभप्रकृतीना चेत्यर्थ । कथम् ? इत्याह—"सकेसविसोहिओ" त्ति सक्लेशश्च विशुद्धिश्च सक्लेश-विशुद्धी ताभ्या सक्लेश-विशुद्धित, आद्यादेराकृतिगणत्वात् तसूप्रत्यय, यथासङ्ख्यमशुभप्रकृतीना सक्लेशेन शुभप्रकृतीना विशुद्ध्येत्यर्थ । इदमत्र हृदयम्—अशुभप्रकृतीना द्व्यशीतिसङ्ख्याना सक्लेशेन—तीव्रकषायोदयेन तीव्र—उत्कटो रसो भवति, सर्वाशुभप्रकृतीना तद्बन्धविधायिना जन्तूना मध्ये यो य उत्कृष्ट-सक्लेशो जन्तु स स तीव्ररस बध्नातीत्यर्थ, शुभप्रकृतीना तु विशुद्ध्या कषायविशुद्ध्या तीव्रोऽनुभागो भवति, शुभप्रकृतिबन्धकाना मध्ये यो यो विशुध्यमानपरिणाम स स तासा तीव्र मनुभाग बध्नातीत्यर्थ । उक्तस्तीव्ररसस्य बन्धप्रत्यय । सम्प्रति स एव मन्दरसस्याभिधीयते—"विवज्जयओ मन्दरसो" त्ति 'विपर्ययेण' विपर्ययत उक्तवैपरीत्येन मन्द—अनुत्कटरसो भवति। अयमर्थ—सर्वप्रकृतीनामशुभाना विशुद्ध्या मन्दो रसो जायते, शुभाना [redacted] मन्द सक्लेशो नेति। उक्त सक्लेश-विशुद्धिवशादशुभ शुभप्रकृतीना तीव्रो मन्दश्चानुभाग, अय त्वेक-द्वि त्रि-चतु स्थानिकभेदाच्चतुर्धा भवति, अत एकस्थानिकादिरसो ये प्रत्ययैर्यासा प्रकृतीना भवति तदाह—"गिरिमहिरय" इत्यादि। गिरिश्च—पर्वत मही च—पृथिवी रजश्च—वालुका जल च—पानीय गिरि-मही-रज-जलानि तेषु रेखा—राजयस्ताभि सदृशा—तुल्या गिरि-मही-रज-जल-रेखासदृशास्ते च ते कषायाश्च—सम्परायास्तैरसौ भवतीति क्रम ॥ ६३ ॥

कीदृग् ? इत्याह—

चउठाणाई असुहा, सुहऽन्नहा विग्घदेसआवरणा ।
पुमसंजलणिगदुतिचउठाणरसा सेस दुगमाई ॥ ६४ ॥

चतु स्थान आदिर्यस्य रसस्य त्रिस्थानिक-द्विस्थानिक-एकस्थानिकपरिग्रह स चतु स्थानादि, कासाम् ? इत्याह—"असुह" त्ति इह षष्ठ्यर्थे प्रथमा तत 'अशुभानाम्' अशुभप्रकृतीनाम्। इयमत्र भावना—इह रेखाशब्दस्य प्रत्येक सम्बन्धाद् गिरिरेखाशब्देन प्रभूतकालव्यपदेशाद तितीव्रत्व कषायाणा प्रतिपाद्यते, ततश्च गिरिरेखासदृशै कषायैरनन्तानुबन्धिभिरित्यर्थ, सर्वासामशुभप्रकृतीना चतु स्थानिकरसबन्धो भवति। आतपशोषिततडागमहीरेखासदृशै कषायैरप्रत्याख्यानावरणैर्भनाग्मन्दोदयैरशुभप्रकृतीना त्रिस्थानिकरसबन्धो भवति। वालुकारेखासदृशै कषाये प्रत्याख्यानावरणैरशुभप्रकृतीना द्विस्थानिकरसबन्ध । जलरेखासदृशै कषायैरति मन्दोदयै सज्वलनाभिधैर्विघ्नपञ्चकादिवक्ष्यमाणसप्तदशाऽशुभप्रकृतीनामेवैकस्थानिकरसबन्धो भ-

१ केषुचिदादर्शेषु "°घाइआवरणा°" इत्येवरूप पाठ ॥

यति, न शेषाणां शुभप्रकृतीनामशुभप्रकृतीनामिति हि वक्ष्यामः । उक्तोऽशुभानां रसस्य बन्धप्रत्ययः, इदानीं शुभानां रसप्रत्ययविभागमाह—"सुह ऽन्नह" त्ति शुभप्रकृतीनाम् 'अन्यथा' उक्तवैपरीत्येन हेतुविपर्ययाच्चतुःस्थानिकादिरसस्य बन्धो भवति । तत्र वालुकाजलरेखासदृशैः कषायैश्चतुःस्थानिको रसबन्धो भवति । महीरेखासदृशैः कषायैस्त्रिस्थानिको रसबन्धो भवति । गिरिरेखासदृशैः कषायैर्द्विस्थानिको रसबन्धः शुभप्रकृतीनां भवति । शुभप्रकृतीनां त्वेकस्थानिको रस एव नास्तीति पूर्वमेवोक्तम् । अथ यासां प्रकृतीनामेक-द्वि-त्रि-चतुःस्थानिकभेदाच्चतुर्विधोऽपि रसबन्धः सम्भवति, यासां चैकस्थानिकवर्जस्त्रिविध एवेत्येतच्चिन्तयन्नाह—"निग्घदेसघाइआवरणा" इत्यादि । विघ्नानि—दान-लाभ-भोग-उपभोग-वीर्यान्तरायभेदादन्तरायाणि पञ्च, 'देसघाइआवरणा' देशघात्यावारिकाः सप्त प्रकृतयः, तद्यथा—मतिज्ञान-श्रुतज्ञाना-ऽवधिज्ञान-मनःपर्यायज्ञानावरणाश्चतस्रः, चक्षुर्दर्शना-ऽचक्षुर्दर्शना-ऽवधिदर्शनावरणास्तिस्र इत्येताः, "पुम" त्ति पुवेदः, सञ्ज्वलनाश्चत्वारः–क्रोध-मान-माया-लोभा इत्येताः सप्तदशप्रकृतयः । किम्? इत्याह—"इगदुतिचउठाणरसा" त्ति स्थानशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धाद् एकस्थान-द्विस्थान-त्रिस्थान-चतुःस्थाना रसा यासां ता एक-द्वि-त्रि-चतुःस्थानरसाः, एताः सप्तदशापि प्रकृतयः एक-द्वि-त्रि-चतुःस्थानिकरूपेण चतुर्विधेनापि रसेन संयुक्ता बध्यन्ते इति तात्पर्यम् । तत्रानिवृत्तिबादरे गुणस्थाने सङ्ख्येयेषु भागेषु गतेष्वासां सप्तदशानामपि प्रकृतीनामेकस्थानिको रसः प्राप्यते, शेषस्थानिकास्तु रसास्त्रयोऽप्यासां संसारस्थान् जीवानाश्रित्य प्राप्यन्त इति । शेषाः प्रकृतयस्तर्हि किंरूपा भवन्ति? इत्याह—"सेस दुगमाई" इति । 'शेषाः' भणितसप्तदशप्रकृतिभ्य उद्धरिताः सर्वाः शुभा अशुभाश्च प्रकृतयो बध्यन्ते "दुगमाइ" त्ति "सूचनात् सूत्रम्" इति न्यायाद् द्विस्थानादिरसाः, आदिशब्दात् त्रिस्थानरसाश्चतुःस्थानरसाश्च, शेषाः प्रकृतयो द्विस्थानिक-त्रिस्थानिक-चतुःस्थानिकरसयुक्ता भवन्ति, न त्वेकस्थानिकरसयुक्ता इति भावः । अयमत्राशयः—सप्तदशप्रकृतिष्वेवैकस्थानिको रसो लभ्यते, न तु शेषासु, यतोऽशुभप्रकृतीनामेकस्थानिको रसो यदि लभ्यते तदाऽनिवृत्तिबादरसङ्ख्येयभागेभ्यः परत एव, तत्र च सप्तदशप्रकृतीर्वर्जयित्वा शेषाणामशुभप्रकृतीनां बन्ध एव नास्ति, अतः शेषाणामशुभानामेकस्थानिको रसो न भवति । ये अपि केवलज्ञान-केवलदर्शनावरणलक्षणे द्वे अपि प्रकृती तत्र बध्येते, तयोरपि सर्वघातित्वाद् द्विस्थानिक एव रसो निर्वर्त्यते नैकस्थानिक इति । शुभानां तु सर्वासामप्येकस्थानिको रसो न भवति, यतः इहासङ्ख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणानि सङ्क्लेशस्थानानि भवन्ति, विशुद्धिस्थानान्यपि तावन्त्येव, यथा यान्येव सङ्क्लिश्यमानः सङ्क्लेशस्थानान्यारोहति तान्येव विशुध्यमानोऽवतरति, ततश्च यथा प्रासादमारोहता यावन्ति सोपानस्थानानि अवतरतामपि तावन्त्येव, तथाऽत्रापीति भावः, केवलं विशुद्धिस्थानानि विशेषाधिकानि । कथम्? इति चेद् उच्यते—क्षपको येष्वध्यवसायस्थानेषु क्षपकश्रेणिकामारोहति न तेषु पुनरपि निवर्तते, तस्य सङ्क्लेशाभावात्, अतस्तानि विशुद्धिस्थानान्येव भवन्ति, न सङ्क्लेशस्थानानीति तैरध्यवसायस्थानैर्विशुद्धिस्थानान्यधिकानि । एवं च स्थितेऽत्यन्तविशुद्धौ वर्तमानः शुभप्रकृतीनां चतुःस्थानिकं रसमभिनिर्वर्तयति, अत्यन्तसङ्क्लेशे तु वर्तमानस्य शुभप्रकृ-

तयो बन्ध एव नागच्छन्ति । या अपि वैक्रिय-तैजस-कार्मणाद्या शुभा नरकप्रायोग्या सङ्क्लिष्टोऽपि बध्नाति तासामपि स्वभावात् सर्वसंक्लिष्टोऽपि द्विस्थानिकमेव रसं विदधाति । येषु तु मध्यमाध्यवसायस्थानेषु शुभप्रकृतयो बध्यन्ते तेषु तासां द्विस्थानिकपर्यन्त एव रसो बध्यते नैकस्थानिक , मध्यमपरिणामत्वादेवेति न क्वापि शुभप्रकृतीनामेकस्थानिकरससम्भव इति ॥६४॥

कृता चतुर्विधस्यापि रसस्य प्रत्ययप्ररूपणा । सम्प्रति शुभा ऽशुभरसस्यैव विशेषत किञ्चित् स्वरूपमाह—

निंबुच्छुरसो सहजो, दुतिचउभागकढिइक्कभागंतो ।
इगठाणाई असुहो, असुहाण सुहो सुहाणं तु ॥ ६५ ॥

इहैवमक्षरघटना—'अशुभानाम्' अशुभप्रकृतीना रसोऽशुभ , अशुभाध्यवसायनिष्पन्नत्वात् । क इव ? इत्याह—'निम्बवत्' पिचुमन्दवद् , वत्शब्दस्य लुप्तस्येह प्रयोगो द्रष्टव्य । तथा 'शुभाना' शुभप्रकृतीना रस शुभ , शुभाध्यवसायनिष्पन्नत्वात् । क इव ? इत्याह—'इक्षुवत्' इक्षुयष्टिवत् । तथा डमरुकमणिन्यायाद् निम्बेक्षुरसशब्द एवमप्यावर्त्यते—यथा निम्बरस एव इक्षुरस एव 'सहज ' स्वभावस्थ एकस्थानिकरस उच्यते, स एवैकस्थानिकरसो द्वि त्रि चतुर्भागक्वथितैकभागान्तो द्विस्थानिकादिर्भवति । कोऽर्थ ? द्वौ च त्रयश्च चत्वारश्च द्वि-त्रि-चत्वार , ते च ते भागाश्च द्वित्रिचतुर्भागा , द्वित्रिचतुर्भागाश्च ते पृथग् विभिन्न विभिन्नेष्वाश्रयेषु क्वथिताश्च द्वि-त्रि-चतुर्भागक्वथितास्तेषाम् एक —एकसङ्ख्यो भागोऽन्ते—अवसाने यस्य सहजरसस्य स द्वि-त्रि-चतुर्भागक्वथितैकभागान्त । स किम् ? इत्याह—एकस्थानिकादि , आदिशब्दाद् द्विस्थानिक-त्रिस्थानिक-चतु स्थानिकरसपरिग्रह इत्यक्षरार्थ । भावार्थस्त्वयम्—इह यथा निम्ब-घोषातकी-प्रभृतीना कटुकद्रव्याणा सहज —अक्वथित कटुको रस एकस्थानिक उच्यते, स एव भागद्वयप्रमाण स्थाल्या क्वथितोऽर्द्धावर्तित कटुकतरो द्विस्थानिक , स एव भागत्रयप्रमाण स्थाल्या क्वथितस्त्रिभागान्त कटुकतमस्त्रिस्थानिक , स एव भागचतुष्टयप्रमाणो विभिन्नस्थाने क्वथितश्चतुर्थभागान्तोऽतिकटुकतमश्चतु स्थानिक । तथा इक्षु क्षीरादीना सहजो मधुररस एकस्थानिक उच्यते, स एव सहजो भागद्वयप्रमाण पृथग्भाजने क्वथितोऽर्धावर्तितो मधुरतरो द्विस्थानिक , स एव भागत्रयप्रमाण पृथक्स्थाल्या क्वथितस्त्रिभागान्तो मधुरतमस्त्रिस्थानिक , स एव भागचतुष्कप्रमाणो विभिन्नस्थाने क्वथितश्चतुर्थभागान्तोऽतिमधुरतमश्चतु स्थानिक । एवमशुभाना प्रकृतीना तादृशतादृशकषायनिष्पाद्य कटुक कटुकतर कटुकतमोऽतिकटुकतमश्च, शुभप्रकृतीना तु मधुरो मधुरतरो मधुरतमोऽतिमधुरतमश्च रसो यथासङ्ख्यमेक-द्वि त्रि-चतु स्थानिको भवति । एव च रसोऽशुभप्रकृतीनामशुभ शुभप्रकृतीना शुभ इति । तुशब्दो विशेषणे, स चैव विशिनष्टि—यथा सप्तदशाशुभप्रकृतीनामेकस्थानिकरसस्पर्धकान्यसङ्ख्येयव्यक्तिव्यक्तत्वाद् असङ्ख्येयानि भवन्ति । तत्र च सर्वजघन्यस्पर्धकरसस्येय निम्बाद्युपमा, तदनु चानन्तेषु रसपरिच्छेदेष्वतिक्रान्तेषु तदुत्तर द्वितीयस्पर्धक भवति, एवमुत्तरोत्तरक्रमेण प्रवृद्ध-वृद्धतररसोपेतानि शेषस्पर्धकान्यपि भवन्ति । एव शेषाशुभप्रकृतीनामपि द्वि-त्रि चतु स्थानिकरसस्पर्धकान्यसङ्ख्येयव्यक्तिव्यक्तानि प्रत्येकमसङ्ख्येयानि भवन्ति, तान्यपि यथोत्तरमनन्तरसपरिच्छेदनिष्पन्नत्वात् परस्परमनन्तगुणरसानि, अत

उत्तरोत्तरस्पर्धकान्यप्यनन्तगुणरसानि, किं पुनरशुभाना द्वि-त्रि-चतु स्थानिका रसा इति । तथाहि—अशुभाना निम्बोपमवीर्यो य एकस्थानिको रसस्तस्माद् अनन्तगुणवीर्यो द्विस्थानिक, ततोऽप्यनन्तगुणवीर्यस्त्रिस्थानिक, तस्मादप्यनन्तगुणवीर्यश्चतु स्थानिक इति परम्पर सुप्रतीतमेवानन्तगुणरसत्वमिति । शुभप्रकृतीना पुनरेकस्थानिको रस एव नास्ति । यश्च शुभानामिक्षूपमो रसोऽभिहित स द्विस्थानिकरसस्य सर्वजघन्यस्पर्धक एव द्रष्टव्य, तदुत्तरस्पर्धकेषु चानन्तगुणा रसा भवन्ति, एतत् सर्वं पञ्चसङ्ग्रहाभिप्रायतो व्याख्यातम् । किञ्च केवलज्ञानावरणादिरूपाणा सर्वघातिनीना विंशतिसङ्ख्याना प्रकृतीना सर्वाण्यपि रसस्पर्धकानि सर्वघातीन्येव । देशघातिनीना पुनर्मतिज्ञानावरणप्रभृतिपञ्चविंशतिप्रकृतीना रसस्पर्धकानि कानिचित् सर्वघातीनि, कानिचिद् देशघातीनि। तत्र यानि चतु स्थानिकरसानि त्रिस्थानिकरसानि वा रसस्पर्धकानि तानि नियमत सर्वघातीनि, द्विस्थानिकरसानि पुन कानिचिद् देशघातीनि कानिचित् सर्वघातीनि, एकस्थानिकानि तु सर्वाण्यपि देशघातीन्येव । उक्त च—

यानि [सर्वघातीनि] रसस्पर्धकानि सकलमपि स्वघात्य ज्ञानादिगुण घ्नन्ति, तानि च स्वरूपेण ताम्रभाजनवद् निश्छिद्राणि, घृतमिवातिशयेन स्निग्धानि, द्राक्षावत् तनुप्रदेशोपचितानि, स्फटिकाभ्रगृहवच्चातीवनिर्मलानि । (   ) उक्त च—

जो घाएइ नियगुण, सयल सो होइ सव्वघाइरसो ।
सो निच्छिद्दो निद्धो, तणुओ फलिहब्भहरनिमलो ॥ (पञ्चसं० गा० १५८)

यानि च देशघातीनि रसस्पर्धकानि तानि स्वघात्य ज्ञानादिगुण देशतो घ्नन्ति, तदुदयेऽपस्य क्षयोपशमसम्भवात्, तानि च स्वरूपेणानेकविधविवरसङ्कुलानि। तथाहि—कानिचित् कट इवातिस्थूरच्छिद्रशतसङ्कुलानि, कानिचित् कम्बल इव मध्यमविवरशतसङ्कुलानि, कानिचित् पुनरतिसूक्ष्मविवरनिकरसङ्कुलानि यथा वासासि, तथा तानि देशघातीनि रसस्पर्धकानि स्तोकस्नेहानि भवन्ति वैमल्यरहितानि च । उक्त च—

देसँविघाइत्तणओ, इयरो कडकम्बलंसुसंकासो ।
विविहबहुछिद्दभरिओ, अप्पसिणेहो अविमलो य ॥ (पञ्चस० गा० १५९) इति ॥ ६५ ॥

प्ररूपित सप्रपञ्चमनुभागबन्ध । इदानीमुत्कृष्टानुभागबन्धस्य स्वामिनो निरूपयन्नाह—

तिव्वमिगथावरायव, सुरमिच्छा विगलसुहुमनरयतिग ।
तिरिमणुयाउ तिरिनरा, तिरिदुगछेवट्ट सुरनिरया ॥ ६६ ॥

"इग" त्ति एकेन्द्रियजाति स्थावरनाम आतपनाम इत्येतस्य प्रकृतित्रयस्य "सुरमिच्छ" त्ति सुरा—देवा मिथ्यादृष्टय तीव्रमनुभागमुत्कृष्टानुभाग कुर्वन्तीति शेष । अत्र चाविशेषोक्तावपि "व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्ति" इति न्यायात् सुरा ईशानान्ता एव द्रष्टव्या नोपरितना, तेषामेकेन्द्रियेषूत्पत्त्यभावाद् एकेन्द्रियप्रायोग्यप्रस्तुतप्रकृतित्रयबन्धासम्भवात् । अयमपि

१ यो घातयति निजगुण सकल स भवति सर्वघातिरस । स निश्छिद्र स्निग्ध तनुक स्फटिकाभ्रगृहविमल ॥ २ पञ्चसङ्ग्रहे तु °इ सविसय सय° इति पाठ ॥

३ देशविघातित्वादितर कटकम्बलांशुकसङ्काश । विविधबहुच्छिद्रभृतोऽल्पस्नेहोऽविमलश्च ॥

चेशाना तो देव एकेन्द्रिय जाति-स्थावरयोरुत्कृष्टानुभाग सर्वसङ्क्लिष्टो बध्नाति, आतपस्य तु तत्प्रायोग्यविशुद्ध इति द्रष्टव्यम्। इन हि शुभप्रकृतित्वाद् विशुद्धया उत्कृष्टरस जायते। साऽपि विशुद्धिर्यद्यधिकतरा गृह्यते तदा पञ्चेन्द्रियतिर्यक्प्रायोग्य मनुष्यप्रायोग्य वा बध्नीयात्, न चातप तत्प्रायोग्यबन्धे बध्यते, एकेन्द्रियप्रायोग्यत्वादेवेत्यालोच्य तत्प्रायोग्यविशुद्धत्वविशेषणोपादानम्। आह पर —ननु भवत्वेव, किन्तु मिथ्यादृष्टिदेव एवतास्तिस्र उत्कृष्टरसा करोति नान्य इत्यत्र किं निबन्धनम्? अत्रोच्यते—नारकाणा तावदेता एकेन्द्रियप्रायोग्यत्वात् तत्रोत्पत्त्यभावाद् बन्ध एव नागच्छन्ति, तिर्यङ् मनुष्यास्तु यावत्या विशुद्धौ वर्तमाना अयमातपमुत्कृष्टरसं करोति तावत्या विशुद्धौ वर्तमाना पञ्चेन्द्रियतिर्यगादिप्रायोग्यमन्यत् किञ्चित् शुभतरमुपरचयेयु, यावति च सक्लेशे वर्तमानोऽस्यावेकेन्द्रियजाति-स्थावरयोरुत्कृष्टानुभाग बध्नाति तावति सङ्क्लेशे स्थिता अमी नरकगतिप्रायोग्य निर्वर्तयेयु, देवास्तूत्कृष्टसङ्क्लेशेऽपि भवप्रत्ययाद् एकेन्द्रियप्रायोग्यमेव बध्नन्ति, न तु नरकयोग्यमिति तिर्यङ्-मनुष्याणामपि प्रकृतत्रयोत्कृष्टानुभागबन्धकत्वासम्भव, सुरा अपि सम्यग्दृष्टयो मनुष्ययोग्यमेव बध्नन्तीति मिथ्यादृष्टिग्रहणम्। तस्मादीशानान्ता मिथ्यादृष्टिदेवा यदा आतपस्य सर्वोत्कृष्टां स्थितिमुपकल्पयन्ति तदा तद्बन्धकेष्वतिविशुद्धा अस्योत्कृष्टानुभाग विदधति, यदा तूत्कृष्टसङ्क्लेशे वर्तमाना एकेन्द्रियजाति-स्थावरयो सर्वोत्कृष्टा स्थितिमुपरचयन्ति तदा तयोरुत्कृष्टानुभाग कुर्वत इति स्थितम्। तथा त्रिकशब्दस्य प्रत्येक सम्बन्धाद् विकलत्रिक—द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रियलक्षण सूक्ष्मत्रिक—सूक्ष्मा-ऽपर्याप्त-साधारणाख्य नरकत्रिक—नरकगति नरकानुपूर्वी-नरकायु स्वरूपम्, आयु शब्दस्य प्रत्येक सम्बन्धात् तिर्यगायुर्मनुजायु इत्येतासामेकादशप्रकृतीना कोलिकनलकन्यायेन मिथ्यादृष्टिशब्दस्येहाप्यनुकर्षणाद् मिथ्यादृष्टय तिर्यञ्चश्च नराश्च तिर्यग्-नरास्त एवोत्कृष्टानुभाग बध्नन्ति, न देवनारका इत्यर्थ। तथाहि—तिर्यङ्-मनुष्यायुर्वर्जा नवप्रकृतीर्भवप्रत्ययादेव नारका न बध्नन्ति, तिर्यङ्-मनुष्यायुषी अप्यत्र भोगभूमियोग्ये उत्कृष्टरसे प्रकृते अतस्ते अमी न बध्नन्ति, कुतस्तेषां तदनुभागबन्धसम्भव? तस्मात् सञ्ज्ञिनो मिथ्यादृष्टयस्तिर्यङ्-मनुष्या एतत्प्रायोग्यविशुद्धा एते आयुषी बध्नन्ति, नारकायुस्तु तत्प्रायोग्यसङ्क्लिष्टा उत्कृष्टरस बध्नन्ति, अतिसङ्क्लिष्टस्यायुर्बन्धनिषेधात्, नरकद्विक त्वेत एव सर्वसङ्क्लिष्टा बध्नन्ति एक द्वौ वा समयौ यावद्, उत्कृष्टसङ्क्लेशस्यैतावन्मात्रकालत्वादेव। शेषाणा तु विकलत्रिक-सूक्ष्मत्रिकलक्षणाना षण्णा प्रकृतीनामेत एव तत्प्रायोग्यसङ्क्लिष्टा उत्कृष्टानुभाग बध्नन्ति, सर्वसङ्क्लिष्टा ह्यमी प्रस्तुतप्रकृतिबन्धमुल्लङ्घ्य नरकप्रायोग्य निर्वर्तयेयुरिति तत्प्रायोग्यसङ्क्लेशग्रहणमिति। तथा तिर्यग्द्विक—तिर्यग्गति तिर्यगानुपूर्वीस्वरूपं छेवृष्टसहननमित्येतत्प्रकृतित्रयस्य सुरा नारका वा अत्यन्तसङ्क्लिष्टा उत्कृष्टानुभाग बध्नन्ति। तिर्यङ्-मनुष्या ह्येतावति सङ्क्लेशे वर्तमाना नरकगतिप्रायोग्यमेव निर्वर्तयेयु, न च तद्योग्या एता प्रकृतयो बध्यन्त इति तद्व्युदासेन देव-नारकाणा ग्रहणम्, ते हि सर्वसङ्क्लिष्टा अपि तिर्यग्गतिप्रायोग्यमेव बध्नन्तीति। इह च "व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्ति" सेवार्तस्यैशानादुपरि सनत्कुमारादयो देवा

१ स० १–२ छा० "दानयोरु°॥

उत्कृष्टानुभाग बध्नन्ति, न त्वीशानान्ता, ते ह्यतिसंक्लिष्टा एकेन्द्रियप्रायोग्यमेव विरचयेयु, न च तद्योग्यमिद बध्यत इति ॥ ६६ ॥

विउविसुराहारदुगं, सुखगइवन्नचउतेयजिणसायं।
समचउपरघातसदसपणिंदिसासुच्च खवगा उ ॥ ६७ ॥

द्विकशब्दस्य प्रत्येक सम्बन्धाद् वैक्रियद्विक—वैक्रियशरीर-वैक्रियाङ्गोपाङ्गाख्य, सुरद्विक—सुरगति-सुरानुपूर्वीस्वरूपम्, आहारकद्विकम्—आहारकशरीरा-ऽऽहारकाङ्गोपाङ्गलक्षण, सुखगति—प्रशस्तविहायोगति, वर्णचतुष्क—वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्शलक्षण, "डमरुकमणिन्यायाद्" इहापि चतु शब्दस्य सम्बन्धात् तैजसचतुष्क—तैजस-कार्मणा-ऽगुरुलघु निर्माणाख्य, जिननाम सातवेदनीयम् "समचउ" त्ति समचतुरस्र सस्थानम् "परघ" त्ति पराघातनाम त्रसदशक—त्रस-बादर-पर्याप्त प्रत्येक स्थिर शुभ सुभग सुस्वरा ऽऽदेय-यश कीर्तिस्वभावम्, "पणिदि" त्ति पञ्चेन्द्रियजाति "सास" त्ति उच्छ्वासनाम उच्चैर्गोत्रम् इत्येतासा द्वात्रिंशत प्रकृतीनामुत्कृष्टानुभाग यथासम्भव 'क्षपकौ' सूक्ष्मसम्पराया-ऽपूर्वकरणलक्षणौ कुरुत । अपूर्वकरणो मोहनीयमक्षपयन्नपि योग्यतया राज्यार्हकुमारराजवत् क्षपक उक्त इति द्रष्टव्यम् । तत्र सातवेदनीय यश कीर्ति-उच्चैर्गोत्रलक्षणप्रकृतित्रयस्य क्षपकसूक्ष्मसम्परायश्चरमसमये वर्तमान उत्कृष्टानुभाग बध्नाति, स्वगुणस्थानशेषसमयेभ्योऽन्येभ्यश्च तद्बन्धकेभ्योऽस्यानन्तगुणविशुद्धत्वादिति । शेषाणा त्वेकोनत्रिंशत प्रकृतीना क्षपकापूर्वकरणो देवगतिप्रायोग्यबन्धव्यवच्छेदसमये वर्तमानस्तीव्रमनुभाग बध्नाति, तद्बन्धकेष्वस्यैवातिविशुद्धत्वादिति ॥ ६७ ॥

तमतमगा उज्जोयं, सम्मसुरा मणुयउरलदुगवइर।
अपमत्तो अमराउं, चउगइमिच्छा उ सेसाण ॥ ६८ ॥

तमस्तमा—अध सप्तमनरकपृथिवी तदाधारा नारकास्तमस्तमका उच्यन्ते, अमी उद्योतनामकर्मण उत्कृष्टानुभाग बध्नन्ति । तथाहि—कश्चित् सप्तमनरकपृथिवीनारको यथाप्रवृत्त्यादीनि त्रीणि करणानि कृत्वाऽनिवृत्तिकरणे स्थितो मिथ्यात्वस्यान्तरकरण करोति, तत्र च कृते मिथ्यात्वस्य स्थितिद्वय भवति, अन्तरकरणाद् अधस्तनी प्रथमा स्थितिरन्तर्मुहूर्तमात्रा, तस्मादेवोपरितनी शेषा द्वितीया स्थिति । स्थापना— । तत्राधस्तनस्थितेर्मिथ्यात्ववेदनस्य चरमसमये उद्योतस्य तीव्रमनुभाग बध्नाति । इद हि शुभप्रकृतित्वाद् विशुद्ध एवोत्कृष्टरसं करोति, तद्बन्धकेषु त्वयमेव सर्वविशुद्ध, अन्यस्थानवर्ती हि एतावत्या विशुद्धौ वर्तमानो मनुष्यप्रायोग्य देवप्रायोग्य वा बध्नीयात् । इद तु तिर्यग्गतिप्रायोग्यबन्धसहचरितमेव बध्यत इति सप्तमपृथिवीनारकस्यैवोपादानम्, तत्र हि यावत् किञ्चिदपि मिथ्यात्वमस्ति तावत् क्षेत्रानुभावत एव तिर्यक्प्रायोग्यमेव बध्यत एवेति भाव । तथा द्विकशब्दस्य प्रत्येक सम्बन्धाद् मनुजद्विक—मनुजगति-मनुजानुपूर्वीरूपम्, औदारिकद्विकम्—औदारिकशरीर-औदारिकाङ्गोपाङ्गाख्यम् "वइर" ति वज्रर्षभनाराचसहननम् इत्येतासा पञ्चाना प्रकृतीना "सम्मसुर" त्ति सम्यग्दृष्टिसुरा अत्यन्तविशुद्धास्तीव्रानुभागमेक द्वौ वा समयौ यावद् बध्नन्ति । मिथ्यादृष्टेर्हि सम्यग्दृष्टिरनन्तगुणविशुद्ध इति सम्यग्दृष्टेर्ग्रहणम् । नारका अपि हि विशुद्धा सन्त एता

प्रकृतीरुपरचयन्ति, केवल वेदनानिवहविह्वलीकृतत्वाद् अमरवत् प्रकृष्टभावनिबन्धनतीर्थकरादिसमृद्धिसमुदायसन्दर्शन-तद्वच श्रवण-नन्दीश्वरादिचैत्यदर्शनाद्यसम्भवाच्च तथाविधविशुद्ध्यसम्भवात् तेषामिहाग्रहणम् । तिर्यङ् मनुष्याणा पुनरतिविशुद्धाना देवगतिप्रायोग्यबन्धकत्वात् तदयोग्यप्रस्तुतप्रकृतिबन्धासम्भव इति सर्वव्युदासेन सुरस्यैवोपादानम् । तथा 'अप्रमत्त' अप्रमत्तयतिरमरायुरुत्कृष्टानुभाग बध्नाति, अपरेभ्यो देवायुर्बन्धकमिथ्यादृष्टि-अविरतसम्यग्दृष्टि-देशविरतादिभ्योऽस्यानन्तगुणविशुद्धत्वादिति ।

तदेव द्विचत्वारिंशत पुण्यप्रकृतीना चतुर्दशाना त्वशुभप्रकृतीना तीव्रानुभागबन्धस्वामिन उक्ता । साम्प्रत शेषाणामष्टपञ्चाशुभप्रकृतीना बन्धस्वामिनो निरूपयन्नाह—"चउगइमिच्छा उ सेसाण" ति चतुर्गतिका अपि मिथ्यादृष्टय तुशब्दात् तीव्रोत्कटकषाया जीवा 'शेषाणा' भणितोद्धरिताना ज्ञानावरणपञ्चक-दर्शनावरणनवका ऽसातवेदनीय मिथ्यात्व-कषायषोडशक-नोकषायनवक-प्रथमवर्जसंस्थानपञ्चक-प्रथमान्तिमवर्जसहननचतुष्का-ऽप्रशस्तवर्ण-गन्ध-रस-स्पर्श-उपघाता-ऽप्रशस्तविहायोगति-अस्थिरा-ऽशुभ-दुर्भग-दु स्वरा-ऽनादेया-ऽयश कीर्ति नीचैर्गोत्रा-ऽन्तरायपञ्चकलक्षणानामष्टपञ्चाशुभप्रकृतीना तीव्रमुत्कृष्टानुभाग बध्नन्ति। तत्र हास्य-रति-स्त्रीवेद-पुवेद-प्रथमान्तिमवर्जसस्थान-सहननलक्षणा द्वादश प्रकृतीर्वर्जयित्वा शेषा षट्पञ्चाशत्प्रकृतीरुत्कृष्टतत्प्रायोग्यसक्लेशयुक्तास्तीव्रानुभागा कुर्वन्ति । सर्वोत्कृष्टसक्लेशो हि तावद् हास्य-रतियुगलमतिक्रम्य अरति-शोकयुगलमेव रचयति, स्त्रीवेद-पुवेदौ त्वतिक्रम्य नपुसकवेद निर्वर्तयति । संस्थान-संहननेष्वपि सर्वसंक्लिष्टो विंशतिसागरोपमकोटीकोटीस्थितिके हुण्ड-सेवार्ते निर्वर्तयति । ततो विशुद्धोऽष्टादशसागरोपमकोटीकोटीस्थितिके वामन कीलिके रचयति, ततो विशुद्धतर षोडशसागरोपमकोटीकोटीस्थितिके कुब्जा-ऽर्धनाराचे बध्नाति, ततोऽपि विशुद्धश्चतुर्दशसागरोपमकोटीकोटीस्थितिके सादि-नाराचे निर्वर्तयति, ततोऽपि विशुद्धो द्वादशसागरोपमकोटीकोटीस्थितिके न्यग्रोधपरिमण्डल-ऋषभनाराचे उपकल्पयति, ततोऽपि विशुद्धो दशसागरोपमकोटीकोटीस्थितिके समचतुरस्र-वज्रर्षभनाराचे बध्नाति । तस्मात् प्रथमा-ऽन्तिमवर्जसस्थानचतुष्टयस्य तथा प्रथमा-ऽन्तिमवर्जसहननचतुष्टयस्य चात्मीयात्मीयोत्कृष्टस्थितिबन्धकाले तत्प्रायोग्यसक्लेशयुक्ता अमी उत्कृष्टानुभाग बध्नन्ति, हीनाधिकसक्लेशेऽन्यान्यबन्धसम्भवात् तत्प्रायोग्यसक्लेशग्रहणमिति भाव । प्रथमा-ऽन्तिमसस्थान-सहननवर्जन किमर्थम् ? इति चेद् उच्यते—हुण्डसस्थान तावत् "चउगइमिच्छा उ सेसाण" ति गाथावयवे एवाभिहितम्, समचतुरस्रसंस्थान तु "विउविसुराहारदुग" (गा० ६७) इत्याद्यनन्तरगाथाया भावितम्, वज्रर्षभनाराचसहनन तु "सम्मसुरा मणुयउरलदुगवइर" इत्यत्र निरूपितम्, सेवार्तसहनन पुन "तिरिदुगछेवट्ठसुरनिरया" (गा० ६६) इत्यत्र भावितमिति पारिशेष्याद् मध्यमसस्थानचतुष्टय मध्यमसहननचतुष्टय च तत्प्रायोग्यसंक्लेशे वर्तमानाश्चतुर्गतिका मिथ्यादृष्टयो जीवा उत्कृष्टरस कुर्वन्तीत्युक्तमिति ॥ ६८ ॥

अभिहिता सर्वप्रकृती प्रतीत्योत्कृष्टानुभागबन्धस्वामिन । इदानीं सर्वप्रकृतीरुद्दिश्य जघन्यानुभागबन्धस्वामिनश्चिन्तयन्नाह—

थीणतिगं अण मिच्छं, मंदरसं संजमुम्मुहो मिच्छो।
बियतियकसाय अविरय, देस पमत्तो अरइसोए ॥ ६९ ॥

स्त्यानर्द्ध्या उपलक्षित त्रिक स्त्यानर्द्धित्रिक—निद्रानिद्रा-प्रचलाप्रचला-स्त्यानर्द्धिलक्षणम् "अण" त्ति अनन्तानुबन्धिन —क्रोध-मान-माया-लोभाख्याश्चत्वार मिथ्यात्वम् इत्येतासा-मष्टाना प्रकृतीना स्वगुणस्थानचरमसमये वर्तमानो मिथ्यादृष्टि "सजमुम्मुहु" त्ति सम्यक्त्वसयमाभिमुख —सम्यक्त्वसामायिक प्रतिपित्सु 'मन्दरस' जघन्यानुभाग बध्नाति, प्रस्तुत-प्रकृतिबन्धकेष्वयमेव सर्वविशुद्ध इति। तथा कषायशब्दस्य प्रत्येक योगाद् द्वितीयकषायचतु-ष्टयस्य—अप्रत्याख्यानावरणलक्षणस्य "अविरय" त्ति अविरतसम्यग्दृष्टि स्वगुणस्थानचरमसमये वर्तमान सयमोन्मुख इत्यत्रापि योज्यम्, सयमाभिमुख —देशविरतिसामायिक प्रतिपित्सुर्मन्दरस बध्नाति, प्रस्तुतप्रकृतिबन्धकेष्वस्यैव विशुद्धत्वात्। तथा तृतीयकषायचतुष्टयस्य—प्रत्याख्याना-वरणकषायलक्षणस्य "देस" त्ति देशविरत स्वगुणस्थानचरमसमये वर्तमान सयमोन्मुख — सर्वविरतिसामायिक प्रतिपित्सुर्मन्दरस करोति, तत्प्रकृतिबन्धकेष्वस्यैव विशुद्धतरत्वात्। तथा 'प्रमत्त' प्रमत्तयति सयमोन्मुख —अप्रमत्तसयम प्रतिपित्सु, अरतिश्च शोकश्चाऽरति-शोक तस्मि-न्नरति-शोके अरति-शोकयोर्मन्दरस विदधाति, इद हि प्रकृतिद्वयमशुभत्वात् सर्वविशुद्ध एव जघन्यरस करोति, तद्बन्धकेषु त्वयमेव सर्वविशुद्ध इति ॥ ६९ ॥

अपमाइ हारगदुगं, दुनिद्दअसुवन्नहासरइकुच्छा।
भयमुवघायमपुव्वो, अनियट्टी पुरिससजलणे ॥ ७० ॥

'आहारकद्विक' आहारकशरीरा-ऽऽहारकाङ्गोपाङ्गलक्षण न प्रमाद्यति इत्येवशीलोऽप्रमादी—अप्रमत्तयति अनन्तरमेव प्रमत्तभाव प्रतिपित्सुर्मन्दरस—जघन्यरस करोतीति यावत्। इद हि प्रकृ-तिद्वय शुभस्वरूपत्वात् सक्लिष्ट एव जघन्यरस करोति, तद्बन्धकेषु त्वयमेवातिसक्लिष्ट इति भाव। तथा 'दुनिद्द' त्ति द्वयोर्निद्रयो समाहारो द्विनिद्र—निद्रा-प्रचलालक्षण "सु" शोभन "वन्न" ति वर्णचतुष्क न सुवर्णम् असुवर्णम् अप्रशस्तवर्णचतुष्कम् अप्रशस्तवर्णगन्ध-रस-स्पर्शा इत्यर्थ, हास्य रति "कुच्छ" त्ति जुगुप्सा भयम् उपघातम् इत्येतासामेकादशप्रकृतीना "अपुव्व" त्ति सामान्योक्तावपि क्षपकापूर्वकरण एकैकस्मिन्नात्मीयात्मीयबन्धव्यवच्छेदसमये जघन्यानुभाग बध्नाति। एता ह्यशुभप्रकृतय, अशुभप्रकृतीना च सर्वविशुद्ध एव जघन्यानुभाग बध्नाति, प्रस्तुतप्रकृतिबन्धकेषु त्वयमेव सर्वविशुद्ध इति। तथा "पुरिस" त्ति पुरुषवेद सज्वलना — क्रोध-मान-माया-लोभाश्चत्वार इत्येतस्य प्रकृतिपञ्चकस्यैकैकस्मिन्नात्मीयात्मीयबन्धव्यवच्छेद-समये "अनियट्टि" त्ति सामान्योक्तावपि क्षपकाऽनिवृत्तिबादरो जघन्यानुभाग निर्वर्तयति। एता ह्यशुभप्रकृतय, अशुभप्रकृतीना च सर्वविशुद्ध एव जघन्यानुभाग बध्नाति, प्रस्तुतप्रकृ-तिबन्धकेषु त्वयमेव सर्वविशुद्ध इति ॥ ७० ॥

विग्घावरणे सुहुमो, मणुतिरिया सुहुमविगलतिगआऊ।
वेउव्विछक्कममरा, निरया उज्जोयउरलदुगं ॥ ७१ ॥

विघ्नानि—दान-लाभ भोग-उपभोग-वीर्यान्तरायलक्षणानि पञ्च, आवरणानि—मतिज्ञानाव-

वरण श्रुतज्ञानावरणा ऽवधिज्ञानावरण-मन पर्यायज्ञानावरण केवलज्ञानावरण चक्षुर्दर्शनावरणा ऽचक्षुर्दर्शनावरणा ऽवधिदर्शनावरण केवलदर्शनावरणलक्षणानि नव इत्येतासा चतुर्दशप्रकृतीना "सुहुम" त्ति सामान्योक्तावपि क्षपकसूक्ष्मसम्परायश्चरमसमये वर्तमानो जघन्यानुभाग बध्नाति। एता ह्यशुभप्रकृतय, अशुभप्रकृतीना च सर्वविशुद्ध एव जघन्यानुभाग बध्नाति, प्रस्तुतप्रकृतिबन्धकेषु त्वयमेव सर्वविशुद्ध इति। तथा त्रिकशब्दस्य प्रत्येक सम्बन्धात् सूक्ष्मत्रिक–सूक्ष्मा ऽपर्याप्तक साधारणाख्य, विकलत्रिक–द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रियजातिलक्षणम्, "आउ" त्ति आयूषि–देव-मनुष्य तिर्यङ्-नारकायुर्भेदाच्चत्वारि, वैक्रियषट्क–देवगति देवानुपूर्वी-नरकगति-नरकानुपूर्वी-वैक्रियशरीर-वैक्रियाङ्गोपाङ्गलक्षणम् इत्येतासा षोडशप्रकृतीना "मणुतिरिय" त्ति मनुशब्देन मनुष्या उच्यन्ते, ततो मनुष्याश्च तिर्यञ्चश्च मनुष्य तिर्यञ्चो जघन्यानुभाग कुर्वन्ति। अत्र हि तिर्यङ् मनुष्यायुर्द्वय वर्जयित्वा शेषाश्चतुर्दशप्रकृतीर्देव-नारका भवप्रत्ययादेव न बध्नन्ति। तिर्यङ्-मनुष्यायुर्द्वयमपि यदा जघन्यस्थितिक बध्यते तदा जघन्यरस क्रियते, देव नारकास्तु तद् जघन्य न बध्नन्त्येव, तत्स्थितिकेषु तेषामुत्पत्त्यभावात्। तस्माद् नैतत् प्रकृतिषोडशक देव-नारका बध्नन्ति, अतस्तिर्यङ्-मनुष्याणामेव ग्रहणम्। तत्र नारकायुषोऽशुभप्रकृतित्वात् तद्बन्धकेषु सर्वविशुद्धा दशवर्षसहस्रलक्षणजघन्यस्थितिबन्धकाले जघन्यानुभाग तिर्यङ् मनुष्या कुर्वन्ति, शेषस्य त्वायुस्त्रयस्य शुभप्रकृतित्वात् तद्बन्धकेषु सर्वसक्लिष्टा आत्मीयात्मीयसर्वजघन्यस्थितिबन्धकालेऽमी जघन्यानुभाग रचयन्ति। नरकद्विकस्याशुभप्रकृतित्वाद् जघन्यस्थितिबन्धकाले तद्बन्धकेषु सर्वविशुद्धा एते जघन्यानुभाग निदधति। देवद्विकस्य शुभप्रकृतित्वाद् आत्मीयोत्कृष्टस्थितिबन्धकाले तत्प्रायोग्यसक्लिष्टा अमी जघन्यानुभाग बध्नन्ति। अतिसक्लिष्टो नरकादियोग्य बध्नीयादिति तत्प्रायोग्यसक्लेशग्रहणम्। एवमन्यत्रापि द्रष्टव्यम्। वैक्रियद्विकस्यापि शुभप्रकृतित्वात् नरकगतिबन्धसहिता सर्वोत्कृष्टा स्थिति बध्नन्तो जघन्यानुभाग निर्वर्तयन्ति। विकलत्रिक सूक्ष्मत्रिकयोस्त्वशुभप्रकृतित्वात् तत्प्रायोग्यविशुद्धा अमी सर्वजघन्यमनुभाग बध्नन्ति। अतिविशुद्धा मनुष्यादिप्रायोग्य बध्नन्तीति तत्प्रायोग्यविशुद्धिग्रहणमिति। भाविता षोडश प्रकृतय। तथा उद्योतम् औदारिकद्विकम्–औदारिकशरीर औदारिकाङ्गोपाङ्गलक्षणम् इत्येतासा तिसृणा प्रकृतीना "अमरा निरय' त्ति सामान्यतोऽमरा –देवा, निरया –निर्गतम् अयम्–इष्टफल इव कर्म येभ्यस्ते निरया –नारका सर्वोत्कृष्टसक्लेशे वर्तमानास्तिर्यक्प्रायोग्य बध्नन्तो जघन्यानुभाग कुर्वन्ति, केवलमौदारिकाङ्गोपाङ्गमीशानादुपरितना सनत्कुमाराद्य एव देवा जघन्यरस विदधति नेशानान्ता, ते हि सर्वोत्कृष्टसक्लेशे वर्तमाना एकेन्द्रियप्रायोग्यमेव बध्नन्ति, एकेन्द्रियाणा चाङ्गोपाङ्ग न भवति, अत ईशानान्तदेवाना जघन्यरसाङ्गोपाङ्गनामबन्धासम्भवेन तज्जघन्यरसबन्धकत्वासम्भव। भवत्वेवम्, किन्तु तिर्यङ् मनुष्या कस्मादिद प्रकृतित्रय जघन्यरस न कुर्वन्ति ? इति अत्रोच्यते–एतत् प्रकृतित्रय तिर्यग्गतिप्रायोग्यबन्धसहचरित जघन्यरस बध्यते, तिर्यङ् मनुष्यास्त्वेतावति सक्लेशे वर्तमाना नरकगतिप्रायोग्यमेव रचयेयुरिति तेषामिहाग्रहणमिति ॥ ७१ ॥

१ छा० स० १ स० म० नाविरय ॥

तिरिदुगनिअं तमतमा, जिणमविरय निरय विणिगथावरयं ।
आसुहुमायव सम्मो, च सायथिरसुभजसा सिअरा ॥ ७२ ॥

तथा तिर्यग्द्विक—तिर्यग्गति-तिर्यगानुपूर्वीरूप नीच—नीचैर्गोत्रम् इत्येतासा तिसृणा प्रकृतीना तमस्तमा—सप्तमनरकपृथिवी तस्यामुत्पन्ना नारका अपि तमस्तमा, यद्वा तमस्तमो विद्यते येषा ते तमस्तमा "अभ्रादिभ्य" (सिद्ध० ७–२–४६) इत्यप्रत्यय, सप्तमनरकपृथिवीनारका इत्यर्थ', जघन्यानुभाग कुर्वन्ति । तथाहि—कश्चित् सप्तमपृथिवीनारक सम्यक्त्वाभिमुखो यथाप्रवृत्तादीनि त्रीणि करणानि कृत्वाऽनिवृत्तिकरणस्य चरमसमये मिथ्यात्वस्य चरमपुद्गलान् वेदयन् प्रकृतित्रयस्य जघन्यानुभाग बध्नाति, अस्य हि प्रकृतित्रयस्याशुभत्वात् सर्वविशुद्धो जघन्यानुभाग करोति, तद्बन्धकेषु त्वयमेव सर्वविशुद्ध इति सम्यक्त्वाभिमुखादिविशेषणोपादानम् । अन्यस्थानवर्ती त्वेतावत्या विशुद्धौ वर्तमान उच्चैर्गोत्र मनुष्यद्विकादियुक्त बध्नीयादिति सप्तमपृथिवीनारकस्यैव ग्रहणम् । अस्या हि यावत् किञ्चिदपि मिथ्यात्वमस्ति तावद् भवप्रत्ययादेव नीचैर्गोत्रसहचरितस्तिर्यग्गतिप्रायोग्य एव बन्धो भवतीति । तथा "जिण" ति जिननाम तीर्थकरनामकर्मेत्यर्थ "अविरय" त्ति अविरतसम्यग्दृष्टि सामान्योक्तावपि "व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्ति" इति न्यायाद् अविरतसम्यग्दृष्टि नरके बद्धायुष्को नरकोत्पत्त्यभिमुखोऽनन्तरमेव मिथ्यात्व प्रतिपित्सुर्मनुष्यस्तीर्थकरनाम्नो जघन्यानुभाग बध्नाति, तद्बन्धकेष्वयमेव सर्वसक्लिष्ट इति कृत्वा । इयमत्र भावना—तीर्थकरनाम्नो ह्यविरतसम्यग्दृष्ट्यादयोऽपूर्वकरणान्ता अनुभागबन्धका भवन्ति, किन्तु जघन्यानुभाग शुभप्रकृतीना सक्लेशेन बध्यते, स च तीर्थकरनामबन्धकेष्वविरतस्यैव यथोक्तविशेषणविशिष्टस्य लभ्यत इति शेषव्युदासेनास्यैवोपादानमिति । तत्र तिर्यञ्चस्तीर्थकरनाम्न पूर्वप्रतिपन्ना प्रतिपद्यमानकाश्च भवप्रत्ययेनैव न भवन्तीति मनुष्यग्रहणम् । बद्धतीर्थकरनामकर्मा च पूर्वमबद्धनरकायुर्नरक न व्रजतीति पूर्वं नरके बद्धायुष्कस्य ग्रहणम् । क्षायिकसम्यग्दृष्टिश्च श्रेणिकादिवत् ससम्यक्त्वोऽपि कश्चिद् नरक प्रयाति, किन्तु तस्य विशुद्धत्वेन जघन्यानुभागाबन्धकत्वात् तस्यैव चेह प्रकृतत्वाद् नासौ गृह्यते । अतस्तीर्थकरनामकर्मजघन्यस्थितिबन्धकत्वाद् मिथ्यात्वाभिमुखस्यैव ग्रहणमिति ।

तथा "निरय विणिगथावरय" ति 'निरयान्' नारकान् 'विना' वर्जयित्वा शेषगतित्रयवर्तिनो जीवा "इग" त्ति एकेन्द्रियजाति स्थावरनाम इत्येतत्प्रकृतिद्वयस्य सामान्योक्तावपि "व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्ति" इति न्यायात् परावर्तमानमध्यमपरिणामा जघन्यानुभाग बध्नन्ति । इद हि प्रकृतिद्वयमशुभम्, तत्रातिसक्लिष्टो जन्तुरनयोरुत्कृष्टानुभाग बध्नाति, अतिविशुद्धस्त्विदमुल्लङ्घ्य उत्कृष्टानुभागे पञ्चेन्द्रियजाति-त्रसनाम्नी बध्नातीत्यालोच्य मध्यमपरिणामग्रहणम् । अय च मध्यमपरिणामो यदैकस्मिन्नन्तर्मुहूर्ते एकेन्द्रियजाति-स्थावरनाम्नी बद्ध्वा पुनर्द्वितीयेऽप्यन्तर्मुहूर्ते ते एव बध्नाति तदापि भवति, केवल तदाऽवस्थितपरिणामे तथाविधा विशुद्धिर्न लभ्यते इति मध्यमपरिणामस्यापि परावर्तमानताविशेषणम् । इदमुक्त भवति—यदैकेन्द्रियजाति-स्थावरे बद्ध्वा पञ्चेन्द्रियजातित्रसनाम्नी बध्नाति, ते अपि बद्ध्वा पुनरेकेन्द्रियजाति-स्थावरे बध्नाति, तदैव

परावृत्य परावृत्य बध्नन् परावर्तमानमध्यमपरिणाम तत्प्रायोग्यविशुद्ध प्रस्तुतप्रकृतिद्वयस्य जघन्यानुभाग बध्नाति भवत्वेवम्, तत्रापि नारकवर्जन किमर्थम्? इति चेद् उच्यते—नारकाणां स्वभावादेव प्रस्तुत प्रकृतिद्वयबन्धकत्वासम्भवादिति।

तथा "आसुहमायव" त्ति सुधर्मा नाम सभा विद्यते यत्र स सौधर्म, "ज्योत्स्नादिभ्योऽण्" (सिद्ध० ७-२-३४) इत्यण्प्रत्यय, इह च सौधर्मग्रहणेन समश्रेणिव्यवस्थितत्वाद् ईशानोऽपि गृह्यते, ततश्च भवनपत्यादय ईशानपर्यन्ता देवास्तद्बन्धकेषु सर्वसक्लिष्टा एकेन्द्रियप्रायोग्य बध्नन्त आतपनाम जघन्यानुभाग बध्नन्ति। अस्य हि शुभप्रकृतित्वात् सर्वसक्लिष्ट एव जघन्यानुभाग बध्नाति, तद्बन्धकेषु चैत एव सर्वसक्लिष्टा लभ्यन्ते, तिर्यङ्-मनुष्या ह्येतावति सक्लेशे वर्तमाना नारकादिप्रायोग्य रचयेयु, नारका सनत्कुमारादिदेवाश्च भवप्रत्ययादेव तद् न बध्नन्तीति शेषपरिहारेण यथोक्तदेवानामेव ग्रहणम्।

तथा सातवेदनीय स्थिरनाम शुभनाम यश कीर्तिनामेत्येताश्चतस्र प्रकृती 'सेतरा' सप्रतिपक्षा असातवेदनीया-ऽस्थिरा-ऽशुभा-ऽयश कीर्तिनामसहिता सर्वा अष्टौ प्रकृती "सम्मो व" त्ति सम्यग्दृष्टि, वाशब्दात् मिथ्यादृष्टिर्वा, सामान्योक्तावपि परावर्तमानमध्यमपरिणामो जघन्यानुभागा करोति। कथम्? इति चेद् उच्यते—इह पूर्वं सातस्य पञ्चदशसागरोपमकोटीकोटय उत्कृष्टा स्थितिरभिहिता, असातस्य तु त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोटय, तत्र प्रमत्तसयतस्तत्प्रायोग्यविशुद्धोऽसातस्य सम्यग्दृष्टियोग्यस्थितिषु सर्वजघन्यामन्त सागरोपमकोटीकोटीप्रमाणा स्थितिं बध्नाति, ततोऽन्तर्मुहूर्तात् परावृत्य सात बध्नाति, पुनरप्यसातमिति। एव देशविरता-ऽविरतसम्यग्दृष्टि-सम्यग्मिथ्यादृष्टि-सास्वादन मिथ्यादृष्टयोऽपि परावृत्य परावृत्य साता-ऽसाते बध्नन्ति। तत्र च मिथ्यादृष्टि साता-ऽसाते परावृत्य तावद् बध्नाति यावत् सातस्य पञ्चदशसागरोपमकोटीकोटीलक्षणा ज्येष्ठा स्थिति, तत परतोऽपि सक्लिष्ट सक्लिष्टतर सक्लिष्टतमोऽसातमेव केवल तावद् बध्नाति यावत् त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोटय, प्रमत्तादपि परतोऽप्रमत्तादयो विशुद्धा विशुद्धतरा सातमेव केवल बध्नन्ति यावत् सूक्ष्मसम्पराये द्वादशमुहूर्ता, तदेवमव्यवस्थिते सातस्य समयोनपञ्चदशसागरोपमकोटीकोटीलक्षणाया स्थितेरारभ्य असातेन सह परावृत्य परावृत्य बध्नतो जघन्यानुभागबन्धोचित परावर्तमानमध्यमपरिणामस्तावद् लभ्यते यावत् प्रमत्तगुणस्थानकेऽन्त सागरोपमकोटाकोटीलक्षणा सर्वजघन्याऽसातस्थिति। एतेषु हि सम्यग्दृष्टि-मिथ्यादृष्टियोग्येषु स्थितिस्थानेषु प्रकृते प्रकृत्यन्तरसङ्क्रमे मन्द परिणामो जघन्यानुभागप्रायोग्यो लभ्यते, नान्यत्र। तथाहि—येऽप्रमत्तादय सातमेव केवल बध्नन्ति ते विशुद्धत्वात् तस्य प्रभूतमनुभागमुपकल्पयन्ति, योऽपि मिथ्यादृष्टि सातस्योत्कृष्टा स्थितिमतिक्रान्तोऽसातमेव केवलमुपरचयति सोऽप्यतिसक्लिष्टत्वात् तस्य प्रभूतरसमभिनिर्वर्तयति, सागरोपमसप्तभागत्रयादिरूपवेदनीयस्थितिबन्धकेष्वेकेन्द्रियादिष्वपि जघन्यानुभागबन्धो न सम्भवति, तथाविधाध्यवसायाभावात्, तस्माद् यथोक्तस्थितिबन्ध एव जघन्यानुभागबन्धसम्भव, तथाविधपरिणामसद्भावादिति। अस्थिरा-ऽशुभा-ऽयश कीर्तिना विंशतिसागरोपमकोटीकोटय उत्कृष्टा स्थितिरुक्ता। स्थिर-शुभ-

१ सं० १-म० तथापि॥

यशःकीर्तीनां तु दशसागरोपमकोटीकोट्यः । तत्र प्रमत्तसंयतस्तत्प्रायोग्यविशुद्धोऽस्थिरा-ऽशुभा-ऽयशःकीर्तीनां सम्यग्दृष्टियोग्यस्थितिषु सर्वजघन्यामन्तःसागरोपमकोटीकोटीलक्षणां स्थितिं बध्नाति। ततोऽन्तर्मुहूर्ताद् विशुद्धः पुनरपि स्थिरादिकाः प्रतिपक्षभूता बध्नाति, ततः पुनरप्यस्थिरादिका इति। एवं देशविरता-ऽविरत-मिश्र-सास्वादन-मिथ्यादृष्टयोऽपि परावृत्य परावृत्याऽस्थिरा-शुभा-ऽयशःकीर्ति-स्थिर-शुभ-यशःकीर्तीर्बध्नन्ति। तत्र च मिथ्यादृष्टिः स्थिर-शुभ-यशःकीर्तीरस्थिराऽशुभा-ऽशुयशःकीर्तीश्च परावृत्य तावद् बध्नाति यावद् मिथ्यादृष्टिगुणस्थाने स्थिरादीनामुत्कृष्टा स्थितिः एतेषु च सम्यग्दृष्टि-मिथ्यादृष्टियोग्येषु स्थितिस्थानेषु जघन्यानुभागबन्धो लभ्यते, नान्यत्र दशसागरोपमकोटीकोटीपरतो ह्यस्थिरादय एवाशुभाः प्रकृतयो बहुरसा बध्यन्ते। अप्रमत्तादयस्तु विशुद्धाः स्थिरादिकाः शुभप्रकृतीरेव बहुरसा निर्वर्तयन्तीति नान्यत्र जघन्यानुभाग आसां लभ्यत इति शेषः। भावना तु सातवद् नोद्भाव्येति ॥ ७२ ॥

तसवन्नतेयचउमणुखगइदुगपणिदिसासपरघुच्चं ।
संघयणागिइनपुथीसुभगियरति मिच्छ चउगइया ॥ ७३ ॥

चतुःशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धात् त्रसचतुष्क—त्रस-बादर-पर्याप्त-प्रत्येकाख्यं, वर्णचतुष्क—वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्शाभिधं तैजसचतुष्क—तैजस-कार्मणा-ऽगुरुलघु-निर्माणलक्षणं, द्विकशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धाद् मनुजद्विक—मनुजगति-मनुजानुपूर्वीस्वरूपं खगतिद्विक—प्रशस्तविहायोगति-अशुभविहायोगतिरूपं, पञ्चेन्द्रियजातिः उच्छ्वासनाम पराघातनाम उच्चम्—उच्चैर्गोत्रं संहननानि—वज्रर्षभनाराच-ऋषभनाराच-नाराचा-ऽर्धनाराच-कीलिका-सेवार्तलक्षणानि षट्, आकृतयः—आकाराः संस्थानानि समचतुरस्र-न्यग्रोधपरिमण्डल-सादि-वामन-कुब्ज-हुण्डलक्षणानि षट्, "नपु" त्ति नपुंसकवेदः "थी" ति स्त्रीवेदः, त्रिकशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धात् सुभगत्रिक—सुभग-सुस्वरा-ऽऽदेयलक्षणम्, 'इतरत्रिकं' दुर्भगत्रिक—दुर्भग-दुःस्वरा-ऽनादेयलक्षणम्, एतेषां चत्वारिंशत्प्रकृतीनां "मिच्छ" त्ति मिथ्यादृष्टयश्चतुर्गतिका जघन्यानुभागं कुर्वन्ति।

इह सामान्योक्तावपि "व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिः" इति न्यायात् पञ्चेन्द्रियजाति-तैजस-कार्मण-प्रशस्तवर्ण-गन्ध-रस-स्पर्शा-ऽगुरुलघु-पराघात-उच्छ्वास-त्रस-बादर-पर्याप्त-प्रत्येक-निर्माणलक्षणानां पञ्चदशप्रकृतीनां चतुर्गतिका अपि जीवा मिथ्यादृष्टयः सर्वोत्कृष्टसंक्लेशा जघन्यानुभागं कुर्वन्ति। एता हि शुभप्रकृतित्वात् सर्वोत्कृष्टसंक्लेशैर्जघन्यरसाः क्रियन्ते। तत्र च तिर्यङ्-मनुष्याः सर्वोत्कृष्टसंक्लेशे वर्तमाना नरकगतिसहचरिता एता बध्नन्तो जघन्यरसाः कुर्वन्ति। नारका देवाश्चेशानादुपरिवर्तिनः सनत्कुमारादयः सर्वसंक्लिष्टाः पञ्चेन्द्रियतिर्यक्प्रायोग्या एता बध्नन्तो जघन्यरसाः कुर्वन्ति, ईशानान्तास्तु देवाः सर्वसंक्लिष्टाः पञ्चेन्द्रियजाति-त्रसवर्जाः शेषास्त्रयोदश प्रकृतीरेकेन्द्रियप्रायोग्या बध्नन्तो जघन्यरसा विदधतीति। पञ्चेन्द्रियजाति-त्रसनाम्नी तु विशुद्धा अमी बध्नन्तीति जघन्यरसो न लभ्यत इति तद्वर्जनम्। स्त्रीवेदनपुंसकवेदलक्षणप्रकृतिद्वयस्य चतुर्गतिका अपि मिथ्यादृष्टयो जीवा अशुभत्वाद् एतत्प्रकृतिद्विकस्य तत्प्रायोग्यविशुद्धा जघन्यानुभागं रचयन्ति। अतिविशुद्धः पुरुषवेदबन्धकः स्यादिति तत्प्रायोग्यविशुद्धग्रहणमिति।

मनुष्यद्विक-संहननषट्क संस्थानषट्क विहायोगतिद्विक सुभग-सुस्वरा-ऽऽदेय-दुर्भग-दुःस्व-

रा-ऽऽदेय-उच्चैर्गोत्रलक्षणा। अप्रयोविंशतिप्रकृतीः चतुर्गतिका अपि मिथ्यादृष्टयो मध्यमपरिणामा जघन्यानुभागाः कुर्वन्ति; सम्यग्दृष्टीनां ह्येतासां परावृत्तिर्नास्ति, तथाहि—तिर्यङ्मनुष्याः सम्यग्दृष्टयो देवद्विकमेव बध्नन्ति, न मनुष्यादिद्विकानि, संस्थानेषु तु समचतुरस्रमेव बध्नन्ति, संहननं त्विह किमपि न बध्नन्ति, तथा शुभविहायोगति सुभग सुस्वरा ऽऽदेय-उच्चैर्गोत्राण्येव बध्नन्ति न प्रतिपक्षान्। देवा नारका अपि सम्यग्दृष्टयो मनुष्यद्विकमेव बध्नन्ति, न तिर्यग्द्विकादिकम्, संस्थानेषु तु समचतुरस्रसंस्थानमेव, संहननेषु पुनर्वज्रर्षभनाराचसंहननमेव, विहायोगत्यादिका अपि शुभा एव बध्नन्ति न प्रतिपक्षा इति, तेषां परावृत्त्यभावाद् मिथ्यादृष्टिग्रहणम्। तत्र मनुष्यगतिद्विकस्य पञ्चदशसागरोपमकोटीकोटय उत्कृष्टा स्थितिः, प्रशस्तविहायोगति-सुभग-सुस्वरा-ऽऽदेय-उच्चैर्गोत्र-वज्रर्षभनाराचसंहनन-समचतुरस्रसंस्थानानां तु दशसागरोपमकोटीकोट्य उत्कृष्टा स्थितिः। एताः शुभप्रकृतय आत्मीया-ऽऽत्मीयोत्कृष्टस्थितेरारभ्य प्रतिपक्षप्रकृतिभिः सह तावत् परावृत्य परावृत्य बध्यन्ते, यावत् तासामेव प्रतिपक्षप्रकृतीनां सर्वजघन्याऽन्तःसागरोपमकोटीकोटीलक्षणा स्थितिः। एतेषु स्थितिस्थानेषु परावर्तमानमध्यमपरिणाम एतासां जघन्यानुभागं बध्नाति। हुण्ड-सेवार्तयोरपि वामन-कीलिकयोरुत्कृष्टस्थितेरारभ्य तावत् परावृत्तिर्लभ्यते यावदात्मीयाऽऽत्मीयजघन्यस्थितिः। शेषसंस्थान-संहननानामप्यात्मीयात्मीयोत्कृष्टस्थितेरारभ्य समचतुरस्रसंस्थान-संहननाभ्यां सह परावृत्तिस्तावद् लभ्यते यावदात्मीयाऽऽत्मीयजघन्यस्थितिः। एतेषु स्थितिस्थानेषु मिथ्यादृष्टिः परावर्तमानमध्यमपरिणामो जघन्यानुभागं बध्नातीति ॥ ७३ ॥

अभिहितं सप्रपञ्चं जघन्यानुभागबन्धस्वामित्वम्। साम्प्रतमनुभागबन्धमेव मूलोत्तरप्रकृतीरधिकृत्य भङ्गकैर्विचारयन्नाह—

> चउतेयवन्न वेयणियनामणुक्कोसु सेसधुवबंधी।
> घाईणं अजहन्नो, गोए दुविहो इमो चउहा ॥ ७४ ॥

इह प्रस्तावान्तरसम्बन्धे यथातथा प्रकृतयो भङ्गकैर्विचार्यन्ते। तत्र चतुःशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धात् तैजसचतुष्क—तैजस-कार्मणा-ऽगुरुलघु-निर्माणलक्षणम्, वर्णचतुष्कम्—अप्रशस्तस्य वक्ष्यमाणत्वादिह प्रशस्तं वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्शाख्यं गृह्यते इति, एतासामुत्तरप्रकृतीनामष्टानामनुत्कृष्ट, "इमो चउह" त्ति पदं सर्वत्र योजनीयम्, अयमनुत्कृष्टो बन्धश्चतुर्धा—सादिरनादिर्ध्रुवोऽध्रुवश्च भवति। तथा वेदनीय-नाम्नोर्मूलप्रकृत्योरनुत्कृष्टो बन्धश्चतुर्धा—सादिरनादिर्ध्रुवोऽध्रुवश्च भवति। तथा "सेसधुवबंधि" त्ति षष्ठ्यर्थे प्रथमा, ततो भणितशेषाणां ध्रुवबन्धिनीनां ज्ञानावरणपञ्चक-दर्शनावरणनवक-मिथ्यात्व-कषायषोडशक-भय-जुगुप्सा-ऽप्रशस्तवर्णादिचतुष्क-उपघाता-ऽन्तरायपञ्चकलक्षणानां त्रिचत्वारिंशतः प्रकृतीनामजघन्यानुभागबन्धश्चतुर्धा सादिरनादिर्ध्रुवोऽध्रुवश्च भवति। तथा ज्ञान-दर्शन-चारित्रदानादिगुणान् प्रतीत्येव घातीनि घातीनि—ज्ञानावरण-दर्शनावरण-मोहनीया-ऽन्तरायाणि तेषामजघन्यानुभागबन्धश्चतुर्धा सादिरनादिर्ध्रुवोऽध्रुवश्च भवति। तथा 'गोत्रे' गोत्रकर्मणि द्विविधोऽनुत्कृष्टो-ऽजघन्यलक्षणो बन्धश्चतुर्धा सादिरनादिर्ध्रुवोऽध्रुवश्च भवतीत्यक्षरार्थः।

भावार्थस्त्वयम्—तत्र तैजस-कार्मणा-ऽगुरुलघु-निर्माण-प्रशस्तवर्ण-गन्ध-रस-स्पर्शलक्षणानामष्टानामुत्तरप्रकृतीनामनुत्कृष्टाऽनुभागबन्धः साद्यादिचतुर्विकल्पोऽपि भवति । तथाहि—कर्मणा हि रसो यस्मादन्यो हीनो नास्ति स सर्वजघन्यः, ततः ऊर्ध्वमेकं रसाशमादौ धृत्वा यावत् सर्वोत्कृष्टस्तावदजघन्य इत्यनन्तभेदभिन्नोऽप्ययमौ जघन्याऽजघन्यप्रकारद्वयेन क्रोडीकृतः, तथा यस्माद् अन्योऽधिको रसो न बध्यते स उत्कृष्टः, ततः एकरसांशहानिमादौ कृत्वा यावत् सर्वजघन्यस्तावत् सर्वोऽप्यनुत्कृष्ट इति, अनेन वा प्रकारद्वयेनानन्ता अपि रसविशेषाः सगृहीताः । ततः एतासां प्रस्तुताष्टप्रकृतीनामुत्कृष्टमनुभागबन्धं क्षपकापूर्वकरणो देवगतिप्रायोग्याणां त्रिंशतः प्रकृतीनां बन्धव्यवच्छेदसमये करोति । एता हि शुभप्रकृतयः, अतः एतदुत्कृष्टानुभागं सर्वविशुद्ध एव रचयति, तद्बन्धकेषु स्वयमेव सर्वविशुद्धः । एतस्मात् पुरान्यत्रोपशमश्रेणावप्यनुत्कृष्टोऽनुभागबन्धो लभ्यते, स चोपशान्तमोहाद्यवस्थायां सर्वथा न भवतीति ततः प्रतिपतितैर्जन्तुभिर्बध्यमानः सादिः, तच्च स्थानमप्राप्तपूर्वाणां सदाबध्यमानत्वाद् अनादिः, ध्रुवोऽभव्यानाम्, अध्रुवो भव्यानामिति । प्रतिपादितस्तैजसचतुष्क-वर्णचतुष्कलक्षणप्रकृत्यष्टकस्यानुत्कृष्टो बन्धः । शेषबन्धत्रिकस्य तु का वार्ता ? इत्याह—"सेसम्मि दुह" त्ति 'शेषे' भणितोद्धरिते उत्कृष्ट-जघन्या-ऽजघन्यानुभागत्रिके द्विप्रकारः—सादि-अध्रुवलक्षणो बन्धो भवतीत्यर्थः । तथाहि—अस्य प्रकृत्यष्टकस्योत्कृष्टानुभागबन्धोऽनन्तरमेव क्षपकापूर्वकरणे प्रोक्तः, स च तत्प्रथमतया बध्यमानत्वात् सादिः, एकं च समयं भूत्वाऽग्रेऽवश्यं न भवतीत्यध्रुवः । जघन्यानुभागं त्वेतासां शुभप्रकृतित्वात् सर्वोत्कृष्टसङ्क्लेशे वर्तमानो मिथ्यादृष्टिः पर्याप्तः सज्ञिपञ्चेन्द्रियो बध्नाति । पुनरपि जघन्यतः समयादुत्कृष्टतः समयद्वयादनन्तरं स एवाजघन्यं बध्नाति, पुनः कालान्तरे स एवोत्कृष्टसङ्क्लेशं प्राप्य जघन्यं बध्नातीत्येवं जघन्या ऽजघन्येषु परावर्तमानानां जन्तूनामुभयत्र साद्यध्रुवतैवेति ।

तथा "वेयणियनामणुक्कोसु" त्ति वेदनीय-नाम्नोरनुत्कृष्टोऽनुभागबन्धः साद्यादिचतुर्विकल्पोऽपिभवति । तथाहि—अनयोः कर्मणोः सात-यशःकीर्तिलक्षणं तदन्तर्गतं प्रकृतिद्वयमाश्रित्य सर्वोत्कृष्टो रसः क्षपक-सूक्ष्मसम्परायचरमसमये प्राप्यते, ततोऽन्यः सर्वोऽप्युपशमश्रेणावपि अनुत्कृष्टोऽनुभागबन्धो लभ्यते, ततश्चोपशान्तमोहाद्यवस्थायां सर्वथा न भवतीति ततः प्रतिपतितैर्जन्तुभिर्बध्यमानोऽनुभागः सादिः, उपशान्तमोहाद्यवस्थां त्वप्राप्तपूर्वस्यानादिः, अनादित्वाद् बध्यमानत्वाद्, ध्रुवोऽभव्यानामपर्यन्तत्वात्, अध्रुवो भव्यानां सपर्यन्तत्वादिति । भावितो वेदनीयनाम्नोरनुत्कृष्टो बन्धः । शेषे तु का वार्ता ? इत्याह—"सेसम्मि दुह" त्ति एतत् पदं पूर्वसम्बन्धितमप्यावृत्त्याऽत्रापि सम्बध्यते । ततः शेषे–भणितोद्धरिते उत्कृष्ट-जघन्या-ऽजघन्यलक्षणानुभागत्रिके द्विप्रकारः साद्यध्रुवलक्षणो बन्धो भवति । तथाहि—उत्कृष्टमनुभागबन्धं वेदनीयनाम्नोरनन्तरमेव प्रस्तुतकर्मबन्धकेष्वतिविशुद्धत्वात् क्षपकसूक्ष्मसम्परायो बध्नातीत्युक्तम् । स च तत्प्रथमतया बध्यमानत्वात् सादिः, क्षीणमोहावस्थायां तु नियमात् न भविष्यतीत्यध्रुवः । जघन्यानुभागं त्वनयोः कर्मणोः सम्यग्दृष्टिर्मिथ्यादृष्टिर्वा मध्यमपरिणामो बध्नाति, सर्वविशुद्धो ह्येतत्कर्मद्वयग्रहणगृहीतानां सात-यशःकीर्त्यादिलक्षणशुभप्रकृतीनामुत्कृष्टस्वरूपं शुभरसं कुर्यात्,

१ ग० सर्वोत्कृष्टस० ॥

सर्वसंक्लिष्टस्त्वसात-नरकगत्यादिप्रकृतीनामुत्कृष्टस्वरूपमशुभरस कुर्यादिति मध्यमपरिणामग्रहणम्। अय च जघन्यानुभागोऽजघन्याद् अवतीर्य बध्यत इति सादि, पुनर्जघन्यत समयादुत्कृष्टतस्तु समयचतुष्टयादजघन्यानुभाग बध्नतो जघन्योऽध्रुवोऽजघन्यस्तु सादि, पुनस्तत्रैव भवे भवान्तरे वा जघन्य बध्नतोऽजघन्योऽध्रुव इत्येव जघन्या ऽजघन्यानुभागबन्धयो परिभ्रमतामसुमतामुभयत्र साद्यध्रुवतैव भवतीति ।

तथा "सेसधुवबधि" त्ति शेषध्रुवबन्धिनीना ज्ञानावरणपञ्चक-दर्शनावरणनवक-मिथ्यात्व-कषायषोडशक-भय-जुगुप्सा-ऽप्रशस्तवर्णादिचतुष्का-ऽन्तरायपञ्चक-उपघातलक्षणाना त्रिचत्वारिंशत प्रकृतीनामजघन्योऽनुभाग साद्यादिचतुर्विकल्पो भवति । तथाहि—मति श्रुता-ऽवधिमन पर्याय-केवलावरणपञ्चक-चक्षु -अचक्षु -अवधि केवलदर्शनावरणचतुष्का-ऽन्तरायपञ्चकलक्षणाना चतुर्दशप्रकृतीना तावद् अशुभत्वात् क्षपकसूक्ष्मसम्परायश्चरमसमये जघन्यानुभाग बध्नाति, तद्बन्धकेष्वयमेव सर्वोत्कृष्टविशुद्धिमानिति कृत्वा । ततोऽन्य सर्वोऽपि उपशमश्रेणावप्यजघन्य प्राप्यते, स चोपशान्तावस्थाया सर्वथा न भवति, तस्मादित प्रतिपत्य बध्यमान सादिता भजते, उपशान्तावस्था चाप्राप्तपूर्वाणामनादि, ध्रुवोऽभव्यानाम्, अध्रुवो भव्यानामिति। सज्वलनचतुष्कस्य त्वशुभत्वात् क्षपकानिवृत्तिबादरो यथास्वबन्धव्यवच्छेदसमये एकैक समय जघन्यानुभाग बध्नाति । ततोऽन्य सर्वोऽप्यजघन्य, तस्य चोपशमश्रेणौ बन्धव्यवच्छेदे कृते प्रतिपत्य पुनस्तमेव बध्नत सादित्वम्, उपशान्तावस्था चाप्राप्तपूर्वस्यानादित्वम्, ध्रुवोऽभव्यानाम्, अध्रुवो भव्यानामिति। निद्रा-प्रचला-ऽप्रशस्तवर्णादिचतुष्क-उपघात-भय-जुगुप्सालक्षणाना नवप्रकृतीना क्षपकापूर्वकरणो यथास्वबन्धव्यवच्छेदकाले एकैक समय जघन्यमनुभाग बध्नाति । ततोऽन्य सर्वोऽप्यजघन्य, तस्य चोपशमश्रेणौ बन्धव्यवच्छेद कृत्वा प्रतिपत्य पुनस्तमेव बध्नत सादित्वम्, बन्धाभावस्थान चाप्राप्तपूर्वस्यानादि, ध्रुवोऽभव्यानाम् अध्रुवो भव्यानामिति । चतुर्णा प्रत्याख्यानावरणाना देशविरत सयमप्रतिपत्त्यभिमुखोऽत्यन्तविशुद्ध स्वगुणस्थानस्य चरमसमये वर्तमानो जघन्यमनुभाग बध्नाति। तस्मात् पुन स्थानात् पूर्वं सर्वोऽप्यजघन्य । चतुर्णामप्रत्याख्यानावरणानामविरतसम्यग्दृष्टि क्षायिकसम्यक्त्व सयम च युगपत् प्रतिपित्सुरत्यन्तविशुद्ध स्वगुणस्थानचरमसमये वर्तमानो जघन्यमनुभाग बध्नातीति। ततोऽन्य सर्वोऽप्यजघन्य । स्त्यानर्द्धित्रिक-मिथ्यात्वा-ऽनन्तानुबन्धिचतुष्टयलक्षणानामष्टाना प्रकृतीना मिथ्यादृष्टि सम्यक्त्व सयम च युगपत् प्रतिपित्सु सर्वविशुद्धो मिथ्यात्ववेदनस्य चरमसमये वर्तमानो जघन्यमनुभाग बध्नाति, एतस्माच्चान्यत्र सर्वोऽप्यजघन्य । एते हि देशविरतादयस्तत्तद्बन्धकेष्वतिविशुद्धत्वाद् यथानिर्दिष्टकर्मणा जघन्यमनु(ग्रन्थाग्रम्—२५००)भाग बध्नन्ति । ततश्च सयमादीन् गुणान् प्राप्य पुनरपि प्रतिपत्य यदाऽजघन्यानुभाग बध्नन्ति तदाऽयमजघन्यानुभाग सादि, एतानि च स्थानान्यप्राप्तपूर्वाणामनादि, ध्रुवोऽभव्यानामपर्यन्तत्वात्, अध्रुवो भव्याना सपर्यन्तत्वादिति ।

तदेव त्रिचत्वारिंशत्प्रकृतीनामजघन्यानुभागो भावित । शेषत्रिके तु किम् ? इत्याह—"सेसम्मि दुह" त्ति 'शेषे' भणितोद्धरिते जघन्य-उत्कृष्टा-ऽनुत्कृष्टानुभागत्रिके 'द्विधा' द्विप्रकार' सादि-अध्रुवलक्षणो बन्धो भवति । तत्राजघन्यानुभागभणनप्रसङ्गेन सर्वासा जघन्या-

भागोऽपि सूक्ष्मसम्परायादिगुणस्थानकेषु स्थानतो निर्दिष्ट । स च तत्र तत्र तत्प्रथमतया बध्यमानत्वात् सादि , क्षीणमोहाद्युपरितनावस्थासु चावश्य न भवतीत्यध्रुव । उत्कृष्ट त्वनुभागमेतासा त्रिचत्वारिंशत प्रकृतीना मिथ्यादृष्टि सर्वोत्कृष्टसक्लेश पर्याप्तसज्ञिपञ्चेन्द्रियो बध्नाति एक द्वौ वा समयौ यावत्, तत पर पुनरनुत्कृष्ट बध्नाति, कालान्तरे च पुनरुत्कृष्ट-सक्लेशमासाद्य उत्कृष्टानुभाग रचयतीत्येवमुत्कृष्टा-ऽनुत्कृष्टानुभागेषु ससरता जन्तूनामुभयत्रापि साद्यध्रुवतैव सम्भवति, नेतरद् विकल्पद्वितयमपि ।

तदेव जघन्यादिषु चतुर्ष्वपि भेदेषु साद्यादिभङ्गकाश्चिन्तिता । साम्प्रत्यध्रुवबन्धिनीना तेषु तानाह—"सेसम्मि दुह" त्ति 'शेषे' भणितोद्धरितोत्तरप्रकृतिवृन्देऽध्रुवबन्धिनीप्रकृतिकदम्बके त्रिसप्ततिसङ्ख्ये उत्कृष्टोऽनुत्कृष्टो जघन्योऽजघन्यश्चानुभागबन्ध 'द्विधा' द्विप्रकार सादिरध्रुव एव भवति । प्रकृतय एव ह्येता अध्रुवबन्धित्वात् साद्यध्रुवा , ततस्तत्सत्त्वानुविधायी जघन्यादिरूप , तदनुभागोऽपि यथोक्त एव भवति, न त्वनादिर्ध्रुवो वेति । तथा 'घातिना' घातिकर्मणा ज्ञाना-वरण-दर्शनावरण-मोहनीया-ऽन्तरायलक्षणाना चतुर्णामजघन्योऽनुभाग साद्यादिचतुर्विकल्पो भवति । तथाहि—अशुभप्रकृतीना सर्वजघन्य शुभप्रकृतीना तु सर्वोत्कृष्टमनुभाग य कश्चित् तद्बन्धकेषु सर्वविशुद्ध स एव निर्वर्तयति । तत्र ज्ञानावरण-दर्शनावरणा-ऽन्तरायलक्षणकर्म-त्रयस्याशुभत्वात् क्षपकसूक्ष्मसम्परायश्चरमसमये जघन्यरस निर्वर्तयति, तद्बन्धकेष्वयमेवाति-विशुद्ध इति कृत्वा । मोहनीयस्य त्वनिवृत्तिबादरमेव यावद् बन्धो भवतीति स एव क्षपकश्चरम-समयेऽस्य जघन्यरसमुपकल्पयति, तद्बन्धकेष्वस्यैवातिविशुद्धत्वात् । इत स्थानादन्यत्र सर्वत्रो-पशमश्रेणावपि प्रकृतकर्मचतुष्टयस्यानुभागोऽजघन्य एव बध्यते, उपशमकानामपि क्षपकेभ्यो विशुद्ध्याऽनन्तगुणहीनत्वात् । ततश्चोपशान्तमोह सूक्ष्मसम्परायश्च यथानिर्दिष्टप्रकृतकर्मच-तुष्टयसम्बन्धिनोऽजघन्यानुभागस्याबन्धको भूत्वा प्रतिपत्य यदा पुनस्त बध्नाति तदाऽयम-जघन्यानुभाग सादिर्भवति, बन्धव्यवच्छेदे कृते तत्प्रथमतया बध्यमानत्वात् । यैस्तूपशान्त-मोहाद्यवस्था नाद्यापि प्राप्ता तेषामनादिकालादारभ्याविच्छिन्न बध्यमानत्वाद् अनादि , ध्रुवोऽ-भव्यानाम्, अध्रुवो भव्यानाम् ।

तदेव घातिकर्मणामजघन्योऽनुभागो भावित । शेषत्रिके तु किम् ? इत्याह—"सेसम्मि दुह" त्ति 'शेषे' जघन्य-उत्कृष्टा-ऽनुत्कृष्टलक्षणेऽनुभागत्रिके 'द्विधा' द्विविकल्प सादि-अध्रुव-लक्षणो बन्धो भवति । तथाहि—प्रकृतकर्मचतुष्टयमध्ये मोहनीयस्य तावद् जघन्यानुभाग क्षपकानिवृत्तिबादरचरमसमयेऽनन्तरमेवोक्त , शेषकर्मत्रयस्य तु क्षपकसूक्ष्मसम्परायचरमसमयेऽ-साबुक्त । स चानादिकालेऽपि पर्यटता जीवेन पूर्वं न बद्ध इति तत्प्रथमतया तत्रैव बध्यमान-त्वात् सादि , क्षीणमोहाद्यवस्था च प्राप्तस्य नियमान्न भविष्यतीति अध्रुव । अनादिस्तु न भवति, पूर्वं कदाचिदपि तद्बन्धासम्भवात् । ध्रुवोऽप्यसौ न भवति, अभव्याना तद्बन्धस्य दूरोत्सारितत्वादिति । उत्कृष्टानुभाग तु प्रस्तुतकर्मणामशुभत्वात् सर्वसक्लिष्टो मिथ्यादृष्टि पर्याप्त-सज्ञिपञ्चेन्द्रिय एक द्वौ वा समयौ यावद् बध्नाति, न परत । स चानुत्कृष्टादवतीर्य बध्यत इति सादि । जघन्यत समयादुत्कृष्टतस्तु समयद्वयात् पुनरप्यनुत्कृष्टानुभागबन्ध गतस्योत्कृष्टोऽध्रुवो

भवति, अनुत्कृष्टस्तु सादि । पुनरपि जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तेनोत्कृष्टतस्त्वनन्तानन्ताभिरुत्सर्पिणी-अवसर्पिणीभिरुत्कृष्टसंक्लेशं प्राप्य उत्कृष्टानुभागं बध्नतोऽनुत्कृष्टोऽध्रुवता व्रजतीत्येवमुत्कृष्टानुत्कृष्टेषु जन्तवो भ्राम्यन्तीत्युभयत्र साद्यध्रुवतैव सम्भवति, नेतरविकल्पद्वयमिति ।

तथा 'गोत्रे' गोत्रकर्मणि 'द्विविध' अजघन्योऽनुत्कृष्टश्च तद्बन्धः साद्यादिचतुर्विकल्पो भवति । तथा "सेसम्मि दुह" त्ति 'शेषे' भणितोद्धरिते जघन्योत्कृष्टभेदद्वये 'द्विधा' द्विविकल्पः साद्यध्रुवरूपो भवति । तत्रोत्कृष्टा-ऽनुत्कृष्टावनुभागबन्धौ यथाक्रमं द्वि-चतुर्विकल्पौ यथा वेदनीय-नाम्नोस्तथा निर्विशेषं भावनीयौ । इदानीं जघन्या-ऽजघन्यौ भाव्येते—तत्र कश्चित् सप्तमनरकपृथिवीनारकः सम्यक्त्वाभिमुखो यथाप्रवृत्तादीनि त्रीणि करणानि कृत्वा मिथ्यात्वस्यान्तरकरणं करोति, तस्मिंश्च कृते मिथ्यात्वस्य स्थितिद्वयं भवति—अन्तर्मुहूर्तप्रमाणाऽधस्तनी शेषा तूपरितनी, स्थापना ☐। तत्र चाधस्तनीं स्थितिं प्रतिसमयं वेदयन् यस्मादनन्तरसमये सम्यक्त्वं प्राप्स्यति, तत्र ☐ चरमसमये वर्तमानो नीचैर्गोत्रमाश्रित्य गोत्रकर्मणो जघन्यानुभागं बध्नाति । अन्यस्थानवर्ती ह्येतावत्या विशुद्धौ वर्तमान उच्चैर्गोत्रमजघन्यानुभागान्वितं बध्नीयादिति शेषपरिहारेण सप्तमपृथिवीनारकस्य ग्रहणम् । अयं हि यावत् किञ्चिदपि मिथ्यात्वमस्ति तावद् भवप्रत्ययेनैव तिर्यक्प्रायोग्यं नीचैर्गोत्रं च बध्नाति । तच्चान्यदा बहुमिथ्यात्वावस्थायामजघन्यरसं निर्वर्तयति, प्राप्तसम्यक्त्वोऽप्युच्चैर्गोत्रस्याजघन्यानुभागं बध्नातीति तद्बन्धकेष्वतिविशुद्धत्वाद् यथोक्तविशेषणविशिष्टस्य सम्यक्त्वाभिमुखस्य ग्रहणम् । अयं च जघन्यानुभागस्तत्प्रथमतया बध्यमानत्वात् सादिः, लब्धसम्यक्त्वस्तु स एवोच्चैर्गोत्रमाश्रित्य अजघन्यानुभागं रचयतीति जघन्योऽध्रुवः, अजघन्यानुभागस्तु सादिः, तच्च स्थानमप्राप्तपूर्वस्यानादिः, अभव्यानां ध्रुवः, भव्यानामध्रुव इति जघन्या ऽजघन्यानुभागौ गोत्रकर्मणो यथोक्तद्वि-चतुर्विकल्पाविति ।

"सेसम्मि दुह" त्ति 'शेषे' भणितमूलप्रकृत्युत्तरप्रकृतिभ्योऽवशिष्टे आयुषि नारक तिर्यङ्-मनुष्य-देवायुर्भेदाच्चतुर्विधे जघन्या-ऽजघन्य-उत्कृष्टा ऽनुत्कृष्टानुभागबन्धचतुष्केऽपि 'द्विधा' द्विप्रकारः सादि अध्रुवबन्धलक्षणो बन्धो भवति । तथाहि—अनुभूयमानायुस्त्रिभागादौ प्रतिनियतकाल एवायुषो बध्यमानत्वात् सादित्वात् तदनुभागस्यापि जघन्यादिरूपस्य सादित्वम्, अन्तर्मुहूर्ताच्च परत आयुर्बन्धोऽवश्यमुपरमत इति तस्याध्रुवत्वात् तदनुभागबन्धस्याप्यध्रुवत्वमिति । भाविता अनुभागबन्धमाश्रित्य मूलोत्तरप्रकृतीराश्रित्य भङ्गका इति । अनुभागबन्धः समाप्तः ॥७४॥

सम्प्रति प्रदेशबन्धस्यावसर, ते च प्रदेशाः कर्मवर्गणास्कन्धानां सम्बन्धिनो जीवेन आत्मसात् क्रियन्ते, अतः कर्मवर्गणास्वरूपं वक्तव्यम् । तच्च प्राचीनवर्गणास्वरूपे निगदिते सति ज्ञातुं शक्यम्, अतः प्रसङ्गतः शेषवर्गणास्वरूपमपि निगदनीयम् । शेषाः पुनरौदारिकाद्याः, ताश्च ग्रहणप्रायोग्या-ऽग्रहणप्रायोग्यभेदाद् द्विधा, अत एकाणुक द्व्यणुकादिस्कन्धनिष्पन्ना अग्रहणवर्गणाद्याः कर्मवर्गणावसानाः वर्गणाः सजातीयद्रव्यसमुदायरूपाः निरूपयन्नाह—

सेसम्मि दुहा (अनुभागबन्धः) इगदुगणुगाइ जा अभवणंतगुणियाणू ।
खंधा उरलोचियवग्गणा उ तह अगहणंतरिया ॥ ७५ ॥

"सेसम्मि दुह" त्ति पदं अनुभागबन्धाधिकारे मद्गुमि प्रकारैर्व्याख्यातमित्यनुभागबन्ध.

समर्थित । अणुकशब्द प्रत्येक सम्बध्यते, तत केवलोऽणुरेवाणुक परमाणुरित्यर्थ, एकोऽणुको यत्र स एकाणुक, द्वौ अणुकौ यत्र स द्व्यणुक, एकाणुकद्व्यणुकस्कन्धा आदिर्येषा त्र्यणुकादीना त एकाणुकद्व्यणुकादय "मयूरव्यसकेत्यादय" (सिद्ध० ३-१-११६) इति मध्यमपदलोपी समास, विभक्तिलोपश्च प्राकृतत्वात् । किमवसाना ? इत्याह—"जा अभवणत" इत्यादि । यावद् इत्यव्यय पर्यवसानार्थे, अभव्येभ्योऽनन्तगुणिता, उपलक्षणत्वात् सिद्धानामनन्तभागेऽणवो येषा तेऽभव्यानन्तगुणिताणव । गमकत्वात् समास । 'स्कन्धा' द्विपरमाण्वादिरूपा । अयमर्थ —एकाणुक-द्व्यणुकादय स्कन्धा एकैकपरमाणुवृद्ध्या तावन्नेया यावदभव्येभ्योऽनन्तगुणै सिद्धानन्तभागवर्तिभि परमाणुभिर्निष्पन्नास्ते स्कन्धा एवम्भूता । किम् ? इत्याह—औदारिकोचितवर्गणा भवन्ति । तत्रोदारा —स्फारतामात्रसारा वैक्रियादिशरीरपुद्गलापेक्षया स्थूला इत्यर्थ, तैरित्थम्भूतै पुद्गलैर्निष्पन्नमौदारिकशरीरम्, तस्यौदारिकस्य निष्पत्तौ कर्तव्यायामुचिता —योग्या औदारिकोचिता, ताश्च ता वर्गणाश्च समानजातीयपुद्गलसमूहात्मिका औदारिकोचितवर्गणा भवन्तीत्यक्षरार्थ ।

भावार्थस्त्वयम्—इह समस्तलोकाकाशप्रदेशेषु ये केचन एकाकिन परमाणवो विद्यन्ते तत्समुदाय सजातीयत्वाद् एका वर्गणा, एव द्विप्रदेशिकानामनन्तानामपि स्कन्धाना सजातीयत्वाद् द्वितीया वर्गणा, त्रिप्रदेशिकानामनन्तानामपि स्कन्धाना सजातीयत्वात् तृतीया वर्गणा, एवमेकैकपरमाणुवृद्ध्या सङ्ख्येयप्रदेशिकानामनन्तानामपि स्कन्धाना सजातीयसमुदायरूपा सङ्ख्याता वर्गणा, असङ्ख्यातप्रदेशिकस्कन्धानामेकैकपरमाणुवृद्धानामसङ्ख्येया वर्गणा, अनन्तपरमाणुनिष्पन्नस्कन्धानामनन्ता वर्गणा, अनन्तानन्तप्रदेशिकाना स्कन्धानामनन्तानन्तवर्गणा, सर्वा अप्येता अल्पपरमाणुमयत्वेन स्थूलपरिणामतया च स्वभावाद् जीवाना ग्रहे न समागच्छन्तीत्यग्रहणवर्गणा एता सर्वा अप्युच्यन्ते । एताश्च सर्वा समतिक्रम्य अभव्यानन्तगुणै सिद्धानन्तभागवर्तिभि परमाणुभिर्निष्पन्नै स्कन्धैरारब्धा ग्रहणप्रायोग्या जघन्यौदारिकवर्गणा भवन्ति । तत आरभ्य एकैकपरमाणुवृद्धस्कन्धारब्धा औदारिकशरीरयोग्योत्कृष्टवर्गणा यावदेता अपि जघन्योत्कृष्टमध्यवर्तिन्योऽनन्ता वर्गणा भवन्ति, यतो जघन्याया सकाशाद् उत्कृष्टाया अनन्तभागाधिकत्व वक्ष्यते, अनन्तभागश्चानन्तपरमाणुमय, तत एकोत्तरप्रदेशोपचये सति मध्यवर्तिनीनामानन्त्य न विरुध्यते । "तह अगहणतरिय" त्ति 'तथा' तेन एकैकपरमाणूपचयरूपेण प्रकारेण 'अग्रहणान्तरिता' अग्रहणवर्गणान्तरिता वर्गणा भवन्ति । एतदुक्त भवति—औदारिकशरीरोत्कृष्टवर्गणाभ्य परत एकपरमाणुसमधिकस्कन्धरूपा वर्गणा औदारिकशरीरस्यैव जघन्याऽग्रहणप्रायोग्या, ततो द्विपरमाण्वधिकस्कन्धरूपा द्वितीयाऽग्रहणप्रायोग्या, एवमेकैकपरमाण्वधिकस्कन्धरूपा वर्गणास्तावद् वाच्या यावदुत्कृष्टा अग्रहणप्रायोग्या वर्गणा भवति, जघन्यायाश्च वर्गणाया सकाशाद् उत्कृष्टा वर्गणा अनन्तगुणा । गुणकारकश्चाऽभव्यानन्तगुण-सिद्धानन्तभागकल्पराशिप्रमाणो द्रष्टव्य । एतासा चाग्रहणप्रायोग्यता औदारिक प्रति प्रभूतपरमाणुनिष्पन्नत्वात् सूक्ष्मपरिणामत्वाच्च वेदितव्येति ॥ ७५ ॥

एमेव विउव्वाहारतेयभासाणुपाणमणकम्मे ।
सुहुमा कमावगाहो, ऊणूणगुलअसंखंसो ॥ ७६ ॥

'एग्मेव' वकारलोप "यावत्तावज्जीवितवर्तमानावटप्रावारकदेवकुलैवमेवे व" (सिद्ध० ८ १-२७१) इति प्राकृतसूत्रेण, पूर्वोक्तौदारिकशरीरग्रहणप्रायोग्या ऽग्रहणप्रायोग्यवर्गणान्यायेन वैक्रिया-ऽऽहारक तैजस-भाषा-ऽऽनापान-मन कर्मविषया वर्गणा भवन्ति । तत्र विविधा–नाना प्रकारा क्रिया–विक्रिया, तथा च तद्धेतुभूताया क्रियाया वैक्रियसमुद्धातकरण-दण्डनिसर्गादिविविधत्व प्रज्ञप्त्यादिषु निर्दिष्टमेव, औदारिकाद्यपेक्षया वा विशिष्टा विलक्षणा वा क्रिया विक्रिया, तस्या भव वैक्रिय शरीरम् । तथाऽपूर्वार्थग्रहणादिनिमित्तचतुष्कं प्राप्य हस्तप्रमाण चतुर्दश पूर्वविदा आह्रियते–गृह्यते यत् तद् आहारकम्, कृत् "बहुलम्" (सिद्ध० ५-१ २) इति कर्मणि णक यथा पादहारक इत्यादौ, यद्वा आह्रियन्ते–गृह्यन्ते सूक्ष्मा जीवाद्य पदार्था केवलिसमीपेऽनेनेति निपातनादाहारकम् । तथाऽऽहारपाककारणभूतास्तेजोनिसर्गहेतवश्चोष्णा पुद्गलास्तेज इत्युच्यन्ते, तेन तेजसा निर्वृत्त तैजस शरीर सूक्ष्मादिलिङ्गगम्यम् । तथा भाषण भाषा । तथा आनापान –उच्छ्वासनि श्वास । तथा मन्यते–चिन्त्यते वस्त्वनेनेति मन । तथा कर्मणा–नामकर्मोत्तरप्रकृत्या निर्वृत्त कार्मणम्, ज्ञानावरणीयाद्यष्टविधकर्मस्वप्रायोग्यपुद्गलाना गृहीताना तत्तद्रूपेण परिणामजनकमित्यर्थ । ततो वैक्रियादिनिष्पत्तियोग्या पुद्गलवर्गणा अपि वैक्रियादिशब्दै प्रोच्यन्ते, यावद् ज्ञानावरणाद्यष्टविधकर्मपरिणामहेतुक दलिकमपि कार्मणवर्गणेति । ततश्च वैक्रिय चाहारक च तैजस च भाषा चानापानश्च मनश्च कार्मण चेति समाहारद्वन्द्वस्तस्मिन् वैक्रिया-ऽऽहारक-तैजस-भाषा-ऽऽनापान मन कार्मणे । एता वैक्रियाद्या वर्गणा अग्रहणवर्गणान्तरिता भवन्तीत्यक्षरार्थ ।

भावार्थस्त्वयम्—तत्र या पूर्वमौदारिक प्रति प्रभूतपरमाणुनिष्पन्नत्वात् सूक्ष्मपरिणामत्वाच्चाग्रहणप्रायोग्या वर्गणा उक्तास्ता एव वैक्रिय प्रति स्वल्पपरमाणुनिष्पन्नत्वात् स्थूलपरिणामत्वाच्चाग्रहणप्रायोग्या वर्गणा वेदितव्या । ततोऽग्रहणप्रायोग्योत्कृष्टवर्गणापेक्षया च एकपरमाण्वधिकस्कन्धरूपा वर्गणा वैक्रियशरीरप्रायोग्या जघन्या वर्गणा, ततो द्विपरमाण्वधिकस्कन्धस्वरूपा द्वितीया वैक्रियशरीरस्य ग्रहणप्रायोग्या वर्गणा, एवमेकैकपरमाण्वधिकस्कन्धरूपा वैक्रियशरीरप्रायोग्या वर्गणास्तावद् वाच्या यावदुत्कृष्टा ग्रहणप्रायोग्या वर्गणा भवति, जघन्या याश्चोत्कृष्टा अनन्तगुणेति, एव सर्वत्र । वैक्रियशरीरोत्कृष्टवर्गणापेक्षया च एकपरमाण्वधिकस्कन्धरूपा जघन्या अग्रहणप्रायोग्या वर्गणा, ततो द्विपरमाण्वधिकस्कन्धरूपा द्वितीया अग्रहणप्रायोग्या, एवमेकैकपरमाण्वधिकस्कन्धरूपा अग्रहणप्रायोग्या वर्गणास्तावद् वाच्या यावदुत्कृष्टा अग्रहणप्रायोग्या वर्गणा । एताश्च प्रभूतद्रव्यनिष्पन्नत्वात् सूक्ष्मपरिणामोपेतत्वाच्च वैक्रियशरीरस्याग्रहणयोग्या , आहारकस्याप्यल्पपरमाणुनिष्पन्नत्वाद् बादरपरिणामोपेतत्वाच्चाग्रहणयोग्या , एवमुत्तरत्रापि भावना कार्या । अग्रहणप्रायोग्योत्कृष्टवर्गणापेक्षया च एकपरमाण्वधिकस्कन्धरूपा वर्गणा आहारकशरीरप्रायोग्या जघन्या वर्गणा, जघन्यायाश्च उत्कृष्टान्ता एता अपि यथोत्तरमेकोत्तरपरमाणुवृद्धिमत्स्कन्धारब्धा अनन्ता भवन्ति । ततस्तदुपरि रूपाधिकरूपैरा-

रब्धा आहारक-तैजसयोरुक्तादेव हेतोरयोग्या जघन्या अग्रहणवर्गणा, जघन्याद्या उत्कृष्टान्ता एता अप्येकोत्तरपरमाणुवृद्धिमत्स्कन्धारब्धा अनन्ता एव मन्तव्या । तदुपरि च रूपाधिकस्कन्धारब्धा तैजसशरीरनिष्पादनहेतुर्जघन्या तैजसशरीरवर्गणा, जघन्याया उत्कृष्टा यावद् एता अप्येकोत्तरवृद्धिमत्स्कन्धारब्धा अनन्ता एव मन्तव्या । तदुपरि चैकोत्तरपरमाण्वारब्धा स्कन्धा प्रागुक्तहेतोरेव तैजस-भाषयोरयोग्यत्वादनन्ता अग्रहणवर्गणा वाच्या । तदुपरि रूपाधिकस्कन्धैरारब्धा जघन्या भाषावर्गणा, या भाषार्थं जीवोऽवलम्बते, या च गृहीत्वा चतुर्विधभाषात्वेन परिणमय्य विसृजतीति भाव, जघन्याया उत्कृष्टा यावदेता अप्येकैकपरमाणुवृद्धिमत्स्कन्धारब्धा अनन्ता ज्ञेया । तदुपरि च रूपाधिकस्कन्धैरारब्धा जघन्या अग्रहणवर्गणा, जघन्यामादौ कृत्वोत्कृष्टा यावदेता अप्येकैकपरमाणुवृद्धिमत्स्कन्धारब्धा अनन्ता अवसेया । तदुपरि रूपाधिकस्कन्धैरारब्धा जघन्या आनापानवर्गणा भवति, या गृहीत्वा आनापानभाव नयति, जघन्याया आरभ्योत्कृष्टा यावदेता अप्येकैकोत्तरवृद्धिमत्स्कन्धारब्धा अनन्ता मन्तव्या । ततस्तदुपरि पुनरेकैकोत्तरस्कन्धारब्धा जघन्याद्या उत्कृष्टान्ता अनन्ता एवाग्रहणवर्गणा वाच्या । तदुत्कृष्टाग्रहणवर्गणोपरि रूपे प्रक्षिप्ते जघन्या मनोनिष्पत्तिहेतुर्मनोवर्गणा भवति, या गृहीत्वा जीव सत्या-ऽसत्यादिचतुर्विधमनोयोगभावेन[1] परिणमय्य चिन्तयति, जघन्याद्या उत्कृष्टान्ता एता अप्येकैकोत्तरपरमाणुवृद्धिमत्स्कन्धारब्धा अनन्ता अवसेया । ततस्तदुपरि एकैकपरमाणुवृद्धिमत्स्कन्धारब्धा जघन्याद्या उत्कृष्टवर्गणान्ता अनन्ता अग्रहणवर्गणा । तत उत्कृष्टाग्रहणवर्गणोपरि रूपे प्रक्षिप्ते जघन्या ज्ञानावरणादिहेतुभूता कार्मणवर्गणा भवति, जघन्याया उत्कृष्टा यावदेता अप्येकैकोत्तरपरमाणुवृद्धिमत्स्कन्धारब्धा अनन्ता मन्तव्या । अत्रौदारिकादिवर्गणा आदौ कृत्वा जघन्यमध्यमोत्कृष्टा अग्रहण-ग्रहणा-ऽग्रहणप्रायोग्या वर्गणा स्थापनया दर्श्यन्ते—

औदारिका ग्रहणवगणा १	औदारिक ग्रहणवर्गणा २	अग्रहणव गणा ३	वैक्रियग्रहण-वर्गणा ४	अग्रहणव र्गणा ५	अहारकव र्गणा ६	अग्रहणव र्गणा ७	तैजसग्रहण-वर्गणा ८
३ शून्यानि	६ शून्यानि	९ शून्यानि	१२ शून्यानि	१५ शून्यानि	१८ शून्यानि	२१ शून्यानि	२४ शून्यानि
२ शून्ये	५ शून्यानि	८ शून्यानि	११ शून्यानि	१४ शून्यानि	१७ शून्यानि	२० शून्यानि	२३ शून्यानि
१ शून्यम्	४ शून्यानि	७ शून्यानि	१० शून्यानि	१३ शून्यानि	१६ शून्यानि	१९ शून्यानि	२२ शून्यानि

अग्रहणव र्गणा ९	भाषाग्रहण वर्गणा १०	अग्रहणव र्गणा ११	आनापान ग्रहणवर्गणा १२	अग्रहणव गणा १३	मनोग्रहण वर्गणा १४	अग्रहणव र्गणा १५	कार्मणग्रहण-वगणा १६
२७ शून्यानि	३० शून्यानि	३३ शून्यानि	३६ शून्यानि	३९ शून्यानि	४२ शून्यानि	४१ शून्यानि	४८ शून्यानि
२६ शून्यानि	२९ शून्यानि	३२ शून्यानि	३५ शून्यानि	३८ शून्यानि	४१ शून्यानि	४४ शून्यानि	४७ शून्यानि
२५ शून्यानि	२८ शून्यानि	३१ शून्यानि	३४ शून्यानि	३७ शून्यानि	४० शून्यानि	४३ शून्यानि	४६ शून्यानि

१ स० १-२ म० त० °मनोभावे° ॥

एवमेता औदारिकाद्या कार्मणवर्गणावसाना वर्गणा प्ररूपिता । इत ऊर्ध्वमन्यत्र कर्मप्रकृत्यादिष्वन्या अपि ध्रुवा-ऽचित्ताद्या वर्गणा निरूपिता, ताश्चेहानुपयोगित्वेन नोक्ता, तत एवावसेया, संक्षेपरुचिसत्त्वानुग्रहार्थत्वात् प्रस्तुतप्रारम्भस्येति ।

उक्ता वर्गणा, एताश्च बहुतरपरमाणुनिचयरूपा अभिहिता, अत कियन्मात्रं क्षेत्र ता व्याप्नुवन्ति ? इत्याह—"सुहुमा कमा" इत्यादि । एता औदारिकाद्या वर्गणा 'क्रमात्' क्रमेण—उत्तरोत्तरपरिपाट्या सूक्ष्मा ज्ञातव्या । अयमर्थ —प्रथममग्रहणवर्गणा औदारिकस्य सूक्ष्मा, ततस्तस्यैव ग्रहणवर्गणा सूक्ष्मा, ततस्तस्यैवाग्रहणवर्गणा सूक्ष्मा । ततो वैक्रियस्य ग्रहणवर्गणा सूक्ष्मा, ततस्तस्यैवाग्रहणवर्गणा सूक्ष्मा । तत आहारकग्रहणवर्गणा सूक्ष्मा, ततस्तदग्रहणवर्गणा सूक्ष्मा । ततस्तैजसग्रहणवर्गणा सूक्ष्मा, ततस्तदग्रहणवर्गणा सूक्ष्मा । ततो भाषाग्रहणवर्गणा सूक्ष्मा, ततस्तदग्रहणवर्गणा सूक्ष्मा । तत आनापानग्रहणवर्गणा सूक्ष्मा, ततस्तदग्रहणवर्गणा सूक्ष्मा । ततो मनोग्रहणवर्गणा सूक्ष्मा, ततस्तदग्रहणवर्गणा सूक्ष्मा । तत कार्मणग्रहणवर्गणा सूक्ष्मा इति । "अवगाहो ऊणूणंगुलअसंखंसु" त्ति अवगाहन्ते—अवस्थान कुर्वन्ति वर्गणा यस्मिन् असावगाह —अवस्थानक्षेत्रम्, स च कियन्मात्र ? इत्याह—'ऊनोनाङ्गुलासङ्ख्येयांश' न्यून न्यूनतरोऽङ्गुलस्यासङ्ख्येयांश —अङ्गुलासङ्ख्येयभागो यत्र स तथा। एतदुक्त भवति—पुद्गलद्रव्याणा हि यथा यथा प्रभूतपरमाणुनिचय सम्पद्यते तथा तथा सूक्ष्म सूक्ष्मतर परिणाम सञ्जायते, तत औदारिकवर्गणास्कन्धानामवगाहनाऽङ्गुलासङ्ख्यभाग, स एव तदग्रहणवर्गणाना न्यून, स एव वैक्रियग्रहणवर्गणाना न्यून, तदग्रहणवर्गणाना स एव न्यून, आहारकग्रहणवर्गणाना स एव न्यून, तदग्रहणवर्गणाना स एव न्यून, तैजसग्रहणवर्गणानां स एव न्यून, तदग्रहणवर्गणाना स एव न्यून, भाषाग्रहणवर्गणाना स एव न्यून, तदग्रहणवर्गणाना स एव न्यून, आनापानग्रहणवर्गणाना स एव न्यून, तदग्रहणवर्गणाना स एव न्यून, मनोग्रहणवर्गणाना स एव न्यून, तदग्रहणवर्गणाना स एव न्यून, कार्मणग्रहणवर्गणाना स एवाङ्गुलासङ्ख्येयभागो न्यूनतर इति ॥ ७६ ॥

उक्त वर्गणाना स्वरूपमवगाहक्षेत्रमान च । अधुनैकादिवृद्ध्या वर्धमानानामग्रहणवर्गणाना परिमाणनिरूपणायाह—

इक्किक्कहिया सिद्धाणंतंसा अंतरेसु अग्गहणा ।
सव्वत्थ जहन्नुचिया, नियणंतंसाहिया जिट्ठा ॥ ७७ ॥

एकैक परमाणु प्रतिस्कन्धमधिक —उत्तरप्रवृद्धो यासु ता एकैकाधिका एकैकपरमाणुवृद्धा इत्यर्थ, अग्रहणवर्गणा भवन्तीति योग । कियत्य ? इत्याह—'सिद्धानन्तांशा' सिद्धानामनन्तोंऽश —भागो यासा ता सिद्धानन्तांशा —सिद्धानन्तभागवर्तिन्य, उपलक्षणत्वाद् अभव्यानन्तगुणा । आसामाधारनिरूपणायाह—'अन्तरेषु अन्तरालेष्वौदारिक-वैक्रियादिवर्गणामध्येष्वित्यर्थ, 'अग्रहणा' अग्रहणवर्गणा । एतदुक्त भवति—निजनिजजघन्याग्रहणवर्गणैकस्कन्धे ये परमाणवस्तेऽभव्यराशिप्रमाणेनानन्तकेन गुणिता यावन्तो भवन्ति तावत्योऽग्रहणवर्गणा एकैकपरमाणुवृद्धा अन्तरेषु मन्तव्या । अधुना ग्रहणयोग्यवर्गणासु निजनिजजघन्यवर्गणाया सकाशात्

स्वस्वोत्कृष्टवर्गणाया यावन्मात्राधिकत्व तदाह—"सव्वत्थ जहन्नुचिया नियणतसाहिया जिट्ठा" 'सर्वत्र' सर्वास्वप्यौदारिक-वैक्रिया-ऽऽहारक-तैजस भाषा ऽऽनापान-मन -कार्मणवर्गणासु जघन्या चासावुचिता च—योग्या च जघन्योचिता योग्यजघन्येत्यर्थ , तस्या सकाशात् , प्राकृतत्वात् पञ्चम्येकवचनस्य लुप् , निजेन—स्वकीयेनानन्तांशेन—अनन्तभागेनाधिका—समर्गला भवति । काऽसौ [2] इत्याह—'ज्येष्ठा' उत्कृष्टा। किमुक्त भवति [2]—औदारिकजघन्यग्रहणवर्गणारम्भकस्कन्धस्यानन्तभागे यावन्तोऽणवस्तत्प्रमाणेन विशेषेणोत्कृष्टवर्गणारम्भक एकैकस्कन्धोऽधिको मन्तव्य । अत एवानन्तभागलब्धपरमाणूनामनन्तत्वेनैकैकपरमाणुवृद्ध्या जायमाना जघन्योत्कृष्टान्तरालवर्तिन्य औदारिकवर्गणा अप्यनन्ता सिद्धा भवन्ति। एव वैक्रिया-ऽऽहारक-तैजस-भाषा-ऽऽनापान-मन कार्मणवर्गणास्वपि ग्रहणप्रायोग्यासु निजनिजजघन्यवर्गणारम्भकस्कन्धस्यानन्तभागे येऽनन्तपरमाणवस्तावन्मात्रेणानन्तभागेन स्वस्वोत्कृष्टवर्गणारम्भक एकैक स्कन्धोऽधिको वाच्य , तस्य चानन्तभागस्यानन्तपरमाणुमयत्वेनैकैकपरमाणुवृद्धा सर्वग्रहणवर्गणा अप्यनन्ता अवसेया , केवलमुत्तरोत्तरवर्गणास्कन्धानामनन्तगुणपरमाणूपचितत्वेनानन्तभागोऽप्युत्तरोत्तरानुप्रवृद्ध-प्रवृद्धतरप्रवृद्धतमादिभेदेन नानाविधो द्रष्टव्य इति ॥ ७७ ॥

अथ यादृश कर्मस्कन्धदलिक जीवो गृह्णाति तदाह—

अंतिमचउफासदुगंधपंचवन्नरसकम्मखंधदलं ।
सव्वजियणंतगुणरसमणुजुत्तमणंतयपएसं ॥ ७८ ॥

जीव कर्मस्कन्धदल गृह्णातीत्युत्तरगाथाया सम्बन्ध । तत्र "अंतिम" त्ति अन्ते भवा अन्तिमा "पश्चादाद्यन्ताग्रादिम" (सिद्ध० ६-३-७५) इतीमप्रत्यय , अन्त्या —पर्यन्तवर्तिन , अन्तिमत्व च "फासा गुरुलहुमिउखरसीउण्हसिणिद्धरुक्खऽट्ठ" (गा० ४०) इति कर्मविपाकसूत्रप्रतिपादितक्रममाश्रित्य ज्ञेयम्। चत्वार —चतु सङ्ख्या स्पर्शा —शीत-उष्ण-स्निग्ध रूक्षलक्षणा यस्य कर्मस्कन्धदलस्य—कर्मस्कन्धद्रव्यस्येत्यर्थ , तदन्तिमचतु स्पर्शम् । अयमत्राशय — अमीषा चतुर्णां स्पर्शाना मध्यात् कोऽपि परमाणु केनाप्यविरुद्धेन स्पर्शद्वयेन सयुक्तस्तत्र विद्यते। तथाहि—स्निग्ध-उष्णस्पर्शद्वितयोपेत कश्चित् परमाणुस्तत्र भवति, कश्चन रूक्ष शीतस्पर्शद्वययुक्त परमाणु , कश्चिच्च स्निग्ध-शीतस्पर्शद्वयोपेत , कश्चित्तु रूक्ष-उष्णस्पर्शद्वयसमन्वित इति । अत स्कन्धद्रव्यमभव्यानन्तगुणपरमाणुनिर्वृत्त सिद्धानन्तभागवर्तिपरमाणुकलितमविरुद्धस्पर्शद्वयोपेतपरमाणुसहिततया चतु स्पर्शसम्पन्न सङ्गच्छत एव । गुरु-लघु-मृदु-कठिनस्पर्शवन्तश्च ये परमाणवस्ते कर्मस्कन्धद्रव्ये न भवन्तीति । एतच्च प्रज्ञप्ति-कर्मप्रकृत्याद्यभिप्रायेणोक्तम् । बृहच्छतकटीकाया तु—"मृदु-लघुलक्षण स्पर्शद्वय तावदवस्थित भवति, अपरौ च स्निग्ध-उष्णौ स्निग्ध-शीतौ वा, रूक्ष-उष्णौ रूक्ष-शीतौ वा, द्वावविरुद्धौ भवत" (पत्र १०४-१) इति चतु स्पर्शोक्तिरुक्ता । तथा द्वौ सुरभि-दुरभिलक्षणौ गन्धौ यस्य तद् द्विगन्धम् । पञ्चशब्दस्य प्रत्येक सम्बन्धात् पञ्चेति—पञ्चसङ्ख्या वर्णा कृष्ण-नील-लोहित-हारिद्र शुक्ललक्षणा यस्य तत्

1 स० २ त० छा० °न स्वकीयेना° ॥ २ स० १–२ °रासु प्र° ॥ ३ स्पर्शा गुरुर्लघुर्मृदु खर शीत उष्ण स्निग्धो रूक्ष इत्यष्टौ ॥

पञ्चवर्णम् । पञ्च रसा –तिक्त-कटुक कषाया-ऽम्ल-मधुररसरूपा यस्य तत् पञ्चरसम् । कार्मणवर्गणाप्रधाना स्कन्धा कर्मस्कन्धा , त एव यथास्वकाल दलनाद् विशरारुभवनात् "दल निफला विशरणे" (सिद्धहेमधा० पा० २२२) इति वचनात्, दल–दलिक कर्मस्कन्धदलम् । ततोऽन्तिमचतु स्पर्शं च तद् द्विगन्ध चान्तिमचतु स्पर्शद्विगन्धम्, अन्तिमचतु स्पर्शद्विगन्ध च तत् पञ्चवर्णं चान्तिमचतु स्पर्शद्विगन्धपञ्चवर्णम्, अन्तिमचतु स्पर्शद्विगन्धपञ्चवर्णं च तत् पञ्चरसं चान्तिमचतु स्पर्शद्विगन्धपञ्चवर्णपञ्चरसम्, अन्तिमचतु स्पर्शद्विग धपञ्चवर्णपञ्चरस च तत् कर्मस्कन्धदल चान्तिमचतु स्पर्शद्विगन्धपञ्चवर्णपञ्चरसकर्मस्कन्धदलम् । इह स्कन्धग्रहणेनैतत् सूचयति— ये कर्मस्कन्धास्त एव चतु स्पर्शवन्तो जीवेन गृह्यन्ते, औदारिक-वैक्रिया-ऽऽहारकशरीरयोग्यास्तु स्कन्धा अष्टस्पर्शा एव गृह्यन्ते इति, तैजसाद्याश्च ये ग्रहणप्रायोग्यास्तेऽपि सर्वे चतु स्पर्शवन्त एव जीवेन गृह्यन्त इति मन्तव्यम् । वर्ण-गन्ध-रसा पुनरौदारिकादीना सर्वेषामपि स्कन्धाना यथोक्तप्रमाणा एव भवन्ति । उक्त च—

पचरसपचवन्नेहिं परिणया अट्ठ फास दो गधा ।
जीवाहारगजोगा, चउफासविसेसिया उवरिं ॥ (पञ्चसं० गा० ४१०)

आहारकस्कन्धेभ्य उपरितनास्तैजसाद्या स्कन्धा ग्रहणप्रायोग्या सर्वे चतु स्पर्शा भवन्तीत्यर्थ ।

तथा सर्वजीवेभ्योऽनन्तो गुणो येषा ते सर्वजीवानन्तगुणा , रस्यते–विपाकानुभवनेन आस्वाद्यत इति रस –अनुभागस्तस्याणव –अशा रसाणव , सर्वजीवानन्तगुणाश्च ते रसाणवश्च सर्वजीवानन्तगुणरसाणवस्तैर्युक्त–समन्वितम् । इदमत्र हृदयम्—इह सर्वजघन्यस्यापि पुद्गलस्य रस केवलिप्रज्ञया छिद्यमान सर्वजीवानन्तगुणान् भागान् प्रयच्छति । ते च भागा अति सूक्ष्मतयाऽपरभागाभावान्निरशा अशा रसाणव इत्युच्यन्ते । रसाणवो रसविभागा रसपरिच्छेदा भावपरमाणव इति पर्याया । ते च रसाणव प्रतिस्कन्ध सर्वकर्मपरमाणुषु सर्वजीवानन्तगुणा विद्यन्ते, तैश्चैवविधै रसाणुभिर्युक्त परिगत कर्मस्कन्धदलिक जीवो गृह्णातीति । एतदुक्त भवति— निम्बेक्षुरसाद्यधिश्रयणैस्तण्डुलेषु प्रत्येक यथा रसविशेष तद्वद्रूप पक्वा जनयति, तथा अनुभागबन्धाध्यवसायै सर्वस्क धेष्वभव्यानन्तगुणकर्मप्रदेशनिष्पन्नेषु प्रतिपरमाणु सर्वजीवेभ्योऽनन्त गुणान् रसाविभागपरिच्छेदान् जीवो जनयतीति । तथा "अणतयपएस" ति अनन्ता अभव्यानन्तगुणा सिद्धेभ्योऽनन्तगुणहीना प्रदेशा पुद्गला यत्र तदनन्तप्रदेशम् । इदमुक्त भवति— अभव्येभ्योऽनन्तगुणै सिद्धेभ्योऽनन्तगुणहीनै परमाणुभिर्निष्पन्नमेकैक कर्मस्कन्ध गृह्णाति, तानपि स्कन्धान् प्रतिसमयमभव्येभ्योऽनन्तगुणान् सिद्धानामनन्तभागवर्तिन एव गृह्णातीति ॥ ७८ ॥

एगपएसोगाढ, नियसव्वपएसओ गहेइ जिओ ।
थेवो आउ तदसो, नामे गोए समो अहिओ ॥ ७९ ॥

एकस्मिन् प्रदेशेऽवगाढमेकप्रदेशावगाढ–येष्वाकाशप्रदेशेषु जीवोऽवगाढस्तेष्वेव यत् कर्म पुद्गलद्रव्य तद् रागादिस्नेहगुणयोगाद् आत्मनि लगति । यदाह वाचकमुख्य[1]—

---

1 पञ्चरसपञ्चवर्णै परिणता अष्ट स्पर्शा द्वौ गन्धौ । जीवाहारकयोग्याश्चतु स्पर्शविशेषिता उपरि ॥

स्नेहाभ्यक्तशरीरस्य, रेणुना श्लिष्यते यथा गात्रम् ।
रागद्वेषाक्लिन्नस्य कर्मबन्धो भवत्येवम् ॥ (प्रशम० का० ५५)

न त्वनन्तरपरम्परप्रदेशावगाढम्, भिन्नदेशस्यस्य कर्मपुद्गलद्रव्यस्य ग्राह्यत्वपरिणामाभावात् । यथा हि दहन स्वप्रदेशस्थितान् योग्यपुद्गलानात्मभावेन परिणमयति इत्येव जीवोऽपि स्वक्षेत्रस्थमेव द्रव्यमादत्ते न त्वनन्तरपरम्परप्रदेशस्थम् । एतच्च द्रव्य गृह्यमाण जीवेन नैकेन प्रदेशेन न द्व्यादिभिर्वा प्रदेशै किन्तु सर्वैरप्यात्मीयप्रदेशैरित्येतदेवाह—निजा —आत्मीया सर्वे—समस्ता' प्रदेशा निजसर्वप्रदेशास्तैर्निजसर्वप्रदेशत, आद्यादेराकृतिगणत्वात् तस्प्रत्यय, निजसर्वप्रदेशै कर्मस्कन्धदलिक गृह्णातीत्यर्थ, जीवप्रदेशाना सर्वेषामपि शृङ्खलावयवानामिव परस्पर सबन्धविशेषभावात् । तथाहि—एकस्य जीवस्य समस्तलोकाकाशप्रदेशराशिप्रमाणा प्रदेशा वर्तन्ते, मिथ्यात्वादिबन्धकारणोदये च सति एकस्मिन् जीवप्रदेशे स्वक्षेत्रावगाढग्रहणप्रायोग्यद्रव्यग्रहणाय व्याप्रियमाणे सर्वेऽप्यात्मप्रदेशा अनन्तरपरम्परतया तद्ग्रहणाय व्याप्रियन्ते, यथा हस्ताग्रेण कस्मिंश्चिद् बाह्ये घटादिके गृह्यमाणे मणिबन्ध कूर्पराऽसादयोऽपि तद्ग्रहणायाऽनन्तरपरम्परतया व्याप्रियन्त इति । अथैवमेकाध्यवसायगृहीतकर्मपुद्गलद्रव्यस्य यस्मिन् कर्मणि यावन्मात्रो भागो भवति इत्येतदभिधित्सुराह—"थेवो आउ तदसो" त्ति इहाष्टविधबन्धकेन जन्तुना यदेकेनाध्यवसायेन विचित्रतागर्भेण गृहीत दलिक तस्याष्टौ भागा भवन्ति, सप्तविधबन्धकस्य सप्त भागा, षड्विधबन्धकस्य षड् भागा, एकविधबन्धकस्यैको भाग । तत्र यदाऽऽयुर्बन्धकालेऽष्टविधबन्धको जन्तुर्भवति तदा शेषकर्मस्थित्यपेक्षयाऽऽयुषोऽल्पस्थितित्वेन गृहीतस्य तस्यानन्तस्कन्धात्मककर्मद्रव्यस्याश —भाग सर्वस्तोक आयुष्करूपतया परिणमति, ततो नाम्नि गोत्रे च तुल्यस्थितित्वेन स्वस्थाने द्वयोरपि भाग सम, तत आयुष्कभागात्तु 'अधिक' विशेषाधिक इति ॥ ७९ ॥

विग्घावरणे मोहे, सव्वोवरि वेयणीये जेणप्पे ।
तस्स फुडत्तं न हवइ, ठिईविसेसेण सेसाणं ॥ ८० ॥

विघ्नस्य—अन्तरायस्य आवरणयो —ज्ञानावरण-दर्शनावरणयोर्भाग सम, स्वस्थाने त्रयाणामपि तुल्यस्थितिकत्वात्, नाम-गोत्रापेक्षया त्वधिक, विशेषाधिक इत्यर्थ । ततोऽन्तरायज्ञानावरण-दर्शनावरणभागाद् 'मोहे' मोहनीये भाग 'अधिक' विशेषाधिक । ननु तर्हि वेदनीयस्य किंरूपो भागो भवति ? इत्याह—'सर्वोपरि' वेदनीये सर्वकर्मभागोपरिष्टाद् विशेषाधिको भागो भवति । इदमुक्त भवति—शेषकर्मापेक्षया तावद् मोहनीयस्योपरि भाग उक्त, वेदनीयस्य पुनर्मोहनीयभागादपि सकाशाद् उपर्येव भाग । अत्र विनेय पृच्छति—किं पुनरिह कारण येनोक्तक्रमेण कर्मणा भागाधिक्य भवति ? इति, अत्र वेदनीयस्य तावद् भागाधिक्ये कारणमाह—"तस्स फुडत्त न हवइ" त्ति 'येन' कारणेन 'अल्पे' स्तोके दलिके सति 'तस्य' वेदनीयस्य कर्मण 'स्फुटत्व' सुख-दु खानुभवनव्यक्तिरिति यावत् 'न' नैव 'भवति' जायते । एतदुक्त भवति—सुख-दु खजननस्वभाव वेदनीय कर्म, तद्भावपरिणताश्च पुद्गला स्वभावात् प्रचुरा एव सन्त

१ सं० १-२-त० म० छा० °न विग्घ° ॥ २ सं० १-२ त० म० छा० °यणीइ जे° ॥

स्वकार्यं सुख-दु खरूप व्यक्तीकर्तुं समर्था, शेषकर्मपुद्गला पुन स्वल्पा अपि स्वकार्यं निष्पादयन्ति । दृश्यते च पुद्गलाना स्वकार्यजननेऽल्पबहुत्वकृत सामर्थ्यवैचित्र्यम् । यथा हि घृष्टादि कदशन बहुतरमुपभुक्त तृप्तिलक्षण स्वकार्यमातनोति, मृद्वीकादिक त्वल्पमपि भुक्त तृप्तिमुपकल्पयति, यथा विष स्वल्पमपि मारणादिकार्यं साधयति, लेप्टुकादिक तु प्रचुरमिति, एवमिहापि उपनय कार्य । तस्मात् प्रभूता वेदनीयपुद्गला सुख दु खे साधयन्तीति सुख-दु खस्फुटत्व कारणाद् वेदनीयस्य महान् भाग इति स्थितम् । शेषकर्मणा भागस्य हीनाधिकत्वे कारणमाह— "ठिईविसेसेण सेसाण" ति वेदनीयात् शेषकर्मणामायुष्कादीना भागस्य हीनत्वमाधिक्य वा विज्ञेयम् । केन ? इत्याह—स्थितिविशेषेण हेतुभूतेन, यस्य नाम-गोत्रादेरायुष्काद्यपेक्षया महती स्थितिस्तस्य तदपेक्षया भागोऽपि महान्, यस्य त्वसौ हीना तस्य सोऽपि हीन इति भाव । ननु स्थित्यनुरोधेन भागो भवन्नायुष सकाशाद् नाम-गोत्रयोर्भाग सङ्ख्यातगुण प्राप्नोति तत् किमित्युक्त विशेषाधिक इति ? सत्यमेतत्, किन्तु सर्वोऽपि नरकगत्यादिकर्मकलाप आयुष्कोदय मूल, तदुदय एव तस्योदयात्, अत आयुष्क प्रधानत्वाद् बहुपुद्गलद्रव्य लभते । यद्येव तद पेक्षयाऽप्रधानत्वाद् नाम-गोत्रयोर्भागस्य विशेषाधिकत्वमयुक्तमिति, सत्यमेतत्, किन्तु नाम-गोत्रे सततबन्धिनी, ततस्तदपेक्षया बहुद्रव्यमाप्नुत, आयुष्क तु कादाचित्कबन्धत्वादल्पद्रव्यमाप्नोति । इदमुक्त भवति—स्थित्यनुसारेण सङ्ख्यातगुणहीनताप्राप्तावपि शेषकर्मोदयाक्षेपकत्वेन प्रधानत्वाद् नाम-गोत्रापेक्षया किञ्चिदूनमेव भागमायुष्क लभते, नाम-गोत्रे त्वप्रधानतया हीनताप्राप्तावपि सततबन्धित्वादायुष्कापेक्षया विशेषाधिकमेव भाग लभेते । ननु तथापि ज्ञानावरणाद्यपेक्षया मोहनीयस्य सङ्ख्यातगुणो भाग प्राप्नोति, तत्स्थितेर्ज्ञानावरणीयादिस्थित्यपेक्षया सङ्ख्यातगुणत्वात्, अत कथ विशेषाधिक उक्त ? सत्यम्, दर्शनमोहनीयलक्षणाया एकस्या एव मिथ्यात्वप्रकृते सप्ततिसागरोपमकोटीकोटीलक्षणा स्थितिरुक्ता, चारित्रमोहनीयस्य तु कषायलक्षणस्य चत्वारिंशत्सागरोपमकोटीकोटीलक्षणैव स्थिति, अतस्तदनुसारेण विशेषाधिक एव तद्भाग उक्तो न तु सङ्ख्यातगुण । दर्शनमोहनीयद्रव्य तु सर्वमेव चारित्रमोहनीयदलिकात् सर्वघातित्वेनानन्तभाग एव वर्तत इति न किञ्चित् तेन वर्धत इति । युक्तिमात्र चैतत्, निश्चयतस्तु श्रीसर्वज्ञवचनप्रामाण्यादेवातीन्द्रियार्थप्रतिपत्ति । भवत्वेवम् तथाप्येकस्मिन् समये गृहीतद्रव्यस्य कथमष्टधा परिणाम ? कथ चैन भागविकल्पना ? इति चेद् उच्यते—अचिन्त्यत्वाज्जीवशक्तेर्विचित्रत्वाच्च पुद्गलपरिणामस्य जीवव्यतिरिक्तानामपि ह्यभ्रे द्रधनुरादिपुद्गलाना विचित्रा परिणतिरवलोक्यते किमुत जीवपरिगृहीतानाम् ? इत्यल विस्तरेणेति ॥ ८० ॥

कृता मूलप्रकृतीना भागप्ररूपणा । साम्प्रतमुत्तरप्रकृतीना भागप्ररूपणा चिकीर्षुराह—

नियजाइलद्धदलियाणतसो होइ सव्वघाईणं ।
बज्झतीण विभज्जइ, सेस सेसाण पइसमय ॥ ८१ ॥

यका यका प्रकृतयो यस्या यस्या मूलप्रकृतौ पठिता विद्यन्ते तासा सैव प्रकृतिर्निजजातिर्विज्ञेया । तया तया निजनिजमूलप्रकृतिरूपया निजजात्या यद् लब्ध—प्राप्त दलिकाग्र तस्य योऽनन्ताश —अनन्तभाग सर्वघातिरसयुक्त स एव 'सर्वघातिनीना' प्रकृतीना केवलज्ञाना-

वरण-केवलदर्शनावरण-निद्रापञ्चक-मिथ्यात्व-सञ्ज्वलनवर्जद्वादशकषायलक्षणाना विंशतिसङ्ख्याना-मपि 'भवति' जायते। काऽत्र युक्ति ? इति चेद् उच्यते—इहाष्टानामपि मूलप्रकृतीना प्रत्येक ये स्निग्धतरा परमाणवस्ते स्तोका, ते च स्वस्वमूलप्रकृतिपरमाणूनामनन्ततमो भाग, त एव च सर्वघातिप्रकृतियोग्या । तस्मिश्चानन्ततमे भागे सर्वघातिरसयुक्तेऽपसारिते शेषस्य दलिकस्य देशघातिरसोपेतस्य का वार्त्ता ? इत्याह—"बज्झतीण विभज्जइ" इत्यादि । बध्यमानाना न त्वबध्यमानाना 'विभज्यते' विभागीक्रियते, विभज्य विभज्य दीयत इत्यर्थ । 'शेष' सर्वघाति-प्रकृत्यनन्तभागावशिष्ट प्रदेशाग्र कासा बध्यमानाना विभज्यते ? इत्याह—'शेषाणा' सर्वघाति-प्रकृत्यवशिष्टाना स्वजातिप्रकृतीनाम्, कथम् ? इत्याह—'प्रतिसमय' प्रतिक्षणम्, बन्धन-विभजन-क्रिययोरुभयोरपि क्रियाविशेषणमिद योजनीयम् ।

अयमत्र तात्पर्यार्थ —इह ज्ञानावरणस्य पञ्च तावदुत्तरप्रकृतय, तासु चैका केवलज्ञाना-वरणलक्षणा सर्वघातिनी, शेषाश्चतस्रो देशघातिन्य । तत्र ज्ञानावरणस्य भागे यद् दलिकमा-याति तस्य यद् अनन्तभागवर्ति सर्वघातिरसोपेत द्रव्य तत् केवलज्ञानावरणस्यैव भागतया परिणमति । शेष तु देशघातिरसोपेत द्रव्य चतुर्धा विभज्यते, तच्च मतिज्ञानावरण-श्रुतज्ञाना-वरणा-ऽवधिज्ञानावरण-मन पर्यायज्ञानावरणेभ्यो दीयते । दर्शनावरणस्य च नव उत्तरप्रकृतय, तासु च केवलदर्शनावरण निद्रापञ्चक चेति षट् सर्वघातिन्य, शेषास्तिस्रो देशघातिन्य । तत्र दर्शनावरणस्य भागे यद् द्रव्यमागच्छति तस्य मध्ये यत् सर्वघातिरसोपेतमनन्ततमभाग-वर्ति द्रव्य तत् षड्भिर्भागैर्भूत्वा सर्वघातिप्रकृतिषट्करूपतयैव परिणमति, शेष तु देशघातिरस-युक्त द्रव्य शेषप्रकृतित्रयभागरूपतयेति । वेदनीयस्य पुन सातरूपाऽसातरूपा वैकेव प्रकृतिरे-कदा बध्यते, न युगपदुभे अपि, साता-ऽसातयो परस्पर विरोधात्, अतो वेदनीयभागलब्ध द्रव्यमेकस्या एव बध्यमानाया प्रकृते सर्व भवति । मोहनीयस्य स्थित्यनुसारेण यो मूलभाग आभजति तस्यानन्ततमो भाग सर्वघातिप्रकृतियोग्यो द्वेधा क्रियते, अर्ध दर्शनमोहनीयस्य अर्ध चारित्रमोहनीयस्य । तत्रार्ध दर्शनमोहनीयसत्क समग्रमपि मिथ्यात्वमोहनीयस्य ढौकते । चारि-त्रमोहनीयस्य तु सत्कमर्ध द्वादशधा क्रियते, ते च द्वादश भागा आद्येभ्यो द्वादशकषायेभ्यो दीयन्ते, स्वस्थाने तु कषायद्वादशकस्यापि तुल्यम् । शेष तु देशघातिरससमन्वित द्रव्य द्विधा क्रियते, तत्रैको भाग कषायमोहनीयस्य द्वितीयो नोकषायमोहनीयस्य । तत्र कषायमोहनी-यस्य भागश्चतुर्धा क्रियते, ते च चत्वारोऽपि भागा सञ्ज्वलनक्रोध-मान-माया-लोभाना दीयन्ते । नोकषायमोहनीयस्य पुनर्भाग पञ्चधा क्रियते, ते च पञ्चापि भागा यथाक्रम त्रयाणा वेदाना-मन्यस्मै वेदाय बध्यमानाय, हास्य-रतियुगल-ऽरति-शोकयुगलयोरन्यतरस्मै युगलाय भय-जुगु-प्साभ्या च दीयन्ते नान्येभ्य, बन्धाभावात् । न हि नवापि नोकषाया युगपद् बन्धमायान्ति, किन्तु यथोक्ता पञ्चैव । आयुषस्तु भागे यद् द्रव्यमागच्छति तत् सर्वमेकस्या एव बध्यमान-प्रकृतेर्भवति, यत आयुष एकस्मिन् काले एकैव प्रकृतिर्बध्यत इति । नामकर्मणो भागभावना कर्मप्रकृत्यभिप्रायेण दर्श्यते । तत्रेय गाथा—

पिंडपगईसु बज्झतिगाण वन्नरसगंधफासाणं ।

सव्वेसिं संघाए, तणुम्मि य तिगे चउक्के वा ॥ (कर्मप्र० गा० २७)

अस्या अक्षरार्थगमनिका—पिण्डप्रकृतयो नामप्रकृतय । यदुक्त कर्मप्रकृतिचूर्णौ—
पिंडपगईओ नामपगईओ त्ति । (   )

तासु मध्ये बध्यमानानामन्यतमगति-जाति शरीर-बन्धन-संघातन-सहनन-संस्थाना ऽङ्गोपाङ्गाऽऽनुपूर्वीणां वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्शा-ऽगुरुलघु-पराघात-उपघात-उच्छ्वास-निर्माण-तीर्थकराणां आतप-उद्योत-प्रशस्ता-ऽप्रशस्तविहायोगति-त्रस-स्थावर-बादर-सूक्ष्म-पर्याप्ता-ऽपर्याप्त-प्रत्येक-साधारण-स्थिरा ऽस्थिर-शुभा-ऽशुभ-सुभग-दुर्भग-सुस्वर-दु स्वरा ऽऽदेया ऽनादेय-यश कीर्ति-अयश कीर्त्यन्यतराणां च मूलभागो विभज्य समर्पणीय । अत्रैव विशेषमाह—वर्णेत्यादि । वर्ण-ग-ध-रस-स्पर्शानां प्रत्येक यद् भागलब्ध दलिकमायाति तत् सर्वेभ्यस्तेषामेवावान्तरभेदेभ्यो विभज्य विभज्य दीयते । तथाहि—वर्णनाम्नो यद् भागलब्ध दलिक तत् पञ्चधा कृत्वा शुक्लादिभ्योऽवान्तरभेदेभ्यो विभज्य विभज्य प्रदीयते, एव गन्ध-रस-स्पर्शानामपि यस्य याव तो भेदास्तस्य सम्बन्धिनो भागस्य तति भागा कृत्वा तावद्भ्योऽवान्तरभेदेभ्यो दातव्या । तथा सङ्घाते तनौ च प्रत्येक यद् भागलब्ध दलिकमायाति तत् त्रिधा चतुर्धा वा कृत्वा त्रिभ्यश्चतुर्भ्यो वा दीयते । तत्रौदारिक-तैजस-कार्मणानि वैक्रिय-तैजस-कार्मणानि वा त्रीणि शरीराणि सङ्घातान् वा युगपद्बध्नता त्रिधा क्रियते, वैक्रिया-ऽऽहारक-तैजस कार्मणरूपाणि चत्वारि शरीराणि सङ्घातान् वा बध्नता चतुर्धा क्रियते । "सत्तेक्कार विगप्पा बंधणनामाण" (कर्मप्र० गा० २८) बन्धननाम्ना भागलब्ध यद् दलिकमायाति तस्य सप्त विकल्पा —सप्त भेदा शरीरत्रये, एकादश वा विकल्पा शरीरचतुष्टये क्रियन्ते । तत्रौदारिकौदारिक १ औदारिकतैजस २ औदारिककार्मण ३ औदारिकतैजसकार्मण-४ तैजसतैजस ५ तैजसकार्मण ६ कार्मणकार्मण ७ लक्षणबन्धनानि बध्नता सप्त, वैक्रियचतुष्का-ऽऽहारकचतुष्क-तैजसत्रिकलक्षणान्येकादश बन्धनानि बध्नता एकादश, अवशेषाणा च प्रकृतीना यद् भागलब्ध दलिकमायाति तद् न भूयो विभज्यते, तासा युगपदवान्तरद्वित्र्यादिभेदबन्धाभावात्, तेन तासा तदेव परिपूर्ण दलिक भवतीति । गोत्रस्य तु यद् भागागत द्रव्य तद् एकस्या एव बध्यमानप्रकृते सर्व भवति, यद् गोत्रस्यैकदा उच्चैर्गोत्रलक्षणा नीचैर्गोत्रलक्षणा वैकैव प्रकृति र्बध्यते । अन्तरायभागलब्ध तु द्रव्य दानान्तरायादिप्रकृतिपञ्चकतया परिणमति, यत एता पञ्चापि ध्रुवबन्धित्वात् सर्वदैव बध्यन्त इति ।

ननु "बज्झतीण विभज्जइ" इति वचनेन बध्यमानानामेवाय भागविधिरुक्त, यदा च स्वस्वगुणस्थाने बन्धव्यवच्छेद सम्पद्यते तदा तासां भागलब्ध द्रव्य कस्या भागतया भवति ? इति अत्रोच्यते—यस्या प्रकृतेर्बन्धो व्यवच्छिद्यते तद्भागलब्ध द्रव्य यावदेकाऽपि सजातीय प्रकृतिर्बध्यते तावत् तस्या एव तद् भवति । यदा पुन सर्वासामपि सजातीयप्रकृतीना बन्धो व्यव

१ स० १–२ छा० त० म० °त सहन° ॥

२ अस्मत्पार्श्ववर्तिषु समेष्वप्यादर्शेषु एतादृश एव पाठ पर कर्मप्रकृतिटीकायां तु—°कार्मण ७-रूपाणि वैक्रियचतुष्क-तैजसत्रिकरूपाणि वा सप्त बन्धनानि बध्नता सप्त । वैक्रियच° इत्येवरूप पाठो दृश्यते ॥

च्छिन्नो भवति न च मिथ्यात्वस्येवापरा सजातीया प्रकृतिरस्ति तदा तद्भागलभ्य द्रव्य सर्वमपि मूलप्रकृत्यन्तर्गताना विजातीयप्रकृतीनामपि भवति । यदा ता अपि व्यवच्छिन्ना भवन्ति तदा तद्दलिक सर्वमप्यन्यस्या मूलप्रकृते सम्पद्यते ।

निदर्शन चात्र यथा—स्त्यानर्द्धित्रिकस्य बन्धव्यवच्छेदे तद्भागलभ्य द्रव्य सर्वमपि सजातीययोर्निद्रा प्रचलयोर्भवति, तयोरपि बन्धविच्छेदे सति स्वमूलप्रकृत्यन्तर्गताना चक्षुर्दर्शनावरणादीना विजातीयानामपि भवति, तेषामपि च बन्धे विच्छिन्ने उपशान्तमोहाद्यवस्थाया नि शेष सातवेदनीयस्यैव भवति । मिथ्यात्वस्य तु बन्धविच्छेदे सति सजातीयाभावात् तद्भागलभ्य दलिक सर्वं विजातीयानामेव क्रोधादीनामाद्यद्वादशकषायाणा भवतीत्यनया दिशा तावद् नेय यावत् सूक्ष्मसम्परायगुणस्थाने मोहनीयस्य भागलभ्य द्रव्य षड्भागतया भवति । तत ऊर्ध्वमुपशान्ताद्यवस्थायां सर्वथा शेषमूलप्रकृतीना बन्धविच्छेदे तद्भागलभ्य द्रव्य सर्वं सातवेदनीयस्यैव भागतया भवतीति ।

अत्रैव कर्मप्रकृतिटीकाकारोपदर्शित स्वस्वोत्तरप्रकृतीनामुत्कृष्टपदे जघन्यपदे चाल्पबहुत्व विनेयजनानुग्रहाय प्रदर्श्यते—तत्रोत्कृष्टपदे सर्वस्तोक प्रदेशाग्र केवलज्ञानावरणस्य, ततो मन पर्यवज्ञानावरणस्यानन्तगुणम्, ततोऽवधिज्ञानावरणस्य विशेषाधिकम्, तत श्रुतज्ञानावरणस्य विशेषाधिकम्, ततो मतिज्ञानावरणस्य विशेषाधिकम् । तथा दर्शनावरणे उत्कृष्टपदे सर्वस्तोक प्रचलाया प्रदेशाग्रम्, ततो निद्राया विशेषाधिकम्, तत प्रचलाप्रचलाया विशेषाधिकम्, ततो निद्रानिद्राया विशेषाधिकम्, तत स्त्यानर्द्धेर्विशेषाधिकम्, तत केवलदर्शनावरणस्य विशेषाधिकम्, ततोऽवधिदर्शनावरणस्यानन्तगुणम्, ततोऽचक्षुर्दर्शनावरणस्य विशेषाधिकम्, ततश्चक्षुर्दर्शनावरणस्य विशेषाधिकम् । तथा सर्वस्तोकमुत्कृष्टपदे प्रदेशाग्रमसातवेदनीयस्य, तत सातवेदनीयस्य विशेषाधिकम् । तथा मोहनीये सर्वस्तोकमुत्कृष्टपदे प्रदेशाग्रमप्रत्याख्यानावरणमानस्य, ततोऽप्रत्याख्यानावरणक्रोधस्य विशेषाधिक, ततोऽप्रत्याख्यानावरणमायाया विशेषाधिक, ततोऽप्रत्याख्यानावरणलोभस्य विशेषाधिक, तत प्रत्याख्यानावरणमानस्य विशेषाधिक, तत प्रत्याख्यानावरणक्रोधस्य विशेषाधिक, तत प्रत्याख्यानावरणमायाया विशेषाधिक, ततः प्रत्याख्यानावरणलोभस्य विशेषाधिक, ततोऽनन्तानुबन्धिमानस्य विशेषाधिक, ततोऽनन्तानुबन्धिक्रोधस्य विशेषाधिक, ततोऽनन्तानुबन्धिमायाया विशेषाधिक, ततोऽनन्तानुबन्धिलोभस्य विशेषाधिकम् । ततो मिथ्यात्वस्य विशेषाधिकम् । ततो जुगुप्साया अनन्तगुणम्, ततो भयस्य विशेषाधिकम् । ततो हास्य-शोकयोर्विशेषाधिक, स्वस्थाने तु द्वयोरपि परस्पर तुल्यम् । ततो रति-अरत्योर्विशेषाधिक, तयो पुन स्वस्थाने तुल्यम् । तत स्त्रीवेद-नपुसकवेदयोर्विशेषाधिक, स्वस्थाने तु द्वयोरपि परस्पर तुल्यम् । तत संज्वलनक्रोधस्य विशेषाधिक, तत संज्वलनमानस्य विशेषाधिकम् । तत पुरुषवेदस्य विशेषाधिकम् । तत सज्वलनमायाया विशेषाधिक, तत संज्व-

१ सं० १ त० छा० °न्धव्यवच्छे° ॥ २ सं० २ °धव्यवच्छेदे ॥ ३ यद्यपि कर्मप्रकृतिटीकायाम्—'°स्यानन्तगुण' एतादृश एव पाठ समस्ति, तथापि अस्मत्पार्श्वस्थेषु एतद्ग्रन्थस्य समेष्वप्यादर्शेषु—'°स्य विशेषाधिकम्' इत्येवरूप पाठ समस्तीति ॥

लनलोभस्यासङ्ख्येयगुणम् । तथा चतुर्णामप्यायुषामुत्कृष्टपदे प्रदेशाग्रं परस्परं तुल्यम् । नामकर्मण्युत्कृष्टपदे प्रदेशाग्रं गतौ देवगति-नरकगत्योः सर्वस्तोकं, स्वस्थाने तु द्वयोरपि तुल्यम् । ततो मनुजगतौ विशेषाधिकं, ततस्तिर्यग्गतौ विशेषाधिकम् । तथा जातौ चतुर्णां द्वीन्द्रियादिजातिनाम्नामुत्कृष्टपदे प्रदेशाग्रं सर्वस्तोकं, स्वस्थाने तु तेषां परस्परं तुल्यम्, ततः एकेन्द्रियजातेर्विशेषाधिकम् । तथा शरीरनाम्नि सर्वस्तोकमुत्कृष्टपदे प्रदेशाग्रमाहारकशरीरस्य, ततो वैक्रियशरीरस्य विशेषाधिकं, ततः औदारिकशरीरस्य विशेषाधिकं, ततस्तैजसशरीरस्य विशेषाधिकं, ततः कार्मणशरीरस्य विशेषाधिकम् । एवं सङ्घातनाम्नोऽपि द्रष्टव्यम् । तथा बन्धननाम्नि सर्वस्तोकमुत्कृष्टपदे प्रदेशाग्रमाहारकाहारकबन्धननाम्नः, ततः आहारकतैजसबन्धननाम्नो विशेषाधिकं, ततः आहारककार्मणबन्धननाम्नो विशेषाधिकं, ततः आहारकतैजसकार्मणबन्धननाम्नो विशेषाधिकं, ततो वैक्रियवैक्रियबन्धननाम्नो विशेषाधिकं, ततो वैक्रियतैजसबन्धननाम्नो विशेषाधिकं, ततो वैक्रियकार्मणबन्धननाम्नो विशेषाधिकं, ततो वैक्रियतैजसकार्मणबन्धननाम्नो विशेषाधिकं, ततः औदारिकौदारिकबन्धननाम्नो विशेषाधिकं, ततः औदारिकतैजसबन्धननाम्नो विशेषाधिकं, ततः औदारिककार्मणबन्धननाम्नो विशेषाधिकं, ततः औदारिकतैजसकार्मणबन्धननाम्नो विशेषाधिकं, ततस्तैजसतैजसबन्धननाम्नो विशेषाधिकं, ततस्तैजसकार्मणबन्धननाम्नो विशेषाधिकं, ततः कार्मणकार्मणबन्धननाम्नो विशेषाधिकम् । तथा संस्थाननाम्नि संस्थानानामाद्यन्तवर्जानां चतुर्णामुत्कृष्टपदे प्रदेशाग्रं सर्वस्तोकं, स्वस्थाने तु तेषां परस्परं तुल्यं, ततः समचतुरस्रसंस्थानस्य विशेषाधिकं, ततो हुण्डसंस्थानस्य विशेषाधिकम् । तथाऽङ्गोपाङ्गनाम्नि सर्वस्तोकमुत्कृष्टपदे प्रदेशाग्रमाहारकाङ्गोपाङ्गनाम्नः, ततो वैक्रियाङ्गोपाङ्गनाम्नो विशेषाधिकं, ततोऽप्यौदारिकाङ्गोपाङ्गनाम्नो विशेषाधिकम् । तथा संहनननाम्नि सर्वस्तोकमाद्यानां पञ्चानां संहननानामुत्कृष्टपदे प्रदेशाग्रं, स्वस्थाने तु तेषां परस्परं तुल्यम्, ततः सेवार्तसंहननस्य विशेषाधिकम् । तथा वर्णनाम्नि सर्वस्तोकमुत्कृष्टपदे प्रदेशाग्रं कृष्णवर्णनाम्नः, ततो नीलवर्णनाम्नो विशेषाधिकं, ततो लोहितवर्णनाम्नो विशेषाधिकं, ततो हारिद्रवर्णनाम्नो विशेषाधिकं, ततः शुक्लवर्णनाम्नो विशेषाधिकम् । तथा गन्धनाम्नि सर्वस्तोकं सुरभिगन्धनाम्नः, ततो दुरभिगन्धनाम्नो विशेषाधिकम् । तथा रसनाम्नि सर्वस्तोकमुत्कृष्टपदे प्रदेशाग्रं कटुरसनाम्नः, ततस्तिक्तरसनाम्नो विशेषाधिकं, ततः कषायरसनाम्नो विशेषाधिकं, ततोऽम्लरसनाम्नो विशेषाधिकं, ततो मधुररसनाम्नो विशेषाधिकम् । तथा स्पर्शनाम्नि सर्वस्तोकमुत्कृष्टपदे प्रदेशाग्रं कर्कश-गुरुस्पर्शनाम्नोः, स्वस्थाने तु द्वयोरपि परस्परं तुल्यम्, ततो मृदु-लघुस्पर्शनाम्नोर्विशेषाधिकम्, स्वस्थाने तु द्वयोरपि परस्परं तुल्यम्, ततो रूक्ष-शीतस्पर्शनाम्नोर्विशेषाधिकम्, स्वस्थाने तु द्वयोरपि परस्परं तुल्यम्, ततः स्निग्ध-उष्णस्पर्शनाम्नोर्विशेषाधिकं, स्वस्थाने तु द्वयोरपि परस्परं तुल्यम् । तथाऽऽनुपूर्वीनाम्नि सर्वस्तोकमुत्कृष्टपदे प्रदेशाग्रं देवगति-नरकगत्यानुपूर्व्योः, स्वस्थाने तु द्वयोरपि परस्परं तुल्यम्, ततो मनुजगत्यानुपूर्व्या विशेषाधिकं, ततस्तिर्यग्गत्यानुपूर्व्या विशेषाधिकम् । *तथा विहायोगतिनाम्नि सर्वस्तोकमुत्कृष्टपदे प्रदेशाग्रं प्रशस्तविहा-

१ यद्यपि * * एतत् फुल्लिकद्वयमध्यवर्ती पाठोऽस्मत्समीपवर्तिषु एतद्ग्रन्थस्य समेष्वप्यादर्शेषु एतादृश एव, परं ग्रन्थेऽत्र " कर्मप्रकृत्यभिप्रायेण दृश्यते " इत्युल्लेखे कृतेऽपि तया सह नैष संवादी । तत्स्थाने

योगतिनाम्न, ततोऽप्रशस्तविहायोगतिनाम्नो विशेषाधिकम्। तथा सर्वस्तोकमुत्कृष्टपदे प्रदेशाग्र त्रसनाम्न, ततो विशेषाधिक स्थावरनाम्न । एव बादर-सूक्ष्मयो पर्याप्ता-ऽपर्याप्तयो प्रत्येक-साधारणयो स्थिरा-ऽस्थिरयो शुभा-ऽशुभयो सुभग दुर्भगयो सुस्वर-दु स्वरयोरादेयाऽनादेययोर्यश कीर्ति-अयश कीर्त्योर्वाच्यम्। आतप-उद्योतयोरुत्कृष्टपदे प्रदेशाग्र सर्वस्तोक, स्वस्थाने तु द्वयोरपि तुल्यम्। *निर्माण-उच्छ्वास-पराघात-उपघाता-ऽगुरुलघु-तीर्थकराणा स्वल्पबहुत्व नास्ति।

यत इदमल्पबहुत्व सजातीयप्रकृत्यपेक्षया प्रतिपक्षप्रकृत्यपेक्षया वा चिन्त्यते, यथा कृष्णादिवर्णनाम्न शेषवर्णापेक्षया, प्रतिपक्षप्रकृत्यपेक्षया वा यथा सुभग-दुर्भगयो, न चैता परस्पर सजातीया अभिन्नैकमूलपिण्डप्रकृत्यभावात्, नापि विरुद्धा युगपदपि बन्धसम्भवात्। तथा गोत्रे सर्वस्तोकमुत्कृष्टपदे प्रदेशाग्र नीचैर्गोत्रस्य, तत उच्चैर्गोत्रस्य विशेषाधिकम्। तथाऽन्तरायकर्मणि सर्वस्तोकमुत्कृष्टपदे प्रदेशाग्र दानान्तरायस्य, ततो लाभान्तरायस्य विशेषाधिक, ततो भोगान्तरायस्य विशेषाधिक, तत उपभोगान्तरायस्य विशेषाधिक, ततो वीर्यान्तरायस्य विशेषाधिकम्।

तदेवमुक्तमुत्तरप्रकृतीनामुत्कृष्टपदे प्रदेशाग्राल्पबहुत्वम्। सम्प्रति जघन्यपदे तदभिधीयते—तत्र सर्वस्तोक जघन्यपदे प्रदेशाग्र केवलज्ञानावरणस्य, ततो मन पर्यवज्ञानावरणस्यानन्तगुण, ततोऽवधिज्ञानावरणस्य विशेषाधिक, तत श्रुतज्ञानावरणस्य विशेषाधिक, ततो मतिज्ञानावरणस्य विशेषाधिकम्। तथा दर्शनावरणस्य सर्वस्तोक जघन्यपदे प्रदेशाग्र निद्राया, तत प्रचलाया विशेषाधिक, ततो निद्रानिद्राया विशेषाधिक, तत प्रचलाप्रचलाया विशेषाधिक, तत स्त्यानर्द्धेर्विशेषाधिक, तत केवलदर्शनावरणस्य विशेषाधिक, ततोऽवधिदर्शनावरणस्यानन्तगुण, ततोऽचक्षुर्दर्शनावरणस्य विशेषाधिक, ततश्चक्षुर्दर्शनावरणस्य विशेषाधिकम्। तथा मोहनीये सर्वस्तोक जघन्यपदे प्रदेशाग्रमप्रत्याख्यानावरणमानस्य, ततोऽप्रत्याख्यानावरणक्रोधस्य विशेषाधिक, ततोऽप्रत्याख्यानावरणमायाया विशेषाधिक, ततोऽप्रत्याख्यानावरणलोभस्य विशेषाधिकम्। तत एवमेव प्रत्याख्यानावरणमान-क्रोध-माया-लोभा-ऽनन्तानुबन्धिमान क्रोध-माया-लोभाना यथोत्तर विशेषाधिकत्व वक्तव्यम्। ततो मिथ्यात्वस्य विशेषाधिकम्। ततो जुगुप्साया अनन्तगुणम्। ततो भयस्य विशेषाधिकम्। ततो हास्य शोकयोर्विशेषाधिक, स्वस्थाने तु द्वयोरपि परस्पर तुल्यम्। ततो रति-अरत्योर्विशेषाधिक, स्वस्थाने तु द्वयोरपि परस्पर तुल्यम्। ततोऽन्यतरवेदस्य विशेषाधिकम्। तत सज्वलनमान क्रोध-माया-लोभाना यथोत्तर विशेषाधिकम्। तथाऽऽयुषि सर्वस्तोक जघन्यपदे प्रदेशाग्र तिर्यङ्-मनुष्यायुषो, स्वस्थाने तु परस्पर तुल्यम्। ततो देव-नारकायुषोरसङ्ख्येयगुण, स्वस्थाने तु परस्पर तुल्यम्। तथा नामकर्मणि गतौ सर्वस्तोक जघन्यपदे प्रदेशाग्र तिर्यग्गते, ततो मनुजगतेर्विशेषाधिक, ततो देवगतेरसङ्ख्येय-

---

*कर्मप्रकृतौ तु—" तथा सर्वस्तोकमुत्कृष्टपदे प्रदेशाग्र त्रसनाम्न, ततो विशेषाधिक स्थावरनाम्न । तथा सर्वस्तोक प्रदेशाग्र पर्याप्तनाम्न, ततो विशेषाधिकमपर्याप्तनाम्न । एव स्थिरा ऽस्थिरयो शुभा ऽशुभयो सुभग-दुर्भगयोरादेया ऽनादेययो सूक्ष्म-बादरयो प्रत्येक-साधारणयोर्वाच्यम्। तथा सर्वस्तोकमयश कीर्तिनाम्न प्रदेशाग्रम्, ततो यश कीर्तिनाम्न सख्येयगुणम् । शेषाणामातप-उद्योत प्रशस्ता ऽप्रशस्तविहायोगति-सुस्वर दु स्वराणां परस्परं तुल्यमुत्कृष्टपदे प्रदेशाग्रम् । निर्मा० " एवरूप पाठो दृश्यते ॥

गुण, ततो नरकगतेरसङ्ख्येयगुणम् । तथा जातौ सर्वस्तोक जघन्यपदे प्रदेशाग्र चतुर्णां द्वीन्द्रियादिजातिनाम्ना, तत एकेन्द्रियजातेर्विशेषाधिकम् । तथा शरीरनाम्नि, सर्वस्तोकमौदारकशरीरनाम्न, ततस्तैजसशरीरनाम्नो विशेषाधिक, तत कार्मणशरीरनाम्नो विशेषाधिक, ततो वैक्रियशरीरनाम्नोऽसङ्ख्येयगुण, ततोऽप्याहारकशरीरनाम्नोऽसङ्ख्येयगुणम् । एव सङ्घातनाम्नोऽपि वाच्यम् । अङ्गोपाङ्गनाम्नि सर्वस्तोक जघन्यपदे प्रदेशाग्रमौदारिकाङ्गोपाङ्गनाम्न, ततो वैक्रियाङ्गोपाङ्गनाम्नोऽसङ्ख्येयगुण, ततोऽप्याहारकाङ्गोपाङ्गनाम्नोऽसङ्ख्येयगुणम् । तथा सर्वस्तोक जघन्यपदे प्रदेशाग्र नरकगति-देवगत्यानुपूर्व्यो, स्वस्थाने तु द्वयोरपि परस्पर तुल्यम्, ततो मनुआनुपूर्व्यां विशेषाधिक, ततस्तिर्यग्गत्यानुपूर्व्यां विशेषाधिकम् । तथा सर्वस्तोक त्रसनाम्न, तत, स्थावर नाम्नो विशेषाधिकम् । एव बादर-सूक्ष्मयो पर्याप्ता-ऽपर्याप्तयो प्रत्येक-साधारणयोश्च । शेषाणा तु नामप्रकृतीनामल्पबहुत्व न विद्यते, तथा साता-ऽसातवेदनीययोरुच्चैर्गोत्र-नीचैर्गोत्रयोरपि । अन्तराये पुनर्यथोत्कृष्टपदे तथैवावगन्तव्यमिति ॥ ८१ ॥

प्रतिपादित मूलोत्तरप्रकृतीना भागस्वरूपम् । सम्प्रति भागलब्धदलिक प्रभूततर गुणश्रेणि रचनयैव जन्तु क्षपयति अतो गुणश्रेणिस्वरूपप्रतिपादनार्थमाह—

सम्मदरसव्वविरई उ अणविसजोयदसखवगे य।
मोहसमसतखवगे, खीणसजोगियर गुणसेढी ॥ ८२ ॥

गुणश्रेणय एकादश भवन्तीति सम्बन्ध. । कुत्र कुत्र ? इत्याह—"सम्मदरसव्वविरई उ" इत्यादि । तत्र "सम्म" त्ति सम्यक्त्व-सम्यग्दर्शन तल्लाभे एका गुणश्रेणि. । तथा विरतिशब्दस्य प्रत्येक सम्बन्धाद् दरविरति —देशविरतिस्तल्लाभे द्वितीया गुणश्रेणि. । सर्वविरतिः—सम्पूर्णविरतिस्तल्लाभे तृतीया गुणश्रेणि । "अणविसजोय" त्ति अनन्तानुबन्धिविसंयोजनाया चतुर्थी गुणश्रेणि । "दसखवगे" त्ति पदैकदेशे पदप्रयोगदर्शनाद् दर्शनस्य—दर्शनमोहनीयस्य क्षपको दर्शनक्षपकस्तत्र तद्विषया पञ्चमी गुणश्रेणि । चशब्द समुच्चये । "मोहसम" त्ति मोहस्य—मोहनीयस्य शम —शमक उपशमक स चोपशमश्रेण्यारूढोऽनिवृत्तिबादर, सूक्ष्मसम्परायश्चाभिधीयते, तत्र मोहशमे षष्ठी गुणश्रेणि । "संत" त्ति शान्त —उपशान्तमोहगुणस्थानकवर्ती तत्र सप्तमी गुणश्रेणि । "खवगि" त्ति क्षपक —क्षपकश्रेण्यारूढोऽनिवृत्तिबादर सूक्ष्मसम्परायश्च निगद्यते, तत्र क्षपकेऽष्टमी गुणश्रेणि । "खीण" त्ति क्षीण —क्षीणमोह[स्त]स्य नवमी गुणश्रेणि । "सजोगि" त्ति सयोगिकेवलिनो दशमी गुणश्रेणि । "इयर" त्ति अयोगिकेवलिन एकादशी गुणश्रेणिरिति गाथाक्षरार्थ. ।

भावार्थ पुनरय—सम्यक्त्वलाभकाले मन्दविशुद्धिकत्वाद् जीवो दीर्घान्तर्मुहूर्तवेद्याम ल्पतरप्रदेशाग्रा च गुणश्रेणिमारचयति । ततो देशविरतिलाभे सङ्ख्येयगुणहीनान्तर्मुहूर्तवेद्यामसङ्ख्येयगुणप्रदेशाग्रा च ता करोति । तत सर्वविरतिलाभे सङ्ख्येयगुणहीनान्तर्मुहूर्तवेद्याम सङ्ख्येयगुणप्रदेशाग्रां च ता करोति । ततोऽप्यनन्तानुबन्धिविसंयोजनाया सङ्ख्येयगुणहीनान्त-

१ कर्मप्रकृतिटीकाया तु—"सङ्घातननाम्नोऽ०" इत्येवरूप पाठ ॥ २ सं० १-२ त० म० छा० 'सम्म' ति ॥

मुहूर्तवेद्यामसङ्ख्येयगुणप्रदेशाग्रां च तां विदधाति। ततो दर्शनमोहनीयक्षपकः सङ्ख्येयगुणहीनान्तर्मुहूर्तवेद्यामसङ्ख्येयगुणप्रदेशाग्रां च तां निर्मापयति। ततोऽपि मोहशमकः सङ्ख्येयगुणहीनान्तर्मुहूर्तवेद्यामसङ्ख्येयगुणप्रदेशाग्रां च तां विरचयति। ततोऽप्युपशान्तमोहगुणस्थानकवर्ती सङ्ख्येयगुणहीनान्तर्मुहूर्तवेद्यामसङ्ख्येयगुणप्रदेशाग्रां च तां निरचयति। ततोऽपि क्षपकः सङ्ख्येयगुणहीनान्तर्मुहूर्तवेद्यामसङ्ख्येयगुणप्रदेशाग्रां च तां विरचयति। ततोऽपि क्षीणमोहः सङ्ख्येयगुणहीनान्तर्मुहूर्तवेद्यामसङ्ख्येयगुणप्रदेशाग्रां च तां कुरुते। ततोऽपि सयोगिकेवली भगवान् सङ्ख्येयगुणहीनान्तर्मुहूर्तवेद्यामसङ्ख्येयगुणप्रदेशाग्रां च तां विधत्ते। ततोऽप्ययोगिकेवली परमविशुद्धिपरिकलितः सङ्ख्येयगुणहीनान्तर्मुहूर्तवेद्यामसङ्ख्येयगुणप्रदेशाग्रां च तां परिकल्पयति। तदेवं यथा यथाऽतिविशुद्धिस्तथा तथा ह्रस्वकालत्वं बहुप्रदेशाग्रत्वं च गुणश्रेणेर्भवतीति ॥ ८२ ॥

निरूपिता गुणश्रेणिरेकादशधा। सम्प्रत्यस्या एव स्वरूपं पूर्वप्रदर्शितसम्यक्त्वादिगुणारूढजन्तूनां मध्ये यस्य जन्तोर्यावद्गुणा दलिकनिर्जरा तां च प्ररूपयन्नाह—

गुणसेढी दलरयणाऽणुसमयमुदयादसंखगुणणाए।
एयगुणा पुण कमसो, असंखगुणनिज्जरा जीवा ॥ ८३ ॥

गुणेन—गुणकारेण श्रेणिर्गुणश्रेणिः। श्रेणिशब्दवाच्यमाह—"दलरयण" त्ति दलस्य—उपरितनस्थितेरवतारितप्रदेशाग्रस्य रचना—सन्न्यासो दलरचना। कथं पुनर्दलिकरचना[१] कस्मादारभ्य केन च गुणकारेण विधीयते जन्तुना[२] इत्याह—'अनुसमयं' ति समयं समयमनु—लक्षीकृत्य प्रतिसमयमित्यर्थः, 'उदयाद्' उदयक्षणादारभ्य 'असङ्ख्येयगुणनया' असङ्ख्यातगुणकारेण। इदमुक्तं भवति—उपरितनस्थितेरवतारितं दलिकमुदयक्षणे स्तोकं जन्तुर्विरचयति, द्वितीयक्षणेऽसङ्ख्यातगुणम्, तृतीयक्षणेऽसङ्ख्यातगुणम् इत्येवं प्रतिसमयमसङ्ख्यातगुणकारेण दलरचना तावद् नेया यावद् गुणश्रेणिमस्तकमिति। तथोपरितनस्थितेर्दलिकावतारणस्याप्ययमेव न्यायो वाच्यः। यथा—गुणश्रेणिन्यसनयोग्यमुपरितनस्थितेः प्रथमसमये स्तोकं गृह्णाति, द्वितीयसमयेऽसङ्ख्यातगुणम्, एवं प्रतिसमयमसङ्ख्यातगुणकारेण तावद् नेयं यावत् चरमसमय इति। उक्तं च—

उवरिल्लठिईहिंतो, घित्तूण पुग्गले उ सो खिवइ।
उदयसमयम्मि थोवे, तत्तो य असंखगुणिए उ ॥
बीयम्मि खिवइ समए, तइए तत्तो असंखगुणिए उ।
एवं समए समए, अंतमुहुत्तं तु जा पुन्नं ॥
दलियं तु गिण्हमाणो, पढमे समयम्मि थोवयं गिण्हे।
उवरिल्लठिईहिंतो, बीयम्मि असंखगुणियं तु ॥

१ सटीकेयं गाथा सार्द्धशतकप्रकरणस्य १०४ गाथा–तट्टीकासमाना ॥

२ उपरितनस्थितेर्गृहीत्वा पुद्गलांस्तु स क्षिपति। उदयसमये स्तोकांस्ततश्चासङ्ख्यगुणितांस्तु ॥
द्वितीये क्षिपति समये तृतीयस्मिंस्ततोऽसङ्ख्यगुणितांस्तु। एवं समये समये अन्तर्मुहूर्तं यावत् पूर्णम् ॥
दलिकं तु गृह्णन् प्रथमे समये स्तोककं गृह्णीयात्। उपरितनस्थितेर्द्वितीयेऽसङ्ख्यगुणितं तु ॥
गृह्णाति समये दलिकं तृतीये समयेऽसङ्ख्यगुणितं तु। एवं समये समये यावच्चरमोऽन्तसमय इति ॥

गिण्हइ समए दलियं, तइए समए असंखगुणियं तु ।
एवं समए समए, आ चरिमो अंतसमओ त्ति ॥ ( )

तथेहापूर्वकरणाऽनिवृत्तिकरणाद्धाद्वयाद् विशेषाधिकोऽन्तर्मुहूर्तप्रमाणो गुणश्रेणेः कालो भवति, तावन्तं च कालं दलिकविरचनं करोति । तथाऽधस्तनाधस्तनोदयक्षणे वेदनतः क्षीणे सति शेषक्षणेषु दलिकं विरचयति, न पुनरुपरि गुणश्रेणिं वर्धयति । उक्तं च—

[1]सेढीएँ कालमाणं, दुण्ह य करणाण समहियं जाण ।
रिज्जइ सा उदएणं, जं सेसं तम्मि निक्खेवो ॥ ( )

सम्यक्त्वश्रेणेरयं क्रमः । शेषाणामपि श्रेणीनां दलरचनायां प्रायः एष एव विधिः किञ्चिद्विशेषोऽपि चास्ति, केवलं स कर्मप्रकृत्यादिग्रन्थान्तरादवसेयो नेह प्रतन्यते, ग्रन्थगौरवभयात् ।

अधुना यद्गुणवशाद् जीवानां यावती निर्जरा तामाह—एते—प्रागुपदर्शिताः सम्यक्त्व-देशविरति-सर्वविरत्यादयो गुणाः—धर्मा येषां ते एतद्गुणा जीवा इत्युत्तरेण सम्बन्धः । कथम् ? इत्याह—'पुनः' इति पुनःशब्दो गुणश्रेणिस्वरूपापेक्षया व्यतिरेकार्थः । 'क्रमशः' यथोत्तरं क्रमेणासङ्ख्यातगुणिता निर्जरा—कर्मपुद्गलपरिशाटरूपा येषां तेऽसङ्ख्यगुणनिर्जराः 'जीवाः' सत्त्वा भवन्तीति शेषः । तत्र सम्यक्त्वगुणा जीवाः स्तोकपुद्गलनिर्जरकाः, ततो देशविरता असङ्ख्येयगुणनिर्जराः, ततः सर्वविरता असङ्ख्येयगुणनिर्जराः, ततोऽनन्तानुबन्धिविसंयोजका असङ्ख्येयगुणनिर्जराः, ततो दर्शनक्षपका असङ्ख्येयगुणनिर्जराः, ततो मोहशमका असङ्ख्येयगुणनिर्जराः, ततः उपशान्तमोहा असङ्ख्येयगुणनिर्जराः, ततः क्षपका असङ्ख्येयगुणनिर्जराः, ततः क्षीणमोहा असङ्ख्येयगुणनिर्जराः, ततः सयोगिकेवलिनोऽसङ्ख्येयगुणनिर्जराः, ततोऽप्ययोगिकेवलिनोऽसङ्ख्येयगुणनिर्जराः ॥ ८३ ॥

इहोत्तरोत्तरगुणारूढानां जन्तूनामसङ्ख्येयगुणनिर्जराभाक्त्वमुक्तम्, उत्तरोत्तरगुणाश्च यथाक्रमविशुद्धयपकर्ष-विशुद्धिप्रकर्षस्वरूपाः सन्तो गुणस्थानकान्युच्यन्ते, अतस्तेषां गुणस्थानकानां जघन्यमुत्कृष्टं चान्तरालं प्रतिपादयन्नाह—

पलियाऽसंखंसमुहू, सासणइयरगुण अंतरं हस्सं ।
गुरु मिच्छि बे छसट्ठी, इयरगुणे पुग्गलद्धंतो ॥ ८४ ॥

इह 'भामा सत्यभामा' इति न्यायात् पल्योपमासङ्ख्यांशोऽन्तर्मुहूर्तं च जघन्यमन्तरमिति योगः । केषाम् ? इत्याह—सास्वादनश्च इतरगुणाश्च—अवशिष्टगुणस्थानकानि सास्वादनेतरगुणास्तेषाम्, प्राकृतत्वादत्र विभक्तिलोपः । 'अन्तरं' विवक्षितगुणस्थानावस्थितेः प्रच्युतानां पुनस्तत्प्राप्तेर्व्यवधानम् अन्तरालमिति यावत्, 'ह्रस्वं' जघन्यम् । तत्र सास्वादनगुणस्थानकस्य जघन्यमन्तरं पल्योपमासङ्ख्येयभागः, इतरगुणस्थानकानां तु जघन्यमन्तर्मुहूर्तमित्यक्षरार्थः ।

भावार्थः पुनरयम्—योऽनादिमिथ्यादृष्टिरुद्वलितसम्यक्त्व-मिश्रपुञ्जो वा मिथ्यादृष्टिः षड्विंशतिसत्कर्मा सन् अन्तरकरणादिना प्रकारेणोपलब्धौपशमिकसम्यक्त्वोऽनन्तानुबन्ध्युदयात्

---

१ श्रेणेः कालमानं द्वयोश्च करणयोः समधिकं जानीहि । क्षीयते सोदयेन यच्छेषं तस्मिन्निक्षेपः ॥

२ सटीकेयं गाथा सार्द्धशतकप्रकरणस्य १०५ गाथा-टीकासमा ॥ ३ सं० १-२ त० म० छा० °यासङ्खतमु° ॥ ४ सार्द्धशतकप्रकरणटीकायां—°न्यमन्तरमन्तर्मु° ॥

सास्वादनभावमासाद्य मिथ्यात्व गत सन् यदि तदेव सास्वादनत्व पुनर्लभतेऽन्तरकरणप्रकारेणैव तदा जघन्यतोऽपि पल्योपमासङ्ख्येयभागोर्ध्वं लभते, नार्वाक् । किं कारणम् ? इति चेद् उच्यते—यत सास्वादनाद् मिथ्यात्व गतस्य प्रथमसमये सम्यक्त्व-मिश्रपुञ्जौ सत्तायामवश्य तिष्ठत एव । न च तयो सत्ताया वर्तमानयो पुनरौपशमिकसम्यक्त्व लभते, तदभावात् सास्वादनत्व दूरापास्तमेव । यदि पुञ्जद्वयसद्भावे औपशमिकसम्यक्त्वस्य न लाभस्तर्हि पल्योपमासङ्ख्येयभागेऽप्यतिक्रान्ते कथ सास्वादनलाभ ? इति चेद् उच्यते—इह सम्यक्त्व-मिश्रपुञ्जौ मिथ्यात्व गत प्रतिसमयमुद्वर्तयति, तद्दलिक प्रतिसमय मिथ्यात्वे प्रक्षिपतीत्यर्थ । अनेन च क्रमेणैतावुद्वर्त्यमानौ पल्योपमासङ्ख्येयभागेन सर्वथोद्वर्तितौ नि सत्ताक नीतौ भवत, इत्थमेव कर्मप्रकृत्यादिष्वभिहितत्वात् । तत पल्योपमासङ्ख्येयभागेन मिश्र-सम्यक्त्वपुञ्जयोरुद्वर्तितयोस्तदन्ते कश्चिद् जन्तु पुनरप्यौपशमिकसम्यक्त्वमासाद्य सास्वादनत्व गच्छतीत्येन सास्वादनस्य पल्योपमासङ्ख्येयभागोऽन्तर भवतीति ।

नन्वेकदोपशमश्रेणे प्रतिपतित सास्वादनभावमनुभूय यदा पुनरप्यन्तर्मुहूर्तेन एतामेवोपशमश्रेणिं प्रतिपद्य तत प्रतिपतित सास्वादनभाव लभते तदा जघन्यतोऽल्पमेवान्तर लभ्यते, तत्किमिति पल्योपमासङ्ख्येयभागो जघन्यमन्तरमित्युक्तम् ? सत्यम्, उपशमश्रेणे प्रतिपतितो य सास्वादनत्व गच्छति स केवल मनुजगतिभावित्वेनाल्पत्वाद् नेह विवक्षित इतीतरस्यैव प्रभूतस्य चतुर्गतिवर्तित्वादन्तरालचिन्तेति । इतरगुणस्थानकेभ्यश्च मिथ्यादृष्टि-सम्यग्मिथ्यादृष्टि-अविरतसम्यग्दृष्टि-देशविरत-प्रमत्ता-ऽप्रमत्तोपशमश्रेणिगतापूर्वकरणा-ऽनिवृत्तिबादर-सूक्ष्मसम्पराय-उपशान्तमोहलक्षणेभ्य परिभ्रष्ट पुनर्जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तेऽतिक्रान्ते तान्येव गुणस्थानकानि लभते इति तेषा जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तमेवान्तराल भवति । तथाहि—कश्चिद् जीव उपशमश्रेण्यारूढ सन् उपशान्तत्वमपि सम्प्राप्य प्रतिपतितो मिथ्यादृष्टित्व यावदवाप्नोति, ततो भूयोऽप्यन्तर्मुहूर्तेन तान्येवोपशान्तगुणस्थानान्तानि यदाऽऽरोहति तदा शेषाणा सास्वादन-मिश्रगुणस्थानकवर्जिताना गुणस्थानकाना प्रत्येक जघन्यत आन्तर्मौहूर्तिकमन्तर भवति, एकस्मिंश्च भवे वारद्वयमुपशमश्रेणिकरण समनुज्ञातमेव । उक्त च—

एँगभवे दुक्खुत्तो, चरित्तमोह उवसमिज्जा ॥ (कर्मप्र० ३७६)

तत्र सास्वादन प्रति जघन्यान्तरस्योक्तत्वात् श्रेणिप्रतिपतितस्य च मिश्रगमनाभावात् तयोर्वर्जनमुक्तम् । श्रेणिगमनाभावे तु मिश्रस्य सास्वादनवर्जशेषगुणस्थानकाना च मिथ्यादृष्ट्यादीनामप्रमत्तान्ताना परावृत्य परावृत्य गमनत आन्तर्मौहूर्तिकमन्तर प्राप्यते । क्षपक-क्षीणमोह-सयोगिकेवलि-अयोगिकेवलिना त्वन्तरचिन्ता नास्ति, तेषा प्रतिपातस्यैवाभावादिति ॥

उक्त जघन्यमन्तर सर्वगुणस्थानकानाम् । इदानीमुत्कृष्टमन्तरमाह—"गुरु मिच्छि वे छसट्ठी" इत्यादि । 'गुरु' उत्कृष्टमन्तर "मिच्छि" त्ति 'मिथ्यात्वे' मिथ्यादृष्टिगुणस्थानकस्य 'द्वे

१ छा० म० °वदाप्नोति ॥ २ स० १ म० °दावशेषा° ॥
३ एकस्मिन् भवे द्विवारिवमोहमुपशमयेत् ॥

षट्षष्टी' षट्षष्टिद्वयम् । अयमत्र भावार्थ —य कश्चिद् जन्तुर्विशुद्धिवशाद् मिथ्यादृष्टित्व परित्यज्य सम्यक्त्व प्रतिपन्न , तत सागरोपमषट्षष्टिप्रमाणमुत्कृष्ट सम्यक्त्वकाल प्रतिपाल्य अन्तर्मुहूर्तमेक सम्यग्मिथ्यात्व गच्छति, ततो भूयोऽपि सम्यक्त्वमासाद्य सागरोपमषट्षष्टिं यावत् तदनुपाल्य तत ऊर्ध्वं यो न सिध्यति सोऽवश्य मिथ्यात्व गच्छति, तत इत्थ सागरोपमषट्षष्टिद्वयरूप सामर्थ्यतो मिश्रान्तर्मुहूर्त-नरभवाधिकमुत्कृष्ट मिथ्यात्वस्यान्तराल भवतीति । "इयरगुणे" त्ति इतरगुणस्थानकविषये । कोऽर्थ ? मिथ्यादृष्टिगुणस्थानकापेक्षयाऽन्यगुणस्थानकेषु सास्वादनादिषूपशान्तमोहान्तेषु 'गुरु अन्तरम्' उत्कृष्टोऽन्तरालकालो भवति । कियद् ? इत्याह—"पुग्गलद्धतो" त्ति सूचकत्वात् सूत्रस्य पुद्गलस्य–पुद्गलपरावर्तस्यार्धं पुद्गलपरावर्तार्द्धं तस्यान्त –मध्य पुद्गलपरावर्तार्द्धान्त , किञ्चिदून पुद्गलपरावर्तार्द्धमित्यर्थ । इदमत्र तात्पर्यं—सास्वादनादय उपशमश्रेणिगतापूर्वकरणाद्युपशान्तमोहान्ताश्च जीवा निजनिजगुणस्थानकावस्थितेर्यदा परिभ्रष्टास्तदोत्कृष्टत किञ्चिदून पुद्गलपरावर्तार्द्धं यावदपारससारपारावारमध्यमवगाह्य पुनस्तानि गुणस्थानकानि लभन्ते नार्वाक्, तत ऊर्ध्वं च सम्यक्त्वादिगुणान् सम्प्राप्य अवश्य जीवा सिध्यन्तीति, ततो देशोनार्धपुद्गलपरावर्तमानमेषामुत्कृष्टमन्तरं भवति । क्षपकक्षीणमोहादीनां चान्तरमेव नास्ति, प्रतिपाताभावादिति ॥ ८४ ॥

इह सास्वादनस्य जघन्यमन्तरं पल्योपमासङ्ख्येयाश उक्तम् । अत पल्योपमस्वरूप सप्रपञ्च प्रचिकटयिषुराह—

उद्धार अद्ध खित्तं, पलिय तिहा समयवाससयसमए ।
केसवहारो दीवोदहिआउतसाइपरिमाणं ॥ ८५ ॥

धान्यपल्यवत् पल्य–पल्योपम 'त्रिधा' त्रिप्रकार भवति । सिलोप प्राकृतत्वात् । तथाहि—उद्धारपल्योपमम् अद्धापल्योपम क्षेत्रपल्योपम च । तत्र वालाग्राणा तत्खण्डाना वा प्रतिसमयमुद्धरणमुद्धारस्तद्विषय–तत्प्रधान वा पल्योपममुद्धारपल्योपमम् १ । अद्धा–काल स च प्रस्तावाद् वालाग्राणा तत्खण्डाना वाऽपहारे प्रत्येक वर्षशतलक्षणस्तत्प्रधान पल्योपममद्धापल्योपमम् २ । क्षेत्रम्–आकाशप्रदेशरूप तत्प्रधान पल्योपम क्षेत्रपल्योपम च ३ इति । "समयवाससयसमए केसवहारो" त्ति तत्रोद्धारपल्योपमे केशाना–वालाग्राणा समये समयेऽपहार –उद्धरण क्रियते, अद्धापल्योपमे वर्षशते केशापहार क्रियते, क्षेत्रपल्योपमे समये समये केशापहार –केशस्पृष्टाऽस्पृष्टाकाशप्रदेशापहार क्रियते । तत्र "दीवोदहिआउतसाइपरिमाण" ति तत्रोद्धारपल्योपमेन प्रयोजन द्वीपोदधिपरिमाण–द्वीपा उदधयश्चानेन प्रमीयन्ते, तथाऽद्धापल्योपमेन प्रयोजनम् आयु परिमाण–देव-नारक-तिर्यङ्-मनुष्याणामायूष्यनेन मीयन्त इत्यर्थ , क्षेत्रपल्योपमेन प्रयोजन त्रसादिपरिमाणम्, आदि [illegible] ।-ऽप्कायिक तेजस्कायिक-वायुकायिक-वनस्पतिकायिकाना परिमाण प्रा [illegible]

ऐएण [illegible] [illegible] हविज्ज नायद [illegible]

म० देवानां नारका [illegible] [illegible] दवानां भर [illegible] ॥

पुढविदगअगणिमारुयहरियतसाण परीमाण ॥ (जीवसमा० गा० १३२)

इति गाथाक्षरार्थ । भावार्थ पुनरयम्—इह त्रिविध पल्योपमम् । तद्यथा—उद्धारपल्योपमम् अद्धापल्योपमम् क्षेत्रपल्योपमम् । पुनरेकैक द्विधा—बादर सूक्ष्म च । तत्रायाम-विस्ताराभ्याम-वगाहेन चोत्सेधाङ्गुलनिष्पन्नैकयोजनप्रमाणो वृत्तत्वाच्च परिधिना किञ्चिदूनषड्भागाधिकयोजनत्र-समान पल्यो मुण्डिते शिरसि एकेनाह्ना द्वाभ्यामहोभ्या यावदुत्कर्षत सप्तभिरहोभि. प्ररूढानि यानि वालाग्राणि तै प्रचयविशेषाद् निबिडतरमाकर्णं तथा भ्रियते यथा तानि वालाग्राणि वह्निर्न दहति वायुर्नापहरति जल नोत्कोथयति, तत समये समये एकैकवालाग्रापहारेण यावता कालेन स पल्य सकलोऽपि सर्वात्मना निर्लेपो भवति तावान् काल सङ्ख्येयसमयमानो बादरमुद्धार-पल्योपमम् । एतेषा च दशकोटिकोट्यो बादरमुद्धारसागरोपमम्, महत्त्वात् सागरेण—समुद्रेणो-पमा यस्येति कृत्वा । बादरे च प्ररूपिते सूक्ष्म सुखावसेय स्यादिति बादरोद्धारपल्योपम-सागरो-पमयो प्ररूपणम्, न पुनरेतत्प्ररूपणेऽन्यद् विशिष्ट फलमस्तीति । एव बादरेष्वद्धाक्षेत्रपल्योपम-सागरोपमेष्वपि वक्तव्यम् । यदुक्तमनुयोगद्वारेषु—

तत्थ[1] ण जे से वावहारिए उद्धारपलिओवमे से ण इमे, से जहानामए पल्ले सिया जोयण आयामविक्खंभेण जोयण च उड्ढ उच्चत्तेण तिगुणसविसेसं परिरएण, से ण एगाहियबेहियतेहि-याण उक्कोससत्तरत्ताण ससट्ठे संनिचिए भरिए वालग्गकोडीण, ते ण वालग्गा नो अग्गी डहिज्जा नो वाऊ हरिज्जा नो कुच्छिज्जा नो विद्धसिज्जा नो पूइत्ताए हव्वमागच्छिज्जा, तओ चेव ण समए समए एगमेग वालग्गमवहाय जावइएण कालेण से पल्ले खीणे नीरए निट्ठिए निल्लेवे भवई से त वावहारिए उद्धारपलिओवमे ।

ऍएसिं पल्लाण, कोडाकोडी हविज दसगुणिया ।
उद्धारसागरस्स उ, एगस्स भवे परीमाण ॥

ऍएहिं वावहारिएहिं उद्धारपलिओवमसागरोवमेहिं किं पओयण ? नत्थि किंचि पओ-यण केवल पन्नवईज्जइ (अनुयो० पत्र १८०-१-२) इति ।

उक्त बादरमुद्धारपल्योपमम् । अथ सूक्ष्म तद् उच्यते—तत्रैकैक वालाग्रमसङ्ख्येयानि खण्डानि कृत्वा पूर्ववत् पल्यो भ्रियते, तानि च खण्डानि द्रव्यत प्रत्येकमत्यन्तशुद्धलोचनच्छ-द्मस्थो यदतीवसूक्ष्म पुद्गलद्रव्य चक्षुषा न पश्यति तदसङ्ख्येयभागमात्राणि । क्षेत्रतस्तु सूक्ष्मप-

१ तत्र यत् तद् व्यावहारिक उद्धारपल्योपम तद् इदम्, असौ यथानामक पल्य स्याद् योजन आया मविष्कम्भाभ्यां योजनमूर्ध्वमुच्चैस्त्वेन सविशेषत्रिगुण परिरयेण, स एकाहिकद्व्याहिकत्र्याहिकै यावदुत्कृष्टसप्त रात्रै ससृष्ट सनिचितो भृत वालाग्रकोटिभि, तानि च वालाग्राणि नाग्निर्दहेद् न वायुर्हरेद् नोत्क्रोथयेयु न विध्वस्येयु न पूतित्वेन शीघ्रमागच्छेयु, ततश्च खलु समये समये एकैक वालाग्रमपहरता यावता कालेनासौ पल्य क्षीणो नीरजा निष्ठितो निर्लेपश्च भवति तदिद व्यावहारिक उद्धारपल्योपमम् ॥ २ स० १-२ छा० त० म० °इ से त वा° एवमग्रेऽपि ॥ ३ एतेषां पल्यानां कोटाकोटी भवेद्दशगुणिता । उद्धारसागरस्य त्वेकस्य भवेत् परिमाणम् ॥ ४ एताभ्यां व्यावहारिकाभ्यामुद्धारपल्योपमसागरोपमाभ्यां किं प्रयोजनम् ? नास्ति किञ्चित् प्रयोजन केवल प्रज्ञाप्यते ॥ ५ स० १-२-छा० त० म० °इज्जा ॥

नकशरीरं यावति क्षेत्रेऽवगाहते ततोऽसङ्ख्येयगुणानि, बादरपर्याप्तपृथ्वीकायिकशरीरतुल्यानीति वृद्धाः। एषां च वालाग्राणामसङ्ख्येयत्वात् प्रतिसमयमुद्धारे किल सङ्ख्येया वर्षकोट्योऽतिक्रामन्ति, अत सङ्ख्येयवर्षकोटिमानमिदं सूक्ष्ममुद्धारपल्योपममवसेयम्। तद्दशकोटिकोट्य सूक्ष्मोद्धारसागरोपमम्। आभ्यां पल्योपम-सागरोपमाभ्यां द्वीपा समुद्राश्च मीयन्ते। उक्तं चानुयोगद्वारेषु—

एएहिं सुहुमउद्धारपलिओवमसागरोवमेहिं किं पओयणं¹ एएहिं दीवसमुद्दाण उद्धारे घिप्पइ। केवइया णं भंते! दीवसमुद्दा उद्धारेण पन्नत्ता? गोयमा! जावइया णं अड्डाइज्जाणं उद्धारसागरोवमाणं उद्धारसमया एवइया णं दीवसमुद्दा उद्धारेण पन्नत्ता॥ (पत्र १८१-१)

भाष्यसुधाम्भोनिधिरप्याह—

उद्धारसागराणं, अड्डाइज्जाण जत्तिया समया।
दुगुणादुगुणपवित्थर, दीवोदहि हुंति एवइया॥ (जिनभ० सङ्ग्र० गा० ८०)

इत्युक्तं बादर-सूक्ष्मभेदतो द्विविधमप्युद्धारपल्योपमम् १। सम्प्रति द्विविधमेवाद्धापल्योपम प्ररूप्यते—तत्र पूर्वोक्तपल्याद् वर्षशतेऽतिक्रान्ते एकैकवालाग्रापहारेण निर्लेपनाकाल सङ्ख्येयवर्षकोटीमानो बादरमद्धापल्योपमम्, तद्दशकोटीकोट्यो बादरमद्धासागरोपमम्। तथैव पूर्वोक्तपल्याद् वर्षशते वर्षशतेऽतिक्रान्ते एकैकवालाग्रासङ्ख्येयतमखण्डापहारेण निर्लेपनाकालोऽसङ्ख्यातवर्षकोटीमान सूक्ष्ममद्धापल्योपमम्, तद्दशकोटीकोट्य सूक्ष्ममद्धासागरोपमम्, तद्दशसागरोपमकोटीकोटीप्रमाणाऽवसर्पिणी, तावत्प्रमाणैवोत्सर्पिण्यपि, अवसर्पिणी-उत्सर्पिण्योऽनन्ता पुद्गलपरावर्त, अनन्ता पुद्गलपरावर्ता अतीताद्धा, अनन्ता पुद्गलपरावर्ता अनागताद्धा चेति।

उक्तं च श्रीभगवतीटीकायां—

अहवा पडुच्च कालं, न सव्वभव्वाण होइ वुच्छित्ती।
जं तीयऽणागयाओ, अद्धाओ दो वि तुल्लाओ॥ (शत० १२ उ० २)

अयमत्राभिप्राय —यथाऽनागताद्धाया अन्तो नास्ति, एवमतीताद्धाया आदिरिति व्यक्त समत्वमिति। अन्ये त्वाहु —

उस्सप्पिणी अणंता, पुग्गलपरियट्टओ मुणेयव्वो।
तेऽणन्ता तीयऽद्धा, अणागयद्धा अणंतगुणा॥ (जीवस० गा० १२९)

अत्रेयं भावना—अतीताद्धातोऽनागताद्धाया अनन्तगुणत्वम् समयावलिकादिभिरनवरत क्षीयमाणाया अप्यनागताद्धाया अक्षयात्।

---

१ एताभ्यां सूक्ष्मोद्धारपल्योपमसागरोपमाभ्यां किं प्रयोजनम्? एताभ्यां द्वीपसमुद्राणामुद्धारो गृह्यते। कियन्तो भदन्त! द्वीप-समुद्रा उद्धारेण प्रज्ञप्ता? गौतम! यावतामर्धतृतीयानामुद्धारसागरोपमाणां उद्धारसमया एतावन्तो द्वीपसमुद्रा उद्धारेण प्रज्ञप्ता॥

२ उद्धारसागराणां अर्धतृतीयानां यावन्त समया। द्विगुणद्विगुणप्रविस्तरा द्वीपोदधयो भवन्त्येतावन्त॥

३ स० १-२ त० म० छा० °पम, दशसाग° ॥

४ अथवा प्रतीत्य कालं न सर्वभव्यानां भवति व्युच्छित्ति। यदतीतानागते अद्धे द्वे अपि तुल्ये॥

५ उत्सर्पिण्योऽनन्ता पुद्गलपरावर्त्तो ज्ञातव्य। तेऽनन्ता अतीताद्धाऽनागताद्धा चानन्तगुणा॥

आभ्यां च सूक्ष्माद्धापल्योपम-सागरोपमाभ्या सुर-नरक-नर-तिरश्चा कर्मस्थिति कायस्थिति भवस्थितिश्च मीयते । उक्त चानुयोगद्वारेषु—

एएहिं सुहुमअद्धापलिओवमसागरोवमेहिं किं पओयण ? गोयमा ! एएहिं नेरइयतिरिक्ख-जोणियमणुस्सदेवाण य आउयाइ मविज्जति (पत्र १८३–२) इति ।

अभिहित बादर-सूक्ष्मभेदतो द्विविधमप्यद्धापल्योपमम् २ । साम्प्रत द्विविधमेव क्षेत्रपल्योपम निरूप्यते—तत्र पूर्वोक्तपल्याद् वालाग्रस्पृष्टनभ प्रदेशाना प्रतिसमय एकैकापहारेण निर्लेपना-कालोऽसङ्ख्येयोत्सर्पिण्यवसर्पिणीमानो बादर क्षेत्रपल्योपमम्, तद्दशकोटीकोट्यो बादर क्षेत्रसाग-रोपमम् । तथैवैकैकवालाग्रासङ्ख्येयतमखण्डै स्पृष्टानामस्पृष्टाना च नभ प्रदेशाना प्रतिसमयमे-कैकापहारेण निर्लेपनाकालो बादरासङ्ख्येयगुणकालमान सूक्ष्म क्षेत्रपल्योपमम्, तद्दशकोटीकोट्य सूक्ष्म क्षेत्रसागरोपमम् । उक्त चानुयोगद्वारेषु—

[2] से किं त सुहुमे खेत्तपलिओवमे ? से जहानामए पल्ले सिया एगजोयण आयामविक्ख-म्भेण जोयण उड्ढ उच्चत्तेण जाव भरिए वालग्गकोडीण, तत्थ ण एगमेगे वालग्गे असंखेज्जाइ खडाइ कीरइ, ते ण वालग्गा दिट्ठीओगाहणाओ असखेज्जभागमित्ता सुहुमस्स पणगजीवस्स सरी-रोगाहणाओ असंखेज्जगुणा, ते ण वालग्गा नो अग्गी डहिज्जा नो वाऊ हरिज्जा जाव नो पूइ-त्ताए हव्वमागच्छिज्जा, जे ण तस्स आगासपएसा तेहिं वालग्गेहिं फुन्ना वा अणाफुन्ना वा तओ ण समए समए इक्कमिक्कमागासपएस अवहाय जावइएण कालेण से पल्ले खीणे जाव निल्लेवे भवइ से त सुहुमे खेत्तपलिओवमे । तत्थ चोयए पन्नवग एव वयासी—अत्थि ण तस्स पल्लस्स आगासपएसा जे ण तेहिं वालग्गेहिं अणाफुन्ना ? हता अत्थि । जहा को दिट्ठतो ? से जहा-नामए कुट्ठे सिया कुहडाण भरिए तत्थ माउलिंगा पक्खित्ता ते वि माया, तत्थ बिल्ला पक्खित्ता ते वि माया, तत्थ आमलया पक्खित्ता ते वि माया, तत्थ ण बयरा पक्खित्ता ते वि माया, तत्थ ण चिणगा पक्खित्ता ते वि माया, तत्थ ण मुग्गा पक्खित्ता ते वि माया, तत्थ ण सरिसवा पक्खित्ता ते वि माया, तत्थ ण गगावालुया पक्खित्ता सा वि माया, एवामेव अत्थि ण तस्स पल्लस्स आगासपएसा जे ण तेहिं वालग्गेहिं अणाफुन्ना ॥ (पत्र १९२–१) इति ।

---

१ एताभ्यां सूक्ष्माद्धापल्योपम-सागरोपमाभ्यां किं प्रयोजनम् ? गौतम ! एताभ्यां नैरयिकतिर्यग्योनिकमनुष्य देवाना चायूंषि मीयन्ते । २ अथ किं तत् सूक्ष्म क्षेत्रपल्योपमम् ? असौ यथानामक पल्य स्याद् एकयोजन आयामविष्कम्भाभ्याम् योजन ऊर्ध्वमुच्चैस्त्वेन यावद् भृत वालाग्रकोटिभि, तत्र खलु एकैक वालाग्रमसङ्ख्येयानि खण्डानि क्रियते, तानि च वालाग्राणि दृष्ट्यवगाहनातोऽसङ्ख्येयभागमात्राणि सूक्ष्मस्य पनकजीवस्य शरीरा वगाहनातोऽसङ्ख्येयगुणानि तानि च वालाग्राणि नाग्निर्दहेद् न वायुर्हरेद् यावद् न पूतित्वेन शीघ्रमा गच्छेयु, ये च तस्य आकाशप्रदेशा तैर्वालाग्रै स्पृष्टा वा अनास्पृष्टा वा तत खलु समये समये एकैक माकाशप्रदेशमपहाय यावता कालेन स पल्य क्षीण यावद् निर्लेप भवति तदिद सूक्ष्म क्षेत्रपल्योपमम् । तत्र चोदक प्रज्ञापकमेवमवादीत्—सन्ति तस्य पल्यस्याकाशप्रदेशा ये तैर्वालाग्रैरनास्पृष्टा ? हन्त सन्ति । यथा को दृष्टान्त ? असौ यथानामक कोष्ठ स्यात् कूष्माण्डैर्भृत, तत्र मातुलिङ्गानि क्षिप्तानि तान्यपि अव गाढानि, तत्र बिल्वानि क्षिप्तानि तान्यप्यवगाढानि, तत्रामलकानि प्रक्षिप्तानि तान्यप्यवगाढानि, तत्र बदराणि क्षिप्तानि तान्यपि अवगाढानि, तत्र चणका प्रक्षिप्तास्तेऽपि अवगाढा, तत्र मुद्गा प्रक्षिप्तास्तेऽपि अवगाढा, तत्र सर्षपा प्रक्षिप्तास्तेऽपि अवगाढा, तत्र गङ्गावालुका प्रक्षिप्तास्ता अप्यवगाढा, एवमेव सन्त्येव तस्य पल्यस्याकाशप्रदेशा ये तैर्वालाग्रैरनास्पृष्टा इति ।

एताभ्या च सूक्ष्मक्षेत्रपल्योपम-सागरोपमाभ्या प्रायो दृष्टिवादे द्रव्यप्रमाणप्ररूपणायां प्रयोजन सकृदेव नान्यत्र। यदागम —

एएहिं सुहुमखेत्तपलिओवमसागरोवमेहिं किं पओयण ? गोयमा ! एएहिं सुहुमखेत्तपलिओवमसागरोवमेहिं दिट्ठिवाए दव्वाइ मविज्जति (अनुयो० पत्र १९३–१) इति।

आह—यदि स्पृष्टा अस्पृष्टाश्चेह सूक्ष्मक्षेत्रपल्योपमे नभ प्रदेशा गृह्यन्ते तर्हि वालाग्रै किं प्रयोजनम् ? यथोक्तपल्यान्तर्गतनभ प्रदेशापहारमात्रत सामान्येनैव वक्तुमुचित स्यात्, सत्यम्, किन्तु सूक्ष्मक्षेत्रपल्योपमेन दृष्टिवादे द्रव्याणि मीयन्ते, तानि च कानिचिद् यथोक्तवालाग्रस्पृष्टैरेव नभ प्रदेशैर्मीयन्ते कानिचिदस्पृष्टैरिति, अतो दृष्टिवादोक्तद्रव्यमानोपयोगित्वाद् वालाग्रप्ररूपणाऽत्र प्रयोजनवतीति ॥ ८५ ॥

व्याख्यात बादर-सूक्ष्मभेदतो द्विविधमपि क्षेत्रपल्योपमम् ३। तद्व्याख्याने च समर्थित सप्रपञ्च पल्योपम-सागरोपमस्वरूपम्। इदानीं किञ्चिदून पुद्गलपरावर्तार्धं सास्वादनादीनामुत्कृष्टमन्तरमुक्तम् अतस्तमेव सप्रपञ्च पुद्गलपरावर्तं गाथात्रयेण निरूपयितुकाम प्रथम तावत् तस्यैव भेदान् परिमाण चाह—

दव्वे खित्ते काले, भावे चउह दुह बायरो सुहुमो।
होइ अणंतुस्सप्पिणिपरिमाणो पुग्गलपरट्टो ॥ ८६ ॥

'द्रव्ये' द्रव्यविषय 'क्षेत्रे' क्षेत्रविषय 'काले' कालविषय 'भावे' भावविषय , इत्थ 'चतुर्धा' चतूरूप पुद्गलपरावर्तो भवतीत्युत्तरेण सण्टङ्क । पुनरेकैको द्रव्यादिक 'द्विविध' द्विप्रकारो भवति। द्वैविध्यमेवाह—"बायरो सुहुमो" त्ति बादर-सूक्ष्मभेदभिन्न । अयमर्थ —द्रव्यपुद्गलपरावर्तो द्वेधा—बादर सूक्ष्मश्च, क्षेत्रपुद्गलपरावर्तो द्वेधा—बादर सूक्ष्मश्च, कालपुद्गलपरावर्तो द्वेधा—बादर सूक्ष्मश्च, भावपुद्गलपरावर्तो द्वेधा—बादर सूक्ष्मश्च। कियत्कालप्रमाण पुनरयमेकैक ? इत्याह—"होइ अणतुस्सप्पिणिपरिमाणो" त्ति 'भवति' जायते उत्सर्पन्ति–प्रतिसमय कालप्रमाण जन्तूना वा शरीरा ऽऽयु प्रमाणादिकमपेक्ष्य वृद्धिमनुभवन्तीत्युत्सर्पिण्य , ततोऽनन्ता उत्सर्पिण्य , उपलक्षणत्वादवसर्पन्ति–प्रतिसमय कालप्रमाण जन्तूना वा शरीरा-ऽऽयु प्रमाणादिकमपेक्ष्य हानिमनुभवन्तीत्यवसर्पिण्य , ताश्च परिमाण यस्य सोऽनन्तोत्सर्पिणी-अवसर्पिणीपरिमाण.। पूरण-गलनधर्माण पुद्गला , तेपा पुद्गलाना—चतुर्दशरज्ज्वात्मकलोकवर्तिसमस्तपरमाणूना परावर्त — औदारिकादिशरीरतया गृहीत्वा मोचन यस्मिन् कालविशेषे स पुद्गलपरावर्त । यद्यपि क्षेत्रादिविषयस्य पुद्गलपरावर्तस्यैरूपोऽन्वर्थो न घटां प्राञ्चति तथाप्यन्यथाव्युत्पादितस्यापि शब्दस्यान्यथा गोशब्दवत् प्रवृत्तिदर्शनात् समयप्रसिद्धमर्थं विषयीकरोतीति न कश्चिद्दोष इति ॥८६॥

द्रव्यपुद्गलपरावर्तो बादर सूक्ष्मश्च भवतीत्युक्तम्। अत क्रमप्राप्त बादर-सूक्ष्मद्रव्यपुद्गल-

१ एताभ्यां सूक्ष्मक्षेत्रपल्योपम-सागरोपमाभ्यां किं प्रयोजनम् ? गौतम ! एताभ्यां सूक्ष्मक्षेत्रपल्योपम-सागरोपमाभ्यां दृष्टिवादे द्रव्याणि मीयन्ते ॥

२ इतीकेय गाथा सार्द्धशतकप्रकरणस्य १०६तमी गाथा–वृत्तीप्रसमा ॥

३ त० म० °वतस्वरू° । स० १-२ °वर्तस्वरू° ॥

परावर्तस्वरूपं प्ररूपयन्नाह—

उरलाइसत्तगेणं, एगजिओ मुयइ फुसिय सव्वअणू ।
जत्तियकालि स थूलो, दव्वे सुहुमो सगन्नयरा ॥ ८७ ॥

सूचकत्वात् सूत्रस्य 'औदारिकादिसप्तकत्वेन' औदारिकपरमाणून् औदारिकशरीरतया आदि-शब्दाद् वैक्रियपरमाणून् वैक्रियशरीरतया तैजसपरमाणून् तैजसशरीरतया कार्मणपरमाणून् कार्मणशरीरतया भाषापरमाणून् भाषात्वेन प्राणापानपरमाणून् प्राणापानतया मनोवर्गणापरमाणून् मनस्त्वेन, न पुनराहारकशरीरमप्यत्र ग्राह्यम् कादाचित्कत्वात् तल्लाभस्येति, 'स्पृष्ट्वा' परिणमय्य—तथापरिणामं नीत्वा 'एकजीवः' विवक्षितैकसत्त्वः 'मुञ्चति' त्यजति, 'सर्वाणून्' चतुर्दशरज्ज्वात्मक-लोकवर्तिसमस्तपरमाणून्, "जत्तियकालि" त्ति यावता कालेन, विभक्तिव्यत्ययश्च प्राकृतत्वात्, यदाह पाणिनिः स्वप्राकृतलक्षणे—"व्यत्ययोऽप्यासाम्" इति । स इत्थं पुद्गलस्पर्शमानेनो-पमितः कालविशेषः 'स्थूलः' बादरः "दव्वि" त्ति द्रव्यपुद्गलपरावर्तो भवतीति प्रक्रमः । इह किल संसारकान्तारे पर्यटन्नेकजीवोऽनेकैर्भवग्रहणैः सकललोकवर्तिनः सर्वानपि पुद्गलान् यावता कालेन औदारिकशरीर-वैक्रियशरीर-तैजसशरीर-भाषा-प्राणापान-मनः-कार्मणशरीरलक्षणपदार्थ-सप्तकभावेन यथास्वं परिणमय्य मुञ्चति स तावत्प्रमाणः कालो द्रव्यतो बादरः पुद्गलपरावर्तो भवतीति तात्पर्यमिति ।

अभिहितो बादरो द्रव्यपुद्गलपरावर्तः । इदानीं सूक्ष्मद्रव्यपुद्गलपरावर्तमाह—"सुहुमो सगन्नयर" त्ति सूक्ष्मो द्रव्यपुद्गलपरावर्तो भवतीति सम्बन्धः । कथम् ? इत्याह—'सप्तकान्य-तराद्'[न्यतरस्मात्]सप्तकान्यतरेण, विभक्तिव्यत्ययश्च प्राकृतत्वात् । इदमत्र हृदयम्—सप्ताना-मौदारिक-वैक्रिय-तैजस-भाषा-प्राणापान-मनः-कार्मणमध्यादन्यतरेण पुनरेकेन केनचिदौदारिका-दिना पूर्वप्रदर्शितप्रकारेण सकललोकवर्तिपुद्गलानां स्पर्शने औदारिकादिशरीरतया गृहीत्वा मोचने सूक्ष्मद्रव्यपुद्गलपरावर्तो भवति । विवक्षितभेदाविशेषे षड्भिर्भेदैः परिणमिता अपि न गृह्यन्त इति । एके त्वाचार्या एवं द्रव्यपुद्गलपरावर्तस्वरूपं प्रतिपादयन्ति, तथाहि—यदैको जीवोऽनेकैर्भवग्रहणैरौदारिकशरीर-वैक्रियशरीर-तैजसशरीर-कार्मणशरीरचतुष्टयरूपतया यथास्वं सकललोकवर्तिनः सर्वान् पुद्गलान् परिणमय्य मुञ्चति तदा बादरो द्रव्यपुद्गलपरावर्तो भवति । यदा पुनरौदारिकादिचतुष्टयमध्यादेकेन केनचित् शरीरेण सर्वपुद्गलान् परिणमय्य मुञ्चति शेष-शरीरपरिणमितास्तु पुद्गला न गृह्यन्त एव तदा सूक्ष्मो द्रव्यपुद्गलपरावर्तो भवतीति ॥ ८७ ॥

उक्तो द्वेधाऽपि द्रव्यपुद्गलपरावर्तः । सम्प्रति क्षेत्र-काल-भावपुद्गलपरावर्तान् बादर-सूक्ष्मभे-दभिन्नान् निरूपयन्नाह—

लोगपएसोसप्पिणिसमया अणुभागबंधठाणा य ।
जहतहकममरणेणं, पुट्ठा खित्ताइ थूलियरा ॥ ८८ ॥

लोकस्य—चतुर्दशरज्ज्वात्मकक्षेत्रखण्डस्य प्रदेशाः—निर्विभागा भागा लोकप्रदेशाः, तयो-

१ सं० १-२ छा० म० °कवर्ति° ॥ २ सं० १-२ त० छा० °कादिशरीरादिचतु° ॥

त्सर्पिणीशब्देनावसर्पिण्यप्युपलक्ष्यते दिनग्रहणे रात्र्युपलक्षणवत् तयो समया –परमनिकृष्टा कालविशेषा उत्सर्पिणी अवसर्पिणीसमया , समयस्वरूप च पट्टशाटिकापाटनदृष्टान्ताद् उत्पलपत्र-शतभेदोदाहरणाच्चावसेयम्, ततो लोकप्रदेशाश्चोत्सर्पिण्यवसर्पिणीसमयाश्चेति द्वन्द्व । तथाऽनुभागस्य–रसस्य बन्ध –बन्धन तस्य निमित्तभूतानि स्थानानि–कषायोदयविशेषलक्षणान्यनुभागबन्धस्थानानि, अनुभागबन्धाध्यवसायस्थानानीत्यर्थ । च समुच्चये ततश्चैते प्रत्येक त्रयोऽपि पदार्था यदा मरणशब्दस्य प्रत्येकमभिसम्बन्धाद् यथातथामरणेन–क्रमोत्क्रमाभ्या प्राणपरित्यागलक्षणेन स्पृष्टा –व्याप्ता भवन्ति तदा "खित्ताइ थूल" त्ति 'क्षेत्रादय ' क्षेत्रपुद्गलपरावर्त-कालपुद्गलपरावर्त-भावपुद्गलपरावर्ता 'स्थूला ' बादरा भवन्ति । यदा पुनस्त एव लोकाकाशप्रदेशा उत्सर्पिण्यवसर्पिणीसमया अनुभागबन्धाध्यवसायस्थानानि चेति प्रत्येक त्रयोऽपि पदार्था क्रममरणेन–पूर्व-स्पृष्टाकाशप्रदेशादिभ्योऽव्यवधानत प्राणपरित्यागलक्षणेन स्पृष्टा भवन्ति तदा क्षेत्रपुद्गलपरावर्त-कालपुद्गलपरावर्त-भावपुद्गलपरावर्ता "इयर" त्ति इतरे सूक्ष्मा भवन्तीति गाथाक्षरार्थ ।

भावार्थ पुनरयम्—यदाऽनन्तभवभ्रमणशीलो जन्तुरनन्तरेषु व्यवहितेषु वा अपरापराकाशप्रदेशेषु म्रियमाण सर्वानपि चतुर्दशरज्ज्वात्मकलोकाकाशप्रदेशान् मरणेन स्पृशति तदा बादर क्षेत्रपुद्गलपरावर्तो भवति । नवर येष्वपरप्रदेशवृद्धिरहितेषु पूर्वावगाढेष्वेव नभ प्रदेशेषु मृतस्ते न गण्यन्ते अपूर्वास्तु दूरव्यवहिता अपि स्पृष्टा गण्यन्त एवेति १ । कालतस्तु यदो त्सर्पिण्यवसर्पिणीसमयेषु सर्वेष्वपि क्रमेणोत्क्रमेण वा अनन्तानन्तैर्भवैरेको जन्तुर्मृतो भवति तदा बादर कालपुद्गलपरावर्तो भवति । केवल येषु समयेष्वेकदा मृतोऽन्यदाऽपि यदि तेष्वेव समयेषु म्रियते तदा ते न गण्यन्ते, यदा पुनरेक-द्वितीयादिसमयक्रममुल्लङ्घ्यापि अपूर्वेषु समयेषु म्रियते तदा ते व्यवहिता अपि समया गण्यन्त इति २ । भावत पुद्गलपरावर्त उच्यते—अनुभागबन्धाध्यवसायस्थानानि मन्द-प्रवृद्ध-प्रवृद्धतरादिभेदतोऽसङ्ख्येयानि वर्तन्ते, एतेषा चासङ्ख्येयत्वप्रमाणमुत्तरत्र वक्ष्याम । ततो यदैकैकस्मिन्ननुभागबन्धाध्यवसायस्थाने क्रमेणोत्क्रमेण च म्रियमाणेन जन्तुनाऽसङ्ख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणानि सर्वाण्यपि तानि स्पृष्टानि भवन्ति तदा बादरो भावपुद्गलपरावर्तो भवति, अत्रापि यदध्यवसायस्थानमेकदा मरणेन स्पृष्ट तदेवान्यदाऽपि यदि स्पृशति तदा तन्न गण्यते, अपूर्व तु दूरव्यवहितमपि स्पृष्ट गण्यत एवेति ३ ।

भाविता बादरा क्षेत्रपुद्गलपरावर्त-कालपुद्गलपरावर्त-भावपुद्गलपरावर्ता । साम्प्रतमेत एव सूक्ष्मा भाव्यन्ते—इह येष्वाकाशप्रदेशेष्ववगाढो जन्तुरेकदा मृतस्तेभ्योऽनन्तरव्यवस्थितेष्वेव नभ प्रदेशेष्वन्यदाऽपि यदि म्रियते, अपरस्या वेलाया तेषामप्यनन्तरव्यवस्थितेष्वाकाशप्रदेशेषु, अन्यस्या वेलाया तेषामप्यनन्तरव्यवस्थितेष्वाकाशप्रदेशेषु, अन्यस्या तु वेलाया तेषामप्यनन्तरेष्वन्येषु, एव तावद् नेय यावदित्थमपरापरेषु नैरन्तर्यव्यवस्थितेषु नभ प्रदेशेषु क्रमेण म्रियमाणो जन्तु सर्वानपि लोकाकाशप्रदेशान् स्पृशति, ये चापरप्रदेशवृद्धिरहिता पूर्वावगाढा एव दूरव्यवस्थिता वाऽऽकाशप्रदेशा मरणेन स्पृष्टास्ते च न गण्यन्ते तदा सूक्ष्म क्षेत्रपुद्गलपरावर्त इति १ ।

---

१ स० १–२ त० म० छा० "सर्पिण्युपल" ॥ २ स० १–२ म० छा० मन्द-प्रवृद्धतरादिभे° ॥

पञ्चसङ्ग्रहशास्त्रे तु सूक्ष्म-बादरभेदतो द्विविधोऽपि क्षेत्रपुद्गलपरावर्त इत्थं व्याख्यातः, यथा—चतुर्दशरज्ज्वात्मकलोकस्य सर्वप्रदेशेषु प्रत्येकं यावता कालेनैकजीवो मृतो भवति । कोऽर्थः ? यावन्तो लोकाकाशप्रदेशास्ते प्रदेशे प्रदेशे क्रमोत्क्रमाभ्यां मरणं कुर्वाणेन यदा सर्वे व्याप्ता भवन्ति तदा बादरः क्षेत्रपुद्गलपरावर्तः । सूक्ष्मस्तु यावता कालेन प्रथमप्रदेशानुबद्धप्रदेशक्रमेण मृतो भवति, कोऽर्थः ? यत्राकाशप्रदेशे मृतस्तदनन्तरप्रदेशक्रमेण यदा सर्वेऽपि लोकाकाशप्रदेशा मरणेन व्याप्ता भवन्ति तदाऽसौ भवति, व्यवहितेषु च मरणं न गण्यते । यद्यपि जीवस्यैकप्रदेशेऽवस्थानमेव नास्ति तथापि जीवावस्थानप्रदेशानां प्राधान्येनैकः परिकल्प्यते, तस्माद् न्यूनतामवृत्तिः, अमुना च प्रकारेण प्रभूतकालव्यापनं कृतं भवतीति ।

सूक्ष्मस्तु कालपुद्गलपरावर्तस्तदा भवति यदोत्सर्पिण्या अवसर्पिण्या वा प्रथमसमये कश्चिद् मृतः, ततः पुनरपि समयोनविंशतिकोटीकोटीभिरतिक्रान्ताभिर्भूयोऽपि स एव जन्तुः कालान्तरेण तस्या एव द्वितीयसमये म्रियते, पुनरपि कदाचित् तथैव ताभिरतिक्रान्ताभिस्तस्या एव तृतीयसमये, एवं चतुर्थ-पञ्चम-षष्ठादिसमयक्रमेणानन्तानन्तैर्भवैर्यावत् सर्वेऽप्युत्सर्पिण्यवसर्पिण्योर्विंशतिसागरोपमकोटीकोटीमानयोः समया मरणेन व्याप्ता भवन्ति । ये तु प्रथमादिसमयक्रममुल्लङ्घ्य व्यवहितसमयाः पूर्वस्पृष्टा वा मरणेन व्याप्तास्ते तु न गृह्यन्त एवेति ।

सूक्ष्मो भावपुद्गलपरावर्त उच्यते—इह किलानुभागबन्धाध्यवसायस्थानानि बध्यमानकर्मपुद्गलेषु तादृशानुभागपलिच्छेदनिर्वर्तकानि असङ्ख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणानि मन्द-प्रवृद्ध-प्रवृद्धतरादिभेदतो वर्तन्ते, तत्र च सर्वस्तोकानुभागपलिच्छेदजनके कषायोदये वर्तमानः कश्चिद् जन्तुर्मृतः, ततः कदाचित् पुनरपि तस्मादनन्तरव्यवस्थिते द्वितीयेऽनुभागबन्धाध्यवसायस्थाने विशेषाधिकानुभागपलिच्छेदजनके वर्तमानो मृतः, पुनरपि तस्मात् कदाचिद् विशेषाधिकानुभागपलिच्छेदजनके तृतीये, एवं क्रमेण क्रमेण विशेषाधिकानुभागपलिच्छेदजनकाध्यवसायस्थानेषु वर्तमानस्य मरणं तावद् वाच्यं यावत् सर्वोत्कृष्टानुभागबन्धाध्यवसायस्थाने म्रियमाणेन जन्तुनाऽनन्तानन्तैर्मरणैः सर्वाण्यपि स्पृष्टानि भवन्तीति, व्यवहितानि पूर्वस्पृष्टानि च न गण्यन्त इति ॥८८॥

व्याख्यातं सप्रपञ्चं पुद्गलपरावर्तस्वरूपम् । सम्प्रति यो जन्तुर्यथाविधः सन् उत्कृष्टं यथाविधश्च जघन्यं प्रदेशबन्धं विधत्ते इत्येतत् स्वामित्वद्वारेण निरूपयन्नाह—

अप्पयरपयडिबंधी, उक्कडजोगी य सन्नि पज्जत्तो ।
कुणइ पएसुक्कोसं, जहन्नयं तस्स वच्चासे ॥ ८९ ॥

अल्पतराश्च ताः प्रकृतयश्चाल्पतरप्रकृतयस्तासां बन्धः स विद्यते यस्यासावल्पतरप्रकृतिबन्धी, यो यो मौलानामौत्तराणां चाल्पप्रकृतिभेदानां बन्धकः स स उत्कृष्टप्रदेशबन्धं करोति, भागानामल्पत्वसद्भावात् । 'उत्कटयोगी' उत्कटवीर्यवान्, सर्वोत्कृष्टयोगव्यापारे वर्तमान इत्यर्थः । 'च' समुच्चये, स च भिन्नक्रमे, पर्याप्तश्चेति योक्ष्यते । सञ्ज्ञा—मनोविज्ञानलब्धिः सा विद्यते यस्यासौ संज्ञी, 'पर्याप्तश्च' समाप्तपर्याप्तिकः, 'करोति' विदधाति प्रदेशानामुत्कर्षम् —उत्कृ-

१ सटीकेयं गाथा सार्द्धशतकप्रकरणस्य ९९तमी गाथा-तट्टीकामध्यी ॥

ष्टत्व प्रदेशोत्कर्षस्तमुत्कृष्टप्रदेशमिति यावत् । इह सञ्ज्ञीति विशेष्यम्, शेषाणि तु विशेषणानि । अत्र च यो मन पूर्विका क्रिया विदधाति तस्य सर्वजीवेभ्य उत्कृष्टा चेष्टा भवति, तयैव चोत्कृष्टप्रदेशबन्धो भवतीति संज्ञिग्रहणम् । सञ्ज्ञ्यपि जघन्ययोग्युत्कृष्टयोगी च भवत्यतो जघन्ययोगिव्युदासार्थमुत्कृष्टयोगिग्रहणम्, तस्यैवोत्कृष्टप्रदेशबन्धात् । सञ्ज्ञ्यप्यपर्याप्तको नोत्कृष्टप्रदेशबन्ध विधातुमलमल्पवीर्यत्वात् तस्येति पर्याप्तग्रहणम् । एवंविधस्यापि बहुतरप्रकृतिबन्धकस्य भागबाहुल्यात् स्तोकप्रदेशबन्धो लभ्यते इत्यल्पतरप्रकृतिबन्धीत्युक्तम् । तस्मादेवंविधविशेषणविशिष्टो जन्तुरुत्कृष्ट प्रदेशबन्ध विधत्ते इति । तर्हि जघन्य प्रदेशबन्ध कथ करोति ? इत्याह—"जहन्नय तस्स वच्चासे" त्ति जघन्य एव जघन्यक, "यावादिभ्य" (सिद्ध० ७ ३-१५) इति स्वार्थे क प्रत्यय, त जघन्यक प्रदेशबन्धमिति प्रक्रम । 'तस्य' पूर्वप्रदर्शितस्य विशेष्यस्य विशेषणकलापस्य च 'व्यत्यासे' विपर्यये सति जन्तु करोतीति योग । अयमर्थ —बहुतरप्रकृतिबन्धको मन्दयोगोऽपर्याप्तकोऽसञ्ज्ञी जीवो जघन्य प्रदेशबन्ध विदधातीति ॥ ८९ ॥

अभिहित सामान्येनोत्कृष्ट-जघन्यप्रदेशबन्धस्वामी । सम्प्रति मूलप्रकृतीरुत्तरप्रकृतीश्च प्रतीत्य उत्कृष्टप्रदेशबन्धस्वामिन निरूपयन्नाह—

मिच्छ अजयचउ आऊ, बितिगुण विणु मोहि सत्त मिच्छाई ।
छण्हं सतरस सुहुमो, अजया देसा बितिकसाए ॥ ९० ॥

" आउ " त्ति आयुष उत्कृष्टप्रदेशबन्धस्वामिन पञ्च, तद्यथा—" मिच्छ " त्ति मिथ्यादृष्टि "अजयचउ" त्ति अयतेन—अविरतसम्यग्दृष्टिना उपलक्षिताश्चत्वार —अविरतसम्यग्दृष्टि-देशविरत-प्रमत्ता-ऽप्रमत्तलक्षणा पञ्चैव जना " अप्पयरपयडिबंधी " (गा० ८९) इत्यादिभणितगाथासम्भवद्विशेषणविशिष्टा आयुष उत्कृष्टप्रदेशबन्धमुपकल्पयन्ति । सम्यग्मिथ्यादृष्टिरपूर्वकरणादयश्चायुर्न बध्नन्तीति नेह गृहीता । सास्वादनस्तर्ह्यायुर्बध्नात्येव स किमिति न गृहीत ? इति चेद् उच्यते—तत्रोत्कृष्टप्रदेशनिबन्धनोत्कृष्टयोगाभावात् । तथाहि—अनन्तानुबन्धिनामुत्कृष्टोऽनुत्कृष्टश्च प्रदेशबन्धो मिथ्यादृष्टौ साद्यध्रुव एव भणिष्यते, यदि तु सास्वादनेऽप्युत्कृष्टयोगो लभ्यते तदाऽसावप्यनन्तानुबन्धिनो बध्नात्येव, अतो यथाऽविरतादिष्वप्रत्याख्यानावरणादिप्रकृतीनामुत्कृष्टप्रदेशबन्धसद्भावतोऽनुत्कृष्ट प्रदेशबन्ध साद्यादिचतुर्विकल्पोऽप्यभिधास्यते तथैवानन्तानुबन्धिना मिथ्यात्वभागलाभात् सास्वादने उत्कृष्टप्रदेशबन्धसद्भावतोऽनुत्कृष्ट प्रदेशबन्ध साद्यादिचतुर्विकल्पोऽपि स्यात्, न चैव निर्दि(र्दे)क्ष्यते, तस्माद् ज्ञायतेऽल्पकालभावित्वेन तथाविधप्रयत्नाभावादन्यतो वा कुतश्चित्कारणात् सास्वादनस्योत्कृष्टयोगो नास्ति । किञ्च अनन्तरमेवोत्तरप्रकृतिस्वामित्वे मतिज्ञानावरणादिप्रकृतीना प्रत्येक सूक्ष्मसम्परायादिषूत्कृष्ट प्रदेशबन्धमभिधाय भणितशेषप्रकृतीना मिथ्यादृष्टिमेवोत्कृष्टप्रदेशबन्धस्वामिन निर्देक्ष्यति न सास्वादनम्, यद् वक्ष्यति—" सेसा उक्कोसपएसगा मिच्छो " (गा० ९२) । बृहच्छतकेऽप्युक्त—

सेसपएसुकड मिच्छो ॥ (गा० ९६) इति ।

अतोऽपि ज्ञायते 'नास्ति सास्वादनस्योत्कृष्टयोगसम्भव' । अतो ये सास्वादनमप्यायुष उत्कृष्टप्रदेशबन्धस्वामिनमिच्छन्ति तन्मतमुपेक्षणीयमिति स्थितम् ।

"बितिगुण विणु मोहि सत्त मिच्छाइ" त्ति 'मोहे' मोहनीयस्योत्कृष्टप्रदेशबन्धस्वामित्वे 'द्वितीय-तृतीयगुणौ विना' सास्वादनसम्यग्दृष्टि-सम्यग्मिथ्यादृष्टिगुणस्थानके च वर्जयित्वा शेषाणि मिथ्यादृष्ट्यादीनि अनिवृत्तिबादरान्तानि सप्त गुणस्थानकान्यधिक्रियन्ते ।

इदमत्र हृदयम्—मिथ्यादृष्टि-अविरत-देशविरत प्रमत्ता-ऽप्रमत्ता-ऽपूर्वकरणा-ऽनिवृत्तिबादरगुणस्थानकवर्तिन सप्त जना उत्कृष्टयोगे वर्तमाना सप्तविधबन्धका मोहस्योत्कृष्ट प्रदेशबन्ध कुर्वन्ति । अन्ये तु सास्वादन-मिश्रावपि सङ्गृह्य "मोहस्स नव उ ठाणाणि" त्ति पठन्ति तच्च न युक्तियुक्तम्, यत सास्वादनस्योत्कृष्टयोगो न लभ्यते इत्युक्तमेव, मिश्रेऽप्युत्कृष्टयोगो न लभ्यते । तथाहि—द्वितीयकषायाणामुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्वामिनमविरतमेव निर्देक्ष्यति "अजया देसा बितिकसाए" इति वचनात् । यदि तु मिश्रेऽप्युत्कृष्टयोगो लभ्यते तदा सोऽपि तत्स्वामितया निर्दिश्येत । न च वक्तव्यम्—मिश्रादल्पतरप्रकृतिबन्धकोऽविरत इत्ययमेव गृहीत, यतोऽविरतोऽपि मूलप्रकृतीना सप्तविधबन्धकस्तत्र ग्रहीष्यते, मिश्रोऽपि सप्तविधबन्धक एव, उत्तरप्रकृतीरपि मोहनीयस्य सप्तदशाविरतो बध्नाति, मिश्रोऽप्येतावतीरेव, तस्मादुत्कृष्टयोगाभाव विहाय नापर तत्परित्यागे कारण समीक्षामहे इति । मिश्रेऽप्युत्कृष्टयोगाभावात् सप्तैव मोहोत्कृष्टप्रदेशबन्धका इति स्थितम् । "छण्ह सतरस सुहुमु" त्ति मूलप्रकृतीना 'षण्णा' ज्ञानावरण-दर्शनावरण-वेदनीय-नाम-गोत्रा-ऽन्तरायलक्षणाना सूचकत्वात् सूत्रस्य 'सूक्ष्म' सूक्ष्मसम्पराय उत्कृष्टयोगे वर्तमान उत्कृष्टप्रदेशबन्ध विदधाति । सूक्ष्मसम्परायो हि मोहा-ऽऽयुषी न बध्नाति, अतस्तद्भागोऽधिको लभ्यत इत्यस्यैव ग्रहणमिति । तथा 'सप्तदशाना' ज्ञानावरणपञ्चक-दर्शनावरणचतुष्टय-सातवेदनीय-यश कीर्ति-उच्चैर्गोत्रा-ऽन्तरायपञ्चकलक्षणानामुत्तरप्रकृतीना सूक्ष्मसम्पराय उत्कृष्टयोगे वर्तमान उत्कृष्टप्रदेशबन्ध विदधाति, मोहा-ऽऽयुषी असौ न बध्नातीत्यत्र तद्भागोऽधिको लभ्यते । अपर च दर्शनावरणभागो नामभागश्च सर्वोऽपीह यथासङ्ख्य दर्शनावरणचतुष्कस्य यश कीर्तेश्चैकस्या भवतीति सूक्ष्मसम्परायस्यैव ग्रहणम् । "अजया देसा बितिकसाए" त्ति 'अयता' अविरतसम्यग्दृष्टय सप्तविधबन्धका उत्कृष्टयोगे वर्तमाना 'द्वितीयकषायान्' अप्रत्याख्यानावरणानुत्कृष्टप्रदेशबन्धान् विदधति, मिथ्यात्वमनन्तानुबन्धिनश्चैते न बध्नन्त्यतस्तद्भागद्रव्यमधिक लभ्यत इत्यमीषामेव ग्रहणम् । तथा 'देशा' देशविरता सप्तविधबन्धका उत्कृष्टयोगे वर्तमाना 'तृतीयकषायान्' प्रत्याख्यानावरणाख्यानुत्कृष्टप्रदेशबन्धान् कुर्वते, अप्रत्याख्यानावरणानामप्यमी अबन्धका अतस्तद्भागोऽधिको लभ्यत इति कृत्वा ॥ ९० ॥

पण अनियट्टी सुखगइनराउसुरसुभगतिगविउव्विदुगं ।
समचउरसमसाय, वइर मिच्छो व सम्मो वा ॥ ९१ ॥

"पण" त्ति पञ्च प्रकृती —पुरुषवेद-संज्वलनचतुष्टयलक्षणा अनिवृत्तिबादर सर्वोत्कृष्टयोगे वर्तमान उत्कृष्टप्रदेशबन्धा करोति । तत्र पुरुषवेदस्य पुवेद-सञ्ज्वलनचतुष्टयात्मक पञ्चविध बध्नन् असावुत्कृष्ट प्रदेशबन्ध करोति, हास्य रति-भय-जुगुप्साभागो लभ्यत इत्यस्यैव ग्रहणम् । संज्वलनक्रोधस्यानिवृत्तिबादर पुवेदबन्धे व्यवच्छिन्ने संज्वलनक्रोधादिचतुष्टय बध्नन् उत्कृष्टयोगे वर्त-

---

१ स० १-२ म० छा० तद्भागो लभ्य० ॥

मा उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध विदधाति, मिथ्यात्वा-ऽनन्तानुबन्धिकषायद्वादशकभाग सर्वनोकषायभागश्च लभ्यत इति कृत्वा। संज्वलनमानस्य स एव क्रोधबन्धे व्यवच्छिन्ने संज्वलनमानादित्रय बध्नन् उत्कृष्टप्रदेशबन्ध मानस्य करोति, क्रोधभागो लभ्यत इति कृत्वा। स एव मानबन्धे व्यवच्छिन्ने मायालोभौ बध्नन् मायाया उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध करोति, मानभागोऽपि लभ्यत इति कृत्वा। स एव मायाबन्धे व्यवच्छिन्ने लोभमेक बध्नतस्यैवोत्कृष्ट प्रदेशबन्ध करोति, एक द्वौ वा समयौ, एतच्च विशेषण प्रागपि द्रष्टव्यम्, समस्तमोहनीयभागस्तत्र लभ्यत इति लोभबन्धकस्यैव ग्रहणमिति। तथा सुखगति-प्रशस्तविहायोगति नरायु त्रिकशब्दस्य प्रत्येक सम्बन्धात् सुरत्रिक-सुरगति-सुरानुपूर्वी-सुरायुर्लक्षण सुभगत्रिक-सुभग-सुस्वरा ऽऽदेयस्वरूप वैक्रियद्विक-वैक्रियशरीर-वैक्रियाङ्गोपाङ्गलक्षण समचतुरस्रसंस्थानम् असातवेदनीय "वइरं" ति वज्रर्षभनाराचसंहननम् इत्येतास्त्रयोदश प्रकृतीर्मिथ्यादृष्टि सम्यग्दृष्टिर्वा उत्कृष्टप्रदेशा करोति।

तथाहि—असात यथा मिथ्यादृष्टि सप्तविधबन्धको बध्नाति तथा सम्यग्दृष्टिरपि सप्तविधबन्धक एवैतद् बध्नाति, अत प्रकृतिलाघवादिविशेषाभावाद् उत्कृष्टयोगे वर्तमानौ द्वावप्यसातस्योत्कृष्टप्रदेशबन्ध कुरुत । देव-मनुष्यायुषोरप्यष्टविधबन्धकावुत्कृष्टयोगे वर्तमानौ द्वावप्यविशेषेणोत्कृष्टप्रदेशबन्ध कुरुत । देवगति देवानुपूर्वी-वैक्रियशरीर-वैक्रियाङ्गोपाङ्ग-समचतुरस्रसंस्थान प्रशस्तविहायोगति-सुभग-सुस्वरा ऽऽदेयलक्षणा नव नामप्रकृतयो नाम्नोऽष्टाविंशतिबन्धकाले एव बन्धमागच्छन्ति, नाधस्तनेषु पूर्वोक्तरूपेषु त्रयोविंशति पञ्चविंशति-षड्विंशतिबन्धेषु । ता चाष्टाविंशति देवगतिप्रायोग्यां सम्यग्दृष्टिर्मिथ्यादृष्टिश्च बध्नाति। तथाहि—देवगति देवानुपूर्वी पञ्चेन्द्रियजाति वैक्रियशरीरं वैक्रियाङ्गोपाङ्ग तैजस-कार्मणे समचतुरस्रसंस्थान वर्णचतुष्कम् अगुरुलघुनाम पराघातनाम उपघातनाम उच्छ्वासनाम प्रशस्तविहायोगतिनाम त्रसनाम बादरनाम पर्याप्तनाम प्रत्येकनाम स्थिरा ऽस्थिरयोरेकतर शुभा ऽशुभयोरेकतरं सुभगनाम सुस्वरनाम आदेयनाम यश कीर्ति-अयश कीर्त्योरेकतरं निर्माणनाम इति। अतो देवगतिप्रायोग्याष्टाविंशतिबन्धसहचरिता एता नव प्रकृतीर्निर्वर्तयति। सप्तविधबन्धको सम्यग्दृष्टि मिथ्यादृष्टी उत्कृष्टयोगे वर्तमानावविशेषेणोत्कृष्टप्रदेशा विधत्त', यत एषाऽष्टाविंशतिर्मिथ्यादृष्टि-सास्वादन मिश्रा ऽविरत-देशविरतानां देवगतिप्रायोग्य बध्नतामवसेया । अष्टाविंशतेरुपरितनेष्वेकोनत्रिंशदादिबन्धस्थानेष्वप्येता नव प्रकृतयो बध्यन्ते, केवल तत्र भागबाहुल्यादुत्कृष्ट प्रदेशबन्धो न लभ्यत इत्यष्टाविंशतिसहचरितत्वेन ग्रहणम्। वज्रर्षभनाराचस्यापि सम्यग्दृष्टिर्मिथ्यादृष्टिर्वा सप्तविधबन्धको नाम्नो वज्रर्षभनाराचसहितामेकोनत्रिंशतं तिर्यग्गति तिर्यगानुपूर्व्यौ पञ्चेन्द्रियजाति: औदारिकशरीरम् औदारिकाङ्गोपाङ्ग तैजस-कार्मणे वज्रर्षभनाराचसंहनन समचतुरस्रसंस्थान वर्णचतुष्कम् अगुरुलघु उपघात पराघातम् उच्छ्वासनाम प्रशस्तविहायोगति त्रसनाम बादरनाम पर्याप्तनाम प्रत्येकनाम स्थिरा ऽस्थिरयोरेकतरं शुभा-ऽशुभयोरेकतर सुभगनाम सुस्वरनाम आदेयनाम यश कीर्ति अयश कीर्त्योरेकतरं निर्माणमितिलक्षणा, मनुष्यगति-मनुष्यानुपूर्व्यौ पञ्चेन्द्रियजाति औदारिकशरीरम् औदारिकाङ्गोपाङ्ग तैजस-कार्मणे समचतुरस्रसंस्थान वज्रर्षभनाराचसंहनन वर्णचतुष्कम् अगुरुलघु पराघातम् उपघातनाम उच्छ्वासनाम प्रशस्तविहायोगति त्रसनाम बादरनाम पर्याप्तनाम प्रत्येकनाम

स्थिरा ऽस्थिरयोरेकतरं शुभा-ऽशुभयोरेकतरं सुभगनाम सुस्वरनाम आदेयनाम यशःकीर्ति-अयशःकीर्त्योरेकतरं निर्माणमितिलक्षणा वा निर्वर्तयन् उत्कृष्टयोगे वर्तमान उत्कृष्टप्रदेशबन्ध करोति। एकोनत्रिंशतोऽधस्तनबन्धेष्विव न बध्यते, त्रिंशद्बन्धे तु बध्यते, केवल भागबाहुल्यात् तत्रोत्कृष्टप्रदेशबन्धो न लभ्यत इत्येकोनत्रिंशद्बन्धगतस्यैव ग्रहणमिति सम्यग्दृष्टि-मिथ्यादृष्ट्योर-विरोधेन भावितत्रयोदशानामपि प्रकृतीनामुत्कृष्ट प्रदेशबन्ध इति ॥ ९१ ॥

निद्दापयलादुजुयलभयकुच्छातित्थ सम्मगो सुजई ।
आहारदुगं सेसा, उक्कोसपएसगा मिच्छो ॥ ९२ ॥

निद्रा प्रचला द्वयोर्युगलयो समाहारो द्वियुगल—हास्य-रति अरति-शोकाख्य, भय "कुच्छ" त्ति जुगुप्सा "तित्थ" त्ति तीर्थकरनामेत्येतत् प्रकृतिनवक सम्यग् गच्छति ज्ञानादिमोक्ष-मार्गमिति सम्यग'—सम्यग्दृष्टि उत्कृष्टयोगे वर्तमान उत्कृष्टप्रदेश बध्नाति । तत्र निद्रा-प्रचल-योरविरतसम्यग्दृष्ट्यादयोऽपूर्वकरणान्ता सर्वोत्कृष्टयोगे वर्तमाना सप्तविधबन्धकाले एक द्वौ वा समयावुत्कृष्ट प्रदेशबन्ध कुर्वन्ति, आयुर्द्रव्यभागोऽधिको लभ्यत इति सप्तविधबन्धकग्रहणम् । स्त्यानर्द्धित्रिक सम्यग्दृष्टयो न बध्नन्त्यतस्तद्भागलाभोऽपि भवतीति सम्यग्दृष्टीनामेव ग्रहणम् । मिथ्यादृष्टि सास्वादनौ स्त्यानर्द्धित्रिक बध्नीत इति नेह गृहीतौ । मिश्रस्त्वेतद् न बध्नाति, केवल-मुक्तनीत्या तस्योत्कृष्टयोगो न लभ्यत इति सोऽपि नेहाधिकृत । हास्य-रति-अरति-शोक-भय-जुगुप्सानां तु ये ये सम्यग्दृष्टयोऽविरताद्यपूर्वकरणान्ताना मध्ये तद्बन्धकास्ते ते उत्कृष्टयोगे वर्त-माना उत्कृष्ट प्रदेशबन्धमभिनिर्वर्तयन्ति, मिथ्यात्वभागो लभ्यत इति सम्यग्दृष्टिग्रहणम् । तीर्थ-करनामाऽप्यविरताद्यपूर्वकरणान्त सम्यग्दृष्टिर्मूलप्रकृतिसप्तविधबन्धको देवगति देवानुपूर्वी पञ्चेन्द्रियजाति वैक्रियशरीरं वैक्रियाङ्गोपाङ्ग समचतुरस्रसंस्थानम् उच्छ्वासनाम पराघातनाम प्रशस्तविहायोगति त्रसनाम बादरनाम पर्याप्तनाम प्रत्येकनाम स्थिरा-ऽस्थिरयो शुभा-ऽशुभयो-र्यश कीर्ति-अयश कीर्त्यो पृथगन्यतरं सुभगनाम सुस्वरनाम आदेयनाम वर्णचतुष्क तैजस-कार्मणे अगुरुलघु उपघातनाम निर्माणमित्येतामष्टाविंशतिं तीर्थकरनामसहितामेकोनत्रिंशत देव-गतिप्रायोग्यामुत्तरप्रकृतीर्बध्नन् उत्कृष्टयोगे वर्तमान उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध करोति, मिथ्यादृष्टिरे-तद् न बध्नातीति सम्यग्दृष्टिग्रहणम् । तीर्थकरनामसहिताश्च त्रयोविंशत्यादिका पूर्वोक्तरूपा नाम उत्तरप्रकृतयो न बध्यन्ते । त्रिंशदेकत्रिंशद्बन्धौ तु पूर्वोक्तनीत्या तीर्थकरनामसहितौ बध्येते, केवल तत्र भागबाहुल्यादुत्कृष्टप्रदेशबन्धो न लभ्यत इति दोषपरिहारेणैकोनत्रिंशत्प्रकृ-तिबन्धग्रहणम् । तथा 'सुयति' शोभनसाधु प्रस्तावादप्रमत्तयतिरपूर्वकरणश्च गृह्यते, द्वयोरपि प्रमादरहितत्वेन सुयतित्वात्, ततश्चैतौ द्वावपि देवगति देवानुपूर्वी पञ्चेन्द्रियजाति वैक्रिय-शरीरं वैक्रियाङ्गोपाङ्ग समचतुरस्रसंस्थान पराघातनाम उच्छ्वासनाम प्रशस्तविहायोगति त्रस-नाम बादरनाम पर्याप्तनाम प्रत्येकनाम स्थिरनाम शुभनाम सुभगनाम सुस्वरनाम आदेयनाम यश कीर्तिनाम वर्णचतुष्क तैजस-कार्मणे अगुरुलघुनाम उपघातनाम निर्माणनाम आहारक-शरीरम् आहारकाङ्गोपाङ्गमित्येतद् देवगतिप्रायोग्य त्रिंशन्नामोत्तरप्रकृतिकदम्बकं बध्नन्तौ उत्कृष्ट-योगे वर्तमानौ आहारकद्विकम्—आहारकशरीरा ऽऽहारकाङ्गोपाङ्गलक्षणमुत्कृष्टप्रदेश बध्नीत ।

तीर्थकरनामसहिते एकत्रिंशद्बन्धेऽप्येतद् बध्यते, किन्तु तत्र भागबाहुल्याद् न गृह्यते । तथा 'शेषा ' भणितचतु पञ्चाशत्प्रकृतिभ्य उद्धरिता स्त्यानर्द्धित्रिक मिथ्यात्वा-ऽनन्तानुबन्धिचतुष्टय स्त्रीवेद-नपुंसकवेद-नारकायुष्क-तिर्यगायुष्क-नरकगति-नरकानुपूर्वी-तिर्यगति-तिर्यगानुपूर्वी-मनुष्यगति-मनुष्यानुपूर्वी-एकेन्द्रियजाति-द्वीन्द्रियजाति-त्रीन्द्रियजाति-चतुरिन्द्रियजाति-पञ्चेन्द्रियजाति औदारिकशरीर-औदारिकाङ्गोपाङ्ग-तैजस-कार्मण-प्रथमवर्जसंहनन प्रथमवर्जसंस्थान-वर्णचतुष्का-ऽगुरुलघु-उपघात-पराघात-उच्छ्वासा-ऽऽतप-उद्योता-ऽप्रशस्तविहायोगति त्रस-स्थावर-बादर-सूक्ष्म पर्याप्ता-ऽपर्याप्त प्रत्येक-साधारण स्थिरा-ऽस्थिर-शुभा ऽशुभ दुर्भग-दु स्वरा-ऽनादेया-ऽयश कीर्ति निर्माण-नीचैर्गोत्राणि चेत्येता पट्षष्टिप्रकृतय 'उत्कृष्टप्रदेशका ' उत्कृष्टप्रदेशबन्धा "मिच्छो" त्ति मिथ्यादृष्टिरेव करोति । तथाहि—मनुष्यद्विक पञ्चेन्द्रियजाति-औदारिकद्विक तैजस-कार्मण-वर्णचतुष्का-ऽगुरुलघु-उपघात पराघात-उच्छ्वास-त्रस-बादर-पर्याप्त प्रत्येक स्थिराऽस्थिर-शुभा-ऽशुभा-ऽयश कीर्ति निर्माणलक्षणा पञ्चविंशतिप्रकृतीर्मुक्त्वा शेषा एकचत्वारिंशत् सम्यग्दृष्टेर्बन्ध एव नागच्छन्ति । सास्वादनस्तु काश्चिद् बध्नाति पर तस्योत्कृष्टयोगो न लभ्यतेऽत एता एकचत्वारिंशत् प्रकृतीर्मिथ्यादृष्टिरेवोत्कृष्टयोगे वर्तमानो मूलप्रकृतीनामुत्तरप्रकृतीना च यथासम्भवमल्पतरबन्धक उत्कृष्टप्रदेशा करोति । या अपि चोक्तस्वरूपा पञ्चविंशतिप्रकृतय सम्यग्दृष्टेर्बन्धे समागच्छन्ति तास्वपि मध्ये औदारिक-तैजस कार्मण-वर्णादिचतुष्का-ऽगुरुलघु-उपघात-बादर-प्रत्येका-ऽस्थिरा-ऽशुभा ऽयश कीर्ति निर्माणलक्षणाना पञ्चदशप्रकृतीनामपर्याप्तैकेन्द्रिययोग्यो नाम्नस्त्रयोविंशतिप्रकृतिनिष्पन्न तैजस-कार्मण-वर्णादिचतुष्का ऽगुरुलघु-उपघात निर्माण तिर्यग्गति-तिर्यगानुपूर्वी-एकेन्द्रियजाति-औदारिकशरीर-हुण्डसंस्थान-स्थावर-बादर-सूक्ष्मैकतरा-ऽपर्याप्त-प्रत्येक-साधारणान्यतरा ऽस्थिरा ऽशुभ दुर्भगाऽनादेया-ऽयश कीर्तिलक्षणो बन्ध तेनैव सह बध्यमानानामुत्कृष्टप्रदेशबन्धो लभ्यते, नोत्तरे पञ्चविंशत्यादिबन्धे, भागबाहुल्यात् । शेषाणा तु मनुष्यद्विक पञ्चेन्द्रियजाति-औदारिकाङ्गोपाङ्ग-पराघात-उच्छ्वास त्रस पर्याप्त स्थिर-शुभलक्षणाना दशप्रकृतीना यथासम्भव पर्याप्तैकेन्द्रिया-ऽपर्याप्तत्रसयोग्यपञ्चविंशतिबन्धेनैव सह बध्यमानानामुत्कृष्ट प्रदेशबन्धो लभ्यते, नोत्तरे षड्विंशत्यादिबन्धे, भागबाहुल्यादेव । नाप्यधस्तनेन त्रयोविंशतिबन्धेन, तत्रैतासा बन्धाभावादेव । तौ च त्रयोविंशति-पञ्चविंशतिबन्धौ सम्यग्दृष्टेर्न भवत, देव-पर्याप्तमनुष्यप्रायोग्यबन्धकत्वात् तस्येति अत एतासामपि पञ्चविंशति प्रकृतीना यथोक्तप्रकारेण त्रयोविंशत्या पञ्चविंशत्या च सह बध्यमानाना सप्तविधबन्धक उत्कृष्टयोगो मिथ्यादृष्टिरेवोत्कृष्ट प्रदेशबन्ध करोतीति ॥ ९२ ॥

निरूपितमुत्तरप्रकृतीनामुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्वामित्वम् । अधुना तासामेव जघन्यप्रदेशबन्धस्वामित्वमभिधित्सुराह—

सुमुणी दुन्नि असन्नी, नरयतिग सुराउ सुरविउव्विदुगं ।
सम्मो जिणं जहन्नं, सुहुमनिगोयाइखणि सेसा ॥ ९३ ॥

'सुमुनि ' प्रमादरहितत्वेन प्रधानसाधु —अप्रमत्तयति "दुन्नि" त्ति द्वे प्रकृती आहारकशरीर-

१ स १-२ त० म० छा० °ऽशुभ-य° ॥

रीरा-ऽऽहारकाङ्गोपाङ्गलक्षणे जघन्यप्रदेशे बध्नाति । अयमर्थ —परावर्तमानयोगो घोलनयोगीत्यर्थ, अष्टविधबन्धक स्वप्रायोग्यसर्वजघन्यवीर्ये व्यवस्थितो नाम्नो देवगति देवानुपूर्वी पञ्चेन्द्रियजाति वैक्रियशरीर वैक्रियाङ्गोपाङ्ग समचतुरस्रसंस्थानम् उच्छ्वासनाम पराघातनाम प्रशस्तविहायोगति त्रसनाम बादरनाम पर्याप्तनाम प्रत्येकनाम स्थिरनाम शुभनाम यश कीर्तिनाम सुभगनाम सुस्वरनाम आदेयनाम वर्णचतुष्क तैजस-कार्मणे अगुरुलघु उपघात निर्माण तीर्थकरनाम आहारकशरीरम् आहारकाङ्गोपाङ्गमित्येवमेकत्रिंशत प्रकृतीर्बध्नन् अप्रमत्तयतिराहारकशरीरा-ऽऽहारकाङ्गोपाङ्गलक्षणे द्वे प्रकृती जघन्यप्रदेशे बध्नाति । त्रिंशद्बन्धेऽप्येते बध्येते पर तत्राल्पा भागा इत्येकत्रिंशद्बन्धग्रहणम् । एतच्च प्रकृतिद्वयमन्यत्र न बध्यत इत्यप्रमत्तयतिग्रहणम् । तथा असञ्ज्ञी सामान्योक्तावपि घोलमानयोग परावर्तमानयोग इत्यर्थ, नरकत्रिक—नरकगति-नरकानुपूर्वी-नरकायुर्लक्षण सुरायु इत्येताश्चतस्र प्रकृतीर्जघन्यप्रदेशबन्धा करोति । तथाहि—पृथिवी-अप्-तेजो-वायु-वनस्पतिकायिक-द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रिया देव-नारकेषूत्पत्त्यभावादेवैताश्चतस्र प्रकृतीर्न बध्नन्तीति नेहाधिक्रियन्ते । असञ्ज्यप्यपर्याप्तकस्तथाविधसङ्क्लेशविशुद्ध्यभावाद् नैता बध्नाति, अत सूत्रे सामान्योक्तावपि "व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्ति" इति न्यायात् पर्याप्तकोऽसौ द्रष्टव्य । सोऽपि यद्येकस्मिन्नेव वाग्योगे काययोगे वा चिरमवतिष्ठमानो गृह्येत तदा तीव्रचेष्टो भवेत् । योगात्तु योगान्तर पुन सङ्क्रामत स्वभावाल्पचेष्टा भवतीति परावर्तमानयोगग्रहणम् । ततश्च परावर्तमानयोगोऽष्टविध बध्नन् पर्याप्तोऽसंज्ञी स्वप्रायोग्यसर्वजघन्यवीर्ये वर्तमान प्रस्तुतप्रकृतिचतुष्टयस्यैक चतुरो वा समयान् यावद् जघन्यप्रदेशबन्ध करोतीति परमार्थ । पर्याप्तजघन्ययोगस्योत्कृष्टतोऽपि चतु समयावसानत्वादुत्तरत्राप्येष कालनियमो द्रष्टव्य । ननु पर्याप्तसञ्ज्ञी किमिति प्रकृतप्रकृतिचतुष्टय न बध्नाति? इति चेद् उच्यते—प्रभूतयोगत्वात्, जघन्योऽपि हि पर्याप्तसञ्ज्ञियोग पर्याप्तासञ्ज्युत्कृष्टयोगादप्यसङ्ख्येयगुण इति । तथा "सुरविउव्विदुग" त्ति द्विकशब्दस्य प्रत्येक सम्बन्धात् सुरद्विक—सुरगति-सुरानुपूर्वीरूप वैक्रियद्विक—वैक्रियशरीर-वैक्रियाङ्गोपाङ्गलक्षण 'जिननाम' तीर्थकरनामेत्येतत् प्रकृतिपञ्चक "सम्मो" त्ति सम्यग्दृष्टि "व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्ति" इति न्यायाद् भवाद्यसमये वर्तमान "जहन्न" ति जघन्य—जघन्यप्रदेश करोति ।

तथाहि—कश्चिद् मनुष्यस्तीर्थकरनाम बद्ध्वा देवेषु समुत्पन्न प्रथमसमय एव मनुष्यगतिप्रायोग्या तीर्थकरनामसहिता नामप्रकृतित्रिंशत मनुष्यगतिर्मनुष्यानुपूर्वी पञ्चेन्द्रियजातिरौदारिकशरीरमौदारिकाङ्गोपाङ्ग समचतुरस्रसंस्थान वज्रर्षभनाराचसंहनन पराघातमुच्छ्वास प्रशस्तविहायोगतिस्त्रसं बादर पर्याप्त प्रत्येक स्थिरा-ऽस्थिरयोरेकतर शुभा-शुभयोरेकतरं यश कीर्ति-अयश कीर्त्योरेकतर सुभग सुस्वरमादेय तीर्थकरनाम वर्णचतुष्क तैजस-कार्मणे अगुरुलघु उपघात निर्माणमितिलक्षणा बध्नन् मूलप्रकृतिसप्तविधबन्धकोऽविरतसम्यग्दृष्टि स्वप्रायोग्यजघन्यवीर्ये वर्तमानस्तीर्थकरनाम जघन्यप्रदेशबन्ध करोति । नारकोऽपि श्रेणिकादिरिदेव तद्बन्धक सम्भवति, परमिह देवोऽल्पयोगत्वादनुत्तरवासी गृह्यते, नारकेषु त्वेवम्भूतो जघन्ययोगो न लभ्यतेऽतस्तेषु समुत्पन्नो

१ स १-२ म० त० छा० °घात ॥

तीर्थकरनामसहिते एकत्रिंशद्बन्धेऽप्येतद् बध्यते, किन्तु तत्र भागबाहुल्याद् न गृह्यते। तथा 'शेषा' भणितचतु पञ्चाशत्प्रकृतिभ्य उद्धरिता स्त्यानर्द्धित्रिक मिथ्यात्वा-ऽनन्तानुबन्धिचतुष्टय स्त्रीवेद-नपुसकवेद-नारकायुष्क-तिर्यगायुष्क-नरकगति-नरकानुपूर्वी-तिर्यग्गति तिर्यगानुपूर्वी-मनुष्यगति-मनुष्यानुपूर्वी-एकेन्द्रियजाति-द्वीन्द्रियजाति-त्रीन्द्रियजाति-चतुरिन्द्रियजाति पञ्चेन्द्रियजाति औदारिकशरीर-औदारिकाङ्गोपाङ्ग-तेजस-कार्मण प्रथमवर्जसहनन प्रथमवर्जसंस्थान-वर्णचतुष्का-ऽगुरुलघु-उपघात-पराघात-उच्छ्वासा-ऽऽतप-उद्योता-ऽप्रशस्तविहायोगति-त्रस-स्थावर-बादर-सूक्ष्म पर्याप्ता-ऽपर्याप्त प्रत्येक-साधारण-स्थिरा-ऽस्थिर-शुभा ऽशुभ दुर्भग-दु स्वरा-ऽनादेया ऽयश - कीर्ति-निर्माण-नीचैर्गोत्राणि चेत्येता षट्षष्टिप्रकृतय 'उत्कृष्टप्रदेशका' उत्कृष्टप्रदेशबन्धा "मिच्छो" त्ति मिथ्यादृष्टिरेव करोति । तथाहि—मनुष्यद्विक पञ्चेन्द्रियजाति औदारिकद्विक तैजस-कार्मण-वर्णचतुष्का-ऽगुरुलघु-उपघात पराघात-उच्छ्वास-त्रस-बादर-पर्याप्त प्रत्येक स्थिराऽस्थिर-शुभा-ऽशुभा-ऽयश कीर्ति निर्माणलक्षणा पञ्चविंशतिप्रकृतीर्मुक्त्वा शेषा एकचत्वारिंशत् सम्यग्दृष्टेर्बन्ध एव नागच्छन्ति । सास्वादनस्तु काश्चिद् बध्नाति पर तस्योत्कृष्टयोगो न लभ्यतेऽत एता एकचत्वारिंशत् प्रकृतीर्मिथ्यादृष्टिरेवोत्कृष्टयोगे वर्तमानो मूलप्रकृतीनामुत्तरप्रकृतीना च यथासम्भवमल्पतरबन्धक उत्कृष्टप्रदेश करोति । या अपि चोक्तस्वरूपा पञ्चविंशतिप्रकृतय सम्यग्दृष्टेर्बन्धे समागच्छन्ति तास्वपि मध्ये औदारिक-तैजस-कार्मण-वर्णादिचतुष्का-ऽगुरुलघु-उपघात-बादर प्रत्येका-ऽस्थिरा ऽशुभा ऽयश कीर्ति निर्माणलक्षणाना पञ्चदशप्रकृतीनामपर्याप्तैकेन्द्रिययोग्यो नाम्नस्त्रयोविंशतिप्रकृतिनिष्पन्न तैजस-कार्मण-वर्णादिचतुष्का ऽगुरुलघु-उपघात निर्माण-तिर्यग्गति-तिर्यगानुपूर्वी-एकेन्द्रियजाति-औदारिकशरीर-हुण्डसस्थान-स्थावर-बादर-सूक्ष्मैकतरा-ऽपर्याप्त-प्रत्येक-साधारणान्यतरा-ऽस्थिरा ऽशुभ दुर्भगाऽनादेया-ऽयश कीर्तिलक्षणो बन्ध तेनैव सह बध्यमानानामुत्कृष्टप्रदेशबन्धो लभ्यते, नोत्तरै पञ्चविंशत्यादिबन्धै, भागबाहुल्यात्। शेषाणा तु मनुष्यद्विक पञ्चेन्द्रियजाति-औदारिकाङ्गोपाङ्ग-पराघात-उच्छ्वास-त्रस पर्याप्त स्थिर शुभलक्षणाना दशप्रकृतीना *यथासम्भव पर्याप्तैकेन्द्रिया-ऽपर्याप्तत्रसयोग्यपञ्चविंशतिबन्धेनैव* सह बध्यमानानामुत्कृष्ट प्रदेशबन्धो लभ्यते, नोत्तरै षड्विंशत्यादिबन्धै, भागबाहुल्यादेव । नाप्यधस्तनेन त्रयोविंशतिबन्धेन, तत्रैतासा बन्धाभावादेव । तौ च त्रयोविंशति पञ्चविंशतिबन्धौ सम्यग्दृष्टेर्न भवत, देव-पर्याप्तमनुष्यप्रायोग्यबन्धकत्वात् तस्येति अत एतासामपि पञ्चविंशतिप्रकृतीना यथोक्तप्रकारेण त्रयोविंशत्या पञ्चविंशत्या च सह बध्यमानाना सप्तविधबन्धक उत्कृष्टयोगो मिथ्यादृष्टिरेवोत्कृष्ट प्रदेशबन्ध करोतीति ॥ ९२ ॥

निरूपितमुत्तरप्रकृतीनामुत्कृष्टप्रदेशबन्धस्वामित्वम् । अधुना तासामेव जघन्यप्रदेशबन्धस्वामित्वमभिधित्सुराह—

सुमुणी दुन्नि असन्नी, नरयतिग सुराउ सुरविउव्विदुगं ।
सम्मो जिण जहन्नं, सुहुमनिगोयाइखणि सेसा ॥ ९३ ॥

'सुमुनि' प्रमादरहितत्वेन प्रधानसाधु —अप्रमत्तयति "दुन्नि" त्ति द्वे प्रकृती आहारकश-

१ स १-२ त० म० छा० °ऽशुभ-य° ॥

रीरा-ऽऽहारकाङ्गोपाङ्गलक्षणे जघन्यप्रदेशो बध्नाति । अयमर्थ —परावर्तमानयोगो घोल्नयोगीत्यर्थ, अष्टविधबन्धक स्वप्रायोग्यसर्वजघन्यवीर्ये व्यवस्थितो नाम्नो देवगति देवानुपूर्वी पञ्चेन्द्रियजाति वैक्रियशरीर वैक्रियाङ्गोपाङ्ग समचतुरस्रसंस्थानम् उच्छ्वासनाम पराघातनाम प्रशस्तविहायोगति त्रसनाम बादरनाम पर्याप्तनाम प्रत्येकनाम स्थिरनाम शुभनाम यश कीर्तिनाम सुभगनाम सुस्वरनाम आदेयनाम वर्णचतुष्क तैजस-कार्मणे अगुरुलघु उपघात निर्माण तीर्थकरनाम आहारकशरीरम् आहारकाङ्गोपाङ्गमित्येवमेकत्रिंशत प्रकृतीर्बध्नन् अप्रमत्तयतिराहारकशरीरा-ऽऽहारकाङ्गोपाङ्गलक्षणे द्वे प्रकृती जघन्यप्रदेशे बध्नाति । त्रिंशद्बन्धेऽप्येते बध्येते पर तत्राल्पा भागा इत्येकत्रिंशद्बन्धग्रहणम् । एतच्च प्रकृतिद्वयमन्यत्र न बध्यत इत्यप्रमत्तयतिग्रहणम् । तथा असज्ञी सामान्योक्तावपि घोलमानयोग परावर्तमानयोग इत्यर्थ, नरकत्रिक–नरकगति-नरकानुपूर्वी-नरकायुर्लक्षण सुरायु इत्येताश्चतस्र प्रकृतीर्जघन्यप्रदेशबन्धा करोति । तथाहि—पृथिवी-अप् तेजो-वायु-वनस्पतिकायिक-द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रिया देव-नारकेषूत्पत्त्यभावादेवैताश्चतस्र प्रकृतीर्न बध्नन्तीति नेहाधिक्रियन्ते । असज्ञ्यप्यपर्याप्तकस्तथाविधसक्लेशविशुद्ध्यभावाद् नैता बध्नाति, अत सूत्रे सामान्योक्तावपि "व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्ति" इति न्यायात् पर्याप्तकोऽसौ द्रष्टव्य । सोऽपि यद्येकस्मिन्नेव वाग्योगे काययोगे वा चिरमवतिष्ठमानो गृह्येत तदा तीव्रचेष्टो भवेत् । योगात्तु योगान्तर पुन सङ्क्रामत स्वभावादल्पचेष्टो भवतीति परावर्तमानयोगग्रहणम् । ततश्च परावर्तमानयोगोऽष्टविध बध्नन् पर्याप्तोऽसंज्ञी स्वप्रायोग्यसर्वजघन्यवीर्ये वर्तमान प्रस्तुतप्रकृतिचतुष्टयस्यैक चतुरो वा समयान् यावद् जघन्यप्रदेशबन्ध करोतीति परमार्थ । पर्याप्तजघन्ययोगस्योत्कृष्टतोऽपि चतु समयावसानत्वादुत्तरत्राप्येष कालनियमो द्रष्टव्य । ननु पर्याप्तसज्ञी किमिति प्रकृतप्रकृतिचतुष्टय न बध्नाति ? इति चेदुच्यते—प्रभूतयोगत्वात्, जघन्योऽपि हि पर्याप्तसज्ञियोग पर्याप्तासञ्ज्युत्कृष्टयोगादप्यसङ्ख्येयगुण इति । तथा "सुरविउविदुग" ति द्विकशब्दस्य प्रत्येक सम्बन्धात् सुरद्विक–सुरगति-सुरानुपूर्वीरूप वैक्रियद्विक–वैक्रियशरीर-वैक्रियाङ्गोपाङ्गलक्षण 'जिननाम' तीर्थकरनामेत्येतत् प्रकृतिपञ्चक "सम्मो" त्ति सम्यग्दृष्टि "व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्ति" इति न्यायाद् भवाद्यसमये वर्तमान "जहन्न" ति जघन्य–जघन्यप्रदेश करोति ।

तथाहि—कश्चिद् मनुष्यस्तीर्थकरनाम बद्ध्वा देवेषु समुत्पन्न प्रथमसमय एव मनुष्यगतिप्रायोग्या तीर्थकरनामसहिता नामप्रकृतित्रिंशत मनुष्यगतिर्मनुष्यानुपूर्वी पञ्चेन्द्रियजातिरौदारिकशरीरमौदारिकाङ्गोपाङ्ग समचतुरस्रसंस्थान वज्रर्षभनाराचसहनन पराघातमुच्छ्वास प्रशस्तविहायोगतिस्त्रस बादर पर्याप्त प्रत्येक स्थिरा-ऽस्थिरयोरेकतर शुभा-शुभयोरेकतर यश कीर्ति-अयश कीर्त्योरेकतर सुभग सुस्वरमादेय तीर्थकरनाम वर्णचतुष्क तैजस-कार्मणे अगुरुलघु उपघात निर्माणमितिलक्षणा बध्नन् मूलप्रकृतिसप्तविधबन्धकोऽविरतसम्यग्दृष्टि स्वप्रायोग्यजघन्यवीर्ये वर्तमानस्तीर्थकरनाम जघन्यप्रदेशबन्ध करोति । नारकोऽपि श्रेणिकादिवदेव तद्बन्धक सम्भवति, परमिह देवोऽल्पयोगत्वादनुत्तरवासी गृह्यते, नारकेषु त्वेवम्भूतो जघन्ययोगो न लभ्यतेऽनन्तेषु समुत्पन्नो

१ स १-२ म० त० छा० °पात° ॥

वेह गृहीत । तिर्यञ्चस्तु तीर्थकरनाम न बध्नन्तीत्युपेक्षिता । मनुष्यास्तु भवाद्यसमये तीर्थकर-नामसहिता नाम्न एकोनत्रिंशतमेव बध्नन्त्यतस्तत्राल्पा भागा भवन्ति । एकत्रिंशद्बन्धस्तु तीर्थकर-नामसहित संयतस्यैव भवति, तत्र च वीर्यमल्प न लभ्यते । अन्येषु तु नामबन्धेषु तीर्थकरना मैव न बध्यतेऽत शेषपरिहारेण त्रिंशद्बन्धकस्य देवस्यैव ग्रहणम् । देवद्विक-वैक्रियद्विकयोस्तु बद्धतीर्थकरनामा देव-नारकेभ्यश्च्युत्वा समुत्पन्नो मूलप्रकृतिसप्तविधबन्धको देवगतिर्देवानुपूर्वी पञ्चेन्द्रियजातिर्वैक्रियशरीर वैक्रियाङ्गोपाङ्ग समचतुरस्रसंस्थानम् उच्छ्वास पराघात प्रशस्तविहा योगति त्रसनाम बादरनाम पर्याप्तनाम प्रत्येकनाम स्थिरा-ऽस्थिरयोरेकतर शुभा-ऽशुभयोरेकतर यश कीर्ति-अयश कीर्त्योरेकतर सुभगनाम सुस्वरनाम आदेयनाम वर्णचतुष्टय तैजस-कार्मणे अ गुरुलघु उपघात निर्माण तीर्थकरनामेतिलक्षणा देवगतिप्रायोग्यां नाम्नैकोनत्रिंशत निर्वतयन् स्व प्रायोग्यसर्वजघन्यवीर्ये व्यवस्थितो भवाद्यसमये वर्तमानो मनुष्यो जघन्यप्रदेशबन्ध करोति । देव-नारका हि तावद् भवप्रत्ययादेवैतत् प्रकृतिचतुष्टय न बध्नन्तीति नेहाधिकृता । तिर्यञ्च पुनरभोग-भूमिजा भवाद्यसमयेऽपि बध्नन्त्येतत्, केवल ते देवगतिप्रायोग्यामष्टाविंशतिमेव पूर्वप्रदर्शितस्वरूपा रचयन्ति, नैकोनत्रिंशदादिबन्धान्, तेषा तीर्थकरा-ऽऽहारकसहितत्वात्, तिरश्चा तु तदबन्ध-कत्वात्, अतस्तेषु भागा अल्पे लभ्यन्ते इति तेऽपीह नाधिक्रियन्ते । मनुष्यस्याप्यष्टाविंशति बन्धकस्य भागा बहवो न लभ्यन्ते। त्रिंशद्-एकत्रिंशद्बन्धौ तु देवगतिप्रायोग्यौ संयतस्य भवत, तत्र च वीर्यमल्प न लभ्यते । अन्ये तु देवगतिप्रायोग्यबन्धा एव न सन्तीत्यालोच्य एकोनत्रिं-शद्बन्धकस्य मनुष्यस्यैव ग्रहणम् । ननु तिर्यक्षु पर्याप्तसञ्ज्ञी देवगतिप्रायोग्यमेतत् प्रकृतिचतुष्टय बध्नाति स कस्मादिह नाङ्गीकृत ? उच्यते—प्रभूतयोगत्वात्, अपर्याप्तसंज्ञियोगाद्धि पर्याप्ता-सञ्ज्ञियोगो जघन्योऽप्यसङ्ख्येयगुण इति । "सुहुमनिगोयाइखणि सेस" त्ति सूक्ष्मनिगोदजी-वोऽपर्याप्तक आदिक्षणे—भवाद्यसमये 'शेषा ' भणितैकादशप्रकृतिभ्योऽवशिष्टा नवोत्तरशतसङ्ख्या प्रकृतीराश्रित्य सर्वजघन्यवीर्यलब्धियुक्तो यथासम्भव च बह्वी प्रकृतीर्बध्नन् जघन्यप्रदेशबन्धा करोति, सर्वासामप्यत्र बन्धसद्भावात्, सर्वजघन्यवीर्यस्य चात्रैव सम्भवादिति ॥ ९३ ॥

निरूपित जघन्यप्रदेशबन्धस्वामित्वम् । अधुना प्रदेशबन्धमेव साद्यादिभङ्गकैर्निरूपयन्नाह—

दसणछगभयकुच्छाबितितुरियकसायविग्घनाणाणं ।
मूलछगेऽणुक्कोसो, चउह दुहा सेसि सव्वत्थ ॥ ९४ ॥

दर्शनषट्क—चक्षुर्दर्शना ऽचक्षुर्दर्शना-ऽवधिदर्शन-केवलदर्शनावरण निद्रा प्रचलालक्षण, भय जुगुप्से " बितितुरियकसाय " त्ति कषायशब्दस्य प्रत्येक योगाद् द्वितीयकषाया —अप्रत्याख्या-नावरणा, तृतीयकषाया —प्रत्याख्यानावरणा, तुर्या —चतुर्था कषाया संज्वलनकषाया, वि घ्नानि पञ्च—दान-लाभ भोग-उपभोग-वीर्यान्तरायाख्यानि, ज्ञानानि—ज्ञानावरणानि मतिज्ञानावर ण श्रुतज्ञानावरणा-ऽवधिज्ञानावरण मन पर्यायज्ञानावरण-केवलज्ञानावरणलक्षणानि पञ्च इत्येतासा-मुत्तरप्रकृतिषु मध्ये त्रिंशत प्रकृतीना तथा "मूलछगे" त्ति मूलप्रकृतिषट्के—ज्ञानावरण-दर्श-नावरण-वेदनीय-नाम-गोत्रा-ऽन्तरायलक्षणेऽनुत्कृष्ट एव प्रदेशबन्ध "चउह" त्ति चतुर्धा सादि अनादि ध्रुवा-ऽध्रुवरूपचतुर्विकल्पोऽपि भवतीत्यर्थ । इह तावद् यत्र सर्वबहव कर्मस्कन्धा गृह्यन्ते

स उत्कृष्टः प्रदेशबन्धः, ततः स्कन्धहानिमाश्रित्य यावत् सर्वस्तोककर्मस्कन्धग्रहणं तावत् सर्वोऽप्यनुत्कृष्ट इत्युत्कृष्टा-ऽनुत्कृष्टप्रकारद्वयेन सर्वोऽपि प्रदेशबन्धः सङ्गृहीतः । यत्र सर्वस्तोककर्मस्कन्धग्रहणं स जघन्यः प्रदेशबन्धः, ततः स्कन्धवृद्धिमाश्रित्य यावत् सर्वबहुस्कन्धग्रहणं तावत् सर्वोऽप्यजघन्य इति जघन्या-ऽजघन्यप्रकारद्वयेन सर्वोऽपि प्रदेशबन्धः सङ्गृहीत इति । अनया परिभाषया दर्शनावरणषट्कादीनामुत्तरप्रकृतीनामनुत्कृष्टः प्रदेशबन्धः साद्यादिचतुर्विकल्पो भवति।

तथाहि—चक्षुर्दर्शनावरणा-ऽचक्षुर्दर्शनावरणा-ऽवधिदर्शनावरण-केवलदर्शनावरणलक्षणप्रकृतिचतुष्कविषयः क्षपकस्योपशमकस्य वा सूक्ष्मसम्परायस्य सर्वोत्कृष्टयोगे वर्तमानस्यैकं द्वौ वा समयौ यावदुत्कृष्टः प्रदेशबन्धः प्राप्यते । सूक्ष्मसम्परायो हि मोहनीया-ऽऽयुःकर्मद्वयं सर्वथा न बध्नाति, दर्शनावरणस्याप्येतदेव प्रकृतप्रकृतिचतुष्टयं बध्नाति, न शेषप्रकृतीः, अतो मोहनीया-ऽऽयुर्भागयोर्यथास्वमत्र प्रवेशाद् निद्रापञ्चकभागस्यापि चात्र प्रवेशाद् बहुद्रव्यमिह लभ्यत इति सूक्ष्मसम्परायग्रहणम् । उत्कृष्टश्च प्रदेशबन्ध उक्तनीत्या उत्कृष्टेनैव योगेन भवतीत्युत्कृष्टयोगग्रहणम् । उत्कृष्टयोगावस्थानकालश्चैतावानेव भवतीत्येक-द्विसमयग्रहणम् । एनं चोत्कृष्टप्रदेशबन्धं कृत्वा उपशान्तमोहावस्था चारुह्य पुनः प्रतिपत्य उत्कृष्टयोगाद्वाऽत्रैव प्रतिपत्य यदाऽनुत्कृष्टप्रदेशबन्धं करोति तदाऽसौ सादिः, एतच्च स्थानमप्राप्तपूर्वाणामनादिः सदा—निरन्तरं बध्यमानत्वात्, ध्रुवोऽभव्यानाम्, अध्रुवो भव्यानामिति । निद्रा-प्रचलाद्विकस्य त्वविरतसम्यग्दृष्ट्यादयोऽपूर्वकरणान्ताः सर्वोत्कृष्टयोगयुक्ताः सप्तविधबन्धकाले एकं द्वौ वा समयावुत्कृष्टप्रदेशबन्धं विदधति। आयुर्द्रव्यभागोऽधिको लभ्यत इति सप्तविधबन्धग्रहणम् । स्त्यानर्द्धित्रिकं सम्यग्दृष्टयो न बध्नन्तीत्यतस्तद्भागलाभोऽपि भवतीति सम्यग्दृष्टीनामेव ग्रहणम् । मिथ्यादृष्टि-सास्वादनौ स्त्यानर्द्धित्रिकं बध्नीत इति नेह गृहीतौ । मिश्रस्त्वेतन्न बध्नाति, केवलमुक्तनीत्या तस्योत्कृष्टयोगो न लभ्यत इति सोऽपि नेहाधिकृतः । एते चाविरतसम्यग्दृष्ट्यादयो यदोत्कृष्टयोगाद् बन्धव्यवच्छेदाद्वा प्रतिपत्य अनुत्कृष्टं प्रदेशबन्धमुपकल्पयन्ति तदाऽसौ सादिः, सम्यक्त्वसहितं चोत्कृष्टयोगमप्राप्तपूर्वाणामनादिः, ध्रुवोऽभव्यानाम्, अध्रुवो भव्यानामिति । तथा भय-जुगुप्सयोः सम्यग्दृष्टिरविरतादिरपूर्वकरणान्त उत्कृष्टयोगे वर्तमान उत्कृष्टं प्रदेशबन्धं करोति, मिथ्यात्वभागो लभ्यत इति सम्यग्दृष्टिग्रहणम् । कषायभागः पुनः सजातित्वात् कषायाणामेव भवति नैतयोः । मिथ्यादृष्टिस्तु मिथ्यात्वं बध्नातीति मिथ्यात्वभागो न लभ्यत इति तस्येहाग्रहणम् । सास्वादन-मिश्रयोस्तु लभ्यते मिथ्यात्वभागः, केवलमुक्तनीत्या तयोरुत्कृष्टयोगो न लभ्यत इति तावपि नेहाधिकृतौ । अपूर्वकरणोपरिवर्तिनस्तु भय-जुगुप्से न बध्नतीत्यपूर्वकरणान्तविशेषणम् । एते चाविरतसम्यग्दृष्ट्यादयो यदोत्कृष्टयोगाद् बन्धव्यवच्छेदाद्वा प्रतिपत्य अनुत्कृष्टं प्रदेशबन्धमुपकल्पयन्ति तदाऽसौ सादिः, तत्स्थानमप्राप्तपूर्वाणामनादिः, ध्रुवोऽभव्यानाम्, अध्रुवो भव्यानामिति । तथाऽप्रत्याख्यानावरणचतुष्टयस्योत्कृष्टयोगोऽविरतसम्यग्दृष्टिः सप्तविधबन्धक उत्कृष्टं प्रदेशबन्धं करोति, मिथ्यात्वमनन्तानुबन्धिनश्चासौ न बध्नात्यतस्तद्भागद्रव्यमधिकं लभ्यत इत्यस्यैव ग्रहणम् । मिथ्यादृष्टिर्मिथ्यात्वमनन्तानुबन्धिनश्च सास्वादनस्त्वनन्तानुबन्धिनो बध्नातीति तयोरग्रहणम् । मिश्रस्तु मिथ्या

त्वमनन्तानुबन्धिनश्च न बध्नाति, केवलमुक्तनीत्या तस्योत्कृष्टयोगो न लभ्यते। देशविरतादयस्त्व-प्रत्याख्यानावरणाद् न बध्नन्तीति शेषव्युदासेनाविरतसम्यग्दृष्टिरेवाधिकृत। एष चाविरतसम्यग्दृष्टि र्यदा बन्धव्यवच्छेदादुत्कृष्टयोगाद्वा प्रतिपत्य पुनरनुत्कृष्टप्रदेशबन्ध विदधाति तदाऽसौ सादि, तत् स्थानमप्राप्तपूर्वाणामनादि, ध्रुवोऽभव्यानाम्, अध्रुवो भव्यानामिति। तथा प्रत्याख्यानावरणचतु ष्टयस्योत्कृष्टयोगो देशविरत सप्तविधबन्धक उत्कृष्टप्रदेशबन्ध करोति, अप्रत्याख्यानावरणाना मप्यसावबन्धकोऽतस्तद्भागोऽधिको लभ्यत इति। एष च देशविरतो यदा बन्धव्यवच्छेदादुत्कृ-ष्टयोगाद्वा प्रतिपत्य पुनरनुत्कृष्टप्रदेशबन्ध करोति तदाऽसौ सादि, तत् स्थानमप्राप्तपूर्वाणामनादि, ध्रुवोऽभव्यानाम्, अध्रुवो भव्यानामिति। तथा सञ्ज्वलनक्रोधस्यानिवृत्तिबादर पुवेदबन्धे व्यवच्छिन्ने सञ्ज्वलनक्रोधादिचतुष्टय बध्नन् उत्कृष्टयोगे स्थित उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध करोति, मिथ्यात्वा ऽऽद्य कषायद्वादशकभाग सर्वनोकषायभागश्च लभ्यत इति कृत्वा। सञ्ज्वलनमानस्य स एव क्रोधबन्धे व्यवच्छिन्ने संज्वलनमानादित्रय बध्नन् उत्कृष्टप्रदेश करोति, क्रोधभागो लभ्यत इति कृत्वा। स एव मानबन्धे व्यवच्छिन्ने माया-लोभौ बध्नन् मायाया उत्कृष्टप्रदेश करोति, मानभागोऽपि लभ्यत इति कृत्वा। स एव मायाबन्धे व्यवच्छिन्ने लोभमेक बध्नन् तस्यैवोत्कृष्टप्रदेश करोति एक द्वौ वा समयौ, एतच्च विशेषण प्रागपि द्रष्टव्यम्, समस्तमोहनीयभागस्तत्र लभ्यत इति लोभबन्धक-स्यैव ग्रहणम्। एष चानिवृत्तिबादरो यदा बन्धव्यवच्छेदादुत्कृष्टयोगाद्वा प्रतिपत्य पुनरनुत्कृष्टप्र-देशबन्ध करोति तदाऽसौ सादि, तत् स्थानमप्राप्तपूर्वाणामनादि, ध्रुवोऽभव्यानाम्, अध्रुवो भव्या नामिति। तथा ज्ञानावरणपञ्चका ऽन्तरायपञ्चकविषय क्षपकस्योपशमकस्य वा सूक्ष्मसम्परायस्य सर्वोत्कृष्टयोगे वर्तमानस्यैक द्वौ वा समयौ यावदुत्कृष्ट प्रदेशबन्ध प्राप्यते। सूक्ष्मसम्परायो हि मोहनीया ऽऽयु कर्मद्वय न बध्नाति, एतयोर्भागयोरप्यत्र ज्ञानावरणपञ्चकेऽन्तरायपञ्चके च यथास्व प्रवेशाद् बहुद्रव्यमिह लभ्यत इति सूक्ष्मसम्परायग्रहणम्। इह चोत्कृष्टप्रदेशबन्ध कृत्वोप-शान्तमोहावस्था चारुह्य पुन प्रतिपत्य उत्कृष्टयोगाद्वाऽत्रैव प्रतिपत्य यदा पुनरनुत्कृष्टप्रदेशबन्ध करोति तदाऽसौ सादि, एतच्च स्थानमप्राप्तपूर्वाणामनादि सदा-निरन्तर बध्यमानत्वात्, ध्रुवो-ऽभव्यानाम्, अध्रुवो भव्यानामिति।

तदेव त्रिंशत उत्तरप्रकृतीनामनुत्कृष्ट प्रदेशबन्ध साद्यादिचतुर्विकल्पोऽपि भावित। शेषत्रयस्य का वार्ता? इत्याह—"दुहा सेसि सव्वत्थ" त्ति 'शेषे' भणितोद्धरिते उत्कृष्ट-जघन्या-ऽजघन्यप्रदेशबन्धलक्षणे सर्वत्र त्रिविधेऽपि 'द्विधा' द्विविकल्प सादि-अध्रुवलक्षणो बन्धो भवतीत्यर्थ। तत्रानुत्कृष्टभणनक्रमेणोत्कृष्टस्त्रिंशतोऽपि प्रकृतीना सूक्ष्मसम्परायादिषु दर्शित, स च तत्प्रथमतया बध्यमानत्वात् सादि, सर्वथा बन्धाभावेऽनुत्कृष्टबन्धसम्भवे वाऽवश्य न भवतीत्यध्रुव। जघन्य पुनरेतासा त्रिंशत्प्रकृतीना प्रदेशबन्धोऽपर्याप्तस्य सर्वमन्दवीर्यलब्धिक-स्य सप्तविधबन्धकस्य सूक्ष्मनिगोदस्य भवाद्यसमये लभ्यते। जघन्यप्रदेशबन्धो हि जघन्य-योगेन भवतीत्युक्तम्, स चास्यैव यथोक्तविशेषणविशिष्टस्य लभ्यते। द्वितीयादिसमयेषु पुनर-सावसङ्ख्येयगुणवृद्धेन वीर्येण वर्धत इति भवाद्यसमयग्रहणम्। द्वितीयादिसमयेष्वयमप्यजघन्य

१ स० १-२ त० म० °दा अनु° ॥

बध्नाति, पुन सङ्ख्यातेनासंख्यातेन वा कालेन पूर्वोक्तजघन्ययोग प्राप्य स एव जघन्य प्रदेश-बन्ध करोति, पुनरजघन्यमित्येव जघन्या-ऽजघन्ययो प्रदेशबन्धयो संसरतामसुमता द्वावप्येतौ सादि-अध्रुवौ भवत ।

इति भावितस्त्रिंशत उत्तरप्रकृतीनामनुत्कृष्टप्रदेशबन्धश्चतुर्द्धा, उत्कृष्ट-जघन्या-ऽजघन्यप्रदेश-बन्धश्च द्विधा। शेषे का वार्ता ? इत्याह—"दुहा सेसि सव्वत्थ" त्ति पद भूयोऽप्यनुवर्त्यते, 'शेषे' भणितत्रिंशत्प्रकृत्यवशिष्टे स्त्यानर्द्धित्रिक-मिथ्यात्वा-ऽनन्तानुबन्धिचतुष्टय-वर्णादिचतुष्क-तैजस-कार्मणा ऽगुरुलघु-उपघात-निर्माणलक्षणे सप्तदशध्रुवप्रकृतिकदम्बके औदारिक-वैक्रिया-ऽऽहा-रकशरीरत्रया-ऽङ्गोपाङ्गत्रय-सम्थानषट्क-सहननषट्क-जातिपञ्चक-गतिचतुष्क-विहायोगतिद्विका-ऽऽनुपूर्वीचतुष्क-तीर्थकरनाम-उच्छ्वासनाम-उद्योतनामा-ऽऽतपनाम-पराघातनाम-त्रसदशक-स्था-वरदशक-उच्चैर्गोत्र-नीचैर्गोत्र-साता ऽसातवेदनीय-हास्य-रति-अरति-शोक-वेदत्रया-ऽऽयुश्चतुष्टय-लक्षणत्रिसप्ततिसङ्ख्याऽध्रुवबन्धिप्रकृतिसमूहे च सर्वत्रोत्कृष्टा-ऽनुत्कृष्ट-जघन्या ऽजघन्यलक्षणे चतुर्वि-कल्पेऽपि प्रदेशबन्धे 'द्विधा' द्विप्रकार सादिरध्रुवश्च बन्धो भवति। तथाहि—अध्रुवबन्धिनीनाम-ध्रुवबन्धित्वादेवोत्कृष्टा-ऽनुत्कृष्ट-जघन्या-ऽजघन्यस्तत्प्रदेशबन्ध सर्वोऽपि सादि-अध्रुव एव भवति। स्त्यानर्द्धित्रिक-मिथ्यात्वा-ऽनन्तानुबन्धिना सप्तविधबन्धक उत्कृष्टयोगे वर्तमानो मिथ्यादृष्टिरुत्कृ-ष्टप्रदेशबन्धमेक द्वौ वा समयौ यावत् करोति, सम्यग्दृष्टिरेता प्रकृतीर्न बध्नातीति मिथ्यादृष्टि-ग्रहणम्। मिथ्यात्ववर्जा एता प्रकृती सास्वादनोऽपि बध्नाति, पर भणितप्रकारेण सास्वादन-स्योत्कृष्टयोगो न लभ्यत इति तस्याग्रहणम्। उत्कृष्टयोगस्यैतावानेव काल इत्येक-द्विसमयनियम । उत्कृष्टयोगात् प्रतिपत्य स एवानुत्कृष्टप्रदेशबन्ध करोति, पुन स एवोत्कृष्टमित्येव द्वावप्येतौ सादि-अध्रुवौ। जघन्यप्रदेशबन्ध पुनरेतासा सर्वजघन्यवीर्यलब्धिभवाद्यसमये वर्तमान सप्तविध बध्नन् अपर्याप्तसूक्ष्मनिगोद करोति, द्वितीयादिसमयेषु च स एवाजघन्य करोति, कालान्तरेण पुन स एव जघन्य करोतीत्येतावपि द्वौ सादि-अध्रुवौ भवत । तथा वर्णचतुष्क-तैजस-कार्मणा-ऽगुरुलघु उपघात निर्माणलक्षणस्य प्रकृतिनवकस्याप्युत्कृष्टा-ऽनुत्कृष्टौ जघन्या-ऽजघन्यौ च प्रदे-शबन्धौ सादि-अध्रुवावेवमेव वक्तव्यौ। नवरमुत्कृष्टयोगो मूलप्रकृतिसप्तविधबन्धको नाम्नस्तिर्यग्गति तिर्यगानुपूर्वी एकेन्द्रियजाति औदारिकशरीर हुण्डसम्थान स्थावरनाम बादर-सूक्ष्मयोरन्यतरद् अपर्याप्तक प्रत्येक-साधारणयोरन्यतरद् अस्थिरनाम अशुभनाम दुर्भगनाम अनादेयनाम अय-श कीर्ति वर्णचतुष्क तैजस-कार्मणे अगुरुलघु उपघात निर्माणमित्येव त्रयोविंशतिमुत्तरप्रकृती-र्बध्नन् मिथ्यादृष्टिरुत्कृष्टप्रदेशबन्धको वाच्य । शेष तथैव। नाम्नो हि पञ्चविंशत्यादिबन्धग्रहणे बहवो भागा भवन्तीति त्रयोविंशतिबन्धग्रहणमिति।

भाविता उत्तरप्रकृतीराश्रित्योत्कृष्टा-ऽनुत्कृष्ट-जघन्या-ऽजघन्यप्रदेशबन्धेषु साद्यादिविकल्पा । सम्प्रति मूलप्रकृती प्रतीत्य उत्कृष्टप्रदेशबन्धादिभङ्गेषु साद्यादिभङ्गकानभिधित्सुराह—'मूलछगे-ऽणुक्कोसो चउह" त्ति 'मूलषट्के' मूलप्रकृतिषट्के—ज्ञानावरण-दर्शनावरण-वेदनीय-नाम-गोत्रा-ऽन्तरायलक्षणेऽनुत्कृष्ट प्रदेशबन्ध 'चतुर्धा' सादि-अनादि-ध्रुवा-ऽध्रुवलक्षणश्चतु प्रकारो भवति । तथाहि—प्रस्तुतकर्मषट्कविषय क्षपकस्योपशमकस्य वा सूक्ष्मसम्परायस्य सर्वोत्कृष्टयोगे वर्तमान-

न्यैक द्वौ वा समयौ यावदुत्कृष्ट प्रदेशबन्ध प्राप्यते। सूक्ष्मसम्परायो हि मोहनीया-ऽऽयु कर्मद्वय न बध्नाति, किन्त्वेतदेव प्रस्तुतकर्मषट्क बध्नाति, अतो मोहनीया ऽऽयुर्भागयोरत्रैव कर्मषट्के प्रवेशाद् बहुद्रव्यमिह लभ्यत इति सूक्ष्मसम्परायग्रहणम्। उत्कृष्टश्च प्रदेशबन्ध उक्तनीत्या उत्कृष्टेनैव योगेन भवतीत्युत्कृष्टयोगग्रहणम्। उत्कृष्टयोगावस्थानकालश्चैतावानेव भवतीत्येक द्विसमयग्रहणम्। एवं चोत्कृष्ट प्रदेशबन्ध कृत्वा उपशान्तमोहावस्थां चारुह्य पुन प्रतिपत्य उत्कृष्टयोगाद्वाऽत्रैव प्रतिपत्य यदा पुनरनुत्कृष्टप्रदेशबन्ध करोति तदाऽसौ सादि, एतच्च स्थानमप्राप्तपूर्वाणामनादि सदा-निरन्तरं बध्यमानत्वात्, ध्रुवोऽभव्यानाम्, अध्रुवो भव्यानामिति।'

उक्त षण्णां मूलप्रकृतीनामनुत्कृष्टप्रदेशबन्धश्चतुर्विकल्प। शेषबन्धत्रिके साद्यादिभङ्गकानाह—"दुहा सेसि सव्वत्थ" त्ति 'शेषे' भणितोद्धरिते जघन्या-ऽजघन्य-उत्कृष्टप्रदेशब धलक्षणे त्रिके 'द्विधा' सादि-अध्रुवलक्षणो द्विप्रकारो बन्धो भवति। तत्रानुत्कृष्टभणनप्रसङ्गेनोत्कृष्ट सूक्ष्म सम्परायेऽनन्तरं दर्शित, स च तत्प्रथमतया बध्यमानत्वात् सादि, उपशान्ताद्यवस्थायां पुनरनुत्कृष्टबन्धगमने चावश्य न भवतीत्यध्रुव। जघन्य पुनरमीषां षण्णा कर्मणां प्रदेशबन्धोऽपर्याप्तस्य सर्वमन्दवीर्यलब्धिकस्य सप्तविधबन्धकस्य सूक्ष्मनिगोदस्य भवाद्यसमये लभ्यते। जघन्यप्रदेशबन्धो हि जघन्ययोगेन भवतीत्युक्तम्, स चास्यैव यथोक्तविशेषणविशिष्टस्य लभ्यते। द्वितीयादिसमयेषु त्वसावसङ्ख्येयगुणवृद्धेन वीर्येण वर्धत इति भवाद्यसमयग्रहणम्। द्वितीयादिसमयेष्वयमप्यजघन्य बध्नाति, पुन सङ्ख्यातेनासङ्ख्यातेन वा कालेन पूर्वोक्तजघन्ययोग प्राप्य स एव जघन्यप्रदेशबन्ध करोति, पुनरजघन्यमित्येव जघन्याऽजघन्ययो प्रदेशब धयो संसरतामसुमता द्वावप्येतौ सादि-अध्रुवौ भवत इति।

भाविता मूलप्रकृतिषट्कस्योत्कृष्टादिब धविकल्पा साद्यादिभङ्गकै। अथावशिष्टयोर्मोहा-ऽऽयुषोरुत्कृष्टादिप्रदेशबन्धान् साद्यादिविकल्पत प्ररूपयन्नाह—"दुहा सेसि सव्वत्थ" त्ति 'शेषे' भणितोद्धरिते मोहे आयुषि च सर्वत्रोत्कृष्टेऽनुत्कृष्टे जघन्येऽजघन्ये च प्रदेशबन्धे 'द्विधा' सादि अध्रुवलक्षणो द्विविकल्पो बन्धो भवति। तत्र मिथ्यादृष्टि सम्यग्दृष्टिर्वाऽनिवृत्तिबादरान्त सप्तविधबन्धकाले उत्कृष्टयोगे वर्तमानो मोहनीयस्योत्कृष्टप्रदेशबन्ध करोति, पुनरनुत्कृष्टयोग प्राप्यानुत्कृष्ट प्रदेशबन्ध करोति, पुनरुत्कृष्ट पुनरप्यनुत्कृष्टमित्येवमुत्कृष्टा ऽनुत्कृष्टप्रदेशबन्धयो संसरता जन्तूनां मोहस्योत्कृष्टा-ऽनुत्कृष्टप्रदेशबन्धौ द्वावपि सादि-अध्रुवौ भवत। जघन्या ऽजघन्यौ त्वेतत्प्रदेशबन्धौ यथा सूक्ष्मनिगोदादिषु संसरतामसुमता कर्मषट्कस्यानन्तरमेव भावितौ तथाऽत्रापि निर्विशेष भावनीयौ। आयुष्कस्य त्वध्रुवबन्धित्वादेव तत्प्रदेशबन्ध उत्कृष्टादिचतुर्विकल्पोऽपि सादि-अध्रुव एव भवतीति॥ ९४॥

निरूपित प्रदेशबन्ध साद्यादिप्ररूपणत। सम्प्रति प्रागुक्तचतुर्विधबन्धे योगस्थानानि कारण प्रकृतय प्रदेशाश्च तत्कार्ये प्रवर्तन्ते, तथा स्थितिबन्धाध्यवसायस्थानानि कारण स्थितिविशेषास्तु तत्कार्यम्, अनुभागबन्धाध्यवसायस्थानानि कारणम् अनुभागस्थानानि तु तत्कार्यं वर्तन्ते इति कृत्वा सप्तानामप्येषां पदार्थानां परस्परमल्पबहुत्वमभिधित्सुराह—

१ सं-१-२ त० म० °दा अनु° ॥

सेढिअसंखिज्जंसे, जोगट्टाणाणि पयडिठिइभेया ।
ठिइबंधज्झवसायाणुभागठाणा असंखगुणा ॥ ९५ ॥

योग —वीर्यं तस्य स्थानानि—वीर्याविभागांशसङ्घातरूपाणि । कियन्ति पुनस्तानि भवन्ति ? इत्याह—"सेढिअसंखिज्जंसे" त्ति श्रेणे असङ्ख्येयांश श्रेण्यसङ्ख्येयांश । एतदुक्तं भवति—श्रेणेर्वक्ष्यमाणरूपाया असङ्ख्येयभागे यावन्त आकाशप्रदेशा भवन्ति तावन्ति योगस्थानानि, एतानि चोत्तरपदापेक्षया सर्वस्तोकानीति शेष । तत्र यथैतानि योगस्थानानि भवन्ति तथोच्यते—इह किल सूक्ष्मनिगोदस्यापि सर्वजघन्यवीर्यलब्धियुक्तस्य प्रदेशा केचिदल्पवीर्ययुक्ता , केचित्तु बहु-बहुतर-बहुतमवीर्योपेता । तत्र सर्वजघन्यवीर्ययुक्तस्यापि प्रदेशस्य सम्बन्धि वीर्यं केवलिप्रज्ञाच्छेदेन छिद्यमानमसङ्ख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणान् भागान् प्रयच्छति, तस्यैवोत्कृष्टवीर्ययुक्ते प्रदेशे यद् वीर्यं तदेतेभ्योऽसङ्ख्येयगुणान् भागान् प्रयच्छति । उक्तं च—

पन्नाए छिज्जंता, असखलोगाण जत्तिय पएसा ।
तत्तिय वीरियभागा, जीवपएसम्मि एक्केक्के ॥
सव्वजहन्नगविरिए, जीवपएसम्मि जेत्तिया संखा ।
तत्तो असखगुणिया, बहुविरिए जियपएसम्मि ॥
(शत० बृ० भा० गा० ९९८–९९)

भागा अविभागपलिच्छेदा इति चानर्थान्तरम् । तत सर्वस्तोकाविभागपलिच्छेदकलिताना लोकासङ्ख्येयभागवर्त्यसङ्ख्येयप्रतरप्रदेशराशिसङ्ख्याना जीवप्रदेशाना समानवीर्यपलिच्छेदतया जघन्यैका वर्गणा, तत एकेन योगपलिच्छेदेनाधिकाना तावतामेव जीवप्रदेशाना द्वितीयवर्गणा, एवमेकैकयोगपलिच्छेदवृद्ध्या वर्धमानाना जीवप्रदेशाना समानजातीयरूपा घनीकृतलोकाकाशश्रेणेरसङ्ख्येयभागप्रदेशराशिप्रमाणा वर्गणा वाच्या । एताश्चैतावत्योऽप्यसत्कल्पनया षट् स्थाप्यन्ते ।

१५	१५	१५
१४	१४	१४
१३	१३	१३
१२	१२	१२
११	११	११
१०	१०	१०

तत्र जघन्यवर्गणाया जीवप्रदेशा असङ्ख्येयवीर्यभागान्विता अप्यसत्कल्पनया दशभागान्विता स्थाप्यन्ते । ते च जीवप्रदेशा एकैकस्या वर्गणायामसङ्ख्येयप्रतरप्रदेशमाना अप्यसत्कल्पनया त्रयस्त्रय स्थाप्यन्ते । एताश्चैतावत्य समुदिता एक वीर्यस्पर्धकमित्युच्यते । अथ स्पर्धक इति क शब्दार्थ ? उच्यते—एकैकोत्तरवीर्यभागवृद्ध्या परस्परं स्पर्धन्ते वर्गणा यत्र तत् स्पर्धकम् । तत ऊर्ध्वमेकेन द्व्यादिभिर्वा वीर्यपलिच्छेदैरधिका जीवप्रदेशा न प्राप्यन्ते, किं तर्हि ? प्रथमस्पर्धकचरमवर्गणाया जीवप्रदेशेषु यावन्तो वीर्यपलिच्छेदास्तेभ्योऽसङ्ख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणैरेव वीर्यपलिच्छेदैरधिका जीवप्रदेशा लभ्यन्ते, अतस्तेषामपि समानवीर्यभागाना समुदायो द्वितीयस्पर्धकस्याद्यवर्गणा । तत एकेन वीर्यभागेनाधिकाना समुदायो द्वितीया वर्गणा, एवमेकोत्तरवृद्धिक्रमेणैता अपि श्रेण्यसङ्ख्येयभागवर्तिप्रदेशराशिमाना वाच्या । एतासामपि समुदायो द्वितीय स्पर्धकम् । इत ऊर्ध्वं पुनरप्येकोत्तरवृद्धिर्न लभ्यते, किं तर्हि ?

१ प्रज्ञया छिद्यमाना असङ्ख्यलोकानां यावन्त प्रदेशा । तावन्तो वीर्यभागा जीवप्रदेशे एकैकस्मिन् ॥ सर्वजघन्यकवीर्ये जीवप्रदेशे यावती सङ्ख्या । ततोऽसङ्ख्यगुणिता बहुवीर्ये जीवप्रदेशे ॥ २ स० १–२–त० म० छा० मुद्रि० तर्हि० ॥ ३ स० १–२–छा० त० म० च प्रदे० ॥

असङ्ख्येयलोकाकाशप्रदेशतुल्यैरेव वीर्यभागैरधिकास्तत्प्रदेशा प्राप्यन्ते, अतस्तेनैव क्रमेण तृतीयस्पर्धकमारभ्यते, पुनस्तेनैव क्रमेण चतुर्थम्, पुन पञ्चममित्येवमेतान्यपि वीर्यस्पर्धकानि श्रेण्यसङ्ख्येयभागवर्तिप्रदेशराशिप्रमाणानि वाच्यानि। एषा चैतावता स्पर्धकाना समुदाय एक योगस्थानकमुच्यते। इद तावदेकस्य सूक्ष्मनिगोदस्य भवाद्यसमये सर्वजघन्यवीर्यस्य योगस्थानकमभिहितम्। तदन्यस्य तु किञ्चिदधिकवीर्यस्य जन्तोरनेनैव क्रमेण द्वितीय योगस्थानकमुत्तिष्ठते, तदन्यस्य तु तेनैव क्रमेण तृतीयम्, तदन्यस्य तु तेनैव क्रमेण चतुर्थमित्यमुना क्रमेणैतान्यपि योगस्थानानि नानाजीवाना कालभेदेन एकजीवस्य वा श्रेणेरसङ्ख्येयभागवर्तिनभ प्रदेशराशिप्रमाणानि भवन्ति।

ननु जीवानामनन्तत्वात् तद्भेदाद् योगस्थानान्यनन्तानि कस्माद् न भवन्ति ? नैतदेवम्, यत एकैकस्मिन् सदृशे योगस्थानेऽनन्ता स्थावरजीवा वर्तन्ते, त्रसास्त्वेकैकस्मिन् सदृशे योगस्थानेऽसङ्ख्याता वर्तन्ते, तेषा च तदेकैकमेव विवक्षितम्, अतो विसदृशानि यथोक्तमानान्येव योगस्थानकानि भवन्ति। तथाऽपर्याप्ता सर्वेऽप्येकैकस्मिन् योगस्थानके एकसमयमेवावतिष्ठन्ते, तत परमसङ्ख्येयगुणवृद्धेषु प्रतिसमयमन्याऽन्ययोगस्थानकेषु सङ्क्रामन्ति। पर्याप्तास्तु सर्वेऽपि स्वप्रायोग्ये सर्वजघन्ययोगस्थानके जघन्यत समयमुत्कृष्टतश्चतुर समयान् यावद् वर्तन्ते, तत परमन्यद् योगस्थानकमुपजायते। स्वप्रायोग्योत्कृष्टयोगस्थानकेषु तु जघन्यत समयम्, उत्कृष्टतस्तु द्वौ समयौ, मध्यमेषु जघन्यत समयम् उत्कृष्टतस्तु क्वचित् त्रीन् क्वचिच्चतुर क्वचित् पञ्च क्वचित् षट् क्वचित् सप्त क्वचिदष्टौ समयान् यावद् वर्तन्ते इति। अय चैतावानपि योगो मन प्रभृतिसहकारिकारणवशात् संक्षिप्य सत्यमनोयोगा-ऽसत्यमनोयोग-सत्यमृषामनोयोगा-ऽसत्यमृषामनोयोग-सत्यवाग्योगा-ऽसत्यवाग्योग-सत्यमृषावाग्योगा ऽसत्यमृषावाग्योग-औदारिककाययोग औदारिकमिश्रकाययोग-वैक्रियकाययोग-वैक्रियमिश्रकाययोगा ऽऽहारककाययोगा-ऽऽहारकमिश्रकाययोग-कार्मणकाययोगभेदत पञ्चदशधा प्रोक्त, इत्यल प्रसङ्गेन।

एतेभ्यश्च योगस्थानेभ्य 'असङ्ख्येयगुणा' असङ्ख्यातगुणिता "पयडि" त्ति भेदशब्दस्य प्रत्येक सम्बन्धात् प्रकृतिभेदा –ज्ञानावरणादीना भेदा। "असखगुण" त्ति पदमनुभागबन्धस्थानानि यावत् सर्वत्र योजनीयम्। इयमत्र भावना—इह तावदावश्यकादिष्ववधिज्ञाना-दर्शनयो क्षयोपशमवैचित्र्यादसङ्ख्यातास्तावद् भेदा भवन्ति, ततश्चैतदावरणबन्धस्यापि तावत्प्रमाणा भेदा सङ्गच्छन्ते, वैचित्र्येण बद्धस्यैव विचित्रक्षयोपशमोपपत्तेरिति। कथ पुन क्षयोपशमवैचित्र्येऽप्यसङ्ख्येयभेदत्व प्रतीयते ? इति चेद् उच्यते—क्षेत्रतारतम्येनेति। तथाहि—त्रिसमयाहारकसूक्ष्मपनकसत्त्वावगाहनामान जघन्यमवधिक्षेत्र परिच्छेद्यतयोक्तम्। यदाह सकलश्रुतपारदृश्वा विश्वानुग्रहकाम्यया विहितानेकशास्त्रसन्दर्भो भगवान् श्रीभद्रबाहुस्वामी—

जावइया तिसमयाहारगस्स सुहुमस्स पणगजीवस्स।
ओगाहणा जहन्ना, ओहीखेत्त जहन्न तु॥ (आव० नि० गा० ३०)

---

१ स० १-२ त० छा० म० °भेके तु ज° ॥

१ यावती त्रिसमयाहारकस्य सूक्ष्मस्य पनकजीवस्य। अवगाहना जघन्या अवधिक्षेत्रं जघन्य तु॥

उत्कृष्ट तु सर्वबहुतैजस्कायिकजन्तूना शूचि सर्वतो भ्रमिता यावन्मात्र क्षेत्र स्पृशति तावन्मात्र तस्य प्रमाणं भवति । यदाहु श्रीमदाराध्यपादाः—

सव्वबहुअगणिजीवा, निरतर जत्तिय भरिज्जसु ।
खेत्त सव्वदिसाग, परमोहीखेत्त निद्दिट्ठो ॥ (आव० नि० गा० ३१) इति।

ततो जघन्यात् क्षेत्रादारभ्य प्रदेशवृद्ध्या प्रवृद्धोत्कृष्टक्षेत्रविषयत्वे सत्यसङ्ख्येयभेदत्वमवधिद्विकस्य क्षेत्रतारतम्येन भवति, अतस्तदावारकस्यावधिद्विकस्यापि नानाजीवाना क्षेत्रादिभेदेन बन्धवैचित्र्याद् उदयवैचित्र्याद्वाऽसङ्ख्येयगुणभेदत्वम् । एव नानाजीवानाश्रित्य मतिज्ञानावरणादीना शेषाणामप्यावरणाना तथाऽन्यासामपि सर्वासा मूलप्रकृतीनामुत्तरप्रकृतीना च क्षेत्रादिभेदेन बन्धवैचित्र्याद् उदयवैचित्र्याद्वाऽसङ्ख्याता भेदा सम्पद्यन्ते इति । उक्त च—

जम्हा उ ओहिविसओ, उक्कोसो सव्वबहुयसिहिसूई ।
जत्तियमित्त फुसई, तत्तियमित्तप्पएससमो ॥ (   )
तत्तारतम्मभेया, जेण बहु हुति आवरणजणिया ।
तेणासखगुणत्त, पयडीण जोगओ जाणे ॥ (   ) इति ।

चतसृणामानुपूर्वीणा बन्ध-उदयवैचित्र्येणासङ्ख्याता भेदा , ते च लोकस्यासङ्ख्येयभागवर्तिप्रदेशराशितुल्या इति बृहच्छतकचूर्णिकारोक्तो विशेष ।

ननु जीवानामनन्तत्वात् तेषा बन्ध-उदयवैचित्र्येणानन्ता अपि प्रकृतिभेदा कस्माद् न भवन्ति ? नैतदेवम्, सदृशाना बन्ध-उदयानामेकत्वेन विवक्षितत्वाद् विसदृशास्त्वेतावन्त एव तद्भेदा भवन्ति, ते च भेदा प्रकृतिभेदत्वात् प्रकृतय इत्युच्यन्ते। ततश्च योगस्थानेभ्योऽसङ्ख्याततगुणा प्रकृतय , यत एकैकस्मिन् योगस्थाने वर्तमानैर्नानाजीवै कालभेदादेकजीवेन वा सर्वा अप्येता प्रकृतयो बध्यन्त इति ।

तथा तेभ्य प्रकृतिभेदेभ्य 'स्थितिभेदा' स्थितिविशेषा अन्तर्मुहूर्त-समयाधिकान्तर्मुहूर्त-द्विसमयाधिकान्तर्मुहूर्त-त्रिसमयाधिकान्तर्मुहूर्तादिलक्षणा असङ्ख्यातगुणा भवन्ति, एकैकस्या प्रकृतेरसङ्ख्याते स्थितिविशेषैर्बध्यमानत्वात् । एकमेव हि प्रकृतिभेद कश्चिज्जीवोऽन्येन स्थितिविशेषेण बध्नाति, स एव च त कदाचिदन्येन कदाचिदन्यतरेण कदाचिदन्यतमेनेत्येवमेक प्रकृतिभेदमेक च जीवमाश्रित्य असङ्ख्याता स्थितिभेदा भवन्ति, किं पुन सर्वप्रकृती सर्वजीवान् आश्रित्य प्रकृतिभेदेभ्य स्थितिभेदानामसङ्ख्यातगुणत्वम् ? इति, अत प्रकृतिभेदेभ्य स्थितिभेदा असङ्ख्यातगुणा भवन्तीति ।

तथा स्थितिभेदेभ्य सकाशात् स्थितिबन्धाध्यवसाया "पदैकदेशे पदसमुदायोपचारात्" स्थितिबन्धाध्यवसायस्थानानि असङ्ख्यातगुणानि। तत्र स्थान—स्थिति कर्मणोऽवस्थान तस्या बन्ध स्थितिबन्ध , अध्यवसानानि अध्यवसाया , ते चेह कषायजनिता जीवपरिणामविशेषा ,

१ सर्वबहुकाग्निजीवा निरन्तरं यावद् भृतवन्त । क्षेत्र सर्वदिक परमावधिक्षेत्र निर्दिष्टम् ॥ २ यस्मात्त्ववधिविषय उत्कृष्ट सर्वबहुकशिखिसूचा । यावन्मात्र स्पृशति तावन्मात्रप्रदेशसम ॥ तत्तारतम्यभेदा येन बहवो भवन्त्यावरणजनिता । तेनासङ्ख्यगुणत्व प्रकृतीनां योगतो जानीहि ॥

तिष्ठन्ति जीवा एष्विति स्थानानि, अध्यवसाया एव स्थानानि अध्यवसायस्थानानि, स्थितिबन्धस्य कारणभूतानि अध्यवसायस्थानानि स्थितिबन्धाध्यवसायस्थानानि। तानि स्थितिभेदेभ्योऽसङ्ख्येयगुणानि, यत सर्वजघन्योऽपि स्थितिविशेषोऽसङ्ख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणैरध्यवसायस्थानैर्जन्यते, उत्तरेषु तु स्थितिविशेषास्तैरेव यथोत्तर विशेषवृद्धैर्जन्यन्ते, अत स्थितिभेदेभ्य स्थितिबन्धाध्यवसायस्थानान्यसङ्ख्यातगुणानि सिद्धानि भवन्ति ।

तथा "अणुभागट्ठाण" त्ति "पदैकदेशे पदसमुदायोपचाराद्" 'अनुभागस्थानानि' अनुभागबन्धाध्यवसायस्थानानि। तत्रानु—पश्चाद् बन्धोत्तरकाल भज्यते—सेव्यतेऽनुभूयते इत्यनुभाग-इसस्तस्य बन्धोऽनुभागबन्ध, अध्यवसानानि अध्यवसाया, ते चेह कषायजनिता जीवपरिणामविशेषा, तिष्ठन्ति जीवा एष्विति स्थानानि, अध्यवसाया एव स्थानानि अध्यवसायस्थानानि, अनुभागबन्धस्य कारणभूतानि अध्यवसायस्थानानि अनुभागबन्धाध्यवसायस्थानानि । स्थितिबन्धाध्यवसायस्थानेभ्यस्तान्यसङ्ख्येयगुणानि भवन्ति । स्थितिबन्धाध्यवसायस्थान ह्येकैकमन्तर्मुहूर्तप्रमाणमुक्तम्, अनुभागबन्धाध्यवसायस्थान त्वेकैक जघन्यतः सामयिकम् उत्कृष्टतस्त्वष्टसामयिकान्तमेवोक्तम्, अत एकस्मिन्नपि नगरकल्पे स्थितिबन्धाध्यवसायस्थाने तदन्तर्गतानि नगरान्तर्गतोच्चैर्नीचैर्गृहकल्पानि नानाजीवान् कालभेदेनैक जीव वा समाश्रित्य असङ्ख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणानि अनुभागबन्धाध्यवसायस्थानानि भवन्ति । तथाहि—जघन्यस्थितिजनकानामपि स्थितिबन्धाध्यवसायस्थानाना मध्ये यदाद्य सर्वलघुस्थितिक बन्धाध्यवसायस्थान तस्मिन्नपि देश-क्षेत्र-काल-भाव-जीवभेदेनासङ्ख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणानि अनुभागबन्धाध्यवसायस्थानानि प्राप्यन्ते, द्वितीयादिषु तु तान्यप्यधिकान्यधिकतराणि च प्राप्यन्त इति सर्वेष्वपि स्थितिबन्धाध्यवसायस्थानेषु भावना कार्या, अत स्थितिबन्धाध्यवसायस्थानेभ्योऽनुभागबन्धाध्यवसायस्थानान्यसङ्ख्येयगुणानीति ॥ ९५ ॥

तत्तो कम्मपएसा, अणंतगुणिया तओ रसच्छेया ।
जोगा पयडिपएस, ठिइअणुभाग कसायाओ ॥ ९६ ॥

'तत' तेभ्योऽनुभागबन्धाध्यवसायस्थानेभ्य 'कर्मप्रदेशा' कर्मस्कन्धा अनन्तगुणिता भवन्ति । अयमत्र तात्पर्यार्थ —प्रत्येकमभव्यानन्तगुणै सिद्धानन्तभागवर्तिभि परमाणुभिर्निष्पन्नानभव्यानन्तगुणानेव स्कन्धान् मिथ्यात्वादिभिर्हेतुभि प्रतिसमय जीवो गृह्णातीत्युक्तम् । अनुभागबन्धाध्यवसायस्थानानि तु सर्वाण्यप्यसङ्ख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणान्येवाभिहितानि, अतोऽनुभागबन्धाध्यवसायस्थानेभ्य कर्मप्रदेशा अनन्तगुणा सिद्धा भवन्ति ।

तथा "तओ रसच्छेय" त्ति 'तत' तेभ्य कर्मप्रदेशेभ्यो रसच्छेदा अनन्तगुणा भवन्ति । तथाहि—इह क्षीर-निम्बरसाद्यभिधयणैरिवानुभागबन्धाध्यवसायस्थानैस्तण्डुलेष्विव कर्मपुद्गलेषु रसो जन्यते, स चैकस्यापि परमाणो सम्बन्धी केवलिप्रज्ञया छिद्यमान सर्वजीवानन्तगुणानविभागपलिच्छेदान् प्रयच्छति, यस्माद् भागादतिसूक्ष्मतयाऽन्यो भागो नोत्तिष्ठति सोऽविभागपलिच्छेद उच्यते, एवभूताश्चानुभागस्याविभागपरिच्छेदा रसपर्याया सर्वकर्मस्कन्धेषु प्रतिपर-

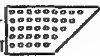
१ स० १-२ त० म० छा० °त्तरे तु स्थिति° ॥

माणु सर्वजीवानन्तगुणा सम्प्राप्यन्ते । उक्त च—

गहणसमयम्मि जीवो, उप्पाएइ उ गुणे सपच्चयओ ।
सव्वजियाणतगुणे, कम्मपएसेसु सव्वेसु ॥ (कर्मप्र० गा० २९)

गुणशब्देनेहाविभागपलिच्छेदा उच्यन्ते, शेष सुगमम् ।

कर्मप्रदेशा पुन प्रतिस्कन्ध सर्वेऽपि सिद्धानामप्यनन्तभाग एव वर्तन्तेऽत कर्मप्रदेशेभ्यो रसच्छेदा अनन्तगुणा सिद्धा भवन्तीति ।

अत्राह—ननूक्तो भवद्भि समपञ्च प्रदेशबन्ध पर कस्माद् हेतोरमु जीव करोति ? इति वक्तव्यमिति प्रश्नमाशङ्क्य प्रदेशबन्धस्य प्रसङ्गत पूर्वोक्ताना प्रकृति स्थिति-अनुभागबन्धाना च हेतून् निरूपयन्नाह—"जोगा पयडिपएस, ठिइअणुभाग कसायाउ" त्ति योगो वीर्यं शक्तिरुत्साह पराक्रम इति पर्याया, तस्माद् योगात् प्रकरण प्रकृति —कर्मणा ज्ञानावरणादिस्वभाव, प्रकृष्टा पुद्गलास्तिकायदेशा प्रदेशा —कर्मवर्गणान्त पातिन कर्मस्कन्धा, प्रकृतयश्च प्रदेशाश्च प्रकृतिप्रदेशम् समाहारो द्वन्द्व, तद् जीव करोतीति शेष, प्रकृति प्रदेशबन्धयोर्योगो हेतुरित्यर्थ । एतदुक्त भवति—यद्यपि षडशीतिकशास्त्रे मिथ्यात्वा-ऽविरति-कषाय-योगा सामान्येन कर्मणो बन्धहेतव उक्तास्तथाप्याद्यकारणत्रयाभावेऽप्युपशान्तमोहादिगुणस्थानकेषु केवलयोगसद्भावे वेदनीयलक्षणा प्रकृतिस्तत्प्रदेशाश्च बध्यन्ते, अयोग्यवस्थाया तु योगाभावे न बध्यन्ते इत्यन्वयव्यतिरेकाभ्या ज्ञायते प्रकृति प्रदेशबन्धयोर्योग एव प्रधान कारणम् । तथा "ठिइअणुभाग कसायाउ" त्ति स्थान—स्थिति, कर्मणोऽन्तर्मुहूर्तादिक सप्ततिसागरोपमकोटीकोटीपर्यन्तमवस्थानमित्यर्थ, अनु—पश्चाद् बन्धोत्तरकाल भजन—स्थिते सेवनमनुभवन यस्यासावनुभागो रस इत्यर्थ, स्थितिश्चानुभागश्च स्थित्यनुभागम्, समाहारो द्वन्द्व, तद् जीव करोतीति शेष । कस्मात् ? इत्याह—'कषायात्' कषायवशात् । इयमत्र भावना—कषाया —क्रोध-मान-माया-लोभा, तज्जनितो जीवस्याध्यवसायविशेष कषायशब्देनेहोच्यते, कषाया ह्युदीर्णा नानाजीवाना कालभेदेनैकजीवस्य वा सर्वजघन्याया अपि ज्ञानावरणादिकर्मस्थितेर्निर्वर्तकान्यसङ्ख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणान्यान्तर्मौहूर्तिकान्यध्यवसायस्थानानि जनयन्ति, समयाधिकतज्जघन्यस्थितिजनकानि तु त एव तेभ्यस्तानि विशेषाधिकानि जनयन्ति, द्विसमयाधिकतज्जघन्यस्थितिजनकानि पुनस्त एवानन्तरेभ्यस्तानि विशेषाधिकानि जनयन्ति, त्रिसमयाधिकतज्जघन्यस्थितिजनकानि पुनस्त एवानन्तरेभ्यस्तानि विशेषाधिकानि जनयन्ति, एव समयोत्तरवृद्धतज्जघन्यस्थितिजनकानि विशेषाधिकानि तावद् वाच्यानि यावत् त एव कषाया समयोनोत्कृष्टज्ञानावरणादिस्थितिजनकाध्यवसायस्थानेभ्य सर्वोत्कृष्टतरस्थितिजनकाध्यवसायस्थानानि विशेषाधिकानि निर्वर्तयन्ति । एतानि सर्वाण्यपि मिलितान्यसङ्ख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणान्येव भवन्ति, स्थाप्यमानानि च विषमचतुरस्र क्षेत्रमास्तृणन्ति । स्थापना चेयम्—  तदेवमेतै कषायजनिताध्यवसायैर्जन्यत्वात् कर्मण स्थिति कषायप्रत्यया सिद्धा । तथा तेषामेव कषायाणा सम्ब-

१ ग्रहणसमये जीव उत्पादयति तु गुणान् स्वप्रत्ययत । सर्वजीवानन्तगुणान् कर्मप्रदेशेषु सर्वेषु ॥

न्धि यद् दलिकमुदयमास तत्र यदनुभागस्थानकमुदेति तेन जीवस्य योऽध्यवसायो जन्यते तद्वशेन बध्यमानकर्मणामनुभागो निष्पद्यते । तथाहि—इह तावदनन्तैः परमाणुभिर्निष्पन्नान् स्कन्धान् जीवः कर्मतया गृह्णाति, तत्र चैकैकस्कन्धे यः सर्वजघन्यरसः परमाणुः सोऽपि केवलिप्रज्ञया छिद्यमानः किल सर्वजीवेभ्योऽनन्तगुणान् भागान् प्रयच्छति, अपरस्तु तानप्येकाधिकान्, अन्यस्तु तानपि द्व्यधिकान्, अपरस्तु तानपि त्र्यधिकानित्यादिवृद्ध्या तावद् नेयं यावदन्त्य उत्कृष्टरसः परमाणुर्मौलराशेरनन्तगुणानपि रसभागान् प्रयच्छति । अत्र च जघन्यरसा ये केचन परमाणवस्तेषु सर्वजीवानन्तगुणरसभागयुक्तेष्वप्यसत्कल्पनया शतं रसांशाना परिकल्प्यन्ते, एतेषां च समुदायः समानजातीयत्वाद् एका वर्गणेत्यभिधीयते, अन्येषां त्वेकोत्तरशतरसभागयुक्तानामणूनां समुदायो द्वितीया वर्गणा, अपरेषां द्व्युत्तरशतरसभागयुक्तानामणूनां समुदायस्तृतीया वर्गणा, अपरेषां तु त्र्युत्तरशतरसभागयुक्तानामणूनां समुदायश्चतुर्थी वर्गणा, एवमनया दिशा एकैकरसभागवृद्धानामणूनां समुदायरूपा वर्गणाः सिद्धानामनन्तभागेऽभव्येभ्योऽनन्तगुणा वाच्या । एतासां चैतावतीनां वर्गणानां समुदायः स्पर्धकमित्युच्यते, स्पर्धन्त इवात्रोत्तरोत्तररसवृद्ध्या परमाणुवर्गणा इति कृत्वा । एताश्चानन्तरोक्तानन्तकप्रमाणा अप्यसत्कल्पनया षट् स्थाप्यन्ते—[illegible] इदमेकं स्पर्धकम् । इत ऊर्ध्वमेकोत्तरया निरन्तरवृद्ध्या वृद्धो रसो न लभ्यते, किं तर्हि ? सर्व[illegible]जीवानन्तगुणैरेव रसभागैर्वृद्धो लभ्यत इति, तेनैव क्रमेण द्वितीयं स्पर्धकमारभ्यते, ततस्तथैव तृतीयमित्यादि यावदनन्तान्यनुभागस्पर्धकान्युत्तिष्ठन्ति । एषां चानुभागस्पर्धकानां सिद्धानन्तभागवर्तिनामभव्येभ्योऽनन्तगुणानां समुदायः प्रथममनुभागस्थानकं भवति, अन्येषु त्वधिकरसेषु स्कन्धेषु तेनैव क्रमेण द्वितीयं तावत्प्रमाणमेवानुभागस्थानकमुत्तिष्ठति, अपरेषु त्वधिकरसेषु स्कन्धेषु तेनैव क्रमेण तृतीयमनुभागस्थानकमुत्तिष्ठतीत्येवं सर्वेष्वपि कषायकर्मस्कन्धेष्वसङ्ख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणान्यनुभागस्थानानि भवन्ति । ज्ञानावरणादिसमस्तकर्मस्कन्धेष्वप्येतावन्त्येवामूनि भवन्ति, परं तानीह कषाया एव कारणत्वेन विचारयितुं प्रक्रान्ताः, तत्र च जघन्यान्यनुभागस्थानान्युत्कृष्टतश्चतुरः समयान् यावदुदये समागच्छन्ति, मध्यमानि तु कानिचिद् द्वौ समयौ कानिचित् त्रीन् समयान् अपराणि चतुरः समयान् अन्यानि पञ्च समयान् अन्यानि षट् समयान् अपराणि सप्त समयान् अन्यान्यष्टौ समयान् यावदुत्कृष्टत उदये समागच्छन्ति, उत्कृष्टानुभागस्थानान्युत्कृष्टतो द्वौ समयौ यावदुदये समागच्छन्ति, ततः परं सर्वत्राप्यन्यत् परावर्तते । जघन्यतस्तु सर्वाण्यपि समयस्थितीन्येव भवन्ति, अतस्तज्जन्यो जघन्य-मध्यम-उत्कृष्टभेदभिन्नोऽध्यवसायोऽप्येतावत्कालस्थितिक एव भवति, तेन च जघन्यादिभेदेनाध्यवसायवैचित्र्येण बध्यमानकर्मानुभागो जघन्यादिभेदविचित्रो जन्यते, अतः कषायानुभागजनिताध्यवसायवैचित्र्यनिर्वर्त्यत्वात् कर्मणामनुभागः कषायप्रत्ययः सिद्धः । मिथ्यात्वा-ऽविरतिकारणद्वयाभावेऽपि कषायसद्भावेऽपि प्रमत्तादिषु स्थित्यनुभागबन्धौ भवतः, कषायाभावे तूपशान्तमोहादिषु न भवत इतीत्थमप्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां ज्ञायते कषाया एव स्थिति-अनुभागबन्धयोः प्रधानं कारणमिति ॥ ९६ ॥

'योगस्थानानि श्रेणेरसङ्ख्येयभागे भवन्ति' इति यदुक्तं तत्र श्रेणिस्वरूपं प्रतिपिपादयिषुः,

सा च घनीकृतलोकस्वरूपप्ररूपणापूर्विकैव च वक्तु शक्यतेऽत प्रसङ्गतो घनस्वरूपमन्यत्र बहुस्थानोपयोगित्वात् प्रतरस्वरूप च प्रचिकटयिषुराह—

चउदसरज्जू लोओ, बुद्धिकओ होइ सत्तरज्जुघणो ।
तद्दीहेगपएसा, सेढी पयरो य तव्वग्गो ॥ ९७ ॥

चतुर्दश रज्जवो यस्य स चतुर्दशरज्जु , रज्जुप्रमाण तु स्वयम्भूरमणसमुद्रस्य पौरस्त्यपाश्चात्यवेदिकान्त यावद् दक्षिणोत्तरवेदिकान्त वा यावदवसेयम् , उच्छ्रयमानमिदमस्य, अधस्ताद् देशोनसप्तरज्जुविस्तर , तिर्यग्लोकमध्ये एकरज्जुविस्तर , ब्रह्मलोकमध्ये पञ्चरज्जुविस्तीर्ण , उपरि तु लोकान्ते एकरज्जुविस्तृत , शेषस्थानेषु पुन कोऽपि कियानस्य विस्तर इति । तदेवरूपो लोक 'बुद्धिकृत' मतिपरिकल्पनया विहित 'भवति' सम्पद्यते । किंरूपो भवति ? इत्याह—सप्त रज्जव प्रमाणतया यस्य स सप्तरज्जु , स चासौ घनश्च—समचतुरस्र आयामविष्कम्भबाहल्यैस्तुल्यत्वात् सप्तरज्जुघन । स चेत्थ बुद्ध्या विधीयते—इह रज्जुविस्तीर्णायास्त्रसनाड्या दक्षिणदिग्वर्त्यधोलोकखण्डमधो देशोनरज्जुत्रयविस्तृत क्रमेण हीयमानविस्तर तावद् यावदुपरिष्टाद् रज्जु(ज्ज्व)सङ्ख्येयभागविस्तर सातिरेकसप्तरज्जूच्छ्रय गृहीत्वा त्रसनाडिकाया एवोत्तरदिग्भागे विपरीत योज्यते, उपरितन भागमध कृत्वाऽधस्तन चोपरि विधाय सङ्घात्यते इत्यर्थ , एव च कृतेऽधस्तन लोकस्यार्ध सातिरेकसप्तरज्जूच्छ्रित किञ्चिदूनरज्जुचतुष्टयविस्तीर्ण बाहल्यतोऽप्यध क्वचिद् देशोनसप्तरज्जुमानमन्यत्र पुनरनियतबाहल्य जायते ।

इदानीमुपरितनलोकार्धं संवर्त्यते—तत्रापि रज्जुविस्तरायास्त्रसनाडिकाया दक्षिणदिग्वर्तिनी ब्रह्मलोकमध्यादधस्तनमुपरितन च द्वे अपि खण्डे ब्रह्मलोकमध्ये प्रत्येक द्विरज्जुविस्तरे उपर्यलोकसमीपेऽधस्तु रत्नप्रभाक्षुल्लकप्रतरसमीपेऽङ्गुलसहस्रभागविस्तरवती देशोनसार्धत्रयरज्जूच्छ्रिते बुद्ध्या गृहीत्वा त्रसनाडिकाया एवोत्तरपार्श्वे पूर्वोदितस्वरूपेणैव वैपरीत्येन सङ्घात्येते, एव च कृते उपरितन लोकस्यार्ध द्वाभ्यामङ्गुलसहस्रभागाभ्यामधिकरज्जुत्रयविष्कम्भम्, इह चतुर्णां खण्डाना पर्यन्तेषु चत्वारोऽङ्गुलसहस्रभागा भवन्ति, केवलमेकस्या दिशि यौताभ्या द्वाभ्यामप्येक एवाङ्गुलसहस्रभाग एकदिग्वर्तित्वादेवापराभ्यामपि द्वाभ्यामित्थमेवेत्यतस्तद्द्वयाधिकत्वमुक्तम् , देशोनसप्तरज्जूच्छ्रितम्, बाहल्यतस्तु ब्रह्मलोकमध्ये पञ्चरज्जुबाहल्यमन्यत्र त्वनियतबाहल्यम् , इद च सर्व गृहीत्वा आधस्त्यसंवर्तितलोकार्धस्योत्तरपार्श्वे सङ्घात्यते । एव च योजिते आधस्त्यखण्डस्योच्छ्रये यद् इतरोच्छ्रयाधिक तत् खण्डयित्वोपरितनसङ्घातितखण्डस्य बाहल्ये ऊर्ध्वायत संयोज्यते, एव च सातिरेका पञ्च रज्जव क्वचिद् बाहल्य सिध्यति । तथा आधस्त्यखण्डमधस्ताद् यथासम्भव देशोनसप्तरज्जुबाहल्य प्रागुक्तम्, अत उपरितनखण्डबाहल्याद् देशोनरज्जुद्वयमत्रावस्त्यखण्डेऽतिरिच्यते इत्यस्मादतिरिच्यमानबाहल्यार्धं देशोनरज्जुरूप गृहीत्वोपरितनखण्डबाहल्ये सङ्घात्यते, एव च कृते बाहल्यतस्तावत् सर्वमप्येतत् चतुरस्रीकृतनभ खण्ड कियत्यपि प्रदेशे रज्ज्वसङ्ख्येयभागाधिका षड् रज्जवो भवन्ति, व्यवहारतस्तु सर्वं सप्तरज्जुबाहल्य-

१ सटीकेय गाथा सार्द्धशतकप्रकरणस्य ११४ तमी गाथा–सटीकासमाना ।
२ मुद्रि० छा० °योजिताभ्या द्वा° ॥

मिदमुच्यते । व्यवहारनयो हि किञ्चिदूनसप्तहस्तादिप्रमाणमपि पटादिवस्तु परिपूर्णसप्तहस्तादिमान व्यपदिशति, देशतोऽपि च दृष्ट बाहल्यादिधर्मं परिपूर्णेऽपि वस्तुन्यध्यवस्यति, स्थूलदृष्टित्वादिति भाव । अत एतन्मतेनैवात्र सप्तरज्जुबाहल्यता सर्वगता द्रष्टव्या । आयामविष्कम्भाभ्या तु प्रत्येक देशोनसप्तरज्जुप्रमाणमिद जातम्, व्यवहारतस्तु तत्रापि सप्तरज्जुप्रमाणता द्रष्टव्या । तदेव लोको व्यवहारनयमतेन अत्रायाम-विष्कम्भ-बाहल्यै प्रत्येक सप्तरज्जुप्रमाणो घनो भवतीति समुदायार्थ । एतच्च वैशाखस्थानस्थितपुरुषाकार सर्वत्र वृत्तस्वरूप लोक संस्थाप्य सर्वं भावनीयमिति ।

प्ररूपितो घन । सम्प्रति श्रेणिनिरूपणायाह—"तद्दीहेगपएसा सेढि" त्ति स एव घनीकृतलोक सप्तरज्जुप्रमाणो दीर्घ दैर्घ्यं यस्या सा तद्दीर्घा, एकप्रदेशेति वीप्साप्रधानत्वाद् निर्देशस्यैकैकाकाशप्रदेशा शूचि श्रेणिरित्युच्यते । एतेन च यत्र कुत्राप्यविशेषिताया श्रेणे सामान्येन ग्रहण तत्र सर्वत्रास्य घनीकृतलोकस्य सम्बन्धिनी इयमेव सप्तरज्जुप्रमाणा एकप्रदेशिकीश्रेणिर्ग्राह्या ।

अधुना प्रतरं प्ररूपयितुमाह—'प्रतरश्च' प्रतर पुन क ? इत्याह—'तद्वर्ग ' तस्या – शूचिस्वरूपाया श्रेणेर्वर्ग –शूच्या शूचिगुणनलक्षणस्तद्वर्ग । कोऽर्थ ? शूच्या शूचेर्गुणन प्रतर उच्यते । तद्यथा—इहासङ्ख्येययोजनकोटीकोटीदीर्घाऽपि श्रेणिरसत्कल्पनया त्रिप्रदेशप्रमाणा द्रष्टव्या [ ], तस्याश्च तयैव गुणने प्रतरो नवप्रदेशात्मको भवति । स्थापना—[ ] इति ॥९७॥

निरूपित सप्रपञ्च प्रदेशबन्धस्तत्स्वामी च । तन्निरूपणे च समर्थिता "नमिय जिण धुवबंधोदयसत्ताघाइपुन्नपरियत्ता । सेयर चउह विवागा, वुच्छ बंधविह सामी य ॥" इति आद्यद्वारगाथा । अधुना चशब्दसूचितामुपशमश्रेणिं क्षपकश्रेणिं च व्याचिख्यासु प्रथम तावदुपशमश्रेणिं प्रकटयन्नाह—

अण दंस नपुंसित्थी, वेय च्छक्कं च पुरिसवेयं च ।
दो दो एगंतरिए, सरिसे सरिसं उवसमेइ ॥ ९८ ॥

तत्र प्रथमतोऽनन्तानुबन्धिनामुपशमनाऽभिधीयते—अविरतसम्यग्दृष्टि-देशविरत प्रमत्ताऽप्रमत्तानामन्यतमोऽन्यतमस्मिन् योगे वर्तमानस्तेज -पद्म-शुक्ललेश्यानामन्यतमलेश्यायुक्त साकारोपयोगोपयुक्तोऽन्त सागरोपमकोटीकोटीस्थितिसत्कर्मा करणकालात् पूर्वमप्यन्तर्मुहूर्तं काल यावदवदायमानचित्तसन्ततिरवतिष्ठते । तथाऽवतिष्ठमानश्च परावर्तमाना प्रकृती शुभा एव बध्नाति, नाशुभा, अशुभाना च प्रकृतीनामनुभाग चतु स्थानक सन्त द्विस्थानक करोति, शुभाना च द्विस्थानक सन्त चतु स्थान-(ग्रन्थाग्रम्–४०००)कम्, स्थितिबन्धेऽपि च पूर्णे पूर्णे सति अन्य स्थितिबन्ध पूर्वपूर्वस्थितिबन्धापेक्षया पल्योपमासङ्ख्येयभागहीन करोति । इत्थ करणकालात् पूर्वमन्तर्मुहूर्तं काल यावदवस्थाय ततो यथाक्रमं त्रीणि करणानि प्रत्येकमान्तर्मौहूर्तिकानि करोति । तद्यथा—यथाप्रवृत्तकरणम् अपूर्वकरणम् अनिवृत्तिकरण चतुर्थी तूपशान्ताद्धा । तत्र यथाप्रवृ-

१ गाथेय आवश्यकनिर्युक्तौ ११६ तमा । अस्या गाथायाष्टीका तु सप्ततिकाप्रकरणस्य " पढमकसायचउक्क इत्यस्या गाथायाटीकासमा ॥

त्तिकरणे प्रविशन् प्रतिसमयमनन्तगुणवृद्धया विशुद्ध्या प्रविशति, पूर्वोक्त च शुभप्रकृतिबन्धादिक तथैव तत्र कुरुते, न च स्थितिघात रसघात गुणश्रेणिं गुणसङ्क्रम वा करोति, तद्योग्यविशुद्ध्यभावात् । प्रतिसमय च नानाजीवापेक्षया असङ्ख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणान्यध्यवसायस्थानानि भवन्ति षट्स्थानपतितानि च । अन्यच्च प्रथमसमयापेक्षया द्वितीयसमयेऽध्यवसायस्थानानि विशेषाधिकानि, ततोऽपि तृतीयसमये विशेषाधिकानि, एव तावद् वाच्य यावद् यथाप्रवृत्तकरणचरमसमय । एवमपूर्वकरणेऽपि द्रष्टव्यम् । अत एवैतानि स्थाप्यमानानि विषमचतुरस्र क्षेत्रमास्तृणन्ति। स्थापना चेयम्—



इह कल्पनया द्वौ पुरुषौ युगपत् करणप्रतिपन्नौ विवक्ष्येते, तत्रैक सर्वजघन्यया विशोधिश्रेण्या प्रतिपन्न, अपरस्तु सर्वोत्कृष्टया विशोधिश्रेण्या । तत्र प्रथमजीवस्य प्रथमसमये जघन्या विशोधि सर्वस्तोका, ततो द्वितीयसमये जघन्या विशोधिरनन्तगुणा, ततोऽपि तृतीयसमये जघन्या विशोधिरनन्तगुणा, एव तावद् वाच्य यावद् यथाप्रवृत्तकरणाद्धाया सङ्ख्येयो भागो गतो भवति। तत सङ्ख्येये भागे गते सति चरमसमयजघन्यविशुद्धे सकाशात् प्रथमसमये द्वितीयस्य जीवस्योत्कृष्टा विशोधिरनन्तगुणा, ततोऽपि यतो जघन्यविशुद्धिस्थानाद् निवृत्तस्तत उपरितन जघन्यविशोधिस्थानमनन्तगुणम्, ततो द्वितीयसमये उत्कृष्टा विशुद्धिरनन्तगुणा, तत उपरितन जघन्य विशोधिस्थानमनन्तगुणम्, ततस्तृतीयसमये उत्कृष्टा विशुद्धिरनन्तगुणा, एवमुपर्यधश्चैकैक विशोधिस्थानमनन्तगुणतया द्वयोर्जीवयोस्तावद् नेय यावद् यथाप्रवृत्तकरणस्य चरमसमये जघन्य विशुद्धिस्थानम् । तत शेषाणि उत्कृष्टानि यानि विशोधिस्थानान्यनुक्तानि तिष्ठन्ति तानि निरन्तरमनन्तगुणया वृद्ध्या तावद् नेतव्यानि यावच्चरमसमये उत्कृष्ट विशोधिस्थानम् ।

भणित यथाप्रवृत्तिकरणम् । सम्प्रत्यपूर्वकरणमुच्यते—तत्रापूर्वकरणे प्रतिसमयमसङ्ख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणानि अध्यवसायस्थानानि भवन्ति, प्रतिसमय च षट्स्थानपतितानि । तत्र प्रथमसमये जघन्या विशोधि सर्वस्तोका, सा च यथाप्रवृत्तकरणचरमसमयसत्कोत्कृष्टविशोधिस्थानादनन्तगुणा । तत प्रथमसमय एवोत्कृष्टा विशोधिरनन्तगुणा, ततोऽपि द्वितीयसमये जघन्या विशोधिरनन्तगुणा, ततोऽपि तस्मिन्नेव द्वितीयसमये उत्कृष्टा विशोधिरनन्तगुणा, ततोऽपि तृतीयसमये जघन्या विशोधिरनन्तगुणा, एव जघन्यमुत्कृष्ट च विशोधिस्थानमनन्तगुणया वृद्ध्या तावद् नेय यावदपूर्वकरणस्य चरमसमये जघन्यत उत्कृष्टविशुद्धिरनन्तगुणा । स्थापना चेयम्—



अस्मिंश्चापूर्वकरणे प्रविशन् स्थितिघात रसघात गुणश्रेणिं गुणसङ्क्रममन्य स्थितिबन्ध च युगपदारभते । तत्र स्थितिघातो नाम स्थितिसत्कर्मणोऽग्रिमभागाद् उत्कृष्टत प्रभूतसागरोपमशतपृथक्त्वमात्र जघन्यत पल्योपमसङ्ख्येयभागमात्र स्थितिखण्ड खण्डयति, तद्दलिक चाधस्ताद् या स्थितीर्न खण्डयिष्यति तत्र प्रक्षिपति, अन्तर्मुहूर्तेन च कालेन तत् स्थितिखण्डमुत्कीर्यते खण्ड्यत इत्यर्थ, तत पुनरप्यधस्तात् पल्योपमसङ्ख्येयभागमात्र स्थितिखण्डमन्तर्मुहूर्तेन कालेनोत्किरति पूर्वोक्तप्रकारेणैव च निक्षिपति, एवमपूर्वकरणाद्धाया प्रभूतानि स्थितिखण्डसहस्राणि व्यतिक्रामन्ति, तथा च सति अपूर्वकरणस्य प्रथमसमये यत् स्थितिसत्कर्म आसीत् तत् तस्यैव चरमसमये सङ्ख्येयगुणहीन जातम् ।

रसघातो नाम—अशुभप्रकृतीना यदनुभागसत्कर्म तस्यानन्ततम भाग मुक्त्वा शेषाननुभागभागानन्तर्मुहूर्तेन कालेनाशेषानपि विनाशयति, तत पुनरपि तस्य प्राङ्मुक्तस्यानन्ततमभागस्यानन्ततम भाग मुक्त्वा शेषाननुभागभागानन्तर्मुहूर्तेन कालेन विनाशयति, एवमनेकान्यनुभागखण्डसहस्राण्येकस्मिन् स्थितिखण्डे व्यतिक्रामन्ति, तेषा च स्थितिखण्डाना सहस्रैरपूर्वकरण परिसमाप्यते ।

गुणश्रेणिर्नाम—अन्तर्मुहूर्तप्रमाणाना स्थितीनामुपरि या स्थितयो वर्तन्ते तन्मध्याद् दलिक गृहीत्वा उदयावलिकाया उपरितनीषु स्थितिषु प्रतिसमयमसङ्ख्येयगुणतया निक्षिपति, तद्यथा—प्रथमसमये स्तोकम्, द्वितीयसमयेऽसङ्ख्येयगुणम्, तृतीयसमयेऽसङ्ख्येयगुणम्, एव तावद् नेय यावदन्तर्मुहूर्तचरमसमय, तच्चान्तर्मुहूर्तमपूर्वकरणा-ऽनिवृत्तिकरणकालाभ्या मनागतिरिक्त वेदितव्यम् । एष प्रथमसमयगृहीतदलिकस्य निक्षेपविधि । एव द्वितीयादिसमयगृहीतानामपि दलिकाना निक्षेपो वक्तव्य । अन्यच्च—गुणश्रेणिरचनाय प्रथमसमये यद् दलिक गृह्यते तत् स्तोकम्, ततोऽपि द्वितीयसमयेऽसङ्ख्येयगुणम्, ततोऽपि तृतीयसमयेऽसङ्ख्येयगुणम्, एव तावद् नेय यावद् गुणश्रेणिकरणचरमसमय । अपूर्वकरणसमयेषु अनिवृत्तिकरणसमयेषु चानुभवत क्रमश क्षीयमाणेषु गुणश्रेणिदलिकनिक्षेप शेषे शेषे भवति उपरि च न वर्धत इति ।

तथा गुणसङ्क्रमो नाम—अपूर्वकरणस्य प्रथमसमयेऽनन्तानुबन्ध्यादीनामशुभप्रकृतीना यद् दलिक परप्रकृतिषु सङ्क्रमयति तत् स्तोकम्, ततो द्वितीयसमये परप्रकृतिषु सङ्क्रम्यमाणमसङ्ख्येयगुणम्, ततोऽपि तृतीयसमयेऽसङ्ख्येयगुणम्, एव तावद् वक्तव्य यावच्चरमसमय ।

तथाऽन्य स्थितिबन्धो नाम—अपूर्वकरणस्य प्रथमसमयेऽन्य एवापूर्व स्तोक स्थितिबन्ध आरभ्यते । स्थितिबन्ध-स्थितिघातौ युगपदारभ्येते युगपदेव च निष्ठा यात । एवमेते पञ्च पदार्था अपूर्वकरणे प्रवर्तन्ते ।

व्याख्यातमपूर्वकरणम् । इदानीमनिवृत्तिकरणमुच्यते—अनिवृत्तिकरण नाम—यत्र प्रविष्टाना सर्वेषामपि तुल्यकालानामेकमेवाध्यवसायस्थानम् । तथाहि—अनिवृत्तिकरणस्य प्रथमसमये ये वर्तन्ते ये च वृत्ता ये च वर्तिष्यन्ते तेषा सर्वेषामप्येकरूपमेवाध्यवसायस्थानम्, द्वितीयसमयेऽपि ये वर्तन्ते ये च वृत्ता ये च वर्तिष्यन्ते तेषामपि सर्वेषामेकरूपमध्यवसायस्थानम्, नवर प्रथमसमयभाविविशोधिस्थानापेक्षयाऽनन्तगुणम्, एव तावद् वाच्य यावदनिवृत्तिकरणचरमसमय । अत एवास्मिन् करणे प्रविष्टाना तुल्यकालानामसुमता सम्बन्धिनामध्यवसायस्थानाना परस्पर निवृत्ति व्यावृत्तिर्न विद्यत इत्यनिवृत्तिकरणमिति नाम । अस्मिश्चानिवृत्तिकरणे यावन्त समयास्तावन्त्यध्यवसायस्थानानि पूर्वस्मात् पूर्वस्मादनन्तगुणवृद्धानि । एतानि च मुक्तावलीसंस्थानेन स्थापयितव्यानि—[illegible]। अत्रापि च प्रथमसमयादेवारभ्य पूर्वोक्ता पञ्च पदार्था युगपत् प्रवर्तन्ते । अनिवृत्तिकरणाद्धायाश्च सङ्ख्येयेषु भागेषु गतेषु सत्सु एकस्मिन् भागेऽवतिष्ठमानेऽनन्तानुबन्धिनामधस्तादावलिकामात्र मुक्त्वाऽन्तर्मुहूर्तप्रमाणमन्तरकरणमभिनवस्थितिबन्धाद्धासमेनान्तर्मुहूर्तप्रमाणेन कालेन करोति, अन्तरकरणसत्क च दलिकमुत्कीर्यमाण परप्रकृतिषु बध्यमानासु प्रक्षिपति, प्रथमस्थितिगत च दलिकमावलिकामात्र वेद्यमानासु परप्रकृतिषु स्तिबुक

सङ्क्रमेण सङ्क्रमयति। अन्तरकरणे कृते सति द्वितीयसमयेऽनन्तानुबन्धिनामुपरितनस्थितिगत दलिकमुपशमयितुमारभते। तद्यथा—प्रथमसमये स्तोकमुपशमयति, द्वितीयसमयेऽसङ्ख्येयगुणम्, तृतीयसमयेऽसङ्ख्येयगुणम्, एव यावदन्तर्मुहूर्तं कालम्। एतावता च कालेन साकल्यतोऽनन्तानुबन्धिन उपशमिता भवन्ति। उपशमिता नाम—यथा रेणुनिकर सलिलबिन्दुनिवहैरभिषिच्य अभिषिच्य द्रुघणादिभिर्निष्कुट्टितो नि स्पन्दो भवति, तथा कर्मरेणुनिकरोऽपि विशोधिसलिलप्रवाहेण परिषिच्य परिषिच्य अनिवृत्तिकरणरूपद्रुघणनिष्कुट्टित सङ्क्रमण-उदय-उदीरणा-निधत्ति-निकाचनकरणानामयोग्यो भवति। तदेवमेकेषामाचार्याणां मतेनानन्तानुबन्धिनामुपशमनाऽभिहिता।

अन्ये त्वाचक्षते—अनन्तानुबन्धिनामुपशमना न भवति, किन्तु विसयोजनैव। विसयोजना—क्षपणा। सा चैवम्—इह श्रेणिमप्रतिपद्यमाना अपि अविरता विरताश्चतुर्गतिका अपि। तद्यथा—नारका देवा अविरतसम्यग्दृष्टय, तिर्यञ्चोऽविरतसम्यग्दृष्टयो देशविरता वा, मनुजा अविरतसम्यग्दृष्टयो देशविरता सर्वविरता वा अनन्तानुबन्धिना विसंयोजनार्थं यथाप्रवृत्त्यादीनि त्रीणि करणानि कुर्वन्ति। करणवक्तव्यता सर्वाऽपि प्राग्वत्। नवरमिहानिवृत्तिकरणे प्रविष्ट सन् अन्तरकरण न करोति। उक्त च **कर्मप्रकृतौ—**

चउगइया पज्जत्ता, तिन्नि वि संजोयणे विजोयंति।
करणेहिं तीहिं सहिया, नतरकरण उवसमो वा॥ (गा० ३४३)

अस्या अक्षरगमनिका—'चतुर्गतिका' नारक-तिर्यङ्-मनुष्य-देवा सर्वाभि पर्याप्तिभि पर्याप्ता 'त्रयोऽपि' अविरत-देशविरत-सर्वविरता। तत्राविरतसम्यग्दृष्टयश्चतुर्गतिका, देशविरतास्तिर्यञ्चो मनुष्या वा, सर्वविरता मनुष्या एव। 'सयोजनान्' अनन्तानुबन्धिन 'विसयोजयन्ति' विनाशयन्ति। किंविशिष्टा सन्त ? इत्याह—'करणैस्त्रिभि' यथाप्रवृत्ता-ऽपूर्वकरणा-ऽनिवृत्तिबादरै सहिता। नवरमिहान्तरकरण न वक्तव्यम्, उपशमो वा, उपशमश्चानन्तानुबन्धिना न भवतीत्यर्थ॥

किन्तु कर्मप्रकृत्यभिहितस्वरूपेणोद्वलनासङ्क्रमेणाधस्तादावलिकामात्र मुक्त्वा उपरि निरवशेषाननन्तानुबन्धिनो विनाशयति, आवलिकामात्र तु स्तिबुकसङ्क्रमेण वेद्यमानासु प्रकृतिषु सङ्क्रमयति।

तदेवमुक्ताऽनन्तानुबन्धिना विसंयोजना। सम्प्रति दर्शनत्रिकस्योपशमना भण्यते—तत्र मिथ्यात्वस्योपशमना मिथ्यादृष्टेर्वेदकसम्यग्दृष्टेश्च, सम्यक्त्व-सम्यग्मिथ्यात्वयोस्तु वेदकसम्यग्दृष्टेरेव। तत्र मिथ्यादृष्टेर्मिथ्यात्वोपशमना प्रथम सम्यक्त्वमुत्पादयत, सा चैवम्—पञ्चेन्द्रिय संज्ञी सर्वाभि पर्याप्तिभि पर्याप्त करणकालात् पूर्वमप्यन्तर्मुहूर्तं काल प्रतिसमयमनन्तगुणवृद्ध्या विशुद्ध्या प्रवर्धमानोऽभव्यसिद्धिकविशुद्ध्यापेक्षयाऽनन्तगुणविशुद्धिको मति-श्रुताज्ञान-विभङ्गज्ञानानामन्यतमस्मिन् साकारोपयोगे उपयुक्तोऽन्यतमस्मिन् योगे वर्तमानो जघन्यपरिणामेन तेजोलेश्याया मध्यमपरिणामेन पद्मलेश्यायामुत्कृष्टपरिणामेन शुक्ललेश्याया वर्तमानो मिथ्यादृष्टिश्चतुर्गतिकोऽन्त सागरोपमकोटीकोटीस्थितिसत्कर्मा इत्यादि पूर्वोक्त तावद् वाच्य यावद् यथाप्रवृत्तिकरणमपूर्वकरण च परिपूर्णं भवति। नवरमिहापूर्वकरणे गुणसङ्क्रमो न वक्तव्य, किन्तु स्थितिघात-

रसघात-स्थितिबन्ध-गुणश्रेणय एव वक्तव्या । गुणश्रेणिदलिकरचनाऽप्युदयसमयादारभ्य वेदितव्या । ततोऽनिवृत्तिकरणेऽप्येव वक्तव्यम् । अनिवृत्तिकरणाद्धायाश्च सङ्ख्येयेषु भागेषु गतेषु सत्सु एकस्मिन् सङ्ख्येयतमे भागेऽवतिष्ठमानेऽन्तर्मुहूर्तमात्रमधो मुक्त्वा मिथ्यात्वस्यान्तरकरणमन्तर्मुहूर्तप्रमाण प्रथमस्थिते किञ्चित् समधिक न्यून वाऽभिनवस्थितिबन्धाद्धासमेनान्तर्मुहूर्तेन कालेन करोति । अन्तरकरणसत्क च दलिकमुत्कीर्य प्रथमस्थितौ द्वितीयस्थितौ च प्रक्षिपति । प्रथमस्थितौ च वर्तमान उदीरणाप्रयोगेण यत् प्रथमस्थितिगत दलिक समाकृष्य उदये प्रक्षिपति सा उदीरणा, यत् पुनर्द्वितीयस्थिते सकाशाद् उदीरणाप्रयोगेणैव दलिक समाकृष्य उदये प्रक्षिपति सा उदीरणाऽपि पूर्वसूरिभिर्विशेषप्रतिपत्त्यर्थमागाल इत्युच्यते । उदय-उदीरणाभ्या च प्रथमस्थितिमनुभवन् तावद् गतो यावदावलिकाद्विक शेष तिष्ठति, तस्मिंश्च स्थिते आगालो व्यवच्छिद्यते । तत उदीरणैव केवला प्रवर्तते, साऽपि तावद् यावदावलिकाशेषो न भवति । आवलिकाया तु शेषीभूतायामुदीरणाऽपि निवर्तते, तत केवलेनैवोदयेनावलिकामात्रमनुभवति । आवलिकामात्रचरमसमये च द्वितीयस्थितिगत दलिकमनुभागभेदेन त्रिधा करोति । तद्यथा—सम्यक्त्व सम्यग्मिथ्यात्व मिथ्यात्व चेति । उक्त च कर्मप्रकृतिचूर्णौ—

चरमसमयमिच्छदिट्ठी सेकाले उवसमसम्मदिट्ठी होहिई ताहे बिइयठिइ तिहाणुभाग करेइ । त जहा—सम्मत्त सम्मामिच्छत्त मिच्छत्त च । ( ) इति ।

स्थापना— |०००| । ततोऽनन्तरसमये मिथ्यात्वस्योदयाभावाद् औपशमिक सम्यक्त्वमवाप्नोति । उक्त च कर्मप्रकृतौ—

मिच्छत्तुदए खीणे, लहए सम्मत्तमोवसमिय सो ।
लभेण जस्स लब्भइ, आयहियमलद्धपुव्व ज ॥ (गा० ३३०)

अन्यत्राप्युक्तम्—

जात्यन्धस्य यथा पुसश्चक्षुर्लाभे शुभोदये ।
सद्दर्शन तथैवास्य, सम्यक्त्वे सति जायते ॥ ( )
आनन्दो जायतेऽत्यन्त, सात्त्विकोऽस्य महात्मन ।
सद्व्याध्यपगमे यद्वद्व्याधितस्य सदौषधात् ॥ ( )

एष च प्रथमसम्यक्त्वलाभो मिथ्यात्वस्य सर्वोपशमनाद् भवति । उक्त च—

सम्मत्तपढमलभो, सव्वोवसमा—(कर्मप्र० गा० ३३५) इति ।

सम्यक्त्व चेद प्रतिपद्यमान कश्चिद् देशविरतिसहित प्रतिपद्यते, कश्चित् सर्वविरतिसहितम् । उक्त च पञ्चसङ्ग्रहे—

सम्मत्तेण समग, सव्व देस च को वि पडिवज्जे । (गा० ७६०)

---

१ चरमसमयमिथ्यादृष्टिरेष्यत्काले औपशमिकसम्यग्दृष्टिर्भविष्यति तदा द्वितीयस्थितिं त्रिधानुभाग करोति । तद्यथा—सम्यक्त्व सम्यग्मिथ्यात्व मिथ्यात्व च ॥ २ मिथ्यात्वोदये क्षीणे लभते सम्यक्त्वमौपशमिक स । लाभेन यस्य लभ्यत आत्महितमलब्धपूर्व यत् ॥ ३ सम्यक्त्वप्रथमलाभ सर्वोपशमात् ॥ ४ सम्यक्त्वेन समक सर्व देश च कोऽपि प्रतिपद्यते ॥

बृहच्छतकबृहच्चूर्णावप्युक्तम्—

उवसमसम्मद्दिट्ठी, अतरकरणे ठिओ कोइ ॥
देसविरइं पि लहेइ, कोइ पमत्तापमत्तभावं पि ।
सासायणो पुण न किं पि लहेइ । (   ) इति ।

ततो देशविरत-प्रमत्ता-ऽप्रमत्तसयतेष्वपि मिथ्यात्वमुपशान्त लभ्यते ।

सम्प्रति वेदकसम्यग्दृष्टेस्त्रयाणामपि दर्शनमोहनीयानामुपशमनाविधिरुच्यते—इह वेदकसम्यग्दृष्टि सयमे वर्तमान सन् अन्तर्मुहूर्तमात्रेण कालेन दर्शनत्रितयमुपशमयति, उपशमयतश्च करणत्रिकादिविधिर्यथा कर्मप्रकृतिटीकाया तथा वेदितव्य ।

एवमुपशान्तदर्शनमोहनीयत्रिकश्चारित्रमोहनीयमुपशमयितुकाम पुनरपि यथाप्रवृत्तादीनि त्रीणि करणानि करोति । करणाना च स्वरूप प्राग्वत् । केवलमिह यथाप्रवृत्तकरणमप्रमत्तगुणस्थानके द्रष्टव्यम्, अपूर्वकरणमपूर्वकरणगुणस्थानके, अनिवृत्तिकरणमनिवृत्तिबादरसम्परायगुणस्थानके । अत्रापि स्थितिघातादय पूर्ववत्त्वेव प्रवर्तन्ते । नवरमिह सर्वासामशुभप्रकृतीनामबध्यमानाना गुणसङ्क्रम प्रवर्तते इति वक्तव्यम् । अपूर्वकरणाद्धायाश्च सङ्ख्येयतमे भागे गते सति निद्रा प्रचलयोर्बन्धव्यवच्छेद । तत प्रभूतेषु स्थितिखण्डसहस्रेषु गतेषु सत्सु अपूर्वकरणाद्धाया सङ्ख्येया भागा गता भवन्ति एकोऽवशिष्यते । अत्र चान्तरे देवगति-देवानुपूर्वी पञ्चेन्द्रियजाति-वैक्रियशरीर-वैक्रियाङ्गोपाङ्गा-ऽऽहारकशरीरा-ऽऽहारकाङ्गोपाङ्ग-तैजस-कार्मण-समचतुरस्र-वर्णचतुष्का-ऽगुरुलघु-उपघात-पराघात-उच्छ्वास-त्रस-बादर-पर्याप्त प्रत्येक-प्रशस्तविहायोगति-स्थिर-शुभ-सुभग-सुस्वरा-ऽऽदेय-निर्माण-तीर्थकरसज्ञिताना त्रिंशत प्रकृतीना बन्धव्यवच्छेद । तत स्थितिखण्डपृथक्त्वे गते सति अपूर्वकरणाद्धायाश्चरमसमये हास्य-रति-भय-जुगुप्साना बन्धव्यवच्छेद, हास्य-रति-अरति-शोक-भय-जुगुप्सानामुदयव्यवच्छेद, सर्वकर्मणा देशोपशमना निधत्ति-निकाचनाकरणव्यवच्छेदश्च । ततोऽनन्तरसमयेऽनिवृत्तिकरणे प्रविशति, तत्रापि स्थितिघातादीनि पूर्ववत् करोति । ततोऽनिवृत्तिकरणाद्धाया सङ्ख्येयेषु भागेषु गतेषु सत्सु दर्शनसप्तकशेषाणामेकविंशतिमोहनीयप्रकृतीनामन्तरकरण करोति । तत्र चतुर्णां सज्वलनानामन्यतमस्य वेद्यमानस्य सज्वलनस्य त्रयाणा च वेदानामन्यतमस्य वेद्यमानस्य वेदस्य प्रथमा स्थिति स्वोदयकालप्रमाणा, शेषाणा त्वेकादशकषायाणामष्टाना च नोकषायाणामावलिकामात्रम् । स्वोदयकालप्रमाण च चतुर्णां सज्वलनाना त्रयाणा च वेदानामिदम्—स्त्रीवेद-नपुसकवेदयोरुदयकाल सर्वस्तोक, स्वस्थाने च परस्पर तुल्य, तत पुरुषवेदस्य सङ्ख्येयगुण, तत संज्वलनक्रोधस्य विशेषाधिक, तत सज्वलनमानस्य विशेषाधिक, तत सज्वलनमायाया विशेषाधिक, तत सज्वलनलोभस्य विशेषाधिक । इहानिवृत्तिकरणे बहु वक्तव्य, तत्तु ग्रन्थगौरव-

१ औपशमिकसम्यग्दृष्टिरन्तरकरणे स्थित कोऽपि ॥ देशविरतिमपि लभते कोऽपि प्रमत्ताप्रमत्तभावमपि । सास्वादन पुनर्न किमपि लभते ॥

भयाद् नोच्यते, केवल विशेषार्थिना कर्मप्रकृतिटीका निरीक्षितव्या। अन्तरकरण च कृत्वा ततो नपुसकवेदमन्तर्मुहूर्तमात्रेणोपशमयति, ततोऽन्तर्मुहूर्तमात्रेण स्त्रीवेदम्, ततोऽन्तर्मुहूर्तमात्रेण हास्यादिषट्कम्, तस्मिंश्चोपशान्ते तस्मिन्नेव समये पुरुषवेदस्य बन्ध-उदय-उदीरणाव्यवच्छेद, तत समयोनावलिकाद्विकेन पुरुषवेदमुपशमयति। ततो युगपदन्तर्मुहूर्तमात्रेणाप्रत्याख्यानावरण प्रत्याख्यानावरणक्रोधावुपशमयति, तदुपशान्तौ च तत्समयमेव संज्वलनक्रोधोदय-उदीरणाव्यवच्छेद, तत समयोनावलिकाद्विकेन सज्वलनक्रोधमुपशमयति। ततोऽन्तर्मुहूर्तमात्रेणाऽप्रत्याख्यानावरण-प्रत्याख्यानावरणमानौ युगपदुपशमयति, तदुपशान्तौ च तत्समयमेव सज्वलनमानस्य बन्ध-उदय-उदीरणाव्यवच्छेद, तत समयोनावलिकाद्विकेन सज्वलनमानमुपशमयति। ततो युगपदन्तर्मुहूर्तमात्रेणाऽप्रत्याख्यानावरण-प्रत्याख्यानावरणमाये उपशमयति, तदुपशान्तौ च तत्समयमेव सज्वलनमायाया बन्ध-उदय-उदीरणाव्यवच्छेद, तत समयोनावलिकाद्विकेन सज्वलनमायामुपशमयति। ततो युगपदप्रत्याख्यानावरण प्रत्याख्यानावरणलोभावुपशमयति, तत्समयमेव संज्वलनलोभस्य बन्ध-उदय-उदीरणाव्यवच्छेद, तत सज्वलनलोभमुपशमयस्त्रिधा करोति, द्वौ भागौ युगपदुपशमयति, तृतीयभाग सङ्ख्येयखण्डानि करोति, तान्यपि पृथक् पृथक् कालभेदेनोपशमयति, पुन सङ्ख्येयाना खण्डाना किट्टीत्यपरपर्यायाणा चरमखण्डमसङ्ख्येयानि खण्डानि सूक्ष्मकिट्टीत्यपरपर्यायाणि करोति, तत समये समये एकैक खण्डमुपशमयतीति। इह च दशासप्तके उपशान्ते निवृत्तिबादरोऽभिधीयते, तत ऊर्ध्वमनिवृत्तिबादरो यावद् लोभस्यासङ्ख्येयान्तिमचरमखण्डमिति।

प्ररूपिता मोहनीयस्याष्टाविंशतिभेदभिन्नस्याप्युपशमना। सम्प्रति गाथार्थो विवियते—इहोपशमश्रेणिमारम्भको भवत्यप्रमत्तसयत एव। अन्ये तु प्रतिपादयन्ति—अविरत देशविरत प्रमत्ता-ऽप्रमत्तसयतानामन्यतम इति। श्रेणिपरिसमाप्तौ चाविरत-देशविरत प्रमत्ता ऽप्रमत्तसयतानामन्यतमो भवति। स[1] च प्रथम युगपत् "अण" त्ति अनन्तानुबन्धिन क्रोध-मान माया लोभानुपशमयति। ततो दर्श। दर्शस्त्र दर्शं—मिथ्यात्व-सम्यग्मिथ्यात्व-सम्यग्दर्शन युगपदुपशमयति। ततोऽनुदीर्णमपि नपुसकवेदम्। यदि पुरुष प्रारम्भकस्ततत प्रथम नपुसकवेदम्, तत पश्चात् स्त्रीवेदम्, तत 'षट्क' हास्य-रति अरति-शोक-भय-जुगुप्सालक्षणम्, तत पुरुषवेदम्, अथ स्त्री आरम्भिका तत प्रथम नपुसकवेदम्, तत पुरुषवेदम्, तत षट्कम्, तत स्त्रीवेदमिति, अथ नपुसक एव प्रारम्भकस्ततोऽसावनुदीर्णमपि प्रथम स्त्रीवेदमुपशमयति, तत पुरुषवेदम्, तत षट्कम्, ततो नपुसकवेदमिति। पुनश्च द्वौ द्वौ क्रोधाद्यौ 'एकान्तरितौ' सज्वलनविशेषक्रोधाद्यन्तरितौ 'सदृशौ' तुल्यावुपशमयति। अयमर्थ —अप्रत्याख्यानावरण प्रत्याख्यानावरणक्रोधौ सदृशौ क्रोधत्वेन युगपद् उपशमयति, तत सज्वलनक्रोधमेकाकिनम्, ततोऽप्रत्याख्यानावरण-प्रत्याख्यानावरणमानौ युगपदुपशमयति, तत संज्वलनमानम्, ततोऽप्रत्याख्यानावरण प्रत्याख्यानावरणमाये युगपदुपशमयति, तत सज्वलनमायाम्, ततोऽप्रत्याख्यानावरणप्रत्याख्यानावरणलोभौ युगपदुपशमयति, तत सज्वलनलोभमिति। स्थापना चेयम्—

१ स १-२ त० म० छा० °णक्रोधौ तद्° ॥

सज्व० लोभ	
अप्र० लोभ	प्र० लोभ
सज्व० माया	
अप्र० माया	प्र० माया
सज्व० मान	
अप्र० मान	प्र० मान
सज्व० क्रोध	
अप्र० क्रोध	प्र० क्रोध

पुरुषवेद					
हास्य	रति	अरति	शोक	भय	जुगुप्सा

स्त्रीवेद
नपुसकवेद

मिथ्या० मोह०	मिश्रमोह०	सम्य० मोह०	
अन० क्रोध	अन० मान	अन० माया	अन० लोभ

ननु सज्वलनादीना युक्त उपशम, अनन्तानुबन्धिना तु दर्शनप्रभावेवोपशमितत्वाद् न युज्यते, न, दर्शनप्रतिपत्तौ तेषा क्षयोपशमादिह चोपशमादित्यविरोध इति। आह—क्षयोपशम-उपशमयो क प्रतिविशेष ? उच्यते—क्षयोपशमो ह्युदीर्णस्य क्षयोऽनुदीर्णस्य च विपाकानुभवापेक्षयोपशम, प्रदेशानुभवतस्तु उदयोऽस्त्येव, उपशमे तु प्रदेशानुभवोऽपि नास्तीति । यदाह भाष्यपीयूषपाथोधि —

वेएइ संतकम्म,खओवसमिए,ऽत्थ नाणुभाव सो।
उवसंतकसाओ पुण, वेएइ न संतकम्म पि॥[1]
(विशेषा० गा० १२९३)

अन्यत्राप्युक्तम्—

उवसंत कम्म ज, न तओकड्ढेइ न देइ उदए वि ।
न य गमयइ परपगइ, न चेव उक्कड्ढए त तु ॥ ( )

अस्या अक्षरगमनिका—सर्वोपशमेन यदुपशान्त मोहनीय कर्म, अन्यस्य सर्वोपशमायोगात्, "सव्वोवसमो मोहस्स चेव"[2] ( ) इति वचनात्, 'न तदपकर्षति' न तदपवर्तनाकरणेन स्थिति-रसाभ्या हीन करोतीत्यर्थ । अपिशब्दस्य भिन्नक्रमत्वाद् नाप्युदये तद् ददाति नापि तद् वेदयतीत्यर्थ, उपलक्षणात् तदविनाभाविन्यामुदीरणायामपि न ददातीत्यपि मन्तव्यम् । न च बध्यमानसजातीयरूपा परप्रकृतिं सङ्क्रमकरणेन 'गमयति' सङ्क्रमयति । न च तत् कर्म उपशान्त सद् 'उत्कर्षयति' उद्वर्तनाकरणेन स्थिति-रसाभ्या वृद्धिं नयति, निधत्ति निकाचनयोस्तु प्रागपूर्वकरणकाल एव निवृत्तत्वाद् नेहोपशान्तत्वेन तन्निषेध क्रियते इति।

आह—सयतस्यानन्तानुबन्धिनामुदयो निषिद्धस्तत् कथमुपशम ? इति उच्यते—स ह्यनुभागकर्माङ्गीकृत्य न तु प्रदेशकर्मेति । तथा चाभ्यधायि परमगुरुणा—

जीवे ण भते! सयकड कम्म वेएइ ? गोयमा ! अत्थेगइय वेएइ अत्थेगइय न वेएइ । से केणट्ठेण पुच्छा, गोयमा ! दुविहे कम्मे पन्नत्ते, त जहा—पएसकम्मे य अणुभागकम्मे य ।

1. वेदयति सत्कर्म क्षायोपशमिकेऽत्र नानुभाव स । उपशान्तकषाय पुनर्वेदयति न सत्कर्मापि ॥ 2. सर्वोपशमो मोहस्य चैव ॥ 3. एतद्वाक्य कर्मप्रकृत्या ३१८ तमगाथया सवादि ॥ 4. स० १-२ त० म० छु० "माया" ॥ 5. जीवो भदन्त ! स्वयकृत कर्म वेदयति ? गौतम ! अस्त्येकक वेदयति अस्त्येकक न वेदयति । अथ केनार्थेन ? पृच्छा, गौतम ! द्विविध कर्म प्रज्ञप्तम्, तद्यथा—प्रदेशकर्म चानुभागकर्म च । तत्र यत् प्रदेशकर्म तद् नियमाद् वेदयति, तत्र यदनुभागकर्म तदस्त्येकक वेदयति अस्त्येकक न वेदयति ॥

तत्थ ण ज पएसकम्म त नियमा वेएइ, तत्थ ण ज अणुभागकम्म त अत्थेगइय वेएइ अत्थे गइय नो वेएइ" ( ) इत्यादि ।

ततश्च प्रदेशकर्मानुभावोदयस्येहोपशमो द्रष्टव्य । आह—यद्येव संयतस्यानन्तानुबन्ध्युदयत कथ दर्शनविघातो न भवति ? इत्युच्यते—प्रदेशकर्मणो मन्दानुभावत्वात् । तथा कम्य चिदनुभागकर्मानुभावोऽपि नात्यन्तमपकाराय भवन् उपलभ्यते, यथा सम्पूर्णमत्यादिचतुर्ज्ञानिन तदावरणोदय इति । तत सूक्ष्मलोभचरमकिट्टयुपशमे संज्वलनलोभ उपशान्तो भवति, तत्समयमेव च ज्ञानावरणपञ्चक-दर्शनावरणचतुष्का-ऽन्तरायपञ्चक-यश कीर्ति-उच्चैर्गोत्राणा बन्धव्यवच्छेद , ततोऽनन्तरसमयेऽसावुपशान्तकषायो भवति, स च जघन्येनैक समयमात्रमुत्कर्षेण अन्तर्मुहूर्तं काल यावत्, तत ऊर्ध्वं नियमादसौ प्रतिपतति । प्रतिपातश्च द्विधा—भवक्षयेण अद्धाक्षयेण च । तत्र भवक्षयो म्रियमाणस्य, अद्धाक्षय उपशान्ताद्धाया समाप्तायाम् । अद्धाक्षयेण च प्रतिपतन् यथैवारूढस्तथैव प्रतिपतति, यत्र यत्र बन्ध-उदय-उदीरणा व्यवच्छिन्ना-स्तत्र तत्र पतता सता ते आरभ्यन्त इति यावत् । प्रतिपतश्च तावत् प्रतिपतति यावत् प्रमत्तसंयतगुणस्थानकम् । कश्चित् पुनस्ततोऽप्यधस्तन गुणस्थानकद्वय याति, कोऽपि सास्वादनभावमपि । य पुनर्भवक्षयेण प्रतिपतति स प्रथमसमय एव सर्वाण्यपि बन्धनादीनि करणानि प्रवर्तयतीति शेष । उत्कर्षतश्चैकस्मिन् भवे द्वौ वारावुपशमश्रेणिं प्रतिपद्यते । यश्च द्वौ वारावुपशमश्रेणिं प्रतिपद्यते तस्य नियमात् तस्मिन् भवे क्षपकश्रेण्यभाव । य पुनरेक वारं प्रतिपद्यते तस्य क्षपकश्रेणिर्भवेदपि । उक्त च सप्ततिकाचूर्णौ—

जो दुवारे उवसमसेढिं पडिवज्जइ तस्स नियमा तम्मि भवे खवगसेढी नत्थि । जो इक्कसिं उवसमसेढिं पडिवज्जइ तस्स खवगसेढी हुज्जा । ( ) इति ।

एष कार्मग्रन्थिकाभिप्राय । सिद्धान्ताभिप्रायेण त्वेकस्मिन् भवे एकामेव श्रेणिं प्रतिपद्यते । उक्त च कल्पाध्ययने—

> एवं अप्परिवडिए, सम्मत्ते देवमणुयजम्मेसु ।
> अन्नयरसेढिवज्ज, एगभवेण च सवाइ ॥ (बृहत्कल्पभा० गा० १०७)

सर्वाणि सम्यक्त्व-देशविरत्यादीनि । अन्यत्राप्युक्तम्—

> मोहोपशम एकस्मिन्, भवे द्वि स्यादसन्तत ।
> यस्मिन् भवे तूपशम , क्षयो मोहस्य तत्र न ॥ ( ) इति ॥ ९८ ॥

तदेवमभिहिता सप्रपञ्चमुपशमश्रेणि । सम्प्रति क्षपकश्रेणिमभिधित्सुराह—

अण मिच्छ मीस सम्मं, तिआउइगविगलथीणतिगुज्जोयं ।
तिरिनरयथावरदुगं, साहारायवअडनपुत्थी ॥ ९९ ॥

इह क्षपकश्रेणिप्रतिपत्ता मनुष्यो वर्षाष्टकस्योपरि वर्तमानोऽविरतादीनामन्यतमोऽत्यन्तवि-

१ मुद्रि० °क्षयो भवक्षयेण म्रिय° ॥ २ यो द्वौ वारौ उपशमश्रेणिं प्रतिपद्यते तस्य नियमात् तस्मिन् क्षपकश्रेणिर्नास्ति । य सकृदेवोपशमश्रेणिं प्रतिपद्यते तस्य क्षपकश्रेणि भवेत् ॥ ३ एवमपरिपतिते सम्यक्त्वे देवमनुजजन्मनो । अन्यतरश्रेणिवर्जमेकभवेन च सर्वाणि (प्रतिपद्यते) ॥

शुद्धपरिणाम उत्तमसंहनन । तत्र पूर्वविदप्रमत्त शुक्लध्यानोपगतोऽपि प्रतिपद्यते, अपरे तु धर्मध्यानोपगता एवेति । प्रतिपत्तिक्रमश्चायम्—अविरतो देशविरत प्रमत्तसंयतोऽप्रमत्तसंयतो वा प्रथममन्तर्मुहूर्तेन "अण" त्ति अनन्तानुबन्धिन क्रोध-मान-माया लोभान् युगपत् क्षपयति। तदनन्ततमभाग तु मिथ्यात्वे प्रक्षिप्य ततो मिथ्यात्व सहैव तदशेन युगपत् क्षपयति । यथा ह्यतिसम्भृतो दावानल स्वल्पर्धदग्धेन्धन एवेन्धनान्तरमासाद्योभयमपि दहति, एवमसावपि क्षपकस्तीव्रशुभपरिणामत्वात् सावशेषमन्यत्र प्रक्षिप्य क्षपयतीति । एव पुन "मीस" त्ति सम्यग्मिथ्यात्व क्षपयति, ततोऽनेनैव क्रमेण सम्यक्त्व क्षपयति । सम्यक्त्वस्य च चरमस्थितिखण्डे उत्कीर्णे सति असौ क्षपक कृतकरण इत्युच्यते । अस्या च कृतकरणाद्धाया वर्तमान कश्चित् कालमपि कृत्वा चतसृणा गतीनामन्यतमस्या गतावुत्पद्यते । लेश्यायामपि च पूर्व शुक्ललेश्यायामासीत्, सम्प्रत्यन्यतमस्या गच्छति । तदेव प्रस्थापको मनुष्यो निष्ठापकश्चतसृष्वपि गतिषु भवति ।

उक्त च—

पट्ठवगो उ मणुस्सो, निट्ठवगो चउसु वि गईसु ॥ ( )

इह यदि बद्धायु क्षपकश्रेणिमारभतेऽनन्तानुबन्धिना च क्षयादनन्तर मरणसम्भवतो व्युपरमति, तत कदाचिद् मिथ्यात्वोदयाद् भूयोऽप्यनन्तानुबन्धिन उपचिनोति, तद्बीजस्य मिथ्यात्वस्याविनाशात् । क्षीणमिथ्यादर्शनस्तु नोपचिनोति, बीजाभावात् । क्षीणसप्तकस्त्वप्रतिपतितपरिणामोऽवश्य त्रिदशेषूत्पद्यते । प्रतिपतितपरिणामस्तु नानापरिणामसम्भवाद् यथापरिणाममन्यतमस्या गतावुत्पद्यते । उक्त च—

बद्धाऊ पडिवन्नो, पढमकसायक्खए जइ मरिज्जा ।
तो मिच्छत्तोदयओ, चिणिज्ज भूओ न खीणम्मि ॥ (विशेषा० गा० १३१६)
तम्मि मओ जाइ दिव, तप्परिणामो य सत्तए खीणे ।
उवरयपरिणामो पुण, पच्छा नाणामइगईओ ॥ (विशेषा० गा० १३१७)

बद्धायुष्कोऽपि यदि तदानीं काल न करोति तथापि सप्तके क्षीणे नियमादवतिष्ठते, न तु चारित्रमोहनीयक्षपणाय यत्नमारभते । उक्त च—

बद्धाऊ पडिवन्नो, नियमा खीणम्मि सत्तए ठाइ । (विशेषा० गा० १३२५) इति ।

आह पर —ननु मिथ्यादर्शनादिक्षये किमसावदर्शनो जायते ? उत न ? इति, उच्यते—सम्यग्दृष्टिरेवासौ । आह—ननु सम्यग्दर्शनपरिक्षये कुत सम्यग्दृष्टित्वम् ? उच्यते—निर्मदीकृतकोद्रवकल्पा अपनीतमिथ्यात्वभावा मिथ्यात्वपुद्गला एव सम्यग्दर्शन तत्परिक्षये च तत्त्वश्रद्धानलक्षणपरिणामाप्रतिपातात्, प्रत्युत श्लक्ष्णाभ्रपटलापगमे चक्षुर्दर्शनवद् विशुद्धतरापत्ते ।

यदाह भाष्यसुधाम्भोनिधि—

---

१ प्रस्थापकस्तु मनुष्यो निष्ठापकश्चतसृष्वपि गतिषु ॥ २ बद्धायु प्रतिपन्न प्रथमकषायक्षये यदि म्रियेत । तदा मिथ्यात्वोदयतश्चिनुयाद् भूयो न क्षीणे॥ तस्मिन् मृतो याति दिव तत्परिणामश्च सप्तके क्षीणे । उपरतपरिणाम पुन पश्चान्नानामतिगती ॥ ३ बद्धायु प्रतिपन्नो नियमात् क्षीणे सप्तके तिष्ठति ॥

खीणम्मि दसणतिए, किं होइ तओ तिदसणाईओ ? ।
भन्नइ सम्मद्दिट्ठी, सम्मत्तखए कओ सम्म ? ॥
निव्वलियमयणकुद्दवरूव मिच्छत्तमेव सम्मत्त ।
खीण न उ जो भावो, सद्दहणालक्खणो तस्स ॥
सो तस्स विसुद्धयरो, जायइ सम्मत्तपुग्गलक्खयओ ।
दिट्ठि व सण्हसुद्धब्भपडलविगमे मणूसस्स ॥

यदि वा—

जह सुद्धजलाणुगय, दुद्ध सुद्ध जलक्खए सुतर ।
सम्मत्तसुद्धपुग्गलपरिक्खए दसण एव ॥ (विशेषा०भा०गा०१३१८–२१)
तम्मि य तइय चउत्थे, भवम्मि सिज्झति खइयसम्मत्ते ।
सुरनरयजुगलिसु गई, इम तु जिणकालियनराण ॥ (   )

तदेव सप्तकक्षयोऽविरतसम्यग्दृष्टौ देशविरते प्रमत्तसंयतेऽप्रमत्तसंयते वा प्राप्यते । यदि पुनरबद्धायु क्षपकश्रेणिमारभते तत सप्तके क्षीणे नियमादनुपरतपरिणाम एव चारित्रमोहनीयक्षपणाय यत्नमारभते । उक्त च भाष्यकृता—

इयरो अणुवरओ च्चिय, सयलिं सेढिं समाणेइ । (विशेषा० भा० गा० १३२५)

तत्र य सकलश्रेणिं करोति तस्य क्षपकस्य निजनिजभवे सुर-नारक तिर्यगायुस्त्रय व्यवच्छिन्नमेव । उक्त च—

सुरनरयतिरियआउ, निययभवे सव्वजीवाण ॥ (   ) इति ।

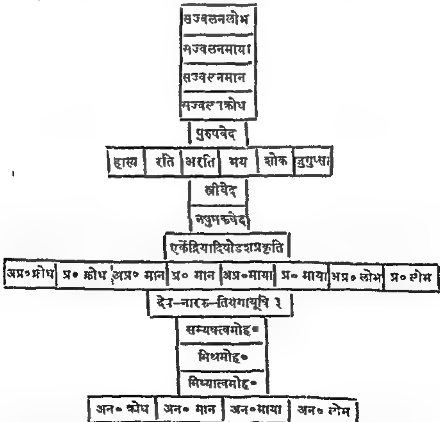
एतदेवाह—"तिआउ" त्ति देवायु -नारकायु -तिर्यगायुर्लक्षणमायुस्त्रयम्, स च क्षपक स्वरूपसम्यग्दर्शनावशेष एव "अड" त्ति अष्टप्रकृती —अप्रत्याख्यानावरण प्रत्याख्यानावरणकषायरूपा युगपत् क्षपयितुमारभते। एतासु चार्धक्षपितास्वेवान्तराले त्रयोदश नामप्रकृतीस्तिस्रो दर्शनावरणप्रकृतीरुभयी षोडश प्रकृती क्षपयति । तथाहि—"इगविगल" इत्यादि । "इग" त्ति एकेन्द्रियजाति , त्रिकशब्दस्य प्रत्येक सम्बन्धाद् विकलत्रिकम्–द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रियजातिलक्षण स्त्यानर्द्धित्रिक–निद्रानिद्रा प्रचलाप्रचला-स्त्यानर्द्धिरूप "जोय" त्ति उद्योतनाम, द्विकशब्दस्य प्रत्येक सम्बन्धात् तिर्यग्द्विक–तिर्यग्गति-तिर्यगानुपूर्वीरूप नरकद्विक–नरकगति नरकानुपूर्वीरूप स्थावरद्विक–स्थावर-सूक्ष्माख्य "साहार" त्ति साधारणनाम आतपनामेति । ततो यदष्टाना कषायाणा यावदवशिष्ट तत् क्षपयति, सर्वमिदमन्तर्मुहूर्तमात्रेण क्षपयति, एष

१ क्षीणे दर्शनत्रिके किं भवति स त्रिदर्शनातीत ? । भण्यते, सम्यग्दृष्टि, सम्यक्त्वक्षये कुत सम्यक्त्वम् ? ॥ निर्मदनीकृतमदनकोद्रवरूप मिथ्यात्वमेव सम्यक्त्वम् । क्षीण न तु यो भाव श्रद्धानलक्षणस्तस्य ॥ स तस्य विशुद्धतरो जायते सम्यक्त्वपुद्गलक्षयत । दृष्टिरिव श्लक्ष्णशुद्धाभ्रपटलविगमे मनुष्यस्य ॥ यथा शुद्धजलानुगत दुग्ध शुद्ध जलक्षये सुतराम् । सम्यक्त्वशुद्धपुद्गलपरिक्षये दर्शनमेवम् ॥ तस्मिंश्च तृतीये चतुर्थे भवे सिध्यति क्षायिकसम्यक्त्वे । सुरनारकयुग्मिषु गतिरिद तु जिनकालीननराणां ॥ २ इतरोऽनुपरत एव सकलां श्रेणि समापयति ॥ ३ सुरनिरयतिर्यगायूंषि निजकभवे सर्वजीवानाम् ॥

सूत्रादेश । अन्ये पुनराहु —षोडश कर्माण्येव पूर्वं क्षपयितुमारभते, केवलमपान्तरालेऽष्टौ कषायान् क्षपयति, पश्चात् षोडश कर्माणीति, ततो "नपु" त्ति नपुंसकवेद क्षपयति, तत स्त्रीवेदमिति ॥ ९९ ॥

छग पुं संजलणा दो, निद्दा विग्घवरणक्खए नाणी ।
देविंदसूरिलिहियं, सयगमिणं आयसरणट्ठा ॥ १०० ॥

तत 'षट्क' हास्य-रति-अरति-शोक-भय-जुगुप्सालक्षणम्, तत पुंवेद खण्डत्रय करोति, तत्र खण्डद्वय युगपत् क्षपयति, तृतीयखण्ड तु सज्वलनक्रोधे प्रक्षिपति, पुरुषे प्रतिपत्तर्येष क्रम । अथ स्त्री प्रारम्भिका तत प्रथम नपुंसकवेद क्षपयति, तत पुरुषवेदम्, ततो हास्यादिषट्कम्, तत स्त्रीवेदम् । अथ नपुंसक प्रारम्भक ततोऽसावनुदीर्णमपि प्रथम स्त्रीवेद क्षपयति, तत पुरुषवेदम्, ततो हास्यादिषट्कम्, ततो नपुंसकवेदम् । तत सज्वलनान् क्रोध-मान-माया-लोभलक्षणान् प्रत्येकमन्तर्मुहूर्तमात्रकालेनोक्तेनैव न्यायेन क्षपयति । श्रेणिपरिसमाप्तिकालोऽप्यन्तर्मुहूर्तमेव, अन्तर्मुहूर्तानामसंख्येयभेदत्वात् । लोभचरमखण्ड तु संख्येयानि खण्डानि कृत्वा पृथक् पृथक् कालभेदेन क्षपयति । चरमखण्ड पुनरसंख्येयानि खण्डानि करोति, तान्यपि समये समय एकैक क्षपयति । स्थापना चेयम्—



इह च क्षीणदर्शनसप्तको निवृत्तिबादर उच्यते, तत ऊर्ध्वमनिवृत्तिबादरो यावच्चरमलोभखण्डमिति, तत ऊर्ध्वमसंख्येयखण्डानि क्षपयन् सूक्ष्मसम्परायो यावच्चरमलोभाणुरय, तत्र ऊर्ध्वं

यथाख्यातचारित्री, स च महाप्रतरणपरिश्रान्तवद् मोहसागरं तीर्त्वा विश्राम्यति। ततश्छद्मस्थ-वीतरागत्वद्विचरमसमये "दो निद्द" त्ति 'द्वे निद्रे' निद्रा प्रचलालक्षणे क्षपयति, ततश्चरमसमये "विग्धवरणक्खए" त्ति विघ्नानि–दान-लाभ-भोग-उपभोग-वीर्यान्तरायलक्षणानि "वरण" त्ति प्राकृतत्वादाकारलोपे आवरणानि–मतिज्ञानावरण श्रुतज्ञानावरणा-ऽवधिज्ञानावरण मन पर्याय ज्ञानावरण-केवलज्ञानावरण चक्षुर्दर्शनावरणा-ऽचक्षुर्दर्शनावरणा-ऽवधिदर्शनावरण-केवलदर्शनाव रणलक्षणानि नव, ततो विघ्नानि चावरणानि च विघ्नावरणानि तेषा क्षये–निर्मूलोच्छेदेन 'ज्ञानी' केवलज्ञानी भवति। यदाहु श्रीमदाराध्यपादाः—

चरमे नाणावरण, पचविह दसण चउवियप्प।
पचविहमतराय, खवइत्ता केवली होइ ॥ (आव० नि० गा० १२६)

इदमुक्त भवति—अविरतादीनामन्यतर प्रथमसहनन सुविशुद्धपरिणाम क्षपकश्रेणिमारूढो गुणस्थानक्रमेणानन्तानुबन्ध्यादीनुक्तप्रकारेण क्षपयन् यावत् क्षीणमोहचरमसमये विघ्नपञ्चक-ज्ञानावरणपञ्चक-दर्शनावरणचतुष्क क्षपयित्वा सर्वसङ्ख्यया तु ज्ञानावरणपञ्चक-दर्शनावरणनवक-मोहनीयाष्टाविंशति आयुष्कि-नामप्रकृतित्रयोदशका ऽन्तरायपञ्चकलक्षणास्त्रिषष्टिप्रकृती क्षपयित्वा केवलज्ञानी भवति। स च भगवान् भवस्थकेवली लोकमलोक सर्वं सर्वात्मनाऽविकल-विमलकेवलेन पश्यति, न हि तदस्ति भूत भवद् भविष्यद्वा यद् भगवान्न पश्यति। यदाहु श्रीमदाराध्यपादाः—

संभिन्न पासंतो, लोगमलोग च सव्वओ सव्व।
त नत्थि ज न पासइ , भूय भव्व भविस्स च ॥ (आव० नि० गा० १२७)

इत्थभूतश्च सयोगिकेवली जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तमुत्कर्षतो देशोना पूर्वकोटी विहृत्य अयोगिकेवलिगुणस्थानकमारुह्य तद्द्विचरमसमये द्वासप्ततिप्रकृती तच्चरमसमये त्रयोदशप्रकृतीश्च क्षपयित्वा शिवमचलमरुजमक्षयमव्याबाधममन्दानन्दरससारमासादयतीति, उक्ता क्षपकश्रेणि। तद्वर्णने च व्याख्याता "नमिय जिण धुवबधोदयसंता" इत्यादिद्वारगाथा। सम्प्रति शतगाथाप्रमाणत्वेन यथार्थनामक शतकशास्त्र समर्थयन्नाह—"देविंदसूरिलिहिय, सयगमिण आयसरणट्ठ" त्ति देवेन्द्रसूरिणा–करालकलिकालपातालतलावमज्जद्विशुद्धधर्मधुरोद्धरणधुरीणश्रीमज्जगच्चन्द्रसूरिचरणसरसीरुहचञ्चरीककल्पेन लिखितम्–अक्षरविन्यासीकृतम्, कर्मप्रकृति-पञ्चसङ्ग्रह बृहच्छतकादिशास्त्रेभ्य इति शेष। किम् ? इत्याह—'शतक' शतगाथाप्रमाणम् 'इदम्' अधुनैव व्याख्यातस्वरूपम्। किमर्थम् ? इत्याह—'आत्मस्मरणार्थम्' आत्मस्मृतिनिमित्तमिति ॥१००॥

॥ इति श्रीमद्देवेन्द्रसूरिविरचिता स्वोपज्ञशतकटीका ॥

---

१ चरमे ज्ञानावरण पञ्चविध दर्शन चतुर्विकल्पम्। पञ्चविधमन्तराय क्षपयित्वा केवली भवति ॥
२ सम्पूर्ण पश्यन् लोकमलोक च सर्वत सर्वम्। तन्नास्ति यन्न पश्यति भूत भवद्भविष्यद्वा ॥

(॥ अथ प्रशस्तिः ॥)

विष्णोरिव यस्य विभो , पदत्रयी व्यानशे जगन्निखिलम् ।
शतमखशतकप्रणत , स श्रीवीरो जिनो जयतु ॥
कुन्दोज्ज्वलकीर्तिभर , सुरभीकृतसकलविष्टपाभोग ।
लब्धिशतसिन्धुजलधि , श्रीगौतमगणधरः पातु ॥
तदनु सुधर्मस्वामी, जम्बू-प्रभवादयो मुनिवरिष्ठा ।
श्रुतजलनिधिपारीणा , भूयास श्रेयसे सन्तु ॥
क्रमात् प्राप्ततपाचार्येत्यभिख्या भिक्षुनायका ।
समभूवन् कुले चान्द्रे, श्रीजगच्चन्द्रसूरय ॥
जगज्जनितबोधाना, तेषा शुद्धचरित्रिणाम् ।
विनेया समजायन्त, श्रीमद्देवेन्द्रसूरय ॥
स्वान्ययोरुपकाराय, श्रीमद्देवेन्द्रसूरिणा ।
स्वोपज्ञशतकटीका, सुबोधेय विनिर्ममे ॥
विबुधवरधर्मकीर्ति-श्रीविद्यानन्दसूरिमुख्यबुधै ।
स्वपरसमयैककुशलैस्तदैव सशोधिता चेयम् ॥
यद् गदितमल्पमतिना, सिद्धान्तविरुद्धमिह किमपि शास्त्रे ।
विद्वद्भिस्तत्त्वज्ञै , प्रसादमाधाय तच्छोध्यम् ॥
स्वोपज्ञशतकटीका, कृत्वेमा यन्मयाऽर्जित सुकृतम् ।
भुवबन्धादिविमुक्त , समस्तु सर्वोऽपि तेन जन ॥

ग्रन्थाग्रम्-४३४०

समाप्तोऽय स्वोपज्ञटीकोपेत शतकनामा पञ्चम कर्मग्रन्थ ।

शिव भवतु सकल-
सङ्घस्य

॥ अर्हम् ॥

नम कर्मतत्त्ववेदिभ्य पूर्वसूरिभ्य ।

नम श्रीमद्विजयानन्दसूरीशपट्टप्राप्तप्रतिष्ठिभ्य श्रीमद्विजयवल्लभसूरिभ्य ।

महर्षिश्रीमच्चन्द्रर्षिमहत्तरविरचित

सप्ततिकाप्रकरणम् ।

पूज्यश्रीमन्मलयगिरिमहर्षिविनिर्मितविवृतिसमलङ्कृतम् ।

ॐ सर्वविदे नमः ।

अशेपकर्मांशतम समूहक्षयाय भास्वानिव दीप्ततेजा ।
प्रकाशिताशेपजगत्स्वरूप, प्रभु स जीयाज्जिनवर्धमानः ॥
जीयाज्जिनेशसिद्धान्तो, मुक्तिकामप्रदीपन ।
कुश्रुत्यातपतप्ताना, सान्द्रो मलयमारुत ॥
चूर्णयो नावगम्यन्ते, सप्ततेर्मन्दबुद्धिभि ।
तत स्पष्टावबोधार्थं, तस्याष्टीका करोम्यहम् ॥
अहर्निश चूर्णिविचारयोगाद्, मन्दोऽपि शक्तो विवृतिं विधातुम् ।
निरन्तर कुम्भनिघर्षयोगाद्, ग्रावाऽपि कूपे समुपैति घर्षम् ॥

इह यत् शास्त्र प्रकरण वा सर्वविन्मूल तत् प्रेक्षावतामुपादेय भवति, नान्यत् । तत सप्ततिकाख्य प्रकरणमारभमाण आचार्य प्रेक्षावता प्रकरणविपये उपादेयबुद्धिपरिग्रहार्थं प्रकरणस्य सर्वविन्मूलताम्, तथा सर्वविन्मूलत्वेऽपि न प्रेक्षापूर्वकारिणोऽभिधेयादिपरिज्ञानमन्तरेण यथाकथञ्चित् प्रवर्तन्ते प्रेक्षावत्ताक्षतिप्रसङ्गात्, ततस्तेषा प्रवृत्त्यर्थमभिधेयादिक च प्रतिपिपादयिषुरिदमाह—

सिद्धपएहिँ महत्थ, बंधोदयसतपयडिठाणाण ।
वोच्छं सुण सखेव, नीसद दिट्ठिवायस्स ॥ १ ॥

सिद्ध–प्रतिष्ठित चालयितुमशक्यमित्येकोऽर्थ । तत सिद्धानि पदानि येपु ग्रन्थेपु ते सिद्धपदा –कर्मप्रकृतिप्राभृतादयः, न हि तेषा पदानि केश्चिदपि चालयितु शक्यन्ते, तेषा सर्वज्ञोक्तार्थानुसारित्वात् तेभ्यो बन्ध-उदय सत्प्रकृतिस्थानाना सक्षेप वक्ष्ये । अथवा स्वसमये सिद्धानि–प्रसिद्धानि यानि जीवस्थान-गुणस्थानरूपाणि पदानि तानि सिद्धपदानि तेभ्य तान्याश्रित्य तेपु विषय इत्यर्थ । अत्र स्थाने "गम्ययप कर्माधारे" (सिद्धहे० २–२–७४)

---

१ °स० १ त० °त् तस्य प्रव° ॥ २ स० १ त० म० छा० वुच्छ ॥ ३ सं० १ त० निस्सद ॥

इति सूत्रेण पञ्चमी, यथा प्रासादात् प्रेक्षते इत्यत्र । तत्र बन्धो नाम—कर्मपरमाणूनामात्मप्रदेशैः सह वह्न्ययःपिण्डवदन्योऽन्यानुगमः १ । कर्मपरमाणूनामेव विपाकप्राप्तानामनुभवनमुदयः २ । तथा बन्धसमयात् सङ्क्रमेणात्मलाभसमयाद्वा आरभ्य यावत् ते कर्मपरमाणवो नान्यत्र सङ्क्रम्यन्ते यावद् वा न क्षयमुपगच्छन्ति तावत् तेषां स्वस्वरूपेण यः सद्भावः सा सत्ता ३ । सदिति सूत्रे निर्देशो भावप्रधान, तेन सदिति सत्ता व्याख्याता। प्रकृतीनां स्थानानि—समुदाया प्रकृतिस्थानानि द्वि-त्र्यादिप्रकृतिसमुदाया इत्यर्थ, स्थानशब्दोऽत्र समुदायवाची । बन्ध-उदय-सत्तासु प्रकृतिस्थानानि बन्ध-उदय-सत्ताप्रकृतिस्थानानि तेषां सक्षेप वक्ष्ये । त च वक्ष्यमाण शृणु। 'शृणु' इति क्रियापद च श्रोतृणा कथञ्चिदनाभोगवशत प्रमादसम्भवेऽप्याचार्येण नोद्विजितव्यम्, किन्तु सुमधुरवचोभि शिक्षानिबन्धनै श्रोतृणां मनांसि प्रह्लाद्य यथार्हमागमार्थो निवेदनीय इति ज्ञापनार्थम् । तदुक्तम्—

> अणुवत्तणाएँ सेहा, पाय पावेंति जोग्गय परम ।
> रयण पि गुणुकरिसं, उवेइ सोहम्मणगुणेण ॥
> एत्थ य पमायखलिया, पुव्वब्भासेण कस्स व न होंति[१] ।
> जो तेऽवणेइ सम्म, गुरुत्तण तस्स सफल ति ॥
> को नाम सारहीण, स होज्ज जो भद्दवाइणो दमए ।
> दुट्ठे वि य जो आसे, दमेइ त सारहिं बेंति ॥ (पञ्चव० गा० १७–१९)

संक्षेपस्यैव विशेषणार्थमाह—'महार्थं' महान्—प्रभूतोऽर्थ —अभिधेय यस्य स महार्थ । ननु संक्षेपो विस्तरार्थसङ्ग्रहरूप, तत स महार्थ एव भवतीति किमर्थं महार्थमिति विशेषणम्[१] इत्युक्तम्, संक्षेपस्यान्यथाऽपि सम्भवात् । तथाहि—आर्यादा ऽऽलापक-सङ्ग्रहण्य संक्षेपरूपा दृश्यन्ते न च महार्था, तत्तात्पर्यार्थस्याल्पीयस्त्वात्, ततस्तत्कल्पममु संक्षेप मा ज्ञासीद् विनेयजन इत्यमहार्थत्वाऽऽशङ्कापनोदार्थं महार्थमिति विशेषणम् ।

पुनरप्यमु विशेषयति—'निस्यन्द दृष्टिवादस्य' दृष्टिवादमहार्णवस्य बिन्दुभूत–निस्यन्दरूपम् । दृष्टिवादो हि परिकर्म १ सूत्र २ प्रथमानुयोग ३ पूर्वगत ४ चूलिका ५ रूपपञ्चमस्थान । तत्र पूर्वेषु मध्ये द्वितीये अग्रायणीयाभिधाने चतुर्दशवस्तुसमन्विते पूर्वे यत् पञ्चमं वस्तु विंशतिप्राभृतपरिमाण तस्य चतुर्थं यत् कर्मप्रकृतिनामक चतुर्विंशत्यनुयोगद्वारमय प्राभृत तत्रादिमे त्रयो बन्धादय सूत्रकृता लेशतो वक्ष्यन्ते । ततोऽय बन्ध-उदय-सत्प्रकृतिस्थानाना संक्षेपो दृष्टिवादस्य निस्यन्दरूप । अनेन च प्रकरणस्य सर्वविन्मूलता ख्यापिता द्रष्टव्या। दृष्टिवादो हि भगवता परमार्हन्त्यमहिम्ना विराजमानेन वीरवर्धमानस्वामिना साक्षादर्थतोऽभिहित, सूत्रतस्तु सुधर्मस्वामिना, तन्निस्यन्दरूप चेद प्रकरणमत सर्वविन्मूलमिति ॥ १ ॥

---

१ स० १ त० °म १। तथा कर्म° ॥ २ स० १ स० त० म० छा० °णां स्वरूपेण ॥
३ अनुवर्तनया शैक्षा प्राय प्राप्नुवन्ति योग्यतां परमाम् । रत्नमपि गुणोत्कर्षमुपैति शोधकगुणेन ॥ अत्र च प्रमादस्खलितानि पूर्वाभ्यासेन कस्य वा न भवन्ति ? । यस्तानि अपनयति सम्यग् गुरुत्व तस्य सफलमिति ॥ को नाम सारथीनां स भवेद् यो भद्रवाजिनो दमयेत् ? । दुष्टानपि च याऽश्वान् दमयति त सारथिं ब्रुवते ॥

ननु बन्ध-उदय-सत्प्रकृतिस्थानाना सक्षेपोऽभिधातव्य किं प्रत्येकम् ? आहोस्वित् सवेधरूप ? उच्यते—सवेधरूप , तथा चामुमेव सवेधरूप सक्षेप विवक्षु शिष्यान् प्रश्न कारयति—

कइ बंधंतो वेयइ, कइ कइ वा पयडिसंतठाणाणि।
मूलुत्तरपगईसुं, भंगविगप्पा उ बोधव्वा ॥ २ ॥

कतिशब्द परिमाणपृच्छायाम् । कति कर्मप्रकृतीर्बध्नन् कति कर्मप्रकृतीर्वेदयते ? कति वा तथातथाबध्नतो वेदयमानस्य च 'प्रकृतिसत्कर्मस्थानानि' प्रकृतिसत्तास्थानानि ? । एव शिष्यै प्रश्ने कृते सति आचार्योऽस्मिन् विषये भङ्गजालमनेकप्रकार वचोमात्रेण यथावत् प्रतिपादयितुमशक्य जानान सामान्येनैव प्रत्युत्तरमाह—"मूल" इत्यादि । मूलप्रकृतिषु—ज्ञानावरण-दर्शनावरणादिरूपासु उत्तरप्रकृतिषु च—मतिज्ञानावरण-श्रुतज्ञानावरणादिरूपासु, उभयीषु च वक्ष्यमाणस्वरूपासु प्रत्येक बन्ध-उदय-सत्ता-सवेधमधिकृत्य चिन्त्यमानासु बहवो भङ्गा सम्भवन्ति, ते चास्मिन् प्रकरणे यथावद् वैविक्त्येन प्रतिपाद्यमाना सम्यग् बोद्धव्या । तत्र मूलप्रकृतयोऽष्टौ, तद्यथा—ज्ञानावरण दर्शनावरण वेदनीय मोहनीयम् आयु नाम गोत्रम् अन्तराय च । तत्र ज्ञायते—परिच्छिद्यते वस्तु अनेनेति ज्ञान—सामान्य-विशेषात्मके वस्तुनि विशेषग्रहणात्मको बोध , आव्रियतेऽनेनेत्यावरण—मिथ्यात्वादिसचिवजीवव्यापाराहृतकर्मवर्गणान्त पाती विशिष्टपुद्गलसमूह , ज्ञानस्यावरण ज्ञानावरणम् १ । तथा दृश्यतेऽनेनेति दर्शन—सामान्य-विशेषात्मके वस्तुनि सामान्यग्रहणात्मको बोध , तस्यावरण दर्शनावरणम् २ । तथा वेद्यते—आह्लादिरूपेणानुभूयते यत् तद् वेदनीय, यद्यपि च सर्वं कर्म वेद्यते तथापि पङ्कजादिशब्दवद् वेदनीयशब्दस्य रूढिविषयत्वात् सातासातरूपमेव कर्म वेदनीयमित्युच्यते न शेषम् ३ । तथा मोहयति—सत्सद्विवेकविकल करोत्यात्मानमिति मोहनीयम्, कृत् "बहुलम्" (सिद्धहे० ५-१-२) इति वचनात् कर्तर्यनीय ४ । तथा एति—गच्छत्यनेन गत्यन्तरमित्यायु , यद्वा एति—आगच्छति प्रतिबन्धकता स्वकृतकर्मावाप्तनरकादिकुगतिनिष्क्रमितुमनसो जन्तोरित्यायु , उभयत्रापि औणादिको पुंस् प्रत्यय ५ । तथा नामयति—गत्यादिपर्यायानुभवन प्रति प्रवणयति जीवमिति नाम ६ । तथा गूयते—शब्द्यते उच्चावचै शब्दैरात्मा यस्मात् तद् गोत्रम् ७ । तथा जीव दानादिक चान्तरा एति न जीवस्य दानादिक कर्तुं ददातीत्यन्तरायम् ८ । एता मूलप्रकृतय ।

एतासु प्रथमतो बन्ध-उदय-सत्ता अधिकृत्य प्रकृतिस्थानप्ररूपणा क्रियते, प्रकृतिस्थानेषु हि प्रथम प्ररूपितेषु सत्सु तदाश्रित सवेध प्ररूप्यमाण सुखेनेवावगन्तु शक्यते । तत्र मूलप्रकृतीनामुक्तस्वरूपाणा बन्ध प्रतीत्य चत्वारि प्रकृतिस्थानानि । तद्यथा—अष्टौ सप्त षड् एका च । तत्र सर्वप्रकृतिसमुदायोऽष्टौ, एतासा च बन्धो जघन्योत्कर्षेणान्तर्मुहूर्तप्रमाण , आयुषि हि बध्यमानेऽष्टाना प्रकृतीना बन्ध प्राप्यते, आयुषश्च बन्धोऽन्तर्मुहूर्तमेव काल भवति न ततोऽप्यधिकम् । तथा ता एवाष्टावायुर्वर्जा सप्त, एतासा च बन्धो जघन्येनान्तर्मुहूर्तं यावद्, उत्कर्षेण च त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि षण्मासोनानि अन्तर्मुहूर्तोनपूर्वकोटित्रिभागाभ्यधिकानि । तथा ता एवा-

१ सं० मुमु प्र०, ॥ २ स० १ त० °त्वारि बन्धस्था° ॥ ३ स० मुद्रि० बन्धोऽन्त°॥

प्रावायु मोहनीयवर्जा षट्, एतासा च बन्धो जघन्येनैक समयम्, तथाहि—एतासामुक्तरूपाणा षण्णा प्रकृतीना बन्ध सूक्ष्मसम्पराये, स च उपशमश्रेण्या कश्चिदेक समय भूत्वा द्वितीये समये भवक्षयेण दिव गत सन् अविरतो भवति, अविरतत्वे चावश्य सप्तप्रकृतीना बन्ध इति षण्णा बन्धो जघन्येनैक समय यावत्, उत्कर्षेण त्वन्तर्मुहूर्तम्, सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानकस्यान्तर्मुहूर्तप्रमाणत्वात्। तथा सप्ताना प्रकृतीना बन्धव्यवच्छेदे एकस्या वेदनीयरूपाया प्रकृतेर्बन्ध, स च जघन्येनैक समयम्, एकसमयता चोपशमश्रेण्यामुपशान्तमोहगुणस्थाने प्रागुक्तप्रकारेण भावनीया, उत्कर्षेण पुनर्देशोना पूर्वकोटिं यावत्।

स चोत्कर्षत कस्य वेदितव्य ? इति चेद् उच्यते—यो गर्भवासे माससप्तकमुषित्वाऽनन्तर शीघ्रमेव योनिनिष्क्रमणजन्मना जातो वर्षाष्टकाच्चोपरि सयम प्रतिपन्न, प्रतिपत्त्यनन्तर च क्षपकश्रेणिमारुह्योत्पादितकेवलज्ञानदर्शन, तस्य सयोगिकेवलिनो वेदितव्य।

तदेव बन्धमाश्रित्य प्रकृतिस्थानप्ररूपणा कृता। सम्प्रति कस्या प्रकृतौ बध्यमानायां कति प्रकृतिस्थानानि बन्धमाश्रित्य प्राप्यन्ते ? इति निरूप्यते—तत्रायुषि बध्यमानेऽष्टावपि प्रकृतयो नियमेन बध्यन्ते। मोहनीये तु बध्यमानेऽष्टौ सप्त वा। तत्राष्टौ सर्वा प्रकृतय, ता एवायुर्वर्जा सप्त। ज्ञानावरण-दर्शनावरण-नाम-गोत्रा ऽन्तरायेषु बध्यमानेषु अष्टौ सप्त षड् वा। तत्राष्टौ सप्त च प्रागिव। मोहनीया-ऽऽयुर्वर्जा षट्, ताश्च सूक्ष्मसम्पराये प्राप्यन्ते। वेदनीये तु बध्यमानेऽष्टौ सप्त षड् एका च। तत्राष्टौ सप्त षट् च प्रागिव। एका तु सैव वेदनीयरूपा प्रकृति, सा चोपशान्तमोहगुणस्थानकादौ प्राप्यते। उक्त च—

आउम्मि अट्ठ मोहेऽट्ठ सत्त एक्क च छाइ वा तइए।
बज्झतयम्मि बज्झति सेसएसु छ सत्तऽट्ठ॥ (पञ्चसं०गा०८३८)

सम्प्रति उदयमाश्रित्य प्रकृतिस्थानप्ररूपणा क्रियते—उदय प्रति त्रीणि प्रकृतिस्थानानि, तद्यथा—अष्टौ सप्त चतस्र। तत्र सर्वप्रकृतिसमुदायोऽष्टौ, तासा चोदयोऽभव्यानधिकृत्य अनाद्यपर्यवसित, भव्यानधिकृत्यानादिसपर्यवसान, उपशान्तमोहगुणस्थानकात् प्रतिपतितानधिकृत्य पुन सादिसपर्यवसान, स च जघन्येनान्तर्मुहूर्तप्रमाण, उपशमश्रेणीत प्रतिपतितस्य पुनरप्यन्तर्मुहूर्तेन कस्यापि उपशमश्रेणिप्रतिपत्ते, उत्कर्षेण तु देशोनापार्धपुद्गलपरावर्त। तथा ता एवाष्टौ मोहनीयवर्जा सप्त, तासामुदयो जघन्येनैक समयम्, तथाहि—सप्तानामुक्तस्वरूपाणां प्रकृतीनामुदय उपशान्तमोहे क्षीणमोहे वा प्राप्यते, तत्र कश्चिद् उपशान्तमोहगुणस्थानके एक समय स्थित्वा द्वितीये समये भवक्षयेण दिव गच्छन् अविरतो भवति, अविरतत्वे चावश्यमष्टाना प्रकृतीनामुदय, तत सप्तानामुदयो जघन्येनैक समय यावत् प्राप्यते। उत्कर्षेण त्वन्तर्मुहूर्तम्, उपशान्तमोहगुणस्थानकस्य क्षीणमोहगुणस्थानकस्य वा सप्तोदयहेतोरान्तर्मौहूर्तिकत्वात्। तथा घातिकर्मवर्जाश्चतस्र प्रकृतय, तासामुदयो जघन्येनान्तर्मौहूर्तिक, उत्कर्षेण तु देशोनपूर्वकोटिप्रमाण।

१ मुद्रि० °सवसरा° एवमग्रेऽपि॥ २ सं० १ त० सप्तानां प्रकृ°॥ ३ स०१त म० °कस्योप॥ ४ आयुषि अष्टौ मोहेऽष्टौ सप्तैक च षडादयो वा तृतीये। बध्यमाने बध्यन्ते शेषेषु षट् सप्ताष्टौ॥

तदेवं कृता उदयमधिकृत्य प्रकृतिस्थानप्ररूपणा । सम्प्रति कस्या प्रकृतेरुदये कति प्रकृतिस्थानान्युदयमाश्रित्य प्राप्यन्ते ? इति निरूप्यते—तत्र मोहनीयस्योदयेऽष्टानामप्युदय , मोहनीयवर्जाना त्रयाणा घातिकर्मणामुदये अष्टाना सप्ताना वा । तत्राष्टाना सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानक यावत्, सप्तानामुपशान्तमोहे क्षीणमोहे वा, वेदनीया-ऽऽयु नाम-गोत्राणामुदयेऽष्टाना सप्ताना चतसृणा वा उदय । तत्राष्टाना सूक्ष्मसम्पराय यावत्, सप्तानामुपशान्तमोहे क्षीणमोहे वा, चतसृणामेतासामेव वेदनीयादीना सयोगिकेवलिनि अयोगिकेवलिनि च ।

सम्प्रति सत्तामधिकृत्य प्रकृतिस्थानप्ररूपणा क्रियते—सत्ता प्रति त्रीणि प्रकृतिस्थानानि । तद्यथा—अष्टौ सप्त चतस्र । तत्र सर्वप्रकृतिसमुदायोऽष्टौ, एतासा चाष्टाना सत्ता अभव्यानधिकृत्य अनाद्यपर्यवसाना, भव्यानधिकृत्य अनादिसपर्यवसाना । तथा मोहनीये क्षीणे सप्ताना सत्ता, सा च जघन्योत्कर्षेणान्तर्मुहूर्तप्रमाणा, सा हि क्षीणमोहे, क्षीणमोहगुणस्थानक चान्तर्मुहूर्तप्रमाणमिति । घातिकर्मचतुष्टयक्षये च चतसृणा सत्ता, सा च जघन्येनान्तर्मुहूर्तप्रमाणा, उत्कर्षेण पुनर्देशोनपूर्वकोटिमाना ।

कृता सत्तामधिकृत्य प्रकृतिस्थानप्ररूपणा । सम्प्रति कस्या प्रकृतौ सत्या कति प्रकृतिस्थानानि सत्तामधिकृत्य प्राप्यन्ते ? इति निरूप्यते—मोहनीये सत्यष्टानामपि सत्ता, ज्ञानावरणदर्शनावरणा-ऽन्तरायाणा सत्ताया अष्टाना सप्ताना वा सत्ता । तत्राष्टानामुपशान्तमोहगुणस्थानक यावत्, मोहनीये क्षीणे सप्ताना, सा च क्षीणमोहगुणस्थानके । वेदनीया-ऽऽयु -नाम-गोत्राणा सत्तायामष्टाना सप्ताना चतसृणा वा सत्ता । तत्राष्टाना सप्ताना च भावना प्रागिव, चतसृणा सत्ता वेदनीयादीनामेव, सा च सयोगिकेवलिगुणस्थानके अयोगिकेवलिगुणस्थानके च द्रष्टव्या ॥२॥

सम्प्रति बन्ध-उदय-सत्ताप्रकृतिस्थानाना परस्पर संवेधप्ररूपणार्थमाह—

अट्ठविहसत्तछब्बंधगेसु अट्ठेव उदयसंताइ ।
एगविहे तिविगप्पो, एगविगप्पो अबंधम्मि ॥ ३ ॥

अष्टविधबन्धक-सप्तविधबन्धक-षड्विधबन्धकेषु प्रत्येकमुदये सत्तायां चाष्टौ कर्माणि प्राप्यन्ते । कथम् ? इति चेद् उच्यते—इहाष्टविधबन्धका अप्रमत्तान्ता , सप्तविधबन्धका अनिवृत्तिबादरसम्परायपर्यवसाना , षड्विधबन्धकाश्च सूक्ष्मसम्पराया , एते च सर्वेऽपि सरागा । सरागत्व च मोहनीयोदयाद् उपजायते, उदये च सत्यवश्य सत्ता, ततो मोहनीयोदये सत्तासम्भवाद् अष्टविध-सप्तविध-षड्विधबन्धकेष्ववश्यमुदये सत्ताया चाष्टौ प्राप्यन्ते । एतेन च त्रयो भङ्गा दर्शिता , तद्यथा—अष्टविधो बन्ध अष्टविध उदय अष्टविधा सत्ता । एष विकल्प आयुर्बन्धकाले, एष च मिथ्यादृष्ट्यादीनामप्रमत्तान्तानामवसेयो न शेषाणाम्, आयुर्बन्धासम्भवात् । तथा सप्तविधो बन्धोऽष्टविध उदयोऽष्टविधा सत्ता, एष विकल्प आयुर्बन्धाभावे, एष च मिथ्यादृष्ट्यादीनामनिवृत्तिबादरसम्परायान्तानामवसेय ।तथा षड्विधो बन्धोऽष्टविध उदयोऽष्टविधा सत्ता, एष विकल्प सूक्ष्मसम्परायाणाम् । "एगविहे तिविगप्पो" त्ति 'एकविधे' एकप्रकारे बन्धे

१ सं० १ मुद्रि० सा चाज° ॥ २ सं० छा० मुद्रि० °क्षये चत° ॥ ३ सं० त० °दयसत्ता° ॥

एकस्मिन् केवले वेदनीये बध्यमाने इत्यर्थ , 'त्रिविकल्प ' इति समाहारद्विगुत्वेऽप्यार्षत्वात् पुंस्त्व-निर्देश , त्रयो विकल्पा भवन्तीत्यर्थ । तद्यथा—एकविधो बन्ध सप्तविध उदयोऽष्टविधा सत्ता, एष विकल्प उपशान्तमोहगुणस्थानके प्राप्यते, तत्र हि मोहनीयस्योदयो न विद्यते, सत्ता पुन रस्ति । तथा एकविधो बन्ध सप्तविध उदय सप्तविधा सत्ता, एष विकल्प क्षीणमोहगुणस्थानके प्राप्यते, तत्र हि मोहनीयस्य नि शेषतोऽपगमात् । तथा एकविधो बन्धश्चतुर्विध उदयश्चतुर्विधा सत्ता, एष पुनर्विकल्प सयोगिकेवलिगुणस्थानके, तत्र घातिकर्मणामनैवयवशोऽपगमात् चतसृणा चाघातिप्रकृतीनामुदये सत्ताया च प्राप्यमाणत्वात् । "एगविगप्पो अबंधम्मि" त्ति 'अबन्धे' बन्धाभावे एक एव विकल्प , तद्यथा—चतुर्विध उदयश्चतुर्विधा सत्ता, एष चायोगि-केवलिगुणस्थानके प्राप्यते, तत्र हि योगाभावाद् बन्धो न भवति, उदय सत्त्वे चाघातिकर्मणा भवत ॥ ३ ॥

तदेव मूलप्रकृतीरधिकृत्य बन्ध-उदय-सत्प्रकृतिस्थानाना परस्पर संवेधे सप्त विकल्पा उक्ता । सम्प्रति एतानेव जीवस्थानेषु चिन्तयन्नाह—

सत्तट्ठबंधअट्ठुदयसत तेरससु जीवठाणेसु ।
एगम्मि पंच भंगा, दो भंगा हुंति केवलिणो ॥ ४ ॥

इह जीवस्थानानि चतुर्दश, तद्यथा—अपर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रिय १ पर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रिय २ अपर्याप्तबादरैकेन्द्रिय ३ पर्याप्तबादरैकेन्द्रिय ४ अपर्याप्तद्वीन्द्रिय ५ पर्याप्तद्वीन्द्रिय ६ अप-र्याप्तत्रीन्द्रिय ७ पर्याप्तत्रीन्द्रिय ८ अपर्याप्तचतुरिन्द्रिय ९ पर्याप्तचतुरिन्द्रिय १० अपर्याप्तास ज्ञिपञ्चेन्द्रिय ११ पर्याप्तासंज्ञिपञ्चेन्द्रिय १२ अपर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रिय १३ पर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रिय १४ इति । एतानि च समयक्ष षडशीतिकवृत्तौ व्याख्यातानीति नेह भूयो व्याख्यायन्ते । तत्र त्रयो दशसु आद्येषु जीवस्थानेषु प्रत्येक द्वौ द्वौ विकल्पौ भवत , तद्यथा—सप्तविधो बन्ध अष्टविध उदय अष्टविधा सत्ता, एष विकल्प आयुर्बन्धकाल मुक्त्वा शेषकाल सर्वदैव लभ्यते, अष्टविधो बन्ध अष्टविध उदय अष्टविधा सत्ता, एष विकल्प आयुर्बन्धकाले, एष चान्तर्मौहूर्तिक , आयु र्बन्धकालस्य जघन्येनोत्कर्षेण चान्तर्मुहूर्तप्रमाणत्वात् । "एगम्मि पंच भंग" त्ति 'एकस्मिन्' पर्या-प्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रियलक्षणे पञ्च भङ्गा भवन्ति । तत्रादिमौ द्वौ भङ्गौ प्रागिव भावनीयौ, त्रयस्तु शेषा इमे—षड्विधो बन्ध अष्टविध उदय अष्टविधा सत्ता, एष विकल्प सूक्ष्मसम्परायस्य उपशमश्रेण्या क्षपकश्रेण्या वा वर्तमानस्य वेदितव्य , तथा एकविधो बन्ध सप्तविध उदय अष्टविधा सत्ता, एष विकल्प उपशान्तमोहगुणस्थानके प्राप्यते, तथा एकविधो बन्ध सप्तविध उदय सप्तविधा सत्ता, एष च क्षीणमोहगुणस्थानके । तथा द्वौ भङ्गौ भवत केवलिनि , तद्यथा—एकविधो बन्धश्चतुर्विध उदयश्चतुर्विधा सत्ता, एष विकल्प सयोगिकेवलिनि , बन्धाभावे चतुर्विध उदय-श्चतुर्विधा सत्ता, एष विकल्पोऽयोगिकेवलिनि । इह केवलिग्रहण संज्ञित्वव्यवच्छेदार्थम् , द्वौ भङ्गौ

१ सं० छा० °नके प्राप्यते तत्र ॥ २ सामस्त्येनेत्यर्थ ॥

भवत केवलिनो न तु सज्ञिन इत्यर्थ । अत एव च केवलिग्रहणादिदमवसीयते केवली मनोविज्ञानरहितत्वात् सज्ञी न भवतीति ॥ ४ ॥

सम्प्रति तानेव सप्त विकल्पान् गुणस्थानकेषु चिन्तयन्नाह—

अट्ठसु एगविगप्पो, छस्सु वि गुणसन्निएसु दुविगप्पो ।
पत्तेयं पत्तेयं, बंधोदयसंतकम्माणं ॥ ५ ॥

इह गुणस्थानकानि चतुर्दश, तानि च षडशीतिकवृत्तौ सविस्तरमभिहितानीति नेह भूयोऽभिधीयन्ते । तत्राष्टसु गुणस्थानकेषु सम्यग्मिथ्यादृष्टि अपूर्वकरणा-ऽनिवृत्तिबादर सूक्ष्मसम्पराय-उपशान्तमोह क्षीणमोह-सयोगिकेवलि अयोगिकेवलिलक्षणेषु प्रत्येक बन्ध-उदय-सत्कर्मणामेको विकल्पो भवति, तद्यथा—सम्यग्मिथ्यादृष्टि-अपूर्वकरणा-ऽनिवृत्तिबादरेषु सप्तविधो बन्ध अष्टविध उदय अष्टविधा सत्ता । अथैतेषु अष्टविधोऽपि बन्ध कस्माद् न भवति [1] उच्यते—स्वभावत एवैषामायुर्बन्धयोग्याध्यवसायस्थानशून्यत्वात् । सूक्ष्मसम्पराये षड्विधो बन्ध अष्टविध उदय अष्टविधा सत्ता, सूक्ष्मसम्परायो हि बादरकषायोदयाभावाद् आयुर्मोहनीय च न बध्नाति, ततस्तस्य षड्विध एव बन्धो भवति । उपशान्तकषायस्य एकविधो बन्ध सप्तविध उदय अष्टविधा सत्ता, यत उपशान्तमोह कषायोदयाभावाद् न ज्ञानावरणीयादि बध्नाति, किन्तु वेदनीयमेक केवलम्, ततस्तत्रैकविध एव बन्धो भवति, मोहनीयस्य चोपशान्तत्वेनोदयाभावाद् उदय सप्तविध । क्षीणमोहस्य एकविधो बन्ध सप्तविध उदय सप्तविधा सत्ता, अत्र मोहनीय क्षीणत्वाद् उदये सत्तायां च न प्राप्यते, तत सप्तविध उदय सप्तविधा सत्ता । सयोगिकेवलिनि एकविधो बन्धश्चतुर्विध उदयश्चतुर्विधा सत्ता, केवली हि चतसृणामपि घातिप्रकृतीना क्षयेण भवति, ततस्तस्य चतुर्विध एवोदयश्चतुर्विधैव सत्ता । अयोगिकेवलिनो बन्धो न भवति योगाभावात्, ततश्चतुर्विध उदयश्चतुर्विधा सत्ता । तथा षट्सु गुणसन्नितेषु 'गुणस्थानकेषु' मिथ्यादृष्टि-सासादना-ऽविरतसम्यग्दृष्टि-देशविरत-प्रमत्ता-ऽप्रमत्तरूपेषु प्रत्येक बन्ध-उदय-सत्कर्मणां द्वौ द्वौ विकल्पौ भवत, तद्यथा—अष्टविधो बन्ध अष्टविध उदय अष्टविधा सत्ता, एष विकल्प आयुर्बन्धकाले, एतेषां ह्यायुर्बन्धयोग्याध्यवसायस्थानसम्भवाद् आयुर्बन्ध उपपद्यते । तथा सप्तविधो बन्ध अष्टविध उदय अष्टविधा सत्ता, एष विकल्प आयुर्बन्धकाल मुक्त्वा शेषकाल सर्वदा लभ्यते ॥ ५ ॥

तदेव मूलप्रकृतीरधिकृत्य बन्ध-उदय-सत्प्रकृतिस्थानाना परस्पर सवेध उक्त स्वामित्व च । सम्प्रति उत्तरप्रकृतीरधिकृत्य [3] बन्ध-उदय-सत्प्रकृतिस्थानाना परस्पर सवेध प्रोच्यते [4]—

१ स० १ त० °यस्योप° ॥ २ छा० मुद्रि० °व च सत्ता ॥ ३ स० °त्य प्रोच्य° ॥
४ इत ऊर्ध्वम्—"पच नव दुन्नि अट्ठावीसा चउरो तहेव बायाला । दुन्नि य पच य भणिया, पयडीओ आणुपुव्वीए ॥" इत्यष्टकर्मोत्तरप्रकृतिसूचक गाथासूत्र अस्मत्पार्श्ववर्तित्रिपाठपुस्तकादर्शेष्वेव दृश्यते, विरलताडपत्रीयकागदोपरिलिखितसूत्रगाथाटीकामिश्र (शुद्ध) पुस्तकादर्शेषु तु नोपलभ्यते । यदत्र श्रीमद्भि

उत्तरप्रकृतयश्चैमा , तद्यथा—मतिज्ञानावरण श्रुतज्ञानावरणम् अवधिज्ञानावरण मन पर्यवज्ञानावरण केवलज्ञानावरणम्, एताश्च पञ्चापि ज्ञानावरणस्योत्तरप्रकृतय । तत्र "मन ज्ञाने" मनन मति , यद्वा मन्यते—इन्द्रिय-मनोद्वारेण नियत वस्तु परिच्छिद्यतेऽनयेति मति , योग्यदेशावस्थितवस्तुविषय इन्द्रिय-मनोनिमित्तोऽवगमविशेष , मतिश्च सा ज्ञान च मतिज्ञान तस्यावरण मतिज्ञानावरणम् १ । श्रवण—श्रुत अभिलाप्यप्लावितार्थग्रहणहेतुरुपलब्धिविशेष , 'एवमाकार वस्तु घटशब्दाभिलाप्य जलधारणाद्यर्थक्रियासमर्थम्' इत्यादिरूपतया प्रधानीकृतत्रिकालसाधारणसमानपरिणाम शब्दार्थपर्यालोचनानुसारी इन्द्रिय मनोनिमित्तोऽवगमविशेष इत्यर्थ , श्रुत च तद् ज्ञान च श्रुतज्ञान तस्यावरण श्रुतज्ञानावरणम् २ । तथा अवशब्दोऽध शब्दार्थ , अव—अधोऽधो विस्तृत वस्तु धीयते—परिच्छिद्यतेऽनेनेति अवधि , यद्वा अवधि —मर्यादा रूपिष्वेव द्रव्येषु परिच्छेदकतया प्रवृत्तिरूपा, तदुपलक्षित ज्ञानमपि अवधि, अवधिश्च तद् ज्ञान च अवधिज्ञान तस्यावरण अवधिज्ञानावरणम् ३ । तथा परि —सर्वतोभावे, अवन अव , तुदादिभ्योऽनकावित्यधिकारे अकितौ चेत्यनेनौणादिकोऽकारप्रत्यय , अव गमन वेदनमिति पर्याया , परि अव पर्यव , मनसि मनसो वा पर्यव मन पर्यव सर्वतस्तत्परिच्छेद इत्यर्थ , मन पर्यवश्च स ज्ञान च मन पर्यवज्ञानम्, इद चार्धतृतीयद्वीपसमुद्रान्तर्वर्तिसज्ञिमनोगतद्रव्यालम्बनमवसेयम्, मन पर्यायज्ञानमित्येवमप्येतदुच्यते, तत्र मनस पर्याया —बाह्यवस्त्वालोचनप्रकारा धर्मा मन पर्याया , तेषु तेषा वा सम्बन्धि ज्ञान मन पर्यायज्ञानम्, तस्यावरण मन पर्यायज्ञानावरण मन पर्यवज्ञानावरण वा ४ । तथा केवलम्—एक मत्यादिज्ञाननिरपेक्षत्वात् "नट्ठम्मि उ छाउमत्थिए नाणे" (आव० नि० गा० ५३९) इति वचनात्, शुद्ध वा केवल तदावरणमलकलङ्कापगमात्, सकल वा केवल प्रथमत एवाशेषतदावरणविगमत सम्पूर्णोत्पत्ते , असाधारण वा केवल अनन्यसदृशत्वात्, अनन्त वा केवल ज्ञेयानन्तत्वात् , केवल च तद् ज्ञान च केवलज्ञानम् , तस्यावरण केवलज्ञानावरणम् ५॥

दर्शनावरणस्य नवोत्तरप्रकृतय , तद्यथा—निद्रा १ निद्रानिद्रा २ प्रचला ३ प्रचलाप्रचला ४ स्त्यानर्द्धि ५ चक्षुर्दर्शनावरणम् ६ अचक्षुर्दर्शनावरणम् ७ अवधिदर्शनावरण ८ केवलदर्शनावरण च ९ । तत्र "द्रा कुत्साया गतौ" नितरा द्राति—कुत्सितत्वम् अविस्पष्टत्व गच्छति चैतन्य यस्या सा निद्रा, भिदादित्वादङ्, यस्या नखच्छोटिकामात्रेण स्वप्नु प्रबोध उपजायते सा स्वापावस्था निद्रा, तद्विपाकवेद्या कर्मप्रकृतिरपि निद्रा, कारणे कार्योपचारात् १ । तथा निद्रातोऽतिशायिनी निद्रा निद्रानिद्रा, मयूरव्यसकादित्वाद् मध्यपदलोपी समास , तस्या हि चैतन्यस्यात्यन्तमस्फुटीभूतत्वाद् बहुभिर्घोलनाप्रकारै प्रबोध उपजायते, अत सुखप्रबोधहेतुनिद्रातोऽस्या अतिशायिनीत्वम्, तद्विपाकवेद्या कर्मप्रकृतिरपि निद्रानिद्रा २ । तथा उपविष्ट ऊर्ध्वस्थितो वा प्रचलति—विघूर्णते यस्या स्वापावस्थाया सा प्रचला, तद्विपाकवेद्या कर्मप्रकृति-

मलयगिरिभिरष्टकर्मोत्तरप्रकृतीना विवेचन कृतमस्ति तद् यद्यपि उपर्युक्तगाथानुसारि दृश्यते तथापि तद्विहितायगाथा याख्यानशैल्या अस्यामदर्शनात् प्रसङ्गत कृतमिति प्रतिभाति । अत सम्भाव्यते केनापि विदुषा अष्टकर्मोत्तरप्रकृतिनिबद्ध गाथासूत्र प्रक्षिप्तमिति ॥ १ स० १ स० म० °मशब्दा° ॥ २ स० १ स० म० °परि सर्व° ॥ ३ स० छा० °वश्च तद् ज्ञा° ॥ ४ नष्टे तु छाद्मस्थिके ज्ञाने ॥

रपि प्रचला ३ । तथा प्रचलातोऽतिशायिनी प्रचरा प्रचलाप्रचला, अत्रापि मध्यपदलोपी समास, एषा हि चङ्क्रमणमपि कुर्वत उपतिष्ठते, तत स्थानस्थितस्वप्तृभवप्रचलापेक्षया अस्या अतिशायिनीत्वम्, तद्विपाकवेद्या कर्मप्रकृतिरपि प्रचलाप्रचला ४ । तथा स्त्याना–पिण्डीभूता ऋद्धि –आत्मशक्तिरूपा यस्या स्वापावस्थाया सा स्त्यानर्द्धि, तद्भावे हि उत्कर्षत प्रथमसहननस्य केशवार्धबलसदृशी शक्तिर्भवति, श्रूयते चेतत् कथानकमागमे—

क्वचित् प्रदेशे कोऽपि क्षुल्लको विपाकप्राप्तस्त्यानर्द्धिनिद्रासहितो द्विरदेन दिवा खलीकृत, तत स तस्मिन् बद्धाभिनिवेशो रजन्या स्त्यानर्द्ध्युदये वर्तमान समुत्थाय तद्दन्तयुगलमुत्पाट्य स्वोपाश्रयद्वारि च प्रक्षिप्य पुन सुप्तवान् इत्यादि ।

तद्विपाकवेद्या कर्मप्रकृतिरपि स्त्यानर्द्धि ५ । तथा चक्षुषा दर्शन चक्षुर्दर्शनम्, तस्यावरण चक्षुर्दर्शनावरणम् ६ । अचक्षुषा–चक्षुर्वर्जशेषेन्द्रिय मनोभिर्दर्शनमचक्षुर्दर्शनम्, तस्यावरणमचक्षुर्दर्शनावरणम् ७ । अवधिरेव दर्शन–रूपिद्रव्यसामान्यग्रहणमवधिदर्शनम्, तस्यावरणमवधिदर्शनावरणम् ८ । केवलमेव–सकलजगद्भाविवस्तुस्तोमसामान्यग्रहणरूप दर्शन केवलदर्शनम्, तस्यावरण केवलदर्शनावरणम् ९ । अत्र निद्रापञ्चक प्राप्ताया दर्शनलब्धेरुपघातकृत्, चक्षुर्दर्शनावरणादिचतुष्टय तु मूलत एव दर्शनलब्धिमुपहन्ति । आह च **गन्धहस्ती**—

निद्रादय समधिगताया एव दर्शनलब्धेरुपघाते वर्तन्ते, दर्शनावरणचतुष्टय तु उद्गमोच्छेदित्वात् समूलघात हन्ति दर्शनलब्धिमिति ॥

(तत्त्वा०अ०८सू०८ भाष्यटी०भाग०२पत्र१३५) ॥

वेदनीयस्य द्वे उत्तरप्रकृती, तद्यथा—सातवेदनीयमसातवेदनीय च । तत्र सात–सुख तद्रूपेण यद् वेद्यते तत् सातवेदनीयम् १ । असात–दुःख तद्रूपेण यद् वेद्यते तद् असातवेदनीयम् २ ॥

मोहनीयस्योत्तरप्रकृतयोऽष्टाविंशति । मोहनीय हि द्विधा, तद्यथा—दर्शनमोहनीय चारित्रमोहनीय च । दर्शनमोहनीयमपि त्रिधा, तद्यथा—मिथ्यात्व सम्यग्मिथ्यात्व सम्यक्त्व च । तत्र यदुदयाद् जिनप्रणीततत्त्वाश्रद्धान तद् मिथ्यात्वम् १ । यदुदयात् पुनर्जिनप्रणीत तत्त्व न सम्यक् श्रद्धत्ते नापि निन्दति, मतिदौर्बल्यादिना सम्यगसम्यग् वा एकान्तेन निश्चयाकरणत सम्यक्श्रद्धानैकान्तविप्रतिपत्त्ययोगात् तत् सम्यग्मिथ्यात्वम् २ । उक्त च **शतकबृहच्चूर्णौ**—

जेहा नालिकेरदीववासिस्स अइखुहाइयस्स वि पुरिसस्स एत्थ ओयणाइए अणेगविहे ढोइए तस्स आहारस्स उवरिं न रुई न य निंदा, जेण कारणेण

---

१ स० १ त० म० "स्य उद्गमोच्छेदित्वात् समूलघात दर्श" ॥

२ यथा नालिकेरद्वीपवासिनोऽतिक्षुधार्दितस्यापि पुरुषस्य अत्र ओदनादिकेऽनेकविधे ढौकिते तस्याहारस्योपरि न रुचिर्न च निन्दा, येन कारणेन स ओदनादिक आहारो न कदाचिद् दृष्टो नापि श्रुत, एव सम्यग्मिथ्यादृष्टेरपि जीवादिपदार्थानामुपरि न रुचिर्न च निन्दा ॥

मनुष्याणाम् । वैक्रियनिबन्धन नाम वैक्रियनाम २ । तथा चतुर्दशपूर्वविदा तीर्थकरस्फातिदर्शनादिकतथाविधप्रयोजनोत्पत्तौ सत्या विशिष्टलब्धिवशाद् आह्रियते-निर्वर्त्यते इत्याहारकम्, कृत् "बहुलम्" (सिद्धहे० ५-१-२) इति वचनात्, कर्मणि बुन् यथा पादहारक इत्यादौ, तच्च वैक्रियापेक्षयाऽत्यन्तशुभ स्वच्छस्फटिकशिलेव शुभ्रपुद्गलसमूहघटनात्मक वस्तुप्रतिनिम्बाधारभूतम्, तन्निबन्धन नाम आहारकनाम ३ । तथा तेजसा-तेज पुद्गलैर्निर्वृत्त तैजसम्, यद् भुक्ताहारपरिणमनहेतु यद्वशाच्च विशिष्टतपोमाहात्म्यसमुत्थलब्धिविशेषस्य पुसस्तेजोलेश्यानिनिर्गम तन्निबन्धन नाम तैजसनाम ४ । तथा कर्मणो विकार कार्मणम्, कर्मपरमाणव एवात्मप्रदेशै सह क्षीर-नीरवदन्योऽन्यानुगता सन्त कार्मण शरीरम् । तदुक्त—

> कम्मविगारो कम्मणमट्ठविहविचित्तकम्मनिप्फन्न ।
> सव्वेसि सरीराण, कारणभूयमुणेयव्व ॥ (अनुयो० हा० टी० पत्र ८७)

अत्र "सव्वेसिं" इति सर्वेषाम्-औदारिकादीना शरीराणा 'कारणभूत' बीजभूत कार्मणशरीरम् । न खल्वामूलमुच्छिन्ने भवप्रपञ्चप्ररोहबीजभूते कार्मणे वपुषि शेषशरीरप्रादुर्भावसम्भव ।

इद च कार्मणशरीर जन्तोर्गत्यन्तरसङ्क्रान्तौ साधकतम करणम्, तथाहि—कार्मणेनैव वपुषा परिकरितो जन्तुर्मरणदेशमपहाय उत्पत्तिदेशमभिसर्पति। ननु यदि कार्मणवपु परिकरितो गत्यन्तर सङ्क्रामति तर्हि स गच्छन्नागच्छन् वा कस्मात् नोपलक्ष्यते ? उच्यते—कर्मपुद्गलानामतिसूक्ष्मतया चक्षुरादीन्द्रियागोचरत्वात् । आह च प्रज्ञाकरगुप्तोऽपि—

> अन्तरा भवदेहोऽपि, सूक्ष्मत्वान्नोपलक्ष्यते ।
> निष्कामन् प्रविशन् वापि, नाभावोऽनीक्षणादपि ॥ ( )

तन्निबन्धन नाम कार्मणनाम, यदुदयात् कर्मप्रायोग्यान् पुद्गलानादाय कर्मरूपतया च परिणमय्य जीवप्रदेशै सहान्योऽन्यानुगमरूपतया सम्बन्धयति ५ ।

तथा अङ्गान्यष्टौ शिर प्रभृतीनि, तदुक्तम्—

> सीसमुरोयर पिट्ठी, दो बाहू ऊरुया य अट्ठगा । (बृहत्कर्म०वि०गा०९१)

अङ्गुल्यादीन्युपाङ्गानि, शेषाणि तु तत्प्रत्यवयवभूतानि अङ्गुलिपर्व रेखादीनि अङ्गोपाङ्गानि । अङ्गानि च उपाङ्गानि च अङ्गोपाङ्गानि, अङ्गोपाङ्गानि च अङ्गोपाङ्गानि च अङ्गोपाङ्गानि, "स्यादावसङ्ख्येय" (सिद्धहे० ३-१-११०) इत्येकशेष, तन्निबन्धन नाम अङ्गोपाङ्गनाम । तत् त्रिधा, तद्यथा—औदारिकाङ्गोपाङ्गनाम वैक्रियाङ्गोपाङ्गनाम आहारकाङ्गोपाङ्गनाम । तत्र यदुदयाद् औदारिकशरीरत्वेन परिणतानां पुद्गलानामङ्गोपाङ्गविभागपरिणतिरुपजायते तद् औदारिकाङ्गोपाङ्गनाम १, एव वैक्रिया-ऽऽहारकाङ्गोपाङ्गनाम्नी अपि २-३ भावनीये । तैजस-कार्मणयोस्तु जीवप्रदेशसस्थानानुरोधित्वाद् नाङ्गोपाङ्गसम्भव इति न तन्निबन्धनमङ्गोपाङ्गनाम ।

---

१ सं० सं १ त० °त्मक तन्नि° ॥ २ कर्मविकार कार्मणमष्टविधविचित्रकर्मनिष्पन्नम् । सर्वेषा शरीराणा कारणभूत ज्ञातव्यम् ॥ ३ सं० १ त० प्र० °यति तत् कार्मणशरीरनामेत्यर्थ ॥ ४ शीर्षमुर उदर पृष्ठि द्वौ बाहू ऊरुकौ च अष्ट अङ्गानि ॥ ५ सं० छा० मुद्रि० °धन नाम ॥

तथा बध्यतेऽनेनेति बन्धनम्, यदुदयाद् औदारिकादिपुद्गलाना पूर्वगृहीताना गृह्यमाणाना च परस्परमन्यशरीरपुद्गलैश्च सह सम्बन्ध । तत् पञ्चधा, तद्यथा—औदारिकबन्धन वैक्रियबन्धनम् आहारकबन्धन तैजसबन्धन कार्मणबन्धनम् । तत्र यदुदयाद् औदारिकपुद्गलाना पूर्वगृहीताना गृह्यमाणाना च परस्पर तैजसादिशरीरपुद्गलैश्च सह सम्बन्ध तद् औदारिकबन्धनम् १ । एव वैक्रियबन्धनम् २ आहारकबन्धन ३ च भावनीयम् । यदुदयात् पुनस्तैजसपुद्गलाना पूर्वगृहीताना गृह्यमाणाना च परस्पर कार्मणशरीरपुद्गलैश्च सह सम्बन्धस्तत् तैजसबन्धनम् ४ । यदुदयात् कर्मपुद्गलाना पूर्वगृहीताना गृह्यमाणाना च परस्पर सम्बन्धस्तत् कार्मणबन्धनम् ५ । केचित् पुनर्बन्धनस्य पञ्चदश भेदानाचक्षते, ते च पञ्चसङ्ग्रहादिग्रन्थतो वेदितव्या ।

तथा सङ्घात्यन्ते—पिण्डीक्रियन्ते औदारिकादिपुद्गला येन तत् सङ्घातम्, तच्च तन्नाम च सङ्घातनाम, तच्च पञ्चधा, तद्यथा—औदारिकसङ्घातनाम वैक्रियसङ्घातनाम आहारकसङ्घातनाम तैजससङ्घातनाम कार्मणसङ्घातनाम । तत्र यदुदयाद् औदारिकपुद्गला ये यत्र योग्यास्तान् तत्र सङ्घातयति, यथा—शिरोयोग्यान् शिरसि पादयोग्यान् पादयो शेषाङ्गयोग्यान् शेषाङ्गेषु तद् औदारिकसङ्घातनाम । एव वैक्रियसङ्घातनामादिष्वपि भावनीयम् ।

तथा सहनन—अस्थिरचनाविशेष , तच्चौदारिकशरीरे एव नान्येषु शरीरेषु, तेषा अस्थिरहितत्वात् । तच्च षोढा, तद्यथा—वज्रर्षभनाराचम् ऋषभनाराच नाराचम् अर्धनाराच कीलिका सेवार्तं च । तत्र वज्र—कीलिका, ऋषभ—परिवेष्टनपट्ट , नाराचम्—उभयतो मर्कटबन्ध ।

उक्त च—

> रिसहो य होइ पट्टो, वज्ज पुण कीलिया मुणेयव्वा ।
> उभओ मक्कडबधो, नाराय त वियाणाहि ॥ (बृहत्कर्म०वि०गा०१०९)

ततश्च द्वयोरस्थ्नोरुभयतो मर्कटबन्धेन बद्धयो पट्टाकृतिना तृतीयेनास्थ्ना परिवेष्टितयोरुपरि तदस्थित्रयभेदि कीलिकाख्य—वज्रनामकमस्थि यत्र भवति तद् वज्रर्षभनाराचम्, तन्निबन्धन नाम वज्रर्षभनाराचनाम १ । यत् पुन कीलिकारहित सहनन तद् ऋषभनाराचम्, तन्निबन्धन नाम ऋषभनाराचनाम २ । यत्र पुनर्मर्कटबन्ध एव केवलो भवति न पुन कीलिका ऋषभसज्ञ पट्टश्च तद् नाराचम्, तन्निबन्धन नाम नाराचनाम ३ । यत्र त्वेकपार्श्वेन मर्कटबन्धो द्वितीयपार्श्वेन च कीलिका भवति तद् अर्धनाराचम्, तन्निबन्धन नाम अर्धनाराचनाम ४ । यत्र त्वस्थीनि कीलिकामात्रनिबद्धान्येव भवन्ति तत् कीलिकासहननम्, तन्निबन्धन नाम कीलिकानाम ५ । यत्र तु परस्पर पर्यन्तसस्पर्शलक्षणां सेवामागतान्यस्थीनि भवन्ति स्नेहाभ्यवहारतैलाभ्यङ्गविश्रामणादिरूपा च परिशीलना नित्यमपेक्षन्ते यत्र तत् सेवार्तम् तन्निबन्धन नाम सेवार्तनाम ६ ।

तथा सस्थानम्—आकारविशेष , तच्च षोढा, तद्यथा—समचतुरस्र न्यग्रोधपरिमण्डल सादि वामन कुब्ज हुण्ड चेति । तत्र समा —यथोक्तप्रमाणाश्चतस्रोऽस्रय —चतुर्दिग्विभागोपलक्षिता

---

१ ऋषभस्तु भवति पट्टो वज्र पुन कीलिका ज्ञातव्या । उभयतो मर्कटबन्धो नाराच तद् विजानीहि ॥ २ स० छा० म० °बद्धा° ॥ ३ छा० °त्यमियर्ति येन त° ॥

कामिन्या पादेनापि स्पृष्टस्तुष्यति ततो व्यभिचार इति चेद्, न, तत्तोषस्य मोहनीयनिब न्धनत्वात्, वस्तुस्थितिश्चेह चिन्त्यते ततोऽदोष ।

तथा यदुदयवशाद् जीवस्य स्वर श्रोत्रप्रीतिहेतुरुपजायते तत् सुस्वरनाम । यदुदया स्वर कर्णकटु प्रादुर्भवति तद् दु स्वरनाम ।

यदुदयवशाद् अनुपकार्यपि सर्वस्य मन प्रियो भवति तत् सुभगनाम । यदुदयवशाद् उप कारकृदपि जनस्य द्वेष्यो भवति तद् दुर्भगनाम, उक्त च—

अणुवकए वि बहूण, होइ पिओ तस्स सुभगनामुदओ ।
उवगारकारगो वि हु, न रुच्चई दूभगस्सुदए ॥
सुभगुदए वि हु कोई, कची आसज्ज दुब्भगो जइ वि ।
जायइ तद्दोसाओ, जहा अभवाण तित्थयरो ॥ ( )

यदुदयवशाद् यत् किञ्चिदपि ब्रुवाण सर्वस्योपादेयवचनो भवति दर्शनसमनन्तरमेव च लोकोऽभ्युत्थानादि समाचरति तद् आदेयनाम । यदुदयवशाद् उपपन्नमपि ब्रुवाणो नोपादेय-वचनो भवति, न च लोकोऽभ्युत्थानादि तस्य करोति तद् अनादेयनाम ।

यदुदयवशाद् मध्यस्थजनप्रशस्यो भवति तद् यश कीर्तिनाम । यदुदयवशाद् मध्यस्थ जनस्यापि अप्रशस्यो भवति तद् अयश कीर्तिनाम । यश -कीर्त्योश्चाय विशेष —

दानपुण्यकृता कीर्ति , पराक्रमकृत यश ।

अथवा—

एकदिग्गामिनी कीर्ति , सर्वदिग्गामुक यश ।

तथा यदुदयवशाद् जीवाना शरीराणि न गुरूणि नापि लघूनि नापि गुरुलघूनि किन्त्वगुरु लघुपरिणामपरिणतानि भवन्ति तद् अगुरुलघुनाम । यदुदयवशात् स्वशरीरान्त प्रवर्धमानै प्रति जिह्वा-गलवृन्द-लम्बक-चोरदन्तादिभिर्जन्तुरुपहन्यते तद् उपघातनाम । यदुदयवशाद् ओजस्वी दर्शनमात्रेण वाक्सौष्ठवेन वा महानृपसभामपि गत सभ्यानामपि क्षोभमापादयति प्रतिपक्षप्रति भाप्रतिघात च करोति तत् पराघातनाम । यदुदयवशाद् उच्छ्वास नि श्वासलब्धिरुपजायते तद् उच्छ्वासनाम । यदुदयवशाद् जन्तुशरीराणि भानुमण्डलगतपृथिवीकायिकरूपाणि स्वरूपणाऽनुष्णा न्यपि उष्णप्रकाशलक्षणमातप कुर्वन्ति तद् आतपनाम । आतपनामोदयश्च वह्निशरीरे न भवति, सूत्रे प्रतिषेधात् , तत्रोष्णत्वमुष्णस्पर्शनामोदयात्, उत्कटलोहितवर्णनामोदयाच्च प्रकाशकत्वमिति। तथा यदुदयवशाद् जन्तुशरीराणि अनुष्णप्रकाशरूपमुद्योतमातन्वन्ति यथा यति-देवोत्तरवैक्रिय चन्द्र ग्रह-नक्षत्र-तारा-रत्न औषधय तद् उद्योतनाम । यदुदयवशाद् जन्तुशरीरेष्वङ्ग प्रत्यङ्ग

१ स० १ त० °दयवशात् ॥ २ अनुपकृतेऽपि बहूनां भवति प्रियस्तस्य सुभगनामोदय । उपकार कारकोऽपि हि न रुच्यते दुर्भगस्योदये ॥ सुभगोदयेऽपि हि कोऽपि कश्चिद् आसाद्य दुर्भगो यद्यपि । जायते तद्दोषाद् यथाऽभव्यानां तीर्थकर ॥ ३ स० १ त० म० आवो, क° ॥

ना प्रतिनियतस्थानवर्तिता भवति तद् निर्माणनाम । यदुदयवशाद् अष्टमहाप्रातिहार्यप्रमुखाश्चतुस्त्रिंशदतिशया प्रादुर्भवन्ति तत् तीर्थकरनाम । इह पिण्डप्रकृतीनामवान्तरभेदगणने पञ्चषष्टिर्भवति, शेषाश्च प्रकृतयोऽष्टाविंशतिः, ततः सर्वसङ्ख्यया नाम उत्तरभेदास्त्रिनवतिः ॥

गोत्रस्योत्तरप्रकृती द्वे, तद्यथा—उच्चैर्गोत्रं च नीचैर्गोत्रं च । तत्र यदुदयादुत्तमजातिकुलप्राप्तिः सत्काराभ्युत्थानाञ्जलिप्रग्रहादिरूपपूजालाभसम्भवश्च तदुच्चैर्गोत्रम्, तद्विपरीतं नीचैर्गोत्रम् ॥

अन्तरायस्योत्तरप्रकृतयः पञ्च, तद्यथा—दानान्तरायं लाभान्तरायं भोगान्तरायम् उपभोगान्तरायं वीर्यान्तरायं च । तत्र यदुदयवशात् सति विभवे समागते च गुणवति पात्रे 'दत्तमस्मै बहुफलम्' इति जानन्नपि दातुं नोत्सहते तद् दानान्तरायम् १ । यदुदयवशात् पुनः प्रसिद्धादपि दातुर्गृहे विद्यमानमपि देयमर्थजातं याञ्चाकुशलो गुणवानपि याचको न लभते तद् लाभान्तरायम् २ । यदुदयात्तु सत्यपि विशिष्टाहारादौ असति च प्रत्याख्यानपरिणामे केवलकार्पण्याशक्त्यादिकारणवशात् नोत्सहते विशिष्टाहारादि भोक्तुं तद् भोगान्तरायम् ३ । एवमेवोपभोगान्तरायमपि । नवरं भोगोपभोगयोरयं विशेषः—सकृद् भुज्यत इति भोगः, पुनः पुनर्भुज्यत इत्युपभोगः ४ । उक्तं च—

सइ भुज्जइ त्ति भोगो, सो पुण आहारपुप्फमाईओ ।
उवभोगो उ पुणो पुण, उवभुज्जइ भवणविलयाई ॥ (बृहत्कर्म० वि० गा० १६५)

तथा यदुदयवशात् सत्यपि नीरुजि शरीरे यूनोऽप्यल्पप्राणता भवति तद् वीर्यान्तरायम् ५ ॥

इह बन्धे उदये च बन्धनानि सङ्घातनामानि च स्वशरीरनामग्रहणेनैव गृहीतानि विवक्ष्यन्ते, तद्यथा—औदारिकशरीरनामग्रहणेन औदारिकबन्धन-सङ्घातनाम्नी, वैक्रियशरीरनामग्रहणेन वैक्रियबन्धन-सङ्घातनाम्नी इत्यादि । वर्णादीनां चावान्तरभेदा न विवक्ष्यन्ते । तथा बन्धे सम्यक्त्व-सम्यग्मिथ्यात्वे न भवतः, यतो मिथ्यात्वपुद्गलानामेव जीवः सम्यक्त्वगुणेन मिथ्यात्वरूपतामपनीय केषाञ्चिदत्यन्तविशुद्धिमापादयति, अपरेषां त्वीषद्विशुद्धिम्, केचित् पुनर्मिथ्यात्वरूपा एवावतिष्ठन्ते, तत्र येऽत्यन्तविशुद्धास्ते सम्यक्त्वव्यपदेशभाजः, ईषद्विशुद्धाः सम्यग्मिथ्यात्वव्यपदेशभाजः, शेषा मिथ्यात्वमिति । उक्तं च—

सम्यक्त्वगुणेन ततो, विशोधयति कर्म तत् स मिथ्यात्वम् ।
यद्वत् शकृत्प्रमुखैः, शोध्यन्ते कोद्रवा मदनाः ॥
यत् सर्वथाऽपि तत्र विशुद्धं तद् भवति कर्म सम्यक्त्वम् ।
मिश्रं तु दरविशुद्धं, भवत्यशुद्धं च मिथ्यात्वम् ॥ ( )

उदये पुनः सम्यक्त्व-सम्यग्मिथ्यात्वे अपि भवतः । ततो बन्धे उत्तरप्रकृतीनां विंशं शतम्, उदये च द्वाविंशं शतम्, सत्तायां च बन्धनानि सङ्घातनामानि च पृथग् विवक्ष्यन्ते, वर्णादीनां चावान्तरभेदाः पृथग् गण्यन्ते, ततः सर्वसङ्ख्यया सत्तायामष्टचत्वारिंशं शतमुत्तरप्रकृतीनामिति ॥

१ सं० १ त० म० °लाभादिस° ॥ २ सकृद् भुज्यत इति भोगः स पुनराहारपुष्पादिकः । उपभोगस्तु पुनः पुनरुपभुज्यते भवनवनितादि ॥ ३ सं० °नामवसेयम् ।

सदेव कृता उत्तरप्रकृतीना प्ररूपणा। सम्प्रति ज्ञानावरणीयस्य तत्तुल्यत्वादन्तरायस्य चोत्तरप्रकृतीरधिकृत्य बन्धादिस्थानप्ररूपणार्थमाह—

बंधोदयसतंसा, नाणावरणंतराइए पच।
बंधोवरमे वि तहा, उदसता हुंति पचेव ॥ ६ ॥

ज्ञानावरणे अन्तराये च प्रत्येक बन्ध-उदय-सत्तारूपा अशा 'पञ्च' पञ्चप्रकृत्यात्मका । इदमुक्त भवति—ज्ञानावरणे बन्धमुदय सत्ता चाधिकृत्य सदैव पञ्च प्रकृतयो मतिज्ञानावरण-श्रुतज्ञानावरणा-ऽवधिज्ञानावरण-मन पर्यवज्ञानावरण केवलज्ञानावरणरूपा प्राप्यन्ते, न त्वेकद्वित्र्यादिका , ध्रुवबन्धादित्वात् । अन्तरायेऽपि बन्धमुदय सत्ता चाधिकृत्य प्रत्येक सदैव दानान्तराय लाभान्तराय-भोगान्तराय-उपभोगान्तराय-वीर्यान्तरायरूपा पञ्च प्रकृतय प्राप्यन्ते, न त्वेकद्वित्र्यादिका , ध्रुवबन्धादित्वादेव । तथा च मति ज्ञानावरणेऽन्तराये च बन्धादिषु प्रत्येकमेक पञ्चप्रकृत्यात्मक प्रकृतिस्थानमिति ।

सम्प्रति सवेध उच्यते—ज्ञानावरणस्य बन्धकाले पञ्चविधो बन्ध पञ्चविध उदय पञ्चविधा सत्ता, एवमन्तरायस्यापि । एष च विकल्पो द्वयोरपि सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानक यावदवगन्तव्य । बन्धाभावे पुनर्ज्ञानावरणे अन्तराये च प्रत्येक पञ्चविध उदय पञ्चविधा सत्ता । तथा चाह—"बंधोवरमे वि" इत्यादि। 'बन्धोपरमेऽपि' बन्धाभावेऽपि ज्ञानावरणा ऽन्तराययो 'तथा' इति समुच्चये उदय-सत्ते भवत (ग्रन्थाग्रम्–५००) 'पञ्चेव' पञ्चप्रकृत्यात्मके एव, न त्वेकद्वित्र्यादिके, ध्रुवोदय-सत्ताकत्वात्। एष च विकल्पो द्वयोरप्युपशान्तमोहे क्षीणमोहे च प्राप्यते ॥ ६ ॥

सम्प्रति दर्शनावरणस्योत्तरप्रकृतीरधिकृत्य बन्धादिस्थानप्ररूपणार्थमाह—

बंधस्स य संतस्स य, पगइट्ठाणाइँ तिन्नि तुल्लाइं।
उदयट्ठाणाइँ दुवे, चउ पणग दंसणावरणे ॥ ७ ॥

दर्शनावरणाख्ये द्वितीये कर्मणि बन्धस्य सत्तायाश्च परस्पर 'तुल्यानि' तुल्यस्वरूपाणि त्रीणि प्रकृतिस्थानानि भवन्ति । तद्यथा—नव षट् चतस्र । तत्र सर्वप्रकृतिसमुदायो नव, ता एव नव स्त्यानर्द्धित्रिकहीना षट्, एताश्च षट् निद्रा प्रचलाहीनाश्चतस्र । तत्र नवप्रकृत्यात्मक बन्धस्थान मिथ्यादृष्टौ सासादने वा । तच्चाभव्यानधिकृत्यानाद्यपर्यवसानम्, कदाचिदपि व्यवच्छेदाभावात्, भव्यानधिकृत्यानादिसपर्यवसानम्, कालान्तरे व्यवच्छेदसम्भवात्, सम्यक्त्वात् प्रतिपत्य मिथ्यात्व गतानां सादिसपर्यवसानम्, तच्च जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तं काल यावत्, उत्कर्षतो देशोनापार्धपुद्गलपरावर्तम् । षट्प्रकृत्यात्मक बन्धस्थान सम्यग्मिथ्यादृष्टिगुणस्थानकादारभ्याऽपूर्वकरणस्य प्रथम भाग यावत्। तच्च जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तं कालम्, उत्कर्षतो द्वे षट्षष्टी सागरोपमाणाम् , सम्यक्त्वस्यापान्तराले सम्यग्मिथ्यात्वान्तरितस्यैतावन्त कालमवस्थानसम्भवात्, तत ऊर्ध्वं तु कश्चित् क्षपकश्रेणिं प्रतिपद्यते कश्चित् पुनर्मिथ्यात्वम्, मिथ्यात्वे च प्रतिपन्ने सति अवश्य नवविधो बन्ध । चतुष्प्रकृत्यात्मक तु बन्धस्थानमपूर्वकरणद्वितीयभागादारभ्य सूक्ष्मसम्पराय यावत् । तच्च जघन्येनैक समयम्, उत्कर्षतोऽन्तर्मुहूर्तम् । एक समय यावत् कथ

प्राप्यते ?' इति चेद् उच्यते—उपशमश्रेण्यामपूर्वकरणस्य द्वितीयभागप्रथमसमये चतुर्विधबन्धमारभ्याऽनन्तरसमये कश्चित् कालं करोति, कालं च कृत्वा दिवं गतः सन् अविरतो भवति, अविरतत्वे च षड्विधो बन्धः इत्येकसामयिकी चतुर्विधबन्धस्थानस्य स्थितिः ।

तथा नवप्रकृत्यात्मकं सत्तास्थानं दर्शनावरणस्य कालमधिकृत्य द्विधा—अनाद्यपर्यवसितम् अनादिसपर्यवसितं च । तत्रानाद्यपर्यवसितमभव्यानाम्, कदाचिदप्यव्यवच्छेदात् । अनादिसपर्यवसानं भव्यानाम्, कालान्तरे व्यवच्छेदात् । सादिसपर्यवसानं तु न भवति, नवप्रकृत्यात्मकसत्तास्थानव्यवच्छेदो हि क्षपकश्रेण्यां भवति, न च क्षपकश्रेणीतः प्रतिपातो भवतीति कृत्वा । एतच्च सत्तास्थानम् उपशमश्रेणिमधिकृत्य उपशान्तमोहगुणस्थानकं यावदवाप्यते, क्षपकश्रेणिमधिकृत्य पुनरनिवृत्तिबादरसम्परायगुणस्थानकस्य प्रथमभागम् । तथा षट्प्रकृत्यात्मकं सत्तास्थानं जघन्येनोत्कर्षेण चान्तर्मुहूर्तप्रमाणम्, तच्चानिवृत्तिबादरसम्परायगुणस्थानकस्य द्वितीयभागादारभ्य क्षीणमोहगुणस्थानकद्विचरमसमयं यावदवसेयम् । चतुष्प्रकृत्यात्मकं त्वेकसामयिकम्, क्षीणकषायचरमसमयभावित्वादिति ।

उदयस्थाने पुनर्द्वे भवतः, तद्यथा—चतस्रः पञ्च च । तत्र चतस्रश्चक्षुर्दर्शनावरणाऽचक्षुर्दर्शनावरणाऽवधिदर्शनावरण-केवलदर्शनावरणरूपाः । एतासां च समुदायो ध्रुवोदय इति एकं प्रकृतिस्थानम् । एतासु च चतसृषु मध्ये निद्रादीनां पञ्चानां प्रकृतीनां मध्याद् अन्यतमस्यां प्रकृतौ प्रक्षिप्तायां पञ्च । न हि निद्राद्यो द्वित्र्यादिका युगपदुदयमायान्ति किन्त्वेकस्मिन् काले एकैवान्यतमा काचित । निद्रादयश्च ध्रुवोदया न भवन्ति, कालादिसापेक्षत्वात् । अत इदं पञ्चप्रकृत्यात्मकमुदयस्थानं कदाचिद् लभ्यते ॥ ७ ॥

तदेवमुक्तानि दर्शनावरणस्य बन्ध-उदय सत्ता अधिकृत्य प्रकृतिस्थानानि । सम्प्रति संवेधमभिधित्सुराह—

बीयावरणे नवबंधगेसु चउ पंच उदय नव संता ।
छच्चउबंधे चेव, चउ बंधुदए छलंसा य ॥ ८ ॥
उवरयबंधे चउ पण, नवंस चउरुदय छच्च चउसंता ।

द्वितीयावरण—दर्शनावरणं तस्मिन् द्वितीयावरणे 'नवबन्धकेषु' सकलदर्शनावरणोत्तरप्रकृतिबन्धकेषु मिथ्यादृष्टि-सासादनेषु "चउ पंच उदय" त्ति उदयश्चतुर्विधः पञ्चविधो वा । तत्र चतुर्विधश्चक्षुर्दर्शनावरणा-ऽचक्षुर्दर्शनावरणा-ऽवधिदर्शनावरण केवलदर्शनावरणरूपः । स एव निद्रापञ्चकस्यान्यतमप्रकृतिप्रक्षेपात् पञ्चविधः । सत्तामधिकृत्य पुनः प्रकृतिस्थानं 'नव' नवप्रकृत्यात्मकम् । तदेवं नवविधबन्धकेषु द्वौ विकल्पौ दर्शितौ, तद्यथा—नवविधो बन्धश्चतुर्विध उदयो नवविधा सत्ता, एष विकल्पो निद्रोदयाभावे, निद्रोदये तु नवविधो बन्धः पञ्चविध उदयो नवविधा सत्ता । "छच्चउबंधे चेव" ति षड्बन्धे चतुर्बन्धे च 'एव' पूर्वोक्तप्रकारेण उदय-सत्ता

१ स० म० १ त० छा० °तीति । एत° ॥ २ स० १ त० °बन्धे द्वि° ॥ ३ स० १ त० °षां । तासां च ॥ ४ म० मुद्रि० इति कृत्वा एकं प्रकृ° ॥ ५ स० १ त० म० छा० °न्यादिका ॥

स्थानानि वेदितव्यानि। इदमुक्त भवति—ये षड्विधबन्धका सम्यग्मिथ्यादृष्टि अविरतसम्यग्दृष्टि देशविरत प्रमत्ता-ऽप्रमत्ता वियत्कालमपूर्वकरणाश्च तेषा चतुर्विध पञ्चविधो वा उदयो नवविधा सत्ता। एतेन च द्वौ विकल्पौ दर्शितौ, तद्यथा—षड्विधो बन्धश्चतुर्विध उदय नवविधा सत्ता, अथवा षड्विधो बन्ध पञ्चविध उदयो नवविधा सत्ता, एतौ च द्वौ विकल्पौ क्षपक मुक्त्वाऽन्यत्र सर्वत्रापि प्राप्येते। क्षपके त्वेक एव विकल्प, तद्यथा—षड्विधो बन्धश्चतुर्विध उदयो नवविधा सत्ता। क्षपकस्य हि अत्यन्तविशुद्धत्वेन निद्रा प्रचलयोर्नोदय सम्भवति। तदुक्त सत्कर्मग्रन्थे—

निद्दा[दु]गस्स उदओ, खीणगखवगे परिच्चज्ज ॥ ( )

तथा चतुर्विधबन्धकेषु कियत्कालमपूर्वकरणेषु अनिवृत्तिबादर-सूक्ष्मसम्परायेषु चोपशमश्रेणिं प्रतीत्य चतुर्विध पञ्चविधो वा उदय नवविधा सत्ता। क्षपकश्रेणिमधिकृत्य पुनरुदयश्चतुर्विध एव, कारणमत्र प्रागेवोक्तम्। केचित् पुन क्षपकक्षीणमोहेष्वपि निद्रा प्रचलयोरुदयमिच्छन्ति, तत् सत्कर्म-कर्मप्रकृत्यादिग्रन्थै सह विरुध्यते इत्युपेक्ष्यते। यावच्च क्षपकश्रेण्यामपि स्त्यानर्द्धि त्रिक न क्षीयते तावत् सत्ता नवविधैव, स्त्यानर्द्धित्रिके तु क्षीणे षड्विधा। तथा चाह—"चउबधुदए छलसा य" त्ति इह अश इति सत्कर्माभिधीयते। यदाह चूर्णिकृत्—

असँ इति सतकम्म भण्णई। ( )

चतुर्विधे बन्धे चतुर्विध उदये अनिवृत्तिबादरसम्परायगुणस्थानकाद्धाया सङ्ख्येयेभ्यो भागेभ्य परत स्त्यानर्द्धित्रिके क्षीणे षड्विधा सत्ता। एष च विकल्पस्तावत् प्राप्यते यावत् सूक्ष्मसम्परायाद्धायाश्चरमसमय, परतस्तु न प्राप्यते, बन्धाभावात्। तदेव चतुर्विधबन्धकस्य त्रयो विकल्पा, तद्यथा—चतुर्विधो बन्धश्चतुर्विध उदयो नवविधा सत्ता, एष विकल्प उपशमश्रेण्या क्षपकश्रेण्या वा यावत् स्त्यानर्द्धित्रिक न क्षीयते। चतुर्विधो बन्ध पञ्चविध उदयो नवविधा सत्ता, एष उपशमश्रेण्याम्, क्षपकश्रेण्या पञ्चविधोदयस्याभावात्। तथा चतुर्विधो बन्धश्चतुर्विध उदय षड्विधा सत्ता, एष च विकल्प क्षपकश्रेण्या स्त्यानर्द्धित्रिकक्षयानन्तरमवसेय ॥८॥

"उवरयबधे" इत्यादि। 'उपरते' व्यवच्छिन्ने बन्धे चतुर्विध पञ्चविधो वा उदयो नवविधा सत्ता, एतौ च द्वौ विकल्पावुपशान्तमोहगुणस्थानके प्राप्येते। उपशमश्रेण्या हि निद्रा प्रचलयोरुदय सम्भवति, स्त्यानर्द्धित्रिक च न क्षयमुपगच्छति ततश्चतुर्विध पञ्चविधो वा उदयो नवविधा च सत्ता प्राप्यते। तथा चतुर्विध उदय षड्विधा सत्ता, एष विकल्प क्षीणकषायस्य द्विचरमसमय यावदवाप्यते। तथा चतुर्विध उदयश्चतुर्विधा सत्ता, एष विकल्प क्षीणकषायस्य चरमसमये, निद्रा प्रचलयोर्द्विचरमसमये एव क्षपितत्वात्। तदेव दर्शनावरणे सर्वसङ्ख्यया एकादश विकल्पा। यदि पुन क्षपकक्षीणकषायेष्वपि निद्रा-प्रचलयोरुदय इष्यते तर्हि चतुर्विधो बन्ध पञ्चविध उदय षड्विधा सत्ता, बन्धाभावे पञ्चविध उदय षड्विधा सत्तेत्येतौ द्वौ विकल्पावधिकौ प्राप्येते इति त्रयोदश ज्ञातव्या ॥

१ स० १ त० बन्धो दर्शयति, त° ॥ २ स० १ त० °पकृत्ये त्वे° ॥ ३ निद्राद्विकस्य उदय क्षीणकक्षपकौ परित्यज्य ॥ ४ अश इति सत्कर्म भण्यते ॥ ५ मुद्रि० °रायगुणस्थानकाद्धा° ॥

सम्प्रति वेदनीया ऽऽयु -गोत्रेषु संवेधविकल्पोपदर्शनार्थमाह—

वेयणियाउयगोए, विभज्ज

वेदनीये आयुषि गोत्रे च यथागम बन्धादिस्थानानि संवेधमाश्रित्य 'विभजेत्' विकल्पयेत्। तत्र वेदनीयस्य सामान्येनैक बन्धस्थानम्, तद्यथा—सातमसात वा, द्वयो परस्परविरुद्धत्वेन युगपद्बन्धाभावात्। उदयस्थानमपि एकम्, तद्यथा—सातमसात वा, द्वयोर्युगपदुदयाभावात् परस्परविरुद्धत्वात्। सत्तास्थाने द्वे, तद्यथा—द्वे एकं च। तत्र यावदेकमन्यतरद् न क्षीयते तावद् द्वे अपि सती, अन्यतरस्मिंश्च क्षीणे एकमिति।

सम्प्रति संवेध उच्यते—असातस्य बन्ध असातस्य उदय साता-ऽसाते सती, अथवा असातस्य बन्ध सातस्य उदय साता-ऽसाते सती, एतौ द्वौ विकल्पौ मिथ्यादृष्टिगुणस्थानकात् प्रभृति प्रमत्तगुणस्थानक यावत् प्राप्येते न परत, परतोऽसातस्य बन्धाभावात्। तथा सातस्य बन्ध सातस्योदय साता-ऽसाते सती, अथवा सातस्य बन्ध असातस्योदय साता-ऽसाते सती, एतौ द्वौ विकल्पौ मिथ्यादृष्टिगुणस्थानकादारभ्य सयोगिकेवलिगुणस्थानक यावत् सम्भवत। तत परतो बन्धाभावे असातस्योदय साता ऽसाते सती, अथवा सातस्योदय साता-ऽसाते सती, एतौ द्वौ विकल्पौ अयोगिकेवलिनि द्विचरमसमय यावत् प्राप्येते। चरमसमये तु असातस्योदय असातस्य सत्ता यस्य द्विचरमसमये सात क्षीणम्, यस्य त्वसात द्विचरमसमये क्षीण तस्याय विकल्प—सातस्योदय सातस्य सत्ता, एतौ च द्वौ विकल्पावेकसामयिकौ। सर्वसङ्ख्यया च वेदनीयस्याष्टौ भङ्गा ॥

तथा आयुषि सामान्येनैक बन्धस्थान चतुर्णामन्यतमत्, परस्परविरुद्धत्वेन युगपद् द्वित्रायुषा बन्धाभावात्। उदयस्थानमप्येकम्, तदपि चतुर्णामन्यतमत्, युगपद् द्वित्रायुषा उदयाभावात्। द्वे सत्तास्थाने, तद्यथा—द्वे एक च। तत्रैक चतुर्णामन्यतमत् यावदन्यत् परभवायुर्न बध्यते, परभवायुषि च बद्धे यावदन्यत्र परभवे नोत्पद्यते तावद् द्वे सती।

सम्प्रति संवेध उच्यते—तत्रायुषस्तिस्रोऽवस्था, तद्यथा—परभवायुर्बन्धकालात् पूर्वावस्था परभवायुर्बन्धकालावस्था परभवायुर्बन्धोत्तरकालावस्था च। तत्र नैरयिकस्य परभवायुर्बन्धकालात् पूर्वं नारकायुष उदय नारकायुष सत्ता, एष विकल्प आद्येषु चतुर्षु गुणस्थानकेषु, शेषगुणस्थानकस्य नरकेष्वसम्भवात्। परभवायुर्बन्धकाले तिर्यगायुषो बन्धो नारकायुष उदय नारक तिर्यगायुषी सती, एष विकल्पो मिथ्यादृष्टे सासादनस्य वा, द्वयोरेवाद्ययोर्गुणस्थानकयोस्तिर्यगायुषो बन्धसम्भवात्, अथवा मनुष्यायुषो बन्ध नारकायुष उदय मनुष्य-नारकायुषी सती, एष विकल्पो मिथ्यादृष्टे सासादनस्याविरतसम्यग्दृष्टेर्वा। बन्धोत्तरकाले नारकायुष उदयो नारक तिर्यगायुषी सती, एष विकल्प आद्येषु चतुर्ष्वपि गुणस्थानकेषु, तिर्यगायुर्बन्धानन्तर कस्यापि सम्यक्त्वे सम्यग्मिथ्यात्वे वा गमनसम्भवात्, अथवा नारकायुष उदयो मनुष्य-नारकायुषी सती। इह नारका देवायु नारकायुश्च भवप्रत्ययादेव न बध्नन्ति, तत्रोत्पत्त्यभावात्।

१ सं० छा० क्षाण तस्यैवाय विकल्प न° ॥ २ मुद्रि० °काल सा° ॥

तदुक्तम्—

देवा नारगा वा देवेसु नारगेसु वि न उववज्जति । (   ) इति ।

ततो नारकाणां परभवायुर्बन्धकाले बन्धोत्तरकाले च देवायु-नारकायुर्भ्यां विकल्पाभावात् सर्वसङ्ख्यया पञ्चैव विकल्पा भवन्ति ।

एवं देवानामपि पञ्च विकल्पा भावनीयाः । नवरं नारकायुःस्थाने देवायुरिति वक्तव्यम्, तद्यथा—देवायुष उदयो देवायुषः सत्ता इत्यादि ।

तथा तिर्यगायुष उदयस्तिर्यगायुषः सत्ता, एष विकल्प आद्येषु पञ्चसु गुणस्थानकेषु, शेषगुणस्थानकस्य तिर्यक्ष्वसम्भवात्, एष विकल्पः परभवायुर्बन्धकालात् पूर्वम् । बन्धकाले [redacted] नारकायुषो बन्धः तिर्यगायुष उदयो नारक-तिर्यगायुषी सती, एष विकल्पो मिथ्यादृष्टेः, अन्यत्र नारकायुषो बन्धाभावात्, अथवा तिर्यगायुषो बन्धः, तिर्यगायुष उदये, तिर्यक्-तिर्यगायुषी सती, एष विकल्पो मिथ्यादृष्टेः सासादनस्य वा, अथवा मनुष्यायुषो बन्धः, तिर्यगायुष उदयो मनुष्य-तिर्यगायुषी सती, एष विकल्पो मिथ्यादृष्टेः सासादनस्य वा नान्यस्य, तिरश्चोऽविरतसम्यग्दृष्टेर्देशविरतस्य वा देवायुष एव बन्धसम्भवात्, अथवा देवायुषो बन्धः, तिर्यगायुष उदयो देव-तिर्यगायुषी सती, एष विकल्पो मिथ्यादृष्टेः सासादनस्याविरतसम्यग्दृष्टे-र्देशविरतस्य वा, न सम्यग्मिथ्यादृष्टेः, तस्यायुर्बन्धाभावात् । एते चत्वारो विकल्पाः परभवायु-र्बन्धकाले । बन्धे तु व्यवच्छिन्ने तिर्यगायुष उदयो नारक-तिर्यगायुषी सती, एष विकल्प आद्येषु पञ्चसु गुणस्थानकेषु, नारकायुर्बन्धानन्तरं सम्यक्त्वादावपि गमनसम्भवात्, अथवा तिर्यगायुष उदयस्तिर्यक्-तिर्यगायुषी सती, अथवा तिर्यगायुष उदयो मनुष्य-तिर्यगायुषी सती, अथवा तिर्यगायुष उदयो देव-तिर्यगायुषी सती, एतेऽपि त्रयो विकल्पा आद्येषु पञ्चसु गुणस्थानकेषु । सर्वसङ्ख्यया तिरश्चां नव विकल्पाः, चतसृष्वपि गतिषु तिरश्चामुत्पादसम्भवात् ।

तथा मनुष्यायुष उदयो मनुष्यायुषः सत्ता, एष विकल्पोऽयोगिकेवलिनं यावत् । तथा नारकायुषो बन्धो मनुष्यायुष उदयो नारक-मनुष्यायुषी सती, एष विकल्पो मिथ्यादृष्टेः । तथा तिर्यगायुषो बन्धो मनुष्यायुष उदयस्तिर्यङ्-मनुष्यायुषी सती, एष विकल्पो मिथ्यादृष्टेः सासादनस्य वा । मनुष्यायुषो बन्धो मनुष्यायुष उदयो मनुष्य-मनुष्यायुषी सती, एषोऽपि विकल्पो मिथ्यादृष्टेः सासादनस्य वा । देवायुषो बन्धो मनुष्यायुष उदयो देव-मनुष्यायुषी सती, एष विकल्पोऽप्रमत्तगुण-स्थानकं यावत् । एते चत्वारो विकल्पाः परभवायुर्बन्धकाले । बन्धे तु व्यवच्छिन्ने मनुष्यायुष उदयो नारक-मनुष्यायुषी सती, एष विकल्पोऽप्रमत्तगुणस्थानकं यावत्, नारकायुर्बन्धानन्तरं संयमप्रतिपत्तेरपि सम्भवात् । मनुष्यायुष उदयस्तिर्यङ्-मनुष्यायुषी सती, एषोऽपि विकल्पोऽप्र

१ देवा नारका वा देवेषु नारकेष्वपि नोपपद्यन्ते ॥ २ स० १ त० म० °गाउ वि° ॥ ३ स० त० °य, तिर्यगा° ॥ ४ सं० त० म० °न्धः । बन्धकाले तु नार° । म० °न्धः । नार ॥ ५ स० १ स० त० म० °ष्टेः । तिर्यगा° ॥ ६ स० १ त० म० °कल्पो मिथ्यग्रमत्र° ॥

मत्तगुणस्थानकं यावत् । मनुष्यायुष उदयो मनुष्य-मनुष्यायुषी सती, एषोऽपि विकल्प प्राग्वत् । मनुष्यायुष उदयो देव-मनुष्यायुषी सती, एष विकल्प उपशान्तमोहगुणस्थानकं यावत्, देवायुषि बद्धेऽप्युपशमश्रेण्यारोहसम्भवात् । सर्वसङ्ख्यया मनुष्याणां नव भङ्गा । तदेवमायुषि सर्वसङ्ख्यया अष्टाविंशतिर्भङ्गा ॥

तथा गोत्रे सामान्येनैकं बन्धस्थानम्, तद्यथा—उच्चैर्गोत्रं नीचैर्गोत्रं वा, द्वयो परस्परविरुद्धत्वेन युगपद्बन्धाभावात् । उदयस्थानमप्येकम्, तदपि द्वयोरन्यतरत्, परस्परविरुद्धत्वेन युगपद् द्वयोरुदयाभावात् । द्वे सत्तास्थाने, तद्यथा—द्वे एकं च । तत्र उच्चैर्गोत्र-नीचैर्गोत्रे समुदिते द्वे, तेजस्कायिक-वायुकायिकावस्थाया उच्चैर्गोत्रे उद्वलिते एकम्, अथवा नीचैर्गोत्रेऽयोगिकेवलिद्विचरमसमये क्षीणे एकम् ।

सम्प्रति संवेध उच्यते—नीचैर्गोत्रस्य बन्ध नीचैर्गोत्रस्योदय नीचैर्गोत्रं सत्, एष विकल्पस्तेजस्कायिक-वायुकायिकेषु लभ्यते । तद्भवाद् उद्वृत्तेषु चाशेषजीवेष्वेक-द्वि-त्रि-चतु -तिर्यक्पञ्चेन्द्रियेषु कियत्कालं नीचैर्गोत्रस्य बन्धो नीचैर्गोत्रस्योदय उच्च नीचैर्गोत्रे सती, अथवा नीचैर्गोत्रस्य बन्ध उच्चैर्गोत्रस्योदय उच्च-नीचैर्गोत्रे सती, एतौ द्वौ विकल्पौ मिथ्यादृष्टिषु सासादनेषु वा, न सम्यग्मिथ्यादृष्ट्यादिषु, तेषां नीचैर्गोत्रबन्धाभावात् । तथा उच्चैर्गोत्रस्य बन्धो नीचैर्गोत्रस्योदय उच्च-नीचैर्गोत्रे सती, एष विकल्पो मिथ्यादृष्टिगुणस्थानकादारभ्य देशविरतिगुणस्थानकं यावत् प्राप्यते न परत, परतो नीचैर्गोत्रस्योदयाभावात् । तथा उच्चैर्गोत्रस्य बन्ध उच्चैर्गोत्रस्योदय उच्च-नीचैर्गोत्रे सती, एष विकल्पो मिथ्यादृष्टेरारभ्य सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानकं यावद् न परत, परतो बन्धाभावात् । बन्धाभावे उच्चैर्गोत्रस्योदय उच्च-नीचैर्गोत्रे सती, एष विकल्प उपशान्तमोहगुणस्थानकादारभ्य अयोगिकेवलिद्विचरमसमयं यावदवसेय । उच्चैर्गोत्रस्योदय उच्चैर्गोत्रं सत्, एष विकल्पोऽयोगिकेवलिचरमसमये । तदेवमेते गोत्रस्य सर्वसङ्ख्यया सप्त भङ्गा ॥

मोहं परं वोच्छं ॥ ९ ॥

अत परं मोहं वक्ष्ये, मोहनीयस्य बन्धादिस्थानानि वक्ष्य इत्यर्थ ॥ ९ ॥

तत्र प्रथमतो बन्धस्थानप्ररूपणार्थमाह—

बावीस एक्कवीसा, सत्तरसा तेरसेव नव पंच ।
चउ तिग दुगं च एक्कं, बंधट्ठाणाणि मोहस्स ॥ १० ॥

'मोहस्य' मोहनीयस्य दश बन्धस्थानानि, तद्यथा—द्वाविंशति एकविंशति सप्तदश त्रयो-

१ मुद्रि० अयमप्यप्रमत्तगुण स्थानकं यावत् ॥ २ मुद्रि० अयमुपशा° ॥ ३ मुद्रि० एकम् अथवा नीचैर्गोत्रे उद्वलिते एकम्, अथ ॥ ४ गाथेयं सप्ततिकाभाष्ये एकोनविंशतितमी ॥ ५ भाष्ये तु—°णाणि दस मोहे ॥

दश नव पञ्च चतस्र तिस्र द्वे एका च। तत्र सम्यक्त्व-सम्यग्मिथ्यात्वे बन्धे न भवत, न च त्रयाणा वेदाना युगपद् बन्ध किन्त्वेककालमेकस्यैव, हास्य-रतियुगल् ऽरति शोकयुगले अपि न युगपद् बन्धमायात किन्त्वेकतरमेव युगलम्, ततो मोहनीयस्योत्कर्षत प्रभूतप्रकृतिबन्धो द्वाविंशति, सा च मिथ्यादृष्टिगुणस्थानके प्राप्यते। तत सासादनसम्यग्दृष्टिगुणस्थानके मिथ्यात्वस्य बन्धाभावाद् एकविंशति, यद्यप्यत्र नपुंसकवेदस्यापि बन्धो न भवति तथापि तत्स्थाने स्त्रीवेद पुरुषवेदो वा प्रक्षिप्यत इत्येकविंशतेरेव बन्ध। ततो मिश्रा-ऽविरतसम्यग्दृष्टिगुणस्थानकयोरनन्तानुबन्धिनामपि बन्धाभावात् सप्तदश। ततोऽपि देशविरतिगुणस्थानकेऽप्रत्याख्यानकषायाणा बन्धाभावात् त्रयोदश। ततोऽपि प्रमत्ता-ऽप्रमत्ता-ऽपूर्वकरणेषु प्रत्याख्यानावरणाना बन्धाभावाद् नव, यद्यपि अरति शोकरूप युगल प्रमत्तगुणस्थानके एव व्यवच्छिन्न तथापि तत्स्थाने हास्य-रतियुगल प्रक्षिप्यते इत्यप्रमत्ता-ऽपूर्वकरणयोर्नवकबन्धो न विरुध्यते। ततो हास्य रति-भय-जुगुप्सा अपूर्वकरणचरमसमये बन्धमाश्रित्य व्यवच्छिद्यन्ते इति अनिवृत्तिबादरसम्परायगुणस्थानके प्रथमभागे पञ्चाना बन्ध। द्वितीयभागे पुरुषवेदस्य बन्धाभावात् चतसृणा बन्ध। तृतीयभागे सञ्ज्वलनक्रोधस्य बन्धाभावात् तिसृणां बन्ध। चतुर्थभागे संज्वलनमानस्य बन्धाभावाद् द्वयोर्बन्ध। पञ्चमभागे सञ्ज्वलनमायाया अपि बन्धाभावादेकस्या संज्वलनलोभ-प्रकृतेर्बन्ध। तत पर बादरसम्परायोदयाभावात् तस्या अपि न बन्ध ॥ १० ॥

तदेवमुक्तानि मोहनीयस्य बन्धस्थानानि। सम्प्रत्युदयस्थानान्यभिधित्सुराह—

एगं व दो व चउरो, एत्तो एक्काहिया दसुक्कोसा।
ओहेण मोहणिज्जे, उदयट्ठाणा नव हवंति॥ ११ ॥

'ओघेन' सामान्येन मोहनीये उदयस्थानानि नव भवन्ति, तद्यथा—एक द्वे चत्वारि 'अत' चतुष्कादूर्ध्वं एकैकाधिका उदयविकल्पास्तावदवगन्तव्या यावदुत्कर्षतो 'दश' दशकमुदयस्थान भवतीत्यर्थ १-२-४-५-६-७-८-९ १०। एतानि चानिवृत्तिबादरसम्परायगुणस्थानकादारभ्य पश्चानुपूर्व्या किञ्चिद् भाव्यन्ते—तत्र चतुर्णां सञ्ज्वलनानामन्यतमस्योदये एकमुदयस्थानम्, तदेव वेदत्रयान्यतमवेदोदयप्रक्षेपे द्विकम्, तत्रापि हास्य रतिरूपयुगलप्रक्षेपे चतुष्कम्, तत्रैव भयप्रक्षेपात् पञ्चकम्, जुगुप्साप्रक्षेपात् षट्कम्, तत्रैव चतुर्णां प्रत्याख्यानावरणकषायाणामन्यतमस्य प्रक्षेपे सप्तकम्, तत्रैव चाप्रत्याख्यानावरणकषायाणामन्यतमस्य प्रक्षेपेऽष्टकम्, तत्रैव चतुर्णामनन्तानुबन्धिकषायाणामन्यतमस्य प्रक्षेपे नवकम्, तत्रैव मिथ्यात्वप्रक्षेपे दशकम्। एतच्च सामान्येनोक्तम्, विशेष तत्त्वग्रे सूत्रकृदेव सप्रपञ्च कथयिष्यतीति तत्रैव भावयिष्यते ॥ ११ ॥

तदेवमुक्तान्युदयस्थानानि। सम्प्रति सत्तास्थानानि प्रतिपिपादयिषुराह—

१ सं० त० °व। ततो ॥ २ स० ? त० °वरणबन्धा ॥ ३ मुद्रि० विना-°णाम् चतु° ॥ ४ मुद्रि० विना-°यो, पञ्च° ॥ ५ गाथेय सप्ततिकाभाष्ये पञ्चविंशतितमी ॥ ६ म० उदयठाणाणि नव हुति। स १ त० °यट्ठाणाणि नव हुति ॥ ७ स० १ त० °हनीयस्य ॥ ८ स० १ स० त० म० °ख्यानकषा° ॥

अट्ठगसत्तगछच्चउतिगदुगएगाहिया भवे वीसा।
तेरस बारिक्कारस, इत्तो पंचाइ एक्कूणा ॥ १२ ॥
संतस्स पगइठाणाई ताणि मोहस्स हुंति पन्नरस।
बंधोदयसंते पुण, भंगविगप्पा बहू जाण ॥ १३ ॥

विंशतिः अष्टक-सप्तक-षट्क-चतु-त्रि-द्वि एकाधिका, तथा त्रयोदश द्वादश एकादश, 'अतः' एकादशकात् सत्तास्थानाद् 'एकोनानि' एकैकोनानि पञ्चादीनि सत्तायां प्रकृतिस्थानानि मोहनीयस्यावगन्तव्यानि, तानि च सर्वसङ्ख्यया पञ्चदश भवन्ति। इदमत्र तात्पर्यम्—मोहनीये पञ्चदश सत्ताप्रकृतिस्थानानि, तद्यथा—अष्टाविंशतिः सप्तविंशतिः षड्विंशतिः चतुर्विंशतिः त्रयोविंशतिः द्वाविंशतिः एकविंशतिः त्रयोदश द्वादश एकादश पञ्च चतस्रः तिस्रः द्वे एका च। तत्र सर्वप्रकृतिसमुदायोऽष्टाविंशतिः। ततः सम्यक्त्वे उद्वलिते सप्तविंशतिः। ततोऽपि सम्यग्मिथ्यात्वे उद्वलिते षड्विंशतिः, अनादिमिथ्यादृष्टेर्वा षड्विंशतिः। अष्टाविंशतिसत्कर्मणोऽनन्तानुबन्धिचतुष्टयक्षये चतुर्विंशतिः। ततोऽपि मिथ्यात्वे क्षपिते त्रयोविंशतिः। ततोऽपि सम्यग्मिथ्यात्वे क्षपिते द्वाविंशतिः। ततः सम्यक्त्वे क्षपिते एकविंशतिः। ततोऽप्रत्याख्यान-प्रत्याख्यानावरणसंज्ञेषु कषायेषु क्षीणेषु त्रयोदश। ततो नपुंसकवेदे क्षपिते द्वादश। ततोऽपि स्त्रीवेदे क्षपिते एकादश। ततः षट्सु नोकषायेषु क्षीणेषु पञ्च। ततोऽपि पुरुषवेदे क्षीणे चतस्रः। ततोऽपि सज्वलनक्रोधे क्षपिते तिस्रः। ततोऽपि सज्वलनमाने क्षपिते द्वे। ततोऽपि सज्वलनमायायां क्षपितायामेका प्रकृतिः सतीति। तदेवमुक्तानि सत्तास्थानानि। एतेषु पुनर्बन्ध-उदय-सत्तास्थानेषु प्रत्येकं संवेधेन च बहवो भङ्गा भवन्ति, तांश्च भङ्गान् यथावत् प्रतिपाद्यमानान् सम्यग् जानीहि ॥१२॥ १३॥

तत्र प्रथमतो बन्धस्थानेषु भङ्गनिरूपणार्थमाह—

छब्बावीसे चउ इगवीसे सत्तरस तेरसे दो दो।
नवबंधगे वि दोन्नि उ, एक्केक्कमओ परं भंगा ॥ १४ ॥

'द्वाविंशतौ' द्वाविंशतिबन्धे षड् विकल्पा भवन्ति। तत्र द्वाविंशतिरियम्—मिथ्यात्वं षोडश कषायाः त्रयाणां वेदानामन्यतमो वेदः हास्य-रतियुगलाऽरति-शोकयुगलयोरन्यतरद् युगलं भयं जुगुप्सा च। अत्र भङ्गाः षट्, तथाहि—हास्य-रतियुगले अरति-शोकयुगले च प्रत्येकं द्वाविंशतिः प्राप्यते इति द्वौ भङ्गौ, तौ च द्वौ भङ्गौ त्रिष्वपि वेदेषु प्रत्येकं विकल्पेन प्राप्येते इति द्वौ त्रिभिर्गुणितौ जाताः षट्। सैव द्वाविंशतिर्मिथ्यात्वेन विना एकविंशतिः, नवरमत्र द्वयोर्वेदयोरन्यतरो वेद इति वक्तव्यम्, यत एकविंशतिबन्धकाः सासादनसम्यग्दृष्टयः, ते च स्त्रीवेदं वा बध्नन्ति पुरुषवेदं वा, न नपुंसकवेदम्, नपुंसकवेदबन्धस्य मिथ्यात्वोदयनिबन्धनत्वात्, सासादनानां च मिथ्यात्वोदयाभावात्। अत्र च भङ्गाश्चत्वारः, तथा चाह—"चउ एगवीसे" त्ति 'एकविंशतौ'

१ गाथेयं सप्ततिकाभाष्ये एकचत्वारिंशत्तमी ॥ २ सं० १ सं० त० ०गप्पे ॥ ३ सं० मं० छा० तत्र स ॥ ४ सं० १ त० मती। त ॥ ५ सं० १ त० ततश्च भङ्गान् प्रति० ॥

एकविंशतिबन्धे चत्वारो भङ्गा । तत्र हास्य रतियुगल-ऽरति-शोकयुगलाभ्यां प्रागिव द्वौ भङ्गौ, तौ च प्रत्येकं स्त्रीवेदे पुरुषवेदे च प्राप्येते इति द्वौ द्वाभ्यां गुणितौ जाताश्चत्वारः । सैव चैकविंशतिरनन्तानुबन्धिचतुष्टयबन्धाभावे सप्तदश, नवरमत्र वेदेषु मध्ये पुरुषवेद एवैको वक्तव्य, न स्त्रीवेदोऽपि, यतः सप्तदशबन्धका सम्यग्मिथ्यादृष्टयोऽविरतसम्यग्दृष्टयो वा, न चैते स्त्रीवेदं बध्नन्ति, तद्बन्धस्यानन्तानुबन्ध्युदयनिमित्तत्वात्, सम्यग्मिथ्यादृष्ट्यादीनां चानन्तानुबन्ध्युदयाभावात् । अत्र च हास्य-रतियुगल ऽरति शोकयुगलाभ्यां प्रागिव द्वौ भङ्गौ । ता एव सप्तदश प्रकृतयोऽप्रत्याख्यानकषायचतुष्टयरहितास्त्रयोदश, अत्रापि प्रागिव द्वौ भङ्गौ, तथा चाह—"सत्तरस तेरसे दो दो" सप्तदशबन्धे त्रयोदशबन्धे च प्रत्येकं द्वौ द्वौ भङ्गौ। ता एव त्रयोदश प्रत्याख्यानावरणचतुष्टयरहिता नव, अत्रापि तावेव द्वौ भङ्गौ, यत आह—"नवबंधगे उ दोन्नि उ" नवबन्धके द्वौ भङ्गौ, तौ च प्रमत्ते द्वावपि द्रष्टव्यौ, अप्रमत्ता ऽपूर्वकरणयोस्त्वेक एव भङ्ग, तत्रारति शोकरूपस्य युगलस्य बन्धासम्भवात् । तथा ता एव नव हास्य रतियुगल-भय-जुगुप्साबन्धव्यवच्छेदे पञ्च, अत्रैको भङ्ग । एवं चतु -त्रि द्वि एकबन्धेष्वपि प्रत्येकमेकैक एव भङ्गो वाच्य, तथा चाह—"एक्केक्कमओ पर भंगा" 'अत' नवकबन्धात् परं पञ्चादिषु भङ्गा प्रत्येकम् 'एकैक ' एकैकसङ्ख्या वेदितव्या । मकारस्त्वलाक्षणिक ।

अमीषां च द्वाविंशत्यादिबन्धस्थानानां कालप्रमाणमिदम्—द्वाविंशतिबन्धस्य कालोऽभव्यानधिकृत्य अनाद्यपर्यवसित ,भव्यानधिकृत्यानादिसपर्यवसित , सम्यक्त्वपरिभ्रष्टानधिकृत्य जघन्येनान्तर्मुहूर्तप्रमाण , उत्कर्षतो देशोनोऽपार्धपुद्गलपरावर्त । एकविंशतिबन्धस्य कालो जघन्येन समयमात्र ,उत्कर्षत षडावलिका । सप्तदशबन्धस्य कालो जघन्येनान्तर्मुहूर्तम् , उत्कर्षत किञ्चित् समधिकानि त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि । तथाहि—त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि अनुत्तरसुरस्य प्राप्यन्ते, अनुत्तरसुरभवाच्च च्युत्वा यावदद्यापि देशविरतिं सर्वविरतिं वा न प्रतिपद्यते तावत् सप्तदशबन्ध एवेति किञ्चित्समधिकानि त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि । त्रयोदशबन्धस्य नवबन्धस्य च काल प्रत्येकं जघन्येनान्तर्मुहूर्तम्, उत्कर्षतस्तु देशोना पूर्वकोटी, यतस्त्रयोदशबन्धो देशविरतौ नवकबन्धस्तु सर्वविरतौ, देशविरति सर्वविरतिश्चोत्कर्षतोऽपि देशोनपूर्वकोटिप्रमाणा । पञ्चादिषु पुनर्बन्धस्थानेषु काल प्रत्येकं जघन्येनैकं समयम् , उत्कर्षेण चान्तर्मुहूर्तम् । एकसमयता कथम् ? इति चेद् उच्यते—*उपशमश्रेण्यां पञ्चविधं बन्धमारभ्य द्वितीये समये कश्चित् कालं कृत्वा* देवलोकं याति, देवलोके च गत सन् अविरतो भवति, अविरतत्वे च सप्तदशबन्ध इत्येकसमयता । एवं चतुर्विधबन्धादिष्वपि भावनीयम् ॥ १४ ॥

तदेवं कृता कालनिरूपणा सम्प्रत्येतेषामेव बन्धस्थानानां मध्ये कस्मिन् कियन्ति प्रागुक्तान्युदयस्थानानि भवन्ति ? इत्येतद् निरूप्यते—

दस बावीसे नव इक्कवीस सत्ताइ उदयठाणाइं ।
छाई नव सत्तरसे, तेरे पचाइ अट्ठेव ॥ १५ ॥

---

१ मुद्रि० एवैव संख्या ॥ २ स० १ त० नपूर्वं ॥

चत्तारिमाइ नवबंधगेसु उक्कोस सत्त उदयंसा ।
पंचविहबंधगे पुण, उदओ दोण्हं मुणेयव्वो ॥ १६ ॥

'द्वाविंशतौ' द्वाविंशतिबन्धे सप्तादीनि दशपर्यन्तानि चत्वारि उदयस्थानानि भवन्ति । तद्यथा—सप्त अष्टौ नव दश । तत्र मिथ्यात्वम् अप्रत्याख्यान प्रत्याख्यानावरण-सञ्ज्वलनक्रोधादीनामन्यतमे त्रय क्रोधादिका, यत एकस्मिन् क्रोधे वेद्यमाने सर्वेऽपि क्रोधा वेद्यन्ते, समानजातीयत्वात् । एव मान-माया-लोभा अपि द्रष्टव्या । न च युगपत् क्रोध-मान-माया-लोभानामुदय, परस्परविरोधाद् इत्यन्यतमे त्रयो गृह्यन्ते । तथा त्रयाणा वेदानामन्यतमो वेद, हास्यरतियुगल अरति-शोकयुगलयोरन्यतरद् युगलम्, एतासा सप्तप्रकृतीना द्वाविंशतिबन्धके मिथ्यादृष्टावुदयो ध्रुव । अत्र भङ्गाश्चतुर्विंशति, तद्यथा—हास्य-रतियुगले अरति-शोकयुगले च प्रत्येकमेकैको भङ्ग प्राप्यत इति द्वौ भङ्गौ, तौ च प्रत्येक त्रिष्वपि वेदेषु प्राप्येते इति द्वौ त्रिभिर्गुणितौ जाता षट्, ते च प्रत्येक क्रोधादिषु चतुर्षु प्राप्यन्ते इति षट् चतुर्भिर्गुणिता जाताश्चतुर्विंशति । तस्मिन्नेव सप्तके भये वा जुगुप्साया वा अनन्तानुबन्धिनि वा प्रक्षिप्ते अष्टानामुदय । अत्र भयादौ प्रत्येकमेकैका चतुर्विंशति प्राप्यते इति तिस्र चतुर्विंशतयोऽत्र द्रष्टव्या ।

ननु मिथ्यादृष्टेरवश्यमनन्तानुबन्धिनामुदय सम्भवति तत् कथमिह मिथ्यादृष्टि सप्तोदये अष्टोदये वा कस्मिंश्चिदनन्तानुबन्ध्युदयरहित प्रोक्त ? उच्यते—इह सम्यग्दृष्टिना सता केनचित् प्रथमतोऽनन्तानुबन्धिनो विसयोजिता, एतावतेव च स विश्रान्तो न मिथ्यात्वादिक्षयाय उद्युक्तवान् तथाविधसामग्र्यभावात्, तत कालान्तरे मिथ्यात्व गत सन् मिथ्यात्वप्रत्ययतो भूयोऽप्यनन्तानुबन्धिनो बध्नाति, ततो बन्धावलिका यावत् नाद्याप्यतिक्रामति तावत् तेषामुदयो न भवति, बन्धावलिकाया त्वतिक्रान्ताया भवेदिति ।

ननु कथ बन्धावलिकातिक्रमेऽप्युदय सम्भवति ? यतोऽबाधाकालक्षये सत्युदय, अबाधाकालश्चानन्तानुबन्धिना जघन्येनान्तर्मुहूर्तम्, उत्कर्षेण तु चत्वारि वर्षसहस्राणीति, नैष दोष, यतो बन्धसमयादारभ्य तेषा तावत् सत्ता भवति, सत्तायां च सत्या बन्धे प्रवर्तमाने पतद्ग्रहता, पतद्ग्रहताया च शेषसमानजातीयप्रकृतिदलिकसङ्क्रान्ति, सङ्क्रमश्च दलिक पतद्ग्रहप्रकृतिरूपतया परिणमते, तत सङ्क्रमावलिकायामतीतायामुदय, ततो बन्धावलिकायामतीतायामुदयोऽभिधीयमानो न विरुध्यते ।

तथा तस्मिन्नेव सप्तके भय-जुगुप्सयो अथवा भया-ऽनन्तानुबन्धिनो यद्वा जुगुप्सा ऽनन्तानुबन्धिनो प्रक्षिप्तयोर्नवानामुदय । अत्राप्येकैकस्मिन् विकल्पे प्रागुक्तक्रमेण भङ्गकाना चतुर्विंशति प्राप्यते इति तिस्रश्चतुर्विंशतयो द्रष्टव्या । तथा तस्मिन्नेव सप्तके भय-जुगुप्सा-ऽनन्तानुबन्धिषु प्रक्षिप्तेषु दशानामुदय । अत्रैकेव भङ्गकाना चतुर्विंशति । सर्वसङ्ख्यया द्वाविंशतिबन्धे अष्टौ चतुर्विंशतयः ।

---

१ स० १ म० छा० °त्तारिआइ ॥ स० १ °वन्तीत्यथ । ३ म० म० मुद्रि० °वलिकाया° ॥ ४ स० १ त० म० °मति ॥ ५ स० १ स० त० म० °य । नव एकविंशति 'एक°' ॥

"नव एक्वीस" त्ति 'एकविंशतौ' एकविंशतिबन्धे सप्तादीनि नवपर्यन्तानि त्रीणि उदयस्था नानि भवन्ति, तद्यथा—सप्त अष्टौ नव। तत्र सप्त अनन्तानुबन्धि-अप्रत्याख्यान प्रत्याख्यानाव-रण-सञ्ज्वलनक्रोधादीनामन्यतमे चत्वार क्रोधादिका, त्रयाणा वेदानामन्यतमो वेद, द्वयोर्युग-लयोरन्यतरद् युगलम्, एतासा सप्तप्रकृतीनामुदय एकविंशतिबन्धे ध्रुव। अत्र प्रागुक्तक्रमेण भङ्ग काना चतुर्विंशति। तथा तस्मिन्नेव सप्तके भये वा जुगुप्साया वा क्षिप्तायामष्टानामुदय। अत्र द्वे चतुर्विंशती भङ्गकानाम्। भय-जुगुप्सयोस्तु युगपत् प्रक्षिप्तयोर्नवानामुदय। अत्र चैका भङ्गकाना चतुर्विंशति। सर्वसङ्ख्यया एकविंशतिबन्धे चतस्रश्चतुर्विंशतय। अय चैकविं शतिबन्ध सासादने प्राप्यते। सासादनश्च द्विधा, श्रेणिगतोऽश्रेणिगतश्च। तत्राश्रेणिगत सासा दनमाश्रित्यामूनि सप्तादीनि उदयस्थानान्यवगन्तव्यानि।

यस्तु श्रेणिगतस्तत्रादेशद्वयम्—केचिदाहु—अनन्तानुबन्धिसत्कर्मसहितोऽप्युपशमश्रेणि प्रतिपद्यते, तेषा मतेनानन्तानुबन्धिनामप्युपशमना भवति। एतच्च सूत्रेऽपि सवादि, तदुक्त सूत्रे—

अणदसणपुंसित्थी, (आव० नि० गा० ११६) इत्यादि।

श्रेणीतश्च प्रतिपतन् कश्चित् सासादनभावमभ्युपगच्छति, सासादनभाव चोपगते यथोक्तानि त्रीणि उदयस्थानानि भवन्ति।

अपरे पुनराहु—अनन्तानुबन्धिन क्षपयित्वैवोपशमश्रेणि प्रतिपद्यते न तत्सत्कर्मा, तेषा मतेन श्रेणित प्रतिपतन् सासादनो न भवति, तस्यानन्तानुबन्ध्युदयासम्भवात्, अनन्तानु-बन्ध्युदयसहितश्च सासादन इष्यते, "अणताणुबन्धुदयरहियस्स सासणभावो न संभवइ" (   ) इति वचनात्।

अथोच्यते—यदा मिथ्यात्व प्रत्यभिमुखो न चाद्यापि मिथ्यात्व प्रतिपद्यते तदानीमनन्ता नुबन्ध्युदयरहितोऽपि सासादनस्तेषा मतेन भविष्यतीति किमत्रायुक्तम्? तदयुक्तम्, एव सति तस्य षडादीनि नवपर्यन्तानि चत्वार्युदयस्थानानि भवेयु, न च भवन्ति, सूत्रे प्रतिषेधात्, तैर प्यनभ्युपगमाच्च, तस्मादनन्तानुबन्ध्युदयरहित सासादनो न भवतीत्यवश्य प्रत्येयम्।

"छाई नव सत्तरसे" सप्तदशके बन्धस्थाने षडादीनि नवपर्यन्तानि चत्वार्युदयस्थानानि भवन्ति, तद्यथा—षट् सप्त अष्टौ नव। सप्तदशबन्धका हि द्वये सम्यग्मिथ्यादृष्टयोऽविरतस म्यग्दृष्टयश्च। तत्र सम्यग्मिथ्यादृष्टीना त्रीणि उदयस्थानानि, तद्यथा—सप्त अष्ट नव। तत्रा नन्तानुबन्धिवर्जा त्रयोऽन्यतमे क्रोधादय, त्रयाणा वेदानामन्यतमो वेद, द्वयोर्युगलयोरन्यतरद् युगलम्, सम्यग्मिथ्यात्व चेति सप्ताना प्रकृतीनामुदय सम्यग्मिथ्यादृष्टिषु ध्रुव। अत्र प्रागुक्त क्रमेण भङ्गकाना चतुर्विंशति। अस्मिन्नेव सप्तके भये वा जुगुप्साया वा प्रक्षिप्तायामष्टानामुदय, अत्र द्वे चतुर्विंशती भङ्गकानाम्। भय-जुगुप्सयोस्तु युगपत् प्रक्षिप्तयोर्नवानामुदय, अत्र चैका चतुर्विंशतिर्भङ्गकानाम्। सर्वसङ्ख्यया सम्यग्मिथ्यादृष्टीना चतस्रश्चतुर्विंशतय। अविरतसम्यग्दृ-ष्टीना सप्तदशबन्धकाना चत्वार्युदयस्थानानि, तद्यथा—षट् सप्त अष्टौ नव। तत्रौपशमिकस-

म्यग्दृष्टीनां क्षायिकसम्यग्दृष्टीनां च अविरतसम्यग्दृष्टीनां अनन्तानुबन्धिवर्जानांत्रयोऽन्यतमे क्रोधादिका, त्रयाणां वेदानामन्यतमो वेद, द्वयोर्युगलयोरन्यतरद् युगलमिति, षण्णामुदयो ध्रुव । अत्र प्रागिव भङ्गकानामेका चतुर्विंशति । अस्मिन्नेव षट्के भये वा जुगुप्सायां वा वेदकसम्यक्त्वे वा प्रक्षिप्ते सप्तानामुदय । अत्र भयादिषु प्रत्येकमेकैका चतुर्विंशति प्राप्यत इति तिस्रश्चतुर्विंशतय । तथा तस्मिन्नेव षट्के भय-जुगुप्सयोर्भय-वेदकसम्यक्त्वयोर्जुगुप्सा-वेदकसम्यक्त्वयोर्वा प्रक्षिप्तयोरष्टानामुदय । तत्राप्येकेकस्मिन् विकल्पे भङ्गकानां चतुर्विंशति प्राप्यत इति तिस्रश्चतुर्विंशतय । भय-जुगुप्सा-वेदकसम्यक्त्वेषु च युगपत् प्रक्षिप्तेषु नवानामुदय, अत्र चैका भङ्गकानां चतुर्विंशति । अविरतसम्यग्दृष्टीनां सर्वाश्चतुर्विंशतयोऽष्टौ । सर्वसङ्ख्यया सप्तदशबन्धे द्वादश चतुर्विंशतय ।

"तेरे पचाइ अट्ठेव" त्रयोदशके बन्धस्थाने पञ्चादीन्यष्टपर्यन्तानि चत्वार्युदयस्थानानि भवन्ति, तद्यथा—पञ्च षड् सप्त अष्टौ । तत्र प्रत्याख्यानावरण-सञ्ज्वलनक्रोधादीनामन्यतमौ द्वौ क्रोधादिकौ, त्रयाणां वेदानामन्यतमो वेद, द्वयोर्युगलयोरन्यतरद् युगलमित्येतासां पञ्चानां प्रकृतीनामुदय त्रयोदशबन्धे ध्रुव । अत्र प्रागुक्तक्रमेण भङ्गकानामेका चतुर्विंशति । भय-जुगुप्सा-वेदकसम्यक्त्वानामन्यतमस्मिन् प्रक्षिप्ते षण्णामुदय । अत्र भयादिभिस्त्रयो विकल्पा, एकैकस्मिन् विकल्पे भङ्गकानां चतुर्विंशतिरिति तिस्रश्चतुर्विंशतय । तथा तस्मिन्नेव पञ्चके भय-जुगुप्सयोरथवा भय-वेदकसम्यक्त्वयोर्यद्वा जुगुप्सा-वेदकसम्यक्त्वयो प्रक्षिप्तयो सप्तानामुदय । अत्रापि तिस्रश्चतुर्विंशतयो भङ्गकानाम् । भय-जुगुप्सा-वेदकसम्यक्त्वेषु पुनर्युगपत् प्रक्षिप्तेष्वष्टानामुदय, अत्र चैका चतुर्विंशतिर्भङ्गकानाम् । सर्वसङ्ख्यया त्रयोदशबन्धे अष्टौ चतुर्विंशतय ॥ १५ ॥

"चत्तारि" इत्यादि । नवबन्धकेषु प्रमत्तादिषु चतुरादीनि सप्तपर्यन्तानि चत्वारि "उदयस" त्ति उदयरूपविभागस्थानानि, उदयस्थानानीत्यर्थ । तद्यथा—चतस्र पञ्च षड् सप्त । तत्र सञ्ज्वलनक्रोधादीनामन्यतम एक क्रोधादिक, त्रयाणां वेदानामन्यतमो वेद, द्वयोर्युगलयोरन्यतरद् युगलमित्येतासां चतसृणां प्रकृतीनामुदय क्षायिकसम्यग्दृष्टिषु औपशमिकसम्यग्दृष्टिषु वा प्रमत्तादिषु ध्रुव, अत्र चैका भङ्गकानां चतुर्विंशति । अस्मिन्नेव चतुष्के भये वा जुगुप्सायां वा वेदकसम्यक्त्वे वा प्रक्षिप्ते पञ्चानामुदय, अत्र भङ्गकानां तिस्रश्चतुर्विंशतय । तथा तस्मिन्नेव चतुष्के भय-जुगुप्सयोरथवा भय-वेदकसम्यक्त्वयोर्यद्वा जुगुप्सा-वेदकसम्यक्त्वयो प्रक्षिप्तयो षण्णामुदय, अत्रापि तिस्रश्चतुर्विंशतयो भङ्गकानाम् । भय-जुगुप्सा-वेदकसम्यक्त्वेषु तु युगपत् प्रक्षिप्तेषु सप्तानामुदय, अत्र भङ्गकानामेका चतुर्विंशति । सर्वसङ्ख्यया नवबन्धके अष्टौ चतुर्विंशतय । "पंचविहा" इत्यादि । पञ्चविधबन्धकेषु पुनरुदयो द्वयो प्रकृत्योर्ज्ञातव्य, प्रकृतिद्वयात्मकमेकमुदयस्थानमिति भाव[1] । तत्र चतुर्णां सञ्ज्वलनानामेकतम क्रोधादि, त्रयाणां[1] वेदानामन्यतमो वेद, अत्र त्रिभिर्वेदैश्चतुर्भिश्च सञ्ज्वलनैर्द्वादश भङ्गा ॥ १६ ॥

१ स० १ त० °गु युग° ॥

इत्तो चउबंधाई, इक्केकुदया हवंति सव्वे वि।
बंधोवरमे वि तहा, उदयाभावे वि वा होज्जा ॥ १७ ॥

'इत' पञ्चकबन्धादनन्तर चतुर्बन्धादय सर्वेऽपि प्रत्येकम् 'एकैकोदया' एकैकप्रकृत्युदया 'भवन्ति' ज्ञातव्या, तथाहि—चतुर्विधबन्धो भवति पुरुषवेदबन्धव्यवच्छेदे सति, पुरुषवेदस्य च युगपद् बन्ध-उदयौ व्यवच्छिद्येते ततश्चतुर्विधबन्धकाले एकोदय एव भवति, स च चतुर्णां सज्वलनानामन्यतम। अत्र चत्वारो भङ्गा, यत कोऽपि सज्वलनक्रोधेनोदयप्राप्तेन श्रेणिं प्रतिपद्यते, कोऽपि सज्वलनमानेन, कोपि सज्वलनमायया, कोऽपि सज्वलनलोभेनेति चत्वारो भङ्गा। इह केचिच्चतुर्विधबन्धसङ्क्रमकाले त्रयाणा वेदानामन्यतमस्य वेदस्योदयमिच्छन्ति, ततस्तन्मतेन चतुर्विधबन्धकस्यापि प्रथमकाले द्वादश द्विकोदयभङ्गा लभ्यन्ते। तदुक्त **पञ्चसङ्ग्रहमूलटीकायाम्**—

> चतुर्विधबन्धकस्याप्याद्यविभागे त्रयाणा वेदानामन्यतमस्य वेदस्योदय केचिदिच्छन्ति, अतश्चतुर्विधबन्धकस्यापि द्वादश द्विकोदयान् जानीहि। (पत्र २१६) इति।

तथा च सति तेषा मतेन सर्वसङ्ख्यया द्विकोदये चतुर्विंशतिर्भङ्गा अवसेया। सज्वलनक्रोधबन्धव्यवच्छेदे च सति त्रिविधो बन्ध, तत्राप्येकविध एवोदय। अत्र त्रयो भङ्गा, नवरमत्र सज्वलनक्रोधवर्जाना त्रयाणामन्यतम इति वक्तव्यम्, यत सज्वलनक्रोधोदये सत्यवश्य सज्वलनक्रोधस्य बन्धेन भवितव्यम् "जे वेयइ ते बंधइ" ( ) इति वचनात्, तथा च सति चतुर्विध एव बन्ध प्रसक्त। तत सज्वलनक्रोधस्य बन्धे व्यवच्छिद्यमाने उदयोऽपि व्यवच्छिद्यत इति त्रिविधे[6] बन्धे एकविध उदयस्त्रयाणामन्यतम इति वक्तव्यम्। सज्वलनमानबन्धव्यवच्छेदे द्विविधो बन्ध, तत्राप्येकविध एवोदय, केवल स माया-लोभयोरन्यतर इति वक्तव्य, युक्ति प्रागिवात्राप्यनुसरणीया, अत्र च द्वौ भङ्गौ। सज्वलनमायाबन्धव्यवच्छेदे एकस्य सज्वलनलोभस्य बन्ध तस्यैव चोदय, अत्रैको भङ्ग। इह यद्यपि चतुरादिषु बन्धस्थानेषु सज्वलनानामुदयमधिकृत्य न कश्चिद् विशेष, तथापि बन्धस्थानापेक्षया भेदोऽस्तीति भङ्गा पृथगमे गणयिष्यन्ते। तथा 'बन्धोपरमेऽपि' बन्धाभावेऽपि मोहनीयस्य सूक्ष्मसम्पराय गुणस्थानके एकविध उदयो भवति, स च सज्वलनलोभस्यावसेय, तद्गतसूक्ष्मकिट्टिवेदनात्। तत परम् 'उदयाभावेऽपि' उदयेऽपगतेऽपि उपशान्तकषायमधिकृत्य मोहनीय सद् भवति, एतच्च प्रसङ्गागतमिति कृत्वोक्तम्, अन्यथा बन्धस्थानोदयस्थानेषु परस्पर सवेधेन चिन्त्यमानेषु नेद सत्कर्मताभिधानमुपयोगीति ॥ १७ ॥

सम्प्रति दशादिषु एकपर्यवसानेषु उदयस्थानेषु यावन्तो भङ्गा सम्भवन्ति तावतो निर्दिदिक्षुराह—

---

१ स० छा० °क्कबंधो ब° ॥ २ स० छा० °मणका° ॥ ३ स० त० °क एकोद° ॥ ४ या यदयन्ति स बध्यति ॥ ५ स० स० १ त० छा० °इ से ब° ॥ ६ स० °धबन्धे ॥ ७ स० °क्तव्य ॥

एक्कग छक्केक्कारस, दस सत्त चउक्क एक्कगा चेव ।
एए चउवीसगया, चउवीस दुगेक्कमिक्कारा ॥ १८ ॥

इह दशादीन्युदयस्थानान्यधिकृत्य यथासङ्ख्य सङ्ख्यापन्योजना कर्तव्या, सा चैवम्—दशोदये एका चतुर्विंशति । नवोदये षट्, तद्यथा—द्वाविंशतिबन्धे तिस्र , एकविंशतिबन्धे मिश्राऽविरतसम्यग्दृष्टिसप्तदशबन्धे च प्रत्येकमेकैका । अष्टोदये एकादश—तत्र द्वाविंशतिबन्धे अविरतसम्यग्दृष्टिसप्तदशबन्धे च प्रत्येक तिस्र तिस्र , एकविंशतिबन्धे मिश्रसप्तदशबन्धे च प्रत्येक द्वे द्वे, त्रयोदशबन्धे चैका । तथा सप्तोदये दश—तत्र द्वाविंशतिबन्धे एकविंशतिबन्धे मिश्रसप्तदशबन्धे च प्रत्येकमेकैका, अविरतसम्यग्दृष्टिसप्तदशबन्धे त्रयोदशबन्धे च प्रत्येक तिस्र तिस्र , नवकबन्धे त्वेका । तथा षडुदये सप्त—तत्राविरतसम्यग्दृष्टिसप्तदशबन्धे एका, त्रयोदशबन्धे नवकबन्धे च प्रत्येक तिस्र तिस्र । तथा पञ्चकोदये चतस्र —तत्र त्रयोदशबन्धे एका, नवबन्धे तिस्र । चतुष्कोदये एका चतुर्विंशति । "एए चउवीसगया" त्ति 'एते' अनन्तरोक्ता एकादिका सङ्ख्याविशेषा 'चतुर्विंशतिगता' चतुर्विंशत्यभिधायका एता अनन्तरोक्ताश्चतुर्विंशतयो ज्ञातव्या इत्यर्थ । एताश्च सर्वसङ्ख्यया चत्वारिंशत् । तथा "चउवीस दुगे" त्ति द्विकोदये चतुर्विंशतिरेका भङ्गकानाम्, एतच्च मतान्तरेणोक्तम्, अन्यथा स्वमते द्वादशैव भङ्गा वेदितव्या । "इक्कमिक्कार" त्ति एकोदये एकादश भङ्गा । ते चैवम्—चतुर्विधबन्धे चत्वार , त्रिविधबन्धे त्रय , द्विविधबन्धे द्वौ, एकविधबन्धे एक , बन्धाभावे चैक इति ॥ १८ ॥

सम्प्रत्येतेषामेव भङ्गाना विशिष्टतरसङ्ख्यानिरूपणार्थमाह—

नवपंचाणउइसएहुदयविगप्पेहिं मोहिया जीवा ।

इह दशादिषु द्विकपर्यवसानेषु उदयस्थानेषु उदयस्थानभङ्गकानामेकचत्वारिंशत् चतुर्विंशतयो लब्धा , तत एकचत्वारिंशत् चतुर्विंशत्या गुण्यते, गुणिताया च सत्या जातानि नव शतानि चतुरशीत्यधिकानि ९८४ । तत तत्रैकोदयभङ्गा एकादश प्रक्षिप्यन्ते, तेषु च प्रक्षिप्तेषु नव शतानि पञ्चनवत्यधिकानि ९९५ भवन्ति । एतावद्भिरुदयस्थानविकल्पैर्यथायोग सर्वे ससारिणो जीवा 'मोहिता' मोहमापादिता विज्ञेया ॥

सम्प्रति पदसङ्ख्यानिरूपणार्थमाह—

अउणत्तरिएगुत्तरिपयविंदसएहिं विन्नेया ॥ १९ ॥

इह पदानि नाम—मिथ्यात्वम् अप्रत्याख्यानावरणक्रोध प्रत्याख्यानावरणक्रोध इत्येवमादीनि, ततो वृन्दाना—दशाद्युदयस्थानरूपाणा पदानि पदवृन्दानि, आर्षत्वाद् राजदन्तादिषु मध्ये पाठाभ्युपगमाद्वा वृन्दशब्दस्य परनिपात , तेषा शतैरेकसप्तत्यधिकैकोनसप्ततिसङ्ख्यै ६९७१

१ स० भङ्गका° ॥ २ स० १ त० °ना वेदितव्या ॥

इत्तो चउबधाई, इक्केकुदया हवंति सव्वे वि।
बंधोवरमे वि तहा, उदयाभावे वि वा होज्जा ॥ १७ ॥

'इत' पञ्चकबन्धादनन्तर चतुर्बन्धादय सर्वेऽपि प्रत्येकम् 'एकैकोदया' एकैकप्रकृत्युदया 'भवन्ति' ज्ञातव्या, तथाहि—चतुर्विधबन्धो भवति पुरुषवेदबन्धव्यवच्छेदे सति, पुरुषवेदस्य च युगपद् बन्ध-उदयौ व्यवच्छिद्येते ततश्चतुर्विधबन्धकाले एकोदय एव भवति, स च चतुर्णां सज्वलनानामन्यतम। अत्र चत्वारो भङ्गा, यत कोऽपि सज्वलनक्रोधेनोदयप्राप्तेन श्रेणिं प्रतिपद्यते, कोऽपि सज्वलनमानेन, कोपि सज्वलनमायया, कोऽपि सज्वलनलोभेनेति चत्वारो भङ्गा। इह केचिच्चतुर्विधबन्धसङ्क्रमकाले त्रयाणा वेदानामन्यतमस्य वेदस्योदयमिच्छन्ति, ततस्तन्मतेन चतुर्विधबन्धकस्यापि प्रथमकाले द्वादश द्विकोदयभङ्गा लभ्यन्ते। तदुक्त पञ्चसङ्ग्रहमूलटीकायाम्—

> चतुर्विधबन्धकस्याप्याद्यविभागे त्रयाणा वेदानामन्यतमस्य वेदस्योदय केचिदिच्छन्ति, अतश्चतुर्विधबन्धकस्यापि द्वादश द्विकोदयान् जानीहि। (पत्र २१६) इति।

तथा च सति तेषा मतेन सर्वसङ्ख्यया द्विकोदये चतुर्विंशतिर्भङ्गा अवसेया। सज्वलनक्रोधबन्धव्यवच्छेदे च सति त्रिविधो बन्ध, तत्राप्येकविध एवोदय। अत्र त्रयो भङ्गा, ननु मत्र सज्वलनक्रोधवर्जाना त्रयाणामन्यतम इति वक्तव्यम्, यत सज्वलनक्रोधोदये सत्यवश्य सज्वलनक्रोधस्य बन्धेन भवितव्यम् "जे वेयइ ते बधइ" ( ) इति वचनात्, तथा च सति चतुर्विध एव बन्ध प्रसक्त। तत सज्वलनक्रोधस्य बन्धे व्यवच्छिद्यमाने उदयोऽपि व्यवच्छिद्यत इति त्रिविधे बन्धे एकविध उदयस्त्रयाणामन्यतम इति वक्तव्यम्। सज्वलनमानबन्धव्यवच्छेदे द्विविधो बन्ध, तत्राप्येकविध एवोदय, केवल स माया लोभयोरन्यतर इति वक्तव्य, युक्ति प्रागिवात्राप्यनुसरणीया, अत्र च द्वौ भङ्गौ। सज्वलनमायाबन्धव्यवच्छेदे एकस्य सज्वलनलोभस्य बन्ध तस्यैव चोदय, अत्रैको भङ्ग। इह यद्यपि चतुरादिषु बन्धस्थानेषु सज्वलनानामुदयमधिकृत्य न कश्चिद् विशेष, तथापि बन्धस्थानापेक्षया भेदोऽस्तीति भङ्गा पृथगग्रे गणयिष्यन्ते। तथा 'बन्धोपरमेऽपि' बन्धाभावेऽपि मोहनीयस्य सूक्ष्मसम्पराय गुणस्थानके एकविध उदयो भवति, स च सज्वलनलोभस्यावसेय, तद्गतसूक्ष्मकिट्टिवेदनात्। तत परम् 'उदयाभावेऽपि' उदयेऽपगतेऽपि उपशान्तकषायमधिकृत्य मोहनीय सद् भवति, एतच्च प्रसङ्गागतमिति कृत्वोक्तम्, अन्यथा बन्धस्थानोदयस्थानेषु परस्पर सवेधेन चिन्त्यमानेषु नेद सत्कर्मताभिधानमुपयोगीति ॥ १७ ॥

सम्प्रति दशादिषु एकपर्यवसानेषु उदयस्थानेषु यावन्तो भङ्गा सम्भवन्ति तावतो निर्दिदिक्षुराह—

१ स० छा० °तुर्बन्धो ब° ॥ २ स० छा० °भणका° ॥ ३ स० त० °क एवोद° ॥ ४ यो वदयति स बन्धयति ॥ ५ स० स० १ त० छा० °इ से ब° ॥ ६ स० °धबन्धे ॥ ७ स० °स्य ॥

एक्कग छक्केक्कारस, दस सत्त चउक्क एक्कगा चेव ।
एए चउवीसगया, चउवीस दुगेक्कमिक्कारा ॥ १८ ॥

इह दशादीन्युदयस्थानान्यधिकृत्य यथासङ्ख्य सङ्ख्यापदयोजना कर्तव्या, सा चैवम्—दशोदये एका चतुर्विंशति । नवोदये षट्, तद्यथा—द्वाविंशतिबन्धे तिस्र , एकविंशतिबन्धे मिश्राऽविरतसम्यग्दृष्टिसप्तदशबन्धे च प्रत्येकमेकैका । अष्टोदये एकादश—तत्र द्वाविंशतिबन्धे अविरतसम्यग्दृष्टिसप्तदशबन्धे च प्रत्येक तिस्र तिस्र , एकविंशतिबन्धे मिश्रसप्तदशबन्धे च प्रत्येक द्वे द्वे, त्रयोदशबन्धे चैका । तथा सप्तोदये दश—तत्र द्वाविंशतिबन्धे एकविंशतिबन्धे मिश्रसप्तदशबन्धे च प्रत्येकमेकैका, अविरतसम्यग्दृष्टिसप्तदशबन्धे त्रयोदशबन्धे च प्रत्येक तिस्र तिस्र , नवकबन्धे चैका । तथा षडुदये सप्त—तत्राविरतसम्यग्दृष्टिसप्तदशबन्धे एका, त्रयोदशबन्धे नवकबन्धे च प्रत्येक तिस्र तिस्र । तथा पञ्चकोदये चतस्र —तत्र त्रयोदशबन्धे एका, नवबन्धे तिस्र । चतुष्कोदये एका चतुर्विंशति । "एए चउवीसगय" त्ति 'एते' अनन्तरोक्ता एकादिका सङ्ख्याविशेषा 'चतुर्विंशतिगता' चतुर्विंशत्यभिधायका एता अनन्तरोक्ताश्चतुर्विंशतयो ज्ञातव्या इत्यर्थ । एताश्च सर्वसङ्ख्यया चत्वारिंशत् । तथा "चउवीस दुगे" त्ति द्विकोदये चतुर्विंशतिरेका भङ्गकानाम्, एतच्च मतान्तरेणोक्तम्, अन्यथा स्वमते द्वादशैव भङ्गा वेदितव्या । "इक्कमिक्कार" त्ति एकोदये एकादश भङ्गा । ते चैवम्—चतुर्विधबन्धे चत्वार , त्रिविधबन्धे त्रय , द्विविधबन्धे द्वौ, एकविधबन्धे एक , बन्धाभावे चैक इति ॥ १८ ॥

सम्प्रत्येतेषामेव भङ्गाना विशिष्टतरसङ्ख्यानिरूपणार्थमाह—

नवपचाणउइसएहुदयविगप्पेहिं मोहिया जीवा ।

इह दशादिषु द्विकपर्यवसानेषु उदयस्थानेषु उदयस्थानभङ्गकानामेकचत्वारिंशत् चतुर्विंशतयो लब्धा , तत एकचत्वारिंशत् चतुर्विंशत्या गुण्यते, गुणिताया च सत्या जातानि नव शतानि चतुरशीत्यधिकानि ९८४ । तत तत्रैकोदयभङ्गा एकादश प्रक्षिप्यन्ते, तेषु च प्रक्षिप्तेषु नव शतानि पञ्चनवत्यधिकानि ९९५ भवन्ति । एतावद्भिरुदयस्थानविकल्पैर्यथायोग सर्वे संसारिणो जीवा 'मोहिता' मोहमापादिता विज्ञेया ॥

सम्प्रति पदसङ्ख्यानिरूपणार्थमाह—

अउणत्तरिएगुत्तरिपयविंदसएहिं विन्नेया ॥ १९ ॥

इह पदानि नाम–मिथ्यात्वम् अप्रत्याख्यानावरणक्रोध प्रत्याख्यानावरणक्रोध इत्येवमादीनि, ततो वृन्दाना–दशाद्युदयस्थानरूपाणा पदानि पदवृन्दानि, आर्षत्वाद राजदन्तादिषु मध्ये पाठाभ्युपगमाद्वा वृन्दशब्दस्य परनिपात , तेषा शतैरेकसप्तत्यधिकैरेकोनसप्ततिसङ्ख्यै ६९७१

१ स० भङ्गका° ॥ २ स० १ त० °ता वेदितव्या ॥

इत्तो चउबंधाई, इक्केकुदया हवंति सव्वे वि।
बंधोवरमे वि तहा, उदयाभावे वि वा होज्जा॥ १७॥

'इत' पञ्चकबन्धादनन्तर चतुर्बन्धादय सर्वेऽपि प्रत्येकम् 'एककोदया' एककप्रकृत्युदया 'भवन्ति' ज्ञातव्या, तथाहि—चतुर्विधबन्धो भवति पुरुषवेदबन्धव्यवच्छेदे सति, पुरुषवेदस्य च युगपद् बन्ध-उदयौ व्यवच्छियेते ततश्चतुर्विधबन्धकाले एकोदय एव भवति, स च चतुर्णां सञ्ज्वलनानामन्यतम। अत्र चत्वारो भङ्गा, यत कोऽपि सञ्ज्वलनक्रोधेनोदयप्राप्तेन श्रेणिं प्रतिपद्यते, कोऽपि सञ्ज्वलनमानेन, कोऽपि सञ्ज्वलनमायया, कोऽपि सञ्ज्वलनलोभेनेति चत्वारो भङ्गा। इह केचिच्चतुर्विधबन्धसङ्क्रमकाले त्रयाणा वेदानामन्यतमस्य वेदस्योदयमिच्छन्ति, ततस्तन्मतेन चतुर्विधबन्धकस्यापि प्रथमकाले द्वादश द्विकोदयभङ्गा लभ्यन्ते। तदुक्त पञ्चसङ्ग्रहमूलटीकायाम्—

> चतुर्विधबन्धकस्याप्याद्यविभागे त्रयाणा वेदानामन्यतमस्य वेदस्योदय केचिदिच्छन्ति, अतश्चतुर्विधबन्धकस्यापि द्वादश द्विकोदयान् जानीहि। (पत्र २१६) इति।

तथा च सति तेषा मतेन सर्वसङ्ख्यया द्विकोदये चतुर्विंशतिर्भङ्गा अवसेया। सञ्ज्वलनक्रोधबन्धव्यवच्छेदे च सति त्रिविधो बन्ध, तत्राप्येकविध एवोदय। अत्र त्रयो भङ्गा, नवरमत्र सञ्ज्वलनक्रोधवर्जाना त्रयाणामन्यतम इति वक्तव्यम्, यत सञ्ज्वलनक्रोधोदये सत्यवश्य सञ्ज्वलनक्रोधस्य बन्धेन भवितव्यम् "जे वेयइ ते बधइ" ( ) इति वचनात्, तथा च सति चतुर्विध एव बन्ध प्रसक्त। तत सञ्ज्वलनक्रोधस्य बन्धे व्यवच्छिद्यमाने उदयोऽपि व्यवच्छिद्यत इति त्रिविधे[6] बन्धे एकविध उदयस्त्रयाणामन्यतम इति वक्तव्यम्। सञ्ज्वलनमानबन्धव्यवच्छेदे द्विविधो बन्ध, तत्राप्येकविध एवोदय, केवल स माया-लोभयोरन्यतर इति वक्तव्य, युक्ति प्रागिवात्राप्यनुसरणीया, अत्र च द्वौ भङ्गौ। सञ्ज्वलनमायाबन्धव्यवच्छेदे एकस्य सञ्ज्वलनलोभस्य बन्ध तस्यैव चोदय, अत्रैको भङ्ग। इह यद्यपि चतुरादिषु बन्धस्थानेषु सञ्ज्वलनानामुदयमधिकृत्य न कश्चिद् विशेष, तथापि बन्धस्थानापेक्षया भेदोऽस्तीति भङ्गा पृथगमी गणयिष्यन्ते। तथा 'बन्धोपरमेऽपि' बन्धाभावेऽपि मोहनीयस्य सूक्ष्मसम्पराय गुणस्थानके एकविध उदयो भवति, स च सञ्ज्वलनलोभस्यावसेय, तद्दलसूक्ष्मकिट्टिवेदनात्। तत परम् 'उदयाभावेऽपि' उदयेऽपगतेऽपि उपशान्तकषायमधिकृत्य मोहनीय सद् भवति, एतच्च प्रसङ्गागतमिति कृत्वोक्तम्, अन्यथा बन्धस्थानोदयस्थानेषु परस्पर संवेधेन चिन्त्यमानेषु नेद सत्कर्मताभिधानमुपयोगीति॥ १७॥

सम्प्रति दशादिषु एकपर्यवसानेषु उदयस्थानेषु यावन्तो भङ्गा सम्भवन्ति तावतो निर्दिदिक्षुराह—

---

१ स० छा० °तुर्विधो ब° ॥ २ स० छा० "भणका°॥ ३ स० त० "क एकोद° ॥ ४ या यदयति स बन्धयति ॥ ५ स० स० १ त० छा० °इ से ब° ॥ ६ स० °धबन्धे ॥ ७ स० °क्तव्य ॥

तदेव बन्धस्थानानामुदयस्थानैः सह परस्परसंवेध उक्तः । सम्प्रति सत्तास्थानैः सह तमभिधित्सुराह—

तिन्नेव य बावीसे, इगवीसे अट्ठवीस सत्तरसे ।
छ च्चेव तेरनवबंधगेसु पंचेव ठाणाइं ॥ २१ ॥

पंचविहचउविहेसुं, छ छक्क सेसेसु जाण पंचेव ।
पत्तेयं पत्तेयं, चत्तारि य बंधवोच्छेए ॥ २२ ॥

'द्वाविंशतौ' द्वाविंशतिबन्धे त्रीणि सत्तास्थानानि, तद्यथा—अष्टाविंशतिः सप्तविंशतिः षड्विंशतिश्च । तथाहि—द्वाविंशतिबन्धो मिथ्यादृष्टेः, मिथ्यादृष्टेश्चत्वार्युदयस्थानानि, तद्यथा—सप्त अष्टौ नव दश । तत्र सप्तोदयेऽष्टाविंशतिरेकं सत्तास्थानम्, यतः सप्तोदयोऽनन्तानुबन्ध्युदयाभावे भवति, अनन्तानुबन्ध्युदयरहितश्च येन पूर्वं सम्यग्दृष्टिना सता अनन्तानुबन्धिन उद्वलिताः ततः कालान्तरेण परिणामवशतो मिथ्यात्वं गतेन भूयोऽपि मिथ्यात्वप्रत्ययेन तेऽनन्तानुबन्धिनो बन्द्धुमारभ्यन्ते स एव मिथ्यादृष्टिर्बन्धावलिकामात्रं कालं यावदनन्तानुबन्ध्युदयरहितः प्राप्यते नान्यः, स चाष्टाविंशतिसत्कर्मा इति अष्टाविंशतिरेवैकं सप्तोदये सत्तास्थानम् । अष्टोदये त्रीण्यपि सत्तास्थानानि, यतोऽष्टोदयो द्विधा—अनन्तानुबन्ध्युदयरहितोऽनन्तानुबन्ध्युदयसहितश्च । तत्र योऽनन्तानुबन्ध्युदयरहितोऽष्टोदयस्तत्र प्रागुक्तयुक्तेरष्टाविंशतिरेव सत्तास्थानम् । अनन्तानुबन्ध्युदयसहिते तु त्रीण्यपि सत्तास्थानानि—तत्र यावद् नाद्यापि सम्यक्त्वमुद्वलयति तावदष्टाविंशतिः, सम्यक्त्वे उद्वलिते सप्तविंशतिः, सम्यग्मिथ्यात्वेऽप्युद्वलिते षड्विंशतिः, अनादिमिथ्यादृष्टेर्वा षड्विंशतिः । एवं नवोदयेऽप्यनन्तानुबन्ध्युदयरहितेऽष्टाविंशतिरेव, अनन्तानुबन्ध्युदयसहिते तु त्रीण्यपि । दशोदयस्त्वनन्तानुबन्ध्युदयसहित एव भवति, ततस्तत्रापि त्रीणि सत्तास्थानानि भावनीयानि ।

"इगवीसे अट्ठवीस" त्ति 'एकविंशतौ' एकविंशतिबन्धेऽष्टाविंशतिरेकं सत्तास्थानम् । एकविंशतिबन्धो हि सासादनसम्यग्दृष्टेर्भवति, सासादनत्वं च जीवस्यौपशमिकसम्यक्त्वात् प्रच्यवमानस्योपजायते, सम्यक्त्वगुणेन च मिथ्यात्वं त्रिधा कृतम्, तद्यथा—सम्यक्त्वं मिश्रं मिथ्यात्वं च, ततो दर्शनत्रिकस्यापि सत्कर्मतया प्राप्यमाणत्वाद् एकविंशतिबन्धे त्रिष्वप्युदयस्थानेष्वष्टाविंशतिरेकं सत्तास्थानं भवति ।

"सत्तरसे छ च्चेव" सप्तदशबन्धे षट् सत्तास्थानानि, तद्यथा—अष्टाविंशतिः सप्तविंशतिः चतुर्विंशतिः त्रयोविंशतिः द्वाविंशतिः एकविंशतिश्च । सप्तदशबन्धो हि द्वयानां भवति, तद्यथा—सम्यग्मिथ्यादृष्टीनामविरतसम्यग्दृष्टीनां च । तत्र सम्यग्मिथ्यादृष्टीनां त्रीण्युदयस्थानानि, तद्यथा—सप्त अष्टौ नव । अविरतसम्यग्दृष्टीनां चत्वारि, तद्यथा—षट् सप्त अष्टौ नव । तत्र षडुदयोऽविरतानामौपशमिकसम्यग्दृष्टीनां क्षायिकसम्यग्दृष्टीनां वा प्राप्यते । तत्रौपशमिकसम्यग्दृष्टीनां द्वे सत्तास्थाने, तद्यथा—अष्टाविंशतिः चतुर्विंशतिश्च । तत्राष्टाविंशतिः प्रथमसम्यक्त्वोत्पादकाले,

१ छा० मुद्रि० °उविहेसु ॥

मोहिता ससारिणो जीवा विज्ञेया, एतावत्सङ्ख्याभि कर्मप्रकृतिभिर्यथायोग मोहिता संसारिण जीवा ज्ञातव्या इत्यर्थ ।

अथ कथमेकसप्तत्यधिकैकोनसप्ततिसङ्ख्यानि पदाना शतानि भवन्ति ? उच्यते—इ दशोदये दशपदानि, दशप्रकृतय उदयमागता इत्यर्थ, एव नवोदयादिष्वपि नवादीनि पदा भावनीयानि । ततो दशोदय एको दशभिर्गुण्यते, नवोदयाश्च षड् नवभि, अष्टोदयाश्च एका दश अष्टभि, सप्तोदया दश सप्तभि, षडुदया सप्त षड्भि, पञ्चकोदयाश्चत्वार पञ्चभि चतुरुदय एकश्चतुर्भि, द्विकोदय एको द्वाभ्याम्, गुणयित्वा चैते सर्वेऽपि एकत्र मील्यन्ते तत जाते द्वे शते नवत्यधिके २९० । एतेषु च प्रत्येकमेकैका चतुर्विंशतिर्भङ्गकाना प्राप्यत इति भूयश्चतुर्विंशत्या गुण्यन्ते, गुणितेषु च सत्सु एकोदयभङ्गपदान्येकादश प्रक्षिप्यन्ते ततो यथो क्तसङ्ख्यान्येव पदाना शतानि भवन्ति । इय चोदयस्थानसङ्ख्या पदसङ्ख्या च ये मतान्तरेण चतुर्विधबन्धसङ्क्रमकाले द्विकोदये द्वादश भङ्गा उक्तास्तानधिकृत्य वेदितव्या ॥ १९ ॥

यदा पुनरेते नाधिक्रियन्ते तदा इयमुदयस्थानपदसङ्ख्या—

नवतेसीयसएहिं, उदयविगप्पेहिं मोहिया जीवा ।
अउणत्तरिसीयाला, पयविंदसएहिं विन्नेया ॥ २० ॥

उदयविकल्पैस्त्र्यशीत्यधिकनवशतसङ्ख्यै ९८३ तथा दशोदयादिरूपवृन्दान्तर्गताना पदाना शतै सप्तचत्वारिंशदधिकैकोनसप्ततिसङ्ख्यै ६९४७ यथायोग सर्वेऽपि ससारिणो जीवा 'मोहिता' मोहमापादिता विज्ञेया । तत्रोदयस्थानेषु पूर्वोक्तप्रकारेण परिसङ्ख्यायमानेषु ये मतान्तरेणोक्ता श्चतुर्विधबन्धस्थाने द्विकोदये द्वादश भङ्गास्तेऽपनीयन्ते, ततो नव शतानि त्र्यशीत्यधिकानि ९८३ उदयविकल्पाना भवन्ति । पदेषु च परिसङ्ख्यायमानेषु मतान्तरेणोक्तद्वादशभङ्गगतानि चतुर्विंशतिपदानि अपनीयन्ते, ततो यथोक्तपदाना सङ्ख्या भवति । इह दशादय उदयास्तद्भङ्गाश्च जघन्यत एकसामयिका उत्कर्षत आन्तर्मौहूर्तिका, तथाहि—चतुरादिषु दशोदयपर्यन्तेष्ववश्य मन्यतमो वेदोऽन्यतरद् युगल नियते, वेदयुगलयोश्च मध्येऽन्यतरदवश्य मुहूर्तादारत परावर्तते, तदुक्त पञ्चसङ्ग्रहमूलटीकायाम्—

वेदेन युगलेन वा अवश्य मुहूर्तादारत परावर्तितव्यम् (पत्र २१७) इति ।

तत उत्कर्षत चतुष्कोदयादय सर्वेऽप्यान्तर्मौहूर्तिका । द्विकोदयैककोदयाश्च आन्तर्मौहूर्तिका सुप्रतीता एव । तथा यदा विवक्षिते उदये भङ्गे वा एक समय वर्तित्वा द्वितीये समये गुणस्थानान्तर गच्छति तदा अवश्य बन्धस्थानभेदाद् गुणस्थानभेदात् स्वरूपतो वा भिन्नमुद यान्तर वा भङ्गान्तर वा यातीति सर्वेऽप्युदया भङ्गाश्च जघन्यत एकसामयिका ॥ २० ॥

१ स० त० छा० नव ॥ २ स० १ त० °य । प° ॥ ३ स० १ त० °स्थानेषु द्वि° ॥ ४ स० छा० °न्तरोक्तद्वा° ॥ ५ स० १ छा० गच्छति ॥ ६ स० १ म० यातीति ॥

तदेव बन्धस्थानानामुदयस्थानैः सह परस्परसंवेध उक्तः । सम्प्रति सत्तास्थानैः सह तमभिधित्सुराह—

तिन्नेव य बावीसे, इगवीसे अट्ठवीस सत्तरसे ।
छ च्चेव तेरनवबंधगेसु पंचेव ठाणाइं ॥ २१ ॥

पंचविह²चउविहेसुं, छ छक्क सेसेसु जाण पंचेव ।
पत्तेयं पत्तेयं, चत्तारि य बंधवोच्छेए ॥ २२ ॥

'द्वाविंशतौ' द्वाविंशतिबन्धे त्रीणि सत्तास्थानानि, तद्यथा—अष्टाविंशतिः सप्तविंशतिः षड्विंशतिश्च । तथाहि—द्वाविंशतिबन्धो मिथ्यादृष्टेः, मिथ्यादृष्टेश्चत्वार्युदयस्थानानि, तद्यथा—सप्त अष्टौ नव दश । तत्र सप्तोदयेऽष्टाविंशतिरेकं सत्तास्थानम्, यतः सप्तोदयोऽनन्तानुबन्ध्युदयाभावे भवति, अनन्तानुबन्ध्युदयरहितश्च येन पूर्वं सम्यग्दृष्टिना सता अनन्तानुबन्धिन उद्वलिताः ततः कालान्तरेण परिणामवशतो मिथ्यात्वं गतेन भूयोऽपि मिथ्यात्वप्रत्ययेन तेऽनन्तानुबन्धिनो बन्द्धुमारभ्यन्ते स एव मिथ्यादृष्टिर्बन्धावलिकामात्रं कालं यावदनन्तानुबन्ध्युदयरहितः प्राप्यते नान्यः, स चाष्टाविंशतिसत्कर्मा इति अष्टाविंशतिरेवैकं सप्तोदये सत्तास्थानम् । अष्टोदये त्रीण्यपि सत्तास्थानानि, यतोऽष्टोदयो द्विधा—अनन्तानुबन्ध्युदयरहितोऽनन्तानुबन्ध्युदयसहितश्च । तत्र योऽनन्तानुबन्ध्युदयरहितोऽष्टोदयस्तत्र प्रागुक्तयुक्तेरष्टाविंशतिरेव सत्तास्थानम् । अनन्तानुबन्ध्युदयसहिते तु त्रीण्यपि सत्तास्थानानि—तत्र यावद् नाद्यापि सम्यक्त्वमुद्वलयति तावदष्टाविंशतिः, सम्यक्त्वे उद्वलिते सप्तविंशतिः, सम्यग्मिथ्यात्वेऽप्युद्वलिते षड्विंशतिः, अनादिमिथ्यादृष्टेर्वा षड्विंशतिः । एवं नवोदयेऽप्यनन्तानुबन्ध्युदयरहितेऽष्टाविंशतिरेव, अनन्तानुबन्ध्युदयसहिते तु त्रीण्यपि । दशोदयस्त्वनन्तानुबन्ध्युदयसहित एव भवति, ततस्तत्रापि त्रीणि सत्तास्थानानि भावनीयानि ।

"इगवीसे अट्ठवीस" त्ति 'एकविंशतौ' एकविंशतिबन्धेऽष्टाविंशतिरेकं सत्तास्थानम् । एकविंशतिबन्धो हि सासादनसम्यग्दृष्टेर्भवति, सासादनत्वं च जीवस्यौपशमिकसम्यक्त्वात् प्रच्यवमानस्योपजायते, सम्यक्त्वगुणेन च मिथ्यात्वं त्रिधा कृतम्, तद्यथा—सम्यक्त्वं मिश्रं मिथ्यात्वं च, ततो दर्शनत्रिकस्यापि सत्कर्मतया प्राप्यमाणत्वाद् एकविंशतिबन्धे निष्वप्युदयस्थानेष्वष्टाविंशतिरेकं सत्तास्थानं भवति ।

"सत्तरसे छ च्चेव" सप्तदशबन्धे षट् सत्तास्थानानि, तद्यथा—अष्टाविंशतिः सप्तविंशतिः चतुर्विंशतिः त्रयोविंशतिः द्वाविंशतिः एकविंशतिश्च । सप्तदशबन्धो हि द्वयानां भवति, तद्यथा—सम्यग्मिथ्यादृष्टीनामविरतसम्यग्दृष्टीनां च । तत्र सम्यग्मिथ्यादृष्टीनां त्रीण्युदयस्थानानि, तद्यथा—सप्त अष्टौ नव । अविरतसम्यग्दृष्टीनां चत्वारि, तद्यथा—षट् सप्त अष्टौ नव । तत्र षडुदयोऽविरतानामौपशमिकसम्यग्दृष्टीनां क्षायिकसम्यग्दृष्टीनां वा प्राप्यते । तत्रौपशमिकसम्यग्दृष्टीनां द्वे सत्तास्थाने, तद्यथा—अष्टाविंशतिः चतुर्विंशतिश्च । तत्राष्टाविंशतिः प्रथमसम्यक्त्वोत्पादकाले,

१ छा० मुद्रि० °उविहेसु ॥

मोहिता संसारिणो जीवा विज्ञेया, एतावत्सङ्ख्याभि कर्मप्रकृतिभिर्यथायोग मोहिता संसारिणो जीवा ज्ञातव्या इत्यर्थ ।

अथ कथमेकसप्तत्यधिकैकोनसप्ततिसङ्ख्यानि पदाना शतानि भवन्ति ? उच्यते—इह दशोदये दशपदानि, दशप्रकृतय उदयमागता इत्यर्थ, एव नवोदयादिष्वपि नवादीनि पदानि भावनीयानि। ततो दशोदय एको दशभिर्गुण्यते, नवोदयाश्च षड् नवभि, अष्टोदयाश्च एकादश अष्टभि, सप्तोदया दश सप्तभि, षडुदया सप्त षड्भि, पञ्चकोदयाश्चत्वार पञ्चभि, चतुरुदयं एकश्चतुर्भि, द्विकोदय एको द्वाभ्याम्, गुणयित्वा चैते सर्वेऽपि एकत्र मील्यन्ते ततो जाते द्वे शते नवत्यधिके २९० । एतेषु च प्रत्येकमेकैका चतुर्विंशतिर्भङ्गकाना प्राप्यत इति भूयश्चतुर्विंशत्या गुण्यन्ते, गुणितेषु च मत्सु एकोदयभङ्गपदान्येकादश प्रक्षिप्यन्ते ततो यथोक्तसङ्ख्यान्येव पदाना शतानि भवन्ति। इय चोदयस्थानसङ्ख्या पदसङ्ख्या च ये मतान्तरेण चतुर्विधबन्धसङ्क्रमकाले द्विकोदये द्वादश भङ्गा उक्तास्तानधिकृत्य वेदितव्या ॥ १९ ॥

यदा पुनरेते नाधिक्रियन्ते तदा इयमुदयस्थानपदसङ्ख्या—

नवतेसीयसएहिं, उदयविगप्पेहिं मोहिया जीवा ।
अउणत्तरिसीयाला, पयविदसएहिं विन्नेया ॥ २० ॥

उदयविकल्पैस्त्र्यशीत्यधिकनवशतसङ्ख्यै ९८३ तथा दशोदयादिरूपवृन्दान्तर्गताना पदाना शतै सप्तचत्वारिंशदधिकैकोनसप्ततिसङ्ख्यै ६९४७ यथायोग सर्वेऽपि ससारिणो जीवा 'मोहिता', मोहमापादिता विज्ञेया । तत्रोदयस्थानेषु पूर्वोक्तप्रकारेण परिसङ्ख्यायमानेषु ये मतान्तरेणोक्ता श्चतुर्विधबन्धस्थाने द्विकोदये द्वादश भङ्गास्तेऽपसार्यन्ते, ततो नव शतानि त्र्यशीत्यधिकानि ९८३ उदयविकल्पाना भवति । पदेषु च परिसङ्ख्यायमानेषु मतान्तरेणोक्तद्वादशभङ्गगतानि चतुर्विंशतिपदानि अपनीयन्ते, ततो यथोक्तपदाना सङ्ख्या भवति । इह दशादय उदयास्तद्भङ्गाश्च जघन्यत एकसामयिका उत्कर्षत आन्तर्मौहूर्तिका, तथाहि—चतुरादिषु दशोदयपर्यन्तेष्ववश्य मन्यतमो वेदोऽन्यतरद् युगल विधत्ते, वेदयुगलयोश्च मध्येऽन्यतरदवश्य मुहूर्तादारत परावर्तते, तदुक्त पञ्चसङ्ग्रहमूलटीकायाम्—

वेदेन युगलेन वा अवश्य मुहूर्तादारत परावर्तितव्यम् (पत्र २१७) इति ।

तत उत्कर्षत चतुष्कोदयादय सर्वेऽप्यान्तर्मौहूर्तिका । द्विकोदयैककोदयाश्च आन्तर्मौहूर्तिका सुप्रतीता एव । तथा यदा विवक्षिते उदये भङ्गे वा एक समय वर्तित्वा द्वितीये समये गुणस्थानान्तर गच्छति तदा अवश्य बन्धस्थानभेदाद् गुणस्थानभेदात् स्वरूपतो वा भिन्नमुदयान्तर वा भङ्गान्तर वा यातीति सर्वेऽप्युदया भङ्गाश्च जघन्यत एकसामयिका ॥ २० ॥

१ स० त० छा० अत्र ॥ २ स० १ त० °यत्र प° ॥ ३ स० १ त० °स्थानेषु द्वि° ॥ ४ स० छा० °न्तराच्चा° ॥ ५ स० १ छा० गच्छति ॥ ६ स० १ म० यातीति ॥

तदेवं बन्धस्थानानामुदयस्थानैः सह परस्परसंवेध उक्तः । सम्प्रति सत्तास्थानैः सह तमभिधित्सुराह—

तिन्नेव य बावीसे, इगवीसे अट्ठवीस सत्तरसे ।
छ च्चेव तेरनवबंधगेसु पंचेव ठाणाइं ॥ २१ ॥

पंचविहचउविहेसुं, छ च्छ सेसेसु जाण पंचेव ।
पत्तेयं पत्तेयं, चत्तारि य बंधवोच्छेए ॥ २२ ॥

'द्वाविंशतौ' द्वाविंशतिबन्धे त्रीणि सत्तास्थानानि, तद्यथा—अष्टाविंशतिः सप्तविंशतिः षड्विंशतिश्च । तथाहि—द्वाविंशतिबन्धो मिथ्यादृष्टेः, मिथ्यादृष्टेश्चत्वार्युदयस्थानानि, तद्यथा—सप्त अष्टौ नव दश । तत्र सप्तोदयेऽष्टाविंशतिरेकं सत्तास्थानम्, यतः सप्तोदयोऽनन्तानुबन्ध्युदयाभावे भवति, अनन्तानुबन्ध्युदयरहितश्च येन पूर्वं सम्यग्दृष्टिना सता अनन्तानुबन्धिन उद्वलिताः ततः कालान्तरेण परिणामवशतो मिथ्यात्वं गतेन भूयोऽपि मिथ्यात्वप्रत्ययेन तेऽनन्तानुबन्धिनो बन्धुमारभ्यन्ते स एव मिथ्यादृष्टिर्बन्धावलिकामात्रं कालं यावदनन्तानुबन्ध्युदयरहितः प्राप्यते नान्यः, स चाष्टाविंशतिसत्कर्मा इति अष्टाविंशतिरेवैकं सप्तोदये सत्तास्थानम् । अष्टोदये त्रीण्यपि सत्तास्थानानि, यतोऽष्टोदयो द्विधा—अनन्तानुबन्ध्युदयरहितोऽनन्तानुबन्ध्युदयसहितश्च । तत्र योऽनन्तानुबन्ध्युदयरहितोऽष्टोदयस्तत्र प्रागुक्तयुक्तेरष्टाविंशतिरेव सत्तास्थानम् । अनन्तानुबन्ध्युदयसहिते तु त्रीण्यपि सत्तास्थानानि—तत्र यावद् नाद्यापि सम्यक्त्वमुद्वलयति तावदष्टाविंशतिः, सम्यक्त्वे उद्वलिते सप्तविंशतिः, सम्यग्मिथ्यात्वेऽप्युद्वलिते षड्विंशतिः, अनादिमिथ्यादृष्टेर्वा षड्विंशतिः । एवं नवोदयेऽप्यनन्तानुबन्ध्युदयरहितेऽष्टाविंशतिरेव, अनन्तानुबन्ध्युदयसहिते तु त्रीण्यपि । दशोदयस्त्वनन्तानुबन्ध्युदयसहित एव भवति, ततस्तत्रापि त्रीणि सत्तास्थानानि भावनीयानि ।

"इगवीसे अट्ठवीस" त्ति 'एकविंशतौ' एकविंशतिबन्धेऽष्टाविंशतिरेकं सत्तास्थानम् । एकविंशतिबन्धो हि सासादनसम्यग्दृष्टेर्भवति, सासादनत्वं च जीवस्यौपशमिकसम्यक्त्वात् प्रच्यवमानस्योपजायते, सम्यक्त्वगुणेन च मिथ्यात्वं त्रिधा कृतम्, तद्यथा—सम्यक्त्वं मिश्रं मिथ्यात्वं च, ततो दर्शनत्रिकस्यापि सत्कर्मतया प्राप्यमाणत्वाद् एकविंशतिबन्धे त्रिष्वप्युदयस्थानेष्वष्टाविंशतिरेकं सत्तास्थानं भवति ।

"सत्तरसे छ च्चेव" सप्तदशबन्धे षट् सत्तास्थानानि, तद्यथा—अष्टाविंशतिः सप्तविंशतिः चतुर्विंशतिः त्रयोविंशतिः द्वाविंशतिः एकविंशतिश्च । सप्तदशबन्धो हि द्वयानां भवति, तद्यथा—सम्यग्मिथ्यादृष्टीनामविरतसम्यग्दृष्टीनां च । तत्र सम्यग्मिथ्यादृष्टीनां त्रीण्युदयस्थानानि, तद्यथा—सप्त अष्टौ नव । अविरतसम्यग्दृष्टीनां चत्वारि, तद्यथा—षट् सप्त अष्टौ नव । तत्र षडुदयोऽविरतानामौपशमिकसम्यग्दृष्टीनां क्षायिकसम्यग्दृष्टीनां वा प्राप्यते । तत्रौपशमिकसम्यग्दृष्टीनां द्वे सत्तास्थाने, तद्यथा—अष्टाविंशतिः चतुर्विंशतिश्च । तत्राष्टाविंशतिः प्रथमसम्यक्त्वोत्पादकाले,

१ छा० मुद्रि० °चव्विहेसु ॥

उपशमश्रेणिप्रतिपाते तु उपशान्तानन्तानुबन्धिनामष्टाविंशति, उद्वलितानन्तानुबन्धिना तु चतुर्विंशति। क्षायिकसम्यग्दृष्टीना त्वेकविंशतिरेव, क्षायिक हि सम्यक्त्व सप्तकक्षये भवति, सप्तकक्षये च जन्तुरेकविंशतिसत्कर्मेति। सर्वसङ्ख्यया षड्उदये त्रीणि सत्तास्थानानि, तद्यथा—अष्टाविंशति चतुर्विंशति एकविंशतिश्चेति। सप्तोदये मिश्रदृष्टीना त्रीणि सत्तास्थानानि, तद्यथा—अष्टाविंशति सप्तविंशति चतुर्विंशतिश्च। तत्र योऽष्टाविंशतिसत्कर्मा सन् सम्यग्मिथ्यात्व प्रतिपद्यते तस्याष्टाविंशति। येन पुनर्मिथ्यादृष्टिना सता प्रथम सम्यक्त्वमुद्वलित सम्यग्मिथ्यात्व च नाद्याप्युद्वलितुमारभ्यते अत्रान्तरे परिणामवशेन मिथ्यात्वाद् विनिवृत्य सम्यग्मिथ्यात्व प्रतिपद्यते तस्य सप्तविंशति। य पुन पूर्वं सम्यग्दृष्टि सन् अनन्तानुबन्धिनो विसयोज्य पश्चात् परिणामवशात सम्यग्मिथ्यात्व प्रतिपद्यते तस्य चतुर्विंशति, सा च चतसृष्वपि गतिषु प्राप्यते, यतश्चतुर्गतिका अपि सम्यग्दृष्टयोऽनन्तानुबन्धिनो विसयोजयन्ति। तदुक्त कर्मप्रकृत्या[1]—

> चेउगइया पज्जत्ता, तिन्नि वि संजोयणे विजोयंति।
> करणेहिं तीहि सहिया, णतरकरण उवसमो वा॥ (गा० ३४३)

अत्र "तिन्नि वि" त्ति अविरता देशविरता सर्वविरता वा यथायोगमिति।

अनन्तानुबन्धिविसयोजनानन्तर च केचित् परिणामवशत सम्यग्मिथ्यात्वमपि प्रतिपद्यन्ते, ततश्चतसृष्वपि गतिषु सम्यग्मिथ्यादृष्टीना चतुर्विंशति सम्भवति। अविरतसम्यग्दृष्टीना तु सप्तोदये पञ्च सत्तास्थानानि, तद्यथा—अष्टाविंशति चतुर्विंशति त्रयोविंशति द्वाविंशति एकविंशतिश्च। तत्राष्टाविंशतिरौपशमिकसम्यग्दृष्टीना वेदकसम्यग्दृष्टीना वा। चतुर्विंशतिरप्युभयेषाम्[3], नवरमनन्तानुबन्धिविसयोजनानन्तर सा अवगन्तव्या। त्रयोविंशतिर्द्वाविंशतिश्च वेदकसम्यग्दृष्टीनामेव। तथाहि—कश्चिद् मनुष्यो वर्षाष्टकस्योपरि वर्तमानो वेदकसम्यग्दृष्टि क्षपणार्थमभ्युद्यतस्तस्यानन्तानुबन्धिषु मिथ्यात्वे च क्षपिते सति त्रयोविंशति, तस्यैव च सम्यग्मिथ्यात्वे क्षपिते द्वाविंशति। स च द्वाविंशतिसत्कर्मा सम्यक्त्व क्षपयन् तच्चरमग्रासे वर्तमान कश्चित् पूर्वबद्धायुष्क कालमपि करोति, काल च कृत्वा चतसृणा गतीनामन्यतमस्या गतावुत्पद्यते। तदुक्तम्—

> पट्टवगो उ मणूसो, निट्ठवगो चउसु वि गईसु[4]। ( )

ततो द्वाविंशतिश्चतसृष्वपि गतिषु प्राप्यते। एकविंशतिस्तु क्षायिकसम्यग्दृष्टीनामेव, यत सप्तकक्षये क्षायिकसम्यग्दृष्टय, सप्तके च क्षीणे सत्तायामेकविंशतिरिति। एवमष्टोदयेऽपि मिश्रदृष्टीनामविरतसम्यग्दृष्टीना चोक्तरूपाण्यन्यूनातिरिक्तानि सत्तास्थानानि भावनीयानि[5]। एव नवोदयेऽपि, नवर नवोदयोऽविरताना वेदकसम्यग्दृष्टीनामेव सम्भवतीति कृत्वा तत्र चत्वारि

१ स० १ त० °भश्रेण्या तूप° ॥ २ चतुर्गतिका पर्याप्ता त्रयोऽपि सयोजनान् वियोजयन्ति। करणैस्त्रिभि सहिता नान्तरकरण उपशमो वा॥ ३ स० त० °याममप्यु० ॥ ४ प्रस्थापकस्तु मनुष्या निष्ठापकश्चतसृष्वपि गतिषु ॥ ५ स० छा० म० °नातिरि° ॥

सत्तास्थानानि वाच्यानि, तद्यथा—अष्टाविंशति चतुर्विंशति त्रयोविंशति द्वाविंशतिश्च। एतानि च प्रागिवावगन्तव्यानि।

"तेरसनवबंधगेसु पंचेव ठाणाइं" त्रयोदशबन्धकेषु नवबन्धकेषु च प्रत्येकं पञ्च पञ्च सत्तास्थानानि, तद्यथा—अष्टाविंशति चतुर्विंशति त्रयोविंशति द्वाविंशति एकविंशतिश्च। तत्र त्रयोदशबन्धका देशविरता, ते च द्विधा—तिर्यञ्चो मनुष्याश्च। तत्र ये तिर्यञ्चस्तेषां चतुर्ष्वप्युदयस्थानेषु द्वे एव सत्तास्थाने, तद्यथा—अष्टाविंशतिश्चतुर्विंशतिश्च। तत्राष्टाविंशतिरौपशमिकसम्यग्दृष्टीनां वेदकसम्यग्दृष्टीनां वा। तत्रौपशमिकसम्यग्दृष्टीनां प्रथमसम्यक्त्वोत्पादकाले, तथाहि—तत्रानीमन्तरकरणाद्धायां वर्तमान औपशमिकसम्यग्दृष्टिः कश्चिद् देशविरतिमपि प्रतिपद्यते, कश्चिद् मनुष्यः पुनः सर्वविरतिमपि। तदुक्तं शतकबृहच्चूर्णौ—

उवसमसम्मद्दिट्ठी अंतरकरणे ठिओ कोइ देसविरइं कोइ पमत्तापमत्तभावं पि गच्छइ, सासायणो पुण न किमवि लहइ। (   ) इति।

वेदकसम्यग्दृष्टीनां त्वष्टाविंशतिः सुप्रतीता। चतुर्विंशतिः पुनरनन्तानुबन्धिषु विसंयोजितेषु वेदकसम्यग्दृष्टीनां वेदितव्या। शेषाणि तु सर्वाण्यपि त्रयोविंशत्यादीनि सत्तास्थानानि तिरश्चां न सम्भवन्ति, तानि हि क्षायिकसम्यक्त्वमुत्पादयतः प्राप्यन्ते, न च तिर्यञ्चः क्षायिकसम्यक्त्वमुत्पादयन्ति, किन्तु मनुष्या एव।

अथ मनुष्याः क्षायिकसम्यक्त्वमुत्पाद्य यदा तिर्यक्षूत्पद्यन्ते तदा तिरश्चोऽप्येकविंशतिः प्राप्यत एव, तत् कथमुच्यते शेषाणि त्रयोविंशत्यादीनि सर्वाण्यपि न सम्भवन्ति ? इति तद् अयुक्तम्, यतः क्षायिकसम्यग्दृष्टिस्तिर्यक्षु न सङ्ख्येयवर्षायुष्केषु मध्ये समुत्पद्यते, किन्त्वसङ्ख्येयवर्षायुष्केषु, न च तत्र देशविरतिः, तदभावाच्च न त्रयोदशबन्धकत्वम्। अत्र त्रयोदशबन्धे सत्तास्थानानि चिन्त्यमानानि वर्तन्ते ततः एकविंशतिरपि त्रयोदशबन्धे तिर्यक्षु न प्राप्यते। तदुक्तं चूर्णौ—

एगवीसा तिरिक्खेसु संजयासंजएसु न सम्भवइ। कहं ? भण्णइ—संखेज्जवासाउएसु तिरिक्खेसु खाइगसम्मद्दिट्ठी न उववज्जइ, असंखेज्जवासाउएसु उववज्जेज्जा, तस्स देसविरई नत्थि। (   ) इति।

ये च मनुष्या देशविरतास्तेषां पञ्चकोदये त्रीणि सत्तास्थानानि। तद्यथा—अष्टाविंशति चतुर्विंशति एकविंशतिश्च। षट्कोदये सप्तोदये च प्रत्येकं पञ्चापि सत्तास्थानानि। अष्टकोदये

---

१ स० १ त० म० छा० °णाणि' ॥ २ उपशमसम्यग्दृष्टिरन्तरकरणे स्थितः कोऽपि देशविरतिं कोऽपि प्रमत्ताप्रमत्तभावमपि गच्छति, सासादनः पुनर्न किमपि लभते ॥ ३ स० १ त० म० छा० °वन्तीति ॥ ४ स० मुद्रि० अथ च ॥ ५ एकविंशतिः तिर्यक्षु संयतासंयतेषु न सम्भवति, कथम् ? भण्यते—सङ्ख्येयवर्षायुष्केषु तिर्यक्षु क्षायिकसम्यग्दृष्टिर्न उपपद्यते, असङ्ख्येयवर्षायुष्केषु उपपद्येत, तस्य देशविरतिर्नास्ति ॥

त्वेकविंशतिवर्जानि शेषाणि चत्वारि। तानि चाविरतसम्यग्दृष्टयुक्तभावनानुसारेण भावनीयानि। एवं नवबन्धकानामपि प्रमत्ता ऽप्रमत्तानां प्रत्येकं चतुष्कोदये त्रीणि त्रीणि सत्तास्थानानि, तद्यथा—अष्टाविंशतिः चतुर्विंशतिः एकविंशतिश्च। पञ्चकोदये षट्कोदये च प्रत्येकं पञ्च पञ्च सत्तास्थानानि। सप्तोदये त्वेकविंशतिवर्जानि शेषाणि चत्वारि सत्तास्थानानि वाच्यानि ॥२१॥

"पंचविहचउविहेसु छ छक्क" त्ति पञ्चविधे चतुर्विधे च बन्धे प्रत्येकं षट् षट् सत्तास्थानानि। तत्र पञ्चविधे बन्धे अमूनि, तद्यथा—अष्टाविंशतिः चतुर्विंशतिः एकविंशतिः त्रयोदश द्वादश एकादश च। तत्राष्टाविंशतिः चतुर्विंशतिश्चौपशमिकसम्यग्दृष्टेरुपशमश्रेण्याम्। एकविंशतिरुपशमश्रेण्यां क्षायिकसम्यग्दृष्टेः। क्षपकश्रेण्यां पुनरष्टौ कषाया यावद् न क्षीयन्ते तावदेकविंशतिः। अष्टसु कषायेषु क्षीणेषु पुनस्त्रयोदश। ततो नपुंसकवेदे क्षीणे द्वादश। ततः स्त्रीवेदे क्षीणे एकादश। पञ्चादीनि तु सत्तास्थानानि पञ्चविधबन्धे न प्राप्यन्ते, यतः पञ्चविधबन्धः पुरुषवेदे बध्यमाने भवति, यावच्च पुरुषवेदस्य बन्धस्तावत् षट् नोकषायाः सन्त एवेति। चतुर्विधबन्धे पुनरमूनि षट् सत्तास्थानानि, तद्यथा—अष्टाविंशतिः चतुर्विंशतिः एकविंशतिः एकादश पञ्च चतस्रः। तत्राष्टाविंशति-चतुर्विंशति एकविंशतय उपशमश्रेण्याम्। एकादश पुनरेवं प्राप्यन्ते—इह कश्चिद् नपुंसकवेदेन क्षपकश्रेणिं प्रतिपन्नः, स च स्त्रीवेद-नपुंसकवेदौ युगपत् क्षपयति, स्त्रीवेद-नपुंसकवेदक्षयसमकालमेव च पुरुषवेदस्य बन्धो व्यवच्छिद्यते, तदनन्तरं च पुरुषवेद-हास्यादिषट्के युगपत् क्षपयति, यदि पुनः स्त्रीवेदेन क्षपकश्रेणिं प्रतिपद्यते, ततः प्रथमतो नपुंसकवेदं क्षपयति, ततोऽन्तर्मुहूर्तेन स्त्रीवेदम्, स्त्रीवेदक्षयसमकालमेव च पुरुषवेदस्य बन्धव्यवच्छेदः, ततस्तदनन्तरं पुरुषवेद-हास्यादिषट्के युगपत् क्षपयति, यावच्च न क्षीयते तावदुभयत्रापि चतुर्विधबन्धे वेदोदयरहितस्य एकोदये वर्तमानस्य एकादशकं सत्तास्थानमवाप्यते। पुरुषवेद-हास्यादिषट्कयोस्तु युगपत् क्षीणयोश्चतस्रः प्रकृतयः सत्यः। एवं च स्त्रीवेदेन नपुंसकवेदेन वा क्षपकश्रेणिं प्रतिपन्नस्य पञ्चप्रकृत्यात्मकं सत्तास्थानं नावाप्यते। यस्तु पुरुषवेदेन क्षपकश्रेणिं प्रतिपद्यते तस्य षण्णोकषायक्षयसमकालं पुरुषवेदस्य बन्धव्यवच्छेदो भवति, ततस्तस्य चतुर्विधबन्धकाले एकादशरूपं सत्तास्थानं न प्राप्यते, किन्तु पञ्चप्रकृत्यात्मकम्, ताश्च पञ्च समयद्वयोनावलिकाद्विकं यावत् सत्यो वेदितव्याः। ततः पुरुषवेदे क्षीणे चतस्रः, ता अप्यन्तर्मुहूर्तं कालं यावत् सत्यः प्रतिपत्तव्याः।

"सेसेसु जाण पंचेव पत्तेयं पत्तेयं" शेषेषु त्रिविधद्विविधैकविधेषु बन्धेषु प्रत्येकं पञ्च पञ्च सत्तास्थानानि। तत्र त्रिविधबन्धे अमूनि—अष्टाविंशतिः चतुर्विंशतिः एकविंशतिः चतस्रः तिस्रः। तत्रादिमानि त्रीणि उपशमश्रेणिमधिकृत्य वेदितव्यानि। शेषे तु द्वे क्षपकश्रेण्याम्, ते चैवम्—सञ्ज्वलनक्रोधस्य प्रथमस्थितावावलिकाशेषायां बन्ध-उदय-उदीरणा युगपद् व्यवच्छेदमायान्ति, व्यवच्छिन्नासु च तासु बन्धस्त्रिविधो जातः, संज्वलनक्रोधस्य च तदानीं प्रथमस्थितिगतमावलिकामात्रं समयद्वयोनावलिकाद्विकबद्धं च दलिकं मुक्त्वा अन्यत् सर्वं क्षीणम्, तदपि च सत्

१ स० छा० °स्तोऽवगन्तव्या। से°। स० १ त० छ। मे° ॥

समयद्वयोनावलिकाद्विकमात्रेण कालेन क्षयमुपयास्यति, यावच्च न याति तावच्चतस्रः प्रकृतयः त्रिविधबन्धे सत्यः, क्षीणे तु तस्मिंस्तिस्रः, ताश्चान्तर्मुहूर्तं कालं यावदवगन्तव्याः । द्विविधबन्धे पुनरमूनि पञ्च सत्तास्थानानि, तद्यथा—अष्टाविंशतिः चतुर्विंशतिः एकविंशतिः तिस्रः द्वे च। तत्राद्यानि त्रीणि प्रागिव। शेषे तु द्वे क्षपकश्रेण्याम्, ते चैवम्—सञ्ज्वलनमानस्य प्रथमस्थितौ आवलिकामात्रशेषायां संज्वलनमानस्य बन्ध-उदय-उदीरणा युगपद् व्यवच्छिद्यन्ते, तासु च व्यवच्छिन्नासु बन्धो द्विविधो भवति, सञ्ज्वलनमानस्य च तदानीं प्रथमस्थितिगतमावलिकामात्रं समयद्वयोनावलिकाद्विकबद्धं च दलिकं सत्, अन्यत् सर्वं क्षीणम्, तदपि च सत् समयद्वयोनावलिकाद्विकमात्रेण कालेन क्षयमापत्स्यते, यावच्च नोपपद्यते तावत् तिस्रः सत्यः, क्षीणे तु तस्मिन् द्वे, ते अप्यन्तर्मुहूर्तं कालं यावत् सत्यौ । एकविधबन्धे पुनः पञ्च सत्तास्थानान्यमूनि, तद्यथा—अष्टाविंशतिः चतुर्विंशतिः एकविंशतिः द्वे एका च। तत्राद्यानि त्रीणि प्रागिवोपशमश्रेण्याम्। शेषे तु द्वे क्षपकश्रेण्याम्, ते चैवम्—सञ्ज्वलनमायायाः प्रथमस्थितावावलिकाशेषायां बन्ध-उदय-उदीरणा युगपद् व्यवच्छेदमुपयान्ति, व्यवच्छिन्नासु च तासु बन्ध एकविधो भवति, संज्वलनमायायाश्च तदानीं प्रथमस्थितिगतमावलिकामात्रं समयद्वयोनावलिकाद्विकबद्धं च सदस्ति, अन्यत् समस्तं क्षीणम्, तदपि च सत् समयद्वयोनावलिकाद्विकमात्रेण कालेन क्षयमुपगमिष्यति, यावच्च न क्षयमुपयाति तावद् द्वे सती, क्षीणे तु तस्मिन्नेका प्रकृतिः सञ्ज्वलनलोभरूपा सती ।

"चत्तारि य बंधवोच्छेए" इति 'बन्धव्यवच्छेदे' बन्धाभावे सूक्ष्मसम्परायगुणस्थाने चत्वारि सत्तास्थानानि, तद्यथा—अष्टाविंशतिः चतुर्विंशतिः एकविंशतिः एका च। तत्राद्यानि त्रीणि प्रागिवोपशमश्रेण्याम्। एका तु सञ्ज्वलनलोभरूपा प्रकृतिः क्षपकश्रेण्याम् ॥ २२ ॥

तदेवं कृता संवेधचिन्ता। सम्प्रत्युपसंहारमाह—

दसनवपन्नरसाइं, बंधोदयसन्तपयडिठाणाइं ।
भणियाइं मोहणिज्जे, इत्तो नामं परं वोच्छं ॥ २३ ॥

बन्ध-उदय-सत्प्रकृतिस्थानानि यथासङ्ख्यं दश-नव-पञ्चदशसङ्ख्यानि प्रत्येकं संवेधद्वारेण च मोहनीयकर्मणि भणितानि। 'इतः परं' अतः ऊर्ध्वं 'नाम वक्ष्ये' नाम्नो बन्धादिस्थानानि वक्ष्ये ॥ २३ ॥

तत्र प्रथमतो बन्धस्थाननिरूपणार्थमाह—

'तेवीस पण्णवीसा, छव्वीसा अट्ठवीसं गुणतीसा ।
तीसेगतीसमेकं, बंधट्ठाणाणि नामस्स ॥ २४ ॥

---

१ छा० म० प्रागिवोपशमश्रेण्याम्। शे ॥ २ म० १ त० म० °व मुक्त्वा अ° ॥ ३ छा० मायापि क्षायते ता° ॥ ४ स० त० म० सत्यौ ॥ ५ म० °ण मोहनीयकर्मणि सर्वसंख्यया भ° ॥ ६ गाथेयं सप्ततिभाष्यस्य अष्टचत्वारिंशत्तमी ॥ ७ स० १ छा० °स उगुती° ॥

नाम्नोऽष्टौ बन्धस्थानानि, तद्यथा—त्रयोविंशति पञ्चविंशति षड्विंशति अष्टाविंशति एकोनत्रिंशत् त्रिंशत् एकत्रिंशत् एका च। अमूनि च तिर्यग्मनुष्यादिगतिप्रायोग्यतया अनेकप्रकाराणि ततस्तथैवोपदर्श्यन्ते। तत्र तिर्यग्गतिप्रायोग्य बध्नत सामान्येन पञ्च बन्धस्थानानि, तद्यथा—त्रयोविंशति पञ्चविंशति षड्विंशति एकोनत्रिंशत् त्रिंशत्। तत्राप्येकेन्द्रियप्रायोग्य बध्नत त्रीणि बन्धस्थानानि, तद्यथा—त्रयोविंशति, पञ्चविंशति षड्विंशति। तत्र त्रयोविंशतिरियम्—तिर्यग्गति तिर्यगानुपूर्वी एकेन्द्रियजाति औदारिक-तैजस-कार्मणानि हुण्डसंस्थान वर्ण-रस गन्ध स्पर्शा अगुरुलघु उपघातनाम स्थावरनाम सूक्ष्म-बादरयोरेकतरम् अपर्याप्तकनाम प्रत्येक-साधारणयोरेकतरम् अस्थिरनाम अशुभनाम दुर्भगनाम अनादेयनाम अयश कीर्तिनाम निर्माणनाम। एतासा त्रयोविंशतिप्रकृतीना समुदाय एक बन्धस्थानम्, एतच्चापर्याप्तकप्रायोग्य बध्नतो मिथ्यादृष्टेरवसेयम्। अत्र भङ्गाश्चत्वार, तथाहि—बादरनाम्नि बध्यमाने एका त्रयोविंशति प्रत्येकनाम्ना सह प्राप्यते, द्वितीया साधारणनाम्ना, एव सूक्ष्मनाम्न्यपि बध्यमाने द्वे त्रयोविंशती, सर्वसख्यया चतस्र.। एषैव त्रयोविंशति पराघात उच्छ्वाससहिता पञ्चविंशति। नवरमेवमभिलपनीया—तिर्यग्गति तिर्यगानुपूर्वी एकेन्द्रियजाति औदारिक-तैजस-कार्मणानि हुण्डसंस्थान वर्णादिचतुष्टयम् अगुरुलघु उपघातनाम पराघातनाम उच्छ्वासनाम स्थावरनाम बादर-सूक्ष्मयोरेकतर पर्याप्तक प्रत्येक-साधारणयोरेकतर स्थिरा-ऽस्थिरयोरेकतर शुभा-ऽशुभयोरेकतर यश कीर्ति अयश कीर्त्यो रेकतर दुर्भगम् अनादेय निर्माणमिति। एतासा पञ्चविंशतिप्रकृतीना समुदाय एक बन्धस्थानम्, एतच्च पर्याप्तकैकेन्द्रियप्रायोग्य बध्नतो मिथ्यादृष्टेरवगन्तव्यम्। अत्र भङ्गा विंशति —तत्र बादर पर्याप्त प्रत्येकेषु बध्यमानेषु स्थिरा-ऽस्थिर-शुभा-ऽशुभ-यश कीर्ति-अयश कीर्तिभिरष्टौ भङ्गा, तथाहि—बादर-पर्याप्त प्रत्येक स्थिर-शुभेषु बध्यमानेषु यश कीर्त्या सह एक, द्वितीयोऽयश - कीर्त्या, एतौ च द्वौ भङ्गौ शुभपदेन लब्धौ, एवमशुभपदेनापि द्वौ भङ्गौ लभ्येते ततो जाताश्चत्वार, एते चत्वार स्थिरपदेन लब्धा, एवमस्थिरपदेनापि चत्वारो लभ्यन्ते ततो जाता अष्टौ। एव पर्याप्त बादर-साधारणेषु बध्यमानेषु स्थिरा ऽस्थिर शुभा-ऽशुभा ऽयश कीर्तिपदैश्चत्वार, यत साधारणेन सह यश कीर्तिबन्धो न भवति "नो सुहुमतिगेण जसं" ( ) इति वचनात्, ततस्तदाश्रिता विकल्पा न प्राप्यन्ते। सूक्ष्म पर्याप्तनाम्नोर्बध्यमानयो प्रत्येक-साधारण स्थिरा ऽस्थिर शुभा-शुभा ऽयश कीर्तिपदैरष्टौ, सूक्ष्मेणापि सह यश कीर्तेर्बन्धाभावादत्रापि तदाश्रिता विकल्पा न प्राप्यन्ते। तदेव सर्वसख्यया पञ्चविंशतिबन्धे विंशतिर्भङ्गा। एषैव पञ्चविंशतिरातप-उद्योतान्यतरसहिता षड्विंशति, नवरमेवमभिलपनीया—तिर्यग्गति तिर्यगानुपूर्वी एकेन्द्रियजाति औदारिक-तैजस-कार्मणानि हुण्डसंस्थान वर्णादिचतुष्टयम् अगुरुलघु पराघातम् उपघातम् उच्छ्वासनाम स्थावरनाम आतप-उद्योतयोरेकतर बादरनाम पर्याप्तकनाम प्रत्येकनाम स्थिरा ऽस्थिरयोरेकतर शुभा-ऽशुभयोरेकतर दुर्भगम् अनादेय यश कीर्ति अयश कीर्त्योरेकतर निर्माणमिति। एतासा च षड्विंशतिप्रकृतीना समुदाय एक बन्धस्थानम्। एतच्च पर्याप्तकै-

१ क्वचिदादर्शेषु °कतरा केषुचिद् °कतर एवमग्रेऽपि ॥ २ नो सुहुमतिगेण यश ॥

केन्द्रियप्रायोग्यमातप-उद्योतान्यतरसहितं बध्नतो मिथ्यादृष्टेरवगन्तव्यम् । अत्र भङ्गा षोडश, ते चातप-उद्योत स्थिरा-ऽस्थिर-शुभा-ऽशुभ-यश कीर्ति-अयश कीर्तिपदैरवसेया, आतप-उद्योताभ्या च सह सूक्ष्म-साधारणबन्धो न भवति, ततस्तदाश्रिता विकल्पा अत्र न प्राप्यन्ते । एकेन्द्रियाणा सर्वसङ्ख्यया भङ्गाश्चत्वारिंशत्, तदुक्तम्—

चत्तारि वीस सोलस, भगा एगिंदियाण चत्ताला । ( )

द्वीन्द्रियप्रायोग्य बध्नतो बन्धस्थानानि त्रीणि, तद्यथा—पञ्चविंशति एकोनत्रिंशत् त्रिंशत्। तत्र तिर्यग्गति तिर्यगानुपूर्वी द्वीन्द्रियजाति औदारिक-तैजस-कार्मणानि हुण्डसंस्थान सेवार्तसंहननम् औदारिकाङ्गोपाङ्ग वर्णादिचतुष्टयम् अगुरुलघु उपघातनाम त्रसनाम बादरनाम अपर्याप्तकनाम प्रत्येकनाम अस्थिरम् अशुभ दुर्भगम् अनादेयम् अयश कीर्ति निर्माणमिति। एतासा पञ्चविंशतिप्रकृतीना समुदाय एक बन्धस्थानम्, तच्चापर्याप्तकद्वीन्द्रियप्रायोग्य बध्नतो मिथ्यादृष्टेरवसेयम्। अपर्याप्तकेन च सह परावर्तमानप्रकृतयोऽशुभा एव बन्धमायान्तीति कृत्वा अत्रैक एव भङ्ग । एषैव पञ्चविंशति पराघात-उच्छ्वासा-ऽप्रशस्तविहायोगति पर्याप्तक-दु स्वरसहिता अपर्याप्तकरहिता एकोनत्रिंशद् भवति, नवरमेवमेषा वक्तव्या—तिर्यग्गति तिर्यगानुपूर्वी द्वीन्द्रियजाति औदारिकम् औदारिकाङ्गोपाङ्ग तैजस-कार्मणे हुण्डसंस्थान सेवार्तसंहनन वर्णादिचतुष्टयम् अगुरुलघु पराघातम् उपघातम् उच्छ्वासनाम अप्रशस्तविहायोगति त्रसनाम बादरनाम पर्याप्तकनाम प्रत्येक स्थिरा-ऽस्थिरयोरेकतर शुभा-ऽशुभयोरेकतर दु स्वर दुर्भगम् अनादेय यश कीर्ति-ऽयश कीर्त्योरेकतर निर्माणमिति । एतासामेकोनत्रिंशत्प्रकृतीना समुदाय एक बन्धस्थानम्, तच्च पर्याप्तकद्वीन्द्रियप्रायोग्य बध्नतो मिथ्यादृष्टे प्रत्येतव्यम् । अत्र स्थिरा-ऽस्थिर शुभा-ऽशुभ-यश - कीर्ति-अयश कीर्तिपदैरष्टौ भङ्गा । सैव एकोनत्रिंशद् उद्योतसहिता त्रिंशत्, अत्रापि त एवाष्टौ भङ्गा, सर्वसङ्ख्यया सप्तदश। एव त्रीन्द्रियप्रायोग्य चतुरिन्द्रियप्रायोग्य च बध्नतो मिथ्यादृष्टेस्त्रीणि त्रीणि बन्धस्थानानि वाच्यानि, नवर त्रीन्द्रियाणा त्रीन्द्रियजातिरभिलपनीया चतुरिन्द्रियाणा चतुरिन्द्रियजाति, भङ्गाश्च प्रत्येक सप्तदश सप्तदश, सर्वसङ्ख्यया एकपञ्चाशत् । उक्त च—

एगऽट्ट अट्ठ विगलिंदियाण इगवण्ण तिण्ह पि । ( )

तिर्यग्गतिपञ्चेन्द्रियप्रायोग्य बन्धतस्त्रीणि बन्धस्थानानि । तद्यथा—पञ्चविंशति एकोनत्रिंशत् त्रिंशत् । तत्र पञ्चविंशति द्वीन्द्रियप्रायोग्य बध्नतं इव वेदितव्या, नवर द्वीन्द्रियजातिस्थाने पञ्चेन्द्रियजातिर्वक्तव्या, तत्र चैको भङ्ग । एकोनत्रिंशत् पुनरियम्—तिर्यग्गति तिर्यगानुपूर्वी पञ्चेन्द्रियजाति औदारिकम् औदारिकाङ्गोपाङ्ग तैजस-कार्मणे षण्णा संस्थानानामेकतमत् संस्थान षण्णा संहननानामेकतमत् संहनन वर्णादिचतुष्टयम् अगुरुलघु उपघात पराघातम् उच्छ्वा-

१ सं० १ त० °ताभ्या स° ॥ १ चत्वारि विंशति षोडश भङ्गा एकेन्द्रियाणा चत्वारिंशत् ॥
२ सं० सं० १ त० °न्तीति, अत्रै° ॥ ३ एकोऽष्टौ अष्टौ विकलेन्द्रियाणां एकपञ्चाशत् त्रयाणामपि ॥ ४ मुद्रि० °त एव वे° ॥

सनाम प्रशस्ता-ऽप्रशस्तविहायोगत्योरेकतरा त्रसनाम बादरनाम पर्याप्तकनाम प्रत्येक स्थिरा-ऽस्थिरयोरेकतर शुभा-ऽशुभयोरेकतर सुभग-दुर्भगयोरेकतर सुस्वर-दु स्वरयोरेकतरम् आदेया-ऽनादेययोरेकतरं यश कीर्ति अयश कीर्त्योरेकतर निर्माणमिति। एतासामेकोनत्रिंशत्प्रकृतीना समुदाय एक बन्धस्थानम्। एतच्च मिथ्यादृष्टे पर्याप्ततिर्यक्पञ्चेन्द्रियप्रायोग्य बध्नतो वेदितव्यम्। यदि पुन सासादनो बन्धको भवति तर्हि तस्य पञ्चानामाद्याना सस्थानानामन्यतमत् सस्थान पञ्चाना सहननानामन्यतमत् संहननमिति वक्तव्यम्, "हुड असंपत्त व सासणो न बधइ" (   ) इति वचनात्। अस्या चैकोनत्रिंशति सामान्येन षड्भि संस्थानै षड्भि सहननै प्रशस्ता-ऽप्रशस्तविहायोगतिभ्या स्थिरा-ऽस्थिराभ्या शुभा-ऽशुभाभ्या सुभग-दुर्भगाभ्या सुस्वर-दु स्वराभ्या आदेया-ऽनादेयाभ्या यश कीर्ति अयश कीर्तिभ्या भङ्गा अष्टाधिकषट्चत्वारिंशच्छतसङ्ख्या वेदितव्या ४६०८। एषैवैकोनत्रिंशद् उद्योतसहिता त्रिंशद् भवति, अत्रापि मिथ्यादृष्टि-सासादनानधिकृत्य तथैव विशेषोऽवगन्तव्य, सामान्येन च भङ्गा अष्टाधिकषट्चत्वारिंशच्छतसङ्ख्या ४६०८। उक्त च—

गुणतीसे तीसे वि य, भगा अट्ठाहिया छयालसया।

पचिंदियतिरिजोगे, पणवीसे बधि भगिक्को ॥ (   )

सर्वसङ्ख्यया द्वानवतिशतानि सप्तदशाधिकानि ९२१७। सर्वस्या तिर्यग्गतौ सर्वसङ्ख्यया भङ्गा त्रिनवतिशतान्यष्टाधिकानि ९३०८।

तथा मनुष्यगतिप्रायोग्य बध्नतस्त्रीणि बन्धस्थानानि, तद्यथा—पञ्चविंशति एकोनत्रिंशत् त्रिंशत्। तत्र पञ्चविंशतिर्यथा प्राग् अपर्याप्तकद्वीन्द्रियप्रायोग्य बध्नतोऽभिहिता तथैवावगन्तव्या। नवरमत्र मनुष्यगतिर्मनुष्यानुपूर्वी पञ्चेन्द्रियजातिरिति वक्तव्यम्। एकोनत्रिंशत् त्रिधा—एका मिथ्यादृष्टीन् बन्धकानाश्रित्य वेदितव्या, द्वितीया सासादनान्, तृतीया सम्यग्मिथ्यादृष्टीन् अविरतसम्यग्दृष्टीन् वा। तत्राद्ये द्वे प्रागिव भावनीये। तृतीया पुनरियम्—मनुष्यगति मनुष्यानुपूर्वी पञ्चेन्द्रियजाति औदारिकम् औदारिकाङ्गोपाङ्ग तैजस कार्मणे समचतुरस्रसस्थान वज्रर्षभनाराचसंहनन वर्णादिचतुष्टयम् अगुरुलघु उपघात पराघातम् उच्छ्वासनाम प्रशस्तविहायोगति त्रसनाम बादरनाम पर्याप्तकनाम प्रत्येक स्थिरा-ऽस्थिरयोरेकतर शुभा-ऽशुभयोरेकतर सुभग सुस्वरम् आदेय यश कीर्ति अयश कीर्त्योरेकतर निर्माणमिति। अस्या चैकोनत्रिंशति त्रिप्रकारायामपि सामान्येन षड्भि संस्थानै षड्भि सहननै प्रशस्ता ऽप्रशस्तविहायोगतिभ्या स्थिराऽस्थिराभ्या शुभा ऽशुभाभ्या सुभग-दुर्भगाभ्या सुस्वर-दु स्वराभ्या आदेया ऽनादेयाभ्या यश कीर्ति-अयश कीर्तिभ्यामष्टाधिकषट्चत्वारिंशच्छतसङ्ख्या ४६०८ भङ्गा वेदितव्या। यैव तृतीया एकोनत्रिंशदुक्ता सैव तीर्थकरसहिता त्रिंशत्। अत्र च स्थिरा-ऽस्थिर

१ स० म० °नानां सस्था° ॥ २ स० १ त० °नानामाद्यानां सहनना° ॥ ३ स० छा° °व्यम्। अस्या ॥ ४ हुण्ड असम्प्राप्त वा सासादनो न बध्नाति ॥ ५ एकोनत्रिंशत् त्रिंशदपि च भङ्गा अष्टाधिकानि षट्चत्वारिंशच्छतानि। पञ्चेन्द्रियतिर्यग्योग्ये पञ्चविंशतौ बन्धे भङ्ग एक ॥

शुभा-ऽशुभ-यश कीर्ति अयश कीर्तिपदैरष्टौ भङ्गा । सर्वसङ्ख्यया मनुष्यगतिप्रायोग्यबन्धस्थानेषु भङ्गा षट्चत्वारिंशच्छतानि सप्तदशाधिकानि ४६१७ । उक्त च—

पणुवीसयम्मि एक्को, छायालसया अडुत्तर गुतीसे ।
मणुतीसेऽट्ठ उ सव्वे, छायालसया उ सत्तरसा ॥ ( )

तथा देवगतिप्रायोग्य बध्नतश्चत्वारि बन्धस्थानानि, तद्यथा—अष्टाविंशति एकोनत्रिंशत् त्रिंशद् एकत्रिंशत् । तत्राष्टाविंशतिरियम्—देवगति देवानुपूर्वी पञ्चेन्द्रियजाति वैक्रिय वैक्रियाङ्गोपाङ्ग तैजस-कार्मणे समचतुरस्रसस्थान वर्णादिचतुष्टयम् अगुरुलघु पराघातम् उपघातम् उच्छ्वासनाम प्रशस्तविहायोगति त्रसनाम बादरनाम पर्याप्तकनाम प्रत्येकनाम स्थिरा-ऽस्थिरयोरेकतर शुभा-ऽशुभयोरेकतर सुभग सुस्वरम् आदेय यश कीर्ति अयश कीर्त्योरेकतर निर्माणमिति । एतासा समुदाय एक बन्धस्थानम् । एतच्च मिथ्यादृष्टि-सासादन मिश्रा-ऽविरतसम्यग्दृष्टि-देशविरत सर्वविरताना देवगतिप्रायोग्य बध्नतामवसेयम् । अत्र स्थिराऽस्थिर-शुभा-ऽशुभयश कीर्ति-अयश कीर्तिपदैरष्टौ भङ्गा । एषैवाष्टाविंशतिस्तीर्थकरसहिता एकोनत्रिंशद् भवति, अत्रापि त एवाष्टौ भङ्गा । नवरमेना देवगतिप्रायोग्या बध्नन्तोऽविरतसम्यग्दृष्ट्यादयो बध्नन्ति । त्रिंशत् पुनरियम्—देवगति देवानुपूर्वी पञ्चेन्द्रियजाति वैक्रिय वैक्रियाङ्गोपाङ्गम् आहारकम् आहारकाङ्गोपाङ्ग तैजस-कार्मणे समचतुरस्रसस्थान वर्णादिचतुष्टयम् अगुरुलघु उपघात पराघातम् उच्छ्वासनाम प्रशस्तविहायोगति त्रसनाम बादरनाम पर्याप्तकनाम प्रत्येकनाम शुभनाम स्थिरनाम सुभगनाम सुस्वरनाम आदेयनाम यश कीर्तिनाम निर्माणनामेति । एतासा त्रिंशत्प्रकृतीना समुदाय एक बन्धस्थानम् । एतच्च देवगतिप्रायोग्य बध्नतोऽप्रमत्तसयतस्याऽपूर्वकरणस्य वा वेदितव्यम् । अत्र सर्वाण्यपि शुभान्येव कर्माणि बन्धमायान्तीति कृत्वा एक एव भङ्ग । एषैव त्रिंशत् तीर्थकरसहिता एकत्रिंशद् भवति, अत्राप्येक एव भङ्ग । सर्वसङ्ख्यया देवगतिप्रायोग्यबन्धस्थानेषु भङ्गा अष्टादश । तदुक्तम्—

अट्ठऽट्ठ एक्क एक्कग, भगा अट्ठार देवजोगेसु । ( )

तथा नरकगतिप्रायोग्य बध्नत एक बन्धस्थान अष्टाविंशति , सा चेयम्—नरकगति नरकानुपूर्वी पञ्चेन्द्रियजाति वैक्रिय वैक्रियाङ्गोपाङ्ग तैजस-कार्मणे हुण्डसस्थान वर्णादिचतुष्टयम् अगुरुलघु उपघात पराघातम् उच्छ्वासनाम अप्रशस्तविहायोगति त्रसनाम बादरनाम पर्याप्तकनाम प्रत्येकनाम अस्थिरम् अशुभ दुर्भग दु स्वरम् अनादेयम् अयश कीर्ति निर्माणमिति । एतासामष्टाविंशतिप्रकृतीनामेक बन्धस्थानम्, एतच्च मिथ्यादृष्टेरवसेयम् । अत्र सर्वाण्यप्यशुभान्येव कर्माणीत्येक एव भङ्ग । एक तु बन्धस्थान यश कीर्तिलक्षणम्, तच्च देवगतिप्रायोग्यबन्धे व्यवच्छिन्ने अपूर्वकरणादीना त्रयाणामवगन्तव्यम् ॥ २४ ॥

---

१ पञ्चविंशतावेक षट्चत्वारिंशच्छतानि अष्टोत्तराणि एकोनत्रिंशति । मनुष्यात्रिंशति अष्टौ तु सर्वे षट्चत्वारिंश च्छतानि तु सप्तदश ॥ २ मुद्रि० छा० °रताना सर्वविरताना । स० स० १ °रताना देवग° ॥ ३ स० स० १ त० °न्तीति एक ए° ॥ ४ अष्टावष्टावेक एकको भङ्गा अष्टादश देवयोग्येषु ॥ ५ म० १ त० °वजुग्गे° । स० म० छा० °वजोग्गे° ॥

सम्प्रति कस्मिन् बन्धस्थाने कति भङ्गा सर्वसङ्ख्यया प्राप्यन्ते ? इति चिन्तायां तन्निरूपणार्थमाह—

तेवीस पणवीसा सोलस, नव बाणउईसया य अडयाला ।
एयालुत्तर छायालसया एक्केक्क बंधविही ॥ २५ ॥

त्रयोविंशत्यादिषु बन्धस्थानेषु यथासङ्ख्य 'चतुर्गादिसङ्ख्या बन्धविधय ' बन्धप्रकारा —बन्धभङ्गा वेदितव्या । तत्र त्रयोविंशतिबन्धस्थाने भङ्गाश्चत्वार, ते चैकेन्द्रियप्रायोग्यमेव बध्नतोऽवसेया , अन्यत्र त्रयोविंशतिबन्धस्थानस्याप्राप्यमाणत्वात् । पञ्चविंशतिबन्धस्थाने पञ्चविंशतिर्भङ्गा — तत्रैकेन्द्रियप्रायोग्यां पञ्चविंशतिं बध्नतो विंशति , अपर्याप्तकद्वि-त्रि चतुरिन्द्रिय तिर्यक्पञ्चेन्द्रिय-मनुष्यप्रायोग्या च बध्नतामेकैक इति सर्वसङ्ख्यया पञ्चविंशति । षड्विंशतिबन्धस्थाने भङ्गा षोडश, ते चैकेन्द्रियप्रायोग्यमेव बध्नतोऽवसेया , अन्यत्र षड्विंशतिबन्धस्थानस्याप्राप्यमाणत्वात् । अष्टाविंशतिबन्धस्थाने भङ्गा नव—तत्र देवगतिप्रायोग्यामष्टाविंशतिं बध्नतोऽष्टौ, नरकगतिप्रायोग्या तु बध्नत एके इति । एकोनत्रिंशद्बन्धस्थाने भङ्गा अष्टचत्वारिंशदधिकानि द्विनवतिशतानि ९,२४८—तत्र तिर्यक्पञ्चेन्द्रियप्रायोग्यामेकोनत्रिंशत बध्नतोऽष्टाधिकानि षट्चत्वारिंशच्छतानि ४६०८, मनुष्यगतिप्रायोग्यामपि बध्नतोऽष्टाधिकानि षट्चत्वारिंशच्छतानि ४६०८, द्वि त्रि-चतुरिन्द्रियप्रायोग्या देवगतिप्रायोग्या च तीर्थकरसहिता बध्नता प्रत्येकमष्टावष्टाविति । त्रिंशति बन्धस्थाने भङ्गा एकचत्वारिंशदधिकानि षट्चत्वारिंशच्छतानि ४६४१—तत्र तिर्यक्पञ्चेन्द्रियप्रायोग्या त्रिंशत बध्नतोऽष्टाधिकानि षट्चत्वारिंशच्छतानि ४६०८, द्वि-त्रि चतुरिन्द्रियप्रायोग्या मनुष्यगतिप्रायोग्यां च बध्नता प्रत्येकमष्टावष्टौ, देवगतिप्रायोग्यामाहारकसहिता त्रिंशत बध्नत एक इति । तथा एकत्रिंशति बन्धस्थाने एक । एकविधे चैक । सर्वसङ्ख्यया सर्वबन्ध

शति सप्तविंशतिश्च। तत्र तेजस-कार्मणे अगुरुलघु स्थिरा-ऽस्थिरे शुभा-ऽशुभे वर्ण-रस-गन्ध-स्पर्शा निर्माणमित्येता द्वादश प्रकृतय उदयमाश्रित्य ध्रुवा । एता तिर्यग्गति तिर्यगानुपूर्वी स्थावरनाम एकेन्द्रियजाति बादर-सूक्ष्मयोरेकतर पर्याप्ता-ऽपर्याप्तयोरेकतर दुर्भगम् अनादेय यश कीर्ति-अयश कीर्त्योरेकतरा इत्येतन्नवप्रकृतिसहिता एकविंशति । अत्र भङ्गा पञ्च—बादर सूक्ष्माभ्या प्रत्येक पर्याप्ता-ऽपर्याप्ताभ्यामयश कीर्त्या सह चत्वार, बादर-पर्याप्त-यश कीर्तिभि सह एक इति। सूक्ष्मा-ऽपर्याप्ताभ्या सह यश कीर्तेरुदयो न भवतीति कृत्वा तदाश्रिता विकल्पा न प्राप्यन्ते। एषा चैकविंशतिरेकेन्द्रियस्यापान्तरालगतौ वर्तमानस्य वेदितव्या। तत शरीरस्थस्यौदारिकशरीर हुण्ड-सम्थानम् उपघात प्रत्येक-साधारणयोरेकतरमिति चतस्र प्रकृतय प्रक्षिप्यन्ते तिर्यगानुपूर्वी चापनीयते ततश्चतुर्विंशतिर्भवति । अत्र च भङ्गा दश, तद्यथा—बादरपर्याप्तस्य प्रत्येक साधारण-यश कीर्ति अयश कीर्तिपदैश्चत्वार, अपर्याप्तबादरस्य प्रत्येक-साधारणाभ्यामयश कीर्त्या सह द्वौ, सूक्ष्मस्य पर्याप्ता-ऽपर्याप्त प्रत्येक-साधारणैरयश कीर्त्या सह चत्वार इति दश । बादरवायुकायिकस्य वैक्रिय कुर्वत औदारिकस्थाने वैक्रिय वक्तव्यम्, ततश्च तस्यापि चतुर्विंशतिरुदये प्राप्यते, केवलमिह बादर-पर्याप्त-प्रत्येका-ऽयश कीर्तिपदैरेक एव भङ्ग । तेजस्कायिक-वायुकायिकयो साधारण-यश कीर्त्युदयो न भवतीति तदाश्रिता विकल्पा न प्राप्यन्ते । सर्वसङ्ख्यया चतुर्विंशतौ एकादश भङ्गा । तत शरीरपर्याप्त्या पर्याप्तस्य पराघाते क्षिप्ते पञ्चविंशति । अत्र भङ्गा षट्, तद्यथा—बादरस्य प्रत्येक-साधारण-यश कीर्ति-अयश कीर्तिपदैश्चत्वार, सूक्ष्मस्य प्रत्येक-साधारणाभ्यामयश कीर्त्या सह द्वौ । तथा बादरवायुकायिकस्य वैक्रिय कुर्वत शरीरपर्याप्त्या पर्याप्तस्य (ग्रन्थाग्रम् १२३८) पराघाते क्षिप्ते पञ्चविंशतिर्भवति, अत्र च प्राग्वदेक एव भङ्ग । सर्वसङ्ख्यया पञ्चविंशतौ सप्त भङ्गा । तत प्राणापानपर्याप्त्या पर्याप्तस्य उच्छ्वासे प्रक्षिप्ते षड्विंशति, अत्रापि भङ्गा प्रागिव षट् । अथवा शरीरपर्याप्त्या पर्याप्तस्य उच्छ्वासेऽनुदिते आतप-उद्योतयोरन्यतरस्मिन्नुदिते षड्विंशतिर्भवति। अत्रापि भङ्गा षट्, तद्यथा—बादरस्योद्योतेन सहितस्य प्रत्येक-साधारण-यश कीर्ति-अयश कीर्तिपदैश्चत्वार, आतपसहितस्य च प्रत्येक-यश कीर्ति-अयश कीर्तिपदैर्द्वौ । बादरवायुकायिकस्य वैक्रिय कुर्वत प्राणापानपर्याप्त्या पर्याप्तस्य उच्छ्वासे प्रक्षिप्ते प्रागुक्ता पञ्चविंशति षड्विंशतिर्भवति, तत्र च प्राग्वदेक एव भङ्ग । तेजस्कायिक-वायुकायिकयोरातप-उद्योत-यश कीर्तीनामुदयाभावात् तदाश्रिता विकल्पा न प्राप्यन्ते । सर्वसङ्ख्यया षड्विंशतौ त्रयोदश भङ्गा । तथा प्राणापानपर्याप्त्या पर्याप्तस्य उच्छ्वाससहिताया षड्विंशतौ आतप-उद्योतयोरन्यतरस्मिन् प्रक्षिप्ते सति सप्तविंशतिर्भवति, अत्र भङ्गा षट्, ये प्रागातप-उद्योतान्यतरसहिताया षड्विंशतौ प्रतिपादिता । सर्वसङ्ख्यया चैकेन्द्रियाणा भङ्गा द्विचत्वारिंशत् ४२ ।

उक्त च—

१ म० म० १ त० °वतीति तदा° ॥ २ स० १ त० °शति । अत्र ॥ ३ स० स० १ त० म० छा० °से क्षिप्ते । एवमग्रेऽपि 'प्रक्षिप्ते' इत्येतत्स्थाने क्षिप्ते 'क्षिप्ते' इत्येतत्स्थाने 'प्रक्षिप्ते' इति पाठान्तराणि सन्ति ॥

एगिंदियउदएसु, पच य एकार सत्त तेरस या ।
छक्क कमसो भगा, बायाला हुति सव्वे वि ॥ (   )

द्वीन्द्रियाणामुदयस्थानानि षट्, तद्यथा—एकविंशति षड्विंशति अष्टाविंशति एकोनत्रिंशत् त्रिंशद् एकत्रिंशत् । तत्र तिर्यग्गतिस्तिर्यगानुपूर्वी द्वीन्द्रियजातिस्त्रसनाम बादरनाम पर्याप्ता ऽपर्याप्तयोरेकतर दुर्भगम् अनादेय यश कीर्ति-अयश कीर्त्योरेकतरा इत्येता नव प्रकृतयो द्वादशसङ्ख्याभिर्ध्रुवोदयाभि सह एकविंशति । एषा चापान्तरालगतौ वर्तमानस्य द्वीन्द्रियस्यावाप्यते । अत्र भङ्गास्त्रय, तद्यथा—अपर्याप्तकनामोदये वर्तमानस्य अयश कीर्त्या सह एक, पर्याप्तकनामोदये वर्तमानस्य यश कीर्ति-अयश कीर्तिभ्या द्वाविति । तस्यैव च शरीरस्थस्य औदारिकम् औदारिकाङ्गोपाङ्ग हुण्डसस्थान सेवार्तसंहननम् उपघात प्रत्येकमिति षट् प्रकृतय प्रक्षिप्यन्ते तिर्यगानुपूर्वी चापनीयते जाता षड्विंशति, अत्रापि भङ्गास्त्रय, ते च प्रागिव द्रष्टव्या । तत शरीरपर्याप्त्या पर्याप्तस्य अप्रशस्तविहायोगति-पराघातयो प्रक्षिप्तयोरष्टाविंशति, अत्र यश -कीर्ति-अयश कीर्तिभ्या द्वौ भङ्गौ, अपर्याप्तक-प्रशस्तविहायोगत्योरत्रोदयाभावात् । तत प्राणापानपर्याप्त्या पर्याप्तस्य उच्छ्वासे प्रक्षिप्ते एकोनत्रिंशत्, अत्रापि तावेव द्वौ भङ्गौ । अथवा शरीरपर्याप्त्या पर्याप्तस्य उच्छ्वासेऽनुदिते उद्योतनाम्नि तूदिते एकोनत्रिंशत्, अत्रापि[1] प्रागिव द्वौ भङ्गौ । सर्वेऽप्येकोनत्रिंशति चत्वारो भङ्गा । ततो भाषापर्याप्त्या पर्याप्तस्य उच्छ्वाससहितायामेकोनत्रिंशति सुस्वर-दु स्वरयोरेकतरस्मिन् प्रक्षिप्ते त्रिंशद् भवति, अत्र सुस्वर-दु स्वर-यश कीर्ति अयश कीर्तिपदैश्चत्वारो भङ्गा । अथवा प्राणापानपर्याप्त्या पर्याप्तस्य स्वरेऽनुदिते उद्योतनाम्नि तूदिते त्रिंशद् भवति, अत्र यश कीर्ति-अयश कीर्तिविकल्पाभ्या द्वौ भङ्गौ, सर्वे त्रिंशति षड् भङ्गा । ततो भाषापर्याप्त्या पर्याप्तस्य स्वरसहिताया त्रिंशति उद्योतनाम्नि प्रक्षिप्ते एकत्रिंशद् भवति, अत्र सुस्वर-दु स्वर-यश कीर्ति-अयश कीर्तिपदैश्चत्वारो भङ्गा । सर्वसङ्ख्यया द्वीन्द्रियाणा द्वाविंशतिर्भङ्गा । एव त्रीन्द्रियाणा चतुरिन्द्रियाणा च प्रत्येक षट् षड् उदयस्थानानि भावनीयानि, नवर द्वीन्द्रियजातिस्थाने त्रीन्द्रियाणा त्रीन्द्रियजाति, चतुरिन्द्रियाणा चतुरिन्द्रियजातिरभिधातव्या, प्रत्येक च भङ्गा द्वाविंशतिर्द्वाविंशतिरिति । सर्वसङ्ख्यया विकलेन्द्रियाणा भङ्गा षट्षष्टि ६६ । तदुक्तम्—

तिगं तिग दुग चउ छ चउ, विगलाण छसट्ठि होइ तिण्ह पि । (   )

प्राकृततिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणामुदयस्थानानि षट्, तद्यथा—एकविंशति षड्विंशति अष्टाविंशति एकोनत्रिंशत् त्रिंशद् एकत्रिंशत् । तत्र तिर्यग्गतिस्तिर्यगानुपूर्वी पञ्चेन्द्रियजातिस्त्रसनाम बादरनाम पर्याप्ता ऽपर्याप्तयोरेकतर सुभग-दुर्भगयोरेकतरम् आदेया-ऽनादेययोरेकतर यश कीर्ति अयश कीर्त्योरेकतरा इत्येता नव प्रकृतयो द्वादशसङ्ख्याभिर्ध्रुवोदयाभि सह एकविंशति,

१ एकेन्द्रियोदयेषु पञ्च चैकादश सप्त त्रयोदश च । षट् क्रमशो भङ्गा द्विचत्वारिंशद् भवन्ति सर्वेऽपि ॥ २ सं० १ म० °शद् भवति अत्रा° ॥ ३ सं० १ °पि तावेव ॥ ४ त० स दु स्व° ॥ ५ त० °स्य सुस्वर° ॥ ६ त्रिक त्रिको द्विकश्चत्वार षट् चत्वारो विकलाना षट्षष्टिर्भवति त्रयाणामपि ॥

एषा चापान्तरालगतौ वर्तमानस्य तिर्यक्पञ्चेन्द्रियस्य वेदितव्या । अत्र भङ्गा नव—तत्र पर्याप्तकनामोदये वर्तमानस्य सुभग दुर्भगाभ्यामादेया-ऽनादेयाभ्या यश कीर्ति अयश कीर्तिभ्या चाष्टौ भङ्गा, अपर्याप्तकनामोदये वर्तमानस्य तु दुर्भगा-ऽनादेया-ऽयश कीर्तिभिरेक ।

अपरे पुनराहु —सुभगा-ऽऽदेये युगपदुदयमायात दुर्भगा-ऽनादेये च, तत पर्याप्तकस्य सुभगा-ऽऽदेययुगलदुर्भगा-ऽनादेययुगलाभ्या यश कीर्ति अयश कीर्तिभ्या च चत्वारो भङ्गा, अपर्याप्तकस्य त्वेक इति, सर्वसङ्ख्यया पञ्च । एवमुत्तरत्रापि मतान्तरेण भङ्गवैषम्य स्वधिया परिभावनीयम् ।

तत शरीरस्थस्य आनुपूर्वीमपनीय औदारिकमौदारिकाङ्गोपाङ्ग षण्णा सस्थानानामेकतमत् सस्थान षण्णा सहननानामेकतमत् सहननम् उपघात प्रत्येकमिति षट्क प्रक्षिप्यते, ततो जाता षड्विंशति । अत्र भङ्गाना द्वे शते एकोननवत्यधिके २८९—तत्र पर्याप्तस्य षड्भि सस्थानै षड्भि सहननै सुभग-दुर्भगाभ्यामादेया-ऽनादेयाभ्या यश कीर्ति-अयश कीर्तिभ्या च द्वे शते भङ्गानामष्टाशीत्यधिके २८८, अपर्याप्तकस्य हुण्डसस्थान-सेवार्तसहनन-दुर्भगा ऽनादेया-ऽयश -कीर्तिपदैरेक इति । तस्यामेव षड्विंशतौ शरीरपर्याप्त्या पर्याप्तस्य पराघाते प्रशस्ता-ऽप्रशस्तविहायोगत्योरन्यतरविहायोगतौ च प्रक्षिप्तायामष्टाविंशति , तत्र ये प्राक् पर्याप्ताना द्वे शते भङ्गानामष्टाशीत्यधिके २८८ उक्ते ते अत्र विहायोगतिद्विकेन गुणिते अवगन्तव्ये, तथा च सत्यत्र भङ्गाना पञ्च शतानि षट्सप्तत्यधिकानि ५७६ भवन्ति। तत प्राणापानपर्याप्त्या पर्याप्तस्य उच्छ्वासे प्रक्षिप्ते एकोनत्रिंशत्, अत्रापि भङ्गा प्रागिव पञ्च शतानि षट्सप्तत्यधिकानि ५७६ । अथवा शरीरपर्याप्त्या पर्याप्तस्य उच्छ्वासेऽनुदिते उद्योतनाम्नि तूदिते एकोनत्रिंशद् भवति अत्रापि भङ्गा पञ्च शतानि षट्सप्तत्यधिकानि ५७६ । सर्वसङ्ख्यया भङ्गानामेकोनत्रिंशति द्विपञ्चाशदधिकानि एकादश शतानि ११५२ । ततो भाषापर्याप्त्या पर्याप्तस्य सुस्वर-दु स्वरयोरन्यतरस्मिन् प्रक्षिप्ते त्रिंशद् भवति, अत्र ये प्रागुच्छ्वासेन पञ्च शतानि षट्सप्तत्यधिकानि ५७६ उक्तानि तान्येव स्वरद्विकेन गुण्यन्ते ततो जातानि द्विपञ्चाशदधिकान्येकादश शतानि ११५२ । अथवा प्राणापानपर्याप्त्या पर्याप्तस्य स्वरेऽनुदिते उद्योतनाम्नि तूदिते त्रिंशद् भवति, अत्रापि भङ्गाना प्रागिव पञ्च शतानि षट्सप्तत्यधिकानि ५७६ । सर्वसङ्ख्यया त्रिंशति भङ्गाना सप्तदश शतानि अष्टाविंशत्यधिकानि १७२८। तत स्वरसहिताया त्रिंशति उद्योतनाम्नि प्रक्षिप्ते एकत्रिंशद् भवति । अत्र ये प्राक् स्वरसहिताया त्रिंशति भङ्गा द्विपञ्चाशदधिकैकादशशतसङ्ख्या ११५२ उक्तास्त एवात्रापि द्रष्टव्या । सर्वसङ्ख्यया प्राकृततिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणा उदयभङ्गा एकोनपञ्चाशच्छतानि षडधिकानि ४९०६ ।

तथा इदानीं तेषामेव तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणा वैक्रिय कुर्वतामुदयस्थानानि पञ्च, तद्यथा—पञ्चविंशति सप्तविंशति अष्टाविंशति एकोनत्रिंशत् त्रिंशत् । तत्र वैक्रिय वैक्रियाङ्गोपाङ्ग

१ सं० सं० २ छा० मुद्रि० °सम्हुण्ड° ॥ २ सं० १ त० म० °दये ग° ॥ ३ सं० १ सं० त० °था तेषामे० ॥

समचतुरस्रम् उपघात प्रत्येकमिति पञ्च प्रकृतय प्रागुक्ताया तिर्यक्पञ्चेन्द्रिययोग्यायामेकविंशतौ प्रक्षिप्यन्ते तिर्यगानुपूर्वी चापनीयते तत पञ्चविंशतिर्भवति, अत्र सुभग-दुर्भगाभ्यामादेया-ऽना देयाभ्या यश कीर्ति-अयश कीर्तिभ्या चाष्टौ भङ्गा । तत शरीरपर्याप्त्या पर्याप्तस्य पराघाते प्रशस्तविहायोगतौ च प्रक्षिप्ताया सप्तविंशतिर्भवति, तत्रापि प्रागिवाष्टौ भङ्गा । तत प्राणापानपर्याप्त्या पर्याप्तस्य उच्छ्वासनाम्नि प्रक्षिप्तेऽष्टाविंशतिर्भवति, अत्रापि प्रागिवाष्टौ भङ्गा । अथवा शरीरपर्याप्त्या पर्याप्तस्य उच्छ्वासेऽनुदिते उद्योतनाम्नि तूदितेऽष्टाविंशतिर्भवति, अत्राप्यष्टौ भङ्गा । सर्वसङ्ख्ययाऽष्टाविंशतौ भङ्गा षोडश । ततो भाषापर्याप्त्या पर्याप्तस्य उच्छ्वास सहितायामष्टाविंशतौ सुस्वरे प्रक्षिप्ते एकोनत्रिंशत्, अत्रापि प्रागिवाष्टौ भङ्गा । अथवा प्राणापानपर्याप्त्या पर्याप्तस्य स्वरेऽनुदिते उद्योतनाम्नि तूदिते एकोनत्रिंशत्, अत्रापि प्रागिवाष्टौ भङ्गा । सर्वसङ्ख्यया एकोनत्रिंशति षोडश । तत सुस्वरसहितायामेकोनत्रिंशति उद्योते प्रक्षिप्ते त्रिंशत्, अत्रापि प्रागिवाष्टौ भङ्गा । सर्वसङ्ख्यया वैक्रिय कुर्वता षट्पञ्चाशद् भङ्गा ५६ । सर्वेषा तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणा सर्वसङ्ख्यया एकोनपञ्चाशच्छतानि द्विषष्ट्यधिकानि ४९६२ भङ्गानामवसेयानि ।

सामान्यमनुष्याणामुदयस्थानानि पञ्च, तद्यथा—एकविंशति षड्विंशति अष्टाविंशति एकोनत्रिंशत् त्रिंशत् । एतानि सर्वाण्यपि यथा प्राक् तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणामुक्तानि तथैवात्रापि वक्तव्यानि, नवर तिर्यग्गति-तिर्यगानुपूर्वीस्थाने मनुष्यगति-मनुष्यानुपूर्व्यौ वेदितव्ये । एकोनत्रिंशत् त्रिंशच्च उद्योतरहिता वक्तव्या, वैक्रिया-ऽऽहारकसंयतान् मुक्त्वा शेषमनुष्याणामुद्योतोदयाभावात् । तत एकोनत्रिंशति भङ्गाना पञ्च शतानि षट्सप्तत्यधिकानि ५७६, त्रिंशत्येकादश शतानि द्विपञ्चाशदधिकानि ११५२ अवगन्तव्यानि । सर्वसङ्ख्यया प्राकृतमनुष्याणा षड्विंशति शतानि द्विकाधिकानि २६०२ भङ्गाना भवन्ति ।

वैक्रियमनुष्याणामुदयस्थानानि पञ्च, तद्यथा—पञ्चविंशति सप्तविंशति अष्टाविंशति एकोनत्रिंशत् त्रिंशत् । तत्र मनुष्यगति पञ्चेन्द्रियजाति वैक्रिय वैक्रियाङ्गोपाङ्ग समचतुरस्रम् उपघात त्रसनाम बादरनाम पर्याप्तकनाम प्रत्येकनाम सुभग-दुर्भगयोरेकतरम् आदेया ऽनादेययोरेकतर यश कीर्ति-अयश कीर्त्योरेकतरा इति त्रयोदश प्रकृतयो द्वादशसङ्ख्याभिर्ध्रुवोदयाभि सह पञ्चविंशति २५ । अत्र सुभग-दुर्भगा-ऽऽदेया ऽनादेय-यश कीर्ति-अयश कीर्तिपदैरष्टौ भङ्गा । देशविरताना सयताना च वैक्रिय कुर्वता सर्वप्रशस्त एव भङ्गो वेदितव्य । तत शरीर पर्याप्त्या पर्याप्तस्य पराघाते प्रशस्तविहायोगतौ च प्रक्षिप्तायां सप्तविंशति, अत्रापि त एवाष्टौ भङ्गा । तत प्राणापानपर्याप्त्या पर्याप्तस्य उच्छ्वासे प्रक्षिप्तेऽष्टाविंशति, अत्रापि प्रागिवाष्टौ भङ्गा । अथवा सयतानामुत्तरवैक्रिय कुर्वता शरीरपर्याप्त्या पर्याप्तानामुच्छ्वासेऽनुदिते उद्योतनाम्नि तूदितेऽष्टाविंशति, अत्रैक एव भङ्ग, सयताना दुर्भगा ऽनादेया-ऽयश कीर्त्युदयाभावात् । सर्वसङ्ख्यया अष्टाविंशतौ भङ्गा नव । ततो भाषापर्याप्त्या पर्याप्तस्य उच्छ्वाससहितायामष्टाविंशतौ सुस्वरे क्षिप्ते एकोनत्रिंशद् भवति, अत्रापि प्रागिवाष्टौ भङ्गा । अथवा सयताना स्वरे-

१ स० १ त० म० र्या सर्वा सप्त ॥

ऽनुदिते उद्योतनाम्नि तूदिते एकोनत्रिंशद् भवति, अत्रापि प्रागिवैक एव भङ्गः । सर्वसङ्ख्यया एकोनत्रिंशति भङ्गा नव । सुस्वरसहितायामेकोनत्रिंशति संयतानामुद्योतनाम्नि प्रक्षिप्ते त्रिंशद् भवति, अत्रापि प्रागिवैक एव भङ्गः । सर्वसङ्ख्यया वैक्रियमनुष्याणां भङ्गाः पञ्चत्रिंशत् ३५ ।

आहारकसंयतानामुदयस्थानानि पञ्च, तद्यथा—पञ्चविंशतिः सप्तविंशतिः अष्टाविंशतिः एकोनत्रिंशत् त्रिंशत् । तत्राहारकम् आहारकाङ्गोपाङ्गं समचतुरस्रसंस्थानम् उपघातं प्रत्येकमिति पञ्च प्रकृतयः प्रागुक्तायां मनुष्यगतिप्रायोग्यायामेकविंशतौ प्रक्षिप्यन्ते मनुष्यानुपूर्वी चापनीयते ततो जाता पञ्चविंशतिः, केवलमिह पदानि सर्वाण्यपि प्रशस्तान्येव भवन्ति, आहारकसंयतानां दुर्भगा-ऽनादेया-ऽयशःकीर्त्युदयाभावात्, अत एक एवात्र भङ्गः । ततः शरीरपर्याप्त्या पर्याप्तस्य पराघाते प्रशस्तविहायोगतौ च प्रक्षिप्तायां सप्तविंशतिः, अत्राप्येक एव भङ्गः । ततः प्राणापान-पर्याप्त्या पर्याप्तस्य उच्छ्वासे प्रक्षिप्तेऽष्टाविंशतिर्भवति, अत्राप्येक एव भङ्गः । अथवा शरीर-पर्याप्त्या पर्याप्तस्य उच्छ्वासेऽनुदिते उद्योतनाम्नि तूदिते अष्टाविंशतिर्भवति, अत्राप्येक एव भङ्गः । सर्वसङ्ख्यया अष्टाविंशतौ द्वौ भङ्गौ । ततो भाषापर्याप्त्या पर्याप्तस्य उच्छ्वाससहिताया-मष्टाविंशतौ सुस्वरे प्रक्षिप्ते एकोनत्रिंशद् भवति, अत्राप्येक एव भङ्गः । अथवा प्राणापानपर्याप्त्या पर्याप्तस्य स्वरेऽनुदिते उद्योतनाम्नि तूदिते एकोनत्रिंशत्, अत्राप्येक एव भङ्गः । सर्वसङ्ख्यया एकोनत्रिंशति द्वौ भङ्गौ । ततो भाषापर्याप्त्या पर्याप्तस्य[1] स्वरसहितायामेकोनत्रिंशति उद्योते प्रक्षिप्ते त्रिंशद् भवति, अत्राप्येक एव भङ्गः । सर्वसङ्ख्यया आहारकशरीरिणां सप्त भङ्गाः ।

केवलिनामुदयस्थानानि दश, तद्यथा—विंशतिः एकविंशतिः षड्विंशतिः सप्तविंशतिः अष्टाविंशतिः एकोनत्रिंशत् त्रिंशद् एकत्रिंशद् नव अष्टौ च । तत्र मनुष्यगतिः पञ्चेन्द्रियजातिः त्रसनाम बादरनाम पर्याप्तकं सुभगम् आदेयं यशःकीर्तिरित्येता अष्टौ ध्रुवोदयाभिर्द्वादशसङ्ख्याभिः सह विंशतिः, अत्रैको भङ्गः । एषा चातीर्थकरकेवलिनः समुद्घातगतस्य कार्मणकाययोगे वर्तमानस्य वेदितव्या । सैव विंशतिस्तीर्थकरनामसहिता एकविंशतिः, अत्राप्येको भङ्गः । एषा च तीर्थकरकेवलिनः समुद्घातगतस्य कार्मणकाययोगे वर्तमानस्य वेदितव्या । तथा तस्यामेव विंशतावौदारिकशरीरं षण्णां संस्थानानामेकतमत् संस्थानम् औदारिकाङ्गोपाङ्गं वज्र-र्षभनाराचसंहननम् उपघातं प्रत्येकमिति षट् प्रकृतयः प्रक्षिप्यन्ते ततः षड्विंशतिर्भवति, एषा चातीर्थकरकेवलिनः औदारिकमिश्रकाययोगे वर्तमानस्य वेदितव्या, अत्र षड्भिः संस्थानैः षड् भङ्गा भवन्ति परं ते सामान्यमनुष्योदयस्थानेष्वपि सम्भवन्तीति न पृथग् गण्यन्ते । एषैव षड्विंशतिः तीर्थकरसहिता सप्तविंशतिर्भवति, एषा तीर्थकरकेवलिनः औदारिकमिश्रकाययोगे वर्तमानस्यावसेया, अत्र संस्थानं समचतुरस्रमेव वक्तव्यम्, तत एक एवात्र भङ्गः । सैव षड्विंशतिः पराघात-उच्छ्वास-प्रशस्ता-ऽप्रशस्तविहायोगत्यन्यतरविहायोगति-सुस्वर-दुःस्वरान्यतरस्वर-सहिता त्रिंशद् भवति, एषा चातीर्थकरस्य सयोगिकेवलिनः औदारिककाययोगे वर्तमानस्याव-

1 सं० सं० १ त० म० छा० °स्य सुस्व° ॥

गन्तव्या, अत्र संस्थानषट्क प्रशस्ता ऽप्रशस्तविहायोगति सुस्वर दु स्वरैश्चतुर्विंशतिर्भङ्गा, ते च सामान्यमनुष्योदयस्थानेऽपि प्राप्यन्ते इति न पृथग् गण्यन्ते। एषैव त्रिंशत् तीर्थकरनाम-सहिता एकत्रिंशद् भवति, सा च सयोगिकेवलिनस्तीर्थकरस्यौदारिककाययोगे वर्तमानस्यात्र ज्ञेया। एषैव एकत्रिंशद् वाग्योगे निरुद्धे त्रिंशद् भवति, उच्छ्वासेऽपि च निरुद्धे एकोनत्रिंशत्। अतीर्थकरकेवलिन प्रागुक्ता त्रिंशद् वाग्योगे निरुद्धे सत्येकोनत्रिंशद् भवति, अत्रापि षड्भि संस्थानै विहायोगतिद्विकेन च द्वादश भङ्गा प्राप्यन्ते, ते च प्रागिव न पृथग् गण्यन्ते। तत उच्छ्वासे निरुद्धेऽष्टाविंशति, अत्रापि संस्थानादिगता द्वादश भङ्गा न पृथग् गणयितव्या, सामान्यमनुष्योदयस्थानग्रहणेन गृहीतत्वात्। तथा मनुष्यगति पञ्चेन्द्रियजाति त्रसनाम बादर नाम पर्याप्तकनाम सुभगम् आदेय यश कीर्ति तीर्थकरमिति नवोदय, एष च तीर्थकृतोऽयो-गिकेवलिनश्चरमसमये वर्तमानस्य प्राप्यते। स एवातीर्थकरस्य तीर्थकरनामरहितोऽष्टोदय। इह केवल्युदयस्थानमध्ये विंशति एकविंशति सप्तविंशति एकोनत्रिंशत् त्रिंशद्-एकत्रिंशद्-नवा-ऽष्टरूपेष्वष्टसूदयस्थानेषु प्रत्येकमेकेको विशेषभङ्ग प्राप्यते इत्यष्टौ भङ्गा। तत्र विंशत्येक-योर्भङ्गावतीर्थकृत शेषेषु षट्सु उदयस्थानेषु तीर्थकृत षड् भङ्गा, सर्वसङ्ख्यया मनुष्याणामुदय-स्थानेषु षड्विंशतिशतानि द्विपञ्चाशदधिकानि २६५२।

देवानामुदयस्थानानि षट्, तद्यथा—एकविंशति पञ्चविंशति सप्तविंशति अष्टाविंशति एकोनत्रिंशत् त्रिंशत्। तत्र देवगति देवानुपूर्वी पञ्चेन्द्रियजाति त्रसनाम बादरनाम पर्याप्तक सुभग-दुर्भगयोरेकतरम् आदेया ऽनादेययोरेकतर यश कीर्ति अयश कीर्त्योरेकतरा इति नव प्रकृतयो द्वादशसङ्ख्याभिर्ध्रुवोदयाभि सह एकविंशति, अत्र सुभग दुर्भगा ऽऽदेया-ऽनादेय यश कीर्ति-अयश कीर्तिपदैरष्टौ भङ्गा। दुर्भगाऽनादेया-ऽयश कीर्तिनामुदय पिशाचादीनामव-गन्तव्य। तत शरीरस्थस्य वैक्रिय वैक्रियाङ्गोपाङ्गम् उपघात प्रत्येक समचतुरस्रसंस्थानमिति पञ्च प्रकृतय प्रक्षिप्यन्ते देवानुपूर्वी चापनीयते ततो जाता पञ्चविंशति, अत्रापि त एवाष्टौ भङ्गा। तत शरीरपर्याप्त्या पर्याप्तस्य पराघाते प्रशस्तविहायोगतौ च प्रक्षिप्ताया सप्तविंशति, अत्रापि त एवाष्टौ भङ्गा, देवानामप्रशस्तविहायोगतेरुदयाभावात् तदाश्रिता विकल्पा न भवन्ति। तत प्राणापानपर्याप्त्या पर्याप्तस्योच्छ्वासे क्षिप्तेऽष्टाविंशति, अत्रापि त एवाष्टौ भङ्गा, अथवा शरीरपर्याप्त्या पर्याप्तस्य उच्छ्वासेऽनुदिते उद्योतनाम्नि तूदितेऽष्टाविंशति, अत्रापि प्रागिवाष्टौ भङ्गा, सर्वसङ्ख्यया अष्टाविंशतौ भङ्गा षोडश। ततो भाषापर्याप्त्या पर्याप्तस्य सुस्वरे क्षिप्ते एकोनत्रिंशद् भवति, अत्राप्यष्टौ भङ्गा, दु स्वरोदयो देवाना न भवतीति कृत्वा तदाश्रिता विकल्पा न भवन्ति, अथवा प्राणापानपर्याप्त्या पर्याप्तस्य सुस्वरेऽनुदिते उद्योतनाम्नि तूदिते एकोनत्रिंशद् भवति, उत्तरवैक्रिय हि कुर्वतो देवस्योद्योतोदयो लभ्यते, अत्रापि त

---

१ स० १ त० °स्थानेऽपि इ° ॥ २ स० १ त० °शद् भवति। अ° ॥ ३ छा० म० मुद्रि० °स्थान षड् भङ्गा प्राप्यन्ते ति ॥ ४ छा० म० °न च द्वादश। ते च प्रागि° ॥ ५ छा० म० मुद्रि० स्थानगता षड् भ ॥ ६ स० १ त० म० °या ध्रुवोदयाभिर्द्वादशसङ्ख्याभि ॥

एवाष्टौ भङ्गा । सर्वसङ्ख्यया एकोनत्रिंशति षोडश भङ्गा । ततो भाषापर्याप्त्या पर्याप्तस्य सुस्वरसहितायामेकोनत्रिंशति उद्योते क्षिप्ते त्रिंशद् भवति, अत्रापि त एवाष्टौ भङ्गा, सर्वसङ्ख्यया देवाना चतु षष्टिर्भङ्गा ६४ ।

नैरयिकाणामुदयस्थानानि पञ्च, तद्यथा—एकविंशति पञ्चविंशति सप्तविंशति अष्टाविंशति एकोनत्रिंशत् । तत्र नरकगति नरकानुपूर्वी पञ्चेन्द्रियजाति त्रसनाम बादरनाम पर्याप्तकनाम दुर्भगनाम अनादेयम् अयश कीर्तिरित्येता नव प्रकृतयो द्वादशसङ्ख्याभिर्ध्रुवोदयाभि सहैकविंशति, अत्र सर्वाण्यपि पदानि अप्रशस्तान्येवेति एक एव भङ्ग । तत शरीरस्थस्य वैक्रिय वैक्रियाङ्गोपाङ्ग हुण्डसंस्थानम् उपघात प्रत्येकमिति पञ्च प्रकृतय प्रक्षिप्यन्ते नरकानुपूर्वी चापनीयते तत पञ्चविंशतिर्भवति, अत्राप्येक एव भङ्ग । तत शरीरपर्याप्त्या पर्याप्तस्य पराघाता-ऽप्रशस्तविहायोगत्यो प्रक्षिप्तयो सप्तविंशति, अत्राप्येक एव भङ्ग । तत प्राणापानपर्याप्त्या पर्याप्तस्य उच्छ्वासे क्षिप्तेऽष्टाविंशति, अत्राप्येक एव भङ्ग । ततो भाषापर्याप्त्या पर्याप्तस्य दु स्वरे क्षिप्ते एकोनत्रिंशत्, अत्राप्येक एव भङ्ग । सर्वसङ्ख्यया नैरयिकाणा पञ्च भङ्गा । सकलोदयस्थानभङ्गा पुन सप्तसप्ततिशतानि एकनवत्यधिकानि ७७९१ ॥ २६ ॥

सम्प्रति कस्मिन्नुदयस्थाने कति भङ्गा प्राप्यन्ते[१] इति चिन्तायां तन्निरूपणार्थमाह—

एग बियालेकारस, तेत्तीसा छस्सयाणि तेत्तीसा ।
बारससत्तरससयाणहिगाणि बिपंचसीईहिं ॥ २७ ॥
अउणत्तीसेकारससयाहिगा सतरसपंचसट्ठीहिं ।
इक्केक्कग च वीसादट्ठुदयंतेसु उदयविही ॥ २८ ॥

विंशत्यादिष्वष्टपर्यन्तेषु द्वादशसूदयस्थानेषु यथासङ्ख्यमेकादिसङ्ख्या 'उदयविधय' उदयप्रकारा उदयभङ्गा इत्यर्थ । तत्र विंशतावेको भङ्ग, स चातीर्थकरकेवलिनोऽवसेय । एकविंशतौ द्विचत्वारिंशत्—तत्रैकेन्द्रियानधिकृत्य पञ्च, विकलेन्द्रियानधिकृत्य नव, तिर्यक्पञ्चेन्द्रियानधिकृत्य नव, मनुष्यानप्यधिकृत्य नव, तीर्थकरमधिकृत्यैक, सुरानधिकृत्याष्टौ, नैरयिकानधिकृत्यैक इति द्विचत्वारिंशत् ४२ । चतुर्विंशतावेकादश, ते चैकेन्द्रियानेवाधिकृत्य प्राप्यन्ते, अन्यत्र चतुर्विंशत्युदयस्थानस्याप्राप्यमाणत्वात् । पञ्चविंशतौ त्रयस्त्रिंशत्—तत्रैकेन्द्रियानधिकृत्य सप्त, वैक्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियानधिकृत्याष्टौ, वैक्रियमनुष्यानप्यधिकृत्याष्टौ, आहारकसंयतानाश्रित्यैक, देवानप्यधिकृत्याष्टौ, नैरयिकानधिकृत्यैक इति त्रयस्त्रिंशत् ३३ । षड्विंशतौ षट् शतानि ६००—तत्रैकेन्द्रियानाश्रित्य त्रयोदश, विकलेन्द्रियानधिकृत्य नव, प्राकृततिर्यक्पञ्चेन्द्रियानधिकृत्य द्वे शते एकोननवत्यधिके २८९, प्राकृतमनुष्यानप्यधिकृत्य द्वे शते एकोननवत्यधिके २८९ इति षट् शतानि ६०० । सप्तविंशतौ त्रयस्त्रिंशत्—तत्रैकेन्द्रियानाश्रित्य षट्,

१ छा० मुद्रि० "न्त्येवेति कृत्वा एक ए०" ॥ २ स० मुद्रि० "रपर्याप्त्या पर्याप्तस्य वैक्रि०" ॥
३ गाथेयं सप्ततिकाभाष्ये द्वात्रिंशत्त्रयोविंशत्यधिकैकशततमी ॥ ४ त० म० "करण" ॥

वैक्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियानधिकृत्याष्टौ, वैक्रियमनुष्यानधिकृत्याष्टौ, आहारकसंयतानधिकृत्यैक, केवलिनमधिकृत्यैक, देवानधिकृत्याष्टौ, नैरयिकानधिकृत्यैक इति त्रयस्त्रिंशत् ३३। अष्टाविंशतौ द्व्यधिकानि द्वादश शतानि १२०२—तत्र विकलेन्द्रियानधिकृत्य षट्, प्राकृततिर्यक्पञ्चेन्द्रियानधिकृत्य पञ्च शतानि षट्सप्तत्यधिकानि ५७६, वैक्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियानधिकृत्य षोडश, मनुष्यानधिकृत्य पञ्च शतानि षट्सप्तत्यधिकानि ५७६, वैक्रियमनुष्यानधिकृत्य नव, आहारकसंयतानधिकृत्य द्वौ, देवानधिकृत्य षोडश, नारकानधिकृत्यैक इति। एकोनत्रिंशति पञ्चाशीत्यधिकानि सप्तदश शतानि १७८५—तत्र विकलेन्द्रियानधिकृत्य द्वादश, तिर्यक्पञ्चेन्द्रियानधिकृत्य द्विपञ्चाशदधिकान्येकादश शतानि ११५२, वैक्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियानधिकृत्य षोडश, मनुष्यानधिकृत्य पञ्च शतानि षट्सप्तत्यधिकानि ५७६, वैक्रियमनुष्यानधिकृत्य नव, आहारकसंयतानधिकृत्य द्वौ, तीर्थकरमधिकृत्यैक, देवानधिकृत्य षोडश, नारकानधिकृत्यैक इति। त्रिंशति एकोनत्रिंशच्छतानि सप्तदशाधिकानि २९१७—तत्र विकलेन्द्रियानधिकृत्याष्टादश, तिर्यक्पञ्चेन्द्रियानधिकृत्य सप्तदश शतान्यष्टाविंशत्यधिकानि १७२८, वैक्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियानधिकृत्याष्टौ, मनुष्यानधिकृत्य द्विपञ्चाशदधिकान्येकादश शतानि ११५२, वैक्रियमनुष्यानधिकृत्यैक, आहारकसंयतानधिकृत्यैक, केवलिनमधिकृत्यैक, देवानधिकृत्याष्टौ। एकत्रिंशत्येकादश शतानि पञ्चषष्ट्यधिकानि ११६५—तत्र विकलेन्द्रियानधिकृत्य द्वादश, तिर्यक्पञ्चेन्द्रियानधिकृत्य द्विपञ्चाशदधिकान्येकादश शतानि ११५२, तीर्थकरमधिकृत्यैक। एको नवोदये। एकोऽष्टोदये। सर्वोदयस्थानेषु सर्वसङ्ख्यया भङ्गाः सप्तसप्ततिशतान्येकनवत्यधिकानि ७७९१ इति ॥ २७-२८ ॥

तदेवमुक्तानि सप्रभेदान्युदयस्थानानि। सम्प्रति सत्तास्थानप्ररूपणार्थमाह—

तिदुनउई उगुनउई, अट्ठच्छलसी असीइ उगुसीई।
अट्ठयछप्पणत्तरि, नव अट्ठ य नामसंताणि ॥ २९ ॥

नाम्न—नामकर्मणो द्वादश सत्तास्थानानि, तद्यथा—त्रिनवति द्विनवति एकोननवति अष्टाशीति षडशीति अशीति एकोनाशीति अष्टसप्तति षट्सप्तति पञ्चसप्तति नव अष्टाविति। तत्र सर्वप्रकृतिसमुदायस्त्रिनवति। सैव तीर्थकररहिता द्विनवति। त्रिनवतिरेवाहारकशरीरा-ऽऽहारकाङ्गोपाङ्ग-ऽऽहारकसङ्घाता-ऽऽहारकबन्धनरूपचतुष्टयेन रहिता एकोननवति। सैव तीर्थकररहिता अष्टाशीति। ततो नरकगति-नरकानुपूर्व्योरथवा देवगति देवानुपूर्व्योरुद्वलितयो षडशीति, अथवा अशीतिसत्कर्मणो नरकगतिप्रायोग्य बध्नतो नरकगति-नरकानुपूर्वी-वैक्रियशरीर-वैक्रियाङ्गोपाङ्ग वैक्रियसङ्घात वैक्रियबन्धनबन्धे षडशीति, अथवाऽशीतिसत्कर्मणो देवगतिप्रायोग्य बध्नतो देवगति-देवानुपूर्वी-वैक्रियचतुष्टयबन्धे षडशीति। ततो नरकगति-नरकानुपूर्वी-वैक्रियचतुष्टयोद्वलने अथवा देवगति-देवानुपूर्वी-वैक्रियचतुष्टयोद्वलने कृते अशीति। ततो मनुजगति-मनुजानुपूर्व्योरुद्वलितयोरष्टसप्तति। एतान्यक्षपकाणा सत्तास्थानानि। क्षपकाणां पुनरमूनि—त्रिनवते नरकगति-नरकानुपूर्वी तिर्यग्गति तिर्यगानुपूर्वी-एकेन्द्रियजाति-द्वीन्द्रियजाति-त्रीन्द्रियजाति-चतुरिन्द्रियजाति-स्थावरा-ऽऽतप-उद्योत-सूक्ष्म-साधारणरूपे त्रयोदशके क्षीणे अशीतिर्भवति,

द्विनवते क्षीणे एकोनाशीति, एकोननवते क्षीणे षट्सप्तति, अष्टाशीते क्षीणे पञ्चसप्तति। मनुष्यगति-पञ्चेन्द्रियजाति-त्रस-बादर-पर्याप्त-सुभगा-ऽऽदेय-यश कीर्ति-तीर्थकराणीति नवक सत्तास्थानम्, तच्चायोगिकेवलिनस्तीर्थकरस्य चरमसमये वर्तमानस्य प्राप्यते। तदेवातीर्थकरकेवलिन श्चरमसमये तीर्थकरनामरहितमष्टकमिति ॥ २९ ॥

तदेवमुक्तानि सत्तास्थानानि सम्प्रति संवेधप्रतिपादनार्थमुपक्रमते—

अट्ठ य बारस बारस, बंधोदयसंतपयडिठाणाणि।
ओहेणादेसेण य, जत्थ जहासंभव विभंजे ॥ ३० ॥

नाम्नो बन्धोदयसत्ताप्रकृतिस्थानानि यथाक्रममष्ट द्वादश-द्वादशसङ्ख्यानि। तानि 'ओघेन' सामान्येन 'आदेशेन च' विशेषेण च 'यथासम्भव' यानि यत्र यथा सम्भवन्ति तानि तत्र तथा 'विभजेत्' विकल्पयेद् उत्तरग्रन्थानुसारेण। तत्रामुक बन्धस्थान बध्नत एतावन्ति उदयस्थानानि एतावन्ति च सत्तास्थानानीति सामान्यम्। मिथ्यादृष्ट्यादिषु गुणस्थानेषु गत्यादिषु च मार्गणास्थानेषु प्रत्येकमेतावन्ति बन्धस्थानानि एतावन्ति उदयस्थानानि एतावन्ति च सत्तास्थानानि एव च तेषा परस्पर संवेध इत्यादेश ॥ ३० ॥

तत्र प्रथमत सामान्येन संवेधचिन्ता कुर्वन्नाह—

नव पंचोदय संता, तेवीसे पण्णवीस छव्वीसे।
अट्ठ चउरट्ठवीसे, नव संत्तुगतीस तीसम्मि ॥ ३१ ॥
एगेगमेगतीसे, एगे एगुदय अट्ठ संतम्मि।
उवरयबंधे दस दस, वेयगसंतम्मि ठाणाणि ॥ ३२ ॥

त्रयोविंशतिबन्धे पञ्चविंशतिबन्धे षड्विंशतिबन्धे च प्रत्येक नव नव उदयस्थानानि पञ्च पञ्च सत्तास्थानानि। तत्र त्रयोविंशतिबन्धोऽपर्याप्तकैकेन्द्रियप्रायोग्य एव, तद्बन्धकाश्च एकेन्द्रिय-द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रिय-तिर्यक्पञ्चेन्द्रिया मनुष्याश्च। एतेषा च त्रयोविंशतिबन्धकाना यथायोग सामान्येन नवोदयस्थानानि, तद्यथा—एकविंशति चतुर्विंशति पञ्चविंशति षड्विंशति सप्तविंशति अष्टाविंशति एकोनत्रिंशत् त्रिंशद् एकत्रिंशद्। तत्र त्रयोविंशतिबन्धकानामेकविंशत्युदयोऽपान्तरालगतौ वर्तमानानामेकेन्द्रिय-द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रिय तिर्यक्पञ्चेन्द्रिय-मनुष्याणामवसेय, तेषामपर्याप्तैकेन्द्रियप्रायोग्यबन्धसम्भवात्। चतुर्विंशत्युदयोऽपर्याप्त-पर्याप्तैकेन्द्रियाणाम्, अन्यत्र चतुर्विंशत्युदयस्याप्राप्यमाणत्वात्। पञ्चविंशत्युदय पर्याप्तैकेन्द्रियाणा वैक्रियतिर्यङ्-मनुष्याणा च मिथ्यादृष्ट्यादीनाम्। षड्विंशत्युदय पर्याप्तैकेन्द्रियाणा पर्याप्तापर्याप्त-द्वि त्रि-चतुरिन्द्रिय-तिर्यक्पञ्चेन्द्रिय-मनुष्याणा च मिथ्यादृष्टीनाम्। सप्तविंशत्युदय पर्याप्तैके-

१ छा० मुद्रि० °सनाम बाद° ॥ २ सं १ त० म० °नार्थमाह ॥ ३ छा० मुद्रि० °भए ॥ ४ छा० त० °शतिपु° ॥ ५ स० मुद्रि० दृष्टीनाम् ॥ ६ मुद्रि० त० म० °न्द्रियाणा मनु° ॥ ७ त० म० °दृष्ट्यादीनाम् ॥

न्द्रियाणां वैक्रियतिर्यङ्-मनुष्याणां शरीरपर्याप्त्या पर्याप्तानां च मिथ्यादृष्टीनाम् । अष्टाविंशति-एकोनत्रिंशत्-त्रिंशदुदया पर्याप्तद्वि-त्रि-चतुरिन्द्रिय तिर्यक्पञ्चेन्द्रिय-मनुष्याणां मिथ्यादृष्टीनाम् । एकत्रिंशदुदयो विकलेन्द्रिय-तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणां मिथ्यादृष्टीनाम् । उक्तशेषास्त्रयोविंशति बन्धका न भवन्ति । तेषां च त्रयोविंशतिबन्धकानां सामान्येन पञ्च सत्तास्थानानि, तद्यथा—द्विनवति अष्टाशीति षडशीति अशीति अष्टसप्ततिश्च । तत्रैकविंशत्युदये वर्तमानानां सर्वेषामपि पञ्चापि सत्तास्थानानि, केवलं मनुष्याणामष्टसप्ततिवर्जानि चत्वारि सत्तास्थानानि वक्तव्यानि यतोऽष्टसप्ततिर्मनुष्यगति-मनुष्यानुपूर्व्योरुद्वलितयोः प्राप्यते, न च मनुष्याणां तदुद्वलनसम्भवः । चतुर्विंशत्युदयेऽपि पञ्चापि सत्तास्थानानि, केवलं वायुकायिकस्य वैक्रियं कुर्वतश्चतुर्विंशत्युदये वर्तमानस्याशीति-अष्टसप्ततिवर्जानि त्रीणि सत्तास्थानानि, यतस्तस्य वैक्रियषट्कं मनुष्यद्विकं च नियमादस्ति, यतो वैक्रियं हि साक्षादनुभवन् वर्तते इति न तदुद्वलयति, तदभावाच्च न देवद्विक-नरकद्विके अपि, समकालं वैक्रियषट्कस्योद्वलनसम्भवात् तथास्वाभाव्यात्, वैक्रियषट्के चोद्वलिते सति पश्चाद् मनुष्यद्विकमुद्वलयति न पूर्वम्, तथा चोक्तं चूर्णौ—

वेउव्वियछक्क उव्वलेउ पच्छा मणुयदुगं उव्वलेइ । ( ) ।

इत्यशीत्यष्टसप्ततिसत्तास्थानासम्भवः । पञ्चविंशत्युदयेऽपि पञ्चापि सत्तास्थानानि । तत्राष्टसप्ततिर्वैक्रियवायुकायिक-तैजस्कायिकान् अधिकृत्य प्राप्यते नान्यान्, यतस्तेजस्कायिकवायुकायिकवर्जोऽन्यः सर्वोऽपि पर्याप्तको नियमाद् मनुष्यगति-मनुष्यानुपूर्व्यौ बध्नाति, तथा चाह चूर्णिकृत्—

तेऊवाऊवज्जो पज्जत्तगो मणुयगइ नियमा बंधेइ । ( ) इति ।

ततोऽन्यत्राष्टसप्ततिर्न प्राप्यते । षड्विंशत्युदयेऽपि पञ्चापि सत्तास्थानानि, नवरमष्टसप्ततिरवैक्रियवायुकायिक-तैजस्कायिकानां द्वि त्रि-चतु पञ्चेन्द्रियाणां वा तेजो-वायुभवादनन्तरागतानां पर्याप्ता-ऽपर्याप्तानाम्, ते हि यावद् मनुष्यगति-मनुष्यानुपूर्व्यौ न बध्नन्ति तावत् तेषामष्टसप्ततिः प्राप्यते नान्येषाम् । सप्तविंशत्युदये अष्टसप्ततिवर्जानि चत्वारि सत्तास्थानानि, सप्तविंशत्युदयो हि तेजो-वायुवर्जपर्याप्तबादरैकेन्द्रिय-वैक्रियतिर्यङ्-मनुष्याणाम्, तेषां चावश्यं मनुष्यद्विकसम्भवादष्टसप्ततिर्न प्राप्यते ॥

अथ कथं तेजो-वायूनां सप्तविंशत्युदयो न भवति येन तद्वर्जनं क्रियते ? उच्यते—सप्तविंशत्युदय एकेन्द्रियाणामातप-उद्योतान्यतरप्रक्षेपे सति प्राप्यते, न च तेजो-वायुष्वातप-उद्योतोदयः सम्भवति, ततस्तद्वर्जनम् ।

अष्टाविंशति एकोनत्रिंशत्-त्रिंशद्-एकत्रिंशदुदयेषु नियमादष्टसप्ततिवर्जानि चत्वारि चत्वारि सत्तास्थानानि । अष्टाविंशत्याद्युदया हि पर्याप्तविकलेन्द्रिय तिर्यक्पञ्चेन्द्रिय-मनुष्याणाम्, एकत्रिंशदुदयश्च पर्याप्तविकलेन्द्रिय-पञ्चेन्द्रियतिरश्चाम्, ते चावश्यं मनुजगति मनुजानुपूर्वीसत्कर्माण

१ सं० सं० १ त० म० °दस्ति, वै० ॥ २ वैक्रियषट्कं उद्वल्य पश्चाद् मनुजद्विकं उद्वलयति ॥
३ तेजो-वायुवर्जः पर्याप्तको मनुजगतिं नियमाद् बध्नाति ॥ ४ सं० १ त० म० °सप्ततिर्नावाप्य° ॥

इति । तदेवं त्रयोविंशतिबन्धकानां यथायोगं नवाप्युदयस्थानान्यधिकृत्य चत्वारिंशत्सङ्ख्यानि सत्तास्थानानि भवन्ति । पञ्चविंशति-षड्विंशतिबन्धकानामप्येवमेव, केवलं पर्याप्तैकेन्द्रियप्रायोग्य-पञ्चविंशति-षड्विंशतिबन्धकानां देवानाम् एकविंशति-षड्विंशति-सप्तविंशति-अष्टाविंशति एकोन-त्रिंशत्-त्रिंशद्रूपेषु षट्सूदयस्थानेषु द्विनवतिरष्टाशीतिश्चेति द्वे द्वे सत्तास्थाने वक्तव्ये । अपर्याप्त-विकलेन्द्रिय-तिर्यक्पञ्चेन्द्रिय-मनुष्यप्रायोग्यां तु पञ्चविंशतिं देवा न बध्नन्ति, अपर्याप्तेषु विकले-न्द्रियेषु तिर्यक्पञ्चेन्द्रियेषु मनुष्येषु च मध्ये देवानामुत्पादाभावात् । सामान्येन पञ्चविंशतिबन्धे षड्विंशतिबन्धे च प्रत्येकं नवाप्युदयस्थानान्यधिकृत्य चत्वारिंशच्चत्वारिंशच्च सत्तास्थानानि ।

"अट्ठ चउरऽट्ठवीस" त्ति अष्टाविंशतौ बध्यमानायामष्टावुदयस्थानानि, तद्यथा—एकविं-शति पञ्चविंशति षड्विंशति सप्तविंशति अष्टाविंशति एकोनत्रिंशत् त्रिंशद् एकत्रिंशत् । इह द्विधा अष्टाविंशति —देवगतिप्रतिप्रायोग्या नरकगतिप्रायोग्या च । तत्र देवगतिप्रायोग्यायां बन्धे-ऽष्टाप्युदयस्थानानि नानाजीवापेक्षया प्राप्यन्ते, नरकगतिप्रायोग्यायास्तु बन्धे द्वे, तद्यथा—त्रिंशद् एकत्रिंशत् । तत्र देवगतिप्रायोग्याष्टाविंशतिबन्धकानामेकविंशत्युदयं क्षायिकसम्यग्दृष्टीनां वेद-कसम्यग्दृष्टीनां वा पञ्चेन्द्रियतिर्यङ्-मनुष्याणामपान्तरालगतौ वर्तमानानामवसेयं । पञ्चविंशत्यु-दयं आहारकसंयतानां वैक्रियतिर्यङ्-मनुष्याणां च सम्यग्दृष्टीनां मिथ्यादृष्टीनां वा । षड्विंशत्यु-दयं क्षायिकसम्यग्दृष्टीनां वेदकसम्यग्दृष्टीनां वा पञ्चेन्द्रियतिर्यङ्-मनुष्याणां शरीरस्थानाम् । सप्त-विंशत्युदयं आहारकसंयतानां वैक्रियतिर्यङ्-मनुष्याणां तु सम्यग्दृष्टीनां मिथ्यादृष्टीनां वा । अष्टा-विंशति-एकोनत्रिंशदुदयावपि यथाक्रमं शरीरपर्याप्त्या प्राणापानपर्याप्त्या च पर्याप्तानां तिर्यङ्-मनुष्याणां क्षायिकसम्यग्दृष्टीनां वेदकसम्यग्दृष्टीनां वा, तथा आहारकसंयतानां वैक्रियसंयतानां वैक्रियतिर्यङ्-मनुष्याणां च सम्यग्दृष्टीनां मिथ्यादृष्टीनां वाऽवसेयौ । त्रिंशदुदयस्तिर्यङ्-मनुष्याणां सम्यग्दृष्टीनां मिथ्यादृष्टीनां सम्यग्मिथ्यादृष्टीनां वा, तथा आहारकसंयतानां वैक्रियसंयतानां वा । एकत्रिंशदुदयं पञ्चेन्द्रियतिरश्चां सम्यग्दृष्टीनां मिथ्यादृष्टीनां वा । नरकगतिप्रायोग्यां त्वष्टाविंशतिं बध्नतां त्रिंशदुदयं पञ्चेन्द्रियतिर्यङ्-मनुष्याणां मिथ्यादृष्टीनाम् । एकत्रिंशदुदयं पञ्चेन्द्रियतिरश्चां मिथ्यादृशाम् । अष्टाविंशतिबन्धकानां सामान्येन चत्वारि सत्तास्थानानि, तद्यथा—द्विनवतिः एकोननवतिः अष्टाशीतिः षडशीतिश्च । तत्रैकविंशत्युदये वर्तमानानां देवगतिप्रायो-ग्याष्टाविंशतिबन्धकानां द्वे सत्तास्थाने, तद्यथा—द्विनवतिरष्टाशीतिश्च । पञ्चविंशत्युदयेऽप्यष्टा-विंशतिबन्धकानामाहारकसंयत-वैक्रियतिर्यङ्-मनुष्याणां सामान्येन ते एव द्वे सत्तास्थाने । तत्रा-हारकसंयतो नियमादाहारकसत्कर्मा ततस्तस्य द्विनवतिः सत्तास्थानम्, शेषाश्च तिर्यञ्चो मनुष्या वा आहारकसत्कर्माणः तद्रहिताश्च भवन्ति ततस्तेषां द्वे अपि सत्तास्थाने । षड्विंशति-सप्तविं-शति-अष्टाविंशति-एकोनत्रिंशदुदयेष्वपि ते एव द्वे द्वे सत्तास्थाने सामान्येन वेदितव्ये । त्रिंशदु-दये देवगति-नरकगतिप्रायोग्याष्टाविंशतिबन्धकानां सामान्येन चत्वारि सत्तास्थानानि, तद्यथा—

---

१ म० छा० °शति-पर्याविंशति सप्त° ॥ २ म० १ त० म० च ॥ ३ मुद्रि० छा० °प्त्या पर्याप्तानां प्राणा° ॥ ४ स० म० मुद्रि० °तानां वैक्रियतिर्यग्म ॥ ५ स० १ त० म० °ष्याश्च आ°॥

द्विनवति एकोननवति अष्टाशीति षडशीतिश्च । तत्र द्विनवतिरष्टाशीतिश्च प्रागिव भावनीया । एकोननवति पुनरेवम्—कश्चिद् मनुष्यस्तीर्थकरनामसत्कर्मा वेदकसम्यग्दृष्टि पूर्वबद्धनरकायुष्को नरकाभिमुख सम्यक्त्वात् प्रच्युत्य मिथ्यात्व गत , तस्य तदा तीर्थकरनामबन्धाभावाद् नरकगतिप्रायोग्यामष्टाविंशतिं बध्नत एकोननवति सत्ताया प्राप्यते । षडशीतिस्त्वेवम्—इह तीर्थकराऽऽहारकचतुष्क-देवगति-देवानुपूर्वी-नरकगति-नरकानुपूर्वी-वैक्रियचतुष्टयरहिता त्रिनवतिरशीतिर्भवति, ततस्तत्सत्कर्मा पञ्चेन्द्रियतिर्यङ् मनुष्यो वा जात सन् सर्वाभि पर्याप्तिभि पर्याप्तो यदि विशुद्ध ततो देवगतिप्रायोग्यामष्टाविंशतिं बध्नाति, तद्बन्धे च देवद्विक वैक्रियचतुष्टय च सत्ताया प्राप्यते इति तस्य षडशीति । अथ सर्वसक्लिष्टस्ततो नरकगतिप्रायोग्यामष्टाविंशतिं बध्नाति, तद्बन्धे च नरकद्विक वैक्रियचतुष्टय चावश्य बध्यमानत्वात् सत्ताया प्राप्यते इत्येवमपि तस्य षडशीति । एकत्रिंशदुदये त्रीणि सत्तास्थानानि, तद्यथा—द्विनवतिरष्टाशीति षडशीतिश्च । एकोननवतिरिह न प्राप्यते, एकत्रिंशदुदयो हि तिर्यक्पञ्चेन्द्रियेषु प्राप्यते, न च तिर्यक्षु तीर्थकरनाम सद् भवति, तीर्थकरनामसत्कर्मण तिर्यक्षूत्पादाभावात् । षडशीतिसत्तास्थानभावना च प्रागिव वेदितव्या । तदेवमष्टाविंशतिबन्धकानामष्टावप्युदयस्थानान्यधिकृत्यैकोनविंशतिसङ्ख्यानि सत्तास्थानानि भवन्ति ।

"नव सत्तुगतीस तीसम्मि" एकोनत्रिंशति त्रिंशति च बध्यमानाया प्रत्येक नव नवोदयस्थानानि, सप्त सप्त सत्तास्थानानि । तत्रोदयस्थानान्यमूनि, तद्यथा—एकविंशति चतुर्विंशति पञ्चविंशति षड्विंशति सप्तविंशति अष्टाविंशति एकोनत्रिंशत् त्रिंशद् एकत्रिंशत् । तत्रैकविंशत्युदयस्तिर्यङ्-मनुष्यप्रायोग्यामेकोनत्रिंशत बध्नता पर्याप्ता-ऽपर्याप्तैकेन्द्रिय-विकलेन्द्रिय-तिर्यङ्-मनुष्याणा देव-नैरयिकाणा च[3] । चतुर्विंशत्युदय पर्याप्ता-ऽपर्याप्तैकेन्द्रियाणाम् । पञ्चविंशत्युदय पर्याप्तैकेन्द्रियाणा देव-नैरयिकाणा वैक्रियतिर्यङ्-मनुष्याणा च मिथ्यादृष्टीनाम् । षड्विंशत्युदय पर्याप्तैकेन्द्रियाणा पर्याप्ता-ऽपर्याप्तविकलेन्द्रिय-तिर्यक्पञ्चेन्द्रिय-मनुष्याणाम् । सप्तविंशत्युदय पर्याप्तैकेन्द्रियाणा देव-नैरयिकाणा वैक्रियतिर्यङ्-मनुष्याणा च मिथ्यादृष्टीनाम् । अष्टाविंशत्युदय एकोनत्रिंशदुदयश्च विकलेन्द्रिय तिर्यक्पञ्चेन्द्रिय-मनुष्याणा वैक्रियतिर्यङ्-मनुष्य-देव-नैरयिकाणा च । त्रिंशदुदयो विकलेन्द्रिय तिर्यक्पञ्चेन्द्रिय मनुष्याणा देवाना च उद्योतवेदकानाम् । एकत्रिंशदुदय पर्याप्तविकलेन्द्रिय-तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणा उद्योतवेदकानाम् । तथा देवगतिप्रायोग्यामेकोनत्रिंशत बध्नतो मनुष्यस्याविरतसम्यग्दृष्टेरुदयस्थानानि पञ्च, तद्यथा—एकविंशति षड्विंशति अष्टाविंशति एकोनत्रिंशत् त्रिंशत् । आहारकसयताना वैक्रियसयताना च इमानि पञ्च उदयस्थानानि, तद्यथा—पञ्चविंशति सप्तविंशति अष्टाविंशति एकोनत्रिंशत् त्रिंशत् । असयताना सयतासयताना च वैक्रिय कुर्वता मनुष्याणा त्रिंशद्वर्जानि चत्वार्युदयस्थानानि । त्रिंशत् कस्मान्न भवति[4] इति चेदुच्यते—सयतान् मुक्त्वाऽन्येषा मनुष्याणा वैक्रियमपि कुर्वतामुद्योतोदयाभा-

१ स० स० १ त० म० °षु भवति । न ॥ २ स० १ म० °न्द्रियाणा पर्याप्तापर्याप्तविक° । स० °न्द्रियविकलेन्द्रियपञ्चेन्द्रियतिर्य° ॥ ३ स० १ म० चावसेय । च° ॥ ४ त० म० °ष्याणां दे° ॥

वात् । सामान्येनैकोनत्रिंशद्बन्धे सप्त सत्तास्थानानि, तद्यथा—त्रिनवतिः द्विनवतिः एकोननवतिः अष्टाशीतिः षडशीतिः अशीतिः अष्टसप्ततिश्च । तत्र विकलेन्द्रिय-तिर्यक्पञ्चेन्द्रियप्रायोग्यामेकोनत्रिंशतं बध्नतां पर्याप्ता-ऽपर्याप्तैकेन्द्रिय विकलेन्द्रिय तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणामेकविंशत्युदये वर्तमानानां पञ्च सत्तास्थानानि, तद्यथा—द्विनवतिः अष्टाशीतिः षडशीतिः अशीतिः अष्टसप्ततिश्च । एवं चतुर्विंशति-पञ्चविंशति-षड्विंशत्युदयेष्वपि वक्तव्यम् । सप्तविंशति-अष्टाविंशति-एकोनत्रिंशत्-त्रिंशद्-एकत्रिंशदुदयेष्वष्टसप्ततिवर्जानि चत्वारि चत्वारि सत्तास्थानानि, भावना यथा त्रयोविंशतिबन्धकानां प्राग् उक्ता तथाऽत्रापि कर्तव्या । मनुजगतिप्रायोग्यामेकोनत्रिंशतं बध्नतामेकेन्द्रिय विकलेन्द्रिय तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणां तिर्यग्गति-मनुष्यगतिप्रायोग्यां पुनर्बध्नतां मनुष्याणां च स्वस्वोदयस्थानेषु यथायोगं वर्तमानानामष्टसप्ततिवर्जानि तान्येव चत्वारि सत्तास्थानानि वेदितव्यानि । देव-नैरयिकाणां तिर्यक्पञ्चेन्द्रिय-मनुष्यगतिप्रायोग्यामेकोनत्रिंशतं बध्नतां स्वस्वोदयेषु वर्तमानानां द्वे द्वे सत्तास्थाने, तद्यथा—द्विनवतिरष्टाशीतिश्च । केवलं नैरयिकस्य मिथ्यादृष्टेस्तीर्थकरसत्कर्मणो मनुष्यगतिप्रायोग्यामेकोनत्रिंशतं बध्नतः स्वोदयेषु पञ्चसु यथायोगं वर्तमानस्यैकोननवतिरेवैका वक्तव्या, यतस्तीर्थकरनामसहितस्याहारकचतुष्टयरहितस्यैव मिथ्यात्वगमनसम्भव, "उभसतिओ न मिच्छो" (   ) इति वचनात्, ततस्त्रिनवतेराहारकचतुष्केऽपनीते सत्यैकोननवतिरेव तस्य सत्तायां भवति । देवगतिप्रायोग्यामेकोनत्रिंशतं तीर्थकरनामसहितां बध्नतः पुनरविरतसम्यग्दृष्टेर्मनुष्यस्यैकविंशत्युदये वर्तमानस्य द्वे सत्तास्थाने, तद्यथा—त्रिनवतिरेकोननवतिश्च । एवं पञ्चविंशति-षड्विंशति-सप्तविंशति अष्टाविंशति एकोनत्रिंशत् त्रिंशदुदयेष्वपि ते एव द्वे द्वे सत्तास्थाने वक्तव्ये । आहारकसंयतानां पुनः स्वस्वोदये वर्तमानानामेकमेव त्रिनवतिरूपं सत्तास्थानमवगन्तव्यम् । तदेवं सामान्येनैकोनत्रिंशद्बन्धे एकविंशत्युदये सप्त सत्तास्थानानि, चतुर्विंशत्युदये पञ्च, पञ्चविंशत्युदये सप्त, षड्विंशत्युदये सप्त, सप्तविंशत्युदये षट्, अष्टाविंशत्युदये षट्, एकोनत्रिंशदुदये षट्, त्रिंशदुदये षट्, एकत्रिंशदुदये चत्वारि, सर्वसङ्ख्यया चतुःपञ्चाशत् सत्तास्थानानि ५४ । तथा यथा तिर्यग्गतिप्रायोग्यामेकोनत्रिंशतं बध्नतामेकेन्द्रिय विकलेन्द्रिय-तिर्यक्पञ्चेन्द्रिय-मनुज-देव-नैरयिकाणामुदय-सत्तास्थानानि भावितानि तथा त्रिंशतमप्युद्योतसहितां तिर्यग्गतिप्रायोग्यां बध्नतामेकेन्द्रियादीनामुदय-सत्तास्थानानि भावनीयानि । मनुष्यगतिप्रायोग्यां तीर्थकरनामसहितां त्रिंशतं बध्नतां देव-नैरयिकाणामुदय-सत्तास्थानान्युच्यन्ते । तत्र देवस्य यथोक्तां त्रिंशतं बध्नत एकविंशत्युदये वर्तमानस्य द्वे सत्तास्थाने—त्रिनवतिरेकोननवतिश्च । एकविंशत्युदये वर्तमानस्य नैरयिकस्यैकं सत्तास्थानं एकोननवतिः । त्रिनवतिरूपं तु तस्य सत्तास्थानं न भवति, तीर्थकरा-ऽऽहारकसत्कर्मणो नरकेषूत्पादाभावात् ।

उक्तं च चूर्णौ—

१ मुद्रि० छा० °नान्यमूनि, त° ॥ २ सं० सं०१ त० म० °र्जानि चत्वारि सत्ता° ॥ ३ सं० सं० १ त० °त्वारि चत्वारि सत्ता० ॥ ४ उभयसत्ताको न मिथ्यादृष्टिः ॥

जेम्म तित्थगराऽऽहारगाणि जुगवं संति सो नेरइएसु न उववज्जइ । ( ) इति ।

एवं पञ्चविंशति-सप्तविंशति अष्टाविंशति एकोनत्रिंशत् त्रिंशदुदयेष्वपि भावनीयम् । नवरं नैरयिकस्य त्रिंशदुदयो न विद्यते, त्रिंशदुदयो हि उद्योते सति प्राप्यते, न च नैरयिकस्यो द्योतोदयो भवति । तदेवं सामान्येन त्रिंशद्बन्धकानामेकविंशत्युदये सप्त, चतुर्विंशत्युदये पञ्च, पञ्चविंशत्युदये सप्त, षड्विंशत्युदये पञ्च, सप्तविंशत्युदये षट्, अष्टाविंशत्युदये षट्, एकोनत्रिंशदुदये षट्, त्रिंशदुदये षट्, एकत्रिंशदुदये चत्वारि, सर्वसङ्ख्यया द्विपञ्चाशत् ५२ ॥ ३१ ॥

"एगेगमेगतीसे" त्ति एकत्रिंशति बध्यमानायामेकमुदयस्थानं त्रिंशत्, यत एकत्रिंशद् देवगतिप्रायोग्यं तीर्थकरा-ऽऽहारकसंहितं बध्नतोऽप्रमत्तसंयतस्यापूर्वकरणस्य वा प्राप्यते, न च ते वैक्रियमाहारकं वा कुर्वन्ति, ततः पञ्चविंशत्यादय उदया न प्राप्यन्ते । एकं सत्तास्थानं त्रिनवतिः, तीर्थकरा ऽऽहारकचतुष्टययोरपि सत्तासम्भवात् ।

"एगे एगुदय अट्ठ सतम्मि" 'एकस्मिन्' यशःकीर्तिरूपे कर्मणि बध्यमाने एकमुदयस्थानं त्रिंशत् एकां हि यशःकीर्तिं बध्नन्ति अपूर्वकरणादयः, ते चातिविशुद्धत्वाद् वैक्रियमाहारकं वा नारभन्ते, ततः पञ्चविंशत्यादीन्युदयस्थानानीहापि न प्राप्यन्ते । अष्टौ सत्तास्थानानि, तद्यथा—त्रिनवतिः द्विनवतिः एकोननवतिः अष्टाशीतिः अशीतिः एकोनाशीतिः षट्सप्ततिः पञ्चसप्ततिश्च । तत्राद्यानि चत्वारि सत्तास्थानानि उपशमश्रेण्याम् अथवा क्षपकश्रेण्यां यावदनिवृत्तिबादरगुणस्थाने गत्वा त्रयोदश नामानि न क्षप्यन्ते । त्रयोदशसु च नामसु क्षीणेषु नानाजीवापेक्षयोपरितनानि चत्वारि लभ्यन्ते, तानि च तावद् लभ्यन्ते यावत् सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानम् ।

"उवरयबंधे दस दस वेयग संतम्मि ठाणाणि" उपरते बन्धे बन्धाभावे इत्यर्थः, "वेयग" त्ति वेदनं वेदो वेद एव वेदकस्तस्मिन् उदये इत्यर्थः सत्तायां च प्रत्येकं दश दश स्थानानि । तत्रामूनि दश उदयस्थानानि, तद्यथा—विंशतिः एकविंशतिः षड्विंशतिः सप्तविंशतिः अष्टाविंशतिः एकोनत्रिंशत् त्रिंशद् एकत्रिंशद् नव अष्टौ च । तत्र विंशतिः एकविंशती यथासङ्ख्यम् तीर्थकर-तीर्थकरयोः सयोगिकेवलिनोः कार्मणकाययोगे वर्तमानयोः । षड्विंशति-सप्तविंशती तयोरेवौदारिकमिश्रकाययोगे वर्तमानयोः । अतीर्थकरस्य स्वभावस्थस्य त्रिंशत्, तस्यैव स्वरे निरुद्धे एकोनत्रिंशत्, उच्छ्वासेऽपि निरुद्धेऽष्टाविंशतिः, तीर्थकरस्य स्वभावस्थस्य एकत्रिंशत्, तस्यैव स्वरे निरुद्धे त्रिंशत्, उच्छ्वासेऽपि निरुद्धे एकोनत्रिंशत्, एवं च द्विधा त्रिंशद्-एकोनत्रिंशतौ प्राप्येते । अयोगिनस्तीर्थकरस्य चरमसमये वर्तमानस्य नवोदयः, अतीर्थकरस्यायोगिनोऽष्टोदयः । दश सत्तास्थानानि, तद्यथा—त्रिनवतिः द्विनवतिः एकोननवतिः अष्टाशीतिः अशीतिः एकोनाशीतिः षट्सप्ततिः पञ्चसप्ततिः नव अष्टौ च । तत्र विंशत्युदये द्वे सत्तास्थाने—एकोनाशीतिः पञ्चसप्ततिश्च । एवं षड्विंशत्युदयेऽष्टाविंशत्युदयेऽपि द्रष्टव्यम् । एकविं-

१ यस्य तीर्थकरा ऽऽहारके युगपत् स्तः स नरयिकेषु नोपपद्यते ॥ २ सं० १ त० म० °सहितं कर्म ब° ॥ ३ सं० १ त० छा० म० °सत्या° ॥ ४ सं० छा० मुद्रि० °शत्, तस्यैवोच्छ्वा° ॥

ष्टस्युदये इमे द्वे सत्तास्थाने, तद्यथा—अशीतिः षट्सप्ततिश्च । एवं सप्तविंशत्युदयेऽपि । एकोनत्रिंशति चत्वारि सत्तास्थानानि, तद्यथा—अशीतिः षट्सप्ततिः एकोनाशीतिः पञ्चसप्ततिश्च । यत एकोनत्रिंशत् तीर्थकरस्यातीर्थकरस्य च भवति, तत्राद्ये द्वे तीर्थकरमधिकृत्य वेदितव्ये, अन्तिमे द्वे अतीर्थकरमधिकृत्य । त्रिंशदुदयेऽष्टौ सत्तास्थानानि, तद्यथा—त्रिनवतिः द्विनवतिः एकोननवतिः अष्टाशीतिः अशीतिः एकोनाशीतिः षट्सप्ततिः पञ्चसप्ततिश्च । तत्राद्यानि चत्वार्युपशान्तकषायस्य । अशीतिः क्षीणकषायस्य सयोगिकेवलिनो वा आहारकसत्कर्मणः तीर्थकरस्य । तस्यैवातीर्थकरस्यैकोनाशीतिः । आहारकचतुष्टयरहितस्य तीर्थकरस्य क्षीणकषायस्य सयोगिकेवलिनो वा षट्सप्ततिः । तस्यैवातीर्थकरस्य पञ्चसप्ततिः । एकत्रिंशदुदये द्वे सत्तास्थाने, तद्यथा—अशीतिः षट्सप्ततिश्च । एते च तीर्थकरकेवलिनो वेदितव्ये, अतीर्थकरकेवलिन एकत्रिंशदुदयस्यैवाभावात् । नवोदये त्रीणि सत्तास्थानानि, तद्यथा—अशीतिः षट्सप्ततिः नव च । तत्राद्ये द्वे यावद् द्विचरमसमयः तावदयोगिकेवलिनस्तीर्थकरस्य वेदितव्ये, चरमसमये तु नव । अष्टोदये त्रीणि सत्तास्थानानि, तद्यथा—एकोनाशीतिः पञ्चसप्ततिः अष्टौ च । तत्राद्ये द्वे अयोगिकेवलिनोऽतीर्थकस्य द्विचरमसमयं यावद् वेदितव्ये, चरमसमये त्वष्टाविति । एवमबन्धकस्य दशाप्युदयस्थानानि अधिकृत्य त्रिंशत् सत्तास्थानानि भवन्ति ॥ ३२ ॥

तदेवमुक्ता नामप्रकृतीनां बन्धोदयसत्तास्थानभेदाः संवेधश्च । सम्प्रत्युक्तक्रमेणैषां जीवस्थानानि गुणस्थानानि चाधिकृत्य स्वामी निदर्श्यते—

तिविगप्पपगइठाणेहिँ जीवगुणसन्निएसु ठाणेसु ।
भंगा पउंजियव्वा, जत्थ जहा संभवो भवइ ॥ ३३ ॥

त्रयो विकल्पाः—बन्ध-उदय-सत्तारूपास्तेषां सम्बन्धीनि प्रकृतिस्थानानि त्रिविकल्पप्रकृतिस्थानानि तैः जीवसंज्ञितेषु गुणसंज्ञितेषु च स्थानेषु जीवस्थानेषु गुणस्थानेषु चेत्यर्थः, भङ्गाः पूर्वोक्तानुसारेण वक्ष्यमाणानुसारेण च प्रयोक्तव्याः । कथम्? इत्याह—"जत्थ जहा संभवो हवइ" *यत्र येषु जीवस्थानेषु गुणस्थानेषु च 'यथा सम्भवो भवति' यथा घटना भवति तत्र* तथा प्रयोक्तव्याः, यो यत्र यथा भङ्गो घटते स तत्र तथा वक्तव्य इत्यर्थः ॥ ३३ ॥

तत्र प्रथमतो जीवस्थानान्यधिकृत्य प्रतिपादयति—

तेरससु जीवसंखेवएसु नाणंतराय तिविगप्पो ।
एक्कम्मि तिदुविगप्पो, करणं पइ एत्थ अविगप्पो ॥ ३४ ॥

सङ्क्षिप्यन्ते—सङ्गृह्यन्ते जीवा एभिरिति सङ्क्षेपाः—अपर्याप्तकैकेन्द्रियत्वादयोऽवान्तरजातिभेदाः, जीवानां सङ्क्षेपा जीवसङ्क्षेपाः जीवस्थानानीत्यर्थः । पर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रियवर्जेषु शेषेषु त्रयोदशसु

१ त० म० मुद्रि० °स्य । अशीतिः क्षीणकषायस्य च यावत् त्रयोदशकं न क्षीयते । अन्यानि चत्वारि क्षीणत्रयोदशकस्य सयो° ॥ २ स० सं० १ सं० २ °षां प्रकृ° । मुद्रि० छा० °कां उत्तरप्रकृ°॥ ३ स० १ त० म० °मी निर्दिश्यते ॥ ४ छा० °या कर्तव्या° ॥

जीवस्थानेषु ज्ञानावरणा-ऽन्तराययोर्बन्ध-उदय-सत्तारूपास्त्रयो विकल्पा प्राप्यन्ते, तद्यथा—पञ्चविधो बन्ध पञ्चविध उदय पञ्चविधा सत्ता, ज्ञानावरणा-ऽन्तराययोर्ध्रुवबन्धोदयसत्ताकत्वात्। सूत्रे "तिविगप्पो" इति द्विगुसमाहारत्वेऽप्यार्षत्वात् पुंस्त्वनिर्देश । "एक्कम्मि तिदुविगप्पो" 'एकस्मिन्' पर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रियलक्षणे जीवस्थाने त्रयो वा विकल्पा भवन्ति, द्वौ वा विकल्पौ। तत्र त्रयो विकल्पा इमे—पञ्चविधो बन्ध पञ्चविध उदय पञ्चविधा सत्ता। एते च सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानक यावत् प्राप्यन्ते। तत परं बन्धव्यवच्छेदे उपशान्तमोहे क्षीणमोहे च द्वौ विकल्पौ, तद्यथा—पञ्चविध उदय पञ्चविधा सत्ता। अत्रान्यो भङ्गो न सम्भवति, उदय-सत्तयोर्युगपद् व्यवच्छेदात्। "करण पडुच्च एत्थ अविगप्पो" त्ति इह केवलिनो मनोविज्ञानमधिकृत्य संज्ञिनो न भवन्ति, द्रव्यमन सबन्धात् पुनस्तेऽपि संज्ञिनो व्यवह्रियन्ते। उक्त च चूर्णौ—

> मणकरण केवलिणो वि अत्थि तेण सन्निणो वुच्चति। मणोविण्णाण पडुच्च ते सन्निणो न हवति। (   ) इति।

तत करण—द्रव्यमनोरूप प्रतीत्य य संज्ञी सयोगिकेवली अयोगिकेवली वा भवस्थस्तस्मिन् 'अत्र' ज्ञानावरणेऽन्तराये च 'अविकल्प' त्रयाणामपि बन्धादिरूपाणा विकल्पानामभाव, आमूल तदुच्छेदे सति केवलित्वभावात्॥ ३४॥

सम्प्रति दर्शनावरण जीवस्थानेषु चिन्तयति—

तेरे नव चउ पणग, नव संतेगम्मि भगमेक्कारा।

पर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रियवर्जेषु शेषेषु त्रयोदशसु जीवस्थानेषु नवविधो बन्ध चतुर्विध पञ्चविधो वा उदय नवविधा सत्ता इत्येतौ द्वौ विकल्पौ। "एगम्मि भगमेक्कार" त्ति 'एकस्मिन्' पर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रियरूपे एकादश भङ्गा, ते च यथा प्राक् सामान्येन सवेधचिन्तायामुक्तास्तथैवात्राप्यन्यूनातिरिक्ता वक्तव्या॥

वेयणियाउयगोए, विभज्ज

वेदनीये आयुषि गोत्रे च यानि बन्धादिप्रकृतिस्थानानि तानि यथागम जीवस्थानेषु 'विभजेत्' विकल्पयेत्। तत्रेय वेदनीय-गोत्रयोर्विकल्पनिरूपणार्थमन्तर्भाष्यगाथा—

> पज्जत्तगसन्नियरे, अट्ठ चउक्क च वेयणियभगा।
> सत्तग तिग च गोये, पत्तेय जीवठाणेसु॥ १॥

पर्याप्ते संज्ञिनि वेदनीयस्याष्टौ भङ्गा, तद्यथा—असातस्य बन्ध असातस्योदय सातासाते सती, अथवा असातस्य बन्ध सातस्योदय सातासाते सती, एतौ द्वौ विकल्पौ मिथ्यादृष्टिगुणस्थानकाद्[3] आरभ्य प्रमत्तगुणस्थानक यावत् प्राप्येते न परत, परतोऽसातस्य बन्धा-

१ मन करण केवलिनोऽपि अस्ति तेन संज्ञिन उच्यन्ते। मनोविज्ञान प्रतीत्य ते संज्ञिनो न भवन्ति॥
२ स० १ स० २ मुद्रि० °ए वत्तव्वा जीवठाणेसु॥ ३ मुद्रि० °कात् प्रभृति प्र° ॥

भावात् । तथा सातस्य बन्ध असातस्योदय सातासाते सती, अथवा सातस्य बन्ध सातस्योदय सातासाते सती, एतौ च द्वौ विकल्पौ मिथ्यादृष्टिगुणस्थानकादारभ्य सयोगिकेवलिगुणस्थानक यावत् प्राप्येते । तत परतो बन्धाभावे असातस्योदय सातासाते सती, अथवा सातस्योदय सातासाते सती, एतौ द्वौ विकल्पावयोगिकेवलिनि द्विचरमसमय यावत् प्राप्येते । चरमसमये तु असातस्योदय असातस्य सत्ता यस्य द्विचरमसमये सात क्षीण, यस्य त्वसात द्विचरमसमये क्षीण तस्य सातस्योदय सातस्य सत्तेति सर्वसङ्ख्ययाऽष्टौ भङ्गा । इह सयोगिकेवली अयोगिकेवली च द्रव्यमनोऽभिसम्बन्धात् सञ्ज्ञी व्यवह्रियते, तत सञ्ज्ञिनि पर्याप्ते वेदनीयस्याष्टौ भङ्गा उच्यमाना न विरुध्यन्ते । 'इतरेषु' पर्याप्तसञ्ज्ञिव्यतिरिक्तेषु त्रयोदशसु जीवस्थानेषु प्रत्येक प्रत्येक चत्वारो भङ्गा भवन्ति, तद्यथा—असातस्य बन्ध असातस्योदय सातासाते सती, अथवा असातस्य बन्ध सातस्योदय सातासाते सती, अथवा सातस्य बन्ध असातस्योदय सातासाते सती, अथवा सातस्य बन्ध सातस्योदय सातासाते सती ।

"सत्तग तिग च गोए" इति 'गोत्रे' गोत्रस्य संज्ञिनि पर्याप्ते सप्त भङ्गा , तद्यथा—नीचैर्गोत्रस्य बन्ध नीचैर्गोत्रस्योदय नीचैर्गोत्र सत्, एष विकल्पस्तेज -वायुभवाद् उद्धृत्य तिर्यक्पञ्चेन्द्रियसंज्ञित्वेनोत्पन्ने कियत्काल प्राप्यते । नीचैर्गोत्रस्य बन्ध नीचैर्गोत्रस्योदय उच्च नीचैर्गोत्रे सती, अथवा नीचैर्गोत्रस्य बन्ध उच्चैर्गोत्रस्योदय उच्च-नीचैर्गोत्रे सती, एतौ च विकल्पौ पर्याप्ते संज्ञिनि मिथ्यादृष्टौ सासादने वा प्राप्येते, न सम्यग्मिथ्यादृष्ट्यादौ, तस्य नीचैर्गोत्रबन्धाभावात् । तथा उच्चैर्गोत्रस्य बन्ध नीचैर्गोत्रस्योदय उच्च-नीचैर्गोत्रे सती, एष विकल्पो मिथ्यादृष्टिगुणस्थानकादारभ्य देशविरतिगुणस्थानक यावत् प्राप्यते न परत , परतो नीचैर्गोत्रस्योदयाभावात् । तथा उच्चैर्गोत्रस्य बन्ध उच्चैर्गोत्रस्योदय उच्च-नीचैर्गोत्रे सती, एष विकल्प सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानक यावदवसेय । परतो बन्धाभावे उच्चैर्गोत्रस्योदय उच्च-नीचैर्गोत्रे सती, एष विकल्प उपशान्तमोहगुणस्थानकादारभ्य अयोगिकेवलिनि द्विचरमसमय यावदवाप्यते । उच्चैर्गोत्रस्योदय उच्चैर्गोत्र सत्, एष विकल्पोऽयोगिकेवलिचरमसमये । 'इतरेषु पुन ' पर्याप्तसञ्ज्ञिव्यतिरिक्तेषु त्रयोदशसु जीवस्थानेषु प्रत्येक त्रयस्त्रयो भङ्गा , तद्यथा—नीचैर्गोत्रस्य बन्ध नीचैर्गोत्रस्योदय नीचैर्गोत्र सत्, अय विकल्पस्तेज -वायुषु उच्चैर्गोत्रोद्वलनानन्तर सर्वकाल तेज -वायुभवाद् उद्धृत्य समुत्पन्नेषु वा पृथिव्यादि-द्वीन्द्रियादिषु कियत्काल प्राप्यते, नान्येषु । नीचैर्गोत्रस्य बन्ध नीचैर्गोत्रस्योदय उच्च-नीचैर्गोत्रे सती, तथा उच्चैर्गोत्रस्य बन्धो नीचैर्गोत्रस्योदय उच्च-नीचैर्गोत्रे सती । शेषा विकल्पा न सम्भवन्ति, तिर्यक्षूच्चैर्गोत्रस्योदयाभावात् ॥

सम्प्रत्यायुषो भङ्गा निरूप्यन्ते, तन्निरूपणार्थं चेयमन्तर्भाष्यगाथा—

पज्जत्तापज्जत्तग, समणे पज्जत्त अमण सेसेसु ।
अट्ठावीस दसग, नवग पणग च आउस्स ॥ २ ॥

---

१ स० स० २ °त्येक चत्वा° ॥ २-३ स० १ त० म० °ती तथा सा° ॥ ४ स० १ त० म० °त्पन्नेषु कि°॥ ५ स० १ त० म० °त्। उच्चै°॥ ६ स० २ मुद्रि० °वलिद्वि°॥ ७ छा० मुद्रि० °षु । तथा नीचै°॥

समना—संज्ञी, तत्र पर्याप्ते संज्ञिनि आयुषो भङ्गा अष्टाविंशति, अपर्याप्ते सज्ञि भङ्गाना दशकम्, पर्याप्ते 'अमनसि' असंज्ञिनि पञ्चेन्द्रिये भङ्गाना नवकम्, 'शेषेषु' एकादश जीवस्थानेषु पुनर्भङ्गाना प्रत्येक पञ्चकमिति। तत्र संज्ञिनि पर्याप्ते इमे अष्टाविंशतिर्भङ्गा—नैरयिकस्य नरकायुष उदयो नरकायु सत्, अय परभवायुर्बन्धकालात् पूर्वम्, परभवायुर्बन्धकाले तिर्यगायुषो बन्ध नरकायुष उदय नरक-तिर्यगायुषी सती, अथवा मनुष्यायु बन्ध नरकायुष उदय नरक-मनुष्यायुषी सती। परभवायुर्बन्धोत्तरकाल नरकायुष उदय नरक-तिर्यगायुषी सती, अथवा नरकायुष उदय मनुष्य-नारकायुषी सती। इह नारका देवायु नीरकायुश्च भवप्रत्ययादेव न बध्नन्ति, तत्रोत्पत्त्यभावात्, ततो नारकाणा परभवायुर्बन्धका बन्धोत्तरकाले च देवायुर्नारकायुर्भ्यां विकल्पाभावात् सर्वसङ्ख्यया पञ्च विकल्पा। एव देवान मपि पञ्च विकल्पा भावनीया, नवर नारकायु स्थाने देवायुरिति वक्तव्यम्, तद्यथा—देवायु उदय देवायुष सत्ता इत्यादि। तथा तिर्यगायुष उदय तिर्यगायुष सत्ता, अय विकल्प परभवायुर्बन्धकालात् पूर्वम्। परभवायुर्बन्धकाले तु नरकायुषो बन्ध तिर्यगायुष उदय नरक तिर्यगायुषी सती, अथवा तिर्यगायुषो बन्ध तिर्यगायुष उदय तिर्यक्-तिर्यगायुषी सती अथवा मनुष्यायुषो बन्ध तिर्यगायुष उदय मनुष्य-तिर्यगायुषी सती, अथवा देवायुषो बन्ध तिर्यगायुष उदय देव-तिर्यगायुषी सती। परभवायुर्बन्धोत्तरकाल तिर्यगायुष उदयो नरक-तिर्यगायुषी सती, अथवा तिर्यगायुष उदय तिर्यक् तिर्यगायुषी सती, अथवा तिर्यगायुष उदयो मनुष्य तिर्यगायुषी सती, अथवा तिर्यगायुष उदयो देव-तिर्यगायुषी सती। सर्वसङ्ख्यया सज्ञिपर्याप्ततिरश्चा नव विकल्पा। एव मनुष्याणामपि नव भङ्गा भावनीया, केवल तिर्यगायु स्थाने मनुष्यायुरित्यभिधातव्यम्, तद्यथा—मनुष्यायुष उदयो मनुष्यायुष सत्तेत्यादि। तदेव सर्वसङ्ख्यया संज्ञिनि पर्याप्तेऽष्टाविंशतिर्भङ्गा। अपर्याप्ते सज्ञिनि आयुषो दश भङ्गा इमे—तिर्यगायुष उदय तिर्यगायुष सत्ता, अय विकल्प परभवायुर्बन्धकालात् पूर्वम्। परभवायुर्बन्धकाले तिर्यगायुषो बन्ध तिर्यगायुष उदय तिर्यक् तिर्यगायुषो सत्ता, अथवा मनुष्यायुषो बन्ध तिर्यगायुष उदयो मनुष्य-तिर्यगायुषी सती। परभवायुर्बन्धोत्तरकाल तिर्यगायुष उदय तिर्यक्-तिर्यगायुषी सती, अथवा तिर्यगायुष उदयो मनुष्य तिर्यगायुषी सती। एव तिरश्चोऽपर्याप्तसज्ञिन पञ्च भङ्गा। एव मनुष्यस्यापि पञ्च वक्तव्या। सर्वसङ्ख्यया दश। शेषा न सम्भवन्ति, अपर्याप्तो हि सज्ञी तिर्यङ् मनुष्यो वा, न देव-नारकौ, न चापि स देवायुर्नारकायुर्वा बध्नाति, ततो दशैव यथोक्ता भङ्गा। तथा ये प्राक् संज्ञितिरश्चा नव भङ्गा उक्तास्त एवा संज्ञिपर्याप्तेऽपि नव भङ्गा वक्तव्या, यतोऽसंज्ञी पर्याप्तस्तिर्यगेव भवति न मनुष्यादि, ततोऽत्र तदाश्रिता भङ्गा न प्राप्यन्ते। तथा येऽपर्याप्तसंज्ञितिरश्चे पञ्च भङ्गा प्रागुक्तास्त एवं पञ्च भङ्गा शेषेष्वप्येकादशसु जीवस्थानेषु वक्तव्या, सर्वेषामपि तिर्यक्त्वाद् देवादिषूत्पादाभावाच्च।

मोह परं वोच्छं ॥ ३७ ॥

---

१ छा० मुद्रि० °ष्य-न° ॥ २ स० °काले तिय ॥ ३ स० १ त० म० °युर्भ्रा° ॥ ४ छा० °श्चा प° ॥ ५ स० स० १ त० म० °क भङ्गा ॥

अत ऊर्ध्वं 'मोह' मोहनीय जीवस्थानेषु वक्ष्ये ॥ ३५ ॥

अट्ठसु पंचसु एगे, एग दुगं दस य मोहबंधगए ।
तिग चउ नव उदयगए, तिग तिग पन्नरस संतम्मि ॥३६॥

अष्टसु पञ्चसु एकस्मिंश्च यथाक्रम एकं द्वे दश च मोहनीयप्रकृतिबन्धगतानि स्थानानि भवन्ति । तत्र 'अष्टसु' पर्याप्ता-ऽपर्याप्तसूक्ष्मा-ऽपर्याप्तबादर-द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रिया-ऽसंज्ञि-संज्ञिरूपेषु एकं बन्धस्थानं द्वाविंशतिरूपम् । द्वाविंशतिश्चेयम्---मिथ्यात्वं षोडश कषाया त्रयाणां वेदानामन्यतमो वेदः हास्य-रतियुगला-ऽरति शोकयुगलयोरन्यतरद् युगलं भयं जुगुप्सा चेति । अत्र त्रिभिर्वेदैर्द्वाभ्यां युगलाभ्यां षड् भङ्गा भवन्ति । पर्याप्तबादरै-द्वि-त्रि-चतुरिन्द्रिया-ऽसंज्ञिरूपेषु पञ्चसु जीवस्थानेषु इमे द्वे द्वे बन्धस्थाने, तद्यथा---द्वाविंशतिरेकविंशतिश्च । तत्र द्वाविंशति प्रागिव सभेदा वक्तव्या । सैव च द्वाविंशतिर्मिथ्यात्वहीना एकविंशति । सा च केषाञ्चित् करणापर्याप्तावस्थायां सासादनभावे सति लभ्यते न सर्वेषाम्, शेषकाल वा । अत्र चत्वारो भङ्गा, यत इह नपुंसकवेदो न बन्धमायाति, मिथ्यात्वोदयाभावात्, नपुंसकवेद-बन्धस्य च मिथ्यात्वोदयनिबन्धनत्वात् । ततो द्वाभ्यां वेदाभ्यां द्वाभ्यां च युगलाभ्यां चत्वार एव भङ्गा । एकस्मिंस्तु पर्याप्तसंज्ञिरूपे जीवस्थाने द्वाविंशत्यादीनि दश बन्धस्थानानि, तानि च प्राग्वत् सभेदानि वक्तव्यानि ।

"तिग चउ नव उदयगए" इति, यथोक्तरूपेषु अष्टसु जीवस्थानेषु प्रत्येकं त्रीणि त्रीण्यु-दयस्थानानि, तद्यथा---अष्टौ नव दश च । यत्तु सप्तकमुदयस्थानमनन्तानुबन्ध्युदयरहितं तन्न प्राप्यते, तेषामवश्यमनन्तानुबन्ध्युदयसहितत्वात् । वेदश्च तेषामुदयप्राप्तो नपुंसकवेद एव, न स्त्रीवेद पुरुषवेदौ । तत्र 'अष्टोदये' मिथ्यात्वं क्रोधादीनामन्यतमे चत्वार क्रोधादिका नपुंसक-वेदोऽन्यतरद् युगलमित्येवरूपे चतुर्भि क्रोधादिभिर्द्वाभ्यां च युगलाभ्यां भङ्गा अष्टौ । अष्टोदये एव भये वा जुगुप्सायां वा प्रक्षिप्तायां नवोदय, अत्रैकैकस्मिन् विकल्पे भङ्गा अष्टौ अष्टौ प्राप्यन्ते इति सर्वसङ्ख्यया नवोदये भङ्गा षोडश । भय-जुगुप्सयोस्तु युगपत् प्रक्षिप्तयोर्दशोदय, अत्र भङ्गा अष्टौ । सर्वसङ्ख्यया अष्टसु जीवस्थानेषु प्रत्येकं द्वात्रिंशद् द्वात्रिंशद् भङ्गा । तथा उक्तरूपेषु पञ्चसु जीवस्थानेषु प्रत्येकं चत्वारि चत्वारि उदयस्थानानि, तद्यथा---सप्त अष्टौ नव दश । तत्र सासादनभावकाले एकविंशतिबन्धे सप्ता-ऽष्ट-नवरूपाणि त्रीण्युदयस्थानानि, वेदश्च तेषामुदयप्राप्तो नपुंसकवेद, ततोऽन्यतमे चत्वार क्रोधादिका नपुंसकवेदोऽन्यतरद् युगलमिति सप्तोदय एकविंशतिबन्धे ध्रुव, अत्र प्रागिवाष्टौ भङ्गा । ततो भये वा जुगुप्सायां वा प्रक्षिप्ता-यामष्टोदय, अत्र प्रत्येकं भये जुगुप्सायां चाष्टौ भङ्गा प्राप्यन्ते इत्यष्टोदये सर्वसङ्ख्यया भङ्गा षोडश । ततो भय-जुगुप्सयोर्युगपत् प्रक्षिप्तयोर्नवोदय, अत्राष्टावेव भङ्गा । सर्वसङ्ख्यया सासादन-

---

१ गाथेयं सप्ततिकाभाष्ये ५५ तमा ॥ २ सं० १ त० म० "दशपर्याप्तद्वि" ॥ ३-४ मुद्रि० छा० प्रप्रभे° ॥ ५ अस्मत्पार्श्ववर्तिषु केषुचिदादर्शेषु "त्रीणि त्रीणि" इति वारद्वयं लिखितं नोपलभ्यते केषुचित् पुन लभ्यते । एवमग्रेऽपि "त्रीणि त्रीणि, चत्वारि चत्वारि, द्वादश द्वादश, द्वात्रिंशद् द्वात्रिंशद्" इत्यादिष्वपि ज्ञेयम् ॥

भावे भङ्गा द्वात्रिंशत्। सासादनभावा-ऽभावे द्वाविंशतिबन्धे अमूनि त्रीण्युदयस्थानानि, तद्यथा—अष्टौ नव दश च। एतानि च प्रागिव भावनीयानि। चूर्णिकारस्त्वसञ्ज्ञिन्यपि लब्धिपर्याप्तके त्रीन् वेदान् यथायोगमुदयंप्राप्तानिच्छति, ततस्तन्मतेन तस्य द्वाविंशतिबन्धे एकविंशतिबन्धे च प्रत्येकमेकैकस्मिन् सप्तादावुदयस्थाने त्रिभिर्वेदैश्चतुर्विंशतिभङ्गा अवसेया। 'एकस्मिन्' पर्याप्तसंज्ञिरूपे जीवस्थाने नवोदयस्थानानि, तानि च प्रागिव सप्रभेदानि वक्तव्यानि।

"तिग तिग पन्नरस संतम्मि" 'अष्टसु' पूर्वोक्तरूपेषु जीवस्थानेषु त्रीणि त्रीणि सत्तास्थानानि, तद्यथा—अष्टाविंशति सप्तविंशति षड्विंशतिश्च। 'पञ्चस्वपि च' उक्तरूपेषु जीवस्थानेषु तान्येव त्रीणि त्रीणि सत्तास्थानानि। 'एकस्मिन्' पर्याप्तसञ्ज्ञिनि पञ्चेन्द्रियरूपे जीवस्थाने पुन पञ्चदश सत्तास्थानानि, तानि च प्रागिव सप्रभेदानि वक्तव्यानि।

सम्प्रति सवेध उच्यते—तत्राष्टसु जीवस्थानेषु द्वाविंशतिबन्धस्थानम् त्रीण्युदयस्थानानि, तद्यथा—अष्टौ नव दश च। एकैकस्मिन्नुदयस्थाने त्रीणि त्रीणि सत्तास्थानानि, तद्यथा—अष्टाविंशति सप्तविंशति षड्विंशतिश्च। सर्वसङ्ख्यया नव सत्तास्थानानि। पञ्चसूक्तरूपेषु जीवस्थानेषु द्वे द्वे बन्धस्थाने, तद्यथा—द्वाविंशति एकविंशतिश्च। तत्र द्वाविंशतिबन्धे प्रागुक्तान्येव त्रीण्यु दयस्थानानि, एकैकस्मिंश्च उदयस्थाने तान्येव पूर्वोक्तानि त्रीणि त्रीणि सत्तास्थानानि। एकविंशतिबन्धेऽमूनि त्रीण्युदयस्थानानि, तद्यथा—सप्त अष्टौ नव। एकैकस्मिंश्च उदयस्थाने एकैक सत्तास्थान अष्टाविंशति, एकविंशतिबन्धो हि सासादनभावमुपागतेषु प्राप्यते, सासादनाश्चावश्यमष्टाविंशतिसत्कर्माण, तेषा दर्शनत्रिकस्य नियमतो भावात्, ततस्तेषु सत्तास्थानमष्टाविंशतिरेव। तदेवमेकविंशतिबन्धे त्रीणि सत्तास्थानानि, द्वाविंशतिबन्धे च नवेति। सर्वसङ्ख्यया पञ्चसु जीवस्थानेषु प्रत्येक द्वादश द्वादश सत्तास्थानानि भवन्ति। 'एकस्मिन्' संज्ञिपर्याप्ते पुन जीव स्थाने सवेध प्रागुक्त एव समपञ्चो द्रष्टव्य ॥ ३६ ॥

सम्प्रति नामकर्म जीवस्थानेषु चिन्तयन्नाह—

पण दुग पणग पण चउ, पणग पणगा हवंति तिन्नेव।
पण छ प्पणगं छ च्छ प्पणग अट्ठऽट्ठ दसग ति ॥ ३७ ॥

सत्तेव अपज्जत्ता, सामी तह सुहुम बायरा चेव।
विगलिंदिया उ तिन्नि उ, तह य असन्नी य सन्नी य ॥ ३८ ॥

अनयोर्गाथयो पदाना यथाक्रम सम्बन्ध, तद्यथा—"पण दुग पणग" प्रति "सामी सत्तेव अपज्जत्ता" बन्ध-उदय-सत्ताप्रकृतिस्थानाना यथाक्रम पञ्चक द्विक पञ्चक च प्रति स्वामिन सप्तैवापर्याप्ता। इयमत्र भावना—सप्तानामपर्याप्ताना पञ्च पञ्च बन्धस्थानानि, द्वे द्वे उदयस्थाने, पञ्च पञ्च सत्तास्थानानि। तत्र बन्धस्थानान्यमूनि—त्रयोविंशति पञ्चविंशति षड्विंशति एकोन-

१ स० १ त० म० °दयस्थाने प्राप्ता° ॥ २ स० स० १ त० म० °मम° ति 'सा°॥

त्रिंशत् त्रिंशत् ।"अपर्याप्ता हि सप्तापि तिर्यग्-मनुष्यप्रायोग्यमेव बध्नन्ति, न देव-नारकप्रायोग्यम्, ततो यथोक्तान्येवेह बन्धस्थानानि प्राप्यन्ते नोनाधिकानि । तानि च तिर्यग्-मनुष्यप्रायोग्याणि प्रागिव सप्रपञ्च वक्तव्यानि । उदयस्थाने पुनरपर्याप्तबादर-सूक्ष्मैकेन्द्रिययोरिमे—एकविंशति-श्चतुर्विंशतिश्च[1]। तत्रापर्याप्तबादरस्यैकविंशतिरियम्[1]—तिर्यग्गति तिर्यगानुपूर्वी तैजस कार्मण अगुरुलघु वर्णादिचतुष्टयम् एकेन्द्रियजाति स्थावरनाम बादरनाम अपर्याप्तकनाम स्थिरा-ऽस्थिरे शुभा-ऽशुभे दुर्भगम् अनादेयम् अयशःकीर्ति निर्माणमिति। एषा चैकविंशतिरपान्तरालगतौ वर्तमानस्य प्राप्यते, अत्र चैक एव भङ्ग[1], अपर्याप्तस्य परावर्तमानशुभप्रकृतीनामुदयाभावात् । सूक्ष्मा-पर्याप्तकस्याप्येवैकविंशतिरवसेया, नवरं बादरनामस्थाने सूक्ष्मनामेति वक्तव्यम्, अत्राप्येक एव भङ्ग[1] । उभयोरपि तस्यामेकविंशतौ औदारिकशरीरं हुण्डसंस्थानम् उपघातनाम प्रत्येक-साधारणयोरेकतरमिति प्रकृतिचतुष्टये प्रक्षिप्ते तिर्यगानुपूर्व्यां चापनीतायां चतुर्विंशति, अत्र प्रत्येक-साधारणाभ्यां सूक्ष्मापर्याप्तस्य बादरापर्याप्तस्य च प्रत्येकं द्वौ द्वौ भङ्गौ । तदेवं द्वे द्वे उदयस्थाने अधिकृत्य द्वयोरपि प्रत्येकं त्रयस्त्रयो भङ्गाः विकलेन्द्रिया-ऽसंज्ञि-संज्ञ्यपर्याप्तानां प्रत्येकमिमे द्वे द्वे उदयस्थाने, तद्यथा—एकविंशति षड्विंशतिश्च । तत्रैकविंशतिरपर्याप्तद्वीन्द्रियाणामियम्—तैजस कार्मणम् अगुरुलघु स्थिरा-ऽस्थिरे शुभा-ऽशुभे वर्णादिचतुष्टय निर्माण तिर्यग्गति तिर्यगानुपूर्वी द्वीन्द्रियजाति त्रसनाम बादरनाम अपर्याप्तकनाम दुर्भगम् अनादेयम् अयश कीर्तिरिति। एषा चैकविंशतिरपान्तरालगतौ वर्तमानस्यावसेया । अत्र सर्वाण्यपि यदाऽप्रशस्तान्येवेति[3] एक एव भङ्ग । तत शरीरस्थस्यौदारिकम् औदारिकाङ्गोपाङ्ग हुण्डसंस्थान सेवार्तसंहननम् उपघात प्रत्येकमिति प्रकृतिषट्क प्रक्षिप्यते तिर्यगानुपूर्वी चापनीयते तत षड्विंशतिर्भवति, अत्राप्येक एव भङ्ग । एव त्रीन्द्रियादीनामप्यवगन्तव्यम्, नवर द्वीन्द्रियजातिस्थाने त्रीन्द्रियजातिरित्या-द्युच्चारणीयम् । तदेवमपर्याप्तद्वीन्द्रियादीना प्रत्येक द्वे द्वे उदयस्थाने अधिकृत्य द्वौ द्वौ भङ्गौ वेदितव्यौ, केवलमपर्याप्तसंज्ञिनश्चत्वार , यतो द्वौ भङ्गावपर्याप्तसंज्ञिनस्तिरश्च प्राप्येते, द्वौ चापर्याप्तसंज्ञिनो मनुष्यस्येति । तथा प्रत्येक सप्तानामपर्याप्तानां पञ्च पञ्च सत्तास्थानानि, तद्यथा—द्विनवति अष्टाशीति षडशीति अशीति अष्टसप्ततिश्च । एतेषा च स्वरूप प्रागिव द्रष्टव्यम् ।

"पण चउ पणग" त्ति "सुहुमा" इति सम्बध्यते । सूक्ष्मस्य पर्याप्तस्य पञ्च बन्धस्थानानि, तद्यथा—त्रयोविंशति पञ्चविंशति षड्विंशति एकोनत्रिंशत् त्रिंशत् । एतानि च तिर्यग्-मनुष्य-प्रायोग्याण्येव द्रष्टव्यानि, तत्रैव सूक्ष्मपर्याप्तस्योत्पादसम्भवात् । एतेषां च स्वरूप प्रागिव सप्रपञ्च द्रष्टव्यम् । उदयस्थानानि चत्वारि, तद्यथा—एकविंशति चतुर्विंशति पञ्चविंशति षड्विंशतिश्च । तत्रैकविंशतिरियम्—तैजसं कार्मणम् अगुरुलघु स्थिरा-ऽस्थिरे शुभा-ऽशुभे वर्णादिचतुष्टय निर्माण तिर्यग्गति तिर्यगानुपूर्वी एकेन्द्रियजाति स्थावरनाम सूक्ष्मनाम पर्याप्तकनाम दुर्भगम् अनादेयम् अयशःकीर्तिरिति । एषा चैकविंशति सूक्ष्मपर्याप्तस्यापान्तरालगतौ वर्तमानस्य वेदितव्या,

१ सं० १ त० म० छा० °न्यगतिश्च° ॥ २ मुद्रित० छा० °प्येव चैक° ॥
३ छा० मुद्रि० °ति एवैक ए ॥

अत्रैको भङ्ग, प्रतिपक्षपदविकल्पस्यैकस्याप्यभावात्। अस्यामेवैकविंशतौ औदारिकशरीर हुण्डसंस्थानम् उपघात प्रत्येक-साधारणयोरेकतरमिति प्रकृतिचतुष्टय प्रक्षिप्यते तिर्यगानुपूर्वी चाप नीयते ततश्चतुर्विंशतिर्भवति, सा च शरीरस्थस्य प्राप्यते, अत्र प्रत्येक-साधारणाभ्या द्वौ भङ्गौ। तत शरीरपर्याप्त्या पर्याप्तस्य पराघाते क्षिप्ते पञ्चविंशति, अत्रापि तावेव द्वौ भङ्गौ। तत प्राणापानपर्याप्त्या पर्याप्तस्योच्छ्वासे क्षिप्ते षड्विंशति, अत्रापि तावेव द्वौ भङ्गौ। सर्वसङ्ख्यया सूक्ष्मपर्याप्तस्य चत्वार्यप्युदयस्थानान्यधिकृत्य भङ्गा सप्त। पञ्च सत्तास्थानानि, तद्यथा—द्विनवति अष्टाशीति षडशीति अशीति अष्टसप्ततिश्च। केवल पञ्चविंशत्युदये षड्विंशत्युदये च प्रत्येक व साधारणपदेन सह भङ्गस्तत्राष्टसप्ततिवर्जानि चत्वारि सत्तास्थानानि वक्तव्यानि, शरीरपर्याप्त्या हि पर्याप्तस्तेज-वायुवर्ज सर्वोऽपि मनुष्यगति-मनुष्यानुपूर्व्यौ नियमाद् बध्नाति, पञ्चविंशति-षड्विंशत्युदयौ च शरीरपर्याप्त्या पर्याप्तस्य भवत, तत साधारणस्य सूक्ष्मपर्याप्तस्य पञ्चविंशत्युदये षड्विंशत्युदये चाष्टसप्ततिर्न प्राप्यते। प्रत्येकपदे पुनस्तेज-वायुकायिकावप्यन्तर्भवत इति तदपेक्षया तत्राष्टसप्ततिर्लभ्यते। तदेव साधारणपदानुगौ पञ्चविंशति-षड्विंशतिसत्कौ द्वौ भङ्गौ चतु सत्तास्थानकौ, शेषास्तु पञ्च भङ्गा पञ्चसत्तास्थानका।

"पणगा हवन्ति तिन्नेव" अत्र "बायरा" इति सम्बध्यते। पर्याप्तबादरैकेन्द्रियस्य पञ्च बन्धस्थानानि, तद्यथा—त्रयोविंशति पञ्चविंशति षड्विंशति एकोनत्रिंशत् त्रिंशत्। एतानि तिर्यग्-मनुष्यप्रायोग्याणि, तानि च प्रागिव द्रष्टव्यानि। उदयस्थानानि पञ्च, तद्यथा—एकविंशति चतुर्विंशति पञ्चविंशति षड्विंशति सप्तविंशतिश्च। तत्रैकविंशतिरियम्—तैजस कार्मणम् अगुरुलघु स्थिरास्थिरे शुभाऽशुभे वर्णादिचतुष्टय निर्माण तिर्यग्गति तिर्यगानुपूर्वी एकेन्द्रियजाति स्थावरनाम बादरनाम पर्याप्तकनाम दुर्भगम् अनादेय यश कीर्ति-अयश कीर्त्योरेकतरेति। एषा चैकविंशति पर्याप्तबादरस्यापान्तरालगतौ वर्तमानस्यावसेया, अत्र यश कीर्ति-अयश कीर्तिभ्या द्वौ भङ्गौ। तत शरीरस्थस्यौदारिकशरीर हुण्डसंस्थानम् उपघातनाम प्रत्येक-साधारणयोरेकतरमिति प्रकृतिचतुष्टय प्रक्षिप्यते तिर्यगानुपूर्वी चापनीयते ततश्चतुर्विंशतिर्भवति, अत्र प्रत्येक-साधारण-यश कीर्ति अयश कीर्तिपदैश्चत्वारो भङ्गा। वैक्रिय कुर्वत पुनर्बादरवायुकायिकस्यैक, यतस्तस्य साधारण-यश कीर्ती उदय नागच्छत, अन्यच्च वैक्रियवायुकायिकचतुर्विंशतावौदारिकशरीरस्थाने वैक्रियशरीरमिति वक्तव्यम्, शेष तथैव। सर्वसङ्ख्यया चतुर्विंशतौ पञ्च भङ्गा। तत शरीरपर्याप्त्या पर्याप्तस्य पराघाते प्रक्षिप्ते पञ्चविंशति, अत्रापि तथैव पञ्च भङ्गा। तत प्राणापानपर्याप्त्या पर्याप्तस्योच्छ्वासे क्षिप्ते षड्विंशति, अत्रापि तथैव पञ्च भङ्गा। अथवा शरीरपर्याप्त्या पर्याप्तस्योच्छ्वासेऽनुदिते आतप-उद्योतान्यतरस्मिंस्तूदिते षड्विंशति, अत्रातपेन प्रत्येक-यश कीर्ति-अयश कीर्तिपदैर्द्वौ भङ्गौ, साधारणस्यातपोदयाभावाद् तदाश्रितौ विकल्पौ न भवत। उद्योतेन प्रत्येक साधारण-यश कीर्ति-अयश कीर्तिपदैश्चत्वार। सर्वसङ्ख्यया षड्विंशतावेकादश भङ्गा। तत प्राणापानपर्याप्त्या पर्याप्तस्य उच्छ्वाससहिताया

१ सं० १ त० म० °नावाप्य° ॥

षड्विंशतौ आतप-उद्योतयोरन्यतरस्मिन् प्रक्षिप्ते सप्तविंशति, अत्र प्रागिवातपेन द्वौ उद्योतेन सह चत्वार इति सर्वसङ्ख्यया सप्तविंशतौ षड् भङ्गा । सर्वे वान्त्यपर्याप्तस्य भङ्गा एकोनत्रिंशत् । सत्तास्थानानि पञ्च, तद्यथा—द्विनवति अष्टाशीति षडशीति अशीति अष्टसप्ततिश्च । इह पञ्चविंशत्युदये षड्विंशत्युदये च प्रत्येक प्रत्येका-ऽयश कीर्तिभ्या य एकैको भङ्ग यौ च द्वौ भङ्गावेकविंशतौ ये च वैक्रियबादरवायुकायिकवर्जाश्चतुर्विंशतौ भङ्गाश्चत्वारस्ते सर्वसङ्ख्ययाऽष्टौ पञ्चसत्तास्थानका, शेपास्त्वेकविंशतिसङ्ख्याश्चतु सत्तास्थानका ।

"पण छ प्पणग" ति अत्र "विगलिंदिया उ तिन्नि उ" इति सम्बध्यते । विकलेन्द्रियाणा त्रयाणा पञ्च बन्धस्थानानि, तद्यथा—त्रयोविंशति पञ्चविंशति षड्विंशति एकोनत्रिंशत् त्रिंशत् । एतान्यपि तिर्यङ्-मनुष्यप्रायोग्याणि, तानि च प्रागिव द्रष्टव्यानि । षड् उदयस्थानानि, तद्यथा—एकविंशति षड्विंशति अष्टाविंशति एकोनत्रिंशत् त्रिंशद् एकत्रिंशत् । तत्र पर्याप्तद्वीन्द्रियस्यैकविंशतिरियम्—तैजस कार्मणम् अगुरुलघु स्थिरा-ऽस्थिरे शुभा-ऽशुभे वर्णादिचतुष्टय निर्माण तिर्यग्गति तिर्यगानुपूर्वी द्वीन्द्रियजाति त्रसनाम बादरनाम पर्याप्तकनाम दुर्भगम् अनादेय यश-कीर्ति-अयश कीर्त्योरेकतरेति । एषा चैकविंशति पर्याप्तद्वीन्द्रियस्यापान्तरालगतौ वर्तमानस्यावसेया, अत्र द्वौ भङ्गौ यश कीर्ति अयश कीर्तिभ्याम् । तत शरीरस्थस्य औदारिकम् औदारिकाङ्गोपाङ्ग हुण्डसस्थान सेवार्तसहननम् उपघात प्रत्येकमिति प्रकृतिषट्क प्रक्षिप्यते तिर्यगानुपूर्वी चापनीयते तत षड्विंशतिर्भवति, अत्रापि तावेव द्वौ भङ्गौ । तत शरीरपर्याप्त्या पर्याप्तस्य पराघातेऽप्रशस्तविहायोगतौ च प्रक्षिप्तायामष्टाविंशति, अत्रापि तावेव द्वौ भङ्गौ । तत प्राणापानपर्याप्त्या पर्याप्तस्योच्छ्वासे क्षिप्ते एकोनत्रिंशत्, अत्रापि तावेव द्वौ भङ्गौ, अथवा तस्यामेवाष्टाविंशतौ उच्छ्वासेऽनुदिते उद्योतनाम्नि तूदिते एकोनत्रिंशत्, अत्रापि तावेव द्वौ भङ्गौ, सर्वसङ्ख्यया एकोनत्रिंशति चत्वारो भङ्गा । ततो भाषापर्याप्त्या पर्याप्तस्योच्छ्वाससहितायामेकोनत्रिंशति सुस्वर-दु स्वरयोरेकतरस्मिन् क्षिप्ते त्रिंशद् भवति, अत्र भङ्गा सुस्वर-दु स्वर-यश कीर्ति-अयश कीर्तिपदैश्चत्वार, अथवोच्छ्वाससहितायामेकोनत्रिंशति स्वरेऽनुदिते उद्योतनाम्नि तूदिते त्रिंशत्, अत्रोद्योत-यश कीर्ति-अयश कीर्तिपदैर्द्वौ भङ्गौ, सर्वसङ्ख्यया त्रिंशति षड् भङ्गा । स्वरसहितायामेव त्रिंशति उद्योते प्रक्षिप्ते एकत्रिंशत्, अत्र सुस्वर-दु स्वर-यश कीर्ति-अयश-कीर्तिपदैर्भङ्गाश्चत्वार । सर्वसङ्ख्यया पर्याप्तद्वीन्द्रियस्य भङ्गा विंशति । सत्तास्थानानि पञ्च, तद्यथा—द्विनवति अष्टाशीति षडशीति अशीति अष्टसप्ततिश्च । अत्र यावेकविंशत्युदये द्वौ भङ्गौ यौ च षड्विंशत्युदये एते चत्वार पञ्चसत्तास्थानका, यतोऽष्टसप्ततिस्तेज-वायुभवादुद्वृत्य पर्याप्तद्वीन्द्रियत्वेनोत्पन्नानधिकृत्य कियत्काल प्राप्यते, शेपास्तु षोडश भङ्गकाश्चतु सत्तास्थानका, तेष्वष्टसप्ततेरप्राप्यमाणत्वात् । तेज-वायुवर्जा हि शरीरपर्याप्त्या पर्याप्ता नियमतो मनुष्यगति-मनुष्यानुपूर्व्यौ बध्नन्ति, ततोऽष्टाविंशत्याद्युदयेष्वष्टसप्ततिर्न प्राप्यते । एव त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रियाणामपि पर्याप्ताना वक्तव्यम् ।

१ मुद्रि० छा० सर्वेऽपि स० ॥ २ स० १ त० म० °गा । सुस्व° ॥ ३ स० १ त० म० छा० °दये द्वौ भङ्गौ एते च° ॥ ४ मुद्रि० तत सप्तवि ॥

"छ च्छ प्पणग" त्ति अत्र "असन्नी य" इति सम्बध्यते । असंज्ञिपञ्चेन्द्रियस्य पर्याप्तस्य षड् बन्धस्थानानि, तद्यथा—त्रयोविंशति पञ्चविंशति षड्विंशति अष्टाविंशति एकोनत्रिंशत् त्रिंशत् । असंज्ञिपञ्चेन्द्रिया हि पर्याप्ता नरकगति-देवगतिप्रायोग्यमपि बध्नन्ति । ततस्तेषामष्टाविंशतिरपि बन्धस्थानं लभ्यते । षड् उदयस्थानानि, तद्यथा—एकविंशति षड्विंशति अष्टाविंशति एकोनत्रिंशत् त्रिंशद् एकत्रिंशत् । तत्रैकविंशतिरियम्—तैजस कार्मणम् अगुरुलघु स्थिरा-ऽस्थिरे शुभा-ऽशुभे वर्णादिचतुष्टय निर्माण तिर्यग्गति तिर्यगानुपूर्वी पञ्चेन्द्रियजाति त्रसनाम बादरनाम पर्याप्तकनाम सुभग-दुर्भगयोरेकतर आदेया-ऽनादेययोरेकतर यश कीर्ति अयश कीर्त्योरेकतरं चेति । एषा चैकविंशतिरसंज्ञिपञ्चेन्द्रियपर्याप्तस्यापान्तरालगतौ वर्तमानस्य प्राप्यते। अत्र सुभग दुर्भगा-ऽऽदेया-ऽनादेय-यश कीर्ति अयश कीर्तिभिरष्टौ भङ्गा । तत शरीरस्थस्यौदारिकमौदारिकाङ्गोपाङ्ग षण्णा संस्थानानामेकतमत संस्थान षण्णा संहननानामेकतमत् संहननम् उपघात प्रत्येकमिति प्रकृतिषट्कं प्रक्षिप्यते तिर्यगानुपूर्वी चापनीयते तत षड्विंशतिर्भवति, अत्र षड्भि संस्थानैः षड्भि संहननैः सुभग-दुर्भगाभ्यामादेया-ऽनादेयाभ्या यश कीर्ति अयश कीर्तिभ्या च द्वे शते भङ्गानामष्टाशीत्यधिके २८८ । तत शरीरपर्याप्त्या पर्याप्तस्य पराघाते प्रशस्ता-ऽप्रशस्तविहायोगत्यन्यतरविहायोगतौ च प्रक्षिप्तायामष्टाविंशति, अत्र पाश्चात्या एव भङ्गा विहायोगतिद्विकेन गुण्यन्ते ततो भङ्गाना पञ्च शतानि षट्सप्तत्यधिकानि भवन्ति ५७६ । तत प्राणापानपर्याप्त्या पर्याप्तस्योच्छ्वासे क्षिप्ते एकोनत्रिंशत्, अत्रापि भङ्गाना पञ्च शतानि षट्सप्तत्यधिकानि ५७६, अथवा शरीरपर्याप्त्या पर्याप्तस्योच्छ्वासेऽनुदिते उद्योते तूदिते एकोनत्रिंशत्, अत्रापि पञ्च शतानि षट्सप्तत्यधिकानि भङ्गानाम् ५७६, सर्वसङ्ख्यया एकादश शतानि द्विपञ्चाशदधिकानि ११५२। ततो भाषापर्याप्त्या पर्याप्तस्योच्छ्वाससहितायामेकोनत्रिंशति सुस्वर-दु स्वरयोरेकतरस्मिन् प्रक्षिप्ते त्रिंशद् भवति, अत्र पाश्चात्यान्युच्छ्वासलब्धानि भङ्गाना पञ्च शतानि षट्सप्तत्यधिकानि ५७६ स्वरद्विकेन गुण्यन्ते तत एकादश शतानि द्विपञ्चाशदधिकानि ११५२ भवन्ति, अथवा प्राणापानपर्याप्त्या पर्याप्तस्य स्वरेऽनुदिते उद्योत नाम्नि तूदिते त्रिंशद् भवति, अत्र भङ्गाना पञ्च शतानि षट्सप्तत्यधिकानि ५७६ । सर्वसङ्ख्यया त्रिंशति भङ्गा सप्तदश शतान्यष्टाविंशत्यधिकानि १७२८ । तत स्वरसहिताया त्रिंशति उद्योते प्रक्षिप्ते एकत्रिंशद् भवति, अत्र भङ्गानामेकादश शतानि द्विपञ्चाशदधिकानि ११५२ । सर्वसङ्ख्यया पर्याप्तासंज्ञिपञ्चेन्द्रियस्यैकोनपञ्चाशच्छतानि चतुरधिकानि ४९०४ । असंज्ञिपञ्चेन्द्रियाश्च वैक्रियलब्धिविहीनत्वाद् वैक्रिय नारभन्ते ततस्तदाश्रिता उदयविकल्पा न प्राप्यन्ते । सत्तास्थानानि पञ्च, तद्यथा—द्विनवति अष्टाशीति षडशीति अशीति अष्टसप्ततिश्च । अत्रैकविंशत्युदयसत्का अष्टौ भङ्गा षड्विंशत्युदयसत्काश्चाष्टाशीत्यधिकशतद्वयसङ्ख्या २८८ पञ्चसत्तास्थानका, शेषा सर्वेऽपि चतु सत्तास्थानका, युक्तिरत्र प्रागुक्ता द्रष्टव्या ।

"अट्ठऽट्ठ दसग" त्ति अत्र "सन्नीय" इति सम्बध्यते । संज्ञिपञ्चेन्द्रियपर्याप्तस्य सर्वाणि बन्ध-

१ स० °यस्य पर्या° । छा० °यस्यापर्या° ॥ २ स० १ त० म० °रा पञ्च ॥ ३. मुद्रि० °दयावनाम्नि तू° ॥ ४ सं० १ त० म० °कानि ११५२ भवति ॥

स्थानानि, तानि चाष्टौ विंशति-चतुर्विंशति-नवा ऽष्टरहितानि । सर्वाण्यप्युदयस्थानानि तान्यप्यष्टौ, विंशति-नवा ऽष्टोदया हि केवलिनो भवन्ति, चतुर्विंशत्युदयश्चैकेन्द्रियाणाम्, अत एते वर्ज्यन्ते, अत्र केवली संज्ञित्वेन न विवक्षित इति तदुदयप्रतिषेध । नवा-ऽष्टरहितानि सर्वाण्यपि सत्ता-स्थानानि, तानि च दश । अत्राप्येकविंशत्युदयभङ्गा अष्टौ, षड्विंशत्युदयभङ्गाश्चाष्टाशीत्यधिक-शतद्वयसङ्ख्या, २८८ पञ्चसत्तास्थानका, शेषाश्चतु सत्तास्थानका ।

सम्प्रति जीवेष्विन्त्यते—सूक्ष्मैकेन्द्रियाणामपर्याप्ताना त्रयोविंशतिबन्धनामेकविंशत्युदये पञ्च सत्तास्थानानि, तद्यथा—द्विनवति अष्टाशीति षडशीति अशीति अष्टसप्ततिश्च । एव चतुर्विंशत्युदयेऽपि । सर्वसङ्ख्यया दश । एव पञ्चविंशति षड्विंशति एकोनत्रिंशत्-त्रिंशद्बन्धकाना-मपि द्वे द्वे उदयस्थाने अधिकृत्य प्रत्येक दश दश सत्तास्थानान्यवगन्तव्यानि, सर्वसङ्ख्यया पञ्चाशत् ५० । एवमन्येषामपि षण्णामपर्याप्ताना भावनीयम्, नवरमात्मीये आत्मीये द्वे द्वे उदयस्थाने प्रागुक्तस्वरूपे वक्तव्ये । सूक्ष्मपर्याप्तकाना त्रयोविंशतिबन्धकानामेकविंशत्यादिषु चतुर्ष्वप्युदयस्थानेषु प्रत्येक पञ्च पञ्च सत्तास्थानानि, सर्वसङ्ख्यया विंशति । एव पञ्चविंशति-षड्विंशति-एकोनत्रिंशत् त्रिंशद्बन्धकानामपि वक्तव्यम् । तत सूक्ष्मपर्याप्ताना सर्वसङ्ख्यया सत्ता-स्थानानि शतम् १०० । बादरैकेन्द्रियपर्याप्ताना त्रयोविंशतिबन्धकानामेकविंशति-चतुर्विंशति-पञ्चविंशति-षड्विंशत्युदयेषु पञ्च पञ्च सत्तास्थानानि, सप्तविंशत्युदये चत्वारि, सर्वसङ्ख्यया चतु-र्विंशति । एव पञ्चविंशति-षड्विंशति एकोनत्रिंशत् त्रिंशद्बन्धकानामपि प्रत्येक चतुर्विंशतिश्चतु-र्विंशति सत्तास्थानानि वाच्यानि । सर्वसङ्ख्यया पर्याप्तबादरैकेन्द्रियाणा विंश शत १२० सत्ता-स्थानानाम् । द्वीन्द्रियपर्याप्तकाना त्रयोविंशतिबन्धकानाम् एकविंशत्युदये षड्विंशत्युदये च पञ्च पञ्च सत्तास्थानानि, अष्टाविंशति-एकोनत्रिंशत्-त्रिंशद् एकत्रिंशदुदयेषु तु प्रत्येक चत्वारि चत्वा-रीति सर्वसङ्ख्यया षड्विंशति । एव पञ्चविंशति-षड्विंशति एकोनत्रिंशत्-त्रिंशद्बन्धकाना प्रत्येक षड्विंशति षड्विंशति सत्तास्थानानि, सर्वसङ्ख्यया त्रिंश शतम् १३० । एव त्रीन्द्रियाणा चतु-रिन्द्रियाणामपि पर्याप्ताना वक्तव्यम् । असंज्ञिपञ्चेन्द्रियाणामपि पर्याप्ताना त्रयोविंशतिबन्धका-नामेकविंशत्युदये षड्विंशत्युदये च प्रत्येक पञ्च पञ्च सत्तास्थानानि, अष्टाविंशति-एकोनत्रिंशत् त्रिंशद्-एकत्रिंशदुदयेषु तु चत्वारि चत्वारीति सर्वसङ्ख्यया षड्विंशति । एव पञ्चविंशति-षड्विं-शति-एकोनत्रिंशत् त्रिंशद्बन्धकानामपि वक्तव्यम् । अष्टाविंशतिबन्धकाना पुनस्तेषां द्वे एवोदय-स्थाने, तद्यथा—त्रिंशदेकत्रिंशच्च । तत्र प्रत्येक त्रीणि त्रीणि सत्तास्थानानि, तद्यथा—द्विनवति अष्टाशीति षडशीतिश्च । अष्टाविंशतिर्हि देवगतिप्रायोग्या नरकगतिप्रायोग्या वा, ततस्तस्यां बध्यमानायामवश्य वैक्रियचतुष्टयादि बध्यते इत्यशीति-अष्टसप्तती न प्राप्येते । सर्वसङ्ख्यया पर्या-प्तासंज्ञिपञ्चेन्द्रियाणा षट्त्रिंश सत्तास्थानाना शतम् १३६ । पर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रियाणा त्रयोविंशति-बन्धकाना प्रागिव षड्विंशति सत्तास्थानानि वाच्यानि । एव पञ्चविंशतिबन्धकानामपि, नवरं

१ मुद्रि छा० °नि कृत्वा त° ॥ २ स० वक्तव्यानि ॥ ३ स० १ त० म० च प्रत्येक प° ॥ ४ स० °नि ग्रन्थाग्रम् २०००, अ° ॥ ५ स० १ त० म० तु चत्वा ॥ ६ स० स० १. स० २ त० म० °मपि वक्त° ॥

देवाना पञ्चविंशतिबन्धकाना पञ्चविंशत्युदये सप्तविंशत्युदये च द्वे द्वे सत्तास्थाने, तद्यथा—द्विनवतिरष्टाशीतिश्च । एतानि च प्रागुक्तपड्विंशतिसत्तास्थानापेक्षयाऽधिकानि प्राप्यन्ते इति सर्व सङ्ख्यया पञ्चविंशतिबन्धकाना त्रिंशत् । एव पड्विंशतिबन्धकानामपि त्रिंशत् । अष्टाविंशतिबन्धकानामष्टावुदयस्थानानि, तद्यथा—एकविंशति पञ्चविंशति पड्विंशति सप्तविंशति अष्टाविंशति एकोनत्रिंशत् त्रिंशद् एकत्रिंशच्चेति । तत्रैकविंशतौ द्वे सत्तास्थाने, तद्यथा—द्विनवतिरष्टाशीतिश्च । एते एव द्वे पञ्चविंशति पड्विंशति-सप्तविंशति-अष्टाविंशति एकोनत्रिंशदुदयेष्वपि प्रत्येक वक्तव्ये । त्रिंशदुदये चत्वारि, तद्यथा—द्विनवति एकोननवति अष्टाशीति पडशीतिश्च । एतेपा च भावना प्रागेवाष्टाविंशतिबन्धे सवेधचिन्ताया विस्तरेण कृतेति न भूय क्रियते, विशेपाभावाद् ग्रन्थगौरवभयाच्च । एकत्रिंशदुदये त्रीणि सत्तास्थानानि, तद्यथा—द्विनवति अष्टाशीति पडशीतिश्च । सर्वसङ्ख्यया अष्टाविंशतिबन्धकानामेकोनविंशति सत्तास्थानानि । एकोनत्रिंशद्बन्धकाना सत्तास्थानानि पञ्चविंशतिबन्धकानामिव भावनीयानि, तानि च त्रिंशत् । नवरमत्र विशेपो भण्यते—अविरतसम्यग्दृष्टेर्देवगतिप्रायोग्यामेकोनत्रिंशत बध्नत एकविंशति-पड्विंशति-अष्टाविंशति-एकोनत्रिंशत्-त्रिंशदुदयेपु प्रत्येक द्वे द्वे सत्तास्थाने भवत, तद्यथा—त्रिनवति एकोननवतिश्च । पञ्चविंशत्युदये सप्तविंशत्युदये च वैक्रियसयत-सयतासयतानधिकृत्य ते एव द्वे द्वे सत्तास्थाने । अथवा आहारकसंयतानधिकृत्य पञ्चविंशत्युदये सप्तविंशत्युदये च त्रिनवति, नैरयिक तीर्थकरसत्कर्माण मिथ्यादृष्टिमधिकृत्यैकोननवति । सर्वाणि चतुर्दश । सर्वसङ्ख्यया एकोनत्रिंशद्बन्धकाना सत्तास्थानानि चतुश्चत्वारिंशत् । त्रिंशद्बन्धकानामपि सत्तास्थानानि पञ्चविंशतिबन्धकानामिव भावनीयानि, तानि च त्रिंशत् । केवल देवाना मनुष्यगतिप्रायोग्या तीर्थकरनामसहिता त्रिंशत बध्नता एकविंशति पञ्चविंशति-सप्तविंशति अष्टाविंशति एकोनत्रिंशत्-त्रिंशदुदयेपु प्रत्येक द्वे द्वे सत्तास्थाने, तद्यथा—त्रिनवतिरेकोननवतिश्च । एतानि च द्वादश, तत सर्वसङ्ख्यया त्रिंशद्बन्धकाना द्विचत्वारिंशत् सत्तास्थानानि । एकत्रिंशद्बन्धकानामेकमेव त्रिनवतिरूप सत्तास्थानम्, एकत्रिंशत हि तीर्थकरा ऽऽहारकसहितामेव बध्नाति, ततस्तीर्थकरा ऽऽहारकयोरपि सत्ताया प्रक्षेपे त्रिनवतिरेव भवति । एकविधबन्धकानामष्टौ सत्तास्थानानि, तद्यथा—त्रिनवति द्विनवति एकोननवति अष्टाशीति अशीति एकोनाशीति पट्सप्तति पञ्चसप्ततिश्च । तत्राद्यानि चत्वार्युपशमश्रेण्याम् अथवा क्षपकश्रेण्या यावद् नाद्यापि त्रयोदश नामानि क्षीयन्ते, तेपु तु क्षीणेपु उपरितनानि चत्वारि सत्तास्थानानि लभ्यन्ते । बन्धाभावे संज्ञिपर्याप्तानामष्टौ सत्तास्थानानि, तानि चानन्तरोक्तान्येव द्रष्टव्यानि, केवलमाद्यानि चत्वार्युपशान्तमोह गुणस्थानके, उपरितनानि तु चत्वारि क्षीणमोहगुणस्थानके । तदेव सर्वसङ्ख्यया संज्ञिपर्याप्ताना द्वे शते सत्तास्थानानामष्टाधिके २०८ । यदि पुनर्द्रव्यमनोऽभिसम्बन्धात् केवलिनोऽपि संज्ञिनो विवक्ष्यन्ते तदानी केवलिसत्कानि पड्विंशतिसत्तास्थानान्यपि भवन्ति । तथाहि—केवलिनां दश उदयस्थानानि, तद्यथा—विंशति एकविंशति पड्विंशति सप्तविंशति अष्टाविंशति एको-

१. स० छा० प्रागनय० ॥ २ स० १ त० म० °स्थाने भवत । अथ° ॥
३ स० १ त० म० °णयपि चतु° ॥

नवत्रिंशत् त्रिंशद् एकत्रिंशद् नव अष्टौ च । तत्र विंशत्युदये द्वे सत्तास्थाने, तद्यथा—एकोनाशीति पञ्चसप्ततिश्च । एते एव षड्विंशत्युदया-ऽष्टाविंशत्युदययोरपि प्रत्येक द्रष्टव्ये । एकविंशत्युदये इमे द्वे सत्तास्थाने—अशीति षट्सप्ततिश्च । ते एव सप्तविंशत्युदयेऽपि । एकोनत्रिंशदुदये चत्वारि सत्तास्थानानि, तद्यथा—अशीति षट्सप्तति एकोनाशीति पञ्चसप्ततिश्च । एकोनत्रिंशदुदयो हि तीर्थकरेऽतीर्थकरे च प्राप्यते, तत्र तीर्थकरमधिकृत्याद्ये द्वे सत्तास्थाने, अतीर्थकरमधिकृत्य पुनरन्तिमे । एव त्रिंशदुदयेऽपि चत्वारि । एकत्रिंशदुदये द्वे—अशीति षट्सप्ततिश्च । नवोदये त्रीणि, तद्यथा—अशीति षट्सप्तति नव च । तत्राद्ये द्वे तीर्थकरस्यायोगिकेवलिनो द्विचरमसमय यावत् प्राप्येते, चरमसमये तु नव । अष्टोदये त्रीणि, तद्यथा—एकोनाशीति पञ्चसप्तति अष्टौ च । तत्राद्ये द्वे अतीर्थकरस्यायोगिकेवलिनो द्विचरमसमय यावत्, चरमसमये त्वष्टाविति । सर्वसमुदायेन सजिना चतुस्त्रिंशदधिके द्वे शते २३४ सत्तास्थानानाम् ॥ ३७ । ३८ ॥

तदेव जीवस्थानान्यधिकृत्य स्वामित्वमुक्तम् । सम्प्रति गुणस्थानान्यधिकृत्याह—

नाणंतराय तिविहमवि दससु दो होंति दोसु ठाणेसुं ।

मिथ्यादृष्टिप्रभृतिषु सूक्ष्मसम्परायपर्यन्तेषु दशसु गुणस्थानकेषु ज्ञानावरणमन्तराय च 'त्रिविधमपि' बन्ध-उदय-सत्तापेक्षया त्रिप्रकारमपि भवति, मिथ्यादृष्ट्यादिषु दशसु गुणस्थानकेषु ज्ञानावरणस्यान्तरायस्य च पञ्चविधो बन्ध पञ्चविध उदय पञ्चविधा सत्ता इत्यर्थ । 'द्वयो पुनर्गुणस्थानकयो' उपशान्तमोह-क्षीणमोहरूपयो 'द्वे' उदय सत्ते स्त , न बन्ध , बन्धस्य सूक्ष्मसम्पराये व्यवच्छिन्नत्वात् । एतदुक्त भवति—बन्धाभावे उपशान्तमोहे क्षीणमोहे च ज्ञानावरणीयाऽन्तराययो प्रत्येक पञ्चविध उदय पञ्चविधा च सत्ता भवतीति, परत उदय-सत्तयोरप्यभाव ।

मिच्छासाणे बिइए, नव चउ पण नव य संतंसा ॥ ३९ ॥

'द्वितीये' द्वितीयस्य दर्शनावरणस्य मिथ्यादृष्टौ सासादने च नवविधो बन्ध , चतुर्विध पञ्चविधो वा उदय , नवविधा सत्ता, द्वयोरप्यनयोर्गुणस्थानकयो स्त्यानर्द्धित्रिकस्य नियमतो बन्धात् । "नव य सतस" त्ति नव च 'सत्तांशा' सत्ताभेदा सत्प्रकृतय इत्यर्थ । एतेन च द्वौ विकल्पौ दर्शितौ, तद्यथा—नवविधो बन्धश्चतुर्विध उदयो नवविधा सत्ता, अथवा नवविधो बन्ध पञ्चविध उदयो नवविधा सत्ता ॥ ३९ ॥

---

१ स० २ °श्च । एते च स° ॥ २ स० १ त० म० °दयेऽपि त्रा° ॥

३ अत्र स० २ पुस्तके—'चतुर्दशसु जीवस्थानेषु सर्वसङ्ख्यया, सत्ताविकल्पा १३३० " इति टिप्पणक वर्तते ॥ स १ त० म० पुस्तकेषु तिन उर्ध्वम्—" तदेव चतुर्दशसु जीवस्थानेषु सर्वसङ्ख्यया सत्तास्थानानि १३३० ' इति पाठ टीकान्तरेव दृश्यते । स० छा० मुद्रि० पुस्तकेषु च सर्वथा नास्ति ॥

४ स० १ त० म० °त्ता इत्यर्थ । छा० मुद्रि० त्ता इति द्वौ विकल्पौ द्रष्टव्य ॥

मिस्साइ नियट्टीओ, छ चउ पण नव य संतकम्मसा ।
चउबंध तिगे चउ पण, नवंस दुसु जुयल छ स्संता ॥ ४० ॥

'मिश्रादिषु' मिश्रप्रभृतिषु गुणस्थानकेषु अप्रमत्तगुणस्थानकपर्यन्तेषु 'निवृत्तौ' च अपूर्वकर च अपूर्वकरणाद्धाया प्रथमे सङ्ख्येयतमभागे चेत्यर्थ , परतो निद्राद्विकबन्धव्यवच्छेदेन षड्वि धबन्धासम्भवात्, तत एतेषु षड्विधो बन्धश्चतुर्विध पञ्चविधो वा उदय नवविधा सत्तेति द्व विकल्पौ । "चउबंध तिगे चउ पण नवंस" त्ति इहापूर्वकरणाद्धाया प्रथमे सङ्ख्येयतमे भागे गते सति निद्रा प्रचलयोर्बन्धव्यवच्छेदो भवति, ततोऽत ऊर्ध्वमपूर्वकरणेऽपि चतुर्विध एव बन्ध तत 'त्रिके' अपूर्वकरणा-ऽनिवृत्तिबादर-ऽसूक्ष्मसम्परायरूपे चतुर्विधो बन्धश्चतुर्विध पञ्चविधो व उदय , "नवंस" इति नवविधा सत्तेति प्रत्येक द्वौ द्वौ विकल्पौ, अश इति सत्ताऽभिधीयते एतच्चोक्तमुपशमश्रेणीमधिकृत्य, क्षपकश्रेण्या गुणस्थानकत्रयेऽपि पञ्चविधस्योदयस्य सूक्ष्मसम्पराये च नवविधाया सत्ताया अप्राप्यमाणत्वात् "दुसु जुयल छ स्संत" त्ति इह क्षपकश्रेण्यामनिवृ त्तिबादरसम्परायाद्धाया सङ्ख्येयतमेषु भागेषु गतेषु सत्सु एकस्मिन् भागे सङ्ख्येयतमेऽवतिष्ठमाने स्त्यानर्द्धित्रिकस्य सत्ताव्यवच्छेदो भवति, ततस्तदनन्तरमनिवृत्तिबादरेऽपि षड्विधैव सत्ता भवति, तत आह—"दुसु" त्ति 'द्वयो ' अनिवृत्तिबादर-सूक्ष्मसम्पराययोर्युगलमिति बन्ध-उदयावुच्येते । चतुरिति चानुवर्तते, ततश्चतुर्विधो बन्धश्चतुर्विध उदय "छ स्संत" त्ति षड्विधा सत्ता । अत्र पञ्चविध उदयो न प्राप्यते, क्षपकाणामत्यन्तविशुद्धतया निद्राद्विकस्योदयाभावात् । उक्त च कर्मप्रकृतिचूर्णावुदीरणाकरणे—

> [1]इंदियपज्जत्तीए अणतरे समए सव्वो वि निद्दापयलमुदीरगो भवइ, नवर खीण-
> कसायक्खवगे मोत्तूण, तेसिं उदओ नत्थि त्ति काउ । ॥४० ॥

उवसंते चउ पण-नव, खीणे चउरुदय छच्च चउ संत ।

'उपशान्ते' उपशान्तमोहे बन्धो न भवति, तस्य सूक्ष्मसम्पराये एव व्यवच्छिन्नत्वात्, तत केवलश्चतुर्विध पञ्चविधो वा उदयो नवविधा सत्ता । [2]उपशमकोपशान्तमोहा अत्यन्तविशुद्धा न भवन्ति, ततस्तेषु निद्राद्विकस्याप्युदय सम्भवति । 'क्षीणे' क्षीणमोहे चतुर्विध उदय षड्विधा सत्ता, एष विकल्पो द्विचरमसमय यावत् । चरमसमये तु निद्रा प्रचलयो सत्ताव्यवच्छेदाद् अय विकल्प —चतुर्विध उदयश्चतुर्विधा सत्ता ॥

वेयणियाउयगोए, विभज्ज

वेदनीयाऽऽयु-र्गोत्राणां बन्ध-उदय-सत्तास्थानानि यथागम गुणस्थानकेषु 'विभजेत्' विकल्पयेत् ।

---

१ इन्द्रियपर्याप्त्या अनन्तरे समये सर्वोऽपि निद्रा प्रचलयोरुदीरको भवति, नवर क्षीणकषाय क्षपकान् मुक्त्वा, तेषामुदयो नास्तीति कृत्वा ॥ २ स० म० ०मके उप० ॥

तत्र वेदनीय-गोत्रयोर्भङ्गनिरूपणार्थमियमन्तर्भाष्यगाथा—

चउ छस्सु दोण्णि सत्तसु, एगे चउ गुणिसु वेयणियभंगा ।
गोए पण चउ दो तिसु, एगऽट्ठसु दोण्णि एक्कम्मि ॥ ३ ॥

मिथ्यादृष्ट्यादिषु प्रमत्तसंयतपर्यन्तेषु षट्सु गुणस्थानकेषु प्रत्येकं वेदनीयस्य प्रथमाश्चत्वारो भङ्गा, ते चेमे—असातस्य बन्ध असातस्योदय सातासाते सती, असातस्य बन्ध सातस्योदय सातासाते सती, सातस्य बन्ध असातस्योदय सातासाते सती, सातस्य बन्ध सातस्योदय सातासाते सती । तथाऽप्रमत्तसंयतादिषु सयोगिकेवलिपर्यन्तेषु सप्तसु गुणस्थानकेषु द्वौ भङ्गौ, तौ चानन्तरोक्तावेव तृतीयचतुर्थौ ज्ञातव्यौ, एते हि सातमेव बध्नन्ति नासातम् । तथा 'एकस्मिन्' अयोगिकेवलिनि चत्वारो भङ्गा, ते चेमे—असातस्योदय सातासाते सती, अथवा सातस्योदय सातासाते सती, एतौ द्वौ विकल्पावयोगिकेवलिनि द्विचरमसमय यावत् प्राप्येते, चरमसमये तु असातस्योदय असातस्य सत्ता यस्य द्विचरमसमये सात क्षीणम्, यस्य त्वसात द्विचरमसमये क्षीण तस्याय विकल्प —सातस्योदय सातस्य सत्ता ।

"गोए" इत्यादि । 'गोत्रे' गोत्रस्य पञ्च भङ्गा मिथ्यादृष्टौ, ते चेमे—नीचैर्गोत्रस्य बन्ध नीचैर्गोत्रस्योदय नीचैर्गोत्र सत्, एष विकल्पस्तेजस्कायिक-वायुकायिकेषु लभ्यते, तद्भवादुद्वृत्तेषु वा शेषजीवेषु कियत्कालम् । नीचैर्गोत्रस्य बन्ध नीचैर्गोत्रस्योदय उच्च-नीचैर्गोत्रे सती, अथवा नीचैर्गोत्रस्य बन्ध उच्चैर्गोत्रस्योदय उच्च-नीचैर्गोत्रे सती, अथवा उच्चैर्गोत्रस्य बन्ध नीचैर्गोत्रस्योदय उच्च-नीचैर्गोत्रे सती, उच्चैर्गोत्रस्य बन्ध उच्चैर्गोत्रस्योदय उच्च-नीचैर्गोत्रे सती, सासादनस्य प्रथमवर्जा शेषाश्चत्वारो भङ्गा । प्रथमो हि भङ्गस्तेज-वायुकायिकेषु लभ्यते, तद्भवादुद्वृत्तेषु वा कियत्कालम् । न च तेज-वायुषु सासादनभावो लभ्यते, नापि तद्भवादुद्वृत्तेषु तत्कालम्, अतोऽत्र प्रथमभङ्गप्रतिषेध । तथा 'त्रिषु' मिश्रा-ऽविरत-देशविरतेषु चतुर्थ-पञ्चमरूपौ द्वौ भङ्गौ भवत, न शेषा, मिश्रादयो हि नीचैर्गोत्र न बध्नन्ति । अन्ये त्वाचार्या ब्रुवते—देशविरतस्य पञ्चम एवैको भङ्ग, "सामन्नेण वयजाईए उच्चागोयस्स उदओ होइ" ॥ ( ) इति वचनात् ।

"एगऽट्ठसु" त्ति प्रमत्तसंयतप्रभृतिषु अष्टसु गुणस्थानेषु प्रत्येकमेकैको भङ्ग । तत्र प्रमत्ता-ऽप्रमत्ता-ऽपूर्वकरणा-ऽनिवृत्तिबादर-सूक्ष्मसम्परायेषु केवल पञ्चमो भङ्ग, तेषामुच्चैर्गोत्रस्यैव बन्ध-उदयसम्भवात् । उपशान्तमोहे क्षीणमोहे सयोगिकेवलिनि च बन्धाभावात् प्रत्येकमय विकल्प —उच्चैर्गोत्रस्योदय उच्च-नीचैर्गोत्रे सती ॥

"दोन्नि एक्कम्मि" त्ति एकस्मिन् अयोगिकेवलिनि द्वौ भङ्गौ—उच्चैर्गोत्रस्योदय उच्च-नीचैर्गोत्रे सती, एष विकल्पो द्विचरमसमय यावत् । चरमसमये त्वेष विकल्प —उच्चैर्गोत्रस्योदय उच्चैर्गोत्र सत् । नीचैर्गोत्र हि द्विचरमसमये एव क्षीणमिति चरमसमये न सत् प्राप्यते ॥

१ सामान्येन व्रत-जात्यो उच्चगोत्रस्य उदयो भवति ॥ २ सं० त० म० 'जाइ पडुच उ ॥

सम्प्रत्यायुर्भङ्गा निरूप्यन्ते, तन्निरूपणार्थं चेयमन्तर्भाष्यगाथा—

अट्ठच्छाहिगवीसा, सोलस वीस च बार छ द्दोसु।
दो चउसु तीसु एक्कं, मिच्छाइसु आउगे भंगा ॥ ४ ॥

मिथ्यादृष्ट्यादिषु गुणस्थानकेषु अयोगिकेवलिगुणस्थानकपर्यन्तेषु क्रमेणैतेऽष्टाधिकविंशत्यादय आयुषि भङ्गा । तत्र मिथ्यादृष्टिगुणस्थानकेऽष्टाधिका विंशतिरायुषो भङ्गा । मिथ्यादृष्टयो हि चतुर्गतिका अपि भवन्ति । तत्र नैरयिकानधिकृत्य पञ्च, तिरश्चोऽधिकृत्य नव, मनुष्यानप्यधिकृत्य नव, देवानधिकृत्य पञ्च, एते च प्रागेव सप्रपञ्च भाविता इति न भूयो भाव्यन्ते। सासादनस्य षडधिका विंशति, यतस्तिर्यञ्चो मनुष्या वा सासादनभावे वर्तमाना नरकायुर्न बध्नन्ति, तत प्रत्येक तिरश्चा मनुष्याणा च परभवायुर्बन्धकाले एकैको भङ्गो न प्राप्यत इति षड्विंशति । सम्यग्मिथ्यादृष्टे षोडश, सम्यग्मिथ्यादृष्टयो हि नायुर्बन्धमारभन्ते, तत आयुर्बन्धकाले नारकाणा यौ द्वौ भङ्गौ, ये च तिरश्चा चत्वार, ये च मनुष्याणामपि चत्वार, यौ च देवाना द्वौ, तानेतान् द्वादश वर्जयित्वा शेषा षोडश भवन्ति। अविरतसम्यग्दृष्टेर्विंशतिभङ्गा, कथम्? इति चेद् उच्यते—तिर्यङ्मनुष्याणा प्रत्येकमायुर्बन्धकाले ये नरक तिर्यङ्मनुष्यगतिविषयास्त्रयस्त्रयो भङ्गा, यश्च देव नैरयिकाणा प्रत्येकमायुर्बन्धकाले तिर्यग्गतिविषय एकैको भङ्ग, ते अविरतसम्यग्दृष्टेर्न सम्भवन्ति, तत शेषा विंशतिरेव भवति। देशविरतेर्द्वादश भङ्गा, यतो देशविरतिस्तिर्यङ्मनुष्याणामेव भवति, ते च तिर्यङ्मनुष्या देशविरता आयुर्बध्नन्तो देवायुरेव बध्नन्ति, न शेषमायु, ततस्तिरश्चा मनुष्याणा च प्रत्येक परभवायुर्बन्धकालात् पूर्वमेकैको भङ्ग, परभवायुर्बन्धकालेऽपि चैकैक, आयुर्बन्धोत्तरकाल च चत्वारश्चत्वार; यत केचित् तिर्यञ्चो मनुष्याश्च चतुर्णामेकमन्यतमदायुर्बद्ध्वा देशविरतिं प्रतिपद्यन्ते, ततस्तदपेक्षया यथोक्ताश्चत्वारश्चत्वारो भङ्गा प्राप्यन्ते, सर्वसङ्ख्यया द्वादश। "छ द्दोसु" त्ति 'द्वयो' प्रमत्ताऽप्रमत्तयो प्रत्येक षट् षट् भङ्गा। प्रमत्ताऽप्रमत्तसयता हि मनुष्या एव भवन्ति, तत आयुर्बन्धकालात् पूर्वमेक, आयुर्बन्धकालेऽप्येक, प्रमत्ताऽप्रमत्ता हि देवायुरेवैक बध्नन्ति न शेषमायु, बन्धोत्तरकाल च प्रागुक्तदेशविरतियुक्त्यनुसारेण चत्वार इति। "दो चउसु" त्ति 'चतुर्षु' अपूर्वकरणा-ऽनिवृत्तिबादर-सूक्ष्मसम्पराय-उपशान्तमोहरूपेषु गुणस्थानकेषूपशमश्रेणिमधिकृत्य प्रत्येक द्वौ द्वौ भङ्गौ, तद्यथा—मनुष्यायुष उदयो मनुष्यायुष सत्ता, एष विकल्प परभवायुर्बन्धकालात् पूर्वम्, अथवा मनुष्यायुष उदयो मनुष्य देवायुषी सती, एष विकल्प परभवायुर्बन्धोत्तरकालम्, एते ह्यायुर्न बध्नन्ति, अतिविशुद्धत्वात्। पूर्वबद्धे चायुषि उपशमश्रेणिं प्रतिपद्यन्ते देवायुष्येव नान्यायुषि । तदुक्त कर्मप्रकृतौ—

तिसु आउगेसु बद्धेसु जेण सेढिं न आरुहइ ॥ (गा० ३७५)

तत उपशमश्रेणिमधिकृत्य एतेषु द्वौ द्वावेव भङ्गौ। पूर्वबद्धायुष्कास्तु क्षपकश्रेणिं न प्रतिपद्यन्ते,

---

१ गाथेय सप्ततिकाभाष्ये नवादशमी ॥ २ मुद्रि० रस छ दोसु ॥ ३ स० १ त० म० र्णामन्य° ॥ ४ स० १ म० त० °रतियुग्मयु ॥ ५ त्रिष्वायुष्केषु बद्धेषु येन श्रेणिं न आरोहति ॥

तत उपशमश्रेणिमधिकृत्येत्युक्तम् । क्षपकश्रेण्यां त्वेतेषामेकैक एव भङ्ग, तद्यथा—मनुष्यायुष उदयो मनुष्यायुष सत्तेति । "तीसु एक्क" ति 'त्रिषु' क्षीणमोह-सयोगिकेवलि-अयोगिरूपेषु प्रत्येकमेकैको भङ्ग, तद्यथा—मनुष्यायुष उदयो मनुष्यायुष सत्ता । शेषा न सम्भवन्ति ।

तदेवमायुषो गुणस्थानकेषु भङ्गा निरूपिता, सम्प्रति मोहनीय प्रत्याह—

मोहं पर वोच्छं ॥ ४१ ॥

अत पर 'मोह' मोहनीय वक्ष्ये ॥ ४१ ॥

गुणठाणगेसु अट्ठसु, एक्केक्कं मोहबंधठाणेसु ।
पचानियट्टिठाणे, बंधोवरमो पर तत्तो ॥ ४२ ॥

मोहनीयसत्कबन्धस्थानेषु मध्ये एकैक बन्धस्थान मिथ्यादृष्ट्यादिषु अष्टसु गुणस्थानकेषु भवति, तद्यथा—मिथ्यादृष्टेर्द्वाविंशति सासादनस्यैकविंशति सम्यग्मिथ्यादृष्टेरविरतसम्यग्दृष्टेश्च प्रत्येक सप्तदश सप्तदश, देशविरतस्य त्रयोदश, प्रमत्ता-ऽप्रमत्ता-ऽपूर्वकरणाना प्रत्येक नव नव । एतानि च द्वाविंशत्यादीनि नवपर्यन्तानि बन्धस्थानानि प्रागेव सप्रपञ्च भावितानीति न भूयो भाव्यन्ते, विशेषाभावात् । केवलमप्रमत्ता-ऽपूर्वकरणयोर्भङ्ग एकैक एव वक्तव्य, अरति-शोकयोर्बन्धस्य प्रमत्तगुणस्थानके एव व्यवच्छेदात् । प्राक् च प्रमत्तापेक्षया नवकबन्धस्थाने द्वौ भङ्गौ दर्शितौ । "पचानियट्टिठाणे" अनिवृत्तिबादरसम्परायगुणस्थानके पञ्च बन्धस्थानानि, तद्यथा—पञ्च चतस्र तिस्र द्वे एका च प्रकृतिरिति । 'तत' अनिवृत्तिस्थानात् पर सूक्ष्मसम्परायादौ 'बन्धोपरम' बन्धाभाव ॥ ४२ ॥

सम्प्रत्युदयस्थानप्ररूपणार्थमाह—

सत्ताइ दस उ मिच्छे, सासायणमीसए नवुक्कोसा ।
छाई नव उ अविरए, देसे पचाइ अट्ठेव ॥ ४३ ॥
विरए खओवसमिए, चउराई सत्त छच्चऽपुव्वम्मि ।
अनियट्टिबायरे पुण, इक्को व दुवे व उदयसा ॥ ४४ ॥
एग सुहुमसरागो, वेएइ अवेयगा भवे सेसा ।
भगाण च पमाणं, पुव्वुद्दिट्ठेण नायव्वं ॥ ४५ ॥

मिथ्यादृष्टे सप्तादीनि दशपर्यन्तानि चत्वार्युदयस्थानानि भवन्ति, तद्यथा—सप्त अष्टौ नव दश । तत्र मिथ्यात्वम्, अप्रत्याख्यान प्रत्याख्यानावरण-संज्वलनक्रोधादीनामन्यतमे त्रय क्रोधादिका, त्रयाणा वेदानामन्यतमो वेद, हास्य-रति-युगला-ऽरति शोक-युगलयोरन्यतरद् युगलमित्येतासा सप्तप्रकृतीनामुदयो ध्रुव, अत्र चतुर्भि कषायैस्त्रिभिर्वेदैर्द्वाभ्या युगलाभ्या भङ्गा-

१ स० १ त० म० °योगिकेवलिषु° ॥ २ स० १ त० म० छा० प्राग्प्रम° ॥

श्चतुर्विंशति । तस्मिन्नेव सप्तके भये वा जुगुप्सायां वा अनन्तानुबन्धिनि वा प्रक्षिप्ते अष्टानामुदय, अत्र भयादौ प्रत्येकमेकैका चतुर्विंशति प्राप्यत इति तिस्रश्चतुर्विंशतय । तथा तस्मिन्नेव सप्तके भय-जुगुप्सयोरथवा भया-ऽनन्तानुबन्धिनोर्यद्वा जुगुप्सा-ऽनन्तानुबन्धिनो प्रक्षिप्तयोर्नवानामुदय, अत्राप्येकैकस्मिन् विकल्पे भङ्गाना चतुर्विंशति प्राप्यत इति तिस्रश्चतुर्विंशतय । तथा तस्मिन्नेव सप्तके भय-जुगुप्सा-ऽनन्तानुबन्धिषु युगपत् प्रक्षिप्तेषु दशानामुदय, अत्रैका भङ्गकानां चतुर्विंशति । सर्वसङ्ख्यया मिथ्यादृष्टावष्टौ चतुर्विंशतय । सासादने मिश्रे च सप्तादीनि 'नवोत्कर्षाणि' नवपर्यन्तानि त्रीणि त्रीण्युदयस्थानानि, तद्यथा—सप्त अष्टौ नव । तत्र सासादने अनन्तानुबन्धि-अप्रत्याख्यान प्रत्याख्यानावरण-संज्वलनक्रोधादीनामन्यतमे चत्वार क्रोधादिका, त्रयाणा वेदानामन्यतमो वेद, द्वयोर्युगलयोरन्यतरद् युगलमित्येतासा सप्तप्रकृतीनामुदयो ध्रुव, अत्र प्रागिवैका भङ्गकाना चतुर्विंशति । ततो भये वा जुगुप्सायां वा प्रक्षिप्तायां अष्टोदय, अत्र द्वे चतुर्विंशती भङ्गकानाम् । भय-जुगुप्सयोस्तु प्रक्षिप्तयोर्नवोदय, अत्रैका भङ्गकाना चतुर्विंशति । सर्वसङ्ख्यया सासादने चतस्रश्चतुर्विंशतय । मिश्रेऽनन्तानुबन्धिवर्जास्त्रयोऽन्यतमे क्रोधादिका, त्रयाणा वेदानामन्यतमो वेद, द्वयोर्युगलयोरन्यतरद् युगल, मिश्रमिति सप्ताना प्रकृतीनामुदयो ध्रुव, अत्रैका चतुर्विंशतिर्भङ्गकानाम् । ततो भये वा जुगुप्सायां वा प्रक्षिप्तायामष्टोदय, अत्र द्वे भङ्गकाना चतुर्विंशती । भय-जुगुप्सयोस्तु युगपत् प्रक्षिप्तयोर्नवानामुदय, अत्रैका चतुर्विंशतिर्भङ्गकानाम् । सर्वसङ्ख्यया मिश्रेऽपि चतस्रश्चतुर्विंशतय ।

"छाई नव उ अविरए" त्ति 'अविरते' अविरतसम्यग्दृष्टौ षडादीनि नवपर्यन्तानि चत्वार्युदयस्थानानि भवन्ति, तद्यथा—षट् सप्त अष्टौ नव । तत्रानन्तानुबन्धिवर्जास्त्रयोऽन्यतमे क्रोधादिका, त्रयाणा वेदानामन्यतमो वेद, द्वयोर्युगलयोरन्यतरद् युगलमिति षण्णा प्रकृतीनामुदयोऽविरतस्य क्षायिकसम्यग्दृष्टेरौपशमिकसम्यग्दृष्टेर्वा ध्रुव, अत्रैका चतुर्विंशतिर्भङ्गकानाम् । ततो भये वा जुगुप्सायां वा वेदकसम्यक्त्वे वा प्रक्षिप्ते सप्तानामुदय, अत्र तिस्रश्चतुर्विंशतय । तथा तस्मिन्नेव षट्के भय-जुगुप्सयोर्भय-वेदकसम्यक्त्वयोर्जुगुप्सा-वेदकसम्यक्त्वयोर्वा युगपत् प्रक्षिप्तयोरष्टानामुदय, अत्रापि तिस्रश्चतुर्विंशतय । तथा तस्मिन्नेव षट्के भय-जुगुप्सा-वेदकसम्यक्त्वेषु युगपत् प्रक्षिप्तेषु नवानामुदय, अत्रैका चतुर्विंशतिर्भङ्गकानाम् । सर्वसङ्ख्ययाऽविरत सम्यग्दृष्टावष्टौ चतुर्विंशतय ।

"देसे पचाइ अट्ठे व" त्ति 'देसे' देशविरते पञ्चादीनि अष्टपर्यन्तानि चत्वार्युदयस्थानानि, तद्यथा—पञ्च षट् सप्त अष्टौ । तत्र प्रत्याख्यानावरण-संज्वलनक्रोधादीनामन्यतमौ द्वौ क्रोधादिकौ, त्रयाणा वेदानामन्यतमो वेद, द्वयोर्युगलयोरन्यतरद् युगलमिति पञ्चाना प्रकृतीनामुदयो देशविरतस्य क्षायिकसम्यग्दृष्टेरौपशमिकसम्यग्दृष्टेर्वा भवति, अत्रैका भङ्गकाना चतुर्विंशति । ततो भये वा जुगुप्सायां वा वेदकसम्यक्त्वे वा प्रक्षिप्ते षण्णामुदय, अत्र तिस्रश्चतुर्विंशतय । तथा तस्मिन्नेव पञ्चके भय-जुगुप्सयोर्यद्वा जुगुप्सा-वेदकसम्यक्त्वयोरथवा भय-वेदकसम्यक्त्व-

१ सं० २ मंदि या शु ॥

योर्युगपत् प्रक्षिप्तयो सप्तानामुदय , अत्रापि तिस्रश्चतुर्विंशतय । तथा तस्मिन्नेव पञ्चके भय-जुगुप्सा-वेदकसम्यक्त्वेषु युगपत् प्रक्षिप्तेष्वष्टानामुदय , अत्रैका चतुर्विंशतिर्भङ्गकानाम् । सर्वसङ्ख्यया देशविरतेऽष्टौ चतुर्विंशतय ॥ ४३ ॥

तथा 'विरते क्षायोपशमिके' प्रमत्ते-ऽप्रमत्ते चेत्यर्थ , विरतो हि श्रेणेरधस्ताद्वर्तमान क्षायोपशमिको विरत इति व्यवह्रियते । ततश्च प्रमत्तेऽप्रमत्ते च प्रत्येक चतुरादीनि सप्तपर्यन्तानि चत्वारि चत्वार्युदयस्थानानि, तद्यथा—चतस्र पञ्च षट् सप्त । तत्र क्षायिकसम्यग्दृष्टेरौपशमिकसम्यग्दृष्टेर्वा प्रमत्तस्याप्रमत्तस्य च प्रत्येक सज्वलनक्रोधादीनामन्यतम एक क्रोधादि , त्रयाणा वेदानामन्यतमो वेद , द्वयोर्युगलयोरन्यतरद् युगलमिति चतसृणा प्रकृतीनामुदय , अत्रैका चतुर्विंशतिर्भङ्गकानाम् । ततो भये वा जुगुप्सायां वा वेदकसम्यक्त्वे वा प्रक्षिप्ते पञ्चानामुदय , अत्र तिस्रश्चतुर्विंशतयो भङ्गकानाम् । तथा तस्मिन्नेव चतुष्के भय-जुगुप्सयोर्यदि वा जुगुप्सा-वेदकसम्यक्त्वयोरथवा भय-वेदकसम्यक्त्वयोर्युगपत् प्रक्षिप्तयो षण्णामुदय , अत्रापि तिस्रश्चतुर्विंशतय । तथा तस्मिन्नेव चतुष्के भय-जुगुप्सा-वेदकसम्यक्त्वेषु युगपत् प्रक्षिप्तेषु सप्तानामुदय , अत्रैका चतुर्विंशतिर्भङ्गकानाम् । सर्वसङ्ख्यया प्रमत्तस्याप्रमत्तस्य च प्रत्येकमष्टावष्टौ चतुर्विंशतय ।

"छच्चऽपुव्वम्मि" अपूर्वकरणे चतुरादीनि षट्पर्यन्तानि त्रीण्युदयस्थानानि, तद्यथा—चतस्र पञ्च षट् । तत्र सज्वलनक्रोधादीनामन्यतम एक क्रोधादि , त्रयाणा वेदानामन्यतमो वेद , द्वयोर्युगलयोरन्यतरद् युगलमित्येतासा चतसृणा प्रकृतीनामुदयोऽपूर्वकरणे ध्रुव , अत्रैका चतुर्विंशतिर्भङ्गकानाम् । ततो भये वा जुगुप्सायां वा प्रक्षिप्तायां पञ्चानामुदय , अत्र द्वे चतुर्विंशती भङ्गकानाम् । भय-जुगुप्सयोस्तु युगपत् प्रक्षिप्तयो षण्णामुदय , अत्रैका भङ्गकाना चतुर्विंशति । सर्वसङ्ख्ययाऽपूर्वकरणे चतस्रश्चतुर्विंशतय ।

अनिवृत्तिबादरे पुनरेको द्वौ वा 'उदयांशौ' उदयभेदौ उदयस्थाने इत्यर्थ । तत्र चतुर्णां संज्वलनानामन्यतम एक क्रोधादि , त्रयाणा वेदानामन्यतमो वेद इति द्विकोदय[1]; अत्र त्रिभिर्वेदैश्चतुर्भि सज्वलनैर्द्वादश भेदा । ततो वेदोदयव्यवच्छेदे एकोदय , स च चतुर्विधबन्धे त्रिविधबन्धे द्विविधबन्धे एकविधबन्धे च प्राप्यते । तत्र यद्यपि प्राक् चतुर्विधबन्धे चत्वार त्रिविधबन्धे त्रय द्विविधबन्धे द्वौ एकविधबन्धे एक इति दश भङ्गा प्रतिपादितास्तथाप्यत्र सामान्येन चतु -त्रि-द्वि-एकबन्धापेक्षया चत्वार एव भङ्गा विवक्ष्यन्ते ॥ ४४ ॥

"एग सुहुमसरागो वेएइ" त्ति सूक्ष्मसम्परायो बन्धाभावे एक किट्टीकृतसज्वलनलोभ वेदयते, ततोऽत्रैक एव भङ्ग । एवमेकोदयभङ्गा सर्वसङ्ख्यया पञ्च । तथा 'शेषा ' उपरितना उपशान्तमोहादय सर्वेऽप्यवेदका ।

"भगाण च पमाण" इत्यादि । अत्र मिथ्यादृष्ट्यादिषु गुणस्थानकेषु उदयस्थानभङ्गाना

---

१ मुद्रि० छा० °नानि भवन्ति, तद° ॥

प्रमाण 'पूर्वोद्दिष्टे' पूर्वोक्तेन प्राक् सामान्यनिर्दिष्टमोहनीयोदयस्थानचिन्ताधिकारोक्तेन प्रकारेण ज्ञातव्यम् ॥ ४५ ॥

सम्प्रति मिथ्यादृष्ट्यादीनधिकृत्य दशादिष्वेकपर्यवसानेषु उदयस्थानेषु भङ्गसङ्ख्यानिरूपणार्थमाह—

एक छक्केक्कारेक्कारसेव एक्कारसेव नव तिन्नि ।
एए चउवीसगया, बार दुगे पंच एक्कम्मि ॥ ४६ ॥

इह दशादीनि चतुरन्तानि उदयस्थानान्यधिकृत्य यथासङ्ख्यमेकादिसङ्ख्यापदयोजना कर्तव्या। सा चैवम्—दशोदये एका चतुर्विंशति । नवोदये षट्—तत्र मिथ्यादृष्टौ तिस्र, सासादने मिश्रेऽविरते च प्रत्येकमेकैका । अष्टोदये एकादश—तत्र मिथ्यादृष्टौ अविरते च प्रत्येक तिस्र तिस्र, सासादने मिश्रे च प्रत्येक द्वे द्वे, देशविरते चैका । सप्तोदये एकादश—तत्र मिथ्यादृष्टौ सासादने मिश्रे प्रमत्तेऽप्रमत्ते च प्रत्येकमेकैका, अविरते देशविरते च प्रत्येक तिस्र स्तिस्र । षडुदये एकादश—तत्राविरतसम्यग्दृष्टौ अपूर्वकरणे च प्रत्येकमेकैका, देशविरते प्रमत्तेऽप्रमत्ते च प्रत्येक तिस्रस्तिस्र । पञ्चकोदये नव—तत्र देशविरते एका, प्रमत्तेऽप्रमत्ते च प्रत्येक तिस्रस्तिस्र, अपूर्वकरणे द्वे। चतुरुदये तिस्र —प्रमत्तेऽप्रमत्तेऽपूर्वकरणे च प्रत्येकमेकैका। 'एते' अनन्तरोक्ता एकादिका सङ्ख्याविशेषा 'चतुर्विंशतिगता' चतुर्विंशत्यभिधायका, एता अनन्तरोक्ताश्चतुर्विंशतयो ज्ञातव्या इत्यर्थ । एताश्च सर्वसङ्ख्यया द्विपञ्चाशत् ५२ । 'द्विके' द्विकोदये भङ्गा द्वादश, एकोदये पञ्च, एते च प्रागेव भाविता ॥

सम्प्रत्येतेषामेव भङ्गाना विशिष्टतरसङ्ख्यानिरूपणार्थमाह—

बारसपणसट्ठसया, उदयविगप्पेहिं मोहिया जीवा ।

इह दशादिषु चतु पर्यवसानेषु उदयस्थानेषु भङ्गकाना द्विपञ्चाशत् चतुर्विंशतयो लब्धा । ततो द्विपञ्चाशत् चतुर्विंशत्या गुण्यते, गुणिताया च सत्या द्विकोदयभङ्गा द्वादश एकोदयभङ्गा पञ्च प्रक्षिप्यन्ते, ततो द्वादश शतानि पञ्चषष्ट्यधिकानि १२६५ भवन्ति । एतैरुदयविकल्पैर्यथा योग सर्वे ससारिणो जीवा 'मोहिता' मोहमापादिता विज्ञेया ॥

सम्प्रति पदसङ्ख्यानिरूपणार्थमाह—

चुलसीईसत्तत्तरिपयविंदसएहिं विन्नेया ॥ ५ ॥

---

१ मुद्रि० °मान्येनोक्तमोह° । छा० °मा योक्तमोह° ॥

२ "एएसि उदयविगप्पपयवदनिरूवणत्थमन्तर्भाष्यगाथा—बारसपणसट्ठसया०" इत्यनेन सप्ततिका चूर्णिगतावतरणेन गाथेय चूर्णिकृताऽन्तर्भाष्यगाथात्वेनोपात्ताऽपि टीकाकारैर्नान्तर्भाष्यगाथात्वेनो ल्लिखिता तथाप्यस्माभिश्चूर्णिमनुसृत्यान्तर्भाष्यगाथात्वेनोपस्थापितेय गाथा ॥

३ स० स० १ स० २ °सर्वस° ॥ ४ स० १ °सीइसत्तसत्त । म० °सीइसत्तदम° ॥ ५ स० स० २ °यवद° ॥

इह पदानि नाम—मिथ्यात्वम् अप्रत्याख्यानक्रोध प्रत्याख्यानावरणक्रोध इत्येवमादीनि, ततो वृन्दाना—दशाद्युदयस्थानरूपाणा पदानि पदवृन्दानि, आर्षत्वाद् राजवन्तादिषु मध्ये पाठाभ्युपगमाद्वा वृन्दशब्दस्य परनिपात , तेषा शतै सप्तसप्तत्यधिकचतुरशीतिशतसङ्ख्यै ८४७७ मोहिता संसारिणो जीवा विनेया', एतावत्सङ्ख्याभि' कर्मप्रकृतिभिर्यथायोग मोहिता जीवा ज्ञातव्या इत्यर्थ । अथ कथ सप्तसप्तत्यधिकानि चतुरशीतिशतानि ८४७७ पदाना भवन्ति ? उच्यते— इह दशोदये दश पदानि दश प्रकृतय उदयमागता इत्यर्थ , एव नवोदयादिष्वपि नवादीनि पदानि भावनीयानि । ततो दशोदय एको दशभिर्गुण्यते, नवोदया षड् नवभि , अष्टोदया एकादश अष्टभि , सप्तोदया एकादश सप्तभि , षडुदया एकादश षड्भि , पञ्चकोदया नव पञ्चभि , चतुरुदयास्त्रयश्चतुर्भि , गुणयित्वा चैते सर्वेऽप्येकत्र मील्यन्ते, जातानि द्विपञ्चाशदधिकानि त्रीणि शतानि ३५२ । एतानि च चतुर्विंशतिगतानि प्राप्यन्ते इति चतुर्विंशत्या गुण्यन्ते । ततो द्विकोदयपदानि चतुर्विंशति एकोदयपदानि च पञ्च प्रक्षिप्यन्ते ततस्तेषु प्रक्षिप्तेषु यथोक्तसङ्ख्यान्येव पदाना शतानि ८४७७ भवन्ति ॥

सम्प्रति मिथ्यादृष्ट्यादिषु प्रत्येकमुदयभङ्गनिरूपणार्थं भाष्यकृदन्तर्गाथामाह—

अट्ठग चउ चउ चउरट्ठगा य चउरो य होंति चउवीसा ।
मिच्छाइ अपुव्वता, बारस पणग च अनियट्टे ॥ ६ ॥

मिथ्यादृष्ट्यादयोऽपूर्वकरणान्ता अष्टादिचतुर्विंशतयो भवन्ति । किमुक्त भवति ?—मिथ्यादृष्ट्यादिष्वपूर्वकरणपर्यवसानेषु गुणस्थानकेषु चतुर्विंशतयो यथासङ्ख्य अष्टादिसङ्ख्या भवन्ति । तत्र मिथ्यादृष्टावष्टौ, सासादने चतस्र , मिश्रे चतस्र । "चउरट्ठग" त्ति अविरतादिषु अप्रमत्तपर्यवसानेषु चतुर्षु गुणस्थानकेषु प्रत्येकमष्टावष्टौ । अपूर्वकरणे चतस्र , एताश्च प्रागेव भाविता । 'अनियट्टी' अनिवृत्तिबादरे द्विकोदये द्वादश भङ्गा एकोदये च पञ्च । चशब्दोऽनिवृत्तिबादरे एकोदये चत्वार एव सूक्ष्मसम्पराय इति विशेष द्योतयति ॥ ४६ ॥

सम्प्रत्येतेषामेवोदयभङ्गानामुदयपदाना च योगोपयोगादिभिर्गुणनार्थमुपदेशमाह—

जोगोवओगलेसाइएहिं गुणिया हवंति कायव्वा ।
जे जत्थ गुणट्ठाणे, हवंति ते तत्थ गुणकारा ॥ ४७ ॥

मिथ्यादृष्ट्यादिषु गुणस्थानकेषु ये योगोपयोगादयस्तैरुदयभङ्गा गुणिता कर्त्तव्या', तैरुदयभङ्गा गुणयितव्या इत्यर्थ । कतिसङ्ख्यैर्गुणयितव्या ? इत्यत आह—ये योगादयो यस्मिन् गुणस्थानके यावन्तो भवन्ति तावन्तस्तस्मिन् गुणस्थानके गुणकारा , तैस्तावद्भिस्तस्मिन् गुणस्थानके उदयभङ्गा गुणयितव्या इत्यर्थ । तत्र प्रथमतो योगैर्गुणनभावना क्रियते—

१ म० १ त० म० °दयोऽत्र स दश । स० २ स० छा० दयो दश° ॥ २ स० १ त० म० °थायोग अ° ॥ ३ स० स० २ छा० मुद्रि० °ट्ठाणेसु हाति ते त° ॥

इह मिथ्यादृष्ट्यादिषु सूक्ष्मसम्परायपर्यवसानेषु सर्वसंख्ययोदयभङ्गा पञ्चषष्ट्यधिकानि द्वादश शतानि १२६५ । तत्र वाग्योगचतुष्टय-मनोयोगचतुष्टय-औदारिककाययोगा सर्वेष्वपि मिथ्या-दृष्ट्यादिषु दशसु गुणस्थानकेषु सम्भवन्तीति ते नवभिर्गुण्यन्ते, ततो जातान्येकादश सहस्राणि त्रीणि च शतानि पञ्चाशीत्यधिकानि ११३८५ । तथा मिथ्यादृष्टेर्वैक्रियकाययोगेऽपि चतुर्विंशतय प्राप्यन्ते, वैक्रियमिश्रे औदारिकमिश्रे कार्मणकाययोगे च प्रत्येक चतस्रश्चतस्र, एताश्च या अनन्तानुबन्ध्युदयसहितास्ता एव द्रष्टव्या । यास्त्वनन्तानुबन्ध्युदयरहितास्ता अत्र न प्राप्यन्ते । किं कारणम् ? इति चेद् उच्यते—इह येन पूर्वं वेदकसम्यग्दृष्टिना सता अनन्तानुबन्धिनो विसयोजिता विसयोज्य च परिणामपरावृत्त्या सम्यक्त्वात् प्रच्युत्य मिथ्यात्व गतेन भूयोऽप्यनन्तानुबन्धिनो बन्धुमारभ्यन्ते तस्यैव मिथ्यादृष्टेर्बन्धावलिकामात्र काल यावदनन्तानुबन्ध्युदयो न प्राप्यते, न शेषस्य, अनन्तानुबन्धिनश्च विसयोज्य भूयोऽपि मिथ्यात्व प्रतिपद्यते जघन्यतोऽप्यन्तर्मुहूर्तावशेषायुष्क एव, अनन्तानुबन्ध्युदयरहितस्य मिथ्यादृष्टे कालकरणमति षेधात् । तथोक्तम्—

कुणइ ज न सो काल । (   ) इति ।

ततस्तस्मिन्नेव भवे वर्तमानो मिथ्यात्वमस्ययेन भूयोऽप्यनन्तानुबन्धिनो बध्नाति, बन्धावलिकातीताश्च प्रवेदयते । ततोऽपान्तरालगतौ वर्तमानस्य भवान्तरे वा प्रथमत उत्पन्नस्य मिथ्यादृष्टे सतोऽनन्तानुबन्ध्युदयरहिता उदयविकल्पा न प्राप्यन्ते । अत्र च कार्मणकाययोगोऽपान्तरालगतौ औदारिकमिश्रकाययोग-वैक्रियमिश्रकाययोगौ च भवान्तरे उत्पद्यमानस्य, तत कार्मणकाययोगादौ प्रत्येक चतस्रश्चतस्रश्चतुर्विंशतयोऽनन्तानुबन्ध्युदयरहिता न प्राप्यन्ते । 'वैक्रियमिश्रकाययोगो भवान्तरे प्रथमत एवोत्पद्यमानस्य भवति' इति यदुक्त तद् बाहुल्यमाश्रित्योक्तम्, अन्यथा तिर्यङ्-मनुष्याणामपि मिथ्यादृशा वैक्रियकारिणा वैक्रियमिश्रमवाप्यत एव, पर चूर्णिकृता तद् नात्र विवक्षितमित्यस्माभिरपि न विवक्षितम्, एवमुत्तरत्रापि चूर्णिकारमार्गानुसरण परिभावनीयम् । तथा सासादनस्य कार्मणकाययोगे वैक्रियकाययोगे औदारिकमिश्रकाययोगे च प्रत्येक चतस्रश्चतस्रश्चतुर्विंशतय, सम्यग्मिथ्यादृष्टेर्वैक्रियकाययोगे चतस्र, अविरतसम्यग्दृष्टेर्वैक्रियकाययोगेऽष्टौ, देशविरतस्य वैक्रिये वैक्रियमिश्रकाययोगे च प्रत्येकमष्टावष्टौ, प्रमत्तसयतस्यापि वैक्रिये वैक्रियमिश्रे च प्रत्येकमष्टावष्टौ, अप्रमत्तसयतस्य वैक्रियकाययोगेऽष्टौ, सर्वसख्यया चतुरशीतिश्चतुर्विंशतय । चतुरशीतिश्चतुर्विंशत्या गुणिता जातानि षोडशाधिकानि विंशतिशतानि २०१६, तानि पूर्वराशौ प्रक्षिप्यन्ते । तथा सासादनस्य वैक्रियमिश्रे वर्तमानस्य ये चत्वारोऽप्युदयस्थानविकल्पा, तद्यथा—सप्तोदय एकविध अष्टोदयो द्विविधो नवोदय एकविध, अत्र नपुसकवेदो न लभ्यते, वैक्रियकाययोगिषु नपुसकवेदिषु मध्ये सासादनस्यो

१ स० स० १ स० २ त० °सख्योदय° ॥ २ स० स० २ °षु गुण° ॥ ३ स० १ सं० २ त० म० °नि नवभि° ॥ ४ करोति यद् न स कालम् ॥ ५ स० स० २ छा० मुद्रि० क्षय च ॥ ६ स० स० १ स० २ त० म० यया ॥ ७ स० १ त० म० समधिका ॥

रपादाभावत् । ये चाविरतसम्यग्दृष्टेर्वैक्रियमिश्रे[1] कार्मणकाययोगे च प्रत्येकमष्टावष्टौ उदयस्थानविकल्पा एषु[2] स्त्रीवेदो न लभ्यते, वैक्रियकाययोगिषु स्त्रीवेदिषु मध्येऽविरतसम्यग्दृष्टेरुत्पादाभावात् । एतच्च प्रायोवृत्तिमाश्रित्योक्तम्, अन्यथा कदाचित् स्त्रीवेदिष्वपि[3] मध्ये तदुत्पादो भवति । उक्त च चूर्णौ—

कयाइ[4] होज्ज इत्थिवेयगेसु वि । (   ) इति ।

प्रमत्तसंयतस्य आहारककाययोगे आहारकमिश्रकाययोगे च अप्रमत्तसंयतस्य आहारक काययोगे ये प्रत्येकमष्टावष्टावुदयस्थानविकल्पास्तेऽपि स्त्रीवेदरहिता वेदितव्या, आहारक[5] हि चतुर्दशपूर्विणो भवति, "आहार चोद्दसपुव्विणो उ" (   ) इति वचनात्, न च स्त्रीणा चतुर्दशपूर्वाधिगम सम्भवति, सूत्रे प्रतिषेधात् । तदुक्तम्—

तुच्छा[6] गारववहुला, चलिंदिया दुव्वला य धीईए ।
इय अइसेसज्झयणा, भूयावाओ य नो थीण ॥ (वृ० कप्प० गा० १४६)

भूतवादो नाम दृष्टिवाद । एते सर्वेऽप्युदयस्थानविकल्पा सर्वसङ्ख्यया चतुश्चत्वारिंशत् ४४ । एतेषु चोक्तप्रकारेण द्वौ द्वावेव वेदौ लब्धौ, तत प्रत्येक षोडश षोडश भङ्गा, ततश्चतुश्चत्वारिंशत् षोडशभिर्गुण्यते जातानि सप्त शतानि चतुरधिकानि ७०४, तानि पूर्वराशौ प्रक्षिप्यन्ते । तथाऽविरतसम्यग्दृष्टेरौदारिकमिश्रकाययोगे येऽष्टावुदयस्थानविकल्पास्ते पुवेदसहिता एव प्राप्यन्ते, न स्त्रीवेद-नपुसकवेदसहिता, तिर्यग्-मनुष्येषु स्त्रीवेद-नपुसकवेदिषु मध्येऽविरतसम्यग्दृष्टेरुत्पादाभावात्, एतच्च प्राचुर्यमाश्रित्योक्तम्, तेन मल्लिस्वामिन्यादिभिर्न व्यभिचार । एतेषु चैकेन वेदेन प्रत्येकमष्टावष्टावेव भङ्गा लभ्यन्ते, ततोऽष्टौ अष्टभिर्गुण्यन्ते जाताश्चतुःषष्टि ६४, सा च पूर्वराशौ प्रक्षिप्यते, तत आगतानि चतुर्दश सहस्राणि शत चैकोनसप्तत्यधिकम् १४१६९ । एतावन्तो मिथ्यादृष्ट्यादिषु सूक्ष्मसम्परायपर्यवसानेषु गुणस्थानकेषु उदयभङ्गा योगगुणिता प्राप्यन्ते । तदुक्तम्—

चउदस[8] य सहस्साइ, सय च गुणहत्तर उदयमाण १४१६९ । (   )

सम्प्रति पदवृन्दानि योगगुणितानि भाव्यन्ते । तत्रोदयपदप्ररूपणार्थमियमन्तर्भाष्यगाथा—

अट्ठट्ठी[9] बत्तीस, बत्तीस सट्ठिमेव बावन्ना ।
चोयाल चोयालं, वीसा वि य मिच्छमाईसु ॥ ७ ॥

---

1 स० १ त० म० श्रे वर्तमानस्य कार्म ॥ 2 स० १ त० म० एतेषु ॥ 3 स० १ त० म० छा० °स्त्रीवेदेष्व° ॥ 4 कदाचिद् भवेत् स्त्रीवेदकेष्वपि ॥ 5 आहारक चतुर्दशपूर्विणस्तु ॥ 6 तुच्छा गौरवबहुला चलेन्द्रिया दुर्बलाश्च धृत्या । इत्यतिशेषाध्ययना भूतवादश्च नो स्त्रीणाम् ॥ 7 मुद्रि० °पु अपूर्वकरण° ॥ 8 चतुर्दश च सहस्राणि शत च एकोनसप्ततमुदयमानम् ॥ 9 गाथेय वृत्तिकृद्भिरन्तर्भाष्यगाथात्वेनो ल्लिखिताऽपि चूर्णिकृद्भिर्नान्तर्भाष्यगाथात्वेन निर्दिष्टा ॥

मिथ्यादृष्ट्यादिष्वपूर्वकरणपर्यवसानेषु यथाम॰ष्टपञ्चादिसङ्ख्यानि उत्थपदानि भवन्ति, तथाहि—मिथ्यादृष्टौ चत्वार्युदयस्थानानि, तद्यथा—सप्त अष्टौ नव दश। तत्र दशोदय एको दशभिर्गुण्यते, जाता दश, नवोदयास्त्रयो नवभि, जाता सप्तविंशति, अष्टोदयास्त्रयोऽष्टभि, जाता चतुर्विंशति, सप्तोदयश्चैक सप्तभि, जाता सप्त, सर्वसङ्ख्यया अष्टषष्टि ६८। एवं द्वात्रिंशदादीनामपि उदयपदाना भावना कर्तव्या। सर्वसङ्ख्यया त्रीणि शतानि द्विपञ्चाशदधिकानि ३५२। एतानि चतुर्विंशतिगतानीति चतुर्विंशत्या गुण्यन्ते, जातानि अष्टचत्वारिंशदधिकानि चतुरशीतिशतानि ८४४८। द्विकोदया द्वादश द्वाभ्या गुण्यन्ते, जाता चतुर्विंशति, एकोदयपदानि पञ्च, सर्वसङ्ख्यया एकोनत्रिंशत्। सा च पूर्वराशौ प्रक्षिप्यते, ततो जातानि सप्तसप्तत्यधिकानि चतुरशीतिशतानि ८४७७। एतानि वाग्योगचतुष्टय मनोयोगचतुष्टय-औदारिककाययोगसहितानि प्राप्यन्ते इति नवभिर्गुण्यन्ते, जातानि षट्सप्ततिसहस्राणि द्वे शते त्रिनवत्यधिके ७६२९३। ततो वैक्रियकाययोगे मिथ्यादृष्टेरष्टषष्टिसङ्ख्यानि उदयपदानि, एतानि च प्राग्वद् भावनीयानि। वैक्रियमिश्रे औदारिकमिश्रे कार्मणकाययोगे च प्रत्येक षट्त्रिंशत् षट्त्रिंशदुदयपदानि। वैक्रियमिश्रादौ हि उदयपदान्यनन्तानुबन्ध्युदयसहितान्येव प्राप्यन्ते, न शेषाणि, कारण प्रागेवोक्तम्, तत षट्त्रिंशत् षट्त्रिंशदेव भवन्ति। तथाहि—एकोऽष्टोदयो द्वौ नवोदयौ एको दशोदयोऽनन्तानुबन्धिसहित प्राप्यते। ततोऽष्टोदय एकोऽष्टभिर्गुण्यते, तत्राष्टौ पदानि सन्तीति कृत्वा, ततो जाता अष्टौ, नवोदयौ द्वौ नवभि, जाता अष्टादश, दशोदय एको दशभि, जाता दश, सर्वसङ्ख्यया षट्त्रिंशत्। एवमन्यत्रापि भावना स्वधिया कर्तव्या। सासादनस्य वैक्रियकाययोगे औदारिकमिश्रे कार्मणकाययोगे च द्वात्रिंशद् द्वात्रिंशत्। सम्यग्मिथ्यादृष्टेर्वैक्रियकाययोगे द्वात्रिंशत्। अविरतसम्यग्दृष्टेर्वैक्रियकाययोगे षष्टि ६०। देशविरतस्य वैक्रिये वैक्रियमिश्रकाययोगे च प्रत्येक द्विपञ्चाशद् द्विपञ्चाशत्। प्रमत्तसयतस्य वैक्रिये वैक्रियमिश्रे च प्रत्येक चतुश्चत्वारिंशत् चतुश्चत्वारिंशत्। अप्रमत्तसयतस्य वैक्रियकाययोगे चतुश्चत्वारिंशत्। सर्वसङ्ख्यया षट् शतानि ६००। एतानि च चतुर्विंशतिगतानीति चतुर्विंशत्या गुण्यन्ते, जातानि चतुर्दश सहस्राणि चत्वारि शतानि १४४००। एतानि पूर्वराशौ प्रक्षिप्यन्ते। तथा[1] सासादनस्य वैक्रियमिश्रे द्वात्रिंशदुदयपदानि, एतेषु नपुसकवेदो न लभ्यते, युक्तिरत्र प्रागेवोक्ता। अविरतसम्यग्दृष्टेर्वैक्रियमिश्रे[2] कार्मणकाययोगे च प्रत्येक षष्टि षष्टि, अत्र स्त्रीवेदो न लभ्यते, कारण प्रागेवोक्तम्। प्रमत्तसयतस्य आहारके आहारकमिश्रे च प्रत्येक चतुश्चत्वारिंशत् चतुश्चत्वारिंशत्। अप्रमत्तसयतस्याहारककाययोगे चतुश्चत्वारिंशत्, अत्रापि स्त्रीवेदो न लभ्यते, युक्ति[3] प्रागेवोक्ता। सर्वसङ्ख्यया द्वे शते चतुरशीत्यधिके २८४। एतानि चोक्तप्रकारेण [4]द्विवेदसहितान्येव प्राप्यन्ते इति द्विवेदसम्भवे षोडशभिर्गुण्यन्ते जातानि चतुश्चत्वारिंशदधिकानि पञ्चचत्वारिंशच्छतानि ४५४४, तानि पूर्वराशौ प्रक्षिप्यन्ते। अविरतसम्यग्दृष्टेरौदारिकमिश्रकाययोगे षष्टिरुदयपदानि। एतानि

१ स० १ त० म० छा० °न्ध्युदय° ॥ २ स० १ त० म० छा० °क्रिये वैक्रियमि° ॥
३ छा० मुद्रि° युक्तिरत्र प्रा ॥ ४ स० १ त० म० द्विविधवेद° ॥

पुरुषवेदे एव प्राप्यन्ते, न स्त्रीवेदनपुंसकवेदयो, कारणमत्र प्रागेवोक्तम्, तत एतानि अष्टभिर्गुण्यन्ते जातानि चत्वारि शतानि अशीत्यधिकानि ४८० । एतान्यपि पूर्वराशौ प्रक्षिप्यन्ते, ततो जात पूर्वराशि पञ्चनवतिसहस्राणि सप्त शतानि सप्तदशाधिकानि ९५७१७ । एतावन्ति योगगुणितानि पदवृन्दानि । उक्त च—

सत्तरसा सत्त सया, पणनउइसहस्स पयसंखा । ९५७१७ ( )

सम्प्रत्युपयोगगुणिता उदयभङ्गा भाव्यन्ते—तत्र मिथ्यादृष्टौ सासादने च प्रत्येक मत्यज्ञान-श्रुताज्ञान विभङ्गज्ञान-चक्षु -अचक्षुर्दर्शनरूपा पञ्च पञ्च उपयोगा । सम्यग्मिथ्यादृष्टि-अविरतसम्यग्दृष्टि-देशविरताना मति श्रुता-ऽवधिज्ञान-चक्षु -अचक्षु -अवधिदर्शनरूपा प्रत्येक षट् षट् । प्रमत्तादीना सूक्ष्मसम्परायान्ताना त एव षड् मन पर्यवज्ञानसहिता सप्त । मिथ्यादृष्ट्यादिषु च चतुर्विंशतिगता उदयस्थानविकल्पा "अट्ठग चउ चउ चउरट्ठगा य" (अन्तर्भाष्यगा० ६) इत्यादिना ये प्राग् उक्तास्ते यथायोगमुपयोगैर्गुण्यन्ते, तद्यथा—मिथ्यादृष्टेरष्टौ सासादने चत्वार मिलिता द्वादश, ते पञ्चभिरुपयोगैर्गुण्यन्ते जाता षष्टि ६० । मिश्रस्य चत्वार उदयस्थानविकल्पा, अविरतसम्यग्दृष्टेरष्टौ, देशविरतस्याप्यष्टौ, सर्वसङ्ख्यया विंशति, सा च षड्भिरुपयोगैर्गुण्यते जात विंश शतम् १२० । तथा प्रमत्तस्याष्टौ उदयस्थानविकल्पा, अप्रमत्तस्याप्यष्टौ, अपूर्वकरणस्य चत्वार, सर्वे मिलिता विंशति, सा सप्तभिरुपयोगैर्गुण्यते जात चत्वारिंश शतम् १४० । सर्वसङ्ख्यया त्रीणि शतानि विंशानि ३२० । ये त्वाचार्या मिश्रेऽपि मत्यज्ञान-श्रुताज्ञान-विभङ्गज्ञान-चक्षुर्दर्शना-ऽचक्षुर्दर्शनरूपान् पञ्चैवोपयोगान् इच्छन्ति तेषा मतेन त्रीणि शतानि षोडशोत्तराणि ३१६ । एतानि चतुर्विंशतिगतानीति चतुर्विंशत्या गुण्यन्ते, ततो जातानि अशीत्यधिकानि षट्सप्ततिशतानि ७६८०, मतान्तरेण पञ्चसप्ततिशतानि चतुरशीत्यधिकानि ७५८४ । ततो द्विकोदयभङ्गा द्वादश, एकोदयभङ्गा पञ्च, सर्वे मिलिता सप्तदश, ते सप्तभिर्गुण्यन्ते जातमेकोनविंश शतम् ११९ । तत् पूर्वराशौ प्रक्षिप्यते तत पूर्वराशिर्जातो नवनवत्यधिकानि सप्तसप्ततिशतानि ७७९९, मतान्तरेण सप्तसप्ततिशतानि त्र्युत्तराणि ७७०३ । उक्त च—

उदयाणुवओगेसु, सगसयरिसया तिउत्तरा होंति । ७७०३ ( )

एतावन्त उपयोगगुणिता उदयभङ्गा ।

सम्प्रति पदवृन्दानि उपयोगगुणितानि भाव्यन्ते—तत्रोदयस्थानपदानि चतुर्विंशतिगतानि "अट्ठट्ठी बत्तीसं" (अन्तर्भाष्यगा० ७) इत्यादिना यानि प्राग् उक्तानि तानि यथायोगमुपयोगैर्गुण्यन्ते । तत्र मिथ्यादृष्टेरष्टषष्टिरुदयस्थानपदानि, सासादनस्य द्वात्रिंशत्, मिलितानि शतम् १००, तत् पञ्चभिरुपयोगैर्गुण्यते जातानि पञ्च शतानि ५०० । सम्यग्मिथ्यादृष्टेर्द्वात्रिंशत्, अविरतसम्यग्दृष्टे षष्टि, देशविरतस्य द्विपञ्चाशत्, सर्वमीलने चतुश्चत्वारिंश शतम् १४४, एतद् षड्भिरु-

१ सप्तदशानि सप्त शतानि पञ्चनवतिसहस्राणि पदसंख्या ॥ २ स० सं० २ त० छा० °ष्ट सप्त । मि°॥ ३ स० १ त० म० मते त्री° ॥ ४ इत कर्मस्त-छा० ग्रन्थाग्रम् ३४१८ ॥ ५ उदयानामुपयोगेषु सप्तसप्ततिशतानि त्र्युत्तराणि भवन्ति ॥

पयोगैर्गुण्यते जातान्यष्टौ शतानि चतु षष्ट्यधिकानि ८६४। प्रमत्तस्य चतुश्चत्वारिंशत्, अप्रमत्तस्य चतुश्चत्वारिंशत्, अपूर्वकरणस्य विंशति, सर्वसङ्ख्यया अष्टाधिक शतम् १०८, एतत् सप्तभिरुप योगैर्गुण्यते जातानि सप्त शतानि षट्पञ्चाशदधिकानि ७५६। सर्वसङ्ख्यया विंशान्येकविंशति शतानि २१२०। ये तु मिथ्यादृष्टाविव मिश्रेऽपि पञ्चोपयोगान् इच्छन्ति तन्मतेन सर्वसङ्ख्यया विंशतिशतान्यष्टाशीत्यधिकानि २०८८। एतानि चतुर्विंशतिगतानीति चतुर्विंशत्या गुण्यन्ते जातानि पञ्चाशत् सहस्राणि अष्टौ शतानि अशीत्यधिकानि ५०८८०, मतान्तरेण पञ्चाशत् सहस्राणि द्वादशोत्तरशताधिकानि ५०११२। ततो द्विकोदयपदानि चतुर्विंशति, एकोदयपदानि पञ्च, सर्वमीलने एकोनत्रिंशत्, सा सप्तभिरुपयोगैर्गुण्यते जाते त्र्युत्तरे द्वे शते २०३। ते पूर्वराशौ प्रक्षिप्येते ततो जात पूर्वराशिरेकपञ्चाशत् सहस्राणि त्र्यशीत्यधिकानि ५१०८३, मतान्तरेण पुन पञ्चाशत् सहस्राणि त्रीणि शतानि पञ्चदशोत्तराणि ५०३१५। उक्त च—

पन्नासं च सहस्सा, तिन्नि सया चेव पन्नारा। ५०३१५ ( )

एतावन्त्युपयोगगुणितानि पदवृन्दानि।

सम्प्रति लेश्यागुणिता उदयभङ्गा भाव्यन्ते—तत्र मिथ्यादृष्ट्यादिष्वविरतसम्यग्दृष्टिपर्यन्तेषु प्रत्येक षट् षड् लेश्या, देशविरत-प्रमत्ताऽप्रमत्तेषु तेज-पद्म शुक्लरूपास्तिस्रस्तिस्र, कृष्णादि लेश्यासु देशविरत्यादिप्रतिपत्तेरभावात्। अपूर्वकरणादौ एका शुक्ललेश्या। मिथ्यादृष्ट्यादिषु च ये चतुर्विंशतिगता उदयस्थानविकल्पा अष्ट चतुरादिसङ्ख्यास्ते यथायोग लेश्याभिर्गुण्यन्ते। तद्यथा—मिथ्यादृष्टेरष्टावुदयस्थानविकल्पा, सासादनस्य चत्वार, सम्यग्मिथ्यादृष्टेश्चत्वार, अविरतसम्यग्दृष्टेरष्टौ, मीलिताश्चतुर्विंशति, सा च षड्भिर्लेश्याभिर्गुण्यते जात चतुश्चत्वारिंश शतम् १४४। तथा देशविरतस्याष्टौ, प्रमत्तस्याष्टौ, अप्रमत्तस्यापि चाष्टौ, सर्वसङ्ख्यया चतुर्विंशति, सा त्रिभिर्लेश्याभिर्गुण्यते जाता द्विसप्तति ७२। अपूर्वकरणे चतस्र, अत्रैकैव लेश्या, एकेन च गुणित तदेव भवतीति चत्वार एव। सर्वमिलिता द्वे शते विंशत्यधिके २२०। एते चतुर्विंश तिगते इति चतुर्विंशत्या गुण्येते, जातानि अशीत्यधिकानि द्विपञ्चाशच्छतानि ५२८०। ततो द्विकोदया द्वादश, एकोदया पञ्च, मिलिता सप्तदश। ते पूर्वराशौ प्रक्षिप्यन्ते, ततो जातानि सप्तनवत्यधिकानि द्विपञ्चाशच्छतानि ५२९७। एतावन्तो लेश्यागुणिता उदयभङ्गा।

सम्प्रति लेश्यागुणितानि पदवृन्दानि भाव्यन्ते—तत्रोदयस्थानपदानि चतुर्विंशतिगतानि मिथ्यादृष्टौ अष्टषष्टि, सासादने द्वात्रिंशत्, मिश्रेऽपि द्वात्रिंशत्, अविरतसम्यग्दृष्टौ षष्टि, सर्व सङ्ख्यया द्विनवत्यधिक शतम् १९२, एतच्च षड्भिर्लेश्याभिर्गुण्यते ततो जातानि द्विपञ्चाशदधिकान्येकादश शतानि ११५२। तथा देशविरते द्विपञ्चाशत्, प्रमत्ते चतुश्चत्वारिंशत्, अप्रमत्तेऽपि चतुश्चत्वारिंशत्, सर्वे मीलिताश्चत्वारिंश शतम् १४०, तच्च तिसृभिर्लेश्याभिर्गुण्यते

१ स० १ स० म० °मते सर्व° ॥ २ पञ्चाशच्च सहस्राणि त्रीणि शतानि चैव पञ्चदशानि ॥ ३ त० म० पन्नरसा ॥ ४ स० १ त० म० अत्र चैवै ॥ ५ स० १ स० २ त० म० °रतो द्वि° ॥

जातानि विंशानि चत्वारि शतानि ४२० । अपूर्वकरणे विंशति, सा एकया लेश्यया गुणिता सैव विंशतिर्भवति । तत सर्वसङ्ख्यया जातानि द्विनवत्यधिकानि पञ्चदश शतानि १५९२ । एतानि च चतुर्विंशतिगतानीति चतुर्विंशत्या गुण्यन्ते जातान्यष्टत्रिंशत् सहस्राणि द्वे शते अष्टाधिके ३८२०८ । ततो द्विकोदयैकोदयपदान्येकोनत्रिंशत् प्रक्षिप्यन्ते, ततो जातान्यष्टत्रिंशत् सहस्राणि द्वे शते सप्तत्रिंशदधिके ३८२३७ । एतावन्ति लेश्यागुणितानि पदवृन्दानि । उक्त च—

तिगहीणा तेवन्ना, सया य उदयाण होंति लेसाण ५२९७ ।
अडतीस सहस्साइ, पयाण सय दो य सगतीसा ३८२३७ ॥ (   ) ॥ ४७ ॥

तदेवमुक्तानि समपञ्चमुदयस्थानानि । साम्प्रत सत्तास्थानान्यभिधीयन्ते—

तिण्णेगे एगेगं, तिग मीसे पंच चउसु नियट्टिए तिन्नि ।
एक्कार बायरम्मी, सुहुमे चउ तिन्नि उवसते ॥ ४८ ॥

'एकस्मिन्' मिथ्यादृष्टौ त्रीणि सत्तास्थानानि, तद्यथा—अष्टाविंशति सप्तविंशति षड्विंशति । अत्र भावना प्रागेवोक्ता । तथा 'एकस्मिन्' सासादने एक सत्तास्थानम्, तद्यथा—अष्टाविंशति । मिश्रे त्रीणि सत्तास्थानानि, तद्यथा—अष्टाविंशति सप्तविंशतिश्चतुर्विंशतिश्च । तथा 'चतुर्षु' अविरतसम्यग्दृष्टि-देशविरत-प्रमत्त-अप्रमत्तरूपेषु प्रत्येक पञ्च पञ्च सत्तास्थानानि, तद्यथा—अष्टाविंशति चतुर्विंशति त्रयोविंशति द्वाविंशति एकविंशतिश्च । 'निवृत्तौ' अपूर्वकरणे त्रीणि सत्तास्थानानि, तद्यथा—अष्टाविंशतिश्चतुर्विंशतिरेकविंशतिश्च । तत्राद्ये द्वे उपशमश्रेण्याम्, एकविंशति क्षायिकसम्यग्दृष्टेरुपशमश्रेण्या क्षपकश्रेण्या वा । "एक्कार बायरम्मि" त्ति 'बादरे' अनिवृत्तिबादरे एकादश सत्तास्थानानि, तद्यथा—अष्टाविंशति चतुर्विंशति एकविंशति त्रयोदश द्वादश एकादश पञ्च चतस्र तिस्र द्वे एका च । तत्राद्ये द्वे औपशमिकसम्यग्दृष्टे, एकविंशति क्षायिकसम्यग्दृष्टेरुपशमश्रेण्या अथवा क्षपकश्रेण्यामपि यावत् कषायाष्टक न क्षीयते, कषायाष्टके तु क्षीणे त्रयोदश, नपुसकवेदे क्षीणे द्वादश, तत स्त्रीवेदे क्षीणे एकादश, षट्सु नोकषायेषु क्षीणेषु पञ्च, तत पुरुषवेदे क्षीणे चतस्र, तत संज्वलनक्रोधे क्षीणे तिस्र, सञ्ज्वलनमाने क्षीणे द्वे, तत सञ्ज्वलनमायाया क्षीणाया एकेति । "सुहुमे चउ" त्ति सूक्ष्मसम्पराये चत्वारि सत्तास्थानानि, तद्यथा—अष्टाविंशति चतुर्विंशति एकविंशति एका च । तत्राद्यानि त्रीणि उपशमश्रेण्याम्, एका प्रकृति क्षपकश्रेण्याम् । 'उपशान्ते' उपशान्तमोहे त्रीणि सत्तास्थानानि, तद्यथा—अष्टाविंशति चतुर्विंशति एकविंशतिश्च ॥

सम्प्रति सवेध उच्यते—तत्र मिथ्यादृष्टौ द्वाविंशतिबन्धस्थाने चत्वार्युदयस्थानानि, तद्यथा—सप्त अष्टौ नव दश । तत्र सप्तोदये अष्टाविंशतिरूपमेक सत्तास्थानम् । अष्टादिषु

१ स० स० २ °कले° ॥ २ त्रिकहीनानि त्रिपञ्चाशत् शतानि च उदयाना भवन्ति लेश्यानाम् । अष्टत्रिंशत् सहस्राणि पदाना शते द्वे च सप्तत्रिंशे ॥ ३ म० °सु तिगऽपुव्वे । एष एव पाठ समीचीनो भाति, परं विवृतिकृद्भि "नियट्टिए तिन्नि" इति पाठमनुसृत्य विवृतत्वादस्माभिर्मूले एष एवादृत ॥

तूदयस्थानेषु त्रिषु प्रत्येकं त्रीणि त्रीणि सत्तास्थानानि, तद्यथा—अष्टाविंशति सप्तविंशति षड्विंशतिश्च । सर्वसङ्ख्यया दश । सासादने एकविंशतिर्बन्धस्थानं त्रीण्युदयस्थानानि, तद्यथा—सप्त अष्टौ नव । एतेषु प्रत्येकमेकैकं सत्तास्थानम्, तद्यथा—अष्टाविंशति । सर्वसङ्ख्यया त्रीणि सत्तास्थानानि । सम्यग्मिथ्यादृष्टौ बन्धस्थानं सप्तदश त्रीण्युदयस्थानानि, तद्यथा—सप्त अष्टौ नव । एतेषु प्रत्येकं त्रीणि त्रीणि सत्तास्थानानि, तद्यथा—अष्टाविंशति सप्तविंशति चतुर्विंशतिश्च । सर्वसङ्ख्यया नव । अविरतसम्यग्दृष्टौ बन्धस्थानं सप्तदश चत्वार्युदयस्थानानि, तद्यथा—षट् सप्त अष्टौ नव । तत्र षडुदये त्रीणि सत्तास्थानानि, तद्यथा—अष्टाविंशति चतुर्विंशति एकविंशतिश्च । सप्तोदये पञ्च सत्तास्थानानि, तद्यथा—अष्टाविंशति चतुर्विंशति त्रयोविंशति द्वाविंशति एकविंशतिश्च । एतान्येव पञ्च अष्टोदये । नवोदये चत्वारि, तद्यथा—अष्टाविंशति चतुर्विंशति त्रयोविंशति द्वाविंशति । सर्वसङ्ख्यया सप्तदश । देशविरते त्रयोदश बन्धस्थानं चत्वार्युदयस्थानानि, तद्यथा—पञ्च षट् सप्त अष्टौ । तत्र पञ्चकोदये त्रीणि सत्तास्थानानि, तद्यथा—अष्टाविंशति चतुर्विंशति एकविंशति । षडुदये पञ्च सत्तास्थानानि, तद्यथा—अष्टाविंशति चतुर्विंशति त्रयोविंशति द्वाविंशति एकविंशति । एतान्येव पञ्च सप्तोदये अष्टोदये एकविंशतिवर्जानि शेषाणि चत्वारि । सर्वसङ्ख्यया सप्तदश । प्रमत्तसंयते बन्धस्थानं नव चत्वार्युदयस्थानानि, तद्यथा—चत्वारि पञ्च षट् सप्त । तत्र चतुरुदये त्रीणि सत्तास्थानानि, तद्यथा—अष्टाविंशति चतुर्विंशति एकविंशतिश्च । पञ्चकोदये पञ्च सत्तास्थानानि, तद्यथा—अष्टाविंशति चतुर्विंशति त्रयोविंशति द्वाविंशति एकविंशतिश्च । एतान्येव पञ्च षडुदये । सप्तोदये चत्वारि, तद्यथा—अष्टाविंशति चतुर्विंशति त्रयोविंशति द्वाविंशति । सर्वसङ्ख्यया सप्तदश । एवमप्रमत्तेऽपि बन्ध-उदय-सत्तास्थानसंवेधोऽन्यूनातिरिक्तो वक्तव्य । अपूर्वकरणे बन्धस्थानं नव त्रीण्युदयस्थानानि, तद्यथा—चत्वारि पञ्च षट् । एतेषु प्रत्येकं त्रीणि त्रीणि सत्तास्थानानि, तद्यथा—अष्टाविंशति चतुर्विंशति एकविंशतिश्च । सर्वसङ्ख्यया नव । अनिवृत्तिबादरे पञ्च बन्धस्थानानि, तद्यथा—पञ्च चत्वारि त्रीणि द्वे एकं च । तत्र पञ्चके बन्धस्थाने द्विकोदये षट् सत्तास्थानानि, तद्यथा—अष्टाविंशति चतुर्विंशति एकविंशति त्रयोदश द्वादश एकादश । चतुष्के बन्धस्थाने एकोदये षट् सत्तास्थानानि, तद्यथा—अष्टाविंशति चतुर्विंशति एकविंशति एकादश पञ्च चत्वारि । त्रिके बन्धस्थाने एकोदये पञ्च सत्तास्थानानि, तद्यथा—अष्टाविंशति चतुर्विंशति एकविंशति चत्वारि त्रीणि च । द्विके बन्धस्थाने एकोदये पञ्च सत्तास्थानानि, तद्यथा—अष्टाविंशति चतुर्विंशति एकविंशति त्रीणि द्वे च । एकविधे बन्धस्थाने एकोदये पञ्च सत्तास्थानानि, तद्यथा—अष्टाविंशति चतुर्विंशति एकविंशति द्वे एकं च । सर्वसङ्ख्यया सप्तविंशति । बन्धाभावे सूक्ष्मसम्पराये एकोदये चत्वारि सत्तास्थानानि, तद्यथा—अष्टाविंशति चतुर्विंशति एकविंशति एकं च । उपशान्तमोहे बन्ध-उदयौ न स्तः, सत्तास्थानानि पुनस्त्रीणि, तद्यथा—अष्टाविंशति चतुर्विंशति एकविंशति । सर्वत्रापि च सत्तास्थाने भावना यथा अधस्तादोघसंवेधचिन्तायां कृता तथाऽत्रापि कर्तव्या ॥ ४८ ॥

१ सं० छा० मुद्रित० वा मागध ॥

तदेव चिन्तितं गुणस्थानकेषु मोहनीयम् । सम्प्रति नाम विचिन्तयिषुराह—

छण्णव छक्कं तिग सत्त दुगं दुग तिग दुगं तिगऽट्ठ चऊ ।
दुग छ चउ दुग पण चउ, चउ दुग चउ पणग एग चऊ ॥ ४९ ॥

एगेगमट्ठ एगेगमट्ठ छउमत्थकेवलिजिणाणं ।
एग चऊ एग चऊ, अट्ठ चउ दु छक्कमुदयंसा ॥ ५० ॥

मिथ्यादृष्टौ नाम्न षड् बन्धस्थानानि, तद्यथा—त्रयोविंशति पञ्चविंशति षड्विंशति अष्टाविंशति एकोनत्रिंशत् त्रिंशत् । तत्रापर्याप्तकैकेन्द्रियप्रायोग्य बध्नतस्त्रयोविंशति, तस्या च बध्यमानाया बादर-सूक्ष्म-प्रत्येक-साधारणैर्भङ्गाश्चत्वारः । पर्याप्तैकेन्द्रियप्रायोग्यमपर्याप्तद्वि-त्रि चतुरिन्द्रिय-तिर्यक्पञ्चेन्द्रिय-मनुष्यप्रायोग्य च बध्नत पञ्चविंशति । तत्र पर्याप्तैकेन्द्रियप्रायोग्याया पञ्चविंशतौ बध्यमानाया भङ्गा विंशति, अपर्याप्तद्वि-त्रि-चतुरिन्द्रिय-तिर्यक्पञ्चेन्द्रिय-मनुष्यप्रायोग्यायां तु बध्यमानाया प्रत्येकमेकैको भङ्ग इति, सर्वसङ्ख्यया पञ्चविंशति । पर्याप्तैकेन्द्रियप्रायोग्य बध्नत षड्विंशति, तस्या च बध्यमानाया भङ्गा षोडश । देवगतिप्रायोग्य नरकगतिप्रायोग्य वा बध्नतोऽष्टाविंशति । तत्र देवगतिप्रायोग्यायामष्टाविंशतौ अष्टौ भङ्गा, नरकगतिप्रायोग्याया त्वेक इति, सर्वसङ्ख्यया नव । पर्याप्तद्वि-त्रि-चतुरिन्द्रिय-तिर्यक्पञ्चेन्द्रिय-मनुष्यप्रायोग्य बध्नतामेकोनत्रिंशत् । तत्र पर्याप्तद्वि-त्रि-चतुरिन्द्रियप्रायोग्यायामेकोनत्रिंशति बध्यमानायां प्रत्येकमष्टावष्टौ भङ्गा, तिर्यक्पञ्चेन्द्रियप्रायोग्याया षट्चत्वारिंशच्छतान्यष्टाधिकानि ४६०८, मनुष्यगतिप्रायोग्यायामप्येतावन्त एव भङ्गा ४६०८, सर्वसङ्ख्यया चत्वारिंशदधिकानि द्विनवतिशतानि ९२४० । या तु देवगतिप्रायोग्या तीर्थकरनामसहिता एकोनत्रिंशत् सा मिथ्यादृष्टेर्न बन्धमायाति, तीर्थकरनाम्न सम्यक्त्वप्रत्ययत्वाद् मिथ्यादृष्टेश्च तदभावात् । पर्याप्तद्वि-त्रि चतुरिन्द्रिय-तिर्यक्पञ्चेन्द्रियप्रायोग्यं बध्नतस्त्रिंशत् । तत्र पर्याप्तद्वि-त्रि-चतुरिन्द्रियप्रायोग्यायां त्रिंशति बध्यमानाया प्रत्येकमष्टावष्टौ भङ्गा, तिर्यक्पञ्चेन्द्रियप्रायोग्याया त्वष्टाधिकानि षट्चत्वारिंशच्छतानि ४६०८, सर्वसङ्ख्यया द्वात्रिंशदुत्तराणि षट्चत्वारिंशच्छतानि ४६३२ । या च मनुष्यगतिप्रायोग्या तीर्थकरनामसहिता त्रिंशत्, या च देवगतिप्रायोग्या आहारकद्विकसहिता, ते उभे अपि मिथ्यादृष्टेर्न बन्धमायात, तीर्थकरनाम्न सम्यक्त्वप्रत्ययत्वात्, आहारकनाम्नस्तु सयमप्रत्ययत्वात् । उक्तं च—

सम्मत्तगुणनिमित्तं, तित्थयरं संजमेण आहारं । (　　　) इति ।

त्रयोविंशत्यादिषु च बन्धस्थानेषु यथासङ्ख्य भङ्गसङ्ख्यानिरूपणार्थमियमन्तर्भाष्यगाथा—

चउ[3] पणवीसा सोलस, नव चत्ताला सया य बाणउया ।
बत्तीसुत्तरछायालसया मिच्छस्स बन्धविही ॥ ८ ॥　　सुगमा ॥

१ इत ऊर्ध्वम्—छा० ग्रन्थाग्रम्–२५१३ ॥ २ सम्यक्त्वगुणनिमित्तं तीर्थकरं सयमेन आहारम् ॥
३ २१७ पृष्ठगता १ सख्याका टिप्पणी अवलोकनीया ॥

तथा मिथ्यादृष्टेरेव उदयस्थानानि, तद्यथा—एकविंशति चतुर्विंशति पञ्चविंशति षड्विंशति सप्तविंशति अष्टाविंशति एकोनत्रिंशत् त्रिंशद् एकत्रिंशत् । एतानि सर्वाण्यपि नानाजीवापेक्षया यथा प्राक् सप्रपञ्चमुक्तानि तथाऽत्रापि वक्तव्यानि, केवलमाहारकसंयताना वैक्रियसंयताना केवलिना च सम्बन्धीनि न वक्तव्यानि, तेषा मिथ्यादृष्टित्वाभावात् । सर्वसङ्ख्यया मिथ्यादृष्टावुदयस्थानभङ्गा सप्त सहस्राणि सप्त शतानि त्रिसप्तत्यधिकानि ७७७३ । तथाहि—एकविंशत्युदये एकचत्वारिंशत्—तत्रैकेन्द्रियाणा पञ्च, विकलेन्द्रियाणा नव, तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणा नव, मनुष्याणा नव, देवानामष्टौ, नारकाणामेक । तथा चतुर्विंशत्युदये एकादश, ते चैकेन्द्रियाणामेव, अन्यत्र चतुर्विंशत्युदयस्याभावात् । पञ्चविंशत्युदये द्वात्रिंशत्—तत्रैकेन्द्रियाणा सप्त, वैक्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणामष्टौ, वैक्रियमनुष्याणामष्टौ, देवानामष्टौ, नारकाणामेक । षड्विंशत्युदये षट् शतानि ६००—तत्रैकेन्द्रियाणा त्रयोदश, विकलेन्द्रियाणा नव, तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणा द्वे शते एकोननवत्यधिके २८९, मनुष्याणामपि द्वे शते एकोननवत्यधिके २८९ । सप्तविंशत्युदये एकत्रिंशत्—तत्रैकेन्द्रियाणा षट्, वैक्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणामष्टौ, वैक्रियमनुष्याणामष्टौ, देवानामष्टौ नारकाणामेक । अष्टाविंशत्युदये एकादश शतानि नवनवत्यधिकानि ११९९—तत्र विकलेन्द्रियाणा षट्, तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणा पञ्च शतानि षट्सप्तत्यधिकानि ५७६, वैक्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणा षोडश, मनुष्याणा पञ्च शतानि षट्सप्तत्यधिकानि ५७६, वैक्रियमनुष्याणामष्टौ, देवाना षोडश, नारकाणामेक । एकोनत्रिंशदुदये सप्तदश शतान्येकाशीत्यधिकानि १७८१—तत्र विकलेन्द्रियाणा द्वादश, तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणामेकादश शतानि द्विपञ्चाशदधिकानि ११५२, वैक्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणा षोडश, मनुष्याणा पञ्च शतानि षट्सप्तत्यधिकानि ५७६, वैक्रियमनुष्याणामष्टौ, देवाना षोडश, नारकाणामेक । त्रिंशदुदये एकोनत्रिंशच्छतानि चतुर्दशाधिकानि २९१४—तत्र विकलेन्द्रियाणामष्टादश, तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणा सप्तदश शतान्यष्टाविंशत्यधिकानि १७२८, वैक्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणामष्टौ, मनुष्याणामेकादश शतानि द्विपञ्चाशदधिकानि ११५२, देवानामष्टौ । एकत्रिंशदुदये एकादश शतानि चतुःषष्ट्यधिकानि ११६४—तत्र विकलेन्द्रियाणा द्वादश, तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणामेकादश शतानि द्विपञ्चाशदधिकानि ११५२ । सर्वसङ्ख्यया सप्त सहस्राणि सप्त शतानि त्रिसप्तत्यधिकानि ७७७३ ।

मिथ्यादृष्टे षट् सत्तास्थानानि, तद्यथा—द्विनवति एकोननवति अष्टाशीति षडशीति अशीति अष्टसप्तति । तत्र द्विनवति चतुर्गतिकानामपि मिथ्यादृष्टीनामवसेया । यदा पुनर्नरकेषु बद्धायुष्को वेदकसम्यग्दृष्टि सन् तीर्थकरनाम बद्ध्वा परिणामपरावर्तनेन मिथ्यात्व गतो नरकेषु समुत्पद्यमानस्तदा तस्यैकोननवतिरन्तर्मुहूर्तं काल यावद् लभ्यते, उत्पत्तेरूर्ध्वमन्तर्मुहूर्तानन्तर तु सोऽपि सम्यक्त्व प्रतिपद्यते । अष्टाशीतिश्चतुर्गतिकानामपि मिथ्यादृष्टीनाम् । षडशीतिरशीतिश्चैकेन्द्रियेषु यथायोग देवगतिप्रायोग्ये नरकगतिप्रायोग्ये चोद्वलिते सति लभ्येते, एके-

१ स० १ त० म० °दये वर्तमानस्य ए ॥ २ सं० १ त० म० कलाना न ॥ ३ स० १ त० म० °हूर्तक° ॥ ४ स० १ त० म० शीतिरेकेन्द्रि ॥ ५ स १ त० म० छा० ते । अशीतिस्तु त्रिनवतेस्तीर्थकराहारकचतुष्टयादिषु त्रयोदशसु प्रकृतिषु उद्वलितासु लभ्यते एके ॥

न्द्रियभवाद् उद्वृत्य विकलेन्द्रियेषु तिर्यक्पञ्चेन्द्रियेषु मनुष्येषु वा मध्ये समुत्पन्नानां सर्वपर्याप्तिभावादूर्ध्वमप्यन्तर्मुहूर्तं कालं यावद् लभ्यते, परतोऽवश्य वैक्रियशरीरादिबन्धसम्भवाद् न लभ्यते । अष्टसप्ततिस्तेजो-वायूना मनुष्यगति-मनुष्यानुपूर्व्योरुद्वलितयो प्राप्यते । तेजो-वायुभवाद् उद्वृत्य विकलेन्द्रियेषु तिर्यक्पञ्चेन्द्रियेषु वा मध्ये समुत्पन्नानामन्तर्मुहूर्तं कालं यावत् परतोऽवश्य मनुष्यगति-मनुष्यानुपूर्व्योर्बन्धसम्भवात् ।

तदेव सामान्येन मिथ्यादृष्टेर्बन्ध-उदय-सत्तास्थानान्युक्तानि । सम्प्रति संवेध उच्यते—तत्र मिथ्यादृष्टेस्त्रयोविंशतिं बध्नत प्रागुक्तानि नवाप्युदयस्थानानि सप्रभेदानि सम्भवन्ति । केवलमेकविंशति-पञ्चविंशति-सप्तविंशति-अष्टाविंशति एकोनत्रिंशत्-त्रिंशद्रूपेषु षट्सूदयस्थानेषु देव-नैरयिकानधिकृत्य ये भङ्गा प्राप्यन्ते ते न सम्भवन्ति । त्रयोविंशतिर्हि अपर्याप्तैकेन्द्रियप्रायोग्या, न च देवा अपर्याप्तैकेन्द्रियप्रायोग्य बध्नन्ति, तेषा तत्रोत्पादाभावात्, नापि नैरयिका, तेषा सामान्यतोऽप्येकेन्द्रियप्रायोग्यबन्धासम्भवात्, ततोऽत्र देव-नैरयिकसत्कोदयस्थानभङ्गा न प्राप्यन्ते । सत्तास्थानानि पञ्च, तद्यथा—द्विनवति अष्टाशीति षडशीति अशीति अष्टसप्ततिश्च । तत्रैकविंशति-चतुर्विंशति पञ्चविंशति षड्विंशत्युदयेषु पञ्चापि सत्तास्थानानि । नवरं पञ्चविंशत्युदये तेजो-वायुकायिकानधिकृत्याष्टसप्तति प्राप्यते, षड्विंशत्युदये तेजो वायुकायिकान् तेजो-वायुभवाद् उद्वृत्य विकलेन्द्रिय-तिर्यक्पञ्चेन्द्रियेषु मध्ये समुत्पन्नान् वाऽधिकृत्य प्राप्यते । सप्तविंशति-अष्टाविंशति-एकोनत्रिंशत्-त्रिंशद्-एकत्रिंशद्रूपेषु पञ्चसु अष्टसप्ततिवर्जानि शेषाणि प्रत्येक चत्वारि चत्वारि सत्तास्थानानि । सर्वसङ्ख्यया सर्वाण्युदयस्थानान्यधिकृत्य त्रयोविंशतिबन्धकस्य चत्वारिंशत् सत्तास्थानानि । एव पञ्चविंशति-षड्विंशतिबन्धकानामपि वक्तव्यम्, केवलमिह देवोऽप्यात्मीयेषु सर्वेष्वप्युदयस्थानेषु वर्तमान पर्याप्तकैकेन्द्रियप्रायोग्या पञ्चविंशतिं षड्विंशतिं च बध्नातीत्यवसेयम् । नवरं पञ्चविंशतिबन्धे बादर-पर्याप्त-प्रत्येक-स्थिरा-ऽस्थिर-शुभा-ऽशुभ-दुर्भगा-ऽनादेय-यश कीर्ति-अयश कीर्तिपदैरष्टौ भङ्गा अवसेया न शेषा, सूक्ष्म-साधारणा-ऽपर्याप्तकेषु मध्ये देवस्योत्पादाभावात् । सत्तास्थानभावना पञ्चविंशतिबन्धे षड्विंशतिबन्धे च प्रागिव कर्तव्या । सर्वसङ्ख्यया चत्वारिंशत् चत्वारिंशत् सत्तास्थानानि । अष्टाविंशतिबन्धकस्य मिथ्यादृष्टेर्द्वे उदयस्थाने, तद्यथा—त्रिंशद् एकत्रिंशत् । तत्र त्रिंशत् तिर्यक्पञ्चेन्द्रिय-मनुष्यानधिकृत्य, एकत्रिंशत् तिर्यक्पञ्चेन्द्रियानेव । अष्टाविंशतिबन्धकस्य चत्वारि सत्तास्थानानि, तद्यथा—द्विनवति एकोननवति अष्टाशीति षडशीति । तत्र त्रिंशदुदये चत्वार्यपि, तत्राप्येकोननवतिर्यो नाम वेदकसम्यग्दृष्टिर्बद्धतीर्थकरनामा परिणामपरावर्तनेन मिथ्यात्वं गतो नरकाभिमुखो नरकगतिप्रायोग्यामष्टाविंशतिं बध्नाति तमपेक्ष्य वेदितव्या, शेषाणि पुनस्त्रीणि सत्तास्थानान्यविशेषेण तिर्यग्-मनुष्याणाम् । एकत्रिंशदुदये एकोननवतिवर्जानि त्रीणि सत्तास्थानानि, एकोननवतिर्हि तीर्थकरनामसहिता, न च तीर्थकरनाम तिर्यक्षु सम्भवति । सर्वसङ्ख्यया अष्टाविंशतिबन्धे सप्त सत्तास्थानानि । देवगतिप्रायोग्यवर्जा शेषामेको-

१–२ सं० १ त० म० °हूर्तकं° ॥ ३ सं० सं० २ छा० त्य । सप्त° ॥

त्रिंशत विकलेन्द्रिय तिर्यक्पञ्चेन्द्रियप्रायोग्या मनुष्यगतिप्रायोग्या च बध्नतो मिथ्यादृष्टेः सामान्येन नवापि प्रागुक्तानि उदयस्थानानि षट् च सत्तास्थानानि, तद्यथा—द्विनवति एकोननवति अष्टाशीति षडशीति अशीति अष्टसप्तति । तत्रैकविंशत्युदये सर्वाण्यपि प्राप्यन्ते, तत्राप्येकोननवतिर्बद्धतीर्थकरनामानं मिथ्यात्वं गतं नैरयिकमधिकृत्यावसेया, द्विनवतिरष्टाशीतिश्च देव-नैरयिक मनुज विकलेन्द्रिय तिर्यक्पञ्चेन्द्रिय एकेन्द्रियानधिकृत्य, षडशीतिरशीतिश्च विकलेन्द्रिय तिर्यक्पञ्चेन्द्रिय मनुजैकेन्द्रियानधिकृत्य, अष्टसप्ततिरेकेन्द्रिय विकलेन्द्रिय तिर्यक्पञ्चेन्द्रियानधिकृत्य । चतुर्विंशत्युदये एकोननवतिवर्जानि शेषाणि पञ्च सत्तास्थानानि, तानि चैकेन्द्रियानेवाधिकृत्य वेदितव्यानि, अन्यत्र चतुर्विंशत्युदयस्याभावात् । पञ्चविंशत्युदये षडपि सत्तास्थानानि, तानि यथैकविंशत्युदये भावितानि तथैव भावनीयानि । षड्विंशत्युदये एकोननवतिवर्जानि शेषाणि पञ्च सत्तास्थानानि, तानि प्राग्वद् भावनीयानि, एकोननवतिस्तु न लभ्यते, यतो मिथ्यादृष्टेः सत एकोननवतिर्नरकेषूत्पद्यमानस्य नैरयिकस्य प्राप्यते न शेषस्य, न च नैरयिकस्य षड्विंशत्युदयः सम्भवति । सप्तविंशत्युदयेऽष्टसप्ततिवर्जानि शेषाणि पञ्च सत्तास्थानानि—तत्रैकोननवतिः प्रागुक्तस्वरूपं नैरयिकमधिकृत्य, द्विनवतिरष्टाशीतिश्च देव-नैरयिक-मनुज विकलेन्द्रिय तिर्यक्पञ्चेन्द्रिय एकेन्द्रियानधिकृत्य, षडशीतिरशीतिश्च एकेन्द्रिय विकलेन्द्रिय तिर्यक्पञ्चेन्द्रिय-मनुष्यानधिकृत्य । अष्टसप्ततिस्तु न सम्भवति, यतः सप्तविंशत्युदयस्तेजो-वायुवर्जानामेकेन्द्रियाणामातप-उद्योतान्यतरसहितानां भवति, नारकादीनां वा, न च तेषामष्टसप्ततिः, तेषामवश्यं मनुष्यद्विकबन्धसम्भवात् । एतान्येव पञ्च सत्तास्थानान्यष्टाविंशत्युदयेऽपि—तत्रैकोननवतिर्द्विनवतिरष्टाशीतिश्च प्राग्वद् भावनीया, षडशीतिरशीतिश्च विकलेन्द्रिय तिर्यक्पञ्चेन्द्रिय मनुष्यानधिकृत्य वेदितव्या[1] । एवमेकोनत्रिंशदुदयेऽप्येतान्येव पञ्च सत्तास्थानानि भावनीयानि। त्रिंशदुदये चत्वारि, तद्यथा—द्विनवति अष्टाशीति षडशीति अशीति । एतानि विकलेन्द्रिय तिर्यक्पञ्चेन्द्रिय मनुष्यानधिकृत्य वेदितव्यानि । एकोननवतिस्तु न प्राप्यते, यतः सा वेदकसम्यग्दृष्टेः सतो बद्धतीर्थकरनाम्नो मिथ्यात्वं गतस्य नैरयिकस्य प्राप्यते, न च नैरयिकस्य त्रिंशदुदयोऽस्ति । एकत्रिंशदुदयेऽप्येतान्येव चत्वारि, तानि च विकलेन्द्रिय तिर्यक्पञ्चेन्द्रियानधिकृत्य द्रष्टव्यानि । सर्वसङ्ख्यया मिथ्यादृष्टेरेकोनत्रिंशतं बध्नतः पञ्चचत्वारिंशत् सत्तास्थानानि । या तु देवगतिप्रायोग्या एकोनत्रिंशत् सा मिथ्यादृष्टेर्न बन्धमायाति, कारणं प्रागेवोक्तम् । मनुष्य-देवगतिप्रायोग्यवर्जां शेषां त्रिंशतं विकलेन्द्रिय-तिर्यक्पञ्चेन्द्रियप्रायोग्यां बध्नतः सामान्येन प्रागुक्तानि नवोदयस्थानानि एकोननवतिवर्जानि च पञ्च पञ्च सत्तास्थानानि । एकोननवतिस्तु न सम्भवति, एकोननवतिसत्कर्मणस्तिर्यग्गतिप्रायोग्यबन्धारम्भासम्भवात् । तानि च पञ्च पञ्च सत्तास्थानानि एकविंशति चतुर्विंशति पञ्चविंशति षड्विंशत्युदयेषु प्राग्वद् भावनीयानि । सप्तविंशति अष्टाविंशति एकोनत्रिंशत् त्रिंशद्-एकत्रिंशद्रूपेषु च पञ्चसु उदयस्थानेषु अष्टसप्ततिवर्जानि शेषाणि चत्वारि चत्वारि भावनीयानि, अष्टसप्ततिप्रतिषेधे कारणं प्रागुक्तमनुसरणीयम् ।

---

१ छा० मुद्रि० °त्य वेदितव्या, अष्ट ॥ २ इत ऊर्ध्वम्—छा० म० ग्रन्थाग्रम् २६३० ॥ ३ स० स० १ स० २ त० म० छा० सा मिथ्यादृष्ट स ॥ ४ म० छा० मुद्रि० °षाणि प्रत्येकं चत्वा ॥

सर्वसङ्ख्यया मिथ्यादृष्टेस्त्रिंशत् बध्नतश्चत्वारिंशत् सत्तास्थानानि । मनुजगति-देवगतिप्रायोग्या तु त्रिंशद् मिथ्यादृष्टेर्न बन्धमायाति, मनुजगतिप्रायोग्या हि त्रिंशत् तीर्थकरनामसहिता, देवगतिप्रायोग्या त्वाहारक-तीर्थकरनामसहिता, तत सा कथ मिथ्यादृष्टेर्बन्धमायाति [1] ।

तदेवमुक्तो मिथ्यादृष्टेर्बन्ध-उदय-सत्तास्थानसंवेध । सम्प्रति सासादनस्य बन्ध-उदय-सत्तास्थानान्युच्यन्ते—"तिग सत्त दुग" ति त्रीणि बन्धस्थानानि, तद्यथा—अष्टाविंशति एकोनत्रिंशत् त्रिंशत् । तत्राष्टाविंशतिर्द्विधा—देवगतिप्रायोग्या नरकगतिप्रायोग्या च । तत्र नरकगतिप्रायोग्या सासादनस्य न बन्धमायाति, देवगतिप्रायोग्यायाश्च बन्धकास्तिर्यक्पञ्चेन्द्रिया मनुष्याश्च । तस्या चाष्टाविंशतौ बध्यमानायामष्टौ भङ्गा । तथा सासादना एकेन्द्रिया विकलेन्द्रियास्तिर्यक्पञ्चेन्द्रिया मनुष्या देवा नैरयिकाश्च तिर्यक्पञ्चेन्द्रियप्रायोग्या मनुष्यगतिप्रायोग्या वा एकोनत्रिंशत बध्नन्ति न शेषाम् । अत्र च भङ्गाश्चतु षष्टिशतानि ६४००, तथाहि—सासादना यदि तिर्यक्पञ्चेन्द्रियप्रायोग्याम् अथवा मनुष्यगतिप्रायोग्याम् एकोनत्रिंशत बध्नन्ति तथापि न ते हुण्डसंस्थान सेवार्तं च सहनन बध्नन्ति, मिथ्यात्वोदयाभावात्, ततश्च तिर्यक्पञ्चेन्द्रियप्रायोग्यामेकोनत्रिंशत बध्नत पञ्चभि सस्थानै पञ्चभि सहननै प्रशस्ता-ऽप्रशस्तविहायोगतिभ्या स्थिरा-ऽस्थिराभ्या शुभा-ऽशुभाभ्या सुभग दुर्भगाभ्या सुस्वर-दु स्वराभ्याम् आदेया-ऽनादेयाभ्या यश -कीर्ति अयश कीर्तिभ्या च भङ्गा द्वात्रिंशच्छतानि ३२००, एव मनुष्यगतिप्रायोग्यामपि बध्नतो द्वात्रिंशच्छतानि ३२००, तत सर्वसङ्ख्यया चतु षष्टिशतानि ६४०० भवन्ति । तथा सासादना एकेन्द्रिया विकलेन्द्रियास्तिर्यक्पञ्चेन्द्रिया मनुष्या देवा नैरयिका वा यदि त्रिंशत बध्नन्ति तर्हि तिर्यक्पञ्चेन्द्रियप्रायोग्यामेवोद्योतसहिता न शेषाम् । ता च बध्नता प्रागिव भङ्गकाना द्वात्रिंशच्छतानि ३२०० । सर्वबन्धस्थानभङ्गसङ्ख्या अष्टाधिकानि षण्णवतिशतानि ९६०८ ।

उक्तरूपभङ्गसङ्ख्यानिरूपणार्थमियमन्तर्भाष्यगाथा—

> अट्ठ य सय चोवट्ठि, बत्तीस सया य सासणे भेया ।
> अट्ठावीसाईसु, सव्वाणऽट्ठहिग छण्णउई ॥ १ ॥ सुगमा ॥

सासादनस्योदयस्थानानि सप्त, तद्यथा—एकविंशति चतुर्विंशति पञ्चविंशति षड्विंशति एकोनत्रिंशत् त्रिंशद् एकत्रिंशत् । तत्रैकविंशत्युदय एकेन्द्रिय-विकलेन्द्रिय-तिर्यक्पञ्चेन्द्रिय-मनुष्य देवानधिकृत्य वेदितव्य । नरकेषु सासादनो नोत्पद्यत इति कृत्वा तद्विषय एकविंशत्युदयो न गृह्यते । तत्रैकेन्द्रियाणामेकविंशत्युदये बादरपर्याप्तकेन सह यश कीर्ति-अयश कीर्तिभ्या यौ द्वौ भङ्गौ तावेव सम्भवत , न शेषा , सूक्ष्मेषु अपर्याप्तकेषु च मध्ये सासादनस्योत्पादाभावात् । अत एव विकलेन्द्रियाणा तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणा मनुष्याणा च प्रत्येकमपर्याप्तकेन सह य एकैको भङ्ग स इह न सम्भवति, किन्तु शेषा एव । ते च विकलेन्द्रियाणा द्वौ द्वौ इति षट्, तिर्य-

१ स० १ स० २ त० म० °र्द्विकनामस ॥ २ मुद्रि० °याति [2] इति ॥ ३ मुद्रि० °न्ति, तथा स्वाभाव्यात्, त° ॥ ४ अत्र २१७ पृष्ठगता १ सङ्ख्याका टिप्पणी अवलोकनीया ॥ ५ मुद्रि० चासट्ठि । छा० चउसट्ठि । म० चउसट्ठी ॥ ६ छा० मुद्रि० °मणे मणि° ॥

क्पञ्चेन्द्रियाणामष्टौ, मनुष्याणामप्यष्टौ, देवानामप्यष्टौ, सर्वसङ्ख्यया एकविंशत्युदये द्वात्रिंशत्। चतुर्विंशत्युदय एकेन्द्रियेषु मध्ये उत्पन्नमात्रस्य, अत्रापि बादरपर्याप्तकेन सह यश कीर्ति-अयश कीर्तिभ्या यौ द्वौ भङ्गौ तावेव सम्भवत, न शेषा, सूक्ष्मेषु साधारणेषु तेजो-वायुषु च मध्ये सासादनस्योत्पादासम्भवात्। पञ्चविंशत्युदयो देवेषु मध्ये उत्पन्नमात्रस्य प्राप्यते न शेषस्य, तत्र चाष्टौ भङ्गा, ते च स्थिरा-ऽस्थिर-शुभा ऽशुभ-यश कीर्ति अयश कीर्तिपदैरवसेया। षड्विंशत्युदयो विकलेन्द्रिय तिर्यक्पञ्चेन्द्रिय-मनुष्येषु मध्ये उत्पन्नमात्रस्यावसेय, अत्राप्यपर्याप्तकेन सह य एकैको भङ्ग स न सम्भवति, अपर्याप्तकमध्ये सासादनस्योत्पादाभावात्, शेषास्तु सम्भवन्ति। ते च विकलेन्द्रियाणां प्रत्येक द्वौ द्वाविति षट्, तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणा द्वे शते अष्टाशीत्यधिके २८८, मनुष्याणामपि द्वे शते अष्टाशीत्यधिके २८८, सर्वसङ्ख्यया षड्विंशत्युदये पञ्च शतानि द्व्यशीत्यधिकानि ५८२। सप्तविंशति-अष्टाविंशत्युदयौ न सम्भवत, तौ हि उत्पत्त्यनन्तरमन्तर्मुहूर्ते गते सति भवत, सासादनभावश्चोत्पत्त्यनन्तरमुत्कर्षत किञ्चिदूनषडावलिकामात्र कालं भवति, तत एतौ सासादनस्य न प्राप्येते। एकोनत्रिंशदुदयो देव-नैरयिकाणा स्वस्थानगताना पर्याप्ताना प्रथमसम्यक्त्वात् प्रच्यवमानाना प्राप्यते। तत्र देवस्यैकोनत्रिंशदुदये भङ्गा अष्टौ, नैरयिकस्येक इति, सर्वसङ्ख्यया नव। त्रिंशदुदयस्तिर्यग्-मनुष्याणा पर्याप्ताना प्रथमसम्यक्त्वात् प्रच्यवमानाना देवाना वा उत्तरवैक्रिये वर्तमानाना सासादनानाम्। तत्र तिरश्चा मनुष्याणा च त्रिंशदुदये प्रत्येक द्विपञ्चाशदधिकान्येकादश शतानि ११५२, देवस्याष्टौ, सर्वसङ्ख्यया त्रयोविंशतिशतानि द्वादशाधिकानि २३१२। एकत्रिंशदुदयस्तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणा पर्याप्ताना प्रथमसम्यक्त्वात् प्रच्यवमानानाम्। अत्र भङ्गा एकादश शतानि द्विपञ्चाशदधिकानि ११५२।

उक्तरूपाया एव भङ्गसङ्ख्याया निरूपणार्थमियमन्तर्भाष्यगाथा—

> बत्तीस दोन्नि अट्ठ य, बासीयसया य पंच नव उदया।
> बारहिगा तेवीसा, बावन्नेकारस सया य ॥ १० ॥

सुगमा ॥

सर्वभङ्गसङ्ख्या सप्तनवत्यधिकानि चत्वारिंशच्छतानि ४०९७।

सासादनस्य द्वे सत्तास्थाने, तद्यथा—द्विनवतिरष्टाशीतिश्च। तत्र द्विनवतिर्य आहारकचतुष्टय बद्ध्वा उपशमश्रेणीत प्रतिपतन् सासादनभावमुपगच्छति तस्य लभ्यते, न शेषस्य। अष्टाशीतिश्चतुर्गतिकानामपि सासादनानाम्।

सम्प्रति संवेध उच्यते—तत्राष्टाविंशतिं बध्नत सासादनस्य द्वे उदयस्थाने, तद्यथा—त्रिंशद् एकत्रिंशत्। अष्टाविंशतिर्हि सासादनस्य बन्धयोग्या भवंति देवगतिविषया, न च कर-

१ स० १ त० म० न सुभग-दुर्भगा ऽऽदेयाना ऽनादेय-यश ° ॥ २ स० २ °त्रस्य, अत्राप्य° ॥ ३ स० स० २ नश्चोत्प ॥ ४ स० स० २ लब्, तत ॥ ५ म० मुद्रि० न सम्भवत। एको ॥ ६ अत्र २१७ पृष्ठगता १ सङ्ख्याका टिप्पणी द्रष्टव्या ॥ ७ स० १ त० वतीति दे° ॥

णापर्याप्त सासादनो देवगतिप्रायोग्यं बध्नाति, तेन शेषा उदया न सम्भवन्ति । तत्र मनुष्यमधिकृत्य त्रिंशदुदये द्वे अपि सत्तास्थाने । तिर्यक्पञ्चेन्द्रियसासादनानधिकृत्याष्टाशीतिरेव, यतो द्विनवतिरुपशमश्रेणीतः प्रतिपततो लभ्यते, न च तिरश्चामुपशमश्रेणिसम्भव । एकत्रिंशदुदयेऽप्यष्टाशीतिरेव, यत एकत्रिंशदुदयस्तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणाम् । न च तिरश्चां द्विनवतिः सम्भवति, प्रागुक्तयुक्तेः । एकोनत्रिंशतं तिर्यक्पञ्चेन्द्रिय-मनुष्यप्रायोग्यां बध्नतः सासादनस्य सप्ताप्युदयस्थानानि । तत्र एकेन्द्रिय-विकलेन्द्रिय-तिर्यक्पञ्चेन्द्रिय-मनुष्य-देव-नैरयिकाणां सासादनानां स्वीय-स्वीयोदयस्थानेषु वर्तमानानामेकमेव सत्तास्थानम्—अष्टाशीतिः । नवरं मनुष्यस्य त्रिंशदुदये वर्तमानस्योपशमश्रेणीतः प्रतिपततः सासादनस्य द्विनवतिः । एवं त्रिंशद्बन्धकस्यापि वक्तव्यम् । सर्वाण्यप्युदयस्थानान्यधिकृत्य सामान्येन सर्वसङ्ख्यया सासादनस्याष्टौ सत्तास्थानानि ।

सम्प्रति सम्यग्मिथ्यादृष्टेर्बन्ध-उदय-सत्तास्थानान्यभिधीयन्ते—"दुग तिग दुग"त्ति द्वे बन्धस्थाने, तद्यथा—अष्टाविंशतिः एकोनत्रिंशत् । तत्र तिर्यग्-मनुष्याणां सम्यग्मिथ्यादृष्टीनां देवगतिप्रायोग्यमेव बन्धमायाति, ततस्तेषामष्टाविंशतिः, तत्र भङ्गा अष्टौ । एकोनत्रिंशद् मनुष्यगतिप्रायोग्यं बध्नतां देव-नैरयिकाणाम्, अत्राप्यष्टौ भङ्गाः । ते चोभयत्रापि स्थिरा-ऽस्थिर-शुभाऽशुभ-यशःकीर्ति-अयशःकीर्तिपदैरवसेयाः । शेषास्तु परावर्तमानप्रकृतयः शुभा एव सम्यग्मिथ्यादृष्टीनां बन्धमायान्ति, ततः शेषभङ्गा न प्राप्यन्ते ।

त्रीण्युदयस्थानानि, तद्यथा—एकोनत्रिंशत् त्रिंशद् एकत्रिंशत् । तत्रैकोनत्रिंशति देवानधिकृत्याष्टौ भङ्गाः, नैरयिकानधिकृत्यैकः, सर्वसङ्ख्यया नव । त्रिंशति तिर्यक्पञ्चेन्द्रियानधिकृत्य सर्वपर्याप्तिपर्याप्तयोग्यानि द्विपञ्चाशदधिकान्येकादश शतानि ११५२, मनुष्यानधिकृत्य[1] एकादश शतानि द्विपञ्चाशदधिकानि ११५२, सर्वसङ्ख्यया त्रयोविंशतिशतानि चतुरधिकानि २३०४ । एकत्रिंशदुदयस्तिर्यक्पञ्चेन्द्रियानधिकृत्य, तत्र भङ्गा[2] द्विपञ्चाशदधिकान्येकादश शतानि ११५२ । सर्वोदयस्थानभङ्गसङ्ख्या चतुस्त्रिंशच्छतानि पञ्चषष्ट्यधिकानि ३४६५ ।

द्वे सत्तास्थाने, तद्यथा—द्विनवतिः अष्टाशीतिश्च ।

सम्प्रति संवेध उच्यते—सम्यग्मिथ्यादृष्टेरष्टाविंशतिबन्धकस्य द्वे उदयस्थाने, तद्यथा—त्रिंशद् एकत्रिंशत् । एकैकस्मिन्नुदयस्थाने द्वे द्वे सत्तास्थाने, तद्यथा—द्विनवतिरष्टाशीतिश्च । एकोनत्रिंशद्बन्धकस्य एकमुदयस्थानम्—एकोनत्रिंशत् । अत्रापि ते एव द्वे सत्तास्थाने । तदेवमेकैकस्मिन्नुदयस्थाने द्वे द्वे सत्तास्थाने इति सर्वसङ्ख्यया षट् ।

१ छा० मुद्रि० अत्र मनुष्यानधि ॥ २ स० १ त० °त्य भङ्गा द्विपञ्चा° । म० मुद्रि० °त्य अष्टाविंशत्यधिकानि सप्तदश शतानि १७२८ मनुष्यानधिकृत्य एकादश शतानि द्विपञ्चाशदधिकानि ११५२, सर्वसङ्ख्यया अष्टाविंशतिशतानि अशीत्यधिकानि २८८० । एकत्रिंशदुदयस्तिर्यक्पञ्चेन्द्रियानधिकृत्य तत्र भङ्गा द्विपञ्चाशदधिकान्येकादश शतानि ११५२ । सर्वोदयस्थानभङ्गसङ्ख्या चत्वारिंशच्छतानि एकचत्वारिंशदधिकानि ४०४१ । द्वे सत्तास्थाने ॥ ३ स० १ त० °त्य भङ्गा एका° ॥

सम्प्रत्यविरतसम्यग्दृष्टेर्बन्ध उदय-सत्तास्थानान्यभिधीयन्ते—"तिगऽट्ठ चउ" त्ति त्रीणि बन्धस्थानानि, तद्यथा—अष्टाविंशतिः एकोनत्रिंशत् त्रिंशत्। तत्र तिर्यङ्-मनुष्याणामविरतसम्यग्दृष्टीनां देवगतिप्रायोग्यं बध्नतामष्टाविंशतिः, अत्राष्टौ भङ्गाः। अविरतसम्यग्दृष्टयो हि तिर्यङ्-मनुष्या न शेषगतिप्रायोग्यं बध्नन्ति, तेन नरकगतिप्रायोग्या अष्टाविंशतिर्न लभ्यते। मनुष्याणां देवगतिप्रायोग्यं तीर्थकरसहितं बध्नतामेकोनत्रिंशत्, अत्राप्यष्टौ भङ्गाः। देव-नैरयिकाणां मनुष्यगतिप्रायोग्यं बध्नतामेकोनत्रिंशत्, अत्रापि त एवाष्टौ भङ्गाः। तेषामेव मनुष्यगतिप्रायोग्यं तीर्थकरसहितं बध्नतां त्रिंशत्, अत्रापि त एवाष्टौ भङ्गाः।

अष्टावुदयस्थानानि, तद्यथा—एकविंशतिः पञ्चविंशतिः षड्विंशतिः सप्तविंशतिः अष्टाविंशतिः एकोनत्रिंशत् त्रिंशद् एकत्रिंशत्। तत्रैकविंशत्युदयो नैरयिक-तिर्यक्पञ्चेन्द्रिय-मनुष्य-देवानधिकृत्य वेदितव्यः क्षायिकसम्यग्दृष्टेः, पूर्वबद्धायुष्कस्य एतेषु सर्वेष्वपि तस्य सम्भवात्। अविरतसम्यग्दृष्टिश्चापर्याप्तकेषु मध्ये नोत्पद्यते, ततोऽपर्याप्तकोदयवर्जाः शेषभङ्गाः सर्वेऽपि वेदितव्याः। ते च पञ्चविंशतिः—तत्र तिर्यक्पञ्चेन्द्रियानधिकृत्याष्टौ, मनुष्यानधिकृत्याष्टौ, देवानप्यधिकृत्याष्टौ, नैरयिकानधिकृत्यैकः। पञ्चविंशति-सप्तविंशत्युदयौ देव-नैरयिकान् वैक्रियतिर्यङ्-मनुष्यांश्चाधिकृत्यावसेयौ। तत्र नैरयिकः क्षायिकसम्यग्दृष्टिर्वेदकसम्यग्दृष्टिर्वा, देवस्त्रिविधसम्यग्दृष्टिरपि। उक्तं च चूर्णौ—

पणवीस-सत्तवीसोदया देव-नेरइए विउव्वियतिरिय-मणुए य पडुच्च,
नेरइगो खइग-वेयगसम्मद्दिट्ठी, देवो तिविहसम्मद्दिट्ठी वि। (   ) इति।

भङ्गा अत्र सर्वेऽप्यात्मीया आत्मीया द्रष्टव्याः। षड्विंशत्युदयः तिर्यङ्-मनुष्याणां क्षायिक-वेदकसम्यग्दृष्टीनाम्। औपशमिकसम्यग्दृष्टिश्च तिर्यङ्-मनुष्येषु मध्ये नोत्पद्यत इति त्रिविधसम्यग्दृष्टीनामिति नोक्तम्। वेदकसम्यग्दृष्टिता च तिरश्चो द्वाविंशतिसत्कर्मणो वेदितव्या। अष्टाविंशति-एकोनत्रिंशदुदयौ नैरयिक-तिर्यङ्-मनुष्य-देवानाम्। त्रिंशदुदयस्तिर्यक्पञ्चेन्द्रिय-मनुष्य-देवानाम्। एकत्रिंशदुदयस्तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणाम्। भङ्गा आत्मीया आत्मीयाः सर्वेऽपि द्रष्टव्याः।

चत्वारि सत्तास्थानानि, तद्यथा—त्रिनवतिः द्विनवतिः एकोननवतिः अष्टाशीतिश्च। तत्र योऽप्रमत्तसंयतोऽपूर्वकरणो वा तीर्थकराऽऽहारकसहितामेकत्रिंशतं बद्ध्वा पश्चादविरतसम्यग्दृष्टिर्देवो जातस्तमधिकृत्य त्रिनवतिः। यस्त्वाहारकं बद्ध्वा परिणामपरावर्तनेन मिथ्यात्वमुपगम्य चतसृणां गतीनामन्यतमस्यां गतावुत्पन्नस्तस्य तत्र तत्र गतौ भूयोऽपि सम्यक्त्वं प्रतिपन्नस्य द्विनवतिः। देव-मनुष्येषु मध्ये मिथ्यात्वमप्रतिपन्नस्यापि द्विनवतिः प्राप्यते। एकोननवतिर्देव-नैरयिकमनुष्याणामविरतसम्यग्दृष्टीनाम्, ते हि त्रयोऽपि तीर्थकरनाम समर्जयन्ति। तिर्यक्षु तीर्थकरनामसत्कर्मा नोत्पद्यत इति तिर्यङ् न गृहीतः। अष्टाशीतिश्चतुर्गतिकानामविरतसम्यग्दृष्टीनाम्।

---

१ मं० छा० पा म ॥ २ पञ्चविंशति-सप्तविंशत्युदयौ देवनैरयिकान् वैक्रियतिर्यङ्मनुष्यांश्च प्रतीत्य, नैरयिकः क्षायिक-वेदकसम्यग्दृष्टिः, देवस्त्रिविधसम्यग्दृष्टिरपि ॥ ३ मं० मुद्रि० लमनुग° ॥

सम्प्रति सवेध उच्यते—तत्राविरतसम्यग्दृष्टेरष्टाविंशतिबन्धकस्य अष्टावप्युदयस्थानानि, तानि तिर्यङ्-मनुष्यानधिकृत्य। तत्रापि पञ्चविंशति-सप्तविंशत्युदयौ वैक्रियतिर्यङ्-मनुष्यानधिकृत्य। एकैकस्मिन्नुदयस्थाने, द्वे द्वे सत्तास्थाने, तद्यथा—द्विनवतिरष्टाशीतिश्च। एकोनत्रिंशद्, द्विधा—देवगतिप्रायोग्या मनुष्यगतिप्रायोग्या च। तत्र देवगतिप्रायोग्या तीर्थकरनामसहिता, ता च मनुष्या एव बध्नन्ति। तेषा चोदयस्थानानि सप्त, तद्यथा—एकविंशति पञ्चविंशति षड्विंशति सप्तविंशति अष्टाविंशति एकोनत्रिंशत् त्रिंशत्। मनुष्याणामेकत्रिंशन्न सम्भवति। एकैकस्मिन्नुदयस्थाने द्वे द्वे सत्तास्थाने, तद्यथा—त्रिनवति एकोननवतिश्च। मनुष्यगतिप्रायोग्या चैकोनत्रिंशत बध्नन्ति देव-नैरयिका। तत्र नैरयिकाणामुदयस्थानानि पञ्च, तद्यथा—एकविंशति पञ्चविंशति सप्तविंशति अष्टाविंशति एकोनत्रिंशत्। देवाना पञ्च तावदेतान्येव, षष्ठ तु त्रिंशत्, सा चोद्योतवेदकाना देवानामवगन्तव्या। एकैकस्मिन्नुदयस्थाने द्वे द्वे सत्तास्थाने, तद्यथा—द्विनवतिरष्टाशीतिश्च। मनुष्यगतिप्रायोग्या त्रिंशतमविरतसम्यग्दृष्टयो देवा नैरयिकाश्च बध्नन्ति। तत्र देवानामुदयस्थानानि षट् तान्येव। तेषु उदयस्थानेषु प्रत्येक द्वे द्वे सत्तास्थाने—त्रिनवतिरेकोननवतिश्च। नैरयिकाणामुदयस्थानानि पञ्च, तेषु प्रत्येक सत्तास्थानमेकोननवतिरेव, तीर्थकरा-ऽऽहारकसत्कर्मणो नरकेषूत्पादाभावात्। तदेव सामान्येनैकविंशत्यादिषु त्रिंशत्पर्यन्तेषूदयस्थानेषु सत्तास्थानानि प्रत्येक चत्वारि चत्वारि, तद्यथा—त्रिनवति द्विनवति एकोननवति अष्टाशीतिश्च। एकत्रिंशदुदये द्वे—द्विनवतिरष्टाशीतिश्च। सर्वसङ्ख्यया त्रिंशत्।

सम्प्रति देशविरतस्य बन्धादिस्थानान्युच्यन्ते—"दुग छ चउ" त्ति देशविरतस्य द्वे बन्धस्थाने, तद्यथा—अष्टाविंशतिरेकोनत्रिंशत्। तत्राष्टाविंशतिर्मनुष्यस्य तिर्यक्पञ्चेन्द्रियस्य वा देशविरतस्य देवगतिप्रायोग्या, तत्राष्टौ भङ्गा। सैव तीर्थकरसहिता एकोनत्रिंशत्, सा च मनुष्यस्यैव, तिरश्चस्तीर्थकरसत्कर्म-बन्धाभावात्, अत्राप्यष्टौ भङ्गा।

षड् उदयस्थानानि, तद्यथा—पञ्चविंशति सप्तविंशति अष्टाविंशति एकोनत्रिंशत् त्रिंशद् एकत्रिंशत्। तत्राद्यानि चत्वारि वैक्रियतिर्यङ्-मनुष्याणाम्। अत्र मनुष्याणामेकैक एव भङ्ग, तिरश्चामाद्ययोरेकैकोऽन्तिमयोस्तु द्वौ द्वौ, सर्वपदाना प्रशस्तत्वात्। त्रिंशत् स्वभावस्थाना तिर्यङ्-मनुष्याणाम्, प्रत्येकमत्र भङ्गकाना चतुश्चत्वारिंश शतम् १४४, तच्च षड्भि संस्थानै षड्भि संहनने सुस्वर-दुस्वराभ्या प्रशस्ताऽप्रशस्तविहायोगतिभ्या च जायते। दुर्भगा-ऽनादेया-ऽयश -कीर्तिनामुदयो गुणप्रत्ययादेव न भवतीति तदाश्रिता विकल्पा न प्राप्यन्ते। वैक्रियतिरश्चा एको भङ्ग—एकत्रिंशत्। तिरश्चामत्रापि त एव भङ्गा १४४। सर्वसङ्ख्यया चत्वारि शतानि त्रिचत्वारिंशदधिकानि ४४३।

---

१ स० म० १ स० २ त० °कानामव ॥ २ स० १ स० २ त० म० छा० °स्मिन् द्वे द्वे ॥ ३ स० स० १ स० २ त० म० °षु प्रत्ये° ॥ ४ सत्कर्म च बन्धश्च सत्कर्मबन्धौ, तीर्थकरस्य सत्कर्मबन्धौ तीर्थकरसत्कर्मबन्धौ, तयोरभावस्तीर्थकरसत्कर्मबन्धाभावस्तस्मादिति विग्रह ॥ ५ छा० मुद्रि० स्थानामपि तिय ॥ ६ स० स० २ ते। वैक्रियतिर्यग्मनुष्याणा प्रत्येकमेकैको भ। छा० न्ते। तिर्यग्मनुष्याणा प्रत्येकमेकैको भ ॥ ७ स० छा० मुद्रि० ता १४४। चत्वारि सत्ता ॥

चत्वारि सत्तास्थानानि, तद्यथा—त्रिनवति द्विनवति एकोननवति अष्टाशीतिश्च । तत्र योऽप्रमत्तोऽपूर्वकरणो वा तीर्थकरा-ऽऽहारक बद्ध्वा परिणामह्रासेन देशविरतो जात तस्य त्रिनवति । शेषाणा भावनाऽविरतसम्यग्दृष्टेरिव कर्तव्या ।

सम्प्रति सवेध उच्यते—तत्र मनुष्यस्य देशविरतस्याष्टाविंशतिबन्धकस्य पञ्च उदयस्थानानि, तद्यथा—पञ्चविंशति सप्तविंशति अष्टाविंशति एकोनत्रिंशत् त्रिंशत् । एतेषु च प्रत्येक द्वे द्वे सत्तास्थाने, तद्यथा—द्विनवतिरष्टाशीतिश्च । एव तिरश्चोऽपि, नवर तस्यैकत्रिंशदुदयोऽपि वक्तव्य, तत्रापि चैते एव द्वे सत्तास्थाने । एकोनत्रिंशद्बन्धो मनुष्यस्यैव देशविरतस्य, तस्योदयस्थानान्यनन्तरोक्तान्येव पञ्च, तेषु प्रत्येक द्वे द्वे सत्तास्थाने, तद्यथा—त्रिनवतिरेकोननवतिश्च । तदेव देशविरतस्य पञ्चविंशत्यादिषु त्रिंशत्पर्यन्तेषु चत्वारि चत्वारि सत्तास्थानानि । एकत्रिंशदुदये द्वे सत्तास्थाने । सर्वसङ्ख्यया द्वाविंशति २२ ।

सम्प्रति प्रमत्तसयतस्य बन्धादिस्थानान्युच्यन्ते—"दुग पण चउ" त्ति प्रमत्तसंयतस्य द्वे बन्धस्थाने, तद्यथा—अष्टाविंशतिरेकोनत्रिंशत् । एते च देशविरतस्येव भावनीये ।

पञ्चोदयस्थानानि, तद्यथा—पञ्चविंशति सप्तविंशति अष्टाविंशति एकोनत्रिंशत् त्रिंशत् । एतानि सर्वाण्यप्याहारकसंयतस्य वैक्रियसयतस्य वा वेदितव्यानि । त्रिंशत् स्वभावस्थसंयतस्यापि । तत्र वैक्रियसयतानामाहारकसयताना च पृथक् पृथक् पञ्चविंशति-सप्तविंशत्युदययो प्रत्येकमेकैको भङ्ग ४, अष्टाविंशतावेकोनत्रिंशति च द्वौ द्वौ ८, त्रिंशति चैकैक २ । सर्वसङ्ख्यया चतुर्दश १४ । त्रिंशदुदय स्वभावस्थस्यापि प्राप्यते । तत्र चतुश्चत्वारिंश शत भङ्गानाम् १४४, तच्च देशविरतस्येव भावनीयम् । सर्वसङ्ख्ययाऽष्टपञ्चाशदधिक शतम् १५८ ।

चत्वारि सत्तास्थानानि, तद्यथा—त्रिनवति द्विनवति एकोननवति अष्टाशीतिश्च ।

सम्प्रति संवेध उच्यते—अष्टाविंशतिबन्धकस्य पञ्चस्वप्युदयस्थानेषु प्रत्येक द्वे द्वे सत्तास्थाने, तद्यथा—द्विनवतिरष्टाशीतिश्च । तत्राहारकसयतस्य द्विनवतिरेव, आहारकसत्कर्मा आहारकशरीरमुत्पादयतीति तस्य द्विनवतिरेव । वैक्रियसयतस्य पुनर्द्वे अपि । तीर्थकरनामसत्कर्मा चाष्टाविंशति न बध्नातीति त्रिनवतिरेकोननवतिश्च न प्राप्यते । एकोनत्रिंशद्बन्धकस्य पञ्चस्वप्युदयस्थानेषु प्रत्येक द्वे द्वे सत्तास्थाने, तद्यथा—त्रिनवतिरेकोननवतिश्च । तत्राहारकसंयतस्य त्रिनवतिरेव, तस्यैकोनत्रिंशद्बन्धकस्य नियमतस्तीर्थकरा-ऽऽहारकसद्भावात् । वैक्रियसयतस्य पुनर्द्वे अपि । तदेव प्रमत्तसयतस्य सर्वेष्वप्युदयस्थानेषु प्रत्येक चत्वारि चत्वारि सत्तास्थानानि प्राप्यन्त इति । सर्वसङ्ख्यया विंशति २० ।

इदानीमप्रमत्तसयतस्य बन्धादीन्युच्यन्ते—"चउ दुग चउ" त्ति अप्रमत्तसयतस्य चत्वारि बन्धस्थानानि, तद्यथा—अष्टाविंशति एकोनत्रिंशत् त्रिंशद् एकत्रिंशत् । तत्राद्ये द्वे प्रमत्तसंय

१ स० मुद्रि० यति ततस्तस्य ॥ २ स० अपि सत्तास्थाने । ती ॥

तस्यैव भावनीये । सैवाष्टाविंशतिराहारकद्विकसहिता त्रिंशत् । आहारकद्विक-तीर्थकरसहिता त्वेकत्रिंशत् । एतेषु चतुर्ष्वपि बन्धस्थानेषु भङ्ग एकैक एव वेदितव्य, अस्थिरा-ऽशुभा-ऽयश-कीर्तीनामप्रमत्तसयते बन्धाभावात् ।

द्वे उदयस्थाने, तद्यथा—एकोनत्रिंशत् त्रिंशत् । तत्रैकोनत्रिंशद् यो नाम पूर्वं प्रमत्तसंयत सन् आहारकं वैक्रियं वा निर्वर्त्य पश्चादप्रमत्तभाव गच्छति तस्य प्राप्यते, अत्र द्वौ भङ्गौ—एको वैक्रियस्य, अपर आहारकस्य । एव त्रिंशदुदयेऽपि द्वौ भङ्गौ । स्वभावस्थस्याप्यप्रमत्त सयतस्य त्रिंशदुदयो भवति, तत्र भङ्गाश्चतुश्चत्वारिंश शतम् १४४ । सर्वसङ्ख्ययाऽष्टचत्वारिंश शतम् १४८ ।

सत्तास्थानानि चत्वारि, तद्यथा—त्रिनवति द्विनवति एकोननवति अष्टाशीतिश्च ।

सम्प्रति सवेध उच्यते—अष्टाविंशतिबन्धकस्य द्वयोरप्युदयस्थानयोरेकैक सत्तास्थानम्—अष्टाशीति । एकोनत्रिंशद्बन्धकस्यापि द्वयोरप्युदयस्थानयोरेकैक सत्तास्थानम्—एकोननवति । त्रिंशद्बन्धकस्यापि द्वयोरप्युदयस्थानयोरेकैक सत्तास्थानम्—द्विनवति । एकत्रिंशद्बन्धकस्यापि द्वयोरप्युदयस्थानयोरेकैक सत्तास्थानम्—त्रिनवति । यस्य हि तीर्थकरमाहारक वा सत् स नियमात् तद् बध्नाति, तेनैकैकस्मिन् बन्धे एकैकमेव सत्तास्थानम् । सर्वसङ्ख्ययाऽष्टौ ।

सम्प्रत्यपूर्वकरणस्य बन्धादीन्युच्यन्ते—"पणगेग चउ" त्ति अपूर्वकरणस्य पञ्च बन्धस्थानानि, तद्यथा—अष्टाविंशति एकोनत्रिंशत् त्रिंशद् एकत्रिंशद् एका च । तत्राद्यानि चत्वारि अप्रमत्तसयतस्येव द्रष्टव्यानि । एका तु यश कीर्ति, सा च देवगतिप्रायोग्यबन्धव्यवच्छेदे सति वेदितव्या ।

एकमुदयस्थानम्—त्रिंशत् । अत्र वज्रर्षभनाराचसहनन षट्सस्थान सुस्वर दु स्वर प्रशस्ता-ऽप्रशस्तविहायोगतिभिर्भङ्गाश्चतुर्विंशति २४ ।

[1] अन्ये त्वाचार्या ब्रुवते—आद्यसहननत्रयान्यतमसहननयुक्ता अप्युपशमश्रेणा प्रतिपद्यन्ते तन्मतेन भङ्गा द्विसप्तति । एवमनिवृत्तिबादर-सूक्ष्मसम्पराय-उपशान्तमोहेष्वपि द्रष्टव्यम् ।

चत्वारि सत्तास्थानानि, तद्यथा—त्रिनवति द्विनवति एकोननवति अष्टाशीतिश्च ।

सम्प्रति सवेध उच्यते—अष्टाविंशति-एकोनत्रिंशत् त्रिंशद् एकत्रिंशद्बन्धकाना त्रिंशदुदये सत्तास्थानानि यथाक्रममष्टाशीति एकोननवति द्विनवति त्रिनवतिश्च । एकविधबन्धकस्य त्रिंशदुदये चत्वार्यपि सत्तास्थानानि, कथम् ? इति चेद् उच्यते—इहाष्टाविंशति-एकोनत्रिंशत् त्रिंशद्-एकत्रिंशद्बन्धका प्रत्येक देवगतिप्रायोग्यबन्धव्यवच्छेदे सत्येकविधबन्धका भवन्ति, अष्टाविंशत्यादिबन्धकाना च यथाक्रममष्टाशीत्यादीनि सत्तास्थानानि, तत एकविधबन्धे चत्वार्यपि[2] प्राप्यन्ते ॥ ४९ ॥

---

१ सं० १ त० म० °तत्रसं° ॥ २ स० छा० °पि सत्तास्थानानि प्राप्य° ॥

सम्प्रत्यनिवृत्तिबादरस्य बन्धादिस्थानान्युच्यन्ते—"एगेगमट्ठ" ति अनिवृत्तिबादरस्यैकं बन्धस्थानम्—यश कीर्ति । एकमुदयस्थानम्—त्रिंशत् । अष्टौ सत्तास्थानानि, तद्यथा—त्रिनवति द्विनवति एकोननवति अष्टाशीति अशीति एकोनाशीति षट्सप्तति पञ्चसप्ततिश्च। तत्राद्यानि चत्वार्युपशमश्रेण्या क्षपकश्रेण्या वा यावद् नामत्रयोदशक न क्षीयते । त्रयोदशसु च नामसु यथाक्रम त्रिनवत्यादे क्षीणेषूपरितनानि चत्वारि सत्तास्थानानि भवन्ति । बन्ध-उदय-स्थानभेदाभावादत्र संवेधो न सम्भवतीति नाभिधीयते ।

सूक्ष्मसम्परायस्य बन्धादीन्युच्यन्ते—"एगेगमट्ठ" ति सूक्ष्मसम्परायस्यैकं बन्धस्थानम्—यश कीर्ति । एकमुदयस्थानम्—त्रिंशत् । अष्टौ सत्तास्थानानि, तानि चानिवृत्तिबादरस्येव वेदितव्यानि । तत्राद्यानि चत्वार्युपशमश्रेण्यामेव, उपरितनानि तु क्षपकश्रेण्याम् ।

"छउमत्थकेवलिजिणाण" इत्यादि। छद्मस्थजिना —उपशान्तमोहा क्षीणमोहाश्च, केवलिजिना —सयोगिकेवलिनोऽयोगिकेवलिनश्च, तेषा यथाक्रममुदय-सत्तास्थानानि—"एक चउ" इत्यादीनि । तत्रोपशान्तमोहस्यैकमुदयस्थानम्—त्रिंशत् ।

चत्वारि सत्तास्थानानि, तद्यथा—त्रिनवति द्विनवति एकोननवति अष्टाशीतिश्च ।

क्षीणकषायस्यैकमुदयस्थानम्—त्रिंशत् । अत्र भङ्गाश्चतुर्विंशतिरेव, वज्रर्षभनाराचसंहननयुक्तस्यैव क्षपकश्रेण्यारम्भसम्भवात् । तत्रापि तीर्थकरसत्कर्मण क्षीणमोहस्य सर्वं संस्थानादि प्रशस्तमित्येक एव भङ्ग ।

चत्वारि सत्तास्थानानि, तद्यथा—अशीति एकोनाशीति षट्सप्तति पञ्चसप्ततिश्च । एकोनाशीति-पञ्चसप्तती अतीर्थकरसत्कर्मणो वेदितव्ये । अशीति-षट्सप्तती तु तीर्थकरसत्कर्मण ।

सयोगिकेवलिनोऽष्टावुदयस्थानानि, तद्यथा—विंशति एकविंशति षड्विंशति सप्तविंशति अष्टाविंशति एकोनत्रिंशत् त्रिंशद् एकत्रिंशत् । एतानि सामान्यतो नाम्न उदयस्थानचिन्ताया सप्रपञ्च विवृतानीति न भूयो विवियन्ते ।

चत्वारि सत्तास्थानानि, तद्यथा—अशीति एकोनाशीति षट्सप्तति पञ्चसप्तति ।

सम्प्रति संवेध उच्यते—स च जीवस्थानेषु पर्याप्तसंज्ञिद्वारे यथा कृतस्तथाऽत्रापि भावयितव्य ।

अयोगिकेवलिनो द्वे उदयस्थाने, तद्यथा—नव अष्टौ च । तत्राष्टोदयोऽतीर्थकरायोगिकेवलिन , नवोदयस्तीर्थकरायोगिकेवलिन ।

षट् सत्तास्थानानि, तद्यथा—अशीति एकोनाशीति षट्सप्तति पञ्चसप्तति नव अष्टौ च ।

सम्प्रति संवेध उच्यते—तत्राष्टोदये त्रीणि सत्तास्थानानि, तद्यथा—एकोनाशीति पञ्चस-

१ स १ त० म० °ने वेदितव्ये, तद्य° ॥ २ स० स० २ मुद्रि० च । तत्राष्टो° ॥

ष्टति अष्टौ च । तत्राद्ये द्वे यावद् द्विचरमसमयस्तावत् प्राप्येते, चरमसमयेऽष्टौ । नवोदये त्रीणि सत्तास्थानानि, तद्यथा—अशीति षट्सप्तति नव च । तत्राद्ये द्वे यावद् द्विचरमसमय, चरमसमये नव ॥ ५० ॥

तदेवं गुणस्थानकेषु बन्ध-उदय-सत्तास्थानान्युक्तानि । साम्प्रतं गत्यादिषु मार्गणास्थानेषु तानि चिचिन्तयिषुः प्रथमतो गतिषु तावत् चिन्तयन्नाह—

दो छक्कऽट्ठ चउक्कं, पण नव एक्कार छक्कगं उदया ।
नेरइआइसु संता, ति पंच एक्कारस चउक्कं ॥ ५१ ॥

नैरयिक तिर्यग्-मनुष्य-देवाना यथाक्रमं द्वे षड् अष्टौ चत्वारि बन्धस्थानानि । तत्र नैरयिकाणामिमे द्वे, तद्यथा—एकोनत्रिंशत् त्रिंशत् । तत्रैकोनत्रिंशद् मनुष्यगतिप्रायोग्या तिर्यग्गतिप्रायोग्या च वेदितव्या । त्रिंशत् तिर्यक्पञ्चेन्द्रियप्रायोग्या उद्योतसहिता, मनुष्यगतिप्रायोग्या तु तीर्थकरसहिता । भङ्गाश्चे प्रागुक्ता सर्वेऽपि द्रष्टव्या ।

तिरश्चां षड् बन्धस्थानानि, तद्यथा—त्रयोविंशति पञ्चविंशति षड्विंशति अष्टाविंशति एकोनत्रिंशत् त्रिंशत् । एतानि प्रागिव सप्रभेदानि वक्तव्यानि । केवलमेकोनत्रिंशत् त्रिंशच्च या तीर्थकरा-ऽऽहारकसहिता सा न वक्तव्या, तिरश्चां तीर्थकरा-ऽऽहारकबन्धासम्भवात् ।

मनुष्याणामष्टौ बन्धस्थानानि, तद्यथा—त्रयोविंशति पञ्चविंशति षड्विंशति अष्टाविंशति एकोनत्रिंशत् त्रिंशद् एकत्रिंशद् एका च । एतान्यपि प्रागिव सप्रभेदानि वक्तव्यानि, मनुष्याणा चतुर्गतिकप्रायोग्यबन्धसम्भवात् ।

देवस्य चत्वारि बन्धस्थानानि, तद्यथा—पञ्चविंशति षड्विंशति एकोनत्रिंशत् त्रिंशत् । अत्र पञ्चविंशति षड्विंशतिश्च पर्याप्त बादर-प्रत्येकसहितमेकेन्द्रियप्रायोग्य बध्नतो वेदितव्या । अत्र स्थिरा-ऽस्थिर-शुभा-ऽशुभ-यश कीर्ति-अयश कीर्तिभिरष्टौ भङ्गा । षड्विंशति आतप-उद्योतान्यतरसहिता भवति, ततोऽत्र भङ्गा षोडश । एकोनत्रिंशद् मनुष्यगतिप्रायोग्या तिर्यक्पञ्चेन्द्रियप्रायोग्या च सप्रभेदाऽवसेया । त्रिंशत् पुनस्तिर्यक्पञ्चेन्द्रियप्रायोग्या उद्योतसहिता अष्टाधिकषट्चत्वारिंशच्छतसङ्ख्यभेदोपेता ४६०८ प्रागिवं वक्तव्या । या तु मनुष्यगतिप्रायोग्या तीर्थकरनामसहिता तत्र स्थिरा-ऽस्थिर-शुभा-ऽशुभ-यश कीर्ति-अयश कीर्तिभिरष्टौ भङ्गा ।

सम्प्रत्युदयस्थानान्यभिधीयन्ते—"पण नव एक्कार छक्कग उदया" । नैरयिकाणा पञ्च 'उदया' उदयस्थानानि, तद्यथा—एकविंशति पञ्चविंशति सप्तविंशति अष्टाविंशति एकोनत्रिंशत् । एतानि सप्रभेदानि प्रागिव वक्तव्यानि ।

---

१ सं० सं० १ सं० २ त० छा० °आई संता, ॥ २ छा० मुद्रि० °श्च सर्वत्रापि प्रागु° ॥ ३ सं० १ त० म० °शति पञ्च° ॥ ४ मुद्रि० °व सप्रभेदा वक्त° ॥ ५ सं० १ त० म० °श्च उदयस्थाना° ॥

तिरश्चां नव उदयस्थानानि, तद्यथा—एकविंशति चतुर्विंशति पञ्चविंशति षड्विंशति, सप्तविंशति अष्टाविंशति एकोनत्रिंशत् त्रिंशद् एकत्रिंशत् । एतानि एकेन्द्रिय विकलेन्द्रिय-सवैक्रिया ऽवैक्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियानधिकृत्य सप्रभेदानि प्रागिव वक्तव्यानि ।

मनुष्याणामेकादशोदयस्थानानि, तद्यथा—विंशति एकविंशति पञ्चविंशति षड्विंशति सप्तविंशति अष्टाविंशति एकोनत्रिंशत् त्रिंशद् एकत्रिंशद् नव अष्टौ च । एतानि च स्व भावस्थमनुष्य-वैक्रियमनुष्या ऽऽहारकसंयत-तीर्थकरा ऽतीर्थकरसयोगि-अयोगिकेवलिनोऽधिकृत्य-प्रागवद् भावनीयानि ।

देवाना षड् उदयस्थानानि, तद्यथा—एकविंशति पञ्चविंशति सप्तविंशति अष्टाविंशति एकोनत्रिंशत् त्रिंशत् । एतान्यपि प्रागेव सप्रपञ्चमुक्तानि, न भूय उच्यन्ते ।

सम्प्रति सत्तास्थानान्यभिधीयन्ते—"सत्ता ति पञ्च एगारस चउक्क" । नैरयिकाणा सत्ता-स्थानानि त्रीणि, तद्यथा—द्विनवति एकोननवति अष्टाशीतिश्च । एकोननवतिर्बद्धतीर्थकरनाम्नो मिथ्यात्वं गतस्य नरकेषूत्पद्यमानस्यावसेया । त्रिनवतिस्तु न सम्भवति, तीर्थकरा ऽऽहारकसत्क-र्मणो नरकेषूत्पादाभावात् ।

तिरश्चा पञ्च सत्तास्थानानि, तद्यथा—द्विनवति अष्टाशीति, षडशीति अशीति अष्ट-सप्ततिश्च । तीर्थकरसम्बन्धीनि क्षपकसम्बन्धीनि च सत्तास्थानानि न सम्भवन्ति, तीर्थकरनाम्न क्षपकश्रेण्याश्च तिर्यक्ष्वभावात् ।

मनुष्याणामेकादश सत्तास्थानानि, तद्यथा—त्रिनवति द्विनवति एकोननवति अष्टाशीति षडशीति अशीति एकोनाशीति षट्सप्तति, पञ्चसप्तति नव अष्टौ च । अष्टसप्ततिस्तु न सम्भवति, मनुष्याणामवश्य मनुष्यद्विकसम्भवात् ।

देवाना चत्वारि सत्तास्थानानि, तद्यथा—त्रिनवति द्विनवति एकोननवति, अष्टाशीति, । शेषाणि तु न सम्भवन्ति, शेषाणि हि कानिचिद् एकेन्द्रियसम्बन्धीनि कानिचित् क्षपक सम्बन्धीनि, तत कथ तानि देवाना भवितुमर्हन्ति [1] ।

सम्प्रति संवेध उच्यते—नैरयिकस्य तिर्यग्गतिप्रायोग्यामेकोनत्रिंशत बध्नतः पञ्च उदय-स्थानानि, तानि चानन्तरमेवोक्तानि । तेषु प्रत्येक द्वे द्वे सत्तास्थाने, तद्यथा—द्विनवति अष्टा-शीति, । तीर्थकरसत्कर्मणस्तिर्यग्गतिप्रायोग्यबन्धासम्भवाद् एकोननवतिर्न लभ्यते । मनुष्यगतिप्रा-योग्या त्वेकोनत्रिंशत बध्नत पञ्चस्वप्युदयस्थानेषु प्रत्येक त्रीणि त्रीणि सत्तास्थानानि, तद्यथा—द्विनवति एकोननवति अष्टाशीतिश्च । तीर्थकरसत्कर्मा हि नरकेषूत्पन्नो यावद् मिथ्यादृष्टिस्तावद् एकोनत्रिंशत बध्नाति, सम्यक्त्व तु प्रतिपन्नस्त्रिंशतम्, तीर्थकरनामकर्मणोऽपि बन्धात् । तिर्यग्ग-तिप्रायोग्यामुद्योतसहिता त्रिंशत बध्नत पञ्चस्वप्युदयस्थानेषु प्रत्येक द्वे द्वे सत्तास्थाने, तद्यथा—

---

१ स० १ त० म० "करसयो" ॥

द्विनवतिरष्टाशीतिश्च । एकोननवत्यभावभावना प्रागिव भावनीया । मनुष्यगतिप्रायोग्या तीर्थकरनामसहिता त्रिंशत बध्नत पञ्चस्वप्युदयस्थानेषु प्रत्येकमेकैकं सत्तास्थानम्—एकोननवतिः । सर्वबन्धस्थान-उदयस्थानापेक्षया सत्तास्थानानि चत्वारिंशत् ।

सम्प्रति तिरश्चां संवेध उच्यते—त्रयोविंशतिबन्धकस्य तिरश्च एकविंशत्यादीनि नव उदयस्थानानि, तानि चानन्तरमेवोक्तानि । तत्राद्येषु चतुर्षु एकविंशति-चतुर्विंशति पञ्चविंशति षड्विंशतिरूपेषु प्रत्येकं पञ्च पञ्च सत्तास्थानानि, तद्यथा—द्विनवति अष्टाशीति षडशीति अशीति अष्टसप्तति । इहाष्टसप्ततिस्तेजो वायून् तद्भवादुद्वृत्तान् वाऽधिकृत्य वेदितव्या । शेषेषु तु सप्तविंशत्यादिषु पञ्चसूदयस्थानेषु अष्टसप्ततिवर्जानि चत्वारि चत्वारि सत्तास्थानानि । सप्तविंशत्याद्युदयेषु हि नियमतो मनुष्यगतिद्विकसम्भवादष्टसप्ततिर्न लभ्यते । एवं पञ्चविंशति-षड्विंशति-एकोनत्रिंशत्-त्रिंशद्बन्धकानामपि वक्तव्यम् । नवरमेकोनत्रिंशत मनुष्यगतिप्रायोग्या बध्नत सर्वेष्वप्युदयस्थानेष्वष्टसप्ततिवर्जानि चत्वारि चत्वारि सत्तास्थानानि । अष्टाविंशतिबन्धकस्य अष्टावुदयस्थानानि, तद्यथा—एकविंशति पञ्चविंशति षड्विंशति सप्तविंशति अष्टाविंशति एकोनत्रिंशत् त्रिंशद् एकत्रिंशत् । तत्रैकविंशति-षड्विंशति-अष्टाविंशति एकोनत्रिंशत् त्रिंशद्रूपा पञ्च उदया क्षायिकसम्यग्दृष्टीना वेदकसम्यग्दृष्टीना वा द्वाविंशतिसत्कर्मणा पूर्वबद्धायुषामवगन्तव्या । एकैकस्मिंश्च द्वे द्वे सत्तास्थाने, तद्यथा—द्विनवति अष्टाशीतिश्च । पञ्चविंशति-सप्तविंशत्युदयौ वैक्रियतिरश्चां वेदितव्यौ, तत्रापि ते एव द्वे द्वे सत्तास्थाने । त्रिंशद्-एकत्रिंशदुदयौ सर्वपर्याप्तिपर्याप्ताना सम्यग्दृष्टीना मिथ्यादृष्टीना वाऽवसेयौ । एकैकस्मिंश्च त्रीणि त्रीणि सत्तास्थानानि, तद्यथा—द्विनवति अष्टाशीति षडशीतिश्च । षडशीतिर्मिथ्यादृष्टीनामवगन्तव्या । सम्यग्दृष्टीना तु न सम्भवति, तेषामवश्य देवद्विकादिबन्धसम्भवात् । तदेवं सर्वबन्धस्थान-सर्वोदयस्थानापेक्षया सत्तास्थानाना द्वे शते अष्टादशाधिके २१८, तथाहि—त्रयोविंशति-पञ्चविंशति-षड्विंशति-एकोनत्रिंशत्-त्रिंशद्बन्धकेषु प्रत्येकं चत्वारिंशत् चत्वारिंशत्, अष्टाविंशतिबन्धे चाष्टादश ।

सम्प्रति मनुष्याणां संवेध उच्यते—तत्र मनुष्यस्य त्रयोविंशतिबन्धकस्योदया सप्त, तद्यथा—एकविंशति पञ्चविंशति षड्विंशति सप्तविंशति अष्टाविंशति एकोनत्रिंशत् त्रिंशत्, शेषा केवल्युदया इति न सम्भवन्ति । पञ्चविंशति-सप्तविंशत्युदयौ च वैक्रियकारिणो वेदितव्यौ । एकैकस्मिंश्चत्वारि चत्वारि सत्तास्थानानि, तद्यथा—द्विनवति अष्टाशीति षडशीति अशीतिश्च । नवरं पञ्चविंशत्युदये सप्तविंशत्युदये च द्वे द्वे सत्तास्थाने, तद्यथा—द्विनवति अष्टाशीतिश्च, शेषाणि तु सत्तास्थानानि तीर्थकर-क्षपकश्रेणि-केवलि-शेषगतिप्रायोग्याणीति न सम्भवन्ति, सर्वसङ्ख्यया चतुर्विंशति । एवं पञ्चविंशति-षड्विंशतिबन्धकानामपि वक्तव्यम् । मनुजगतिप्रायोग्या तिर्यग्गतिप्रायोग्या चैकोनत्रिंशत त्रिंशत च बध्नतामप्येवमेव । अष्टाविंशति-

१ स० २ छा० मुद्रि० °नानि त्रिंशत् ॥ २ इत ऊर्ध्वम्—छा० ग्रन्थाग्रम्-२६३० ॥ ३ स० १ स० भ० °ध्नता ॥ ४ मुद्रि० °या गयतोद ॥ ५ स० छा० मुद्रि० °ति । त्रयोविंशतिबन्धकस्य पञ्च° ॥ ६ छा० मुद्रि० °वलिसम्बन्धानि शेषगतिप्रायोग्याणि चेति सम्भवन्ति ॥

बन्धकाना सप्त उदया, तद्यथा—एकविंशति पञ्चविंशति षड्विंशति सप्तविंशति अष्टाविंशति एकोनत्रिंशत् त्रिंशत्। तत्रैकविंशति-षड्विंशत्युदयौ अविरतसम्यग्दृष्टे करणापर्याप्तस्य। पञ्चविंशति-सप्तविंशत्युदयौ वैक्रियस्याहारकसंयतस्य वा। अष्टाविंशति एकोनत्रिंशतौ अविरतसम्यग्दृष्टीना वैक्रियकारिणामाहारकसंयताना च। त्रिंशत् सम्यग्दृष्टीना मिथ्यादृष्टीना वा। एकैकस्मिन् द्वे द्वे सत्तास्थाने, तद्यथा—द्विनवति अष्टाशीतिश्च। आहारकसंयतस्य द्विनवतिरेव। त्रिंशदुदये चत्वारि सत्तास्थानानि, तद्यथा—द्विनवति एकोननवति अष्टाशीति षडशीतिश्च। तत्रैकोननवतिर्नरकगतिप्रायोग्यमष्टाविंशतिं बध्नतो मिथ्यादृष्टेरवसेया। सर्वसङ्ख्ययाऽष्टाविंशतिबन्धे षोडश सत्तास्थानानि। देवगतिप्रायोग्यामेकोनत्रिंशत तीर्थकरसहिता बध्नत सप्त उदयस्थानानि, तानि चाष्टाविंशतिबन्धकानामिव द्रष्टव्यानि। नवरं त्रिंशदुदय सम्यग्दृष्टीनामेव वक्तव्य, यत एकोनत्रिंशद्बन्धस्तीर्थकरनामसहित, तीर्थकरनाम च बन्धमायाति सम्यग्दृष्टीनामिति। सर्वेष्वपि चोदयस्थानेषु प्रत्येक द्वे द्वे सत्तास्थाने, तद्यथा—त्रिनवति एकोननवतिश्च। आहारकसयतस्य त्रिनवतिरेव। सर्वसङ्ख्यया चतुर्दश। आहारकसहिता त्रिंशत बध्नतो द्वे उदयस्थाने, तद्यथा—एकोनत्रिंशत् त्रिंशत्। तत्र यो नामाऽऽहारकसयतोऽन्तिमकालेऽप्रमत्तस्त प्रति एकोनत्रिंशद् वेदितव्या, अन्यत्रैकोनत्रिंशति आहारकबन्धहेतोर्विशिष्टसंयमस्याऽसम्भवात्। द्वयोरप्युदयस्थानयो प्रत्येकमेकैक सत्तास्थानम्—द्विनवति। एकत्रिंशद्बन्धकस्य एकमुदयस्थानम्—त्रिंशत्, एक सत्तास्थानम्—त्रिनवति। एकविधबन्धकस्यैकमुदयस्थानम्—त्रिंशत्, अष्टौ सत्तास्थानानि, तद्यथा—त्रिनवति द्विनवति एकोननवति अष्टाशीति अशीति एकोनाशीति षट्सप्तति पञ्चसप्ततिश्च। सर्वबन्धस्थान-उदयस्थानापेक्षया सत्तास्थानानि शतमेकोनषष्ट्यधिकम् १५९, तद्यथा—त्रयोविंशति-पञ्चविंशति-षड्विंशतिबन्धेषु प्रत्येक चतुर्विंशतिश्चतुर्विंशति, अष्टाविंशतिबन्धे षोडश, मनुज-तिर्यग्गतिप्रायोग्यैकोनत्रिंशद्बन्धे प्रत्येक चतुर्विंशतिश्चतुर्विंशति, देवगतिप्रायोग्यतीर्थकरसहितैकोनत्रिंशद्बन्धे चतुर्दश, एकत्रिंशद्बन्धे एकम्, एकप्रकृतिबन्धेऽष्टाविति। बन्धाभावे उदयस्थान-सत्तास्थानयो परस्परसवेध सामान्यत संवेधचिन्तायामिव वेदितव्य।

सम्प्रति देवाना सवेध उच्यते—तत्र देवाना पञ्चविंशतिबन्धकाना षट्स्वप्युदयस्थानेषु प्रत्येक द्वे द्वे सत्तास्थाने, तद्यथा—द्विनवति अष्टाशीतिश्च। एव षड्विंशति एकोनत्रिंशद्बन्धकानामपि वेदितव्यम्। उद्योतसहिता तिर्यक्पञ्चेन्द्रियप्रायोग्या त्रिंशतमपि बध्नतामेवमेव। तीर्थकरसहिता पुनस्त्रिंशतमर्थाद् मनुष्यगतिप्रायोग्या बध्नता षट्स्वपि उदयस्थानेषु द्वे द्वे सत्तास्थाने, तद्यथा—त्रिनवति एकोननवतिश्च। सर्वसङ्ख्यया सत्तास्थानानि षष्टि ॥५१॥

तदेव गतिमाश्रित्योक्तम्। सम्प्रति इन्द्रियमाश्रित्याभिधीयते—

---

१ छा॰ मुद्रि॰ °म्यग्दृष्टिवैक्रियाहारकसयतानाम्। त्रिं° ॥ २ छा॰ मुद्रि॰ वरमिह त्रि° ॥
३ आहारकमोक्षकाले इत्यर्थ ॥ ४ छा॰ स॰ मुद्रि॰ प्रतीत्यैको° ॥ ५ अप्रमत्त विहायेत्यर्थ ॥
६ स॰ १ त॰ म॰ छा॰ °स्याभावा° ॥

इग विगलिंदिय सगले, पण पंच य अट्ठ बंधठाणाणि ।
पण छक्केक्कारुदया, पण पण बारस य सताणि ॥ ५२ ॥

एकेन्द्रिय-विकलेन्द्रिय-पञ्चेन्द्रियाणां यथाक्रमं बन्धस्थानानि पञ्च पञ्च अष्टौ । तत्रैकेन्द्रियाणाममूनि पञ्च बन्धस्थानानि, तद्यथा—त्रयोविंशतिः पञ्चविंशतिः षड्विंशतिः एकोनत्रिंशत् त्रिंशत् । तत्र देवगतिप्रायोग्यामेकोनत्रिंशतं त्रिंशतं च वर्जयित्वा शेषाः सर्वाण्यपि सर्वगतिप्रायोग्याणि सप्रभेदानि वक्तव्यानि । विकलेन्द्रियाणां त्रयाणामपि इमान्येव पञ्च पञ्च बन्धस्थानानि[1] । पञ्चेन्द्रियाणां सर्वाण्यपि बन्धस्थानानि सर्वगतिप्रायोग्याणि सप्रभेदानि द्रष्टव्यानि ।

सम्प्रत्युदयस्थानान्युच्यन्ते—" पण छक्केक्कारुदय " त्ति एकेन्द्रिय-विकलेन्द्रिय पञ्चेन्द्रियाणां यथाक्रमं पञ्च षड् एकादश उदयस्थानानि । तत्रैकेन्द्रियाणाममूनि पञ्च उदयस्थानानि, तद्यथा—एकविंशतिः चतुर्विंशतिः पञ्चविंशतिः षड्विंशतिः सप्तविंशतिश्च, एतानि सप्रभेदानि प्रागिव वेदितव्यानि । विकलेन्द्रियाणां षड् उदयस्थानानि, तद्यथा—एकविंशतिः षड्विंशतिः अष्टाविंशतिः एकोनत्रिंशत् त्रिंशद् एकत्रिंशत्, एतान्यपि यथाऽधस्तादुक्तानि तथैव वक्तव्यानि । पञ्चेन्द्रियाणाममून्येकादशोदयस्थानानि, तद्यथा—विंशतिः एकविंशतिः पञ्चविंशतिः षड्विंशतिः सप्तविंशतिः अष्टाविंशतिः एकोनत्रिंशत् त्रिंशद् एकत्रिंशद् नव अष्टौ च । एकेन्द्रिय-विकलेन्द्रियसत्कान्युदयस्थानानि वर्जयित्वा शेषाणि सर्वाण्यपि पञ्चेन्द्रियाणां सप्रभेदानि वक्तव्यानि ।

सम्प्रति सत्तास्थानान्युच्यन्ते—"पण पण बारस य सताणि" त्ति एकेन्द्रिय-विकलेन्द्रिय-पञ्चेन्द्रियाणां यथाक्रमं पञ्च पञ्च द्वादश सत्तास्थानानि । तत्रैकेन्द्रिय-विकलेन्द्रियाणां पञ्च इमानि, तद्यथा—द्विनवतिः अष्टाशीतिः षडशीतिः अशीतिः अष्टसप्ततिश्च । पञ्चेन्द्रियाणां सर्वाण्यपि सत्तास्थानानि ।

तदेवं सामान्यतो बन्ध-उदय-सत्तास्थानान्युक्तानि । सम्प्रति संवेध उच्यते—एकेन्द्रियाणां त्रयोविंशतिबन्धकानामाद्येषु चतुर्षूदयस्थानेषु पूर्वोक्तानि पञ्च पञ्च सत्तास्थानानि, सप्तविंशत्युदये त्वष्टसप्ततिवर्जानि शेषाणि चत्वारि, एवं पञ्चविंशति-षड्विंशति-एकोनत्रिंशत् त्रिंशद्बन्धकानामपि वक्तव्यम्, सर्वसङ्ख्यया सत्तास्थानानि विंशं शतम् १२० । विकलेन्द्रियाणां त्रयोविंशतिबन्धकानामेकविंशत्युदये षड्विंशत्युदये च पञ्च पञ्च सत्तास्थानानि, शेषेषु तु चतुर्षूदयस्थानेषु[2] अष्टसप्ततिवर्जानि शेषाणि चत्वारि चत्वारि सत्तास्थानानि, एवं पञ्चविंशति षड्विंशति-एकोनत्रिंशत्-त्रिंशद्बन्धकानामपि वक्तव्यम्, सर्वसङ्ख्यया सत्तास्थानानि त्रिंशं शतम् १३० । पञ्चेन्द्रियाणां त्रयोविंशतिबन्धकानां षड् उदयस्थानानि, तद्यथा—एकविंशतिः षड्विंशतिः अष्टाविंशतिः एकोनत्रिंशत् त्रिंशद् एकत्रिंशत्, एतानि तिर्यक्पञ्चेन्द्रियान् मनुष्यांश्चाधिकृत्य भावनीयानि । अत्रैकविंशत्युदये षड्विंशत्युदये च पञ्च पञ्च अनन्तरोक्तानि सत्तास्थानानि, शेषेषु तूदयेष्वष्टसप्ततिवर्जानि शेषाणि चत्वारि चत्वारि सत्तास्थानानि, सर्वसङ्ख्यया षड्विंशतिः सत्तास्थानानि । पञ्चविंशतिबन्धकस्याष्टौ उदयस्थानानि, तद्यथा—एकविंशतिः पञ्चविंशतिः षड्विंशतिः सप्तविंशतिः अष्टाविंशतिः एकोनत्रिंशत् त्रिंशद् एकत्रिंशत् । इहैकविंशत्युदये षड्विंश-

१ मुद्रि० छा० 'दानि बन्धस्थानि वक्त०'॥ २ सं० १ त० म० 'दयस्थाने ष्व'॥

त्युदये च पञ्च पञ्चानन्तरोक्तानि सत्तास्थानानि । पञ्चविंशत्युदये सप्तविंशत्युदये च द्वे द्वे सत्तास्थाने, तद्यथा—द्विनवतिः अष्टाशीतिश्च । शेषेष्वष्टाविंशत्यादिषु चतुर्षूदयस्थानेषु प्रत्येकं मष्टसप्ततिवर्जानि शेषाणि चत्वारि चत्वारि सत्तास्थानानि । सर्वसङ्ख्यया त्रिंशत् सत्तास्थानानि । एवं षड्विंशतिबन्धकानामपि । अष्टाविंशतिबन्धकानामष्टावुदयस्थानानि, तद्यथा—एकविंशतिः पञ्चविंशतिः षड्विंशतिः सप्तविंशतिः अष्टाविंशतिः एकोनत्रिंशत् त्रिंशद् एकत्रिंशत् । एतानि तिर्यक्पञ्चेन्द्रिय-मनुष्यानधिकृत्य वेदितव्यानि । एकविंशत्यादिष्वेकोनत्रिंशत्पर्यन्तेषु प्रत्येकं द्वे द्वे सत्तास्थाने, तद्यथा—द्विनवतिः अष्टाशीतिश्च । त्रिंशदुदये चत्वारि—द्विनवतिः एकोननवतिः अष्टाशीतिः षडशीतिश्च । एकोननवतिस्तीर्थकरनामसत्कर्मणो मिथ्यादृष्टेर्नरकगतिप्रायोग्यं बध्नतो मनुष्यस्यावसेया, शेषाणि पुनः सामान्यतस्तिरश्चो मनुष्यान् वाऽधिकृत्य वेदितव्यानि । एकत्रिंशदुदये त्रीणि, तद्यथा—द्विनवतिः अष्टाशीतिः षडशीतिश्च । एतानि तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणामवसेयानि, अन्यत्र पञ्चेन्द्रियस्य सत एकत्रिंशदुदयाभावात् । षडशीतिश्च मिथ्यादृष्टीनां तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणामवसेया, न सम्यग्दृष्टीनाम्, सम्यग्दृष्टीनामवश्यं देवद्विकबन्धसम्भवेनाष्टाशीतिसम्भवात् । अत्र सर्वसङ्ख्यया सत्तास्थानान्येकोनविंशतिः १९ । एकोनत्रिंशद्बन्धकस्य तान्येवा ष्टावुदयस्थानानि । तत्रैकविंशत्युदये षड्विंशत्युदये च सप्त सप्त सत्तास्थानानि । तद्यथा—द्विनवतिः अष्टाशीतिः षडशीतिः अशीतिः अष्टसप्ततिः त्रिनवतिः एकोननवतिः । तत्र तिर्यग्गतिप्रायोग्यामेकोनत्रिंशतं बध्नत आद्यानि पञ्च, मनुष्यगतिप्रायोग्यां बध्नत आद्यानि चत्वारि, देवगतिप्रायोग्यां बध्नतोऽन्तिमे द्वे । अष्टाविंशति-एकोनत्रिंशत्-त्रिंशदुदयेषु एतान्येवाष्टसप्ततिवर्जानि षट् षट् सत्तास्थानानि । एकत्रिंशदुदये आद्यानि चत्वारि । पञ्चविंशति सप्तविंशत्युदययोः पुनरिमानि चत्वारि चत्वारि सत्तास्थानानि, तद्यथा—द्विनवतिः अष्टाशीतिः त्रिनवतिः[1] एकोननवतिश्च । सर्वाङ्कस्थापना— २१/७ २५/४ २६/७ २७/४ २८/६ २९/६ ३०/६ ३१/४, सर्वसङ्ख्ययैकोनत्रिंशद्बन्धे चतुश्चत्वारिंशत् सत्तास्थानानि । त्रिंशद्बन्धकस्यापि तान्येवाष्टावुदयस्थानानि, तान्येव च प्रत्येकं सत्तास्थानानि । केवलमिहैकविंशत्युदये आद्यानि द्विनवति-अष्टाशीति-षडशीति-अशीति-अष्टसप्ततिरूपाणि पञ्च सत्तास्थानानि तिर्यग्गतिप्रायोग्यामेव त्रिंशतं बध्नतो वेदितव्यानि, न मनुष्यगतिप्रायोग्याम्, तस्यास्तीर्थकरनामसहितत्वात् । देवगतिप्रायोग्या तु त्रिंशदाहारकद्विकसहिता सा एकविंशत्युदये न सम्भवति । त्रिनवति-एकोननवती मनुष्यगतिप्रायोग्यां त्रिंशतं बध्नतो देवस्य वेदितव्ये । षड्विंशत्युदये च तान्येव पञ्च सत्तास्थानानि, न त्रिनवति-एकोननवती । षड्विंशत्युदयो हि तिरश्चां मनुष्याणां वाऽपर्याप्तावस्थायाम्, न च तदानीं देवगतिप्रायोग्याया मनुष्यगतिप्रायोग्याया वा त्रिंशतो बन्धोऽस्तीति त्रिनवति एकोननवती न प्राप्येते, शेषं तथैव । सर्वाङ्कस्थापना—२१/५ २५/४ २६/५ २७/४ २८/६ २९/६ ३०/६ ३१/४, सर्वसङ्ख्यया त्रिंशद्बन्धे द्विचत्वारिंशत् सत्तास्थानानि । एकत्रिंशद्बन्धकस्य एकविधबन्धकस्य चोन्यसत्तास्थानसंवेधो यथा प्राग् मनुष्यस्योक्तस्तथैव वक्तव्यः । तदेवमिन्द्रियाण्यधिकृत्य संवेध उक्तः ॥ ५२ ॥

१ स० १ त० म० °न्यनिर° । छा० °-येन तिर° ॥ २ स० १ त० म० °दयेऽपि त्री ॥ ३ छा० मुद्रि० °षु ताये° ॥ ४ स० सं० २ मुद्रि० °यार्त्रिंश ॥ ५ सं० १ त० म० °ध्य । सर्वसङ्ख्यया सत्तास्थानानि त्रिंशद्बन्धे २२० । तदे° ॥

इय कम्मपगइठाणाइँ सुट्ठु बंधुदयसंतकम्माणं ।
गइआइएहिँ अट्ठसु, चउप्पगारेण नेयाणि ॥ ५३ ॥

'इति' उक्तेन प्रकारेण 'बन्ध-उदय-सत्कर्मणां' बन्ध-उदय-सत्तानां सम्बन्धीनि कर्मप्रकृतिस्थानानि 'सुष्ठु' अत्यन्तमुपयोगं कृत्वा 'गत्यादिभिः'

गइ इंदिए य काए, जोए वेए कसाय नाणे य ।
संजम दंसण लेसा, भव सम्मे सन्नि आहारे ॥[1]

(पञ्चसं० गा० २१ जीवसमा० गा० ६)

इत्येवंरूपैश्चतुर्दशभिर्मार्गणास्थानैः 'अट्ठसु' अनुयोगद्वारेषु

संतंपयपरूवणया, दव्वपमाणं च खित्तफुसणा य ।
कालो य अंतरं भाग भाव अप्पाबहुं चेव ॥[2] (आव० नि० गा० १३)

इत्येवंरूपेषु ज्ञातव्यानि । तत्र सत्पदप्ररूपणया संवेधो गुणस्थानकेषु सामान्येनोक्तः, विशेषतस्तु गतीन्द्रियाणि चाश्रित्य, एतदनुसारेण काय-योगादिष्वपि मार्गणास्थानेषु वक्तव्यः ।

शेषाणि तु द्रव्यप्रमाणादीनि सप्तानुयोगद्वाराणि कर्मप्रकृतिप्राभृतादीन् ग्रन्थान् सम्यक् परिभाव्य वक्तव्यानि, ते च कर्मप्रकृतिप्राभृतादयो ग्रन्था न सम्प्रति वर्तन्ते इति लेशतोऽपि दर्शयितुं न शक्यन्ते । यस्त्वैदयुगीनेऽपि श्रुते सम्यगत्यन्तमभियोगमास्थाय पूर्वापरौ परिभाव्य दर्शयितुं शक्नोति तेनावश्यं दर्शयितव्यानि, प्रज्ञोन्मेषो हि सतामद्यापि तीव्र-तीव्रतरक्षयोपशमभावेनासीमो निजयमानो लक्ष्यते । अपि चान्यदपि यत् किञ्चिदिह क्षूणमापतितं तत् तेनापनीय तस्मिन् स्थानेऽन्यत् समीचीनमुपदेष्टव्यम् । सन्तो हि परोपकारकरणैकरसिका भवन्तीति ।

कथं पुनरष्टस्वप्यनुयोगद्वारेषु बन्ध-उदय-सत्तास्थानानि ज्ञातव्यानि ? इत्यत आह— 'चतुः प्रकारेण' प्रकृति स्थिति-अनुभाग-प्रदेशरूपेण । तत्र प्रकृतिगतानि बन्ध-उदय-सत्तास्थानानि प्राय उक्तानि, एतदनुसारेण स्थिति-अनुभाग प्रदेशगतान्यपि भावनीयानि । इह बन्ध-उदय-सत्तास्थानसंवेधे चिन्त्यमाने उदयग्रहणेनोदीरणाऽपि गृहीता द्रष्टव्या, उदये सत्यवश्यं उदीरणाया अपि भावात् ॥ ५३ ॥

तथा चाह—

उदयस्सुदीरणाए, सामित्ताओ न विज्जइ विसेसो ।
मोत्तूण य इगुयालं, सेसाणं सव्वपगईणं ॥ ५४ ॥

---

[1] गतौ इन्द्रिये च काये योगे वेदे कषाये ज्ञाने च । संयमे दर्शने लेश्यायां भव्ये सम्यक्त्वे संज्ञि आहारे ॥
[2] सत्पदप्ररूपणता द्रव्यप्रमाणं च क्षेत्रस्पर्शना च । कालश्च अन्तरं भागः भावः अल्पबहुत्वं चैव ॥
[3] छा० मुद्रि० °क्यते ॥ [4] सं० १ त० म० छा० सुष्टु ॥ [5] सं० सं० १ सं० २ म ईमा° ॥ [6] सं० १ त० म० छा० °पयडीण ॥

इह कालप्राप्ताना कर्मपरमाणूनामनुभवनमुदय, अकालप्राप्तानामुदयावलिकाबहि स्थितानां कषायसहितेनासहितेन वा योगसज्ञकेन वीर्यविशेषेण समाकृष्योदयप्राप्तै कर्मपरमाणुभि सहानुभवनमुदीरणा, अनयोरुभय उदीरणयो 'स्वामित्वात्' स्वामित्वमधिकृत्य विशेषो न विद्यते। एतदुक्त भवति—य एव ज्ञानावरणादीना कर्मणामुदयस्वामी स एव तेषा कर्मणामुदीरणाया अपि स्वामी, "जत्थ उदओ तत्थ उदीरणा, जत्थ उदीरणा तत्थ उदओ।" ( ) इतिवचनप्रामाण्यात्। तत्रातिप्रसक्त लक्षणमित्यपवादमाह—"मोत्तूण य" इत्यादि। 'मुक्त्वा एकचत्वारिंशत' एकचत्वारिंशत्प्रकृतीर्मुक्त्वा शेषाणा सर्वासा प्रकृतीनामुदय-उदीरणयो स्वामिन प्रति न विशेष ॥ ५४ ॥

एकचत्वारिंशत्प्रकृतीर्निर्दिशति—

नाणतरायदसग, दंसणनव वेयणिज्ज मिच्छत्त ।
सम्मत्त लोभ वेयाऽऽउँगाणि नवनाम उच्च च ॥ ५५ ॥

एतासामेकचत्वारिंशत्प्रकृतीनामुदीरणामन्तरेणाप्युदयो भवति। तथाहि—पञ्चाना ज्ञानावरणप्रकृतीना ५ पञ्चानामन्तरायप्रकृतीना १० चतसृणा च चक्षु अचक्षु-अवधि-केवलदर्शनावरणरूपाणा दर्शनावरणप्रकृतीनामुदय उदीरणा च सर्वजीवाना युगपत् तावत् प्रवर्तते यावत् क्षीणमोहगुणस्थानकाद्धाया आवलिकाशेषो न भवति १४, आवलिकाया तु शेषीभूतायामुदय एव नोदीरणा, आवलिकागतस्योदीरणानर्हत्वात्। निद्रापञ्चकस्य शरीरपर्याप्त्या पर्याप्ताना शरीरपर्याप्तिसमाप्त्यनन्तरसमयाद् आरभ्य यावद् इन्द्रियपर्याप्तिपरिसमाप्तिर्नोपजायते तावद् उदय एव नोदीरणा, शेषकाल तूदय-उदीरणे युगपत् प्रवर्तेते युगपच्च निवर्तेते १५। द्वयोर्वेदनीययो पुन प्रमत्तगुणस्थानक यावद् उदय उदीरणा च युगपत् प्रवर्तेते, परतस्तूदय एव नोदीरणा २१। तथा प्रथमसम्यक्त्वमुत्पादयतोऽन्तरकरणे कृते सति प्रथमस्थितावावलिकाशेषाया मिथ्यात्वस्योदय एव नोदीरणा २२। तथा वेदकसम्यग्दृष्टिना क्षायिकसम्यक्त्वमुत्पादयता मिथ्यात्व-सम्यग्मिथ्यात्वयो क्षपितयो सम्यक्त्व सर्वापवर्तनयाऽपवर्त्य अन्तर्मुहूर्तस्थितिक कृतम्, तत उदय-उदीरणाभ्यामनुभूयमानमनुभूयमानमावलिकाशेष यदा भवति तदा सम्यक्त्वस्योदय एव नोदीरणा, अथवा उपशमश्रेणि प्रतिपद्यमानस्य अन्तरकरणे कृते सति प्रथमस्थितावावलिकाशेषाया सम्यक्त्वस्योदय एव नोदीरणा २३। सज्वलनलोभस्य उदय उदीरणा च युगपत् तावत् प्रवर्तते यावत् सूक्ष्मसम्परायाद्धाया आवलिका शेषा, तत आवलिकामात्र कालमुदय एव नोदीरणा २४। तथा त्रयाणा वेदानामन्यतमेन तेन तेन वेदेन श्रेणि प्रतिपन्नस्यान्तरकरणे कृते तस्य तस्य वेदस्य प्रथमस्थितावावलिकाशेषायामुदय एव नोदीरणा २७। चतुर्णामप्यायुषा स्वस्वभवपर्यन्तावलिकायामुदय एव नोदीरणा, अन्यच्च मनुष्यायुष प्रमत्तगुणस्थानका-

---

१ यत्र उदयस्तत्र उदीरणा यत्र उदीरणा तत्र उदय ॥ २ स० १ त० म० छा० मुत्तूण ॥ ३ स० १ त० म० उयाणि ॥ ४ स० स० २ °रणप्रकृती ॥ ५ म० स० १ म० °नमावलि ॥ ६ स० [स० २ त० म० °वाणप ॥

दूर्ध्वमुदीरणा न भवति किन्तूदय एव केवल ३१ । तथा मनुष्यगति-पञ्चेन्द्रियजाति-त्रस-बादर-पर्याप्त-सुभगा-ऽऽदेय-यशःकीर्ति-तीर्थकररूपाणां नवनामप्रकृतीनां ४० उच्चैर्गोत्रस्य च ४१ सयोगिकेवलिगुणस्थानकं यावद् युगपद् उदय-उदीरणे, अयोग्यवस्थायां तूदय एव नोदीरणा ॥ ५५ ॥

सम्प्रति कस्मिन् गुणस्थानके काः प्रकृतीर्बध्नाति ? इति बन्धविशेषनिरूपणार्थमाह—

तित्थगराहारगविरहियाओ अज्जेइ सव्वपगईओ ।
मिच्छत्तवेयगो सासणो वि इगुवीससेसाओ ॥ ५६ ॥

इह बन्धे प्रकृतीनां विंशं शतमधिक्रियते, एतच्च प्रागेव प्रकृतिवर्णनायामुक्तम् । तत्र 'मिथ्यात्ववेदकः' मिथ्यादृष्टिः 'तीर्थकर-ऽऽहारकरहिताः' तीर्थकरा-ऽऽहारकशरीरा-ऽऽहारकाङ्गोपाङ्गवर्जाः शेषाः सर्वा अपि प्रकृतीः सप्तदशोत्तरशतसङ्ख्याः 'अर्जयति' बध्नाति, तीर्थकरा-ऽऽहारकद्विके तु न तस्य बन्धमायातः, तयोर्यथासङ्ख्यं सम्यक्त्व-संयमप्रत्ययत्वात् । तथा 'सासादनोऽपि' सासादनसम्यग्दृष्टिरपि 'एकोनविंशतिशेषाः' एकोनविंशतिवर्जाः शेषाः एकोत्तरशतसङ्ख्याः प्रकृतीर्बध्नाति । तत्र तिस्रः प्रकृतयः प्राक्तन्य एव, तासां बन्धाभावे कारणमिहापि तदेवानुसरणीयम्, शेषास्तु षोडश प्रकृतय इमाः—मिथ्यात्वं नपुंसकवेदः नरकगतिः नरकानुपूर्वी नरकायुः एक-द्वि-त्रि-चतुरिन्द्रियजातयः हुण्डसंस्थानं सेवार्तसंहननम् आतपनाम स्थावरनाम सूक्ष्मनाम साधारणनाम अपर्याप्तकनामेति । एता हि मिथ्यात्वोदयनिमित्ताः, न च मिथ्यात्वोदयः सासादने विद्यते इत्येता अपि सासादनस्य न बन्धमायान्ति ॥ ५६ ॥

छायालसेस मीसो, अविरयसम्मो तियालपरिसेसा ।
तेवण्ण देसविरओ, विरओ सगवण्णसेसाओ ॥ ५७ ॥

'मिश्रः' सम्यग्मिथ्यादृष्टिः 'षट्चत्वारिंशच्छेषाः' षट्चत्वारिंशद्वर्जाः चतुःसप्ततिसङ्ख्याः प्रकृतीर्बध्नाति । तत्रैकोनविंशतिप्रकृतयो बन्धायोग्याः प्राक्तन्य एव, शेषास्त्विमाः—स्त्यानर्द्धित्रिकम् अनन्तानुबन्धिचतुष्टयं स्त्रीवेदः तिर्यग्गतिः तिर्यगानुपूर्वी तिर्यगायुः प्रथमा-ऽन्तिमवर्जानि चत्वारि संस्थानानि प्रथमा-ऽन्तिमवर्जानि चत्वारि संहननानि उद्योतम् अप्रशस्तविहायोगतिः दुर्भगं दुःस्वरम् अनादेयं नीचैर्गोत्रमिति । एताः पञ्चविंशतिप्रकृतयोऽनन्तानुबन्ध्युदयनिमित्ताः, न च सम्यग्मिथ्यादृष्टावनन्तानुबन्धिनामुदयोऽस्ति, ततो न बन्धमायान्ति । अन्यच्च सम्यग्मिथ्यादृष्टिरायुर्बन्धमपि नारभते, ततो मनुष्य-देवायुषी अपि न बन्धमायातः इति षट्चत्वारिंशदप्येता प्रतिषिध्यन्ते । तथा अविरतसम्यग्दृष्टिस्त्रिचत्वारिंशद्वर्जाः शेषाः सप्तसप्ततिप्रकृतीर्बध्नाति । अवि-

---

१ इतः ऊर्ध्वम्—मणुयगइजाइतसबायरं च पज्जत्तसुभगमाइज्जं । जसकित्ती तित्थयरं, नामस्स हवंति नव एया ॥ इत्येषा गाथा मुद्रगाथानयोपात्ता मुद्रितादर्शे एव विद्यते न चास्म पार्श्ववर्तिषु समग्रादर्शेष्विति नादृताऽस्माभिरत्र ॥ २ स० १ त० म० छा० नवानां नामप्र° ॥

रतसम्यग्दृष्टिर्हि मनुष्य-देवायुषी अपि बध्नाति तीर्थकरनाम च, तत शेषा एव त्रिचत्वारिंशत् प्रकृतयो वर्ज्यन्ते। तथा देशविरत 'त्रिपञ्चाशच्छेषा' त्रिपञ्चाशद्वर्जा शेषा सप्तषष्टिप्रकृतीर्बध्नाति। तत्र त्रिचत्वारिंशत् प्रकृतयो बन्धायोग्या प्राक्तन्य एव, शेषा पुनरिमा —अप्रत्याख्यानचतुष्टय मनुष्यगति मनुष्यानुपूर्वी मनुष्यायु औदारिकशरीरम् औदारिकाङ्गोपाङ्ग वज्रर्षभनाराचसंहननम्, एता हि दश प्रकृतयोऽविरतिहेतव इति न देशविरते बन्धमागच्छन्ति । तथा 'विरत' प्रमत्तसंयत 'सप्तपञ्चाशच्छेषा' सप्तपञ्चाशद्वर्जा शेषात्रिषष्टिप्रकृतीर्बध्नाति । तत्र त्रिपञ्चाशद् बन्धायोग्या प्राक्तन्य एव शेषास्तु चतस्र प्रकृतय प्रत्याख्यानावरणक्रोध-मान-माया-लोभरूपा । एता हि देशविरत एव, बन्ध प्रतीत्य व्यवच्छिन्ना ॥ ५७ ॥

सम्प्रति मतिपेद्धव्या प्रकृतयो बह्वयो बन्धयोग्यास्तु स्तोका इति बन्धयोग्या एव निर्दिशति—

इगुसट्ठिमप्पमत्तो, बंधइ देवाउयस्स इयरो वि ।
अट्ठावण्णमपुव्वो, छप्पण्णं वा वि छव्वीस ॥ ५८ ॥

'अप्रमत्त' अप्रमत्तसंयत एकोनषष्टिप्रकृतीर्बध्नाति । ताश्च प्रमत्तसंयतस्य बन्धयोग्यास्त्रिषष्टिप्रकृतयोऽसातवेदनीया-ऽरति शोका-ऽस्थिरा-ऽशुभा ऽयश कीर्तिवर्जा आहारकद्विकसहिता वेदितव्या । असातवेदनीयादयो हि षट् प्रकृतय प्रमत्तसंयतगुणस्थानक एव बन्ध प्रतीत्य व्यवच्छिन्ना , आहारकद्विक चाप्रमत्तो विशिष्टसंयमभावाद् बध्नाति, तत एकोनषष्टिप्रकृतयोऽप्रमत्तस्य बन्धयोग्या । "देवाउयस्स इयरो वि" त्ति 'इतरोऽपि' अप्रमत्तोऽपि देवायुषो बन्धक । एतेनैतत् सूच्यते—प्रमत्तसंयत एवायुर्बन्ध प्रथमत आरभते, आरभ्य च कश्चिदप्रमत्तभावमपि गच्छति, तत एवमप्रमत्तसंयतोऽपि देवायुषो बन्धको भवति, न पुनरप्रमत्तसंयत एव सन् प्रथमत आयुर्बन्धमारभत इति। तथा 'अपूर्व' अपूर्वकरणोऽष्टपञ्चाशत् प्रकृतीर्बध्नाति, तस्य देवायुर्बन्धाभावात् । ताश्चाष्टपञ्चाशत् प्रकृतीस्तावद् बध्नाति यावदपूर्वकरणाद्धाया सङ्ख्येयतमो भागो गतो भवति। ततो निद्रा प्रचलयोरपि बन्धव्यवच्छेदात् षट्पञ्चाशत्प्रकृतीर्बध्नाति, ता अपि तावद् यावदपूर्वकरणाद्धाया एक सङ्ख्येयतमो भागोऽवशिष्यते। ततो देवगति देवानुपूर्वी पञ्चेन्द्रिय जाति-वैक्रियशरीर-वैक्रियाङ्गोपाङ्गा-ऽऽहारकशरीरा-ऽऽहारकाङ्गोपाङ्ग-तैजस-कार्मण-समचतुरस्रसंस्थान-वर्ण-रस-गन्ध-स्पर्शा ऽगुरुलघु-उपघात-पराघात-उच्छ्वास-प्रशस्तविहायोगति-त्रस-बादर-पर्याप्त प्रत्येक स्थिर शुभ-सुभग-सुस्वरा ऽऽदेय निर्माण-तीर्थकररूपाणा त्रिंशत्प्रकृतीना बन्धव्यवच्छेदात् शेषा षड्विंशतिप्रकृतीर्बध्नाति, ता अपि तावद् बध्नाति यावदपूर्वकरणाद्धायाश्चरमसमय , तस्मिंश्च समये हास्य-रति-भय-जुगुप्सा बन्ध प्रतीत्य व्यवच्छिद्यन्ते ॥ ५८ ॥ तत —

बावीसा एगूण, बंधइ अट्ठारसंतमनियट्टी ।
सत्तर सुहुमसरागो, सायममोहो सजोगि त्ति ॥ ५९ ॥

'अनिवृत्ति' अनिवृत्तिबादरो द्वाविंशतिप्रकृतीर्बध्नाति । ताश्च तावद् यावदनिवृत्तिबादरस-

१ मुद्रि० बद्धा म° ॥ २ स० १ त० म० °त एवायुर्बन्ध प्रथमत आर° ॥

म्परायाद्धाया सङ्ख्येया भागा गता भवन्ति, एकोऽवतिष्ठते, तत 'एकोनम्' एकैकमकृत्यून बध्नाति तावद् यावदष्टादशान्तम् । एतदुक्तं भवति—तस्मिन् सङ्ख्येयतमे भागे शेषे पुरुषवेद-बन्धव्यवच्छेदात् शेषा एकोनविंशतिप्रकृतीर्बध्नाति, ता अपि तावद् यावत् तस्या शेषीभूताया अद्धाया सङ्ख्येया भागा गता भवन्ति, एक शिष्यते तत सञ्ज्वलनक्रोधस्यापि बन्धव्यवच्छेदाद् विंशतिप्रकृतीर्बध्नाति, ता अपि तावद् यावत् तस्या शेषीभूताया अद्धाया सङ्ख्येया भागा गता भवन्ति, एकोऽवतिष्ठते, तत सञ्ज्वलनमानस्यापि बन्धव्यवच्छेदादेकोनविंशतिप्रकृतीर्बध्नाति, ता अपि तावद् यावत् तस्या शेषीभूताया अद्धाया सङ्ख्येया भागा गता भवन्ति, एकोऽवतिष्ठते, तत संज्वलनमायाया अपि बन्धव्यवच्छेदाष्टादशप्रकृतीर्बध्नाति, ताश्च तावद् यावदनिवृत्तिबादरसम्परायाद्धायाश्चरमसमय , तस्मिंश्च समये संज्वलनलोभोऽपि बन्ध प्रतीत्य व्यवच्छिद्यते । तत सूक्ष्मसम्पराय शेषा सप्तदश प्रकृतीर्बध्नाति, ताश्च तावद् यावत् सूक्ष्मसम्परायाद्धायाश्चरमसमय , तस्मिंश्च समये ज्ञानावरणपञ्चक-अन्तरायपञ्चक-दर्शनावरणचतुष्टय-यश - कीर्ति-उच्चैर्गोत्ररूपा षोडश प्रकृतयो बन्धमधिकृत्य व्यवच्छिद्यन्ते । तत "सायममोहो सजोगि" त्ति 'अमोह ' मोहनीयोदयरहित सातमेवैकं बध्नाति, स च तावद् यावत् 'सयोगी' सयोग्यवस्था-चरमसमय इत्यर्थ । इदमुक्तं भवति—उपशान्तमोह क्षीणमोह सयोगकेवली च सातमेकं बध्नाति । अयोगिकेवली त्वेकस्यापि बन्धहेतोरभावाद् न किमपि बध्नातीति ॥ ५९ ॥

एसो उ बंधसामित्तओघो[3] गइयाइएसु वि तहेव ।
ओहाओ साहिज्जा, जत्थ जहा पगडिसब्भावो ॥ ६० ॥

योऽयमनन्तर प्राग् मिथ्यादृष्ट्यादिषु सयोगिकेवलिपर्यन्तेषु बन्धभेद उक्त एष बन्धस्वामित्वौघ उच्यते । अस्माद् 'ओघात्' ओघभणितप्रकाराद् 'गत्यादिष्वपि' चतुर्दशसु मार्गणास्थानेषु 'यत्र' मार्गणास्थाने 'यथा' येन प्रकारेण भवप्रत्ययादिना प्रकृतिसद्भावो घटते तत्र तथा 'साधयेत्' कथयेत्, यथैता प्रकृतयोऽस्मिन् मार्गणास्थाने बन्ध प्रतीत्य घटन्त इति ॥ ६० ॥

सम्प्रति किं सर्वा अपि प्रकृतय सर्वासु गतिषु प्राप्यन्ते ? किं वा न ? इति संशये सति तदपनोदार्थमाह—

तित्थगरदेवनिरयाउगं च तिसु तिसु गईसु बोद्धव्वं ।
अवसेसा पयडीओ, हवंति सव्वासु वि गईसु ॥ ६१ ॥

तीर्थकरनाम देवायुर्नरकायुश्च प्रत्येक तिसृषु तिसृषु गतिषु बोद्धव्यम् । तथाहि—तीर्थकरनाम नरक देव-मनुष्यगतिरूपासु तिसृषु गतिषु सत् प्राप्यते, न तिर्यग्गतावपि, तीर्थकरसत्कर्मणस्तिर्यक्षूत्पादाभावात्, तत्र गतस्य च तीर्थकरनामबन्धासम्भवात्, तथाभवस्वाभाव्यात् । तथा तिर्यङ्-मनुष्य-देवगतिषु च देवायु , न नरकगतौ, नैरयिकाणा देवायुर्बन्धासम्भवात् ।

१ स० १ त० म० °श्चरमस° ॥ २ स० १ त० म० °रणान्तरायप° ॥
३ म० छा० °त्तओहु ग° ॥

तिर्यङ्-मनुष्य-नरकगतिषु च नरकायु, न देवगतौ, देवाना नरकायुर्बन्धासम्भवात् । शेषा प्रकृतय सर्वास्वपि गतिषु सत्तामधिकृत्य प्राप्यन्ते ॥ ६१ ॥

इह गुणस्थानकेषु प्राग् बन्ध-उदय-सत्तास्थानसंवेध उक्त, गुणस्थानकानि च प्राय उपशमश्रेणिगतानि क्षपकश्रेणिगतानि च, ततोऽवश्यमिहोपशमश्रेणि-क्षपकश्रेणी वक्तव्ये, तत्र प्रथमत उपशमश्रेणिप्रतिपादनार्थमाह—

पढमकसायचउक्कं, दंसणतिग सत्तगा वि उवसंता ।
अविरतसम्मत्ताओ, जाव नियट्टि त्ति नायव्वा ॥ ६२ ॥

'प्रथमकषाया' अनन्तानुबन्धिन 'दर्शनत्रिक' मिथ्यात्व-सम्यग्मिथ्यात्व-सम्यक्त्वरूपम्, एता 'सप्तका अपि' सप्तापि प्रकृतय उपशान्ता 'अविरतसम्यक्त्वात्' अविरतसम्यग्दृष्टि-गुणस्थानकादारभ्य यावद् 'निवृत्ति' अपूर्वकरणगुणस्थान तावद् ज्ञातव्या । अविरतसम्यग्दृष्टि-देशविरत प्रमत्ता ऽप्रमत्तसंयता ऽपूर्वकरणेषु यथायोगमेता सप्तापि प्रकृतय उपशान्ता लभ्यन्ते । अपूर्वकरणवर्जा शेषा यथायोगमुपशमका, अपूर्वकरणे त्वेता नियमत उपशान्ता एवं प्राप्यन्ते ।

तत्र प्रथमतोऽनन्तानुबन्धिनामुपशम नाऽभिधीयते—अविरतसम्यग्दृष्टि देशविरत विरतानामन्यतमोऽन्यतमस्मिन् योगे वर्तमानस्तेज -पद्म शुक्ललेश्याऽन्यतमलेश्यायुक्त साकारोपयोगोपयुक्तोऽन्त सागरोपमकोटीकोटीस्थितिसत्कर्मा करणकालात् पूर्वमपि अन्तर्मुहूर्त काल यावदवदायमानचित्तसन्ततिरवतिष्ठते । तथाऽवतिष्ठमानश्च परावर्तमाना प्रकृती शुभा एव बध्नाति, नाशुभा । अशुभाना च प्रकृतीनामनुभाग चतु स्थानक सन्त द्विस्थानक करोति, शुभाना च द्विस्थानक सन्त चतु स्थानकम् । स्थितिबन्धेऽपि च पूर्णे पूर्णे सति अन्य स्थितिबन्ध पूर्वपूर्वस्थितिबन्धापेक्षया पल्योपमसङ्ख्येयभागहीन करोति ।

इत्थ करणकालात् पूर्वमन्तर्मुहूर्त काल यावदवस्थाय ततो यथाक्रम त्रीणि करणानि प्रत्येकमान्तर्मौहूर्तिकानि करोति । तद्यथा—यथाप्रवृत्तकरणम् अपूर्वकरणम् अनिवृत्तिकरण च, चतुर्थी तूपशान्ताद्धा ।

तत्र यथाप्रवृत्तकरणे प्रविशन् प्रतिसमयमनन्तगुणवृद्धया विशुद्ध्या प्रविशति, पूर्वोक्त च शुभप्रकृतिबन्धादिक तथैव तत्र कुरुते, न च स्थितिघात रसघात गुणश्रेणि गुणसङ्क्रम वा करोति, तद्योग्यविशुद्ध्यभावात् । प्रतिसमय च नानाजीवापेक्षयाऽसङ्ख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणानि अध्यवसायस्थानानि भवन्ति, षट्स्थानपतितानि च । अन्यच्च प्रथमसमयापेक्षया द्वितीयसमयेऽध्यवसायस्थानानि विशेषाधिकानि, ततोऽपि तृतीयसमये विशेषाधिकानि, एव तावद् वाच्य यावद् यथाप्रवृत्तकरणचरमसमय । अत एवैतानि स्थाप्यमानानि विषमचतुरस्र क्षेत्रमास्तृणन्ति ।

---

१ स० १ त० म० व लभ्यन्ते ॥

स्थापना चेयम्— तत्र प्रथमसमये जघन्या विशोधिः सर्वस्तोका, ततो द्वितीयसमये जघन्या विशोधिरनन्तगुणा, ततोऽपि तृतीयसमये जघन्या विशोधिरनन्तगुणा, एवं तावद् वाच्यं यावद् यथाप्रवृत्तकरणाद्धाया सङ्ख्येयो भागो गतो भवति।

१२ ०००००००००० ० १६
१० ००००००००००० १५
८ ०००००००००० १४
६ ००००००००० १३
४ ०००००००० ११
३ ००००००० ९
२ ००००० ७
१ ०००० ५

ततः प्रथमसमये उत्कृष्टा विशोधिरनन्तगुणा, ततोऽपि यतो जघन्यस्थानाद् निवृत्तस्तस्योपरितनी जघन्या विशोधिरनन्तगुणा, ततोऽपि द्वितीयसमये उत्कृष्टा विशोधिरनन्तगुणा, ततः उपरि जघन्या विशोधिरनन्तगुणा, एवमुपर्यधश्चैकैकं विशोधिस्थानमनन्तगुणतया तावद् नेयं यावद् यथाप्रवृत्तकरणस्य चरमसमये जघन्यं विशोधिस्थानम्। ततः उत्कृष्टानि यानि विशोधिस्थानानि अनुक्तानि तिष्ठन्ति तानि निरन्तरमनन्तगुणया वृद्ध्या तावद् नेतव्यानि यावत् चरमसमये उत्कृष्टं विशोधिस्थानम् ।

तदेवमुक्तं यथाप्रवृत्तकरणम् । सम्प्रत्यपूर्वकरणमुच्यते—तत्रापूर्वकरणे प्रतिसमयमसङ्ख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणान्यध्यवसायस्थानानि भवन्ति, प्रतिसमयं च षट्स्थानपतितानि । तत्र प्रथमसमये जघन्या विशोधिः सर्वस्तोका, सा च यथाप्रवृत्तकरणचरमसमयसत्कोत्कृष्टविशोधिस्थानादनन्तगुणा, ततः प्रथमसमय एवोत्कृष्टा विशोधिरनन्तगुणा, ततोऽपि द्वितीयसमये जघन्या विशोधिरनन्तगुणा, ततोऽपि तस्मिन्नेव द्वितीयसमये उत्कृष्टा विशोधिरनन्तगुणा, ततोऽपि तृतीयसमये जघन्या विशोधिरनन्तगुणा, ततोऽपि तस्मिन्नेव तृतीये समये उत्कृष्टा विशोधिरनन्तगुणा, एवं प्रतिसमयं तावद् वक्तव्यं यावत् चरमसमये उत्कृष्टा विशोधिः । स्थापना—

९ ००० ० १०
७ ००००००० ८
५ ०० ० ० ६
३ ० ० ० ० ४
१ ०००००

अस्मिंश्चापूर्वकरणे प्रथमसमये एव स्थितिघातो रसघातो गुणश्रेणिर्गुणसङ्क्रमोऽन्यश्च स्थितिबन्ध इति पञ्च पदार्था युगपत् प्रवर्तन्ते ।

तत्र स्थितिघातो नाम—स्थितिसत्कर्मणोऽग्रिमभागाद् उत्कर्षतः प्रभूतसागरोपमशतप्रमाणं जघन्यतः पल्योपमसङ्ख्येयभागमात्रं स्थितिखण्डमुत्किरति खण्डयतीत्यर्थः, उत्कीर्य च या स्थितीरधो न खण्डयिष्यति तत्र तद् दलिकं प्रक्षिपति, अन्तर्मुहूर्तेन च कालेन तत् स्थितिखण्डमुत्कीर्यते । ततः पुनरप्यधस्तात् पल्योपमसङ्ख्येयभागमात्रं स्थितिखण्डमन्तर्मुहूर्तेन कालेनोत्किरति, पूर्वोक्तप्रकारेणैव च निक्षिपति । एवमपूर्वकरणाद्धाया प्रभूतानि स्थितिखण्डसहस्राणि व्यतिक्रामन्ति । तथा च सति अपूर्वकरणस्य प्रथमसमये यत् स्थितिसत्कर्म आसीत् तत् तस्यैव चरमसमये सङ्ख्येयगुणहीनं जातम् ।

रसघातो नाम—अशुभप्रकृतीनां यद् अनुभागसत्कर्म तस्यानन्ततमं भागं मुक्त्वा शेषाननुभागभागानन्तर्मुहूर्तेन कालेन विनाशयति, ततः पुनरपि तस्य प्राग्मुक्तस्यानन्ततमभागस्यानन्ततमं भागं मुक्त्वा शेषाननुभागभागानन्तर्मुहूर्तेन कालेन विनाशयति, ततः पुनरपि तस्य प्राग्मुक्त-

१ स० १ त० छा० म० °पमास ॥ २ स० १ त० म० °पमाम° ॥ ३ स० १ त० म० °हूर्तेनैव का° ॥ ४ स० म० २ मुद्रि० °न अशेषानपि विना ॥ ५ पुष्पिकाद्वयान्तर्वर्ती पाठः छा० मुद्रि० प्रत्योरेव दृश्यते, नान्यासु प्रतिषु ॥

स्यानन्ततम भाग मुक्त्वा शेषाननुभागभागानन्तर्मुहूर्तेन कालेन विनाशयति ।*एवमनेका न्यनुभागखण्डसहस्राण्येकस्मिन् स्थितिखण्डे व्यतिक्रामन्ति । तेषा च स्थितिखण्डाना सहस्रै रपूर्वकरण परिसमाप्यते ।

गुणश्रेणिर्नाम—अन्तर्मुहूर्तप्रमाणाना स्थितिनामुपरि या स्थितयो वर्तन्ते त मध्याद् दलिक गृहीत्वा उदयावलिकाया उपरितनीषु स्थितिषु प्रतिसमयमसङ्ख्येयगुणतया निक्षिपति । तद्यथा—प्रथमसमये स्तोकम्, द्वितीयसमयेऽसङ्ख्येयगुणम्, ततोऽपि तृतीये समयेऽसङ्ख्येयगुणम्, एव तावद् नेय यावदन्तर्मुहूर्तचरमसमय । तच्चान्तर्मुहूर्तमपूर्वकरणा-ऽनिवृत्तिकरणकालाभ्या मनागतिरिक्त वेदितव्यम् । एष प्रथमसमयगृहीतदलिकस्य निक्षेपविधि । एव द्वितीयादिसमयगृहीतानामपि दलिकाना निक्षेपो वक्तव्य । अन्यच्च—गुणश्रेणिरचनाय प्रथमसमये यद् दलिक गृह्यते तत् स्तोकम्, ततोऽपि द्वितीयसमयेऽसङ्ख्येयगुणम्, ततोऽपि तृतीयसमयेऽसङ्ख्येयगुणम्, एव तावद् ज्ञेय यावद् गुणश्रेणिकरणचरमसमय । अपूर्वकरणसमयेषु अनिवृत्तिकरणसमयेषु चानुभवत क्रमश क्षीयमाणेषु गुणश्रेणिदलिकनिक्षेपे शेषे शेषे भवति, उपरि च न वर्धते ।

गुणसङ्क्रमो नाम—अपूर्वकरणस्य प्रथमसमयेऽनन्तानुबन्ध्यादीनामशुभप्रकृतीना दलिक यत् परप्रकृतिषु सङ्क्रमयति तत् स्तोकम्, ततो द्वितीयसमये परप्रकृतिषु सङ्क्रम्यमाणमसङ्ख्येयगुणम्, ततोऽपि तृतीयसमयेऽसङ्ख्येयगुणम्, एव चतुर्थसमयादिष्वपि वक्तव्यम् ।

अन्य स्थिति बन्धो नाम—अपूर्वकरणस्य प्रथमसमयेऽन्य एवापूर्व स्तोक स्थितिबन्ध आरभ्यते । स्थितिबन्ध स्थितिघातौ च युगपदारभ्येते युगपदेव च निष्ठा यात । एवमेते पञ्च पदार्था अपूर्वकरणे प्रवर्तन्ते ।

अनिवृत्तिकरण नाम—यत्र प्रविष्टाना सर्वेषामपि तुल्यकालानामेकमेवाध्यवसायस्थानम् । तथाहि—अनिवृत्तिकरणस्य प्रथमसमये ये वर्तन्ते ये च वृत्ता ये च वर्तिष्यन्ते तेषा सर्वेषामप्येकरूपमेवाध्यवसायस्थानम्, द्वितीयसमयेऽपि च ये वर्तन्ते ये च वृत्ता ये च वर्तिष्यन्ते तेषामपि सर्वेषामेकरूपमध्यवसायस्थानम्, नवर प्रथमसमयभाविविशोधिस्थानापेक्षयाऽनन्तगुणम्, एव तावद् वक्तव्य यावदनिवृत्तिकरणचरमसमय । अत एवास्मिन् करणे प्रविष्टाना तुल्यकालानामसुमता सम्बन्धिनामध्यवसायस्थानाना परस्पर निवृत्ति —व्यावृत्तिर्न विद्यते इत्यनिर्वृत्तीति नाम । अस्मिश्चानिवृत्तिकरणे याव त समयास्तावन्त्यध्यवसायस्थानानि पूर्वस्मात् पूर्वस्मादनन्तगुण वृद्धानि । एतानि च मुक्तावलीसस्थानेन स्थापयितव्यानि— अत्रापि च प्रथमसमयादेवारभ्य पूर्वोक्ता पञ्च पदार्था युगपत् प्रवर्तन्ते । अनिवृत्तिकरणाद्धायाश्च सङ्ख्येयतमेषु भागेषु गतेषु सत्सु एकस्मिन् भागेऽवतिष्ठमानेऽनन्तानुबन्धिनामधस्तादावलिकामात्र मुक्त्वाऽन्तर्मुहूर्तप्रमाणमन्तरकरणमभिनवस्थितिबन्धाद्धासमेनान्तर्मुहूर्तप्रमाणेन कालेन करोति, अन्तरकरणसत्क च दलिकमुत्कीर्यमाण परप्रकृतिषु बध्यमानासु प्रक्षिपति, प्रथमस्थितिगत च दलिकमावलिकामात्र

१ स १ त० छा० °प शेषे भव° ॥ २ स० १ त० म० °नामकेक° ॥ ३ स० १ त० °न् प्रविष्टा° ॥ ४ स० छा० मुद्रि० °वृत्तिकरणमिति नाम ॥ ५ स० १ त० म० °षु एक° ॥

वेद्यमानासु परप्रकृतिषु स्तिबुकसङ्क्रमेण सङ्क्रमयति । अन्तरकरणे कृते सति द्वितीये समयेऽनन्तानुबन्धिनामुपरितनस्थितिगतं दलिकमुपशमयितुमारभते । तद्यथा—प्रथमसमये स्तोकमुपशमयति, द्वितीयसमयेऽसङ्ख्येयगुणम्, ततोऽपि तृतीयसमयेऽसङ्ख्येयगुणम्, एवं यावदन्तर्मुहूर्तम्। एतावता च कालेन साकल्यतोऽनन्तानुबन्धिन उपशमिता भवन्ति । उपशमिता नाम—यथा रेणुनिकरः सलिलबिन्दुनिवहैरभिषिच्य अभिषिच्य द्रुघणादिभिर्निकुट्टितो निःस्यन्दो भवति, तथा कर्मरेणुनिकरोऽपि विशोधिसलिलप्रवाहेण परिषिच्य परिषिच्य अनिवृत्तिकरणरूपद्रुघणैर्निकुट्टितः सङ्क्रमण-उदय-उदीरणा निधत्ति-निकाचनाकरणानामयोग्यो भवति ।

तदेवमेकेषामाचार्याणां मतेनानन्तानुबन्धिनामुपशमनाऽभिहिता । अन्ये त्वाचक्षते—अनन्तानुबन्धिनामुपशमना न भवति, किन्तु विसंयोजनैव । विसंयोजना क्षपणा, सा चैवम्—

इह श्रेणिमप्रतिपद्यमाना अपि अविरताश्चतुर्गतिका अपि वेदकसम्यग्दृष्टयो देशविरतास्तिर्यञ्चो मनुष्या वा सर्वविरता मनुष्या एव सर्वाभिः पर्याप्तिभिः पर्याप्ता अनन्तानुबन्धिनां क्षपणार्थं यथाप्रवृत्तादीनि त्रीणि करणानि कुर्वन्ति। करणवक्तव्यता च सर्वाऽपि प्रागिव निरवशेषा वेदितव्या। नवरमिहानिवृत्तिकरणे प्रविष्टः सन् अन्तरकरणं न करोति । उक्तं च कर्मप्रकृतौ—

चउगइया पज्जत्ता, तिन्नि वि संजोयणे विजोयंति ।
करणेहिं तीहिँ सहिया, नंतरकरणं उवसमो वा ॥ (गा० ३४३)

किन्तु कर्मप्रकृत्यभिहितस्वरूपेणोद्वलनासङ्क्रमेणाधस्तादावलिकामात्रं मुक्त्वा उपरि निरवशेषान् अनन्तानुबन्धिनो विनाशयति । आवलिकामात्रं तु स्तिबुकसङ्क्रमेण वेद्यमानासु प्रकृतिषु सङ्क्रमयति। ततोऽनन्तरमन्तर्मुहूर्तात् परतोऽनिवृत्तिकरणपर्यवसाने शेषकर्मणां स्थितिघात रसघात-गुणश्रेणयो न भवन्ति किन्तु स्वभावस्थ एव स जीवो जायते ।

तदेवमुक्ता अनन्तानुबन्धिनां विसंयोजना, सम्प्रति दर्शनत्रिकस्योपशमना भण्यते—तत्र मिथ्यात्वस्योपशमना मिथ्यादृष्टेर्वेदकसम्यग्दृष्टेश्च । सम्यक्त्व-सम्यग्मिथ्यात्वयोस्तु वेदकसम्यग्दृष्टेरेव । तत्र मिथ्यादृष्टेर्मिथ्यात्वोपशमना प्रथमसम्यक्त्वमुत्पादयतः । सा चैवम्—पञ्चेन्द्रियः संज्ञी सर्वाभिः पर्याप्तिभिः पर्याप्तः करणकालात् पूर्वमप्यन्तर्मुहूर्तं कालं प्रतिसमयमनन्तगुणवृद्धया विशुद्ध्या प्रवर्धमानोऽभव्यसिद्धिकविशुद्ध्यपेक्षया अनन्तगुणविशुद्धिको मति श्रुताज्ञान विभङ्गज्ञानानामन्यतमस्मिन् साकारोपयोगे उपयुक्तोऽन्यतमस्मिन् योगे वर्तमानो जघन्यपरिणामेन तेजोलेश्याया मध्यमपरिणामेन पद्मलेश्याया उत्कृष्टपरिणामेन शुक्ललेश्याया वर्तमानो मिथ्यादृष्टिश्चतुर्गतिकोऽन्तःसागरोपमकोटीकोटीस्थितिसत्कर्मा इत्यादि पूर्वोक्तं तदेव तावद् वक्तव्यं यावद्

१ स० छा० मुद्रि० °हूर्तं कालम्, एना° ॥ २ स० १ त० छा० म० °भिर्निकुट्टि°॥ ३ स० १ त० छा० म० °णनिकुट्टि°॥ ४ छा० मुद्रि० °धत्तिनि°॥ ५ स० १ त० म० अपि अविरतगम्य°॥ ६ स० १ त० म० °रता च निर्य°॥ ७ चतुर्गतिका पर्याप्तास्त्रयोऽपि संयोजनान् वियोजयन्ति । करणैस्त्रिभिः सहिता नान्तरकरणमुपशमो वा ॥ ८ म० १ त० म० °हूर्तकाल ॥

यथाप्रवृत्तकरणमपूर्वकरण च परिपूर्णं भवति। नवरमिहापूर्वकरणे गुणसङ्क्रमो न वक्तव्य., किन्तु स्थितिघात-रसघात-स्थितिबन्ध-गुणश्रेणय एव वक्तव्या, गुणश्रेणिदलिकरचनाऽप्युदयसमयादारभ्य वेदितव्या। ततोऽनिवृत्तिकरणेऽप्येवमेव वक्तव्यम्। अनिवृत्तिकरणाद्धायाश्च सङ्ख्येयेषु भागेषु गतेषु सत्सु एकस्मिन् सङ्ख्येयतमे भागेऽवतिष्ठमानेऽन्तर्मुहूर्तमात्रमधो मुक्त्वा मिथ्यात्वस्यान्तरकरणमन्तर्मुहूर्तप्रमाण प्रथमस्थिते किञ्चित् समधिकम् अभिनवस्थितिबन्धाद्धासमेन अन्तर्मुहूर्तेन कालेन करोति। अन्तरकरणसत्क च दलिकमुत्कीर्य प्रथमस्थितौ द्वितीयस्थितौ च प्रक्षिपति। प्रथमस्थितौ च वर्तमान उदीरणाप्रयोगेण यत् प्रथमस्थितिगत दलिक समाकृष्य उदये प्रक्षिपति सा उदीरणा। यत् पुनर्द्वितीयस्थिते सकाशाद् उदीरणाप्रयोगेणैव दलिक समाकृष्य उदये प्रक्षिपति सा आगाल इति। उदीरणाया एव विशेषप्रतिपत्त्यर्थमागाल इति द्वितीय नाम पूर्वसूरिभिरावेदितम्। उदय उदीरणाभ्या च प्रथमस्थितिमनुभवन् तावद् गतो यावदावलिकाद्विक शेष तिष्ठति। तस्मिंश्च स्थिते आगालो व्यवच्छिद्यते। तत उदीरणैव केवला प्रवर्तते। साऽपि तावद् यावदावलिकाशेषो न भवति। आवलिकाया तु शेषीभूतायामुदीरणाऽपि निवर्तते। तत केवलेनैवोदयेनावलिकामात्रमनुभवति। आवलिकामात्रचरमसमये च द्वितीयस्थितिगत दलिकमनुभागभेदेन त्रिधा करोति। तद्यथा—सम्यक्त्व सम्यग्मिथ्यात्व मिथ्यात्व चेति। उक्त च कर्मप्रकृतिचूर्णौ—

चरमसमयमिच्छद्दिट्ठी सेकाले उवसमसम्मद्दिट्ठी होहिइ ताहे बिइयठिइ तिहाणुभाग करेइ, तजहा—सम्मत्त सम्मामिच्छत्त मिच्छत्त च। (   ) इति।

ततोऽनन्तरसमये मिथ्यात्वदलिकस्योदयाभावाद् औपशमिक सम्यक्त्वमवाप्नोति। उक्त च—

मिच्छत्तुदए झीणे, लहए सम्मत्तमोवसमिय सो।
लभेण जस्स लब्भइ, आयहियमलद्धपुव्व ज॥ (कर्मप्र० गा० ३३०)

एष च प्रथमसम्यक्त्वलाभो मिथ्यात्वस्य सर्वोपशमनाद् भवति। उक्त च—

सम्मत्तपढमलभो सव्वोवसमा (कर्मप्र० गाथा० ३३५) इति।

सम्यक्त्व चेद प्रतिपद्यमान कश्चिद् देशविरतिसहित प्रतिपद्यते, कश्चित् सर्वविरतिसहितम्। उक्त च पञ्चसङ्ग्रहे—

सम्मत्तेण समग, सव्व देस च कोइ पडिवज्जे। (गा० ७६०)

---

१ स० २ °पति सा आगाल इति। उदीरणैव पूर्वसूरिभिर्विशेषप्रतिपत्त्यर्थमागाल इत्युच्यते। उदय°। छा० मुद्रि० पति सा उदीरणाऽपि पूर्वसूरिभिर्विशेषप्रतिपत्त्यर्थमागाल इत्युच्यते। उदय॥ २ स० [illegible] त० छा० काशेषा न॥ ३ चरमसमयमिथ्यादृष्टि एष्यत्काले उपशमसम्यग्दृष्टिर्भविष्यति तदा द्वितीयस्थिति त्रिधानुभाग करोति, तद्यथा—सम्यक्त्व सम्यग्मिथ्यात्व मिथ्यात्व च॥ ४ मिथ्यात्वोदय क्षीणे लभते सम्यक्त्वमौपशमिक स। लाभेन यस्य लभते आत्महितमलब्धपूर्व यत्॥ ५ स० १ त० म० मुद्रि० स्व लभइ॥ ६ सम्यक्त्वप्रथमलाभ सर्वोपशमात्॥ ७ सम्यक्त्वेन समक सर्व देश च कोऽपि प्रतिपद्येत॥

ततो देशविरत प्रमत्ता-ऽप्रमत्तसंयतेष्वपि मिथ्यात्वमुपशान्त लभ्यते ।

सम्प्रति वेदकसम्यग्दृष्टेस्त्रयाणामपि दर्शनमोहनीयानामुपशमनाविधिरुच्यते—इह वेदक-सम्यग्दृष्टि संयमे वर्तमान सन् अन्तर्मुहूर्तमात्रेण कालेन दर्शनत्रितयमुपशमयति, उपशमयतश्च करणत्रिकविधि पूर्ववत् तावद् वक्तव्यो यावदनिवृत्तिकरणाद्धाया सङ्ख्येयेषु भागेषु गतेषु सत्सु अन्तरकरण करोति, अन्तरकरण च कुर्वन् सम्यक्त्वस्य प्रथमस्थितिमन्तर्मुहूर्तप्रमाणा स्थापयति, मिथ्यात्व मिश्रयोश्चावलिकामात्राम्, उत्कीर्यमाण च दलिक त्रयाणामपि सम्यक्त्वस्य प्रथमस्थितौ प्रक्षिपति, मिथ्यात्व मिश्रयो प्रथमस्थितिदलिक सम्यक्त्वस्य प्रथमस्थितिदलिकमध्ये स्तिबुकसङ्क्रमेण सङ्क्रमयति, सम्यक्त्वस्य पुन प्रथमस्थितौ विपाकानुभवत क्रमेण क्षीणाया सत्या-मौपशमिकसम्यग्दृष्टिर्भवति । उपरितनदलिकस्य चोपशमना त्रयाणामपि मिथ्यात्वादीनामनन्ता-नुबन्धिनामुपरितनदलिकस्येवावसेया । एवमुपशान्तदर्शनमोहनीयत्रिकश्चारित्रमोहनीयमुपशमयि-तुकाम पुनरपि यथाप्रवृत्तादीनि त्रीणि करणानि करोति, करणाना च स्वरूप प्रागवदवगन्तव्यम्, केवलमिह यथाप्रवृत्तकरणमप्रमत्तगुणस्थानके द्रष्टव्यम्, अपूर्वकरणमपूर्वकरणगुणस्थानके, अनि-वृत्तिकरणमनिवृत्तिबादरसम्परायगुणस्थानके । तत्र चापूर्वकरणे स्थितिघातादय पूर्ववदेव प्रवर्तन्ते, नवरमिह सर्वासामशुभप्रकृतीनामबध्यमानाना गुणसङ्क्रम प्रवर्तते इति वक्तव्यम् । अपूर्वकरणाद्धायाश्च सङ्ख्येयतमे भागे गते सति निद्रा प्रचलयोर्बन्धव्यवच्छेद । तत प्रभूतेषु स्थितिखण्डसहस्रेषु गतेषु सत्सु अपूर्वकरणाद्धाया सङ्ख्येया भागा गता भवन्ति, एकोऽवशि-ष्यते। अस्मिश्चान्तरे देवगति-देवानुपूर्वी पञ्चेन्द्रियजाति-वैक्रिया-ऽऽहारक-तैजस-कार्मण-समचतु-रस्र-वैक्रियाङ्गोपाङ्ग ऽऽहारकाङ्गोपाङ्ग-वर्णादिचतुष्टया-ऽगुरुलघु-उपघात-पराघात-उच्छ्वास त्रस-बादर-पर्याप्त-प्रत्येक प्रशस्तविहायोगति-स्थिर-शुभ-सुभग-सुस्वरा-ऽऽदेय निर्माण-तीर्थकरसंज्ञिताना त्रिंशत प्रकृतीना बन्धव्यवच्छेद । तत स्थितिखण्डपृथक्त्वे गते सति अपूर्वकरणाद्धायाश्च-रमसमये हास्य-रति-भय-जुगुप्साना बन्धव्यवच्छेदो हास्य-रति-अरति शोक-भय-जुगुप्सानामु-दय सर्वकर्मणा च देशोपशमना-निधत्ति निकाचनाकरणानि व्यवच्छिद्यन्ते । ततोऽनन्तरसम-येऽनिवृत्तिकरणे प्रविशति । अत्रापि स्थितिघातादीनि पूर्ववत् करोति । ततोऽनिवृत्तिकरणाद्धाया सङ्ख्येयेषु भागेषु गतेषु सत्सु दर्शनसप्तकशेषाणामेकविंशतेर्मोहनीयप्रकृतीनामन्तरकरण करोति । तत्र चतुर्णां संज्वलनानामन्यतमस्य वेद्यमानस्य संज्वलनस्य त्रयाणा च वेदानामन्यतमस्य वेद्य-मानस्य वेदस्य प्रथमा स्थिति स्वोदयकालप्रमाणा । अन्येषा चैकादशकषायाणामष्टाना च नोकषायाणा प्रथमा स्थितिरावलिकामात्रा । स्वोदयकालप्रमाण च चतुर्णां संज्वलनाना त्रयाणा च वेदानामिदम्—स्त्रीवेद-नपुंसकवेदयोरुदयकाल सर्वस्तोक, स्वस्थाने तु परस्पर तुल्य, तत पुरुषवेदस्य सङ्ख्येयगुण, ततोऽपि संज्वलनक्रोधस्य विशेषाधिक, ततोऽपि

---

१ सं० १ त० म० °पत्रितयमि° ॥ २ सं० म० मात्र उत्की° । म० १ मात्रां उदीरणां उत्की° ॥ ३ सं० १ त० म० स्थितिमध्ये ॥ ४ छा० रण चानिवृत्तिबादरगुण° ॥ ५ सं० १ त० म० °सङ्ख्येयतमा भा° ॥ ६ छा० मुद्रि० °शनिमोह° ॥

७ सं० १ त० छा० म० °थमस्थि°॥

संज्वलनमानस्य विशेषाधिक, ततोऽपि सञ्ज्वलनमायाया विशेषाधिक, ततोऽपि सञ्ज्वलन-लोभस्य विशेषाधिक ।

उक्त च—

थीअपुमोदयकाला, सखेज्जगुणो उ पुरिसवेयस्स ।
तैत्तो वि विसेसअहिओ, कोहे तत्तो वि जहकमसो ॥ (पञ्चसं० ७९३)

तत्र सञ्ज्वलनक्रोधेन उपशमश्रेणिं प्रतिपन्नस्य यावद् अप्रत्याख्यान प्रत्याख्यानावरणक्रोधोपशमो न भवति तावत् सञ्ज्वलनक्रोधस्योदय । सञ्ज्वलनमानेन उपशमश्रेणिं प्रतिपन्नस्य यावद् अप्रत्याख्यान-प्रत्याख्यानावरणमानोपशमो न भवति तावत् संज्वलनमानस्योदय । संज्वलनमायया चोपशमश्रेणिं प्रतिपन्नस्य यावद् अप्रत्याख्यान प्रत्याख्यानावरणमायोपशमो न भवति तावत् संज्वलनमायाया उदय । सञ्ज्वलनलोभेन उपशमश्रेणिं प्रतिपन्नस्य यावद् अप्रत्याख्यान प्रत्याख्यानावरणलोभोपशमो न भवति तावत् संज्वलनलोभस्योदय । तदेवमन्तरकरणमुपरितनभागापेक्षया सममधोभागापेक्षया चोक्तनीत्या विषममिति यावता च कालेन स्थितिखण्ड घातयति यद्वाऽन्य स्थितिबन्ध करोति तावता कालेन अन्तरकरणमपि करोति । त्रीण्यपि युगपदारभते युगपदेव च निष्ठा नयति । तच्चान्तरं प्रथमस्थिते सङ्ख्येयगुणम् । अन्तरकरणसत्कदलिकप्रक्षेपविधिश्चायम्— येषा कर्मणा तदानीं बन्ध उदयश्च विद्यते तेषामन्तरकरणसत्क दलिक प्रथमस्थितौ द्वितीयस्थितौ च प्रक्षिपति, यथा पुरुषवेदोदयारूढ पुरुषवेदस्य । येषा तु कर्मणामुदय एव केवलो न बन्धस्तेषामन्तरकरणसत्क दलिक प्रथमस्थितावेव प्रक्षिपति न द्वितीयस्थितौ, यथा स्त्रीवेदोदयारूढ स्त्रीवेदस्य । येषा पुनरुदयो न विद्यते किन्तु केवलो बन्धस्तेषामन्तरकरणसत्क दलिकं द्वितीयस्थितावेव क्षिपति न प्रथमस्थितौ, यथा संज्वलनक्रोधोदयारूढ शेषसञ्ज्वलनानाम् । येषा पुनर्न बन्धो नाप्युदयस्तेषामन्तरकरणसत्क दलिक परप्रकृतिषु प्रक्षिपति यथा द्वितीयतृतीयकषायाणाम् । इहान्तिवृत्तिकरणे बहु वक्तव्य तत् तु ग्रन्थगौरवभयाद् नोच्यते, केवल विशेषार्थिना कर्मप्रकृतिटीका निरीक्षितव्या । अन्तरकरण च कृत्वा ततो नपुंसकवेदमुपशमयति । त चैवम्— प्रथमसमये स्तोकम्, द्वितीयसमयेऽसङ्ख्येयगुणम्, ततोऽपि तृतीयसमयेऽसङ्ख्येयगुणम्, एव प्रतिसमयमसङ्ख्येयगुण तावद् उपशमयति यावत् चरमसमय, परप्रकृतिषु प्रतिसमयमुपशमितदलिकापेक्षया तावद् असङ्ख्येयगुण प्रक्षिपति यावद् द्विचरमसमय, चरमसमये पुनरुपशम्यमान दलिक परप्रकृतिषु सङ्क्रम्यमाणदलिकापेक्षयाऽसङ्ख्येयगुण द्रष्टव्यम् । तदेव नपुंसकवेद उपशमित, तस्मिंश्चोपशान्तेऽष्टौ कर्माण्युपशान्तानि जातानि । तत उक्तप्रकारेणान्तर्मुहूर्तेन कालेन स्त्रीवेदमुपशमयति, तस्मिंश्चोपशान्ते नव । ततोऽन्तर्मुहूर्तेन कालेन हास्यादिषट्कमुपशमयति, तस्मिंश्चोपशान्ते पञ्चदश कर्माण्युपशान्तानि भवन्ति । तस्मिन्नेव च समये पुरुष-

१ स्त्रीनपुंसकवेदकालात् सङ्ख्येयगुणस्तु पुरुषवेदस्य । तस्मादपि विशेषाधिक क्रोधस्तस्मादपि यथाक्रमश ॥ २ स० स० २ छा० मुद्रि० तस्स वि विसे ॥ ३ स० १ त० म० °वत्काले ॥ ४ त० °क परप्रकृतिषु ॥ ५ छा० मुद्रि० °कृतिसग्रहण्यामी ॥ ६ छा० मुद्रि० षु च प्रति ॥ ७ स० ७ छा० # चरमस ॥

वेदस्य बन्ध उदय-उदीरणाव्यवच्छेदः प्रथमस्थितियवच्छेदश्च । प्रथमस्थितौ च द्व्यावलिकाशेषायां प्रागुक्तस्वरूप आगालो न भवति । तस्मादेव च समयादारभ्य षण्णां नोकषायाणां सत्कं दलिकं न पुरुषवेदे प्रक्षिपति किन्तु सज्वलनक्रोधादिषु, "दुसु आवलियासु पढमठिईएँ सेसासु वि य वेओ" ॥ (कर्मप्र० गा० १०७) इति वचनात् । हास्यादिषट्कोपशमनानन्तरं च समयोनावलिकाद्विकमात्रेण कालेन पुरुषवेदं सकलमप्युपशमयति । तच्चैवम्—प्रथमसमये स्तोकम्, द्वितीयसमयेऽसङ्ख्येयगुणम्, ततोऽपि तृतीयसमयेऽसङ्ख्येयगुणम्, एवं तावद् वाच्यं यावत् समयद्वयोनावलिकाद्विकचरमसमयः, परप्रकृतिषु च प्रतिसमयं समयद्वयोनावलिकाद्विककालं यावद् यथाप्रवृत्तसङ्क्रमेण सङ्क्रमयति, परं प्रथमसमये प्रभूतम्, द्वितीयसमये विशेषहीनम्, ततोऽपि तृतीयसमये विशेषहीनम्, एवं तावद् वक्तव्यं यावत् चरमसमयः । पुरुषवेदे चोपशान्ते षोडश कर्माण्युपशान्तानि भवन्ति । ततो यस्मिन् समये हास्यादिषट्कमुपशान्तम् पुरुषवेदस्य प्रथमस्थितिः क्षीणा ततः समयादनन्तरमप्रत्याख्यान-प्रत्याख्यानावरण-सज्वलनक्रोधान् युगपदुपशमयितुमारभते । सज्वलनक्रोधस्य च प्रथमस्थितौ समयोनावलिकात्रिकशेषायामप्रत्याख्यान-प्रत्याख्यानावरणक्रोधदलिकं न सज्वलनक्रोधे प्रक्षिपति किन्तु सज्वलनमानादौ, "तिसुं आवलियासु समऊणियासु अपडिग्गहा उ सजलणा ।" (कर्मप्र० गा० १०७) इति वचनात् । द्व्यावलिकाशेषायां त्वागालो न भवति, किन्तूदीरणैव केवला । साऽपि तावत् प्रवर्तते यावदावलिकाशेषो भवति । आवलिकायां च शेषीभूतायां सज्वलनक्रोधस्य बन्ध-उदय-उदीरणाव्यवच्छेदः अप्रत्याख्यान-प्रत्याख्यानावरणौ च क्रोधावुपशान्तौ, तयोश्चोपशान्तयोर्द्वादश कर्माण्युपशान्तानि भवन्ति । तदानीं च सज्वलनक्रोधस्य प्रथमस्थितिगतामेकामावलिकां समयोनावलिकाद्विकबद्धं चोपरितनस्थितिगतं दलिकं मुक्त्वा शेषमन्यत् सर्वमुपशान्तम्, ततस्तां प्रथमस्थितिगतामेकामावलिकां सज्वलनमाने स्तिबुकसङ्क्रमेण प्रक्षिपति, समयोनावलिकाद्विकबद्धं च दलिकं पुरुषवेदोक्तप्रकारेणोपशमयति सङ्क्रमयति च । ततः समयोनावलिकाद्विकेन कालेन सज्वलनक्रोधं उपशमितः, तस्मिंश्चोपशान्ते एकोनविंशतिकर्माण्युपशान्तानि भवन्ति । यदा च सज्वलनक्रोधस्य बन्ध-उदय-उदीरणाव्यवच्छेदस्ततोऽनन्तरसमयादारभ्य सज्वलनमानस्य द्वितीयस्थितेः सकाशाद् दलिकमाकृष्य प्रथमस्थितिं करोति वेदयते च । तत्रोदयसमये स्तोकं प्रक्षिपति, द्वितीयस्थितौ असङ्ख्येयगुणम्, ततोऽपि तृतीयस्थितावसङ्ख्येयगुणम्, एवं तावद् वाच्यं यावत् प्रथमस्थितेश्चरमसमयः । प्रथमस्थितिकरणप्रथमसमयादेव चारभ्य त्रीनप्यप्रत्याख्यान-प्रत्याख्यानावरण-सज्वलनरूपान् मानान् युगपद् उपशमयितुमारभते । सज्वलनमानस्य च प्रथमस्थितौ समयोनावलिकात्रिकशेषायामप्रत्याख्यान-प्रत्याख्यानावरणमानदलिकं न संज्वलनमाने प्रक्षिपति किन्तु संज्वलनमायादौ । आवलिकाद्विकशेषायां त्वागालो व्यवच्छिद्यते, ततः उदीरणैव

१ स० १ त० छा० म० °व चरमसया ॥ २ द्व्योरावलिकयोः प्रथमस्थितौ शेषयोरपि च वेदः ॥ ३ तिसृष्वावलिकासु समयोनासु अपतद्ग्रहास्तु संज्वलनाः ॥ ४ स० स० १ म० ? त० छा० म० न का ॥ ५ स० छा० मुद्रि० यनि ॥ ६ म० १ च । प्रथमस्थितिनिरूण° ॥ ७ त० म० ततस्तु° ॥

केवला प्रवर्तते। साऽपि तावद् यावदावलिका शेषा भवति। आवलिकायां तु शेषीभूतायां संज्वलनमानस्य बन्ध-उदय उदीरणाव्यवच्छेद अप्रत्याख्यान-प्रत्याख्यानावरणौ च मानावुपशान्तौ, तयोश्चोपशान्तयोरेकविंशतिकर्माण्युपशान्तानि भवन्ति। तस्मिंश्च समये संज्वलनमानस्य प्रथमस्थितिगतामेकामावलिका समयोनावलिकाद्विकबद्ध चोपरितनस्थितिगत दलिक मुक्त्वा शेषमन्यत् सर्वमुपशान्तम्, ततस्ता प्रथमस्थितिगतामेकामावलिका स्तिबुकसङ्क्रमेण संज्वलनमायायां प्रक्षिपति, समयोनावलिकाद्विकबद्ध च दलिक पुरुषवेदोक्तप्रकारेणोपशमयति सङ्क्रमयति च। तत समयोनावलिकाद्विकेन कालेन संज्वलनमान उपशमित, तस्मिंश्चोपशान्ते द्वाविंशतिकर्माण्युपशान्तानि भवन्ति। यदा च संज्वलनमानस्य बन्ध-उदय-उदीरणाव्यवच्छेदस्ततोऽनन्तरसमयादारभ्य संज्वलनमायाया द्वितीयस्थिते सकाशाद् दलिकमाकृष्य पूर्वोक्तप्रकारेण प्रथमां स्थितिं करोति वेदयते च, तत्समयादेव चारभ्य तिस्रोऽपि माया युगपद् उपशमयितुमारभते। संज्वलनमायायाश्च प्रथमस्थितौ समयोनावलिकात्रिकशेषायामप्रत्याख्यान-प्रत्याख्यानावरणमायादलिक न संज्वलनमायायां प्रक्षिपति, किन्तु संज्वलनलोभे। आवलिकाद्विकशेषायां त्वागालो न भवति, किन्तूदीरणैव केवला। साऽपि तावत् प्रवर्तते यावदावलिकाशेषो भवति। आवलिकायां च शेषीभूतायां संज्वलनमायाया बन्ध-उदय उदीरणाव्यवच्छेद अप्रत्याख्यान-प्रत्याख्यानावरणे च माये उपशान्ते, तयोश्चोपशान्तयोश्चतुर्विंशतिकर्माण्युपशान्तानि भवन्ति। तस्मिंश्च समये संज्वलनमायाया प्रथमस्थितिगतामेकामावलिका समयोनावलिकाद्विकबद्ध चोपरितनस्थितिगत दलिक मुक्त्वा शेषमन्यत् सर्वमुपशान्तम्, ततस्ता प्रथमस्थितिगतामेकामावलिका स्तिबुकसङ्क्रमेण संज्वलनलोभे सङ्क्रमयति, समयोनावलिकाद्विकबद्ध च दलिक पुरुषवेदोक्तप्रकारेणोपशमयति सङ्क्रमयति च। तत समयोनावलिकाद्विकेन कालेन संज्वलनमाया उपशान्ता, तस्यां चोपशान्तायां पञ्चविंशतिकर्माण्युपशान्तानि भवन्ति। यदा च संज्वलनमायाया बन्ध उदय-उदीरणाव्यवच्छेदस्ततोऽनन्तरसमयादारभ्य संज्वलनलोभस्य द्वितीयस्थिते सकाशाद् दलिकमाकृष्य लोभवेदकाद्धात्रिभागद्वयप्रमाणा प्रथमस्थितिं पूर्वोक्तप्रकारेण करोति वेदयते च। प्रथमश्च त्रिभागोऽश्वकर्णकरणाद्धासंज्ञ, द्वितीय किट्टिकरणाद्धासंज्ञ। प्रथमे चाश्वकर्णकरणाद्धासंज्ञे त्रिभागे वर्तमान पूर्वस्पर्धकेभ्यो दलिकमादायापूर्वस्पर्धकानि करोति।

अथ किमिद स्पर्धकम्? इति उच्यते—इह तावदनन्तानन्तै परमाणुभिर्निष्पन्नान् स्कन्धान् जीव कर्मतया गृह्णाति। तत्र चैकैकस्मिन् स्कन्धे य सर्वजघन्यरस परमाणुस्तस्यापि रस केवलिप्रज्ञया छिद्यमान सर्वजीवेभ्योऽनन्तगुणान् रसाविभागान् प्रयच्छति, अपरस्तु तानेवैकाधिकान्, अन्यस्तु द्व्यधिकान्, एवमेकोत्तरया वृद्ध्या तावद् नेय यावदन्य परमाणु सिद्धानन्तभागाधिकान् रसाविभागान् प्रयच्छति। तत्र जघन्यरसा ये केचन परमाणवस्तेषा समुदाय समानजातीयत्वादेका वर्गणेत्युच्यते। अन्येषां त्वेकाधिकरसाविभागयुक्ताना समुदायो

१ स० २ त० म० काशेषो भव°। स० १ काशेषो न भव° ॥ २ छा० मुद्रि० काशेषो न भव° ॥ ३ स० १ त० म० श्च विभा ॥ ४ छा० व्येकादिभागाधिकान्। एवमे ॥ ५ म० १ स० २ त० म० कान्। एवमे° ॥

द्वितीया वर्गणा, अपरेषा तु द्व्यधिकरसाविभागयुक्ताना समुदायस्तृतीया वर्गणा, एवमनया दिशा एकैकरसाविभागवृद्धानामणूना समुदायरूपा वर्गणा सिद्धानामनन्तभागकल्पा अभव्येभ्योऽनन्तगुणा वाच्या । एतासा च समुदाय स्पर्धकमित्युच्यते, स्पर्धन्त इवोत्तरोत्तरवृद्ध्या परमाणुवर्गणा अत्रेति कृत्वा ।

इत ऊर्ध्वमेकोत्तरया निरन्तरवृद्ध्या प्रवर्द्धमानो रसो न लभ्यते किन्तु सर्वजीवानन्तगुणैरेव रसाविभागै, ततस्तेनैव क्रमेण तत प्रभृति द्वितीय स्पर्धकमभिधानीयम्, एवमेव च तृतीयम्, एव तावद् वाच्य यावदनन्तानि स्पर्धकानि भवन्ति । एतानि च पूर्व कृतत्वात् पूर्वस्पर्धकान्यभिधीयन्ते । तत एतेभ्य इदानीं प्रतिसमय दलिक गृहीत्वा तस्य चात्यन्तहीनरसतामापाद्य अपूर्वाणि स्पर्धकानि करोति । ससार हि परिभ्रमता न कदाचनापि बन्धमाश्रित्येदृशानि स्पर्धकानि कृतानि, किन्तु सम्प्रत्येव विशुद्धिप्रकर्षवशात् करोति, ततोऽपूर्वाणीत्युच्यन्ते ।

अश्वकर्णकरणाद्धाया च गताया किट्टिकरणाद्धाया प्रविशति । तत्र च पूर्वस्पर्धकेभ्योऽपूर्वस्पर्धकेभ्यश्च दलिक गृहीत्वा प्रतिसमयमनन्ता किट्टी करोति । किट्टयो नाम पूर्वस्पर्धकाऽपूर्वस्पर्धकेभ्यो वर्गणा गृहीत्वा तासामनन्तगुणहीनरसतामापाद्य बृहदन्तरालतया यद् व्यवस्थापनम्, यथा—यासामनन्तानन्तानामप्यसत्कल्पनयाऽनुभागभागाना शतमेकोत्तर द्व्युत्तर वाऽऽसीत् १०१–१०२ तासामेवानुभागभागाना पञ्चक पञ्चदशक पञ्चविंशतिरिति । किट्टिकरणाद्धायाश्चरमसमये युगपद् अप्रत्याख्यान प्रत्याख्यानावरणलोभावुपशान्तौ भवत । तत्समयमेव च सज्वलनलोभबन्धव्यवच्छेदो बादरसज्वलनलोभोदय-उदीरणाव्यवच्छेदोऽनिवृत्तिबादरसम्परायगुणस्थानकव्यवच्छेदश्च । तदेवमनिवृत्तिबादरे सप्तभ्य आरभ्य पञ्चविंशतिं यावद् उपशान्तानि कर्माणि लभ्यन्ते । तथा चाह—

सत्तऽट्ठ नव य पनरस, सोलस अट्ठारसेव इगुवीसा ।
एगाहि दु चउवीसा, पणवीसा बायरे जाण ॥ सुगमौ ॥

अप्रत्याख्यान-प्रत्याख्यानावरणलोभोपशान्तौ च सप्तविंशतिकर्माण्युपशान्तानि भवन्ति । तानि च सूक्ष्मसम्पराये प्राप्यन्ते । आह च—

सत्तावीस सुहुमे, अट्ठावीसं पि मोहपयडीओ ।
उवसतवीयरागे, उवसता होंति नायव्वा ॥

'सूक्ष्मे' सूक्ष्मसम्पराये सप्तविंशतिकर्माण्युपशान्तानि लभ्यन्ते । सूक्ष्मसम्परायाद्धा चान्तर्मुहूर्तप्रमाणा । सूक्ष्मसम्परायाद्धाया च प्रविष्ट मन् उपरितनस्थिते सकाशात् कतिपया किट्टी

१ स० १ त० म० त्तरसट ॥ २ सं० स० १ त० म० यासामेवामन्क° ॥ ३ छा० मुद्रि० यात्र चर° ॥ ४ स० १ त० म० शान्तकर्मा ॥ ५ सप्ताष्ट नव च पञ्चदश षोडश अष्टादशैव एकविंशति । एकाधिकद्वौ चतुर्विंशति पञ्चविंशतिर्बादरे जानीहि ॥ ६ स १ त० म० प्रा ॥ भप्राप्रत्या° ॥ ७ स० १ त० म० नि भवन्ति ॥

समाकृष्य प्रथमस्थितिं सूक्ष्मसम्परायाद्धातुल्यां करोति वेदयति च। शेषं च सूक्ष्मकिट्टीकृतं दलिकं समयोनावलिकाद्विकबद्धं चोपशमयति। सूक्ष्मसम्परायाद्धायाश्चरमसमये सञ्ज्वलनलोभ उपशान्तो भवति। तत्समयमेव च ज्ञानावरणपञ्चक-दर्शनावरणचतुष्का-ऽन्तरायपञ्चक-यशः-कीर्ति-उच्चैर्गोत्राणां बन्धव्यवच्छेदः। ततोऽनन्तरसमये उपशान्तकषायो भवति। तस्मिंश्चोपशान्तकषाये वीतरागेऽष्टाविंशतिरपि मोहनीयप्रकृतय उपशान्ता ज्ञातव्याः।

उपशान्तकषायश्च जघन्येनैकं समयं भवति, उत्कर्षेण त्वन्तर्मुहूर्तं कालं यावत्, तत ऊर्ध्वं नियमादसौ प्रतिपतति। प्रतिपातश्च द्विधा—भवक्षयेण अद्धाक्षयेण च। तत्र भवक्षयो म्रियमाणस्य, अद्धाक्षय उपशान्ताद्धायां समाप्तायाम्। अद्धाक्षयेण च प्रतिपतन् यथैवारूढस्तथैव प्रतिपतति, यत्र यत्र बन्ध उदय-उदीरणा व्यवच्छिन्नास्तत्र तत्र प्रतिपतता सता ते आरभ्यन्त इति यावत्। प्रतिपतंश्च तावत् प्रतिपतति यावत् प्रमत्तसंयतगुणस्थानकम्। कश्चित् पुनस्ततोऽप्यधस्तनं गुणस्थानकद्विकं याति, कोऽपि सासादनभावमपि। यः पुनर्भवक्षयेण प्रतिपतति स प्रथमसमय एव सर्वाण्यपि बन्धनादीनि करणानि प्रवर्तयतीत्येष विशेषः।

उत्कर्षतश्चैकस्मिन् भवे द्वौ वारावुपशमश्रेणिं प्रतिपद्यते। यश्च द्वौ वारावुपशमश्रेणिं प्रतिपद्यते तस्य नियमात् तस्मिन् भवे क्षपकश्रेण्यभावः। यः पुनरेकं वारं प्रतिपद्यते तस्य क्षपकश्रेणिर्भवेदपि। उक्तं च चूर्णौ—

जो दुवे वारे उवसमसेढिं पडिवज्जइ तस्स नियमा तम्मि भवे खवगसेढी नत्थि,
जो एक्कसिं उवसमसेढिं पडिवज्जइ तस्स खवगसेढी होज्ज वा ( ) इति।

आगमाभिप्रायेण त्वेकस्मिन् भवे एकामेव श्रेणिं प्रतिपद्यते। तदुक्तम्—

मोहोपशम एकस्मिन्, भवे द्विः स्यादसन्ततः।
यस्मिन् भवे तूपशमः, क्षयो मोहस्य तत्र न॥ ( ) इति। ॥ ६२ ॥

तदेवमुक्ता सप्रपञ्चमुपशमश्रेणिः। सम्प्रति[3] क्षपकश्रेणिमभिधातुकाम आह—

पढमकसायचउक्कं, इत्तो मिच्छत्तमीससम्मत्तं।
अविरय देसे विरए, पमत्ति अपमत्ति खीयंति ॥ ६३ ॥

इह यः क्षपकश्रेणिमारभते सोऽवश्यं मनुष्यो वर्षाष्टकस्योपरि वर्तमानः। स च प्रथमतः 'प्रथमकषायचतुष्कम्' अनन्तानुबन्धिसंज्ञं विसंयोजयति। तद्विसंयोजना च प्रागेवोक्ता। ततः इतः प्रथमकषायचतुष्कक्षयादनन्तरं मिथ्यात्व मिश्र सम्यक्त्वानि क्षपयति। सूत्रे चैकवचनं समा-

---

१ स० छा० मुद्रि० यते च ॥ २ यो द्वौ वारौ उपशमश्रेणिं प्रतिपद्यते तस्य नियमाद् तस्मिन् भवे क्षपकश्रेणिर्नास्ति यः एकवारं उपशमश्रेणिं प्रतिपद्यते तस्य क्षपकश्रेणिर्भवेद् वा ॥ ३ स० छा० मुद्रि० ति श्रेणिप्रस्तावात् क्षप ॥ ४ स० १ त० म० इत्तो ॥ ५ स० स० २ छा० °मत्ते अपमत्ते खी°। स० १ त० म० °मत्त अपमत्त खी° ॥

हारविरक्षणात्, समाहारविरम्भा चामीषा त्रयाणामपि युगपत् क्षपणाय यतते इति ज्ञापनोर्थो । मिथ्यात्वादीनि च क्षपयन् यथाप्रवृत्तादीनि त्रीणि करणान्यारभते । करणानि च प्रागिव वक्तव्यानि । नवरमपूर्वकरणस्य प्रथमसमयेऽनुदितयोर्मिथ्यात्व-सम्यग्मिथ्यात्वयोर्दलिक गुणसङ्क्रमेण सम्यक्त्वे प्रक्षिपति । उद्वलनासङ्क्रममपि तयोरेवमारभते, तद्यथा—प्रथमस्थितिखण्ड बृहत्तरमुद्वलयति, ततो द्वितीय विशेषहीनम्, ततोऽपि तृतीय विशेषहीनम्, एव तावद् वाच्य यावदपूर्वकरणचरमसमय । अपूर्वकरणप्रथमसमये च यत् स्थितिसत्कर्म आसीत् तत् तस्यैव चरमसमये सङ्ख्येयगुणहीन जातम् । ततोऽनिवृत्तिकरणे प्रविशति, तत्रापि स्थितिघातादीन् सर्वानपि तथैव करोति । अनिवृत्तिकरणप्रथमसमये च दर्शनत्रिकस्यापि देशोपशमना-निधत्ति-निकाचना व्यवच्छिद्यन्ते । दर्शनमोहनीयत्रिकस्य च स्थितिसत्कर्मा अनिवृत्तिकरणप्रथमसमयादारभ्य स्थितिघातादिभिर्घात्यमान घात्यमान स्थितिखण्डसहस्रेषु गतेष्वसनिपञ्चेन्द्रियस्थितिसत्कर्मसमान भवति, तत स्थितिखण्डसहस्रपृथक्त्वे गते सति चतुरिन्द्रियस्थितिसत्कर्मसमानम्, ततोऽपि तावन्मात्रेषु खण्डेषु गतेषु त्रीन्द्रियस्थितिसत्कर्मसमानम्, ततोऽपि तावन्मात्रेषु खण्डेषु गतेषु द्वीन्द्रियस्थितिसत्कर्मसमानम्, ततोऽपि तावन्मात्रेषु खण्डेषु गतेष्वेकेन्द्रियस्थितिसत्कर्मसमानम्, ततोऽपि तावन्मात्रेषु खण्डेषु गतेषु पल्योपमासङ्ख्येयभागप्रमाण भवति । ततस्त्रयाणामपि प्रत्येकमेकैक सङ्ख्येयभाग मुक्त्वा शेष सर्वमपि घातयति । ततस्तस्यापि प्रागुक्तस्य सङ्ख्येयभागस्यैक सङ्ख्येयतम भाग मुक्त्वा शेष सर्व विनाशयति । एव स्थितिघाता सहस्रशो व्रजन्ति । तदनन्तर च मिथ्यात्वस्यासङ्ख्येयान् भागान् खण्डयति, सम्यक्त्व-सम्यग्मिथ्यात्वयोस्तु सङ्ख्येयान् । तत एव स्थितिखण्डेषु प्रभूतेषु गतेषु सत्सु मिथ्यात्वस्य दलिकमावलिकामात्र जातम्, सम्यक्त्व-सम्यग्मिथ्यात्वयोस्तु पल्योपमासङ्ख्येयभागमात्रम् । अमूनि च स्थितिखण्डानि खण्ड्यमानानि मिथ्यात्वसत्कानि सम्यक्त्व-सम्यग्मिथ्यात्वयो प्रक्षिपति, सम्यग्मिथ्यात्वसत्कानि सम्यक्त्वे, सम्यक्त्वसत्कानि त्वधस्तात् स्वस्थाने इति । तदपि च मिथ्यात्वदलिकमावलिकामात्र स्तिबुकसङ्क्रमेण सम्यक्त्वे प्रक्षिपति । तदनन्तर सम्यक्त्व-सम्यग्मिथ्यात्वयोरसङ्ख्येयान् भागान् खण्डयति, एकोऽवशिष्यते, ततस्तस्याप्यसङ्ख्येयान् भागान् खण्डयति, एक मुञ्चति, एव कतिपयेषु स्थितिखण्डेषु गतेषु सम्यग्मिथ्यात्वमप्यावलिकामात्र जातम् । तदानी सम्यक्त्वस्य स्थितिसत्कर्म वर्षाष्टकप्रमाण भवति । तस्मिन्नेव च काले सकलप्रत्यूहापगमतो निश्चयमतेन दर्शनमोहनीयक्षपक उच्यते । तत ऊर्ध्व सम्यक्त्वस्य स्थितिखण्ड अन्तर्मुहूर्तप्रमाणमुत्किरति, तद्दलिक तूदयसमयादारभ्य प्रक्षिपति । केवलमुदयसमये सर्वस्तोकम्, ततो द्वितीयसमयेऽसङ्ख्येयगुणम्, ततोऽपि तृतीयसमयेऽसङ्ख्येयगुणम्, एव तावद् वक्तव्य यावद् गुणश्रेणीशिर । तत ऊर्ध्व तु विशेषहीन विशेषहीनम्, यावच्चरमा स्थिति । एवमन्तर्मु-

१ स० १ त० म० छा० °नार्थम् ॥ २ त० म० थम स्थि ॥ ३ स १ त० छा० म० °तिकम ॥ ४ म० १ त० दानि स° ॥ ५ स० स० २ छा० °पमसख्ये ॥ ६ स० १ त० म० क्त्वस्थिति° ॥ ७ स० १ त० म० °न्तर्मौहूर्तिका ॥

हूर्तिकान्यनेकानि खण्डान्युत्किरति निक्षिपति च। तानि च तावद् यावद् द्विचरम स्थितिखण्डम्। द्विचरमात्तु स्थितिखण्डाद् चरमखण्ड सङ्ख्येयगुणम्। चरमे च स्थितिखण्डे उत्कीर्णे सति असौ क्षपक कृतकरण इत्युच्यते। अस्या च कृतकरणाद्धाया वर्तमान कश्चित् कालमपि कृत्वा चतसृणा गतीनामन्यतमस्या गतावुत्पद्यते। लेश्यायामपि च पूर्वं शुक्ललेश्यायामासीत्, सम्प्रति त्वन्यतमस्या गच्छति। तदेव प्रस्थापको मनुष्यो निष्ठापकश्चतसृष्वपि गतिषु भवति।

उक्त च—

पट्ठवगो उ मणूसो, निट्ठवगो चउसु वि गईसु ॥ (   )

इह यदि बद्धायु क्षपकश्रेणिमारभते अनन्तानुबन्धिना च क्षयादनन्तर मरणसम्भवतो व्युपरमते, तत कदाचिद् मिथ्यात्वोदयाद् भूयोऽप्यनन्तानुबन्धिन उपचिनोति, तद्बीजस्य मिथ्यात्वस्यानिनाशात्। क्षीणमिथ्यादर्शनस्तु नोपचिनोति, बीजाभावात्। क्षीणसप्तकस्त्वप्रतिपतितपरिणामोऽवश्य त्रिदशेषूत्पद्यते। प्रतिपतितपरिणामस्तु नानापरिणामसम्भवाद् यथापरिणाममन्यतमस्या गतावुत्पद्यते। उक्त च—

बद्धाऊ पडिवन्नो, पढमसायक्खए जइ मरिज्जा।
तो मिच्छत्तोदयओ, चिणिज्ज भूयो न खीणम्मि ॥

तम्मि मओ जाइ दिव, तप्परिणामो य सत्तए खीणे।
उवरयपरिणामो पुण, पच्छा नाणामइगईओ ॥ (विशेषा० गा० १३१६–१७)

बद्धायुष्कोऽपि यदि तदानीं काल न करोति तथापि सप्तके क्षीणे नियमादवतिष्ठते, न तु चारित्रमोहक्षपणाय यत्नमारभते, यत आह—

बद्धाऊ पडिवन्नो, नियमा खीणम्मि सत्तए ठाइ। (विशेषा० गा० १३२५)

अथोच्येत—क्षीणसप्तको गत्यन्तर सङ्क्रामन् कतितमे भवे मोक्षमुपयाति? उच्यते—तृतीये चतुर्थे वा भवे। तथाहि—यदि देवगतिं नरकगतिं वा सङ्क्रामति ततो देवभवान्तरितो नरकभवान्तरितो वा तृतीयभवे मोक्षमुपयाति। अथ तिर्यक्षु मनुष्येषु वा मध्ये समुत्पद्यते तर्हि सोऽवश्यमसङ्ख्येयवर्षायुष्केषु मध्ये गच्छति न सङ्ख्येयवर्षायुष्केषु, ततस्तद्भवानन्तरं देवभवे, तस्माच्च देवभवात् च्युत्वा मनुष्यभवे, ततो मोक्ष यातीति चतुर्थभवे मोक्षगमनम्। उक्त च पञ्चसङ्ग्रहे—

---

१ स० १ त० म० °रमस्थिति ॥ २ स० १ त० म० °पन्नो भूत्वा म° ॥ ३ प्रस्थापकस्तु मनुष्यो निष्ठापकश्चतसृष्वपि गतिषु ॥ ४ बद्धायु प्रतिपन्न प्रथमकषायक्षये यदि म्रियेत। ततो मिथ्यात्वोदयत चिनुयाद् भूयो न क्षीणे ॥ तस्मिन् मृतो याति दिव तत्परिणामश्च सप्तके क्षीणे। उपरतपरिणाम पुन पश्चाद् नानामतिगतिक ॥ ॥ ५ स० १ त० म० णाणइमइओ ॥ ६ बद्धायु प्रतिपन्नो नियमात् क्षीणे सप्तके तिष्ठति ॥ ७ छा० मुद्रि० योच्यते—क्षी ॥

तइय[1] चउत्थे तम्मि व, भवम्मि सिज्झति दसणे खीणे ।
ज देवनिरयऽसखाउचरिमदेहेसु ते होंति ॥ (गा० ७७९)

एतानि च सप्त कर्माणि क्षपयति[2] अविरतसम्यग्दृष्टि देशविरत प्रमत्तोऽप्रमत्तो वा, तत एतेषु चतुर्ष्वपि सप्तकक्षय प्राप्यते। तथा चाह सूत्रकृत्—"अविरये[3]" इत्यादि । अविरते 'देसे' देशविरते प्रमत्तेऽप्रमत्ते च प्रथमकषायचतुष्कादीनि सप्त कर्माणि 'क्षीयन्ते' क्षयमुपयान्ति ।

यदि पुनरबद्धायु क्षपकश्रेणिमारभते तत सप्तके क्षीणे नियमादनुपरतपरिणाम एव चारित्रमोहनीयक्षपणाय यत्नमारभते । यत आह भाष्यकृत्—

ईयरो[4] अणुवरओ च्चिय, सयल सेढिं समाणेई ॥ (विशेषा० गा० १३२५)

चारित्रमोहनीय च क्षपयितु यतमानो यथाप्रवृत्तादीनि त्रीणि करणानि करोति, तद्यथा—यथाप्रवृत्तकरणमपूर्वकरणमनिवृत्तिकरण च । एषा च स्वरूप पूर्ववदेवावगन्तव्यम् । नवरमिह यथाप्रवृत्तकरणमप्रमत्तगुणस्थानके द्रष्टव्यम्, अपूर्वकरणमपूर्वकरणगुणस्थानके, अनिवृत्तिकरणमनिवृत्तिबादरसम्परायगुणस्थानके । तत्रापूर्वकरणे स्थितिघातादिभिरप्रत्याख्यान प्रत्याख्यानावरणकषायाष्टक तथा क्षपयति स्म यथा अनिवृत्तिकरणाद्धाया प्रथमसमये तत् पल्योपमासङ्ख्येयभागमात्रस्थितिक जातम् । अनिवृत्तिकरणाद्धायाश्च सङ्ख्येयेषु भागेषु गतेषु सत्सु स्त्यानर्द्धित्रिक-नरकगति-तिर्यग्गति-नरकानुपूर्वी तिर्यगानुपूर्वी एक द्वि-त्रि चतुरिन्द्रियजाति-स्थावरा-ऽऽतप-उद्योत सूक्ष्म-साधारणरूपाणा षोडशप्रकृतीनामुद्वलनासङ्क्रमेणोद्वल्यमानाना पल्योपमासङ्ख्येयभागमात्रा स्थितिर्जाता । ततो बध्यमानासु प्रकृतिषु तानि षोडश कर्माणि गुणसङ्क्रमेण प्रतिसमय प्रक्षिप्यमाणानि प्रक्षिप्यमाणानि नि शेषत क्षीणानि भवन्ति । इहाप्रत्याख्यान-प्रत्याख्यानावरणकषायाष्टक पूर्वमेव क्षपयितुमारब्ध पर तद् नाद्यापि क्षीणम्, केवलमपान्तराल एव पूर्वोक्तप्रकृतिषोडशक क्षपितम् तत पश्चात् तदपि कषायाष्टकमन्तर्मुहूर्तमात्रेण क्षपयति । तथा चाह—

अनियट्टिबायरे थीणगिद्धितिगनिरयतिरियनामाओ ।
सखेज्जइमे सेसे, तप्पाओगाओ खीयति ॥
एत्तो हणइ कसायट्ठग पि

अनिवृत्तिबादरे गुणस्थानके सङ्ख्येयतमे भागे शेषे स्त्यानर्द्धित्रिक 'नरय-तिर्यङ्नामनी' निरयगति-तिर्यग्गतिनाम्नी 'तत्प्रायोग्याश्च' निरयगति तिर्यग्गतिप्रायोग्याश्च एकेन्द्रिय-द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रियजाति निरयानुपूर्वी-तिर्यगानुपूर्वी-स्थावरा-ऽऽतप-उद्योत-सूक्ष्म साधारणरूपा सर्वसङ्ख्यया षोडश प्रकृतय क्षीयन्ते । तत 'इत' प्रकृतिषोडशकक्षयादनन्तर नि शेषत कषायाष्टक हन्ति ॥

---

१ तृतीये चतुर्थे तस्मिन् वा भवे सिध्यन्ति दर्शने क्षीणे । यद् देव निरयासङ्ख्यायु चरमदेहेषु ते भवन्ति ॥ २ छा० मुद्रि० यन्ति अ° ॥ ३ सं० म० १ स० २ त० म० रइ'' इ° ॥ ४ इतरोऽनुपरत एव सकला श्रेणिं समापयति ॥ ५ स० स० २ द्धाप्रथ° ॥ ६ स० १ त० छा० म० °इत्यक्षया° ॥

अन्ये पुनराहुः—षोडश कर्माण्येव पूर्वं क्षपयितुमारभते, केवलमपान्तरालेऽष्टौ कषायान् क्षपयति, पश्चात् षोडश कर्माणीति । ततोऽन्तर्मुहूर्तमात्रेण नवाना नोकषायाणा चतुर्णां संज्वलनानामन्तरकरण करोति । तच्च कृत्वा नपुसकवेददलिकमुपरितनस्थितिगतमुद्वलनविधिना क्षपयितुमारभते । तच्चान्तर्मुहूर्तमात्रेण पल्योपमासङ्ख्येयभागमात्र जातम् । तत प्रभृति बध्यमानासु प्रकृतिषु गुणसङ्क्रमेण दलिक प्रक्षिपति । तच्चैव प्रक्षिप्यमाणमन्तर्मुहूर्तमात्रेण नि शेष क्षीणम् । अधस्तनदलिक च यदि नपुसकवेदेन क्षपकश्रेणिमारूढस्ततोऽनुभवत क्षपयति, अन्यथा त्वावलिकामात्र तद् भवति, तच्च वेद्यमानासु प्रकृतिषु स्तिबुकसङ्क्रमेण सङ्क्रमयति । तदेव क्षपितो नपुसकवेद । ततोऽन्तर्मुहूर्तमात्रेण स्त्रीवेदोऽप्यनेनेव क्रमेण क्षप्यते । तत षड् नोकषायान् युगपत् क्षपयितुमारभते । तत प्रभृति च तेषामुपरितनस्थितिगत दलिक न पुरुषवेदे सङ्क्रमयति, किन्तु संज्वलनक्रोधे । तथा चाह सूत्रकृत्—

पच्छा नपुसग इत्थी ।
तो नोकसायछक्क, छुब्भइ संजलणकोहम्मि ॥

कषायाष्टकक्षयानन्तर पश्चात्, 'नपुसक' नपुसकवेद क्षपयति, तत "इत्थि" त्ति स्त्रीवेदम्, तत षड् नोकषायान् क्षपयन् तेषामुपरितनस्थितिगत दलिक सज्वलनक्रोधे "छुब्भइ" त्ति क्षिपति, न पुरुषवेदे । एतेऽपि च षड् नोकषाया संज्वलनक्रोधे पूर्वोक्तविधिना क्षिप्यमाणा क्षिप्यमाणा अन्तर्मुहूर्तमात्रेण नि शेषा क्षीणा । तत्समयमेव च पुरुषवेदस्य बन्ध-उदय-उदीरणाव्यवच्छेद समयोनावलिकाद्विकबद्ध मुक्त्वा शेषदलिकस्य क्षयश्च, ततोऽसाविदानीमवेदको जात । एव पुरुषवेदेन क्षपकश्रेणिं प्रतिपन्नस्य द्रष्टव्यम् । यदा तु नपुसकवेदेन क्षपकश्रेणिं प्रतिपद्यते तदा प्रथमत स्त्रीवेद-नपुसकवेदौ युगपत् क्षपयति । स्त्रीवेद नपुसकवेदक्षयसमकालमेव च पुरुषवेदस्य बन्धो व्यवच्छिद्यते । तदनन्तर चावेदक सन् पुरुषवेद-हास्यादिषट्कं युगपत् क्षपयति । यदा तु स्त्रीवेदेन प्रतिपद्यते क्षपकश्रेणिं तदा प्रथमतो नपुसकवेदम्, तत स्त्रीवेदम्, स्त्रीवेदक्षयसमकालमेव च पुरुषवेदस्य बन्धव्यवच्छेद । ततोऽवेदक पुरुषवेद-हास्यादिषट्कं युगपत् क्षपयति ॥

सम्प्रति पुरुषवेदेन क्षपकश्रेणिं प्रतिपन्नमधिकृत्य प्रस्तुतमभिधीयते—क्रोध वेदयमानस्य सत तस्या क्रोधाद्धायास्त्रयो विभागा भवन्ति, तद्यथा—अश्वकर्णकरणाद्धा किट्टिकरणाद्धा किट्टिवेदनाद्धा च । तत्राश्वकर्णकरणाद्धाया वर्तमान प्रतिसमयमनन्तानि अपूर्वस्पर्धकानि चतुर्णामपि संज्वलनानामन्तरकरणाद् उपरितनस्थितौ करोति । अस्या चाश्वकर्णकरणाद्धाया वर्तमान पुरुषवेदमपि समयोनावलिकाद्विकेन कालेन क्रोधे गुणसङ्क्रमेण सङ्क्रमयन् चरमसमये सर्वसङ्क्रमेण सङ्क्रमयति । तदेव क्षीण पुरुषवेद । अश्वकर्णकरणाद्धाया च समाप्ताया किट्टिकरणाद्धाया प्रविशति । तत्र च प्रविष्ट सन् चतुर्णामपि संज्वलनानामुपरितनस्थितिगतस्य दलिकस्य किट्टी करोति । ताश्च किट्टय परमार्थतोऽनन्ता अपि स्थूरजातिभेदापेक्षया द्वादश कल्प्यन्ते । एकैकस्य

१ छा० तत्प्रमाणेन नवा ॥ २ सं० °हूर्तेन पल्यो° । छा० °हूर्तप्रमाणेन पल्या° ॥ ३ सं० सं० १ °माण प्रक्षिप्यमाणमन्त° ॥ ४ सं० १ त० म० स्थूरजा ॥

च कषायस्य तिस्रस्तिस्र, तद्यथा—प्रथमा द्वितीया तृतीया च। एव क्रोधेन क्षपकश्रेणिं प्रतिपन्नस्य द्रष्टव्यम्। यदा तु मानेन प्रतिपद्यते, तदा उद्वलनविधिना क्रोधे क्षपिते सति त्रयाणा पूर्वक्रमेण नव किट्टी करोति। मायया चेत् प्रतिपन्नस्तर्हि क्रोध मानयोरुद्वलनविधिना क्षपितयो सतो शेषद्विकस्य पूर्वक्रमेण षट् किट्टी करोति। यदि पुनर्लोभेन प्रतिपद्यते तत उद्वलनविधिना क्रोधादित्रिके क्षपिते सति लोभस्य किट्टित्रिक करोति। एष किट्टीकरणविधि। किट्टीकरणाद्धाया निष्ठिताया क्रोधेन प्रतिपन्न सन् क्रोधस्य प्रथमकिट्टिदलिक द्वितीयस्थितिगतमाकृष्य प्रथमस्थितिं करोति वेदयते च तावद् यावत् समयाधिकावलिकामात्र शेष। ततोऽनन्तरसमये द्वितीय किट्टीदलिक द्वितीयस्थितिगतमाकृष्य प्रथमस्थितिं करोति वेदयते च तावद् यावत् समयाधिकावलिकामात्र शेष। ततोऽनन्तरसमये तृतीयकिट्टिदलिक द्वितीयस्थितिगतमाकृष्य प्रथमस्थितिं करोति वेदयते च तावद् यावत् समयाधिकावलिकामात्र शेष। तिसृष्वपि चामूषु किट्टिवेदनाद्धासूपरितनस्थितिगत दलिक गुणसङ्क्रमेणापि प्रतिसमयमसङ्ख्येयगुणवृद्धिलक्षणेन संज्वलनमाने प्रक्षिपति। तृतीयकिट्टिवेदनाद्धायाश्च चरमसमये संज्वलनक्रोधस्य बन्ध-उदय-उदीरणाना युगपद् व्यवच्छेद, सत्कर्माऽपि च तस्य समयोनावलिकाद्विकबद्ध मुक्त्वा अन्यद् नास्ति, सर्वस्य माने प्रक्षिप्तत्वात्। ततोऽनन्तरसमये मानस्य प्रथमकिट्टिदलिक द्वितीयस्थितिगतमाकृष्य प्रथमस्थितिं करोति वेदयते च तावद् यावदन्तर्मुहूर्तम्। क्रोधस्यापि च बन्धादौ व्यवच्छिन्ने सति तस्य सम्बन्धि दलिक समयोनावलिकाद्विकमात्रेण कालेन गुणसङ्क्रमेण सङ्क्रमयन् चरमसमये सर्वसङ्क्रमेण सङ्क्रमयति। मानस्यापि च प्रथमकिट्टिदलिक प्रथमस्थितीकृत वेद्यमान वेद्यमान समयाधिकावलिकाशेष जातम्। ततोऽनन्तरसमये मानस्य द्वितीयकिट्टिदलिक द्वितीयस्थितिगतमाकृष्य प्रथमस्थितिं करोति वेदयते च तावद् यावत् समयाधिकावलिकामात्र शेष। ततोऽनन्तरसमये तृतीयकिट्टिदलिक द्वितीयस्थितिगतमाकृष्य प्रथमस्थितिं करोति वेदयते च तावद् यावत् समयाधिकावलिकामात्र शेष। तस्मिन्नेव च समये मानस्य बन्ध उदय-उदीरणाना युगपद् व्यवच्छेद, सत्कर्माऽपि च तस्य समयोनावलिकाद्विकबद्धमेव, शेषस्य मायाया प्रक्षिप्तत्वात्। ततो मायाया प्रथमकिट्टिदलिक द्वितीयस्थितिगतमाकृष्य प्रथमस्थितिं करोति वेदयते च तावद् यावदन्तर्मुहूर्तम्। मानस्यापि च बन्धादौ व्यवच्छिन्ने सति तस्य सम्बन्धि दलिक समयोनावलिकाद्विकमात्रेण कालेन गुणसङ्क्रमेण मायाया प्रक्षिपति। मायाया अपि च प्रथमकिट्टिदलिक द्वितीयस्थितिगत प्रथमस्थितीकृत वेद्यमान वेद्यमान समयाधिकावलिकाशेष जातम्। ततोऽनन्तरसमये मायाया द्वितीयकिट्टिदलिक द्वितीयस्थितिगतमाकृष्य प्रथमस्थितिं करोति वेदयते च तावद् यावत् समयाधिकावलिकामात्र शेष। ततोऽनन्तरसमये तृतीयकिट्टिदलिक द्वितीयस्थितिगतमाकृष्य प्रथमस्थितिं करोति वेदयते च तावद् यावत् समयाधिकावलिकामात्र शेष। तस्मिन्नेव च समये मायाया बन्ध-उदय-उदीरणाना युगपद् व्यवच्छेद, सत्कर्माऽपि च

---

१ त० छा० म० स्थितिगत क° ॥ २-३-४ त० म० स्थितिगत क ॥ ५ स० १ त० म० °धस्य च ॥ ६ म० १ त० म० °व चरमस° ॥
७ स० १ त० म० °गतमाकृष्य प्रथ° ॥

तस्या समयोनावलिकाद्विकबद्धमात्रमेव, शेषस्य गुणसङ्क्रमेण लोभे प्रक्षिप्तत्वात्। ततोऽनन्तर समये लोभस्य प्रथमकिट्टिदलिक द्वितीयस्थितिगतमाकृष्य प्रथमस्थितिं करोति वेदयते च तावद् यावदन्तर्मुहूर्तम्। सज्वलनमायायाश्च बन्धादौ व्यवच्छिन्ने तस्या सम्बन्धि दलिक समयोनावलिकाद्विकमात्रेण कालेन गुणसङ्क्रमेण लोभे सर्वं सङ्क्रमयति। लोभस्य च प्रथमकिट्टिदलिक प्रथमस्थितीकृत वेद्यमान वेद्यमान समयाधिकावलिकामात्र शेष जातम्। ततोऽनन्तरसमये लोभस्य द्वितीयकिट्टिदलिक द्वितीयस्थितिगतमाकृष्य प्रथमस्थितिं करोति वेदयते च। ता च वेदयमानस्तृतीयकिट्टिदलिक गृहीत्वा सूक्ष्मकिट्टी करोति तावद् यावद् द्वितीयकिट्टिदलिकस्य प्रथमस्थितीकृतस्य समयाधिकावलिकामात्र शेष। तस्मिन्नेव च समये सज्वलनलोभस्य बन्ध व्यवच्छेदो बादरकषायोदयोदीरणाव्यवच्छेदोऽनिवृत्तिबादरसम्परायगुणस्थानककालव्यवच्छेदश्च युगपद् जायते। ततोऽनन्तरसमये सूक्ष्मकिट्टिदलिक द्वितीयस्थितिगतमाकृष्य प्रथमस्थितिं करोति वेदयते च। तदानीमसौ सूक्ष्मसम्पराय उच्यते। पूर्वोक्ताश्चावलिकास्तृतीयतृतीयकिट्टिगता शेषीभूता सर्वा अपि वेद्यमानासु परप्रकृतिषु स्तिबुकसङ्क्रमेण सङ्क्रमयति, प्रथम द्वितीयकिट्टिगताश्च यथास्व द्वितीय-तृतीयकिट्ट्यन्तर्गता वेद्यन्ते। सूक्ष्मसम्परायश्च लोभस्य सूक्ष्मकिट्टीर्वेदयमान सूक्ष्मकिट्टिदलिक समयोनावलिकाद्विकबद्ध च प्रतिसमय स्थितिघातादिभिस्तावत् क्षपयति यावत् सूक्ष्मसम्परायाद्धाया सङ्ख्येया भागा गता भवन्ति, एकोऽवशिष्यते। ततस्तस्मिन् सङ्ख्येयभागे संज्वलनलोभ सर्वापवर्तनयाऽपवर्त्य सूक्ष्मसम्परायाद्धासम करोति। सा च सूक्ष्मसम्परायाद्धा अद्याप्यन्तर्मुहूर्तप्रमाणा। तत प्रभृति च स्थितिघातादयो निवृत्ता, शेषकर्मणा तु प्रवर्तन्त एव। ता च लोभस्यापवर्तिता स्थितिमुदय-उदीरणाभ्या वेदयमानस्तावद् गतो यावत् समयाधिकावलिकामात्र शेष। ततोऽनन्तरसमये उदीरणा स्थिता। तत उदयेनैव केवलेन ता वेदयते यावत् चरमसमय। तस्मिंश्च चरमसमये ज्ञानावरणपञ्चक-दर्शनावरणचतुष्क-यश कीर्ति-उच्चैर्गोत्रा ऽन्तरायपञ्चकरूपाणा षोडशकर्मणा बन्धव्यवच्छेद मोहनीयस्योदय-सत्ताव्यवच्छेदश्च ॥ ६३ ॥

अमुमेवार्थं सङ्क्षेप्य सूत्रकृत् प्रतिपादयति—

पुरिस कोहे कोह, माणे माण च छुहइ मायाए।
माय च छुहइ लोहे, लोह सुहुम पि तो हणइ ॥ ६४ ॥

व्याख्या—'पुरुष' पुरुषवेद बन्धादौ व्यवच्छिन्ने सति गुणसङ्क्रमेण 'क्रोधे' सज्वलनक्रोधे "छुहइ" त्ति सङ्क्रमयति। क्रोधस्यापि च बन्धादौ व्यवच्छिन्ने त क्रोध 'माने' सज्वलनमाने सङ्क्रमयति। सज्वलनमानस्यापि बन्धादौ व्यवच्छिन्ने त संज्वलनमान गुणसङ्क्रमेण 'मायाया' संज्वलनमायाया प्रक्षिपति। संज्वलनमायाया अपि बन्धादौ व्यवच्छिन्ने ता सज्वलनमाया 'लोभे'

---

१ स० १ त० म० °बद्धमेव शेषस्य लोभे प्रक्षिप्तत्वात्। ततो ऽन° ॥ २ स० १ त० म० °क्ष्येयमा° ॥ ३ स० स० २ °क्ष्येये मा° ॥ ४ स० १ त० म० °न तावद् वेद° ॥ ५ सं० १ त० म० °हनीयोदयस° ॥ ६ स० १ स० २ म० त० छुभइ ॥

सञ्ज्वलनलोभे गुणसङ्क्रमेण सङ्क्रमयति। सञ्ज्वलनलोभस्यापि च बन्धादौ व्यवच्छिन्ने तं सञ्ज्वलनलोभं सूक्ष्ममपि, अपिशब्दात् शेषमपि 'हन्ति' स्थितिघातादिभिर्विनाशयति। लोभे च साकल्येन विनाशिते सति अनन्तरसमये क्षीणकषायो जायते । तस्य च क्षीणकषायस्य मोहनीयवर्जानां शेषकर्मणां स्थितिघातादयः पूर्ववत् प्रवर्तन्ते तावद् यावत् क्षीणकषायाद्धाया संख्येया भागा गता भवन्ति, एकः संख्येयो भागोऽवतिष्ठते । तस्मिंश्च ज्ञानावरणपञ्चक-दर्शनावरणचतुष्टया-ऽन्तरायपञ्चक-निद्राद्विकरूपाणां षोडशकर्मणां स्थितिमेकमें सर्वापवर्तनया अपवर्त्य क्षीणकषायाद्धासमं करोति, केवलं निद्राद्विकस्य स्वरूपापेक्षया समयन्यूनम्, कर्मत्वमात्रापेक्षया तु तुल्यम् । सा च क्षीणकषायाद्धा अद्याप्यन्तर्मुहूर्तप्रमाणा, ततः प्रभृति च तेषां स्थितिघातादयः स्थिताः, शेषाणां तु भवन्त्येव । तानि च षोडश कर्माणि निद्राद्विकहीनानि उदय-उदीरणाभ्यां वेदयमानस्तावद् गतो यावत् समयाधिकावलिकामात्रं शेषं । ततोऽनन्तरसमये उदीरणा निवृत्ता । तत आवलिकामात्रं कालं यावद् उदयेनैव केवलेन वेदयते यावत् क्षीणकषायाद्धाया द्विचरमसमयः । तस्मिंश्च द्विचरमसमये निद्राद्विकं स्वरूपसत्तापेक्षया क्षीणम्, चतुर्दशानां च शेषप्रकृतीनां चरमसमये क्षयः । तथा चाह सूत्रकृत्—

खीणकसायदुचरिमे, निद्दा पयला य हणइ छउमत्थो ।
आवरणमंतराए, छउमत्थो चरिमसमयम्मि ॥ व्याख्यातार्था ॥

ततोऽनन्तरसमये सयोगिकेवली भवति । स च लोकमलोकं च सर्वं सर्वात्मना परिपूर्णं पश्यति । न हि तदस्ति भूतं भवद् भविष्यद्वा यद् भगवान् न पश्यति । उक्तं च—

संभिन्नं पासंतो, लोगमलोगं च सव्वओ सव्वं ।
तं नत्थि जं न पासइ, भूयं भव्वं भविस्सं च ॥ (आव० नि० गा० १२७)

इत्थम्भूतश्च सयोगिकेवली जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तमुत्कर्षतो देशोना पूर्वकोटी विहृत्य कश्चित् *कर्मणां समीकरणार्थं समुद्घातं करोति, यस्य वेदनीयादिकमायुषः सकाशादधिकतरं भवति ।* अन्यस्तु न करोत्येव । तथा चोक्तं प्रज्ञापनायाम्—

सव्वे वि णं भंते ! केवली समुग्घायं गच्छंति ? गोयमा ! नो इणट्ठे समट्ठे ।

जस्साउएण तुल्लाइ, बंधणेहिं ठिईहिं य ।
भवोवग्गाहकम्माइं, न समुग्घायं स गच्छइ ॥

---

१ स० १ स २ त० म० संख्येयभा° ॥ २ स० १ त० म० संख्येयभा° ॥ ३ स० स० १ °राय छ° ॥ ४ संभिन्नं पश्यन् लोकमलोकं च सर्वतः सर्वम् । तद् नास्ति यद् न पश्यति भूतं भव्यं भविष्यच्च ॥ ५ सर्वेऽपि भदन्त ! केवलिनः समुद्घातं गच्छन्ति ? गौतम ! नायमर्थः समर्थः । यस्याऽऽयुषा तुल्यानि बन्धनैः स्थितिभिश्च । भवोपग्राहिकर्माणि न समुद्घातं स गच्छति ॥ अगत्वा समुद्घातमनन्ता केवलिनो जिनाः । जरामरणविप्रमुक्ताः सिद्धिं वरगतिं गताः ॥

अगतूणं समुग्घायमणता केवली जिणा।
जरमरणविप्पमुक्का, सिद्धिं वरगइ गया ॥ (पत्र ६०१–१)

अत्र "बंधणेहिं" ति बध्यन्ते इति बन्धना—कर्मपरमाणव, कृत् "बहुलम्" (सिद्ध- हे० ५–१–२) इति वचनात् कर्मण्यनट् प्रत्यय, ते शेष सुगमम्।

गत्वा चागत्वा च समुद्घात भवोपग्राहिकर्मक्षपणाय लेश्यातीतमत्यन्ताप्रकम्प परमनिर्जराकारण ध्यान प्रतिपित्सुर्योगनिरोधायोपक्रमत एव। तत्र पूर्वं बादरकाययोगेन बादरमनोयोग निरुणद्धि, ततो[1] बादरवाग्योगम्, [2] तत सूक्ष्मकाययोगेन बादरकाययोगम्, ततस्तेनैव सूक्ष्मकाययोगेन सूक्ष्ममनोयोगम्, तत सूक्ष्मवाग्योगम्, तत सूक्ष्मकाययोग निरुन्धान सूक्ष्मक्रियाऽप्रतिपाति ध्यानमारोहति। तत्सामर्थ्याच्च वदनोदरादिविवरपूरणेन सङ्कुचितदेहत्रिभागवर्तिप्रदेशो भवति। तस्मिंश्च ध्याने वर्तमान स्थितिघातादिभिरायुर्वर्जानि सर्वाण्यपि भवोपग्राहिकर्माणि तावदपवर्तयति यावत् सयोग्यवस्थाचरमसमय। तस्मिंश्च चरमसमये सर्वाण्यपि कर्माणि[3] अयोग्यवस्थासमस्थितिकानि जातानि। नवर येषा कर्मणामयोग्यवस्थायामुदयाभावस्तेषा स्थितिं स्वरूप प्रतीत्य समयोना विधत्ते, कर्मत्वमात्ररूपतया त्वयोग्यवस्थासमानाम्। तस्मिंश्च सयोग्यवस्थाचरमसमयेऽन्यतरद्वेदनीयमौदारिक-तैजस-कार्मणशरीरसंस्थानषट्क प्रथमसहनन-औदारिकाङ्गोपाङ्ग-वर्णादिचतुष्टया ऽगुरुलघु-उपघात-पराघात-उच्छ्वास शुभा ऽशुभविहायोगति प्रत्येक स्थिरा ऽस्थिर-शुभा ऽशुभ सुस्वर-दुःस्वर-निर्माणनाम्नामुदयोदीरणाव्यवच्छेद। ततोऽनन्तरसमयेऽयोगिकेवली भवति। अयोगिकेवली च भवस्थो ऽजघन्योत्कर्षमन्तर्मुहूर्त काल भवति। स च तस्यामवस्थाया वर्तमानो भवोपग्राहिकर्मक्षपणाय व्युपरतक्रियमप्रतिपाति ध्यानमारोहति। एवमसावयोगिकेवली स्थितिघातादिरहितो यान्युदयवन्ति कर्माणि तानि स्थितिक्षयेणानुभवन् क्षपयति, यानि पुनरुदयवन्ति तदानीं न सन्ति तानि वेद्यमानासु प्रकृतिषु स्तिबुकसङ्क्रमेण सङ्क्रमयन् वेद्यमानप्रकृतिरूपतया च वेदयमानस्तावद् याति यावदयोग्यवस्थाद्विचरमसमये ॥ ६४ ॥

देवगइसहगयाओ, दुचरमसमयभवियम्मि खीयंति।
सविवागेयरनामा, नीयागोयं पि तत्थेव ॥ ६५ ॥

देवगत्या सह गता—स्थिता देवगतिसहगता, देवगत्या सह एकान्तेन बन्धो यासा ता

१ स० स० मुद्रि० ततो वाग्यो° ॥ २ स० १ त० छा० म० स्मिश्चरम ॥ ३ स० १ त० म० णि सयो ॥ ४ स० १ त० म० चाथि° ॥ ५ स० छा० °नामेव स्थितिं करोति। तस्मिं°। मुद्रि० °नामेव। तस्मि° ॥ ६ स० १ स० २ त० म० रमस्थद्वन्धन सघात सस्था ॥ ७ स० १ त० म० °त शुभा° ॥ ८ स० १ स० २ त० म० °भ निमा° ॥ ९ स १ त० म० य ॥ ६४ ॥ तस्मिं त एता प्रकृतय क्षीयन्ते तदाह— ॥ १० अस्मत्पार्श्ववर्तिषु समग्रादर्शेषु मु–" दुचरमसमयभवियम्मि " इति मूल आदृत एव पाठ समस्ति, पर विवृतिकृद्भि श्रीमद्भिर्मलयगिरिभि ' दुचरमसमयभवसिद्धियम्मि ' इत्येतत्पदानुसारेण व्याख्यानमस्ति ॥

देवगतिसहगता इत्यर्थ । कास्ता ? इति चेद् उच्यते—वैक्रिया-ऽऽहारकशरीरे वैक्रिया-ऽऽहारकबन्धने वैक्रिया-ऽऽहारकसङ्घाते वैक्रिया-ऽऽहारकाङ्गोपाङ्गे देवानुपूर्वी च। एता देवगतिसहगता 'द्विचरमसमयभवसिद्धिके' इति द्वौ चरमौ समयौ यस्य भवसिद्धिकस्य स द्विचरमसमय, स चासौ भवसिद्धिकश्च तस्मिन् द्विचरमसमयभवसिद्धिके 'क्षीयन्ते' क्षयमुपगच्छन्ति । तथा 'तत्रैव' द्विचरमसमयभवसिद्धिके 'सविपाकेतरनामानि' विपाक—उदय, सह विपाकेन यानि वर्तन्ते तानि सविपाकानि, तेषामितराणि—प्रतिपक्षभूतानि यानि नामानि तानि सविपाकेतरनामानि, अनुदयवत्यो नामप्रकृतय इत्यर्थ । ताश्चेमा —औदारिक-तैजस-कार्मणशरीराणि औदारिक-तैजस-कार्मणबन्धन-सङ्घातानि संस्थानषट्कं संहननषट्कमौदारिकाङ्गोपाङ्गं वर्ण-रस गन्ध-स्पर्शा मनुजानुपूर्वी पराघातमुपघातमगुरुलघु प्रशस्ता-ऽप्रशस्तविहायोगती प्रत्येकमपर्याप्तकमुच्छ्वासनाम स्थिरा-ऽस्थिरे शुभा-ऽशुभे सुस्वर-दु स्वरे दुर्भगमनादेयम् यश कीर्ति निर्माणमिति । तथा नीचैर्गोत्रम्, अपिशब्दादन्यतरदनुदित वेदनीयम् । सर्वसङ्ख्यया सप्तचत्वारिंशत्प्रकृतय क्षयमुपयान्ति ॥ ६५ ॥

अन्नयरवेयणीयं, मणुयाउय उच्चगोय नव नामे ।
वेएइ अजोगिजिणो, उक्कोस जहन्न एक्कार ॥ ६६ ॥

'अन्यतरद् वेदनीय' सातमसात वा द्विचरमसमयक्षीणाद् इतरद् मनुष्यायुरुच्चैर्गोत्र 'नव नामानि' नव नामप्रकृती, सर्वसङ्ख्यया द्वादश प्रकृतीर्वेदयते 'अयोगिजिन' अयोगिकेवली । जघन्येनैकादश, ताश्च ता एव द्वादश तीर्थकरवर्जा द्रष्टव्या ॥ ६६ ॥

'नव नाम' इत्युक्त ततस्ता एव नव नामप्रकृतीर्दर्शयति—

मणुयगइ जाइ तस बायर च पज्जत्तसुभगमाइज्ज ।
जसकित्ती तित्थयर, नामस्स हवंति नव एया ॥ ६७ ॥

गतार्था ॥ ६७ ॥ अत्रैव मतान्तर दर्शयति—

तच्चाणुपुव्विसहिया, तेरस भवसिद्धियस्स चरिमम्मि ।
संतंसगमुक्कोस, जहन्नयं बारस हवंति ॥ ६८ ॥

तृतीयानुपूर्वी—मनुष्यानुपूर्वी तया सहितास्ता एव द्वादश प्रकृतयस्त्रयोदश सत्य 'भवसिद्धिकस्य' तद्भवमोक्षगामिन "संतमंस" त्ति सत्कर्म उत्कृष्ट भवति । जघन्य पुनर्द्वादश प्रकृतयो भवन्ति । ताश्च द्वादश प्रकृतयस्ता एव त्रयोदश तीर्थकरनामरहिता वेदितव्या ॥६८॥

अथ कस्मात्ते एवमिच्छन्ति ? इत्यत आह—

---

१ म० यणिज्ज ॥ २ सं० १ त० °याऊ उ° ॥ ३ म० °हवमिकारे ॥ ४ सं० १ त० म० नामा ' ए° ॥ ५ सं स २ छा० [माएव ॥

मणुयगइसहगयाओ, भवखित्तविवागजीववाग त्ति।
वेयणियन्नयरुच्च, च चरिम भवियस्स खीयंति ॥ ६९ ॥

मनुजगत्या सह गता—स्थिता मनुजगतिसहगता, मनुष्यगत्या सह यासामुदयस्ता मनुजगतिसहगता इत्यर्थ। किंविशिष्टास्ता ? इत्याह—"भवखित्तविवागजीववाग" त्ति भवविपाका क्षेत्रविपाका जीवविपाकाश्च। तत्र भवविपाका मनुष्यायु, क्षेत्रविपाका मनुष्यानुपूर्वी, शेषा नव जीवविपाका, तथाऽन्यतरद् वेदनीयम् उच्चैर्गोत्र च, सर्वसङ्ख्यया त्रयोदश प्रकृतय 'भविकस्य' भवसिद्धिकस्य चरमे समये क्षीयन्ते, न द्विचरमसमये। ततश्चरमसमये भवसिद्धिकस्योत्कृष्ट सत्कर्म त्रयोदश प्रकृतयो जघन्यतो द्वादश भवन्तीति। अन्ये पुनराहु—मनुष्यानुपूर्व्या द्विचरमसमय एव व्यवच्छेद, उदयाभावात्। उदयवतीना हि स्तिबुकसङ्क्रमाभावात् स्वस्वरूपेण चरमसमये दलिकं दृश्यत एवेति युक्तस्तासा चरमसमये सत्ताव्यवच्छेद। आनुपूर्वीनाम्ना तु चतुर्णामपि क्षेत्रविपाकितया भवापान्तरालगतावेवोदय, तेन न भवस्थस्य तदुदयसम्भव तदसम्भवाच्चायोग्यवस्थाद्विचरमसमय एव मनुष्यानुपूर्व्या सत्ताव्यवच्छेद इति। एतदेव मतम धिकृत्य प्राग् द्विचरमसमये सप्तचत्वारिंशत्प्रकृतीना सत्ताव्यवच्छेदो दर्शित। चरमसमये तूत्कर्षतो द्वादशाना जघन्यत एकादशानामिति। ततोऽनन्तरसमये कोशबन्धमोक्षलक्षणसहकारिसमुत्थस्वभावविशेषाद् एरण्डफलमिव भगवानपि कर्मसम्बन्धविमोक्षलक्षणसहकारिसमुत्थस्वभावविशेषाद् ऊर्ध्वं लोकान्ते गच्छति। स चोर्ध्वं गच्छन् ऋजुश्रेण्या यावत्स्वाकाशप्रदेशेष्विहावगाढस्तावत प्रदेशानूर्ध्वमप्यवगाहमानो विवक्षितसमयाच्चान्यत् समयान्तरमस्पृशन् गच्छति।

उक्त चावश्यकचूर्णौ—

> जत्तिए जीवोऽवगाढो तावइयाए ओगाहणाए उड्ढ उज्जुग गच्छइ,
> न वक, बीय च समय न फुसइ ॥ (प्रथ० भा० पत्र ५८३) इति ॥

इत्थ चानेके भगवन्त कर्मक्षय कृत्वा तत्र गता सन्त सिद्धिसुख शाश्वत कालमनुभवन्तोऽवतिष्ठन्ते ॥ ६९ ॥

तथा चाह—

अह सुइयसयलजगसिहरमरुयनिरुवमसहावसिद्धिसुहं।
अनिहणमव्वाबाह, तिरयणसार अणुहवंति ॥ ७० ॥

'अथ' इत्यानन्तर्ये, कर्मक्षयादनन्तर 'शुचिक' एकान्तशुद्धम्, न रागादिदोषव्यामिश्रम्। तथा 'सकल' सपूर्णम्, तथा 'जगच्छिखर' सकलसासारिकलोकसम्भविसुखनिकुरम्बशेखर-

---

१ म० °गनियविवागाओ ॥ २ स० १ सं० २ त० म० °भमवसि° ॥ ३ सं० १ °क गृह्यत एव ॥ ४ स० १ त० म० °म्ना चतु ॥ ५ स० १ न० म० तूत्कृष्टतो ॥ ६ यावति जीवोऽवगाढ तावत्या अवगाहनया ऊर्ध्वं ऋजुक गच्छति ७ वक्रम् द्वितीयं च समय न स्पृशति ॥

भूतम्, कथम्? इति चेद् अत आह—'अरुज' लेशतोऽपि तत्र व्याधेरभावात्, उपलक्षण-मेतत्, तत आधेरप्यभावस्तत्र द्रष्टव्य, सासारिक च सुखमाधि-व्याधिसङ्कुलम्। तथा 'निरुपम' उपमातीतम्, नहि तत्सदृश किञ्चिदपीह संसारेऽस्ति सुख येन तदुपमीयते तस्माद् निरुपमम्। तथा "सहाव" त्ति स्वभावभूतम्, न ससारसुखमिव कृत्रिमम्, अतस्तत् सकलदेवा-ऽसुर-मनुजसम्भविसुखसमूहशीकरकल्पम्। इत्थम्भूत 'सिद्धिसुख' मोक्षसुख 'अनिधनम्' अपर्यवसानम्, कथमपर्यवसानता? इति चेद् अत आह—'अव्याबाध' व्याबाधारहितम् बाधयितुमशक्यमिति भाव। तथाहि—रागादयस्तत् सुख बाधयितुमीशा, ते च सर्वात्मना क्षीणा, न च क्षीणा अपि पुन प्रादुर्भावमश्नुवते, तत्कारणकर्मपुद्गलानामभावात्, न च तेऽपि पुद्गला भूयोऽपि बध्यन्ते, सक्लेशमन्तरेण तद्बन्धाभावात्, न च सर्वात्मना रागादिक्लेशविप्रमुक्तस्य भूय सक्लेशोत्थानम्, तत्कारणकर्मपुद्गलाभावात्, अतो रागादिसक्लेशोत्थानाभावात् सिद्धिसुखमव्याबाधम्। पुन तत् कथम्भूतम्? इत्याह—'त्रिरत्नसार' त्रीणि रत्नानि—सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रलक्षणानि तेषा सार—फलम्। तथाहि—सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राण्येव कर्मक्षयकारणम्, कर्मक्षयाच्च सिद्धिसुखसम्प्राप्ति, अत सिद्धिसुख त्रिरत्नसारम्। एतेन किमुक्त भवति?—इत्थम्भूत सिद्धिसुखमभिलषताऽवश्य रत्नत्रये प्रेक्षावता यत्न आस्थेय, उपायमन्तरेणोपेयसिद्ध्यसंभवात्। उपायभूत च सिद्धिसुखस्य रत्नत्रयम्, कर्मक्षयकारणत्वात्। तथाहि—अज्ञानादिनिमित्त कर्म, अज्ञानादिप्रतिपन्थि च ज्ञानादि, ततोऽवश्य ज्ञानाद्यासेवाया कर्मक्षय इति। इत्थम्भूत सिद्धिसुख तत्र गता सन्त 'अनुभवन्ति' वेदयन्ते ॥ ७० ॥

इह बन्धोदयसत्कर्मणा सवेधश्चिन्तित। सोऽपि सामान्येन, ततो बन्धोदयसत्कर्मसु विशेप-जिज्ञासायामतिदेशमाह—

दुरहिगम-निउण-परमत्थ-रुइर-बहुभगदिट्ठिवायाओ।
अत्था अणुसरियव्वा, बधोदयसतकम्माण ॥ ७१ ॥

दु खेन—महता कष्टेन प्रमाण-नय निक्षेपादिभिरधिगम्यत इति दुरधिगम, निपुण—सूक्ष्म-बुद्धिगम्य, परमार्थ—यथावस्थितार्थ, रुचिरे—सूक्ष्मसूक्ष्मतरार्थभेदप्रपञ्चप्रज्ञाना मन प्रह्लादकर, बहुभङ्ग—बहुविकल्पो यो दृष्टिवादस्तस्माद् बन्धोदयसत्कर्मणा विषये 'अर्था' विशेषरूपा 'अनु-सर्तव्या' ज्ञातव्या। इह तु सक्षिप्तरुचिसत्त्वानुग्रहप्रवृत्ततया ग्रन्थगौरवभयाद् नोच्यन्ते ॥ ७१ ॥

सम्प्रत्याचार्योऽनुद्धतत्वेनात्मनोऽल्पागमत्व ख्यापयन् शेषबहुश्रुताना च बहुमान प्रकटयन् प्रकरणपरिपूर्णताविधिविषये तेषा प्रार्थना विदधान आह—

जो जत्थ अपडिपुन्नो, अत्थो अप्पागमेण बद्धो त्ति।
तं खमिऊण बहुसुया, पूरेऊण परिकहंतु ॥ ७२ ॥

---

१ स० १ त० म० °बादिति सि ॥ २ स० १ त० छा० °र-सूक्ष्मतरा° ॥ ३ स० छा० °र्थ तत्र प्र° । त० म० °रार्थभेदप्र° ॥ ४ स० स० २ छा० °कल्पो दृ° ॥

अत्र सप्ततिकाख्ये प्रकरणे 'यत्र' बन्धे उदये सत्ताया वा योऽर्थ 'अपरिपूर्ण' खण्ड अल्पागमेन' अल्पश्रुतेन मया 'बद्ध' निबद्ध, इतिशब्द समाप्तिवचन, स च गाथापर्यन्ते वेदितव्य। 'तम्' अपरिपूर्णमर्थं तत्र बन्धादौ ममाऽपरिपूर्णार्थाभिधानलक्षणमपराध क्षमित्वा बहुश्रुता' दृष्टिवादज्ञा 'पूरयित्वा' तत्तदर्थप्रतिपादिका गाथा प्रक्षिप्य शिष्यजनेभ्य 'परिकथयन्तु' सामस्त्येन प्रतिपादयन्तु। बहुश्रुता हि परिपूर्णज्ञान[3]सम्भारसम्पत्समन्विततया परोपकारकरणैकरसिकमानसा भवन्ति, ततो मम शिष्याणा च परमुपकारमाधित्सवस्तेऽवश्य ममास्फुटा परिपूर्णार्थाभिधानलक्षणमपराध विषह्य परिपूर्णमर्थं पूरयित्वा शिष्येभ्य कथयन्तु ॥७५॥

निरुपममनन्तमनघ, शिवपदमविरूद्धमपगतकलङ्कम्।
दर्शितशिवपुरमार्गं, वीरजिन नमत परमशिवम्॥

यस्योपान्तेऽपि सम्प्राप्ते, प्राप्यन्ते सम्पदोऽनघा।
नमस्तस्मै जिनेशश्रीवीरसिद्धान्तसिन्धवे॥

यैरेषा निपमार्था, सप्ततिका सुस्फुटीकृता सम्यक्।
अनुपकृतपरोपकृतश्चूर्णिकृतस्तान् नमस्कुर्वे॥

प्रकरणमेतद् निषम, सप्ततिकाख्य निवृण्वता कुशलम्।
यदवापि मलयगिरिणा, सिद्धि तेनाश्नुता लोक॥

अर्हन्तो मङ्गल सिद्धान् मङ्गल संयतानहम्।
अशिश्रिय जिनाख्यात, धर्मं परममङ्गलम्॥

ग्रन्थाग्रम्–३८८०

१ स० स० २ छा० ग्र तत्र बन्धा ॥ २ छा० क्षमयित्वा ॥ ३ स० १ त० म० °नसारस° ॥ ४ स० १ त० म० कमनसो भ° ॥ ५ स २ म्–३७८० ॥

॥ प्रथम परिशिष्टम् ॥

पञ्चमषष्ठकर्मग्रन्थटीकान्तः प्रमाणतयोद्धृतानां शास्त्रीयावतरणानामकारादिक्रमेणानुक्रमणिका ।

॥ द्वितीय परिशिष्टम् ॥

॥ पञ्चम–षष्ठकर्मग्रन्थटीकान्तरुद्धृतानां ग्रन्थनाम्नां सूची ॥

॥ तृतीयं परिशिष्टम् ॥

॥ पञ्चम-षष्ठकर्मग्रन्थटीकान्तर्गतानां ग्रन्थकृन्नाम्नां सूची ॥

॥ चतुर्थं परिशिष्टम् ॥

ञ्चम-षष्ठकर्मग्रन्थटीकान्तर्गताना पारिभाषिकशब्दानामनुक्रमणिका ।

श्रीआत्मानन्द-जैनग्रन्थरत्नमालायामद्यावधि मुद्रितानां ग्रन्थानां सूची ।

ग्रन्थनाम	मूल्यम्
× १ समवसरणस्तव सावचूरिकः	०-१-०
× २ क्षुल्लकभवावलि-प्रकरणम् सावचूरिकम्	०-१-०
× ३ लोकनालिद्वात्रिंशिका सटीका	०-२-०
× ४ योनिस्तव सावचूरिक	०-१-०
× ५ कालसप्ततिका-प्रकरणम् सावचूरिकम्	०-१-६
× ६ देहस्थितिस्तव सावचूरिक	०-१-०
× ७ सिद्धदण्डिका सावचूरिका	०-१-०
× ८ कायस्थितिस्तव सटीक	०-२-०
× ९ भावप्रकरण सटीकम्	०-२-०
×१० नवतत्त्वप्रकरणभाष्यटीकोपेतम्	०-१२ ०
×११ विचारपञ्चाशिका सटीका	०-२-०
×१२ बन्धपट्त्रिंशिका सटीका	०-२-०
×१३ परमाणुखण्डपट्त्रिंशिका पुद्गलपट्त्रिंशिका निगोदपट्त्रिंशिका च सटीका	०-३-०
×१४ श्रावकव्रतभङ्ग-प्रकरणम् सावचूरिकम्	०-२-०
×१५ देववन्दनादिभाष्य-त्रय सावचूरिकम्	०-५-०
×१६ सिद्धपञ्चाशिका सटीका	०-२-०
×१७ अनायउञ्छकुलक सावचूरिकम्	० २-०
×१८ विचारसप्ततिका सावचूरिका	० ३-०
×१९ अल्पबहुत्वगर्भित महावीरस्तवन सावचूरिकम्	०-२-०
×२० पञ्चसूत्र सटीकम्	०-६ ०
×२१ जम्बूस्वामिचरित्रम्	०-४-०
×२२ रत्नपालनृपकथानकम्	०-५-०
२३ सूक्तरत्नावली	०-४-०
२४ मेघदूतसमस्यालेख	०-४-०
×२५ चेतोदूतम्	०-४-०
×२६ पर्युषणाष्टाह्निकाव्याख्यानम्	०-६-०
×२७ चम्पकमालाकथा	० ६-०
×२८ सम्यक्त्वकौमुदी	०-१२-०
×२९ श्राद्धगुणविवरणम्	१-०-०
×३० धर्मरत्नप्रकरण सटीकम्	०-१२-०
×३१ कल्पसूत्र सुबोधिकाख्यया व्याख्ययोपेतम्	०-०-०
×३२ उत्तराध्ययनसूत्र सटीकम्	५-० ०
×३३ उपदेशसप्ततिका	०-१३-०
×३४ कुमारपालप्रबन्ध	१-०-०
×३५ आचारोपदेश	०-३-०
×३६ रोहिण्यशोकचन्द्रकथा	०-२-०
×३७ गुरुगुणषट्त्रिंशत्षट्त्रिंशिकाकुलक सटीकम	०-१०-०
×३८ ज्ञानसार सटीक	१-४-०
×३९ समयसारप्रकरण सटीकम्	०-१०-०
×४० सुकृतसागर	०-१२-०
×४१ धम्मिल्लकथा	०-२-०
×४२ प्रतिमाशतक सटीकम्	०-८-०
×४३ धन्यकथानकम्	०-२-०
×४४ चतुर्विंशतिजिनस्तुतिसंग्रह	०-६-०
×४५ रौहिणेयकथानकम्	०-२-०
×४६ लघुक्षेत्रसमासप्रकरण सटीकम्	१-० ०
×४७ बृहत्संग्रहणीसटीका	२-८-०
×४८ श्राद्धविधि सटीक	२-७-०
×४९ षड्दर्शनसमुच्चय सटीक	३-० ०
×५० पञ्चसंग्रहपूर्वार्द्धम् सटीकम्	३-८-०
×५१ सुकृतसंकीर्तनम्	०-८-०

ग्रन्थनाम	मूल्यम्
×५२ चत्वारः प्राचीनाः कर्मग्रन्था सटीका	२-८-०
×५३ सम्बोधसप्ततिका सटीका	०-१-०
×५४ कुवलयमालाकथा	१-८-०
×५५ सामाचारीप्रकरणं आराधकविराधकचतुर्भङ्गी च सटीका	०-८-०
५६ करुणावज्रायुधनाटकम्	० ४-०
×५७ कुमारपालमहाकाव्यम्	० ८-०
×५८ महावीरचरियम्	१-०-०
५९ कौमुदीमित्रानन्द नाटकम्	०-६-०
६० प्रबुद्धरौहिणेयनाटकम्	०-५-०
६१ धर्माभ्युदयनाटक सूक्तावली च	०-४ ०
×६२ पञ्चनिर्ग्रन्थीप्रकरणम् सटीकम्	०-६ ०
×६३ रयणसेहरीकहा	०-६-०
६४ सिद्धप्राभृत सटीकम्	०-१०-०
×६५ दानप्रदीप	२-०-०
६६ बन्धहेतूदयत्रिभङ्गीप्रकरण सटीकम्, जघन्योत्कृष्टपदे एककाल गुणस्थानकेषु बन्धहेतुप्रकरणम्, चतुर्दशजीवस्थानेषु जघन्योत्कृष्टपदे युगपद्बन्ध हेतुप्रकरण सटीकम् बन्धोदयसत्ता प्रकरण च सटीक	
६७ धर्मपरीक्षा जिनमण्डनीया	१-०-०
×६८ सप्ततिशतस्थानकप्रकरण सटीकम्	१ ०-०
६९ चेइयवंदणमहाभास छायाटिप्पणीयुतम्	१-१२-०
७० प्रश्नपद्धति	०-२-०
×७१ कल्पसूत्र किरणावलीटीकोपेतम्	०-०-०
७२ योगदर्शनयोगविंशिकाचसटीका	१-८-०
७३ मण्डलप्रकरण सटीकम्	०-६-०
७४ देवेन्द्रनरकेन्द्रप्रकरण सटीकम्	०-१२-०
७५ चन्द्रवीरशुभा–धर्मधन–सिद्धदत्त-कपिल-सुमुखनृपादिमित्रचतुष्ककथा	०-११-०
७६ जैनमेघदूतकाव्य सटीकम्	२ ०-०
७७ श्रावकधर्मविधिप्रकरण सटीकम्	० ८-०
७८ गुरुतत्त्वविनिश्चय सटीक	३-०-०
७९ ऐंद्रस्तुतिचतुर्विंशतिका सटीका	०-४-०
८० वसुदेवहिण्डीप्रथमभाग	३-८-०
८१ ,, ,, द्वितीयभाग	३ ८-०
८२ बृहत्कल्प प्रथमोभागः	४-०-०
८३ ,, द्वितीय	६-० ०
८५ चत्वारः कर्म	२-०-०